

॥ श्रीः ॥

हरिदाससंस्कृतग्रन्थमालासमाख्य-
काशीसंस्कृतसीरीजपुस्तकमालायाः

२४

न्यायविभागे (३) तृतीयपुष्पम् ।

षड्दर्शनटीकाकृद्वाचस्पतिमिश्रविरचित-
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाः

काशीस्थश्रीवल्लभरामशालिग्रामसाङ्गवेदविद्यालयाध्यापकेन
न्यायाचार्य पं० श्रीराजेश्वरशास्त्रिद्राविडेन संशोधितः ।

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,

वियाविलास प्रेस-गोपालमंदिर के उत्तर फाटक,

बनारस सिटी ।

१९८२

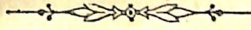
Registered According to Act XXV of 1867.

पृ. ७३५

हरिदाससंस्कृतग्रन्थमालासमाख्य-
काशीसंस्कृतसीरिजिपुस्तकमालायाः

२४

न्यायविभागे (३) तृतीयपुष्पम् ।



षड्दर्शनटीकाकृद्वाचस्पतिमिश्रविरचित-

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाः

प्रथमाध्यायः प्रथमोभागः ।

काशीस्थश्रीवल्लभरामशालिग्रामसाङ्गवेदविद्यालयाध्यापकेन
न्यायाचार्य पं० श्रीराजेश्वरशास्त्रिद्राविडेन संशोधितः ।

काश्यां—

चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमालाप्रकाशक-श्रीयुतहरिदासगुप्तात्मज-
भेष्ठिजयकृष्णदासगुप्तमहाशयेन स्वकीये 'विद्याविलास'
नाम्नि ग्रन्थालये मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

KASHI-SANSKRIT-SERIES,
(HARIDAS SANSKRIT GRANTHMALA)

२३३ २४.

Nyaya Section No. 3.

NYAYAVARTIK-TATPARYA TIKA

by

SRI VACHASPATI MISHRA.

1st Adhyaya. Vol. I.

EDITED BY

Nyayaacharya

Pandit Sri Rajeshwara Sastri Dravid.

Professor,

SRI VALLABH RAM SALIG RAM SANGA-

VEDA VIDYALAYA, BENARES.

Printed Published & Sold by

JAI KRISHNA DASS-HARI DASS GUPTA,
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE,
Vidya Vilas Press, Gopal Mandir Lane,
Benares City.

1925.

KASHI SANSKRIT SERIES
(KASHI SANSKRIT GRANTHAMALA)

24.

Section No. 3.

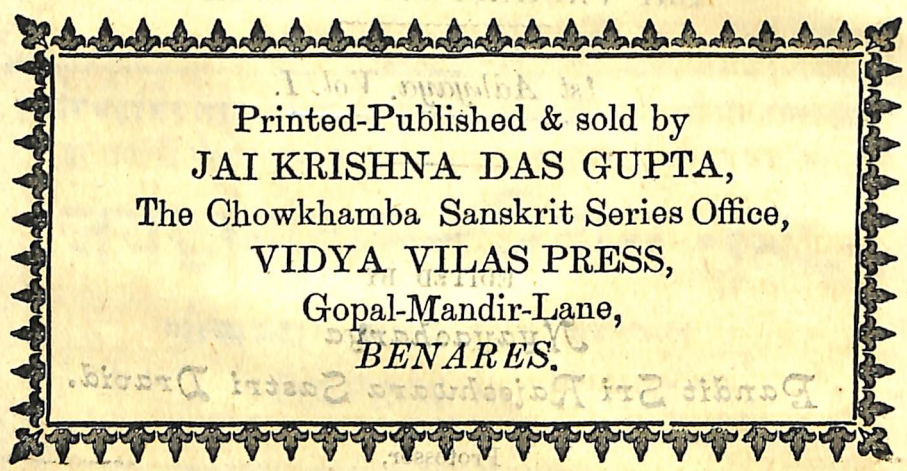
१३३

१३३

NYAYAVARTIK-TATPARAYA TIKA

or

SRI YACHASPATI MISHRA



Printed-Published & sold by
JAI KRISHNA DAS GUPTA,
The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
VIDYA VILAS PRESS,
Gopal-Mandir-Lane,
BENARES.

Banarasi Sri Keshavnagar Sanskrit Press

SRI VALLABH RAM SINGH RAM RANGA-
VEDA VIDYALAYA, BENARES.

Printed Published & Sold by

JAI KRISHNA DAS GUPTA
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Vidya Vilas Press, Gopal Mandir Lane,
Benares City.

1933

न्ययवार्तिकतात्पर्यटीकायां प्रथमाध्यायस्य

विषयसूचीपत्रम् ।

| | | |
|---|-----|----|
| मङ्गलाचरणम् | पृ० | प० |
| वार्तिकारम्भप्रयोजनम् | १ | ६ |
| वार्तिकस्थप्रथमश्लोकव्याख्या | १ | १६ |
| प्रथमसूत्रतात्पर्यकथनम् | २ | ७ |
| वार्तिकेकृतस्यापिमङ्गलस्यशास्त्रेनिवेशाभावः | ३ | ७ |
| शास्त्रस्य निःश्रेयसेनसहसम्बन्धकथनम् | ३ | १२ |
| भाष्यस्थादिवाक्यतात्पर्यकथनम् | ४ | ७ |
| शास्त्रस्यनिःश्रेयसप्रयोजनकत्वाक्षेपस्तत्समाधानपर | ४ | १३ |
| भाष्यव्याख्यानम् | ४ | १३ |
| शास्त्रस्वरूपप्रदर्शनम् | ४ | १८ |
| प्रमाणादिपदार्थानां प्रामाणिकत्वम् | ४ | ३ |
| श्रेयसां निरूपणम् | ४ | ७ |
| आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तेः प्रवृत्त्यङ्गत्वम् | ४ | १८ |
| आत्यन्तिकश्रेयोनिरूपणम् | ४ | १५ |
| प्रवृत्तिसामर्थ्यादित्यस्यविवरणम् | १० | ८ |
| आदिवाक्याक्षेपस्तत्समाधानं च | ११ | ३ |
| प्रामाण्यस्यानुमानगम्यत्वम् | ११ | १७ |
| भाष्यस्थादिवाक्यस्यव्याख्यान्तरम् | १४ | ४ |
| अवयवार्थव्याख्यानम् | १६ | १७ |
| प्रमाणसंल्लवे आक्षेपपरिहारौ | १७ | १ |
| धारावाहिकबुद्धीनां प्रामाण्यम् | १९ | ४ |
| अनधिगतार्थगन्तृत्वस्य नप्रामाण्यरूपता | २१ | १ |
| प्रमाणस्यैव साक्षादुपलब्धिसाधनत्वम् | २३ | ४ |
| प्रमातृप्रमेयापेक्षया प्रमाणस्यसातिशयत्वम् | २५ | १ |
| अर्थग्रहणस्य तात्पर्यनिरूपणम् | २६ | १३ |
| प्रमाणपदप्रयोजनम् | २७ | १ |
| सोऽयं प्रमाणाथोऽपरिसङ्ख्येयइतिभाष्यव्याख्यानम् | २८ | १९ |
| प्रमात्रादिचतुर्वर्गेप्रमाणस्यैवार्थवत्त्वम् | २९ | २० |
| स्वातन्त्र्यपदार्थनिरूपणम् | २१ | १ |
| तत्त्वपदार्थव्याख्यानम् | ३२ | १० |
| असतोऽपि प्रमाणेनोपलब्धिः | ३३ | १५ |
| प्रथमसूत्रस्यावयवार्थः | ३५ | १२ |
| निःश्रेयसद्वैविध्यम् | ३७ | ९ |

| | पृ० | प० |
|--|-----|----|
| संशयादीनां पृथग्वचनप्रयोजनम् | ३२ | २ |
| प्रयोजनपदोपादानप्रयोजनम् | ४० | १५ |
| न्यायस्यापि प्रयोजनाश्रयत्वम् | ४१ | १५ |
| न्यायस्वरूपनिरूपणम् | ४२ | २ |
| प्रत्यक्षागमविरोध्यनुमानस्याभासत्वम् | ४३ | १ |
| दिश्यागोदाहृतोदाहरणदूषणम् | ४५ | ११ |
| आगमविरुद्धानुमानोदाहरणम् | ४६ | १९ |
| कौपालिकाक्षेपनिरसनम् | ४७ | १९ |
| नानुमानविरुद्धमनुमानमपितुसत्प्रतिपक्षम् | ४८ | २ |
| उपमानविरुद्धमनुमानं नोक्तम् | ४९ | १० |
| वितण्डायाः वादजलपयोश्चसप्रयोजनत्वम् | ५१ | १ |
| दृष्टान्तनिरूपणम् | ५२ | ५ |
| सिद्धान्तनिरूपणम् | ५३ | ९ |
| अवयवनिरूपणम् | ५४ | ६ |
| प्रतिज्ञाहेत्वोरागमानुमानत्वम् | ५७ | १ |
| उदाहरणं प्रत्यक्षम् | ५८ | २ |
| उपमानमुपनयः | ५९ | १६ |
| निगमननिरूपणम् | ५९ | ४ |
| तर्कनिरूपणम् | ६० | ६ |
| निर्णयनिरूपणम् | ६२ | ४ |
| वादनिरूपणम् | ६३ | १६ |
| हेत्वाभासानां जलपवितण्डयोश्चनिरूपणम् | ६४ | १ |
| वादेदेशनीयत्वादिति भाष्यव्याख्यानम् | ६५ | १ |
| छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेशप्रयोजनम् | ६७ | १० |
| आन्वीक्षिकीप्रयोजनकथनम् | ६९ | १ |
| द्वितीयसूत्रस्यावतारणम् | ७० | ५ |
| चतस्रः प्रतिपत्तय आत्मादौ | ७१ | १ |
| योगविभागः सूत्रलक्षणम् | ८१ | १ |
| नास्तितारोपखण्डनम् | ८३ | ८ |
| अख्यात्यस्तख्यात्योर्निरासः | ९५ | १३ |
| अख्यातिमतोपपादनम् | ९७ | २० |
| अख्यातिमतनिरासः | ९९ | ३ |
| तत्त्वज्ञानस्यापवर्गेक्रमेण हेतुत्वम् | ९९ | ५ |
| पूर्वापरज्ञानयोर्वाध्यबाधकभावप्रयोजकम् | ९३ | १० |
| धियां तत्त्वपक्षपातः | ९५ | २ |
| सुखं दुःखानुपद्गाद्धेयम् | ९७ | ४ |
| तृतीयसूत्रावतारणम् | ९८ | १ |
| विभागपरस्यापिलक्षणप्रतिपादकत्वम् | ९९ | ७ |
| उद्दिष्टविभागानर्थक्यशङ्कानिरासः | १०० | ६ |
| प्रत्यक्षशब्दे समासकथनम् | १०१ | १ |
| शक्तिनिरूपणम् | १०३ | ८ |
| अनुमानादिपदव्युत्पत्तिः | १०४ | ४ |

| | पृ० | प० |
|---|-----|----|
| प्रत्यक्षादीनां प्रमाणफलविभागः | १०५ | २ |
| प्रत्यक्षादिक्रमोद्देशप्रयोजने एकदेशिमतिरिरासः | १०७ | २ |
| विभागवचनोपपत्तिः | १०७ | ५ |
| चतुर्थसूत्रावतारणम् | १०८ | ८ |
| सन्निकर्षभेदनिरूपणम् | १०९ | १ |
| विशेषणविशेष्यभावसमर्थनम् | १११ | १ |
| अनुपलब्धिप्रमाणखण्डनम् | ११२ | १ |
| प्रत्यक्षस्य कारणान्तरानभिधाने कारणम् | ११३ | ५ |
| आत्ममनः संयोगस्य समानत्वादग्रहणम् | ११५ | १ |
| सान्तरग्रणस्य व्याख्यानम् | ११७ | ९ |
| सान्तरइतिग्रहणमिति तु खण्डनम् | ११९ | १५ |
| इन्द्रियाणामप्राप्यकारित्वखण्डनम् | १२१ | १ |
| सुखादीनां ज्ञानाभेदखण्डनम् | १२३ | १ |
| अर्थानां नामधेयतादात्म्योपपादनम् | १२५ | १ |
| अर्थानां नामधेयतादात्म्यखण्डनम् | १२७ | ४ |
| ज्ञानार्थयोरभेदखण्डनम् | १२९ | २० |
| अव्यभिचारिपदतात्पर्यम् | १३१ | १ |
| सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वखण्डनम् | १३३ | २० |
| सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वसमर्थनम् | १३७ | २० |
| व्यवसायात्मकपदकृत्यविचारः | १४५ | १९ |
| प्रत्यक्षलक्षलक्षणाक्षेपपरिहारः | १४७ | १ |
| तन्त्रान्तरीयप्रत्यक्षलक्षणखण्डनम् | १५१ | १ |
| अनुमानलक्षणनिरूपणम् | १५६ | १ |
| तत्पूर्वकमित्यस्य विग्रहत्रयप्रदर्शनम् | १५७ | १ |
| अविनाभावस्य तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां निश्चयः | १५८ | ११ |
| तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावखण्डनम् | १५९ | १४ |
| वैशेषिकाभिमतचतुष्प्रकारसम्बन्धस्यानुमानाङ्गत्वाभावः | १६४ | १३ |
| व्याप्तिज्ञानस्य कारणाभिधानम् | १६६ | १० |
| त्रिविधमिति सूत्रावयवव्याख्यानम् | १७१ | १० |
| पूर्ववदित्याद्येकवाक्यतया त्रिविधमित्यस्य व्याख्या | १७३ | १५ |
| भाष्यकृन्मतेन सूत्रव्याख्यानम् | १७४ | १० |
| दिक्प्रत्यक्षानिराकरणम् | १७७ | २१ |
| स्वमतेन सूत्रव्याख्यानम् | १७८ | १५ |
| दिग्नागकल्पितपक्षस्य दूषणम् | १८० | ११ |
| भाष्योक्तानुमानविशेषविचारः | १८३ | ४ |
| अनुमानस्य प्रत्यक्षवैलक्षण्यम् | १८५ | ६ |
| दिग्नागलक्षणदूषणम् | १८८ | ९ |
| अनुमानलक्षणान्तरदूषणम् | १९० | १ |
| उपमानलक्षणम् | १९६ | ११ |
| शब्दलक्षणम् | २०१ | १० |

| | पृ० | प० |
|------------------------|-----|----|
| दिग्नागकृतदूषणखण्डनम् | २०५ | १ |
| शब्दप्रमाणविभागः | २०७ | ४ |
| प्रमेयविभागः | २०९ | १ |
| आत्मानुमापकहेतवः | २११ | १ |
| शरीरलक्षणम् | २१८ | १६ |
| इन्द्रियलक्षणम् | २२१ | १० |
| अर्थलक्षणम् | २२४ | १३ |
| बुद्धिलक्षणम् | २३३ | १ |
| मनोलक्षणम् | २३४ | १८ |
| प्रवृत्तिलक्षणम् | ३३५ | २३ |
| दोषलक्षणम् | २३६ | १० |
| प्रेत्यभावलक्षणम् | २३७ | ६ |
| फललक्षणम् | २३८ | १६ |
| दुःखलक्षणम् | २३८ | ७ |
| अपवर्गलक्षणम् | २३८ | २१ |
| संशयलक्षणम् | २४३ | ६ |
| प्रयोजनलक्षणम् | ३६० | ४ |
| दृष्टान्तलक्षणम् | २६१ | १५ |
| सिद्धान्तलक्षणम् | २६२ | १३ |
| अवयवलक्षणम् | २६६ | ५ |
| प्रतिज्ञालक्षणम् | २६७ | २३ |
| हेतुलक्षणम् | २७५ | १० |
| उदाहरणलक्षणम् | २९३ | २२ |
| उपनयलक्षणम् | २९८ | १८ |
| निगमनलक्षणम् | ३०० | ४ |
| तर्कलक्षणम् | ३०४ | १३ |
| निर्णयलक्षणम् | ३०९ | ६ |
| वादलक्षणम् | ३१३ | १ |
| जल्पलक्षणम् | ३२७ | ९ |
| चित्तण्डाललक्षणम् | ३२९ | ७ |
| हेत्वाभासलक्षणम् | ३३० | १६ |
| अनैकान्तिकलक्षणम् | ३३६ | ५ |
| विरुद्धलक्षणम् | ३६८ | २२ |
| प्रकरणसमलक्षणम् | ३४१ | १८ |
| असिद्धलक्षणम् | ३४४ | १ |
| बाधितलक्षणम् | ३४६ | २४ |
| छलसामान्यलक्षणम् | ३४९ | ७ |
| वाक्छललक्षणम् | ३४९ | १७ |
| सामान्यछललक्षणम् | ३५१ | १० |
| उपचारच्छलम् | ३५१ | २० |
| जातिनिग्रहस्थानलक्षणम् | ३५३ | १९ |

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाया भूमिका ।

अथ तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था अयनायविद्यते तमेवं विद्वानमृतइहभवतीत्यादिश्रुतिभिरात्मतत्त्वज्ञानमेव निःश्रेय-
ससाधनं नेतरदिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । तच्चात्मतत्त्वज्ञानं प्रमाणप्र-
मेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-
हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानान्तानां षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञाना-
धीनम् । यावदेतेषां तत्त्वं नैव सुपरिज्ञातं भवेत् तावदात्मतत्त्वं नैव
ज्ञातं स्यात्किं बहुना यस्यकस्यापि पदार्थस्य तत्त्वमेव विविक्रुरूपेण दु-
रधिगमं भवेदतः सिद्धं मुमुक्षूणामात्मतत्त्वं जिज्ञासमानानां षोडश-
पदार्थतत्त्वज्ञानमावश्यकमिति तन्निरूपणाय भगवान्महर्षिर्गीतमः
पञ्चाध्यायात्मकं न्यायशास्त्रं प्रणिनाय । यत्र प्रथमेऽध्याये पदार्थानामु-
द्देशो लक्षणं प्रसङ्गाच्छलपरीक्षा द्वितीयेऽध्याये प्रमाणपरीक्षा तृती-
येऽध्याये आत्मादिप्रमेयषट्कपरीक्षा चतुर्थेऽध्याये उत्तरप्रमेयषट्क-
परीक्षा तत्त्वज्ञानपरीक्षा पञ्चमेजातिपरीक्षासहितजातिनिग्रहस्था-
नविशेषलक्षणमित्यादयः पदार्था निरूपिताः । अत्र प्रत्येकमध्याये
आन्धिक्यमिति सम्भूय दशान्हिकानि चतुरशीतिप्रकरणानि च
सन्ति । यैरात्मतत्त्वज्ञानायान्यस्य कस्यापि पदार्थस्य तत्त्वज्ञानाय याव-
त्किञ्चिदपेक्षितं तत्सर्वं निरूपितमिति सर्वेषां दर्शनानामिदमुपजीव्य-
मेतच्छास्त्रप्रतिपादितां शैलीमवलम्ब्यैवेतरैरपि शास्त्रकारैः स्वपक्षसा-
धनस्य कृतत्वात् । अतएवाहभाष्यकारः वात्स्यायनमहर्षिः-सेयमा-
न्वीक्षिकी प्रमाणादिभिर्विभज्यमाना प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्व-
कर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशो प्रकीर्तितेति सर्वपजीव्य-
त्वमाह । अतएव चेदं शास्त्रमितरेभ्यः प्राचीनमित्यपि असंशयं व-
क्तुं शक्यम् , अन्यथेतरेषां दर्शनानां प्रवृत्तिरेव दुर्घटा स्यात् अत-
एव मनुरपि तत्र तत्र यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मं वेदनेतरइति प्र-
त्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्म-
शुद्धिमभीप्सता इत्यादिना महर्ष्युपदिष्टस्य शास्त्रस्य धर्मतत्त्वशुद्धये
ज्ञातव्यत्वमभिहितवान् । किं बहुना भगवत्पूज्यपादाः श्रीशङ्कराचा-
र्या अपितत्रतत्रैतस्य शास्त्रस्यात्यादरं प्रदर्शयन्तिस्म ! तदेवंवि-
धमपि सर्वोपकारकं मुमुक्षूणामत्युपादेयं परमर्षिप्रणीतं शास्त्रं परमग-
म्भीरमनायासेन दुरवबोधमनेकैरर्वाचीनैर्दुष्टव्याख्यानादिभिर्व्याकु-
लीकृतमिति तस्य तद्दोषपरिहाराय भाष्यलक्षणाक्रान्तं भाष्यं श्रीम-

गवान् वात्स्यायनो महर्षिर्विरचितवान् यत्राञ्जस्येन सूत्राणां भावाव-
बोधो भवति । तदपि भाष्यमत्यन्तसङ्क्षिप्तमिति तद्विवर-
णायोद्योतकराचार्यो न्यायवार्तिकमिति निबन्धं सर्वोत्कृष्टं प्र-
णिनाय । यत्र भाष्यव्याख्याच्छलेन बौद्धमतं सम्यङ्निरूप्यानेक-
धा खण्डितम् । भाष्योपरिवौद्धानामाक्रमणं निरसितुमेव वार्तिकं नि-
मितामर्तिं यदक्षपादः प्रवरीमुनीनां शमायशास्त्रं जगतोजगाद । कु-
तार्किकाज्ञानानवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मयानिबन्ध इति वार्तिकस्थ
प्रथमश्लोकेन ज्ञायते । एतद्वार्तिकं च सर्वेषामेव नैयायिकानां परमा-
वलम्बनं प्रामाणिकत्वेनादरस्थानमिति उदयनाचार्यादिभिर्निरूपितम्
परमेतस्यापि वार्तिकस्य याथातथ्येन भावावबोधोदुरधिगमो मन्द-
प्रज्ञानाम् । भाष्यस्य च क्लिष्टस्थलेषु भावानां न वार्तिककृतापि समीचीन-
या सरण्या विवरणं कृतमिति सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः षड्दर्शनटीकाकुट्टा-
चस्पतिमिश्रो न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकानामकं व्याख्यानं प्रणीतवान् ।
यदवलोकनेन भाष्याक्षराणां तात्पर्यज्ञानमनायासेन भवति । एतद्वैका-
तः प्राग्भाष्यमसंलग्नमेवासीदित्यपि नासम्भावितम् । अस्य च माहा-
त्म्यं सर्वविदितमेव, केनामपण्डिता इतादृशा भवेयुर्यस्याचार्यस्य
लोकोत्तरविद्यासम्पदाऽन्वर्थनाम न जानीयुः अनेनाहिसर्वेष्वेव शास्त्रेषु
व्याख्यानं प्रणीतं यच्च शास्त्रं व्याख्यातुमारब्धं तदा तन्मयेनैव तच्छा-
स्त्रं व्याख्यातमित्ययं विशेषो व्याख्यात्रन्तरेभ्योऽस्य, यथा न्यायवार्ति-
कतात्पर्यटीकापरिशीलनाच्चेत्थमनुभवो भवति नायं वेदान्ती किन्तु नै-
यायिकः भामतीपरिशीलनसमये त्वित्थमनुभवो जायते नायं नैया-
कोपितुवेदान्ती, एवंविधं निरङ्कुशं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वं नान्यस्य । ता-
त्पर्यटीकाया व्याख्यातारश्च श्रीमन्त उदयनाचार्या आरम्भ एव 'मातः स-
रस्वति' 'तथाभवसावधानावाचस्पतेर्वचसि नस्खलतो यथैते' इत्यने-
नास्याचार्यस्य वचसि महान्तमादरं दर्शयाम्बभूवुः एवं प्रायः सर्वै-
रेव दर्शनानुष्ठातैः पण्डितैः स्वीयग्रन्थेषु समादर एतस्य कृत इति नैत-
द्दस्माभिः पृथग्वक्तव्यमवशिष्यते । तदिदं न्यायवार्तिकव्याख्यानं पू-
र्वकाश्यामुद्रितमपि सम्प्रति दुर्लभमनेकेषु स्थलेषु बहुशुद्धियुक्तमिति
संशोध्य पुनर्मुद्रणं विधातुं कामेन प्राचीनग्रन्थप्रकाशनरसिकेन श्रीयुन-
जपकृष्णदासगुप्तेना सदकृष्यर्थितोऽहं पूर्वमुद्रितं पुरतः कं तथालिखि-
तानि च पुस्तकानि एशियाटिकसोसाइटीसमितितां लब्धानि स-
मादाय प्रायशो न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धातव्याख्यानन्यायनिब-
न्धप्रकाशेन च बहुषु स्थलेषु संवाद्यपाठभेदांश्चिर्घापि महता परिश्रमेण
संशोध्य मुद्रयित्वा प्रकाशदितुमुपक्रान्तवान् परन्तु श्रयांसि बहुवि-
ज्ञानि इति न्यायेन नानाविधकार्यव्यग्रतया शीघ्रतया मुद्रणकार्येऽप्र-

वृत्तेतद्दिदक्षाकुलितमनसां विदुषां कृते प्रथमाध्यायान्तमेकखण्डं पृथक्कृत्यमुद्रयित्वापूर्वं प्रकाश्यसम्प्रतिद्वितीयाध्यायमारभ्यसम्पूर्णमुद्रयित्वाप्रकाश्यते । अत्रचशीघ्रतयाप्रतीकलाभार्थं अनेनैवगुप्तमहाशयेनपूर्वमुद्रितन्यायवार्तिकपुस्तकस्थपृष्ठपङ्क्त्याङ्कांस्तस्मिन्तास्मिन्प्रतीकसन्निभौनिवेद्यस्थूलाक्षरैः प्रतीकानिस्थापितानि प्रतिपृष्ठं सूत्राध्यायान्हकप्रकरणसङ्ख्याः पृष्ठगताश्चविषयाउपरिस्थूलाक्षरैःस्थापितायेनपाठकानामनायासेनतेषां २ विषयाणां तत्तदध्यायस्थत्वं ज्ञातं भवेत् । आन्हिकान्तेऽध्यायान्तेच सूत्राहिकप्रकरणसङ्ख्याः सम्भूयसन्निवेशिताः विषयसूचीपत्रचानिर्मायपृथक्स्थापितम् । एवं महतापरिश्रमेण कृतेऽपि मुद्रणे प्रमादाद्दृष्टिदोषेण सीसकाक्षरयोजकदोषेणवा बहूनि स्खलितानि स्युरिति सम्भाव्यते तदर्थं विद्वांसोनिवेद्यन्तेयन्पठनपाठनावसरे पत्रविधानिस्खलितानिदृष्टानिसर्वाण्येकीकृत्यमह्यं प्रदर्शयेयुस्तर्हिपुनर्मुद्रणावसरेतेषांपरिशोधनं कर्तुमहत्साहाय्यं लब्धं स्यात् । श्रीयुजयकृष्णदासगुप्तेनगौतमसूत्रवात्स्यायनभाष्यसहितं विश्वनाथवृत्तिसाहतं पृथङ्मुद्राप्यन्यायवार्तिकमुद्रापितम् इदानीं तात्पर्यटीकापि मुद्रापिता अनेन न्यायशास्त्रस्य सर्वैव व्याख्यानपरम्परा प्राकाश्यमुपगता । तात्पर्यटीकायाश्चव्याख्यानं तात्पर्यपरिशुद्धिनामकं न्यायनिबन्धप्रकाशसहितं कलिकान्तानगर्यामुद्रयतएवेति सम्पूर्णन्यायशास्त्रस्योद्धारः कृत इति यावन्तोध्यन्यवादाः प्रदेयास्तेसर्वेऽप्यल्पाएवेतिमन्ये । कोवा सूत्रकारोगोतमोमहर्षिः कोवाभाष्यकारो वात्स्यायनस्तथाद्योतकरश्चन्यायवार्तिककारः कोवातस्यस्थितिकालः कुत्रवासीत् तथा वाचस्पतिमिश्रश्चेत्यादिकं प्रत्नतत्त्वपण्डितैराधुनिकैर्बहुषुस्थलेषुनिरूपितमिति न चर्वितचर्वणेन पाठकान्विरक्तीकर्तुमिच्छाम ! केवलं विदुष एतदेवप्रार्थयेयदेवविधमहापरिश्रमसम्पादितपुस्तकमवलोक्य सफल्यन्तुमामकं परिश्रममास्वादयन्तुवाचस्पतेर्वचसारसंसमाकलयन्तु चन्यायशास्त्रसारं प्रचारयन्तुचसर्वत्राज्ञानान्ध्यानिराकरणपूर्वकज्ञानालोकमिति मुहुर्मुहुः श्रीपरमेश्वरचरणयोर्निपतन् विरमाम्यनल्पजल्पनादिति विदुषां विधेयः ।

श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविडः

न्यायाचार्यः ।

श्रीवल्लभरामशालिग्रामसाङ्गवेद

विद्यालयाध्यापकः

रामघाट काशी ।

सं० १९८३

ज्येष्ठ शुक्ल १५ पूर्णिमायाम् ।

श्रीगुरुः शरणम् ।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां द्वितीयाध्यायादार-

भ्यान्तं प्रतिपादितानां विषयाणां

सूचीपत्रम् ।

| | |
|---------------------------------------|--------|
| संशयपरीक्षाकारणनिरूपणम् | ३५७-१ |
| संशयपरीक्षा | ३५८-१ |
| प्रमाणसामान्यपरीक्षा | ३५९-१४ |
| प्रकारान्तरेण प्रमाणानामाक्षेपपरिहारो | ३६९-१४ |
| प्रत्यक्षपरीक्षा | ३७२-१९ |
| प्रत्यक्षस्यानुमानेऽन्तर्भावशङ्का | ३७७-७ |
| तत्परिहारः | ३८०-१ |
| अवयविसाधनम् | ३८१-१ |
| अवयवपरीक्षा | ३८४-१ |
| अनुमानप्रामाण्यपरीक्षा | ४०२-७ |
| वर्तमानपरीक्षा | ४०३-२० |
| उपमानपरीक्षा | ४०९-१ |
| शब्दसामान्यपरीक्षा | ४१२-१७ |
| शब्दविशेषपरीक्षा | ४२१-३ |
| चतुष्टयपरीक्षा | ४३५-१ |
| शब्दानित्यत्वपरीक्षा | ४४१-६ |
| शब्दपरिणामपरीक्षा | ४६३-२० |
| शब्दशक्तिपरीक्षा | ४६९-५ |
| इन्द्रियभेदप्रकरणम् । | ४९६-१ |
| देहभेदप्रकरणम् । | ५०९-१९ |
| चक्षुः द्वैतप्रकरणम् । | ५१३-१ |
| मनोव्यतिरेकप्रकरणम् । | ५१५-२ |
| अनादिनिधनप्रकरणम् । | ५१९-७ |
| शरीरपरीक्षाप्रकरणम् । | ५२०-२२ |
| इन्द्रियपरीक्षाप्रकरणम् । | ५२७-१ |
| इन्द्रियनानात्वपरीक्षाप्रकरणम् । | ५३१-१५ |
| अर्थपरीक्षाप्रकरणम् । | ५३६-१ |
| बुद्धानित्यत्वप्रकरणम् । | |

| | |
|--------------------------------------|--------|
| क्षणभङ्गप्रकरणम् । | ५४१-१२ |
| बुद्धेरात्मगुणत्वप्रकरणम् । | ५६३-१७ |
| बुद्धेरुत्पन्नापवर्गित्वप्रकरणम् । | ५६८-२२ |
| बुद्धिमनः शरीरपरीक्षाप्रकरणम् । | ५७९-१ |
| शरीरस्यादृष्टनिष्पाद्यत्वप्रकरणम् । | ५८०-८ |
| दोषत्रैराश्रयप्रकरणम् । | ५८८-१ |
| प्रेत्यभावप्रकरणम् । | ५८९-१ |
| शून्यतोपादाननिराकरणप्रकरणम् । | ५९०-१२ |
| ईश्वरोपादानतानिराकरणप्रकरणम् । | ५९३-१ |
| आकस्मिकत्वनिराकरणप्रकरणम् । | ६०५-८ |
| सर्वानित्यत्वनिराकरणप्रकरणम् । | ६०६-११ |
| सर्वनित्यत्वनिराकरणप्रकरणम् । | ६०७-१४ |
| सर्वपृथक्कनिराकरणप्रकरणम् । | ६०९-६९ |
| सर्वशून्यतानिराकरणप्रकरणम् । | ६११-१३ |
| सङ्ख्यैकान्तवादनिराकरणम् । | ६१५-१ |
| फलपरीक्षाप्रकरणम् । | ६१९-१५ |
| दुःखपरीक्षाप्रकरणम् । | ६२५-२० |
| अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम् । | ६२८-१० |
| तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपरीक्षाप्रकरणम् । | ६३०-१ |
| अवयवावदविप्रकरणम् । | ६३६-१ |
| निरवयवप्रकरणम् । | ६४९-१ |
| बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम् । | ६५३-१५ |
| तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम् । | ६६१-१० |
| तत्त्वज्ञानपालनप्रकरणम् । | ६६५-१ |
| जातिलक्षणम् । | ६७०-१ |
| सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम् । | ६७२-१ |
| जातिषट्कप्रकरणम् । | ६७४-१ |
| प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमप्रकरणम् । | ६७७-१ |
| प्राप्त्यप्राप्तिसमप्रकरणम् । | ६७७-१ |
| अनुत्पत्तिसमप्रकरणम् । | ६७८-१ |
| संशयसमप्रकरणम् । | ६७९-१ |
| प्रकरणसमप्रकरणम् । | ६८१-३ |
| अहेतुसमप्रकरणम् । | ६८३-८ |
| अर्थापत्तिसमप्रकरणम् । | ६८३-१५ |

| | |
|------------------------------|--------|
| अविशेषसमप्रकरणम् । | ६८४-१२ |
| उपपत्तिसमप्रकरणम् । | ६८५-१७ |
| उपलब्धिसमप्रकरणम् । | ६८८-३ |
| अनुपलब्धिसमप्रकरणम् । | ६८६-१० |
| अनित्यसमप्रकरणम् । | ६९०-२ |
| नित्यसमप्रकरणम् । | ६९१-१० |
| कार्यसमप्रकरणम् । | ६९२-१५ |
| षट्पक्षीप्रकरणम् । | ६९४-१५ |
| निग्रहस्थानविभागः । | ६९७-१ |
| प्रतिज्ञाहानिनिरूपणम् । | ६९९-२ |
| प्रतिज्ञान्तरनिरूपणम् । | ७०१-७ |
| प्रतिज्ञाविरोधनिरूपणम् । | ७०३-१५ |
| प्रतिज्ञासंन्यास निरूपणम् । | ७०६-१५ |
| हेत्वन्तरनिरूपणम् । | ७०६-१० |
| अर्थान्तरनिरूपणम् । | ७०८-२४ |
| निरर्थकनिरूपणम् । | ७१०-१५ |
| अविज्ञातार्थनिरूपणम् । | ७११-६ |
| अपार्थकनिरूपणम् । | ७११-१७ |
| अप्राप्तकालनिरूपणम् । | ७१२-१७ |
| न्यूननिरूपणम् । | ७१५-२० |
| अधिकनिरूपणम् । | ७१६-१० |
| पुनरुक्तनिरूपणम् । | ७१७-७ |
| अननुभाषणनिरूपणम् । | ७१७-१८ |
| अज्ञाननिरूपणम् । | ७२०-३ |
| अप्रतिभानिरूपणम् । | ७२०-७ |
| विश्लेषनिरूपणम् । | ७२१-१५ |
| मतानुज्ञाननिरूपणम् । | ७२१-६ |
| पर्यनुयोज्योपेक्षणनिरूपणम् । | ७२१-२४ |
| निरनुयोज्यानुयोगनिरूपणम् । | ७२३-१ |
| अपासिद्धान्तनिरूपणम् । | ७२३-१५ |
| हेत्वाभासनिरूपणम् । | ७२५-१३ |

समाप्तं विषयसूचीपत्रम् ।

श्रीगणेशाय नमः ।

न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका ।

श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

विश्वव्यापी विश्वशक्तिः पिनाकी
विश्वेशानो विश्वकृद्विश्वमूर्तिः ।
विश्वज्ञाता विश्वसंहारकारी
विश्वाराध्यो राध्यत्वीहितं नः ॥ १ ॥

नमामि धर्मविज्ञानवैराग्यैश्वर्यशालिने ।
निधये वाग्बिभुर्दीनामक्षपादाय तायिने (१) ॥ २ ॥
ग्रन्थव्याख्याच्छलेनैव निरस्ताखिलदूषणा ।
न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका ऽस्माभिर्विधास्यते ॥ ३ ॥
इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्रानाम् ।
उद्द्योतकरगवीनामातिजरतीनां समुद्धरणात् ॥ ४ ॥

अथ (२) भगवता ऽक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणी-
ते व्युत्पादिते च भगवता (३) पक्षिलस्वामिना किमपरमव-

(१) तायिने इत्यपि पाठः ।

(२) अथशब्दो मङ्गलार्थः ।

(३) भगवता इत्यत्र वर्द्धमानसम्मतः पाठः अन्नभवतेति । तदर्थः
मान्येन, पक्षिलस्वामिना—वात्स्यायनेन ।

शिष्यते यदर्थं वार्तिकारम्भ इति शङ्कां निराचिकीर्षुः सूत्रकारोक्तप्रयोजनानुवादपूर्वकं वार्तिकारम्भप्रयोजनं दर्शयति ।

यदक्षपाद इति । (वा० १-१) यद्यपि भाष्यकृता कृतव्युत्पादनमेतत्तथाऽपि दिङ्नागप्रभृतीभिरर्वाचीनैः कुहेतुसन्तमसमुत्थापनेनाच्छादितं शास्त्रं न तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तमित्युद्घोतकरेण स्वनिबन्धोद्घोतेन (१) तदपनीयते इति प्रयोजनवानयमारम्भ इति । सूत्रोक्तप्रयोजनानुवादः प्रयोजनवच्छास्त्रव्युत्पादनेन स्वनिबन्धस्य प्रयोजनवत्तां प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं दर्शयितुम्, व्युत्पादनमात्रस्य काकदन्तपरीक्षाग्रन्थसाधारण्येन प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनङ्गत्वात् ।

अत्र चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्याऽऽसन्निकी निवृत्तिः शमः तस्मै । कस्य? जगतः । परमकारुणिको हि मुनिर्जगदेव दुःखपङ्कमग्रमुद्दिधीर्षुः शास्त्रं प्रणीतवान् । तत्र यदि कश्चिन्न प्रवर्त्तत किमायातं शास्त्रस्य । न वा ऽनाधिकृतव्युत्पादनेनास्य तपोनिधेः कश्चिदोषः । तथा च विश्वामित्रस्त्रिशङ्कुं याजयामास वसिष्ठश्चाधमयोनिजामक्षमालामुपयेमे । तपःप्रभाव एव हि तादृशस्तेषां यत एवंविधाः पाप्मानो विलीयन्त इति । न चास्मदादीनां मन्दतपसामयं प्रसङ्गः । न हि गजानामुदर्यं तेजो वटकाष्ठमाशितं पचतीत्यस्मदादीनामप्युदर्येण ते

(१) *तदिति* दिङ्नागादिसमुत्थापितं शास्त्राच्छादकं कुहेतुसन्तमसापनेयत्वेन परामृशता शास्त्रस्यैवाऽयं निबन्ध इति दर्शितं भाष्यस्य च तद्विवरणरूपस्य शास्त्रशरीररूपतया न शास्त्राधिक्यं मन्यते मीमांसाया इव वेदात् अत एव नात्रत्यटीकायाः 'अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिक'मिति भाष्याङ्गत्वप्रतिपादकवार्तिकान्तेन विरोधः भाष्यस्य शास्त्ररूपतया तद्व्याख्याने शास्त्रस्यैव व्याख्यानात् इति ध्येयम् ।

जसा तथा भवितव्यम् । कुतार्किकैर्हिङ्नागप्रभृतिभिराहितमज्ञानं कुतार्किकाज्ञानमिति । (१-३)

अविगीतशिष्टाचारपरंपराप्राप्तः परमाशिष्टेन वार्तिककृता कृतोऽपीष्टदेवतानमस्कारो ग्रन्थे न निवेशितः । न खल्वन्यदपि मङ्गलं शास्त्रे निवेशितं प्रसिद्धतरतया मङ्गलान्तरवच्छिष्या अवगमिष्यन्तीति सर्वमवदातम् ।

तत्र संक्षेपतः प्रथमसूत्रमनूद्य तस्य तात्पर्यमाह । प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इत्येतच्छास्त्रस्यादिमूत्रम् । तस्य-शास्त्रस्य । अभिसम्बन्धवाक्यम् । आदिग्रहणेन क्रमप्राप्तस्यैव प्रथमं व्याख्यानं युक्तं न द्वितीयादेरिति दर्शितम् । अभिमतसम्बन्धोऽभिसम्बन्धः-शास्त्रानिःश्रेयसयोर्हेतुहेतुमद्भावः तस्येदं सूत्रं वाक्यम् अभिसम्बन्धवाक्यम् । प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञानादित्यत्र हि तत्त्वं ज्ञायते ऽनेनेति व्युत्पत्त्या तत्त्वज्ञानं शास्त्रमुच्यते । पञ्चम्या च तस्य हेतुत्वम् । न हि विषयमन्त्रवत्स्वान्वयमात्रेण तदविवक्षितार्थं निःश्रेयसहेतुरिति, पदार्थतत्त्वावगमकरणतया शास्त्रमुपादिशति, न तु स्वरूपेण, तेन शास्त्रस्य निःश्रेयसे कर्तव्ये प्रमाणादितत्त्वावगमोऽवान्तरव्यापार इत्युक्तं भवति । तथा च प्रामाणादिपदार्थतत्त्वं प्रतिपाद्यं प्रतिपादकं च शास्त्रमिति शास्त्रप्रामाणादिपदार्थतत्त्वयोर्ज्ञाप्यज्ञापकभावः प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञाननिःश्रेयसयोः कार्यकारणभावलक्षणश्च सम्बन्धः सूचितो भवति । तदिदमाभिधेयसम्बन्धप्रयोजनप्रतिपादनार्थत्वं प्रथमसूत्रस्य । यत्पदार्थतत्त्वज्ञानस्य च यथा निःश्रेयसाधिगमं प्रत्युपयोगस्तथा ऽग्रे निवेदयिष्यते । विनिश्चितासभावाश्च मुनेराप्तत्वेन तद्वाक्यात्मयोजनादि विनिश्चित्य प्रवत्स्यन्ति । आप्त-

त्वानिश्चये त्वर्थसंशयात् । न खलु कृष्यादावपि निश्चितसस्या-
धिगमानां प्रवृत्तिः । अन्तरा ऽवग्रहादिना प्रातिबन्धेन फला-
नुत्पादस्यापि सम्भवात् । न च प्रयोजनादिसंशयाभावे ऽपि(१)
संशयस्य साधकबाधकप्रमाणाभावेन न्यायप्राप्तत्वेन तदभि-
धानमनर्थकमिति सांप्रतम्, विशेषस्मृत्यनपेक्षस्य संशयस्या-
नुत्पादात् । वाक्यात्तु विशेषस्मृतिरिति नानर्थक्यम् ।

तदेवं प्रथमसूत्रेतात्पर्यमुक्त्वा भाष्यस्यादिवाक्यतात्पर्य-
माह । प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तावित्यादि (१-६)तस्यानुसं-
धानवाक्यम् । तस्य शास्त्रस्य निःश्रेयसाधिगमेन सूत्रेण घ-
टितस्य कुतश्चिन्निमित्ताद्विघटनाशङ्कायाम् । अनु सूत्रघटनायाः
पश्चात् । संधानम् । घटनम् । अनुसंधानम्, तस्य वाक्यम्
अनुसन्धानवाक्यमिति ।

एवं किलात्र शङ्काते । यदशक्यानुष्ठानांपायोपदेशकं तदन-
र्थकं यथा ज्वरहरतक्षकचूडारत्नाहरणोपदेशकं वाक्यं, तादृशं
चेदं शास्त्रमिति । तथा हि-प्रमेयादीनां तावत्पदार्थानां तत्त्वज्ञा-
नं प्रमाणतत्त्वज्ञानाधीनम् । न हि प्रमाणं तत्त्वेनानवधारितं
बोधकत्वमात्रेण स्वगोचरावधारणायालम् । तावन्मात्रस्य तदा-
भाससाधारण्यात् । अपि तु बोधकत्वैकार्थसमवेतेनाव्यभिचा-
रित्वेन । तदेव हि प्रामाण्यं तच्चाशक्यावधारणम् । तद-
नवधारणाच्च प्रमेयादयो दुरवधारणाः । तथा हि विज्ञा-
नस्य तावत्प्रामाण्यं स्वतो वा निश्चीयते परतो वा । न
तावत्पूर्वः कल्पः । न खलु विज्ञानमनात्मसंवेदनमात्मानमपि गृ-
ह्णाति प्रागेव तत्प्रामाण्यम् । नापि विज्ञानान्तरम् । तद्विज्ञानमि-
त्येव गृह्णीयान्न पुनरस्याव्यभिचारित्वम् । ज्ञानत्वमात्रं च तदाभा-

(१) वाक्याभावेऽपि-इति युक्तः पाठः ।

१सू० १प्र०] प्रमाणादिपदार्थानां प्रामाणिकत्वम् । ५

ससाधारणमिति न स्वतः प्रामाण्यावधारणम् । एतेन स्वसंवेदन-
नयेऽप्यव्यभिचारग्रहणं प्रत्युक्तम् । नापि परतः । परं हि तद्वो-
चरं वा ज्ञानमभ्युपेयत अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानान्तरं तद्वो-
चरनान्तरीयकार्थान्तरदर्शनं वा ? तच्च सर्वं स्वतोऽनवधारितप्रा-
माण्यमाकुलं सत्कथं पूर्वं प्रवर्तकं ज्ञानमनाकुलयेत् । स्वतो वा-
ऽस्य प्रामाण्ये किमपराद्धं प्रवर्तकज्ञानेन, येन तस्मिन्नपि तन्न
स्यात् । न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्यावेदितम् । यदा च
संवेदनप्रामाण्यमुक्तेन क्रमेण दुरधिगमं तदा कैव कथेन्द्रियादी-
नामव्यभिचारिसंवेदनकार्यव्यङ्ग्यप्रमाणभावानाम् । तदेवं दृष्टा-
र्थाः प्राणभृद्यवहारा भवन्तु संदेहादपि यथा तथा, अदृष्टार्थास्तु
बहुवित्तव्ययायाससाध्या वैदिका व्यवहारा दत्तजलाञ्जलयः प्र-
सक्ताः । तस्मात्प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञानद्वारेण न शास्त्रं निःश्रे-
यसेन संबध्यते इति सेयमाशङ्का प्रामाण्यज्ञानोपायकथनेन भा-
ष्यकृता निराकृता । तथा हि । प्रमाणम् । अर्थवदिति ।
(भा० १-१) निस्रयोगे मतुप् । निस्रता चाव्यभिचारिता ।
तेनार्थाव्यभिचारित्यर्थः । इयमेव चार्थाव्यभिचारिता प्रमाणस्य
यद्देशकालान्तरावस्थान्तराविसंवादोऽर्थस्वरूपप्रकारयोस्तदुप-
दर्शितयोः । अत्र हेतुः—प्रवृत्तिसामर्थ्यात् । समर्थप्रवृत्तिज-
नकत्वात् । यदि पुनरेतदर्थवन्नाभविष्यन्न समर्था प्रवृत्तिमकरि-
ष्यद् यथा प्रमाणाभास इति व्यतिरेकी हेतुः । अन्वयव्यतिरेकी
वा । अनुमानस्य स्वतः प्रमाणतयाऽन्वयस्यापि संभवात् । प्र-
वृत्तिजनकत्वं तु प्रमाणस्य न साक्षात्, किं त्वर्थप्रतिपत्तिजनन-
द्वारेणैसाह । प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति । सर्वस्य चास्यो-
पपत्तिं वार्तिकव्याख्यानावसरे निवेदायिष्यामः ।

स्यादेतत् । भवन्तु प्रमाणादयः शक्यज्ञानाः शास्त्रेण तु ते

नाभिधीयन्त इति न निःश्रेयसेन सङ्गतिः शास्त्रस्येत्यत आह ।
 शास्त्रस्य पुरुषश्रेयोऽभिधायकत्वात् । (वा० १-७)
 यद्यपि श्रेयो दुःस्वनिवृत्तिमात्यन्तिकीं वक्ष्यति तथा ऽपि सोपा-
 यैव साऽत्र श्रेयःशब्देन विवक्षिता तन्मात्रस्य शास्त्राविषयत्वा-
 त् । तदयमर्थः—शास्त्रं तावदेतत् पुरुषश्रेयोऽभिधत्ते सहोपाये-
 नेत्यनुभवसिद्धं सदशक्यानुष्ठानतयाऽपवादितव्यम् । सा चेदश-
 क्यानुष्ठानता ऽपनीता प्रमाणत इत्यादिना, संहितं निःश्रेयसेन
 सह शास्त्रमिति । शास्त्रस्येत्यादिग्रहणकवाक्यं विवृणोति । शास्त्रं
 पुनरित्यादिनोपभोगात्प्रक्षयेण इत्यन्तेन । प्रमाणादि-
 वाचकपदग्रहणेन तल्लक्षणानि तत्परीक्षाश्चोपलक्षयति । तथा
 च पञ्चाध्यायी शास्त्रमित्युक्तमिदं विरोधः पञ्चाध्यायी
 त्यनेन । व्यूहः । समूहिनामुचितानुपूर्वी । उपलक्षकपदस्व-
 रूपमाह । पदं पुनरिति । एकस्मृतिसमारूढा वर्णा एकार्थप्र-
 तिपादनावच्छिन्नाः समूहः । एवं स्वार्थस्मृत्यवान्तरव्यापाराणां
 सूत्रपदानां नानापदार्थविशिष्टैकार्थप्रत्ययैककार्याविच्छिन्नानां
 समूहो वेदितव्यः । एवं कचित्केनचिदर्थेनैकेन सूत्रवाक्यानामे-
 कवाक्यत्वं समूहः प्रकरणम् । प्रकरणानामपि कया चित्स्वार्थस-
 ङ्गत्या समूहः आहिकम् । एवं तत्र तत्र वेदितव्यम् । एताः प्रक-
 रणाहिकाध्यायार्थसंगतीस्तत्र तत्र लेशतो दर्शयिष्यामः ।

तदेवं शास्त्रस्वरूपं दर्शयित्वा नान्तरेण तदर्थकथनं पुरुष-
 श्रेयोभिधायकत्वमस्य सिद्ध्यतीति तदर्थं कथयति । तत्पदा-
 र्था इति । (१-१०) ननु प्रमाणादीनां प्रतिनरमानन्त्येन
 दुर्ज्ञानत्वमिति तदवस्थमेवानर्थक्यं शास्त्रस्य प्रसक्तमित्यत आह ।
 षोडशात्मानः । आत्मा स्वभावः प्रमाणादीनां प्रमाणत्वा-
 दिसामान्यविशेष इति यावत् । एतदुक्तं भवति—आन्तर्गणिक-

१सू० १प्र०] प्रामाणादिपदार्थानां प्रामाणिकत्वम् । ७

भेदादानन्त्येऽपि सामान्यविशेषैः संगृहीता न दुर्ज्ञाना इति
यतोऽस्य पदार्थाः प्रामाणादयस्तत्तस्माच्छास्त्रं पुरुषश्रेयोऽभिधत्ते ।

स्यादेतत्-प्रामाणादयः पदार्थाः प्रामाणिका अप्रामा-
णिका वा ? अप्रामाणिकत्वे कल्पनामात्रनिर्मिताः कथं
निःश्रेयसाय कल्पन्त इति । न च षोडशात्मानः, कल्पनाकोष-
स्यानन्तप्रसरत्वात् । प्रामाणिकत्वे वा प्रामाणादेव तत्सिद्धेः
शास्त्रस्य वैयर्थ्यमित्यत आह । प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षानुमानाधि-
गतग्रहणेनाप्रामाणिकत्वं निषिद्धम् । अत एव । वस्तुतत्त्वे-
ति । प्रामाणादयः पदार्था नोपमानविषया इति नोपमानमुप-
न्यस्तम् । यद्यपि प्रमेयमात्माद्यपवर्गान्तलक्षणमागमिकं तथा-
ऽप्यागमस्याप्तप्रणेतृकतया तत्रापि मूलभूतमनुमानं प्रत्यक्षं वा-
ऽस्तीति प्रत्यक्षानुमाने एव दर्शिते । ननूक्तं प्रामाणिकत्वे
शास्त्रवैयर्थ्यमित्यत आह । तस्य विषय इति । व्यवह-
रमाणाभावे प्रमाणैर्लौकिकवैनयिकबुद्धिचिरहिणो नैतान्पदार्था-
न्विविश्र्वते अविविक्ताश्चैते न निःश्रेयसाय कल्पन्त इत्यनधिगते-
त्युक्तम् । आध्यात्मिकी शक्तिः शुश्रूषादिः । पुरुषेत्युक्तं तत्र
विवक्षितं पुरुषविशेषं ग्रहीतुं संभाविनः पुरुषान्दर्शयति । पुरुषः
पुनरिति । हेयं दर्शयति । तत्रेति । उपादेयानाह । इतर इति ।
अपेक्षा—जिज्ञासा । सा संदिग्धस्य तावदस्ति शिष्यस्य ।
विप्रतिपन्नस्य तु साक्षिणां पुरतो जल्पवितण्डाभ्यां शिष्यमा-
णस्य गलितेऽहंकारे संदिग्धस्य जातजिज्ञासस्य सापेक्षस्य
सतः । अप्रतिपन्नस्यापि केन चित्प्रकारेण संदेहमापाद्य
सापेक्षीकृतस्य प्रतिपाद्यता । तदिदमुक्तमितरे सापेक्षाः
सन्तः प्रतिपाद्या इति । असन्दिग्धोऽपि तत्त्वप्रतिपादनाय
कारुणिकेन संदिग्धः कृत्वा प्रतिपाद्यत इति । तर्हि सापेक्षम-

धिकृत्य शास्त्रं प्रवृत्तं तथा च प्रमातृणां न प्रमाणान्तरे प्रवृत्तिः
 स्यादित्यत आह । ते यदेति । कंचिद्विषयं जिज्ञासवो यदेन्द्रि-
 याद्यपेक्षन्ते तदा प्रत्यक्षेण प्रतिपाद्याः । एवमुत्तरमपि योज्यम् ।
 अयमभिसंधिः—न दृष्टप्रयोजनोपयोगिजिज्ञासेहापेक्षा विवाक्षिता
 किं तु निःश्रेयसोपयोगिपदार्थजिज्ञासा । सा चास्मिन्नेव शास्त्रे
 प्रवृत्तिहेतुर्नान्यत्र तदिदमुक्तम् । यदा पुनरिति । परमपुरुषार्थ-
 साधनं तु जिज्ञासव इति शेषः । इहाभिमतं श्रेयो निर्द्धारयितुं
 श्रेयोमात्रप्रकारानाह । श्रेयः पुनः सुखमहितनिवृत्तिश्च ।
 (२-७) तत्राप्यवान्तरप्रकारानाह । तच्छ्रेयः । सुखं दुःख-
 निवृत्तिश्च । भिद्यमानं द्वंधा व्यवतिष्ठते । तदाह । दृष्टादृ-
 ष्टभेदेन । न व्यासज्य किं तु प्रत्येकमित्याह । दृष्टं सुखं सक्-
 चन्दनवनितादिभोगजन्म अदृष्टं च सुखं स्वर्गादि । एवं च दुः-
 खनिवृत्तिरपि श्रेयो दृष्टमदृष्टं चेति योजनीयम् चकारलोपात् ।
 अहितनिवृत्तेः श्रेयसः आत्यन्तिकत्वानात्यन्तिकत्वे तद्दृष्टादृष्ट-
 स्य भेदमाह । अहितनिवृत्तिरपीति । अभिमतं श्रेयो
 निर्द्धारयति । आत्यन्तिकीति । पुनरिति । निर्द्धारण-
 मेव द्योतयति । आत्यन्तिकत्वं निवृत्तेर्निवृत्तस्य पुनरनुत्पादः ।
 स च कार्यकारणतदनुषङ्गिनिवृत्त्या लक्ष्यते । न त्वकारणं का-
 र्यं जायते तदिदमुक्तम् एकाविंशतिप्रभेदाभिन्नदुःखहा-
 न्येति । गौणमुख्यभेदेन चैकविंशतेः शरीरादीनां दुःखत्वप्र-
 कारानाह । एकविंशतीति । षष्ठमिन्द्रियं मनः । तस्य विषया
 इच्छाद्वेषप्रयत्नाः । यद्यापि विषयः शरीरमपि तथाऽपि अन्य-
 याऽस्य दुःखहेतुभाव इत्याह । शरीरमिति । शरीरावच्छि-
 न्न आत्मप्रदेशो (१) दुःखायतनमिति शरीरं दुःखायतनमुक्तम् ।

१सू० १प्र०] आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तेः प्रवृत्त्यङ्गत्वम् । ९

इन्द्रियविषयबुद्धीनां दुःखत्वोपचारे कारणमाह । इन्द्रियाणी-
ति (२-१४) । तत्रेन्द्रियाणि तावद्बन्धादिविषयबोधनात्, विषया
बोध्यत्वात् । बुद्धयस्तु साक्षात् दुःखसाधनानीति दुःखत्वेनो-
पचर्यन्ते । सुखे दुःखत्वोपचारे बीजमाह । सुखमिति । साध-
नपारतन्त्र्यं क्षयित्वं काम इति दुःखहेतवः सकलसुखानुषङ्गि-
णः । तस्मात्सुखमपि दुःखानुषङ्गि । उक्तप्रकारदुःखहानिसाध-
नमाह । तस्य हानिरिति । संशयादितत्त्वज्ञानपरिशोधितपरम-
न्यायमार्गः खलु हेयोपादेयभूतद्वादशविधप्रमेयतत्त्वपरिभावनभुवा
प्रसंख्यानेन निर्मृष्टनिखिलप्रवृत्तिहेतुदोषानुषङ्गो ऽप्रवर्तमानो न
शरीरेन्द्रियादिहेतुमपूर्वधर्माधर्मप्रचयमातनोति । अनादिभवप-
रम्परोपात्तं च धर्माधर्मप्रचयमनन्तमप्यनियताविपाकसमयमपि
प्रसंख्यानपरिपाकप्रभावात्परितस्तदुपभोगभागिनः कायान्निर्माय
तत्फलोपभोगात्प्राप्तिरिति । अचिन्त्यसामर्थ्यातिशयो हि समा-
धिः । यथाऽऽहुरत्रभवन्तः पतञ्जलिपादाः “को हि योगप्रभा-
वाहते अगस्त्य इव समुद्रं पिबति स इव च दण्डकारण्यं सृज-
ती” ति । सेयमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः श्रेयः, तदिदमुक्तं
शास्त्रस्य पुरुषश्रेयोऽभिधायकत्वादिति ।

स्यादेतत् । केवलस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः श्रेयः
पुरुषप्रवृत्त्यङ्गम् । इयं तु दुःखवत्सुखस्याप्यात्यन्तिकी निवृत्तिरिति
कथं श्रेयः कथं च प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गमित्यत आह । पुरुषा रागा-
दिमन्त इति । (२-१७) यद्यपि रागादिमतां पृथग्जनानामेतन्न
प्रवृत्त्यङ्गं, ते हि मधुविषसंपृक्तमप्यन्नं मधुमधुरतया आपातरमणीयं
विषविषङ्गान्मारयतु मा वा मीमरदुपभुञ्जते तावदापाततः, सुखं
को हि हस्तगतं पादगतं करोतीति विचिन्त्योपभुञ्जते । विवेकि-
नस्तु आयतिमालोचयन्तः स्वर्गमपि कुपितफणिफणामण्डल-

च्छायप्रतिमामित्यपजहति । तेन मा भूदेतद्रागादिमतां प्रवृत्त्यङ्गं
विवेकिनां तु भविष्यति । अविवेकिनामपि चाप्रतिपन्नविप्रतिप-
न्नानां विवेकाधानोपायः पूर्वमावेदितः । शास्त्रप्रवृत्त्यङ्गमात्रमेव
चेह विवेको वैराग्यमभिमतमिति । प्रवृत्तेर्द्वैविध्यम् । ऐकरूप्यं
द्वैरूप्यं च । पुरुषभेदो रागवैराग्याभ्याम् । प्राप्तव्यस्य सर्वस्य
सुखस्य दुःखसंभेदेनानिष्टपक्षानिक्षेपादनिष्टप्रतिषेधार्थैव प्रवृत्ति-
विवेकिनामेकरूपैव । अविवेकिनां तु प्रवृत्तिर्द्विरूपेत्युक्तम् ।

तदनेन प्रपञ्चेन प्रमाणतां ऽर्थप्रतिपत्तावित्यादिवा-
क्यस्य तात्पर्यमभिधाय तदवयवं प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति विवरितुं
भूमिमारचयति । प्रवृत्तेरपीति । दृष्टं प्रवृत्तिसामर्थ्यं हेतुरिति
रागादिमत्प्रवृत्तिसामर्थ्यमुपन्यस्तं न तु वीतरागाणाम् । न हि
तत्प्रवृत्तेर्निःश्रेयसाधिगमलक्षणफलसंबन्धो दृष्टो निःश्रेयसस्यालौ-
किकत्वात् । प्रमाणस्यार्थवदनर्थकत्वादित्युक्तं प्रमाणमनर्थ-
कमिति हि विप्रतिषिद्धमित्यत आह । प्रमाणं तावदिति (३-८) ।
न ह्यप्रमाणमप्रमाणमिति गृहीतं प्रवृत्त्यै कल्पते, किं तर्हि ? प्र-
माणमिति । न चाप्रमाणे प्रमाणमित्यभिमानो विना प्रमाणादि-
साधर्म्यादिति तत्साधर्म्यं पृच्छति । किं पुनरिति । उत्तरं
सामान्यपरिच्छेदकत्वम् । तद्विवृणोति । प्रमाणेनापीति ।
रजतादिज्ञानमपि पुरोवर्तिशुक्लभास्वरं सद् द्रव्यं परिच्छिनत्ति ।
शुक्तिज्ञानमपि, केवलमेकस्मिन्नेव विषये रजतसमारोपापवादा-
भ्यां बुद्धयोर्वाध्यबाधकभाव इति भावः । तदेवमुभयतः प्रवृ-
त्तिः । समर्था तु प्रमाणादेव नाप्रमाणादर्थव्यभिचारिण इत्याह ।
सोऽयं प्रमातेति । ततश्च सिद्धः समर्थायाः प्रवृत्तेरनर्थव्यतिरे-
केक इत्यभिप्रायः । तथा च समर्था प्रवृत्तिरनर्थव्यतिरेकसंपन्ना
प्रमाणस्यार्थवत्त्वे हेतुरित्याह । तस्याः । समर्थायाः । प्रवृत्तेर्हेतोः

पुनः प्रमाणस्यार्थवत्त्वमर्थव्यभिचारित्वम् । असमर्था त्वन-
न्तराऽपि न संबध्यते योग्यताविरहात् ।

संप्रत्यादिवाक्यमाक्षेप्तुमनुवदति । प्रमाणत इति (३-
१४) आक्षिपति परस्परोति । समाधत्ते । नेति । आक्षेपवाक्यं
विभजते । यदि प्रमाणत इति । न तावदर्थप्रतिपत्तिः प्रवृ-
त्तिहेतुरपि तु तद्विनिश्चयः । न च तन्मात्रम्, अपि तु तदर्थजा-
तीयस्य श्रेयोहेतुतयाऽसकृदुपलभ्यमानस्यार्थस्य तज्जातीयतया
श्रेयोहेतुभावानुमानसहिता विनिश्चितिः प्रवृत्तिहेतुः । सेयं श्रेयः-
साधनतानुमानसहिता प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तिः विनिश्चितिः
समर्थप्रवृत्तिनिमित्तमुक्ता । न चार्थविनिश्चयः प्रामाण्यावधार-
णमन्तरेण । प्रामाण्यावधारणं च श्रेयोहेतुतानुमाननिमित्तव्या-
प्तिग्रहणं च न समर्थप्रवृत्तिं विना । न च समर्था प्रवृत्तिस्ताभ्यां
विनेति परस्पराश्रयता तदिदमुक्तं यदि पूर्वं प्रमाणतोऽर्थप्र-
तिपत्तिर्विनिश्चितिरपेक्षिताऽनुमानसहिता प्रवृत्तिसामर्थ्यम-
न्तरेण किमिति प्रतिपद्यते निश्चिनोति (नोपाय=एवेति तोय-
मेव चेति (१) ।) समाधानं विभजते । तच्च नैवमिति ।

यत्तावदुक्तं प्रामाण्यस्य दुरवधारणत्वादर्थविनिश्चयाभा-
वान्न प्रवृत्तिसामर्थ्यमिति । तत्र ब्रूमः, सत्यं न स्वतः प्रामाण्यं
शक्यावधारणं, परतस्तु दृष्टार्थेष्वनभ्यासदशापन्नेषु प्रवृत्तिसाम-
र्थ्यादेव तद्गम्यते । अर्थप्रतीत्यधीना तु प्रवृत्तिर्नार्थावधारणा-
धीना । अर्थसंदेहादपि प्रेक्षावतां प्रवृत्तेः । नो खलूपायताविनि-
श्चयेनपि प्रवर्तमाना अनागतफले न संदिहते । तदमी संदि-
हाना अपि प्रवर्तमानाः प्रवृत्तिसामर्थ्यात्प्रमाणस्य तत्त्वं विनि-

(१) अस्य स्थाने अपेक्षितो अयमेव चेति २ पु० पा० ।

अपेक्षितोपाय एवेति तोयमेवेति ३ पु० पा० ।

श्चिन्नं तज्जातीयस्यान्यस्याभ्यासदशापन्नस्य प्रवृत्तिसामर्थ्यात्प्रा-
गेव तज्जातीयत्वेन लिङ्गेन प्रामाण्यावधारणादर्थविनिश्चयेन
प्रवर्तन्ते । एवं च दृष्टार्थमन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यं प्रवृत्तिसामर्थ्येनाव-
धार्यं तज्जातीयस्यादृष्टार्थस्य वेदस्य विना ऽपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं
प्रामाण्यावधारणमाप्नोक्तत्वेन निवेदयिष्यते ।

न च फलज्ञानं परीक्ष्यते प्रेक्षावाङ्मिः, तस्य यादृशतादृशस्या-
पीष्टत्वादिष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य । तत्साधनत्वं ते परीक्षन्ते ।
तथा हि तोयज्ञानं पिपासोस्तेन तत्र प्रवृत्तिः प्रवृत्तस्य तदाप्तिः
आप्तस्य पानं पानेन चोदन्योपशान्तिरित्येतावतैव प्रमाता कृती
भवति न पुनरुदन्योपशान्तिमपि परीक्षते तस्य यादृशतादृश-
स्यापीष्टत्वादिति केचित् । वयं तु ब्रूमः । फलज्ञानमप्यभ्यास-
दशापन्नतया तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनावधारिताव्यभिचारमेव ।
एवं तत्पूर्वं तत्पूर्वतरं तत्पूर्वतममिति । न च संप्रतितनस्य फल-
ज्ञानस्य प्रामाण्यावधारणायेदानीमेव पूर्वस्य फलज्ञानस्य तज्जा-
तीयत्वेन प्रामाण्यावधारणे सत्यनवस्थेति वाच्यम् । पूर्वतरसाध-
र्म्येण पूर्वस्य पूर्वमेवावधृतप्रमाणत्वात् । एवं पूर्वतमसाधर्म्येण
पूर्वतरस्य एवं तत्पूर्वसाधर्म्येण पूर्वतमस्येत्यनादितैवात्र परिहा-
रः । एतेषु च मध्ये यत्फलज्ञानं स्वमाद्युपभोगतुल्यतया शङ्कि-
तव्यभिचारं तदनभ्यासदशापन्नमतः प्रवृत्तिसामर्थ्यं तत्र प्रामा-
ण्यावधारणाय निवेशनीयमित्यर्थप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसामर्थ्ययो-
रनादित्वमुक्तम् । अनुमानस्य तु प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गजन्मनो-
ऽन्यस्य वा निरस्तसमस्तव्यभिचारशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्य-
मनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात् । न हि लिङ्गाकारं ज्ञानं
लिङ्गं विना, न च लिङ्गं लिङ्गिनं विनेति । अत एव गृहीताव्य-
भिचारलिङ्गसमुत्थं निष्कम्पमुत्पद्यते ज्ञानम् । प्रत्यक्षज्ञानमर्थादु-

त्पद्यमानमपि न गृहीताव्यभिचारादपि तु सत्तामात्रेणावस्थि-
तात् । न च कारणान्तराप्यपीन्द्रियादीनि अर्थार्थेन गृहीता-
व्यभिचाराणि न वा ऽर्थेनाव्यभिचाराणि । शाब्दं तु ज्ञानं
नार्थादुत्पद्यते तदभावे सति शब्दे भावात् । नापि लिङ्गस्येव
शब्दस्यार्थाव्यभिचारः किं तु सङ्केतग्रहणमात्रात्पदार्थप्रत्यायनेन
वाक्यार्थमवगमयति शब्दः । तस्मात्प्रत्यक्षशब्दविज्ञानयोर्न स्व-
तो ऽव्यभिचारग्रह इति प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयत्वं वा लिङ्ग-
मर्थाव्यभिचारायानुसरणीयं ज्ञानगततज्जातीयत्वलिङ्गग्राहिण-
श्च ज्ञानस्य मानसप्रत्यक्षस्य तादृशस्यादृष्टव्यभिचारतया परि-
तो निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वतः प्रामाण्यमिति नानव-
स्था । एतेनोपमानं व्याख्यातम् । संवेदनस्य चार्थाव्यभिचारि-
ताकथनेन तत्करणानामिन्द्रियादीनामपि प्रमाणत्वमुक्तं वेदित-
व्यम् । न ह्यव्यभिचारिज्ञानजनकत्वादन्यत्प्रामाण्यम् । न चा-
र्थाव्यभिचारिणामिन्द्रियादीनां कथमर्थाव्यभिचारिज्ञानजनक-
त्वमिति सांप्रतम् । कारणस्वभावनियोगपर्यनुयोगयोरशक्य-
त्वात् । तस्मादर्थसंदेहादनभ्यासदशापन्नात्प्रवृत्तौ प्रमाणतो
ऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यसंभवात्प्रवृत्तिसामर्थ्यज्ञानस्य चा-
भ्यासदशापन्नस्य तज्जातीयत्वेन प्रामाण्यानुमानादनभ्यासद-
शापन्नस्य तु प्रवृत्तिसामर्थ्या(न)न्तरज्ञानेन प्रामाण्यानुमानादना-
दित्वान्नार्थप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसामर्थ्ययोः परस्पराश्रयत्वमस्तीति ।
अर्थस्यापेक्षितोपायतानुमानप्रवृत्तिसामर्थ्ययोः परस्परापेक्षित्वम-
वशिष्यते । तत्राप्यनादिता परिहारः । उत्पन्नमात्रस्य हि बाल-
कस्य स्तनं दृष्ट्वा प्राग्भवीयस्तज्जातीयापेक्षितानुभवजनितः सं-
स्कार आविरस्ति ततश्च स्मरणं ततो ऽपेक्षितोपायतानुमानं
ततः प्रवृत्तिस्ततः तस्याः सामर्थ्यम् । एवं पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिञ्ज-

न्मनीत्यनादितया न बीजाङ्कुरवत्परस्परापेक्षितेति । अर्थप्रति-
पत्तिरिति । अर्थस्यापेक्षितोपायताप्रतिपत्तिश्चेत्यर्थः । तस्मा-
त्सर्वमवदातम् ।

तदनेनोक्तप्रक्रमेण प्रमाणतो ऽर्थप्रतिपत्तावित्यस्य शास्त्रा-
नुसंधानवाक्यत्वं तात्पर्यं च समाहितम् । इदानीमस्यैव तात्पर्य-
(१)माह । प्रामाण्यप्रवृत्त्योर्वेति । अत्रेदमाशङ्क्यते । मुनिर्हि
प्रत्यक्षसंशयादिव्युत्पादनद्वारेण साक्षाच्चानेन शास्त्रेणान्वीक्षिकया
हेयोपादेयभावावास्थितद्वादशविधप्रमेयव्युत्पादकन्यायमनुमाना-
परनामानं निःश्रेयसासिद्धये व्युत्पादयावभूव । न च न्यायतः
प्रमाणात्प्रमेयतत्त्वनिश्चयमात्रान्निःश्रेयसाधिगमो ऽपि तु आ-
द्यन्तवर्जानां दशानां प्रमेयाणां दुःखसंज्ञाभावनम् आत्मनश्च
याथात्म्यभावनमित्यादिभ्यः (२)प्रवृत्तिभिः आत्मतत्त्वसाक्षात्का-
रवैराग्यपरिपाकक्रमेणापूर्वयोर्द्धर्माधर्मयोरनुत्पादेनोत्पन्नयोश्चोप-
भोगात्प्रक्षयेणेति । तथा च निःश्रेयसप्राप्तेः कारणत्वात्प्रमाणा-
न्यायात्प्रवृत्तिरेव वलीयसी न न्यायः । तस्मात्प्रवृत्तिरेव व्यु-
त्पादनीया न न्यायो निःश्रेयसहेतुरपि प्रवृत्तेरन्तरङ्गत्वादिति ।
तत्रेदमुपतिष्ठते प्रमाणतो ऽर्थप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवृत्तेः साम-
र्थ्यं फलेनाभिसंबन्धो न तु प्रमाणतो ऽसत्यामर्थप्रतिपत्तौ । त-
स्मादर्धवत्प्रयोजनवत्प्रमाणमपि प्रवृत्तिवदेव । एतदुक्तं भवति ।
यथाऽन्तरङ्गतया प्रवृत्तिर्वलीयसी एवं मूलकारणतया प्रमाण-
मपि । न त्वप्रमाणात्प्रवृत्तिः फलेनाभिसंबन्ध्यते किं तु प्रमाणा-
त् । तस्मात्तुल्यमुभयमपि । तथा ऽपि प्रमाणव्युत्पादनेन प्रवृ-
त्तिरपि व्युत्पादिता भवतीति प्रमाणस्य व्युत्पादनमेवाकारि

(१) तात्पर्यान्तरमाह-इति वर्द्धमानसम्मतः पाठः ।

(२) इत्यादिभिः इति उचितः पाठः ।

शास्त्रे न तु प्रवृत्तेः । सामान्याभिधानं परमन्यायपरं तस्यैव प्र-
कृतत्वादिति ।

प्रामाण्यज्ञानोपायप्रतिपादनपरतया ऽनुसंधानवाक्यत्वमस्य
पूर्वमुक्तं संप्रति परपथ्यनुयोगमुखेनानुसंधानवाक्यत्वं प्रतिपाद-
यति । लोकवृत्तेति । तथा हि प्रमाणप्रवृत्त्युपायं प्रत्याचक्षाण
एवं प्रवृत्त्यो जायते किं भवान्प्रमाणेन प्रमाणज्ञानोपायं प्रत्या-
चष्टे अप्रमाणेन वा । यदि ब्रूयात्प्रमाणेनेति स प्रतिवक्तव्यः प्र-
माणज्ञानोपायमाविद्वान्कथं भवोनेवमाहेति । अप्रमाणेनेति चेत् ।
अनुज्ञया वर्तितव्यम् । अथ प्रमाणेनागृहीतप्रामाण्येनेति । वाङ्-
मनसयोर्विसंवादः । तस्मादनिच्छता ऽपि त्वया लोकवृत्तमनु-
सरणीयम् । अन्यथा न लौकिको न परीक्षक उन्मत्तबदुपेक्ष-
णीयः स्याद् इति । तदिदं लोकवृत्तमाक्षेप्तारं बोधयितुमनेन
भाष्येणानूद्यते प्रमाणतो ऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्या-
दर्थवत्प्रमाणं (भा० १-१) यतो ऽतः सर्वः प्रमाता प्रमाणेनावग-
तार्थवच्चेनार्थमवधार्य प्रवर्तमानः फलमुपलभत इति, लोकवृत्तं,
तत्प्रमाणत इत्यादिना वाक्येन कारणप्रदर्शनद्वारेणानूद्यते ।

अस्यैव भाष्यस्य तात्पर्यान्तरं वक्तुं भूमिमारचयति । हे-
यहानेति (४-५) । अर्थोऽर्थशब्दः प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तावित्यत्र
स्थितः पदं वाचकं येषां तानि तथा । एतद्वार्तिकग्रन्थस्यैतादृशं
व्याख्यानं भाष्यगतस्य त्वन्यथा भविष्यति । उपायः शास्त्रमि-
ति । शास्त्रशब्दस्तदर्थपरः अर्थस्यापि शब्दवच्छास्त्रशरीरत्वात् ।
अत्र च हेयहानाधिगन्तव्यपदैः प्रमाणप्रमेययोरुपादानाद्बोली-
वर्दन्यायेन संशयादिषु निग्रहस्थानान्तेषु शास्त्रपदं प्रवर्तते । ते-
नोपायपदेन संशयादयो निग्रहस्थानान्ता एवोक्ता इति । ग्रहण-
कवाक्यं विवृणोति । हेयमिति । तात्पर्यमाह । एतस्मिंश्चे-

ति । चेन प्रमाणप्रमाप्रमेयप्रमातृरूपं चतुर्वर्गान्तरमपि सूचयति । तत्र हेयादिचतुर्वर्गे, अर्ध्यमानतयाऽर्थपदसूचिते प्रमाणादिचतुर्वर्गे च प्रमाणस्य प्राधान्यप्रदर्शनार्थमिदं भाष्यम् । यद्यपि चतुर्वर्गद्वयतत्त्वावगमो निःश्रेयसाधिगमहेतुस्तथाऽपि प्रमाणमेव प्रधानम्, तन्मूलत्वादितरसिद्धेः । तदिदमुक्तमर्थवदिति । अतिशयने मतुप् । हेयाद्यपेक्षया प्रमात्राद्यपेक्षया चातिशयेन प्रयोजनवत्प्रमाणम् । कस्मात् ? प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवृत्तस्य प्रमातुस्तदितरप्रतिलम्भात् । प्रमायाश्च तत्कार्यत्वात् । तदिदमुक्तं प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति । तदेतस्मात्प्राधान्याद्विवक्षाभेदेन त्रिवर्गद्वयात्प्रागुद्देशः प्रमाणस्येति । एतेन यदाहुरेके यदि प्राधान्यात्प्राथम्यं तत् प्रमेयस्यैव । अथोपायत्वात्ततः संशयादीनाम्, तेषां प्रमाणोपायत्वात् । कस्मात्प्रमात्रादिभ्यः प्राथम्यं प्रमाणस्येति तन्निरस्तम् । प्रमाणोपायानामपि संशयादीनां प्रमाणाधीनत्वादिति । नन्ववगतमर्थपदतया हेयादिचतुर्वर्गो दर्शित इति । प्रमाणादिचतुर्वर्गस्तु कथं प्रदर्श्यत इति पृच्छति । कथं पुनरिति । उत्तरं प्रमाणप्रमेयाधिगतय इति ।

तदेवन्तात्पर्यं व्याख्याय अवयवार्थं व्याख्यातुमुपक्रमते । तादिदं वाक्यमवयवश्च उपन्यस्य वर्णयते (४।१३) । व्याख्यायते अवयवश्च इति । तत्रावयवेषु व्याख्यातव्येषु प्राथम्यात्प्रमाणत इति विवृणोति । तत्रेति । विभजते । प्रमाणत इति । इयं निमित्तपञ्चमी चेत् कस्मात्प्रमाणादिति नाभिहितमित्यत आह । अस्य—प्रमाणत इत्येवंभूतस्याभिधानं वचनव्याप्त्यर्थं विभक्तिव्याप्त्यर्थं च । वचनव्याप्त्यर्थमिति मृष्यामहे न तु विभक्तिव्याप्त्यर्थमिति पञ्चमीव्यतिरेकेण तसेरभावादित्याह । कथं पुनरिति । परिहरति । लभ्यत इति । व्याप्तेः प्रयोजनं

पृच्छति । किं सिद्धमिति । उत्तरं वचनव्याप्त्या संप्लवो व्यवस्था च । तदुभयं विभजते । प्रमाणेनेति । यत्र द्वयोर्वहनां च संग्रहः प्रमाणानां तत्रैकस्याप्यस्ति प्रतिपत्तिसाधनत्वं प्रमाणस्येति कथयितुं संग्रहावसरेऽपि प्रमाणेनेत्युक्तम् । अत एव व्यवस्थायामेवकारः प्रमाणेनैवेति । विभक्तिव्याप्तेः प्रयोजनमाह । विभक्तिव्याप्त्या हेतुकरणभावः (४-१९) । अवगम्यत इत्यनुषज्यते । तद्विभजते । प्रमाणादर्थ्याधिगतिर्भवतीति हेतुत्वं गम्यते । प्रमाणेनार्थाधिगतिर्भवतीति करणरूपार्थो गम्यत इति सम्बन्धः । कस्मात्पुनः करणार्थो गम्यत इत्यत आह । प्रमाणेनेति । अर्थमार्थाधिगतिं साधयतीति साधकतमत्वात् । अत्र च करणभावनान्तरीयकस्य हेतुभावस्य पञ्चम्या अभिधानं प्रमाणफलयोस्तादात्म्यप्रतिषेधार्थं, भेदाधिष्ठानत्वाद्धेतुफलभावस्य, न खलु परशुरेव च्छिदेति । प्रमाणप्रातिपदिकलब्धकरणत्वानुवादश्च प्रमाकारकान्तरेभ्यो ऽभ्यर्हितत्वेनास्य व्युत्पाद्यत्वं च प्राथम्यं च युक्तमिति दर्शयितुम् ।

संग्रहमाक्षिपति । संग्रहेति । समाधत्ते । नेति । आक्षेपं विभजते । स्थान्मतिरिति । विशिष्टो भिन्नो विषयो येषां तानि तथा, बहुवचनमान्तर्गणिकभेदाभिप्रायम् । अर्थसामर्थ्यसमुत्थं हि प्रत्यक्षमर्थगोचरम् । स एव चार्थः प्रत्यक्षगोचरो यो ज्ञानप्रतिभासमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावनुकारयति । न च सामान्यं निरस्तसमस्तार्थक्रियासामर्थ्यमेवं भवितुमर्हति । स्वलक्षणं तु स्यात् तदेव परमार्थसत्त्वं । अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः । एतदेवास्य स्वमसाधारणं लक्षणं यदेशतो ऽननुगमेनादेशात्मकस्य परमार्थत्वं कालतो ऽननुगमेन च क्षणिकत्वम् । तस्मात्स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम् ।

न च स्वलक्षणमनुमानस्यापि गोचरः । तद्धि गृहीतप्रतिबन्ध-
लिङ्गहेतुकं, प्रतिबन्धश्च तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणः स्वलक्षणविष-
योऽशक्यग्रह इति सामान्यधर्मावाश्रयते । न च सामान्यमेकम-
नेकदेशकालावस्थासंसर्गं भवितुमर्हति । तदिदमनादिवासनोद्-
भूतविकल्पाधिष्ठानं विकल्पाकारस्य वा ऽलीकस्य बाह्यत्व(१)-
मनुमानगोचरोऽभ्युपेयम् । तच्च भावाभावसाधारण्याद्वाह्यसादृ-
श्यान्नियतप्रतिभासत्वाच्चान्यव्यावृत्तिनिष्ठम् । यत्खलु भावाभाव-
साधारणं तदन्यव्यावृत्तिनिष्ठमेव यथा ऽमूर्त्तत्वम् । तद्धि(२) ज्ञा-
नादौ भावे शशविषाणादौ चाभावे साधारणम् । भावाभावसा-
धारणश्च विकल्पगोचरो ऽस्ति घटोऽस्ति नास्ति घट इति । यदि
पुनरसाधारणो भावो भवेदस्तिशब्दो न युज्येत पुनरुक्तत्वात् ।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात् । एवमभावासाधारण्ये ऽपि
वान्यम् । न चालीकस्य सर्वसामर्थ्यविरहिणः परमार्थसत्ता
स्वलक्षणेन सादृश्यं मन्यते ऽन्यव्यावृत्तेः । न च गौरिति नियतौ
बुद्धिव्यपदेशौ विना ऽश्वादिव्यावृत्तिम्, तस्मात्सामान्यमन्यव्या-
वृत्तिरूपमबाह्यं बाह्यभेदाग्रहाद्बाह्यत्वेनावगाह्यमानम्(३)नुमानं वा-
ह्ये प्रवर्त्तयति । पारंपर्येण च बाह्यप्रतिबन्धाद्बाह्यं प्रापयत्संवा-
दकं सद् भ्रान्तमपि प्रमात्राशयवशात्प्रमाणम् । तदस्य न स्व-
लक्षणं गोचरः । प्रत्यक्षमपि न सामान्यगोचरमित्यावेदितम् ।
न चाभ्यामन्यत्प्रमाणमस्ति । प्रमाणस्य सतो ऽत्रैवान्तर्भावात् ।
अनन्तर्भावे वा प्रमाणत्वानुपपत्तेः । न च सामान्यविशेषाभ्या-
मन्यदस्ति प्रमेयान्तरं यत्रैते तत्संप्लोष्येते इत्यर्थः । समाधानवा-

(१) अलीकस्य वा स्वमिति का० मु० पा० ।

(२) तद्विज्ञानादाविति का० मु० पा० ।

(३) अवगाहनादिति पु० पा० ।

क्यं विवृणोति । एतच्च नेति । (५-१) यथा चैतत्तथा तत्र निवेदयिष्यते । विशेषो व्यवच्छेदकः स च वक्रकोटरादिरन्त्य-
श्च । व्यवस्थासंक्रोदाहरणान्याह । इन्द्रियवदिति ।

संपुत्रममृष्यमाण आह । अधिगतत्वादिति । समाधत्ते ।
नान्यथेति । आक्षेपं विभजते । यदीति । स्यादेतत्-नास्ति वैय-
र्थ्यमधिगतीनामाशुतरविनाशितया तद्गोचराधिगत्यन्तरोत्पादं प्र-
ति प्रमाणान्तरस्यार्थवत्त्वादित्यत आह । अधिगतं चार्थमधिग-
मयता प्रमाणेनेति । यद्यप्याधिगतय आशुतरविनाशिन्यस्तथा
ऽप्येकतरप्रमाणजनिताऽधिगतिलघुजन्मनः संस्कारादेव स्थायि-
नस्तदर्थस्मृतिसंभवादाधिगतमर्थमधिगमयता प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं
स्यात् । समाधिवाक्यं विवरीतुमनुवदति । नान्यथेति । विवृ-
णोति । न ब्रूम इति । (५-१०) अयमभिसंधिः । न हि
प्रमाणकारणानि प्रेक्षावन्ति येनैवमालोचयेयुः यज्जनितमेव चा-
स्मासु केन चित्प्रमाणं वयमिहोदास्मह इति । नापि स्वकारण-
लब्धजन्मानि प्रमाणानि दशितोऽयमर्थोऽन्यतमेन चास्मासु प्र-
माणेन कृतमस्माभिरिति विरन्तुमर्हन्ति । प्रमातुश्चेतनत्वादय-
मनुयोग इति चेद् न । प्रियस्य वस्तुनोऽनेन भूयो भूयः प्रमि-
तिसत्त्वात् । अप्रमितिसत्तस्यापि च दुर्जनवचनादेः प्रमेयस्यानेन
प्रमीयमाणत्वात् । तस्मान्न प्रमात्रभिसंधानात्प्रमाणस्य प्रवृत्ति-
रप्रवृत्तिर्वाऽर्थे, किं तु सामर्थ्याद्, अन्यथाऽग्निदाहादिदुःख-
स्याप्रसक्षत्वप्रसङ्गः । यत्तु प्रमाणं प्रमितसाधीनप्रवृत्ति तद्यदि
प्रमाता न व्यापारयेत् किमायातं प्रमाणस्य, न हि तोयमपि
पिपासुना न पीयत इति तस्य पिपासोपशमशक्तिरपैति ।
तस्मात्प्रत्युत्पन्नकारणमामग्रीजनिता (१)बुद्धिः प्रमा त-

(१) प्रत्यक्षसात्तग्रीजनिता-इति पाठान्तरम् ।

ज्जनकानि च प्रमाणानि समानविषयाण्यपि । स एव चानेन सामग्रीभेदः प्रदर्शितो ऽन्यथा तु प्रत्यक्षेणेत्यादिना । यद्यपि साक्षात्कारासाक्षात्कारादिरपि प्रकारभेदोऽस्ति तथा ऽप्यसौ प्रकृतानुपयोगान्नोक्तः । यदि च द्रव्यं त्वचा गृहीतमिति कृतं चक्षुषा, चक्षुषा वा गृहीतमिति कृतं त्वचेत्युच्येत, न रूपविज्ञानं स्पर्शविज्ञानं बोधजायेत । तदर्थं चक्षुः त्वक्चाभ्युपेते । तथा च संप्लवैयर्थ्ये ऽपि व्यवस्थायां न वैयर्थ्यमित्याह । विषयान्तर इति । (५-१३) प्रकृतमुपसंहरति । तस्मादिति ।

विभक्त्यर्थं निरूप्य प्रातिपदिकार्थनिरूपणमवतारयति । प्रमाणेति । अवधार्यते ऽनेनेत्यवधारणं विचार इति । विचारणाय भावभवितारौ पृच्छति । किं पुनरिति । केचिदादुरनधिगतार्थगन्तु प्रमाणमिति । विषयसारूप्यं साकारस्य विज्ञानस्येत्यन्ये । विज्ञानस्यैवानाकारस्यात्मानात्मप्रकाशनसामर्थ्यमित्यपरे । उपलब्धिसाधनमिति वृद्धाः । तस्माद्विप्रतिपत्तेः संशयात्प्रश्नः । भावप्रश्नव्याख्यानेन भवितृप्रश्नो व्याख्यातः । उत्तरम् । उपलब्धिहेतुः प्रमाणम् । (५-१७) न च संशयविपर्ययसंख्योपलब्धिकारणयोः प्रसङ्गः अर्थवादित्यधिकारात् । तयोश्चोपदर्शितार्थव्यभिचारेणानर्थकत्वात् । नो खलु विकल्प्यमानं वस्त्वास्ति अर्थक्रियासु बोधयुज्यते । स्यादेतत् स्मृतिहेतोरपि प्रामाण्यप्रसङ्गः । न ह्यसौ नोपलब्धिहेतुः । न चार्थसहकारि प्रमाणमिति संस्कारस्यार्थसहकारिताविरहादप्रामाण्यमिति सांपतम् । नदी-पूरस्य पिपीलिकाण्डसंचरणस्य चातीतानागतवर्षलिङ्गस्य शब्दस्यातीतानागतगोचरस्यार्थसहकारिताविरहिणो ऽप्रमाणत्वप्रसङ्गात् । ज्ञापकत्वेन कार्यत्वेन वा कथंचिदर्थसम्बन्धे सं-

१सू०१प्र०]अनधिगतार्थगन्तृत्वस्य न प्रामाण्यरूपता।२१

स्कारस्यापि तत्समानमिति तस्यापि स्मृतिरूपोपलब्धिहेतोः
प्रामाण्यं प्रसक्तम् । मैवम् । प्रमाणशब्देन तस्यापास्तत्वात् ।
प्रमासाधनं हि प्रमाणं, न च स्मृतिः प्रमा, लोकाधीनावधारणो
हि शब्दार्थसम्बन्धः । लोकश्च संस्कारमात्रजन्मनः स्मृतेरन्या-
मुपलब्धिमर्थाव्यभिचारिणीं प्रमामाचष्टे तस्मात्तद्वेतुः प्रमाणमि-
ति न स्मृतिहेतौ प्रसङ्गः । अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहि-
कविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रा-
माण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे । न च कालभेदेनानधिगतगोच-
रत्वं धारावाहिकानामिति युक्तम् । परमसूक्ष्माणां कालकला-
दिभेदानां पिशितलोचनैरस्मादृशैरनाकलनात् । न चाद्येनैव
विज्ञानेनोपदर्शितत्वादर्थस्य प्रवर्तितत्वात्पुरुषस्य प्रापि-
तत्वाच्चोत्तरेषामप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम् । न हि
विज्ञानस्यार्थप्रापणं प्रवर्तनादन्यद्, न च प्रवर्तनमर्थप्रदर्शना-
दन्यत् । तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्तकं प्रापकं
च । प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं
पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि । पुरुषापेक्षया तु प्रामाण्ये चन्द्रता-
रकादिविज्ञानस्य पुरुषानपेक्षितस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः । न चातिद-
वीयस्तया तदर्थस्य हेयतया तदपि पुरुषस्यापेक्षितं तस्योपेक्ष-
णीयविषयत्वात् । न चोपेक्षणीयमप्यनुपादेयत्वाद्धेयमिति नि-
वेदयिष्यते । उपलब्धिहेतुं च प्रमाणं वदता अनधिगतार्थगन्तृ-
त्वं च सारूप्यं चात्मानात्मप्रकाशनशक्तिश्च प्रमाणमिति निर-
स्तानि भवन्ति । उपलब्धिमात्रस्यार्थाव्यभिचारिणः स्मृतेरन्य-
स्य प्रमाशब्देनाभिधानात् । हेतुग्रहेण सारूप्यशक्तयोः फलाद-
भिन्नयोरपाकरणात् हेतुहेतुमद्भावस्य तादात्म्येऽनुपपत्तेरिति ।
उपलब्धिहेतुत्वं च प्रमाणत्वम् । भवितृव्याख्यानेन भा-

वो व्याख्यातः । तदेवं ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धिहेतुः प्रमाणं तस्य
 च भावस्तत्त्वमिति स्थितम् । तदेतदतिव्यापकत्वेनाक्षिपति ।
 समानत्वादिति । (५-१८) समाधत्ते अयं विशेष इ-
 ति । अयमर्थः । सर्वकर्त्ता करणगोचरव्यापारो न साक्षात्फले
 व्याप्रियते । करणं च द्विधा सिद्धमसिद्धं, परश्वादि दारुद्वैधी-
 भावाद्योद्यम्योद्यम्य दारुणि पातयन् दारु छिन्नतीत्युच्यते, न
 तु साक्षात्कर्तृव्यापारगोचरो दारुद्वैधीभावः किं तु स्पर्शवद्वेगव-
 तः करणभूतस्य परशोः संयोगस्योद्यमनानिपातनलक्षणस्तु क-
 र्तृव्यापारः परशुगोचर एव । एवं स्वर्गकामो ऽपि कर्त्ता न
 साक्षात्स्वर्गे व्याप्रियते किं तु तत्करणं यागमसिद्धं साधयति ।
 स्वर्गस्तु यागव्यापारादेवापूर्वाभिधानाच्चेतनाश्रयादेशकालावस्था-
 भेदासादितपरिणतिविशेषात्साक्षादुत्पद्यते, तद्वदिहापि सिद्धमि-
 न्द्रियादि असिद्धं च तत्संनिकर्षादि व्यापारयन्नुत्पादयन्करण-
 एव चरितार्थः । करणं त्विन्द्रियादि तत्संनिकर्षादि वा नान्यत्र
 चरितार्थमिति साक्षादुपलब्धावेव फले व्याप्रियते । प्रमेयस्य
 तु प्रत्यक्षादन्यत्रोपलब्धिहेतुभाव एव नास्ति केवलं प्रमाणविष-
 यभावमात्रेणोपयुज्यते । यत्राप्यस्य हेतुभावः प्रत्यक्षे ऽभिप्रेयते
 तत्रापीन्द्रियसंबन्धमात्र उपयुज्यते प्रमेयम् । इन्द्रियमेव तत्तत्स-
 न्निकर्षादिना साक्षात्प्रमाहेतुः । तत्सिद्धमेतन्न प्रमाता साक्षात्प्र-
 माहेतुः कर्तृत्वात् । यो यः कर्त्ता स सर्वो न साक्षात्फलहेतुः
 यथा व्रश्चनः । यथा वा यजमानादिस्तथा चैतत् तस्मात्तथा ।
 तथा प्रत्यक्षं प्रमेयं न साक्षात्प्रमाहेतुः प्रमेयत्वात् । यद्यत्प्रमेयं
 तत्तत्सर्वं न साक्षात्प्रमाहेतुः अनुमेयादिवत् तथा चैतत्तस्मात्त-
 था । तदिदं प्रमातृप्रमेययोः प्रमाणे चरितार्थत्वमचरितार्थत्वं
 प्रमाणस्य, तस्मात्तदेव फलहेतुः । प्रमातृप्रमेये तु फलोद्देशेन

१सू० १प्र०] प्रमाणस्यैव साक्षादुपलब्धिसाधनत्वम् । २३

प्रवृत्ते इति तदेतू कथंचिदिति । चोदयति । अकरणे-
ति । (१-२३) नाकरणः कर्त्ता प्रमाणमपि व्याप्तुमर्हतीत्यर्थः ।
परिहरति । नेन्द्रियार्थसंनिकर्षस्येति । यदि ज्ञानं प्रमाणं
तदा ज्ञानस्य प्रमाणस्योत्पत्तावित्यर्थः । पुनश्चोदयति । यदि
तर्हीति । परिहरति । तस्मिन्नपीति । चोदयति । यदि
प्रमातृप्रमेयाभ्यां सद्भ्यां प्रमाणमिति । प्रमाणमन्तरेण
प्रमाया अभावात्प्रमातृप्रमेययोरसिद्धिरित्यर्थः । पृच्छति । कथ-
मिति । उत्तं प्रमाणमितीति । अथ स्वरूपमेव कारकं क-
स्मान्न भवति तच्च क्रियासंबन्धस्य पुरस्तादप्यस्तीत्यत आह ।
न च द्रव्यमात्रमिति । अस्तु तर्हि तदीयो व्यापारः प्रधान-
क्रियायां कारणं तस्यापि प्रधानक्रियायां निमित्तत्वादित्यत
आह । न च क्रियामात्रम् । न हि स्वरूपेण देवदत्तो व्रश्च-
नः नापि तदीयो व्यापारः उद्यमननिपातनादिः काष्ठाद्याश्र-
यः । क तर्हि कारकशब्दः प्रवर्तते इत्यत आह । कारकशब्दो
हीति । प्रधानक्रियासाधने हेतौ अवान्तरक्रियाविशेषयुक्ते
कारकशब्दः प्रवर्तते । द्वैधीभावे हि फले प्रधानव्यापारे (१) कर्त्तुः
करणगोचर उद्यमननिपातने अवान्तरव्यापारः कर्मणश्च दारु-
णः स्पर्शवद्देगवर्त्तीव्रतरकुठारसंयोग एवावान्तरव्यापारः तेन हि
दारु स्वावयवपरिस्पन्दजन्मना स्वयवविभागं द्वैधीभावमनुभ-
वति । तस्मादवान्तरव्यापारसंपन्नं कारकमिति सामान्यतः प्र-
साध्य प्रकृते योजयति । प्रमातृप्रमेयशब्दौ चेति । तावन्त-
रेण क्रियां प्रधानक्रियामित्यर्थः । परिहरति । न पाचकादि-
शब्दवादिनि । (६-१५) लोकाधीनावधारणाधीनः खल्वयं
शब्दार्थसंबन्धः लोकश्चातीतानामतवर्तमानक्रियासंबन्धमात्रवि-

(१) द्वैधीभावो हि फल प्रधानं व्यापारे-इति का०मु०पु०पा० ।

वक्ष्या कारकशब्दान्प्रयुक्ते पाचकमानय पक्ष्यति पाचको ऽयम-
 पाक्षीत्पाचको ऽयं पचतीति च तुल्यवन्नैकाल्यविषयप्रयोगदर्शनं,
 तत्कस्य हेतोः ? अपचस्यपि पाकसंबन्धं प्रत्यस्ति स्वरूपशक्तिर्देव-
 दत्तादाविति । द्वयी हि शक्तिः कारकाणां कार्योपजनं प्रति
 स्वरूपं च सहकारिग्रामसमवधानं च । तत्रासस्यपि सहकारिग्रा-
 मसमवधाने कारकशब्दानां प्रवृत्तेः सत्यपि च स्वरूपे त्रैकाल्य-
 व्यापिनि त्रैकाल्ययोगिकार्यसंभवे प्रवृत्तेः त्रैकाल्ययोगिकार्यो-
 पहितमर्यादमेव स्वरूपं कारकशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तमित्यसत्य-
 पि मृत्युत्पन्नप्रमाहेतुप्रमाणसंबन्धे प्रमातृप्रमेयशब्दयोः प्रवृत्तिरि-
 त्युपपन्नं प्रमातृप्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यत इति । तत्
 प्रमाणमुपलब्धिसाधनं साक्षान्न प्रमातृप्रमेये इति सिद्धम् ।

सस्यपि चापलब्धिसाधनत्वे प्रमातृप्रमेययोरुपलब्धिहेतुरि-
 त्यप्रसङ्गः साधकतमासाधकतमयोः साधकतमे कार्यसंप्रत्यया-
 त्सातिशयत्वेनोद्भूतत्वात्तस्येत्याह । साधकतमत्वाद्धेति ।
 साधकतमार्थं पृच्छति । कः खल्विति । (६-२३) उत्तरं प्रमाण-
 स्य भावाभावयोः प्रमायाः कार्यस्य तद्वत्ता भावाभाववत्ता सा-
 धकतमार्थः । लक्ष्यलक्षणयोरभेदविवक्षया सामानाधिकरण्यम् ।
 ननु प्रमातृप्रमेयान्वयव्यतिरेकानुविधानमप्यस्ति प्रमाया अन्व-
 यव्यतिरेकयोरित्यत आह । न प्रमातरीति । प्रमातृप्रमेयाभ्यां
 सह प्रमोत्पादस्यान्ययोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धः । प्रमाणेन सह
 प्रमोत्पादस्यायोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यामित्यतिशयः । प्रमातृ-
 प्रमेये हि प्रमाणोपक्षीणवृत्तिनी प्रमायां न व्यापियेते । तेनान्त-
 रायसंभवान्नावश्यं प्रमातृप्रमेयव्यापारे सति प्रमा भवति ।
 प्रमाणव्यापारे तु प्रमा भवत्येवेति ।

कल्पान्तरमाह । यद्वा न्वा प्रमिमीते सो ऽतिशयः (७-२)

१सू० १प्र०] प्रमातृप्रमेयापेक्षया प्रमाणस्य सातिशयत्वम् । २५

प्रमिमीते इति स्वतन्त्रं कर्तारं दर्शयति प्रतिपाद्यात्करणाच्चच्छे-
त्तुम् । यद्वा नेवेति च सावधारणम् । तत्र यद्वा निति कर्त्तृन्तरं
व्यवच्छिन्नम्, न हि कर्त्ता कर्तृमान्, किं तु प्रमाणवान्, स्वतन्त्रो
ह्याश्रयः परतन्त्रेणाश्रीयते । कर्त्तृधीनं हि करणमित्यावेदितम् ।
प्रमाता प्रमेयवानपि क्व चिद्भवेत्तन्त्रत्वात् प्रमेयस्य, न तु प्रमे-
यवानेव, अनुमानादिषु प्रमेयस्यातीतत्वादिना तद्वत्ताविरहात् ।
न तु लिङ्गादिज्ञानवान्न कदा चिदित्यवधारणफलम् । सोऽयं
विशेषः प्रमातृप्रमेयाभ्यां प्रमाणस्य । अस्यैव विशेषस्यातिश-
यत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामादर्शयति । प्रमाणे सतीति ।

कल्पान्तरमाह । सतोर्वेति । पूर्वेण भावप्रधानोऽतिश-
यो यादृशस्य दर्शितस्तादृशस्यैवेह व्यतिरेकप्रधानोऽतिशय
इति विशेषः । अकर्तृत्वमहेतुत्वमित्यर्थः ।

कल्पान्तरमाह । संयोगवच्चरमभाविता वा (७-६)
इतिकर्तव्यताकं हि व्याप्रियमाणङ्करणं न तु कारणादिस्वरूपं,
करणादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमात्रन्तु स्वरूपं स्यादिति पूर्वमावेदि-
तं, तच्च सिद्धमसिद्धं वा प्रमातृप्रमेयस्य पश्चादेव तथात्वेन स-
म्पद्यत इति चरमभावीत्युच्यते सोऽयमस्य चरमभाविताऽति-
शयः । यथा तन्तूनां पटे जनयितव्ये अन्याः संयोगभेदा य-
दनन्तरं पट उत्पद्यत एवेति ।

कल्पान्तरमाह । प्रतिपत्तेरानन्तर्यं वा (७-७) । यत
एव प्रमाणं चरमभावि अत एव तदनन्तरं प्रतिपत्तेः प्रमायाः
भावात् । प्रतिपत्तेरानन्तर्यमेव प्रमाणस्यातिशयः । स चे-
ति । चोऽवधारणे । इदमपि लक्ष्यलक्षणयोरभेदविवक्षयोक्तम् ।

कल्पान्तरमाह । असाधारणकारणता वा । चतस्रः
खल्विमाः प्रसक्षादिप्रमितयो भिन्नबुद्धिव्यपदेशभाजोऽनुभूय-

न्ते । न च प्रमाता तद्भेदेहेतुः तस्य साधारण्यात् । न च प्रमेय-
म्, एकस्यापि प्रमेयस्य संपुत्रे सर्वप्रतिपत्तिसाधारण्यात् । प्रमा-
णानि तु यथायथं चतसृष्वसाधारणानीति भिन्नबुद्धिव्यपदे-
शनिबन्धनानि । तदिदमसाधारण्यमतिशयः । अशेषः पुरुषः
प्रमाता ऽत्र विवक्षितः ।

कल्पान्तरमाह । प्रमाकारणेति । प्रमाया असमवायिका-
रणं खल्वात्ममनःसंयोगः । स च सर्वप्रमासाधारणो नासौ
प्रमात्रा प्रमेयेण वा शक्यो विशेषदुम, तयोरपि तद्वदेव साधा-
रण्यात् । असाधारणं तु प्रमाणं यथायथमात्ममनःसंयोगमव-
च्छिनत्ति । एवं सुखादिप्रमेयाणामपि मन एवासाधारणं व्यव-
च्छेदकं द्रष्टव्यम् । सो ऽयमस्यातिशयः । अतिशयातिशयिनोर-
भेदविवक्षया ऽतिशयशब्दवाच्यमित्युक्तम् ।

क्रमप्राप्तमर्थग्रहणं तात्पर्यतो व्याचष्टे । अर्थग्रहणमिति ।
कस्मात्पुनर्निषिध्यते प्रमाणविषया प्रतिपत्तिरित्यत आह । य-
तो न प्रमाणाविषयेति । इतिकर्तव्यताऽनुष्ठानं तस्मिन् ।
अर्थ्यत इत्यर्थस्तोयकण्टकादिः । तथाभावो ऽर्थनीयत्वम् । त-
च्च सुखदुःखसाधनत्वम् । सुखसाधनं खलूपादेयत्वेन दुःखसाध-
नं च हेयत्वेनार्थ्यते ।

तात्पर्यान्तरमाह । उपेक्षणीयेति (७-१६) । उपेक्षणीयवि-
षये प्रमाणे प्रवृत्तिसाध्यं नास्तीति तत्प्रतिषिध्यते । न च तदप्र-
माणमिति तस्यापीति (१) दृष्टप्रमाणसाधर्म्येण लिङ्गेन प्रामा-
ण्यानुमानादिति ।

चोदयति । प्रमाणाग्रहणमिति । समर्थप्रवृत्तिजनिका
हि प्रतिपत्तिर्नाप्रमाणाद्भवतीति अर्थदेव प्रमाणादिति गम्य-

त इत्यर्थः ।

परिहरति । न प्रमाणाविशेषज्ञापनार्थत्वात् । अयम-
भिसंधिः । प्रवृत्तिसामर्थ्येन हि कार्येण प्रमाणस्यार्थवत्त्वमनुमात-
व्यम् । न चैतत्साक्षात्प्रमाणस्य कार्यं, किं त्वर्थप्रतिपत्तेः । त-
दनन्तरं समर्था प्रवृत्तिरुपजायते । अर्थप्रतिपत्तिस्तु प्रमाणका-
र्येति समर्था प्रवृत्तिः प्रमाणकार्यासती प्रमाणस्यार्थवत्त्वं प्रमापय-
ति । तस्मादर्थगम्यमपि प्रमाणमर्थप्रतिपत्तिकरणत्वेन द्योतनीयम् ।
अन्यथा प्रमाणमर्थवदर्थप्रतिपत्तेः समर्थप्रवृत्तिजनकत्वादिति किं
केन संगतम् । प्रमाणस्य विशेषः प्रमाणाभासाद्यावृत्तिस्तस्य
ज्ञापनं स एवार्थो यस्य प्रमाणग्रहणस्य तत्तथोक्तम् । तस्य भा-
वस्तत्त्वम् तस्मात् । एतदुक्तं भवति । प्रमाणकार्याया अर्थप्रति-
पत्तेः प्रवृत्तिसामर्थ्यं, न तदाभासकार्यायास्तस्मात्प्रमाणस्यार्थ-
वत्त्वं गम्यत इति । तदिदमुक्तं तद्येह प्रमाणेन प्रतिपत्तिः
सा प्रवृत्तिसामर्थ्यं प्रतिपादयति प्रमाणम् । (८-१) ।
अयमर्थः प्रमाणं कर्तुं प्रवृत्तिसामर्थ्यं प्रतिपद्यमानं
प्राप्नुवत्तत् प्रतिपादयति प्रापयति प्रमाणकार्याऽर्थप्रतिप-
त्तिरिति । इदमपि प्रमाणग्रहणस्य प्रयोजनमित्याह । न च
प्रमाणग्रहणमिति ।

एकदोशिव्याख्यानमुपन्यस्यति । सुखेति । न केवलं सु-
खदुःखतद्धेतुत्वादर्थ्यमाणत्वाज्ज्ञायमानत्वाच्च । दूषयति । नेति ।
सर्वस्य सुखदुःखतद्धेतुत्वेन हेयपक्षनिःक्षेपणात् उपादेयानां
प्रमाणशास्त्रापवर्गानामभावप्रसङ्गाद्याघातः । अविचक्षितत्वा-
च्चेति चशब्दसमुच्चितमशक्यहानत्वं हेत्वन्तरमादर्शयति न च
प्रमाणादिहानमिति । सुखदुःखतद्धेतवो हि हेयाः सन्तो
हानोपायमपेक्षन्ते । न च प्रमाणादेरन्यस्तदुपायः सम्भवति ।

न च प्रमाणादिः स्वीच्छेदाय पर्याप्तः । न चास्मादपवर्गो नाधिगम्यते । तस्मान्न शक्यं प्रमाणादिना प्रमाणहानमिति । न चैतन्निःश्रेयसहेतुं शास्त्रं प्रणयतः सूत्रकारस्य तदनुवर्तिनो वा भाष्यकारस्य विवक्षितमित्याह । न च प्रमाणादिहानं विवक्षितम् । तस्मादस्मद्व्याख्यानमेव शोभनमित्याह किं त्विति । प्रवृत्तिसामर्थ्याधानयोग्यत्वमधिकारः तस्मात्सुखदुःखतद्धेतुरूपार्थप्रतिपत्तिरेव हि समर्थः प्रवृत्तिमाधत्ते न त्वर्थमात्रप्रतिपत्तिरित्यर्थः । न केवलं व्याघाताशक्यहानत्वाविवक्षितत्वैरर्थपदे न सर्वसंग्रहो ऽशक्यत्वादपि न सर्वसंग्रह इत्याह । न संविद इति । सुखदुःखतद्धेतुतया न संविदो ग्रहणं सङ्ग्रहः सर्वमध्यपतिताया अपि । कुतः अनधिकारात्सुखदुःखतद्धेतुयोग्यताविरहात् । नाप्यर्थ्यमाणत्वेन सङ्ग्रह इत्याह । अकर्मत्वाच्च (८-१०) । न तावत्सर्वा एव संविदः संविद्बोचरा मनोयोनयः संवेद्या भवितुमर्हन्ति । एकनीलविषयसंवित्परंपरामात्र एव पुरुषायुषसहस्रपर्यवसानाद् विषयान्तरसंचाराभावात्प्रसङ्गाच्च । तस्मादनवस्थाभयादन्ते कस्याश्चित्संविदो ऽसंवेद्यतया फलमात्रत्वमभ्युपेयम् । तथा च सा नाच्यते । न च सुखदुःखे तद्धेतुरिति न सर्वसङ्ग्रहः संविदो ऽसङ्ग्रहादिति ।

तदेवमनुसंधिवाक्यं व्याख्याय भाष्यव्याख्यानतरमवतार्य तत्रैकदेशिव्याख्यानं दूषयितुमुपन्यस्यतिसो ऽयं प्रमाणार्थ इति । (भा० १-७) दूषयति । नोभयस्यापि परिसंख्यार्थतत्वात् । अर्थस्तु सुखमित्यादिना भाष्यग्रन्थेन । कार्यकारणाभ्यामुभयत्वम् । प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति हेतुः श्वेतः प्रासादः काकस्य काष्ण्यादितिवन्न प्रतिज्ञार्थेन संगच्छते इत्याह प्राणभृद्भेदस्य चेति । तदेकदेशिमतदूषण-

मस्मद्व्याख्याने नास्तीत्याह नार्थशब्दस्येति । चन्दनादिविषयं प्रमाणं सुखप्रयोजनेमव । कण्टकादिविषयकं प्रमाणं दुःखोत्पादप्रयोजनमेवेत्येतदुभयं परिसंख्यातुं नियन्तुमशक्यमित्यर्थः ।

एवं किलात्र शङ्काते । सुखदुःखभावो वस्तूनां स्वाभाविको भवेन्न वा । स्वाभाविकत्वे सर्वान्प्रत्यर्थीः सुख इति करभवनमनुष्याणामपि कण्टकः सुखः स्यात् । एवं निदाघे कुङ्कुमं सुखं स्याच्चन्दनं च हेमन्ते सुखं स्यात् । एवं तृष्णज इव अपां सुहितस्यापः सुखाः प्रसज्येरन् । अस्वाभाविकत्वे ऽनादिवासनावैचित्र्यलब्धजन्मपुरुषधर्मकल्पनानुपातिनः सुखदुःखादयो न प्रमाणप्रयोजनं भवितुमर्हन्तीति । तत्रेदमुपतिष्ठते । सो ऽयं प्रमाणार्थ इति । निवेदयिष्यते हि क्षणभङ्गमङ्गाधिकारे(१) यथा स्थेमभाजामपि वस्तूनामक्रमाणामपि क्रमवत्सहकारिसमवधानवशादुपजनापायधर्माणः क्रमवन्तो धर्मा भवन्तीति तदिहापि । यद्यपि न जात्या सुखदुःखहेतुभावो भवति तथाऽपि जातिदेशकालावस्थापुरुषभेदसहकारिसमवधानादुपपत्स्यते सुखदुःखहेतुभावो ऽव्यवस्थयेति भावः । तत्सिद्धमेतत् प्रमाणार्थो ऽनियतः अनियतप्राणभृद्देहेतुकत्वाद् यद्यदनियतकारणकं कार्यं तत्सर्वमनियतमेव यथा ऽनियतकालमेघोदयनिबन्धनं वर्षं तथा चायं तस्मादनियत इति ।

कस्मात्पुनः प्रमात्रादिचतुर्वर्गे प्रमाणस्यैवार्थवत्त्वम् (२) उच्यते न प्रमात्रादीनामपीत्याशङ्कानिवारणार्थं भाष्यमनुवदन्नेव व्याचष्टे । अर्थवति च समर्थे(८-१९) सम्यगर्थेऽर्थाव्यभिचारिणीति यावत् । प्रमाणे ऽर्थवान्ति भवन्ति समर्थानि सम्यग-

(१) अ. ३ आ. २ सू. १० ।

(२) अर्थ-इति पु० पा० ।

र्थानि प्रमात्रादीनि, अर्थस्य तु सम्यक्त्वमिदमेव यद्यादृशः प्रमाणेनोपदर्शितस्तथात्वं न पुनरन्यथाभाव इति । यदा त्वादिभाष्यवाक्ये ऽर्थशब्दः प्रयोजनवचनस्तदैवं व्याख्यानम् । अर्थवति च प्रयोजनवति च यत्समर्थं शक्तं प्रमाणं प्रतिपत्त्यादिक्रमेण पूर्वोक्तेन प्रयोजनं प्रति अतः समर्थे प्रमाणे प्रमात्रादीन्यर्थवन्ति प्रयोजनवन्ति भवन्ति यतस्तान्यपि प्रमाणवदेव समर्थानि शक्तानि प्रयोजनं प्रतीति । अत्र हेतुरन्यतमापाय इति । (भा० १-१०) तस्यार्थं व्याचष्टे । अन्यतमत्वार्थं इति नन्वन्यतमशब्दो बहुष्वनिर्द्धारितविशेषमेकमाह न तु साधकतममित्यत आह । प्रकरणादिति । साधारणशब्दो हि प्रकरणाद्विशेषे वर्तते तद्यथा शिविकावाहनप्रक्रमे पुरुषप्रानयेति पुरुषशब्दो विष्टौ तद्वदिहापि प्रमात्रादिपरिहाराय प्रमाणस्यार्थवत्त्वाभिधानानियमप्रक्रम इति प्रमात्रादिभ्यः प्रमाणस्य विशेषो वाच्यस्तत्रैवान्यतमशब्दो वर्तते । यद्यप्यर्थप्रतिपत्त्यव्यभिचारद्वारेण प्रमाणस्याव्यभिचारो गम्यते दृष्टे विषये, तथाऽप्यदृष्टविषये न तज्जनितप्रतिपत्त्यव्यभिचारेणाव्यभिचारः शब्दस्य प्रमाणस्य शक्यो विज्ञातुं प्रतीत्यव्यभिचारस्य प्रमाणाव्यभिचारग्रहणमन्तरेणाशक्यज्ञानत्वात् । तस्माद् दृष्टार्थस्य मन्त्रायुर्वेदस्य प्रवृत्तिसामर्थ्यावधृतार्थाव्यभिचारस्य सामान्यादाप्तप्रणीतत्वादाग्निहोत्रादिवाक्यानां प्रमाणानामव्यभिचारग्रहणपुरस्सरमेव त्रिवर्गस्याव्यभिचारग्रहणं न पुनरत्र त्रिवर्गाव्यभिचारः शक्योऽन्यतः परिच्छेत्तुम् । अदृष्टार्थविषयस्य च चतुर्वर्गस्येहार्थवत्त्वेन प्रयोजनं दृष्टार्थे संदेहादपि व्यवहारासिद्धेः । तदिदं चतुर्वर्गे प्रमाणस्य प्राधान्यमिति ।

चतुर्वर्गविभागपरे भाष्ये प्रमाता प्रथमं दर्शितः । तत्रास्य लक्ष-

णमाह।प्रमाता स्वतन्त्र इति(८-२३)। स्वातन्त्र्यं पृच्छति। किं पुनः स्वातन्त्र्यं यस्याभिसम्बन्धात् स्वतन्त्र इति। तत्र भाष्यकृता प्रमातृत्वोपलक्षितो न लक्षितः न खल्वीप्साजिहासयोर्वा प्रवृत्तौ वा स्वातन्त्र्यं प्रमातृत्वमपि तु प्रमायाम्, ईप्सादिस्वातन्त्र्येण तु तदुत्तरभाविना प्रमायां स्वातन्त्र्यं पूर्वकालभाव्युपलक्षितम्। तेन तच्चरितमनुवर्तमानो वार्तिककृदुपलक्षणान्तरं कृत्वोत्तरकालभाव्याह । कारकफलोपभोक्तृत्वं न हि सर्वः कर्त्ता समस्तकारकजन्यसुखादि बौदनादि वा भुङ्क्ते ऋत्विक्पाचकादिषु च व्यभिचारात्। कारकस्य तु सतः कर्तृत्वोत्तरकालभाविनी फलभोक्तृता कर्तृत्वनान्तरीयकतया तदुपलक्षयति। यजमानस्य राज्ञश्च प्रैषादिना तत्तद्व्यापारकर्तृत्वात्। यथा ऽऽहुरत्रभवन्तः। “तदभिसंधिपूर्वकं प्रेषणमध्येषणं वा युक्तं तत्सर्वं पच्यर्थ” इति(१)। स्वातन्त्र्यलक्षणमाह। तत्समवायो वा। (८-२४) कारकाभिधानेन सन्निधापितां क्रियां तदिति सर्वनाम्ना परामृशति। यस्य हि व्यापारं प्राधान्येन धातुराख्यातप्रत्ययो वा ऽभिधत्ते स स्वतन्त्रः कर्त्ता। तथा हि विक्लियन्तीत्यत्र तन्दुलादयः कर्त्तारः पचतीत्यत्र देवदत्तादयः। तत्कस्य हेतोः एकत्र तन्दुलादेर्व्यापार उपात्तो ऽपरत्र देवदत्तादेरिति। प्राधान्येन चाशेषकारकनिर्वर्त्यत्वं प्रधानक्रियाया इति। अवान्तरे व्यापारभेदे ऽपि प्रधानक्रियोद्देशेन समस्तकारकप्रवृत्तेरिति। पुरुष इति प्रकृतक्रियापक्षं, प्रमायाः पुरुषाश्रयत्वादिति। लक्षणान्तरमाह। तत्प्रयोक्तृत्वमितराप्रयोज्यता वा तस्य चेतनस्य सर्वकारकाणि प्रति प्रयोक्तृत्वं तैश्च कारकैरप्रयोज्यता वा। अचेतनस्य तु भाक्तं कर्तृत्वं न स्वाभाविक-

मिति भावः ।

परिसमाप्तिपदार्थं व्याचष्टे । तत्त्वपरिसमाप्तिरिति । तत्त्वं हि प्रमाणव्याप्यत्वं प्रमाणव्यापारविषयत्वं तच्च हानोपादानोपेक्षाभिः पर्यवस्यति, पर्यवसानं समाप्तिः । विनियोज्यतेति वक्तव्ये योग्यताग्रहणमीप्सिते ऽपि दृष्टे कुतश्चित्मातिबन्धात् पुरुषेणानुपात्ते मा भूतत्त्वापरिसमाप्तिरिति । यद्यपि हि तत्पुरुषेणानुपात्तं तथा ऽप्युपादानयोग्यताप्रदर्शनादस्ति, तत्त्वपरिसमाप्तिरिति । तत्प्रतिषेधश्चेत्यत्र तच्छब्देन हानोपादानलक्षणं विनियोगं परामृशति ।

किंपुनस्तत्त्वमित्यादि भाष्यं व्याचिरुपासुस्त्वप्रत्ययप्रकृतेस्तदोऽर्थं पृच्छति । किं पुनरिति । उत्तरं सदसती इति । प्रज्ञं विभजते । तस्य भावस्तत्त्वमिति । उत्तरं विभजते । सदसती तत् । अथ कस्मात्प्रकृतिपुरुषौ (१) वा पञ्चस्कन्धा (२) वा परं ब्रह्माद्वैतं वा (३) । जीवार्जीवास्रवादयो वा सप्त (४) । पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति चत्वारि भूतानी (५) त्यादीनि न तदो वाच्यानि भवन्तीत्यत आह । प्रमाणाविषयत्वेनाधिकारात् । सूत्रभाष्यवाक्यतद्विवरणेषु प्रमाणं प्रमाणाविषयश्चाधिकृतम् । न च सांख्यादिसिद्धान्तभेदानुपातिनो ऽर्थाः प्रमाणाविषयाः । यथा चैतत्तथा तथा तत्रैव निवेदयिष्यते । उपसंहरति । तस्मादिति ।

प्रकृत्यर्थं व्याख्याय प्रत्ययार्थं व्याचष्टे । तद्भाव इति । (९-१०) सदसतोर्यथासंख्यं विधायकप्रमाणविषयता सतो भावः । तत्प्रतिषेधश्चासतो भावः । सदिति विधायकप्रमाण-

(१) सांख्यमतम् । (२) बौद्धमतम् । (३) वेदान्तमतम् ।

(४) आर्हतमतम् । (५) चार्वाकमतम् ।

१सू०१प्र०] असतोऽपि प्रमाणेनोपलब्ध्युपपत्तिः । ३३

विषयतां परामृशति । तत्प्रतिषेधेन च प्रतिषेधकं प्रमाणमुप-
स्थापितम् । तेन प्रतिषेधकप्रमाणविषयत्वमेव प्रतिषेध इत्यनेनो-
क्तं भवति । एतद्विभजते । तयोः खल्विति । शङ्कते । प्रमाणविष-
यत्वादिति (९-१४) । सर्वसामर्थ्यविरहेण त्वसत्सतो व्या-
वर्तते । यदि चासदपि प्रमाणविषयः तर्हि नासमर्थं तथा च
सदसतोरभेद इत्यर्थः । निराकरोति । नानैकान्त्यात् । न व-
यमसामर्थ्येनासतो भेदमाचक्ष्महे येनैवमुपालभ्येमहीति भावः ।
शङ्कां विभजते । तत्र भवेदिति । निराकरणं विभजते ।
तच्च नेति । गवादि चेतनमचेतनं घटादीति । यदि सदसती
समर्थं कुतस्तर्हि तयोर्भेद इत्यत आह । स्वतन्त्रेति । असदु-
पलब्धिरेव सदुपलब्धेरन्या ऽनुपलब्धिः । ननु संयोगविभागा-
दिषु सत्स्वपि परतन्त्रोपलब्धिकारणत्वमस्ति तेषां संयुज्यमान-
वियुज्यमानाधारनिरूपणाधीनत्वादित्यत आह । प्रतिषेधसु-
खेन प्रतिपद्यते । प्रतीयते । सतां केषां चित्पारतन्त्र्ये ऽपि
न निषेध्यनिषेधाधिकरणपारतन्त्र्यमित्यर्थः ।

संप्रति सदुपलम्भकस्य प्रमाणस्यासदुपलम्भकत्वं प्रतिपा-
दयिष्यता भाष्यकारेण प्रदीपो दृष्टान्त उपन्यस्तः स तु सा-
ध्यसमः तस्यापि प्रमाणसामग्रीनिवेशादिति शङ्कमानो ऽत्यन्त-
लोकप्रसिद्धतया ऽस्य दृष्टान्तत्वं समर्थयति । प्रदीपवादिति ।
गोपालाङ्गना अपि हि किमत्रास्ति स्तेनो ऽस्मद्धनं वा अपवरकं
न वेति संदिहानाः प्रदीपमुपादाय समन्तादवलोक्यापवरकम-
स्तीहास्मद्धनं नास्ति स्तेन इति सममेव निश्चिन्वन्ति न तु स्ते-
नाभावनिश्रयायोपायान्तरमुपाददते तेनागोपालमा च पण्डित-
रूपेभ्यः सिद्धः प्रदीपो दृष्टान्तः तदिदमुक्तम् । (१) न ह्यस-

(१) न ह्येतत्प्रतिपत्ताविति पूर्वं मुद्रिते पु० पाठः ।

प्रतिपत्तावुपायान्तरमास्थीयते लोकेन । अनाश्रयणे हेतु-
माह । दीपेन दृश्यमाने हि घटादिके ऽर्थे स्वतन्त्रे नानेन
समानजातीयं तुल्योपलम्भयोग्यं दृश्यान्तरमस्ति । नीलपीतौ
हि परस्पराभाववन्तौ तेन नीलनिषेधे नावश्यं पीतविधिः ।
भावाभावौ तु परस्पराभावात्मानौ नो खलु अभावाभावो नाम
कश्चिदन्यो भावद्वयान्नापि भावो अन्यो ऽभावात् । तेन समान-
जातीयं दृश्यान्तरं निषेधत् दृश्यान्तरभावमेव विधत्ते प्रदीपः ।
तदेवं प्रदीपोपायस्य प्रतिपत्तुः प्रतीतिक्रममुक्त्वा परीक्षकाणामु-
पपत्तिक्रममाह यद्यभविष्यदिति (९-२३) । यदि कश्चि-
दाशङ्केत दृश्यतामभावः प्रदीपे भावो ऽपि भविष्यतीति तत्रैष
परीक्षकाणां तर्क उपतिष्ठते । यद्यभविष्यदिति । तदेवं लौ-
किकपरीक्षकसंमतमुपपाद्य दार्ष्टान्तिके योजयति । एवं प्रमा-
णेनापि । इन्द्रियादिना । सति प्रमीयमाण इति । पूर्ववद् व्या-
ख्येयम् । उपसंहरति । तदेवमिति (१०-२) सर्वं चैतदुपपादयि-
ष्यते । ननु यदि सदसती प्रमाणविषयौ कस्मात्सद्भेदा इवासद्भेदा
अपि सूत्रकृता नोच्यन्त इत्यत आह तत्र तेषु सदसद्भेदेषु मध्ये
स्वातन्त्र्येण असद्भेदा न प्रकाशन्ते इति नोच्यन्ते ।
निषेधनिषेधाधिकरणाधीननिरूपणत्वादसद्भेदानां भावभेदतन्त्रं
प्रकाशनमिति भावभेदकथनेनैव अभावभेदा अपि गम्यन्त इति
नोक्ता इत्यर्थः । अथ वा कथिता एव येषां तत्त्वज्ञानं निःश्रेय-
सोपयोगि, ये तु न तथा न तेषां प्रपञ्चः अनुपयुक्तभावप्रपञ्च इव
वक्तव्य इत्याह । चतुर्वर्गानन्तर्भावाद्वा भावप्रपञ्चवदभा-
वप्रपञ्च इति । निःश्रेयसस्यानुपयोगिनि भावप्रपञ्चे यथा चतु-
र्वर्गानन्तर्भावः एवमभावप्रपञ्चे ऽपीति । अथ निःश्रेयसोपयो-
गाभावः कुतो ऽवगन्तव्य इत्यत आह । भावोपदेशादेवा-

भाव उपदिष्टो भवतीति । द्विविधं प्रमाणं भावो ऽभावश्च यथा कारणाभावेन कार्याभावज्ञानं यतो द्वितीयसूत्रसमुत्थानम् । प्रमेयेषु अपवर्ग एव मूर्द्धाभिषिक्तः । एवं प्रयोजनादिष्वपीति तत्र तत्रोहनीयमिति । उपसंहरति । अतश्चेति ।

तदेवं तात्पर्यं व्याख्याय अवयवार्थं व्याख्यातुं भाष्यं पठति । सञ्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते[भा०-२-१४] इति । अत्र प्रथमे कल्पे चशब्दो ऽवधारणे, खलुशब्दः स्पष्टावधारणे, सद्धि षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते नासत्तस्य सदधीनप्रकाशत्वादिति । द्वितीये तु कल्पे पारमार्थिके चः समुच्चये, खलुवधारणे, सति षोडशधैवोपदेक्ष्यमाणे ऽसदप्युपदेक्ष्यत इत्यर्थः । प्रकृतिं व्याचष्टे व्यूह इति ।

सूत्रस्य सप्रपञ्चं तात्पर्यं व्याख्याय अवयवार्थं व्याचिख्यासुना भाष्यकारेण तासां खलवासां सद्धिधानामिति भाष्येण सूत्रमवतार्य पठितं तस्य वार्त्तिककृत्तात्पर्यमाह त एते सङ्ग्रेदा इति सूत्रम् । त एते प्रमाणादयः सङ्ग्रेदा निःश्रेयसोपयोगिनो न गङ्गावालुकादयः, तस्मात्सन्तः प्रमाणादयः षोडशधा लक्षिताः परीक्षिताश्च न गङ्गावालुकादयः सन्तो ऽपि निःश्रेयसानुपयोगादिति भावः । द्वन्द्वस्वरूपमाह । सर्वपदेति (१०-११) । द्वन्द्वपरिग्रहे तात्पर्यमन्वयव्यातिरेकाभ्यामादर्शयति । सर्व एत इति । बहुव्रीहिकर्मधारययोरसंभवात् षष्ठीसमासपरिग्रहे निग्रहस्थानस्यान्त्यपदार्थस्य प्राधान्ये विवक्षितार्थहानिप्रसङ्ग इत्यर्थः । निर्देशो यथावचनं विग्रहः इत्यस्य भाष्यस्य तात्पर्यमाह । यथावचनमिति (१०-१४) । अन्योन्यनिरपेक्षाणां प्रत्येकं प्रमाहेतुभावः प्रमाणानामिति हि बहुवचनप्रयोजनम् । प्रमेयेषु तु यद्यपि प्रमेयता वास्तवी प्रत्येकमस्ति

तथा ऽप्यपवर्गहेतुभावेन प्रमेयता समुदाये समाप्यते न तु प्रत्येकम् आत्मादीनामन्यतमस्याप्यतत्त्वज्ञाने संसारानिवृत्तेरिति हि निर्देशे वचनभेदस्य प्रयोजनं तदेव चोद्देशे ऽपि तयोरेकवाक्यत्वादिति भावः । प्रमाणादीनामिति विभक्त्यर्थव्याख्यानपरं भाष्यं पठित्वा पृच्छति । कः पुनरिति । उत्तरं कारकाणामिति । तद्विभजते । यत्रेति । कारकार्थः प्रधानक्रिया, यदुद्देशेन सर्वकारकप्रवृत्तिः । कारकग्रहणेन च तन्नान्तरीयकतया प्रधानक्रिया ऽप्यानीतेति विवरणे सा ऽपि दर्शिता । यद्यपि स्वस्वामिभावादावपि संबन्धे ऽन्यगतक्रियाकारकसंबन्धो ऽस्ति संबन्धमात्रस्य क्रियागर्भत्वान्नान्तरीयकत्वाच्च कारकस्य, तथा ऽप्यसौ न विवक्ष्यते संबन्धमात्रमेव तु विवक्ष्यत इत्यर्थः ।

अत्र चोदयति । तत्त्वस्येति । षष्ठी चानर्थिका अव्यतिरेके तदनुपपत्तेरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

तत्रानियमवाद्येकदेशी परिहरति । नोभयथा ऽपीति । भावस्य भवित्रधीननिरूपणत्वाद् भावनिरूपणमेव भवितृनिरूपणमाक्षिपति । अभेदे ऽपीति । इषुस्थित्या यथा तज्जावप्रतिषेधयोर्भावो धर्मो गतिः । तस्य प्रतिषेधः स्थितिः तिष्ठतेर्गतिनिरवृत्त्यर्थत्वात् । एवमत्रापि न प्रमाणप्रमेयादिमात्रमुच्यते तत्त्वग्रहणेनापि त्वर्थान्तरं तेष्वेव यत्समारोपितं रूपमन्यथात्वमिति यावत् तत्प्रतिषिध्यते । गतिमादिति भावप्रधानो निर्देशः यथा द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने इति द्वित्वैकत्वयोरिति, संख्येयविवक्षायां द्व्येकेष्विति स्यात् । तेन गतिमत्त्वमर्थान्तरमिषोर्न भवति । इत्यस्मिन्नर्थे इषोः स्थितिरिति वाक्यं प्रसज्यत इत्यर्थः ।

तदेतदेकदेशिमतमर्थान्तरत्वनियमवादी दूषयति । तन्नेति । प्रमाणादिभ्यो ऽनर्थान्तरस्य तत्त्वस्य इषोरनर्थान्तरस्य प्रवृत्त्य-

भावस्य चासिद्धेः । यथा च भावातिरिक्तो ऽभावस्तथा क्षणभ-
ङ्गभङ्गाधिकारे निवेदयिष्यते । प्रमाणाद्यतिरिक्तं च तत्त्वमन-
न्तरमेव दर्शयिष्यति इति ।

तत्त्वस्य ज्ञानमित्यादि भाष्यं व्याचष्टे । तत्त्वं ज्ञायमा-
नमिति । उभयं पृच्छति । किं पुनरिति । तत्त्वप्रश्नस्यो-
त्तरम् तत्त्वमिति । निमित्तत्वं शक्तिः प्रमाणादीनां, सा च
द्वयी स्वरूपलक्षणा सहकारिसाकल्यलक्षणा च । अतीन्द्रियस्य
सामर्थ्यस्य नैयायिकैरनभ्युपेतत्वात् । शक्तेश्च भावत्वेन भवितु-
निरूपणाधीननिरूपणत्वाद् भवितुरपि निरूपणं भवतीत्युक्तम् ।

अभिमतं निःश्रेयसं ग्रहीतुं निःश्रेयसद्वैविध्यमाह । निःश्रे-
यसं पुनरिति (११-११) । तत्रादृष्टं निःश्रेयसं ग्रहीतुं दृष्टम-
तिप्रसङ्गापादनेन दूषयति । एवं च कृत्वेति । सूत्रकाराभिमतं
निःश्रेयसमाह । परं त्विति । एतदुक्तं भवति । यद्यपि निःश्रे-
यसपदमभिमतमात्रवाचि प्रमाणादितत्त्वज्ञानस्य दृष्टमपि निःश्रेयसं
भवतीति तस्यैव ततः साक्षादुत्पत्तेः । तथा ऽप्यात्मादिवाचक-
प्रमेयपदसमभिव्याहाराददृष्टमेव निःश्रेयसमभिप्रेतं सूत्रकारस्य
तत्र च प्रमाणादितत्त्वज्ञानस्यापि पारंपर्येण हेतुभावो ऽस्त्येवे-
ति । चोदयति दृष्टमिति । दृष्टे दर्शनमेव प्रमाणम् । अदृष्टन्तु
निःश्रेयसप्रामाणिकं दर्शनाभावादित्यर्थः । परिहरति न ना-
स्ति अर्थस्य तथाभावात् । अर्थ आत्मादिस्तस्य आगमानु-
मानसहकारिणा कारणाभावेन कार्यभावानुमानमेवात्रार्थे प्रमा-
णमिति भावः । ये तु वैयात्यान्मन्येरन् न पदार्थतत्त्वज्ञानमात्रमेव
परनिःश्रेयसहेतुरिति । यथा ऽऽहुः—“एको भावस्तत्त्वतो येन
दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टा” इति तान् प्रत्याह । यदि पुन-
रिति । न हि भावानां तत्त्वमन्यत् प्रत्यक्षविषयीकृताद्रूपादिति

भावः । मोक्षमाणा इति । सनि मुचो ऽकर्मकस्य गुणो वेति गुणाभ्यासलोपौ । न केवलं वस्तुवृत्तिः सूत्रकारस्यापि समतमेतदित्याह । पृथगुपदेशाच्च । प्रमेयस्य प्रमाणादिभ्यः । यदि च यत्किञ्चित्प्रमेयतत्त्वपरिज्ञानान्निःश्रेयसस्य परस्य प्राप्तिः किमर्थमात्मादिसूत्रेण द्वादशैव प्रमेयाणि नाधिकानि न न्यूनानि चेयवधार्यते सूत्रकारेण, तस्मात्तदेतत्साक्षादुपयोगि निःश्रेयसे, न पदार्थमात्रमित्याह प्रमेयावधारणार्थायां चोत्तरसूत्रप्रक्रियायामकुशलः सूत्रकारः स्यात् । कुतः प्रमेयस्य विहितत्वाद् आद्येन सूत्रेणेति । तस्माद्यद्युपपत्तिर्यदि च सूत्रकाराभिमतमुभयथा प्रमेयतत्त्वपरिज्ञानं परस्य निःश्रेयसस्य हेतुः । तदनेनात्मादेरिति भाष्यं व्याख्यातम् ।

अथ किं तत्त्वज्ञानस्यात्मादिविषयस्यादृष्ट एव को ऽपि सामर्थ्यातिशयो यतः परनिःश्रेयसोत्पादः, मैवं, किं तर्हि ? दृष्टयैव द्वारेत्याह भाष्यकारः । तच्चैतदिति । (भा० ३-४) निःश्रेयसहेतुभावाभिधानस्य अनु पश्चात् उच्यते अनूद्यते तत्त्वज्ञानोत्पादे हि साक्षात्तद्विषयमिथ्याज्ञानादिनिवृत्तिक्रमेणापन्नर्गोत्पाद इति द्वितीयसूत्रेणानूद्यते, तदेतद्भाष्यं तच्चैतदित्याद्यधिगच्छतीत्यन्तमनूद्य व्याचष्टे । हेयमिति । मिथ्याज्ञानमात्मादिषु प्रमेयेषु अविद्या तन्मूलं तृष्णा, उपलक्षणं चैतत् द्वेषोऽपि द्रष्टव्यः । तन्मूलौ च धर्माधर्मौ तदेतद्धेयम्, हानं-तत्त्वज्ञानं हीयते हानेन तत्सर्वं तस्य प्रमाणस्योपायः शास्त्रमधिगन्तव्यो मोक्षः । एवमवयवान्विभज्य तात्पर्यमाह । एतानीति । एतानि चत्वार्यर्थपदानि पुरुषार्थस्थानानि न केवलं हेयाधिगन्तव्यभेदेन द्वादशविधं प्रमेयं दर्शयतः तद्विषयतत्त्वज्ञानाय च सोपकरणन्यायाभिधानप्रमाणव्युत्पादकं शास्त्रं प्रणयतः सूत्रकारस्य सम्मतं अपि तु सर्वेषामेवाध्यात्मवि-

दामाचार्याणामिति भाष्यतात्पर्यमित्यर्थः ।

तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकमित्यादि चो-
द्यभाष्यं व्याचष्टे-संशयाद्यग्रहणमिति । सत्यमिति परि-
हारभाष्यं व्याचष्टे । न विद्येति । चोद्यं विवृणोति-
संशयादय इति । परिहारं विवृणोति न विद्येति ।
प्रस्थानं व्यापारः । तेषां पृथग्वचनमित्यादि भाष्यं
व्याचष्टे तस्याः संशयादीति । न च वाच्यमस्तु विद्यात्रयमेव
कृतमान्वीक्षिक्या विद्ययेति, एतस्या एव समस्तविद्यावदातीक-
रणहेतुत्वात् । यथा वक्ष्यति 'प्रदीपः सर्वविद्याना'मिति । स
चायं किंस्विदिति वस्तुविमर्शमात्रं अनवधारणज्ञानं
संशय इति भाष्यं तद्व्याचष्टे । तत्र तेषु संशयादिषु संशय-
स्तावदिति । ज्ञानमवधारणं प्रत्ययश्चेति पर्याय इति मन्वानश्चो-
दयति अनवधारणात्मक इति । न ज्ञानमात्र(१) पदर्यायो
ऽवधारणशब्दो ऽपि तु तद्विशेषनिश्चयवचनः किं स्विदिति दो-
लायमानस्योभयकोटिस्पृशः प्रत्ययस्यार्थे ऽनवधारणात्मकस्यापि
प्रत्यात्ममानसेन प्रत्यक्षेणावधार्यमाणत्वादिति-परिहरति । न
व्याघात इति (१२-१८) । तत्तस्मादुभयमिति । तत्र नानु-
पलब्धे इत्यादिभाष्यमवतारयितुं पृच्छति । स कथं न्यायस्ये-
ति । यदि न्यायस्याङ्गं संशयो भवेत्सो ऽपि व्युत्पाद्येतेति भावः ।
उत्तरं यस्मादिति । एतदाक्षिपति । उपलब्ध इति । पञ्चरूप-
श्चतुरूपो वा हेतुन्यायः । प्रतिज्ञाद्यवयवसमूहो वा न्यायः नीयते
प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति । तस्याश्रयो विषय उपलब्ध

(१) 'निःश्रेयस हेतुभावाभिधानस्येत्यारभ्य 'न ज्ञानमात्र'इत्ये-
तावत्पर्यन्तः पाठः ए. सोसाइटी पुस्तके समुपलब्ध आवश्यकश्चेति
निवेशितः ।

उच्यमानो निर्णीत एव वक्तव्यः । संदिग्धे हि तस्मिन् हेतुः
 संदिग्धाश्रयतया ऽसिद्धः स्यात् । यथेह नगनिकुंजे मयूरः
 केकायितापातादिति । तदापातसंदेहे, अतो ऽयमनिर्णीतश्चेन्नो-
 पलब्धः ततश्चोपलब्धश्च न निर्णीतश्चेति व्याहृतमित्यर्थः । परि-
 हरति । नास्ति व्याघात इति । सामान्यतः पर्वतमात्रमुपलब्धं
 निर्णीतं तद्विशेषस्तु वह्निमत्त्वादिरनिर्णीत इति । पुनश्चोदयति ।
 एवमपीति । उपलब्धोऽनिर्णीत इति हि सामानाधिकरण्यात्समा-
 नविषयत्वं दर्शयति तथा च व्याघातः । सामान्यविशेषयोर्भेदेन तु
 व्याघातं परिहरन् सामानाधिकरण्यं न समर्थयस इति भावः ।
 परिहरति । यथा तथेति व्यपदेशादिति । सामान्यविशेषयोः
 समानाधिकरण्यात् । य एव सामान्यतो निर्णीतः । स एव वि-
 शेषतो ऽनिर्णीतो ऽपि सम्भवतीति न व्याघात इत्यर्थः । एवम-
 र्थम्, न्यायप्रवृत्त्यर्थमसंदिग्धे न्यायप्रवृत्तेरनुपपत्तेः । न हि प्रत्य-
 क्षेण करिणि दृष्टे ऽपि चीत्कारेण तमनुमिन्वते प्रेक्षावन्त इति ।
 प्रयोजनस्वरूपप्रातिपादनपूर्वकं प्रयोजनपदोपादानप्रयोज-
 नप्रदर्शनार्थं भाष्यमनुभाषते । अथ प्रयोजनं (१३-४) ।
 व्याख्यातुं पृच्छति । किं पुनरिति । उत्तरं येनेति ।
 स्फुटतरमेवैतदित्यर्थः । पुनः पृच्छति । केनेति । एकदे-
 शिमतेनोत्तरमाह । धर्मेति । तत्र काम इतीच्छामात्रं
 बोध्यते कामिनीविषयो वा राग इति, पूर्वस्मिन् कल्पे काम
 इत्येवास्तु कृतं धर्मादिभिः सर्वेषामेव काम्यत्वात्, उत्तरस्मिन्
 व्याप्तिः सरकमृगयादीनां काम्यानामसंग्रहात् । धर्ममोक्षयोरपि
 नास्तिकान् प्रत्यप्रवर्त्तकत्वात्तस्मादयुक्तमेतदिति मन्वान आह ।
 वयं तु पश्याम इति । (१३-७) सुखस्याप्त्या दुःखस्य हा-
 न्या विषयेण विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति । असत्प्राकारणत्वा-

तत्सत्योर्वा अनर्थकत्वात्प्रवृत्तेरिति । तथाऽपि सुखदुःखाप्तिहान्योरेव कर्तुः प्रवृत्तिप्रसङ्गो न तत्साधने, न ह्यन्याद्विजानाति इच्छति च करोति चान्यदिति घटते अतिप्रसङ्गात् । न च फलं पुरुषप्रवृत्तिगोचरः । तत्साधनं तु तद्गोचरः । तत्साधनत्वाविज्ञानात् तत्साधन एव प्रवर्तते तन्नातिप्रसङ्ग इति चेद् ? इन्त तर्हि तत्साधनत्वज्ञानमेव प्रवर्तयति न फलज्ञानं, ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां कार्यकारणभूतानां सामानाधिकरण्येन संप्रतिपत्तेरित्याभिप्रायेणाह । सुखदुःखसाधनभावाच्च सर्वेऽर्थाश्चेतनं प्रयोजयन्तीति । (१४-१२) । तुल्यब्दः फलाद्यवच्छिनत्ति । अत्रापि विषयेण प्रत्ययमुपलक्षयति ।

एतदुक्तं भवति । तोयमुपलभ्य तज्जातीयस्यापेक्षितसाधनतां दृष्टचरीमनुस्मरति । अथ तज्जातीयतया लिङ्गेन दृश्यमानस्यापेक्षितसाधनभावमनुमिमीते । अनुमाय च पिपासुः प्रवर्तते । तेनोपायताज्ञानस्य साक्षात्पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वम् । फलज्ञानस्य त्वीप्सिततमस्योद्देश्यतयेति सर्वं सुन्दरम् । तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तत इति भाष्यं व्याचष्टे तदिदं प्रयोजनं न्यायस्येति (१३-८) । आक्षिपति । क इति । समाधत्ते । उपकारकत्वादिति । यथा राजाश्रितः पण्डित इति । उपकारकत्वमेव दर्शयति । तन्मूलत्वादिति । विधिः प्रवृत्तिः । न जातु निष्प्रयोजने काकदन्तादावारभन्ते परीक्षां प्रेक्षावन्त इत्यर्थः । आक्षिपति । का पुनरिति । न्यायाश्रयत्वं प्रयोजनस्य प्रतिज्ञाय परीक्षाश्रयत्वसमर्थनमसंगतमिति भावः । उत्तरम् । न्यायः । तस्मान्नासंगतम् इत्यर्थः । नन्वेवमपि नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थासिद्धिरनेनेति व्युत्पत्त्या प्रत्यक्षादि प्रत्येकं न्यायः । न चैतत्प्रत्येकं प्रयोजनमाश्रयते । अजिहासितानुपादित्सिताना-

मप्याजिज्ञासितानामर्थानां प्रत्यक्षादिगोचरत्वदर्शनदित्याक्षिपति ।
 कः पुनरयं न्यायः । समाधत्ते । प्रमाणैरिति । प्रत्यक्षादिप्र-
 माणमूलाः प्रतिज्ञादयः पञ्चावयवाः प्रमाणानि तैरर्थस्य लिङ्गस्य
 परीक्षा परीक्षणम् । परीक्षितं तु लिङ्गं पञ्चावयवोपपन्नमनुमेय-
 प्रत्ययफलं भावयत्येव । न त्वनुमेयार्थपरीक्षा । तस्य संदिग्धत्वे
 ऽपि स्वरूपेण परीक्षानास्पदत्वादिति । नन्ववयवैश्चेदर्थपरीक्षणं
 न तर्हि प्रमाणैः कार्यकारणयोरभेदाभावादित्यत आह ।
 किमुक्तं भवतीति । न साक्षात्प्रतिज्ञादयो ऽवयवा अर्थपरीक्षा-
 यामुपयुज्यन्ते । अपि तु स्वकारणतत्प्रमाणसूचनेन । तस्मात्प्र-
 माणानामवान्तरव्यापारः प्रतिज्ञादय इत्युपपन्नं प्रमाणैरर्थपरीक्षणं
 तदिदमुक्तं समस्तप्रमाणव्यापारादिति । इति तस्मा-
 न्नैकैकं प्रमाणमिति । समस्तप्रमाणोपकरणत्वादेव चास्य
 परमत्वमित्याह । सोऽयमिति (१४—१९)

पञ्चावयवोपपन्नतया च प्रत्यक्षागमाश्रितत्वं न ताद्विरोध इति ।
 तत्प्रदर्शनार्थं भाष्यमनुभाष्य तात्पर्यं व्याचष्टे । प्रत्यक्षागमेति ।
 (१३—१५) कथं पुनरनेन भाष्येण एतदुच्यत इत्यत आह । य-
 दिह्य(१)नुमानेति । यत्पुनरनुमानमित्यादि भाष्यं व्याचष्टे ।
 यत्र पुनरिति । यत्र विरोधस्तत्र प्रमाणमूलानामवयवानां
 प्रतिज्ञादीनामितरेतरप्रतिसंधानमेकवाक्यता नास्ति । प्रमाणविरो-
 धेन योग्यताविरहिणां तत्पदार्थानां पारमार्थिकान्वयाभावा-
 दिति । तीर्थं दर्शनं तस्य प्रतिरूपकः अदर्शनमेव दर्शनं प्रति-
 रूपयति दर्शनमिव दर्शयतीति यावत् । स खलु तादृशः पञ्चा-
 वयवप्रयोगो लाभपूजाख्यातिकामैः पण्डितव्यञ्जनैरुपव-
 र्ण्यमानः न प्रत्ययाय प्रागेव त्वपवर्गायेत्यर्थः ।

१सू०१प्र०]प्रत्यक्षागमाविरोध्यनुमानस्याभासत्वम्। ४३

तदेवं समुदायतो भाष्यं व्याख्यायावयवविभागाय पठति ।
यत्पुनरनुमानमिति । प्रत्यक्षविरोधोदाहरणमाह । अनुष्णोऽग्नि-
रवयवी कृतकत्वाद् घटवद् इति । अत्र चोदयति । कः पुन-
रिति (१३।२२) इदमत्राकृतम् । रूपत्रयसंपन्नमेतत्कृतकत्वं न वा ।
न चेत्त एव तर्हि तदनुमानाभासतामेति कृतं प्रत्यक्षविरोधेन ।
अथान्वयव्यतिरेकपक्षधर्मतासंपन्नमपि बाधितविषयतयैतदप्रमा-
णम् । तदयुक्तम् । रूपत्रयसंपत्त्या खल्वेतत् स्वसाध्येनाविना-
भूतं भवति । न च बाधाविनाभावयोः सह संभवः । बाधायाम-
पक्षधर्मो भवेत् । अनैकान्तिकश्च हेतुः । जिज्ञासितधर्मणो
धर्मिणः प्रक्षयमाणत्वेन पक्षत्वं न पुनः प्रत्यक्षावधृतसाध्यधर्म-
विरुद्धस्य । तस्याजिज्ञासितत्वेनापक्षतया तद्धर्मस्याऽपक्षधर्मत्वं ।
न चैकान्तिकम् । साध्यधर्मिण्येव प्रत्यक्षोपस्थापितसाध्यधर्म-
विरुद्धधर्मवति दर्शनेन व्यभिचारात् । न च सपक्षासपक्षावेवा-
न्वयव्यतिरेकगम्याविनाभावदर्शनविषयौ न पक्ष इति साम्प्रतम् ।
यदि हि पक्षं विहाय बहिरेव सपक्षासपक्षयोरविनाभावो गम्येत
तदा बह्विव्याप्तिमात्रबलेन पक्षधर्मोऽपि हेतुर्न पक्षे साध्यं
साधयेत् । असिद्धा हि तत्र स्वसाध्येन व्याप्तिः । तदेतत्पण्ड-
कमुद्राह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिव । तस्मादन्तर्बहिर्वा सर्वोपसंहा-
रेणाविनाभावोऽवगन्तव्यः । एवं च सिद्धः पक्षेऽपि व्यभि-
चारः साधनधर्मस्यैत्यनैकान्तिकत्वम् । तथा च रूपत्रयसंपन्नो
हेतुर्बाधितविषयश्चेत्यसंभवः । तस्मात्सुष्ठूक्तं कः पुनरस्यानु-
मानस्य रूपत्रयसंपन्नस्य विरोधः । न ह्यस्ति संभवो रूपत्रय-
संपन्नं विरुद्धं चेत्यर्थः ।

तत्र समाधिमाह । अनुमानाविषये प्रयोगः । वक्ष्यते
अनुमानाधिकारे यथाऽनौपाधिकः सम्बन्धो हेतुसाध्ययो-

रनुमानाङ्गं, न तु कार्यकारणभावादिरव्यापकत्वादति-
 प्रसङ्गाच्चेति । स चैवं प्रवर्त्तते यो यः कृतकः स सर्वो ऽनु-
 ष्णो यथा घटादिरिति । न च बहेरिव धूमसंबन्धे आर्देन्धनसंयो-
 गः गुर्वन्तेवासिनोः साहचर्ये स्वाध्यायाध्ययनमुपाधिः कृतक-
 त्वानुष्णत्वयोः संबन्धे उपलभ्यते । सो ऽयं शङ्कितः समारो-
 पितो वा प्रयत्नेन पुनः पुनरन्विष्यमाणो ऽनुपलभ्यमानस्तत्र
 तत्र घटादावुपाधिर्नास्तीति प्रत्यक्षेण यद्यभविष्यद् घटादिवदेव
 व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावाच्चास्त्येवेति तर्कसहायेन निश्चीयते ।
 सो ऽयं रूपेणेव रसस्य, श्वस्तनेनेव सवितुरुदयेनाद्यतनस्य तदु-
 दयस्य, समुद्रवृद्धयेव चन्द्रोदयस्य समानकालस्य, कृतकत्वस्या-
 नुष्णत्वेन स्वाभाविक औत्सर्गिकः संबन्धः सामान्येन यो यः
 कृतकः स सर्वो ऽनुष्ण इत्यवधारितो, न तु निर्विभज्य तेजो-
 वयविनि । न हि सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेकदेशविषया भवि-
 तुमर्हति । एकदशविषयत्वे यत्रैव न दर्शिता तेनैवानैकान्तिक-
 त्वमाशङ्क्येत । तथा च तत्र तत्रैकदेशे प्रत्येकं व्याप्तिप्रदर्शनम-
 शक्यमानन्त्यात् । तस्मात्सर्वोपसंहारेणैव तदुपदर्शनम् । तदिह
 कृतकत्वमौत्सर्गिकसामान्यविषयव्याप्तिस्मरणसध्रीचीनं पक्षधर्म-
 तावशाद्विशेषे तेजोऽवयविनि साधयितुमनुष्णतोन्मुखं यन्न साध-
 येत्तत्र किं प्रत्यक्षेणापहतविषयत्वादाहो स्विदनैकान्तिकत्वात् ।
 न तावदनैकान्तिकत्वं प्रागेव सामान्यतो ऽनौपाधिकसंबन्धाव-
 धारणात् । तेजोऽवयविनि कृतकत्वस्य दर्शनादनैकान्तिकम-
 पक्षधर्मो वा कृतकत्वमिति चेद् नानुमानेन सामान्यतो ऽवधृ-
 तव्याप्तिनो तस्यानौष्ण्यसाधनात् । प्रत्यक्षेण तेजोऽवयविनि औ-
 ष्ण्यग्रहणेन तस्य कृतकत्वस्य हेतोर्वृत्तावुत्पन्नमपि व्याप्तिविज्ञानं
 बाध्यते, ततश्चानैकान्तिकत्वादप्रवृत्तिरनुमानस्येति चेत् । न ।

अनुमानप्रवृत्तिविषयसाध्यधर्मिणि हेतोर्व्यभिचारानुद्धावनात् । अन्यथा तद्वत्साध्यधर्मसंदेहे तत्रोपलभ्यमानः साधनधर्मः संदिग्धव्यतिरेकित्वादनैकान्तिकः स्यात् । संदिग्धसाध्यधर्मे दृष्टान्त इव साधनधर्मः तथा चानुमानमात्रमुच्छिद्येत । प्रत्यक्षेण साध्यधर्मविपर्ययसाधनात् । तेजोऽवयविनोऽनुष्णत्वेनासाध्यत्वम्, तथा चानैकान्तिकत्वमपक्षधर्मता चेति चेत् । तर्हि प्रत्यक्षेण साध्यविपर्ययसाधनं बाधनमित्यनर्थान्तरम् । तदिदमुक्तं यस्मिन् विषये तेजसोऽनुष्णत्वे एतत्प्रयुक्तं* स प्रत्यक्षेणापहृत इति । (१३-२४) एवं चानुमाने दूषिते कृतमपक्षधर्मत्वव्यभिचाराभ्यां तदुपजीविभ्यामिति भावः ।

यत्पुनर्दिग्भागेन प्रत्यक्षविरुद्धमनुमानमुदाहृतं तदुपन्यस्यति । अपरे पुनरिति (१४।५) अश्रावणः शब्दः कृतत्वाद् घटादिवदिति ब्रुवाणः शब्दस्वरूपमेवापलपति । न हि श्रवणेन्द्रियादन्यदस्ति शब्दग्रहणकारणम् । न चागृह्यमाणः शब्दस्तद्व्यवहारगोचरः तस्मादेवं वादिनोऽभिप्रायव्याप्तमसत्त्वं शब्दस्य, तथा च प्रत्यक्षविरोध इति भावः ।

दूषयति तैस्त्विति । (१४ । २) सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत इत्युत्सर्गः क्वचित्पुनर्विशिष्टविधानमपि भवत्यगतित्वात् तद्यथा 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' 'सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्नातकः स्या' दिति । तद्वदिहापि अश्रावणः शब्दः इति श्रुतिवाक्ययोः सामर्थ्याच्चावणत्वविशेषणोपसंक्रान्तो निषेधो न विशेष्येण शब्देन सह संबध्यते । नापि श्रावणत्वनिषेधादार्थः शब्दनिषेधो वाद्यभिप्रायव्याप्तः वचनार्थाविरोधिनोऽर्थस्यार्थगम्यत्वान्न तद्विरो-

धिनः, श्रावणस्त्रनिषेधस्य चाधिकरणं शब्द इति न शब्दा-
भावे तन्निषेधो ऽवकल्पते । न चाभावस्तुच्छ इति च तृतीय
उपपादयिष्यते । न च श्रावणत्वं प्रत्यक्षगोचरः । तद्धि शब्द-
श्रोत्रयोः सम्बन्धः 'कृत्तद्धितसमासेषु संबन्धाभिधानं त्वतल्भ्या'
मिति कात्यायनीयवचनात् । न च प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तिः संबन्धः
प्रत्यक्षस्तस्मात् श्रावणत्वमप्रत्यक्षमिति नात्र प्रत्यक्षविरोधस्तदि-
दमुक्तमिन्द्रियवृत्तीनामतीन्द्रियत्वादिति (१४।३) वृत्तिः
स्वार्थे सम्बन्ध इत्यर्थः ।

आगमविरुद्धमुदाहरति । शुचीति । (१४।४) मन्वादि-
भिर्नारास्थिस्पर्शप्रतिषेधात् स्पर्शं च प्रायश्चित्तोपदेशादशुचित्वं
नरशिरःकपालादीनामिति ।

कापालिक आक्षिपति । कथमिदमिति । नास्माकं वैदस्त-
न्मूलाश्च स्मृतयः प्रमाणमित्यभिप्रायः । उत्तरम् । शुचि नर-
शिरः कपालमिति ब्रुवता श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानपेक्षेणा-
नुमानमात्रसहायेनात्र वस्तुनि त्वया शुचिरूपोऽर्थो वक्तव्यः कि-
मुक्तं भवति शुचीति? यद्युच्यते स्पष्टदुः प्रत्यवायाभावः ।
सिद्धान्ती पृच्छति स कस्येति । यद्यात्मन इति ब्रूयात्का-
पालिकः । अविगीता हि व्यवहारपम्परा ऽस्माकं कापालिकानां
नरशिरःकपालस्पर्शतदवस्थितान्नपानोपयोगलक्षणा दाक्षिणा-
त्यानामिवाहनेषुकादि*लक्षणा क्रिया श्रेयस्करी, तस्मादस्माक-
मप्रत्यवायकरतया शुचि नरशिरःकपालमित्यर्थः । तत्र सोपहा-
समुत्तरमाह । तदा स्वागमार्थ(१) तात्पर्यवस्थानात्

*आन्हिनैषुकादि इति लिखितशाबरभाष्यपुस्तकपाठः । करञ्जका-
दिस्थावरदेवतापूजनं तदर्थ इति जैमिनीयन्यायमालाविस्तरे होला-
काधिरणे ।

(१) स्वागमार्थानुष्ठानतात्पर्येणावस्थानादिति वार्तिकपाठः ।

कापालिकस्यैवमेतत् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणलक्षणागमवि-
हितमर्थमाचरतां तन्निषिद्धं च परिहरतां दाक्षिणात्यानामाह्नैवुका-
द्यनुष्ठानमनाद्यद्य यावदनुवर्त्तमानमविगीतमागममूलतामनुमाप-
यत्यात्मनः श्रेयोहेतुभावेन, न खल्वागमानपेक्षः सहस्रेणाप्यनु-
मानैरिममर्थमवगन्तुमर्हति । कापालिकानां त्वागमविहितमकुर्वतां
कुर्वतां च तन्निषिद्धमर्थं प्रयत्नेन अनादिरपि व्यवहारः शाक्य-
मल्लकादीनामिव न वेदानुमाने मूलमिति भावः । अथ त्रयी-
विदां नरशिरःकपालमप्रत्यवायहेतुरिति ब्रूयात् तदा त्रय्या
वक्ष्यमाणेन न्यायेन प्रामाण्योपगमादागमविरोधः तदीयस्पर्शस्य
त्रय्यां निषेधेन प्रत्यवायहेतुत्वनिश्चयात् । अपि चागमानपेक्षो
ऽनुमानेन शौचं नरशिरःकपाले व्यवस्थापयन् प्रष्टव्यो जायते ।
शुचि नरशिरःकपालमिति को ऽर्थः (१४।१०) । ननु य एव
वाक्यात् प्रतीयते स एवार्थः तत्किं पृच्छयत इत्यत आह विशे-
षस्य नरशिरःकपालस्य शौचविधानमेतत् । किमित्यत आह ।
विशेषविधानं च शेषे प्रतिषेधविषयं लोके दृष्टं यथा
दक्षिणेन चक्षुषा पश्यतीति उक्ते वामेन नेति गम्यते । तदिह
यदि शुचि नरशिरःकपालं किमन्यदशुचि इति त्वया वक्तव्यम् ।
न हि नरोच्चारादीनामशुचित्वे प्रमाणमन्यदस्त्यागमात् । आग-
मप्रामाण्यं च न मन्यसे इति भावः । अथ त्रयीविद्वेषादनुमान-
पक्षपातिना त्वया सर्वमेव नारं विट्कपालादि शौचपक्षे निक्षि-
प्यत इत्याह । अथ सर्वमेव शुचि । परिहरति । दृष्टान्तो
नास्ति । कुतः सर्वस्य पक्षीकृतत्वात् ।

चोदयति । अथानुमानविरुद्धं कस्मादनुमानं न भव-
तीति (१४।१३) न खलु प्रमाणत्वे प्रत्यक्षागमाभ्यामनुमानस्य
कश्चिद्विशेषो येन तौ बाधकौ न त्वनुमानमिति भावः । परिह-

रति । एकस्मिन्ननुमानद्वयसमावेशाऽभावात् ।

अयमभिसंधिः । यत्तावदनुमानं पूर्वप्रवृत्तं तेन बाधितविषये तदवलवत् पश्चादनुमानं न स्वकार्याय पर्याप्तम् । यथोक्तमश्रावणः शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवदित्यस्यानुमानविरोध इति । लब्धरूपं हि वस्तु किं चित् क चिन्निषिध्यते न तु ज्ञानाकारालीकादिति (१) तृतीये निवेदयिष्यते । तदिह श्रावणत्वं शब्दस्य निषिध्यता श्रवणमिन्द्रियं तद्ब्रह्मत्वं च वस्तुनी अनुमातव्ये शब्दोपलम्भलक्षणेन कार्येण । तथा चैतेनैवानुमानेनापहृतविषयमश्रावणत्वानुमानं चरममन्वयव्यतिरेकसंपन्नमपि न स्वोचितं कार्यं जनयति । एवं तनुभुवनादीनां न कर्त्तेश्वरो ऽशरीरित्वान्मुक्तात्मवत् प्रयोजनाभावादित्याद्यपीश्वरधार्मिग्राहिमूलानुमानेनापहृतविषयतया न्यायाभासं वेदितव्यम् । तस्मात्परस्परानपेक्षसमानकालप्रवृत्तिसमर्थानुमानद्वयसमावेशाभावाभिप्रायमेतदुक्तम् । न ह्यनयोरन्यतरद्बाध्यं बाधकं वा संभवति, किन्तु मिथः सत्प्रतिपक्षतया न प्रमां कुरुतः । कस्मात्पुनर्न समावेशोऽनुमानयोरसमावेशो वा कुतः सत्प्रतिपक्षतेत्यत आह । न ह्यन्वयव्यतिरेकसंपन्न इति * (१५।२०) । इहान्वयव्यतिरेकग्रहणेन समानवलयोरन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वासत्प्रतिपक्षत्वान्युपलक्षितानि । एतैः संपन्नयोर्यदि समावेश एकस्मिन्विषये भवेत्तत एकतरस्य बाध्यत्वं बाधकत्वं वा गम्येतापि, न त्वेतदास्ति । असत्प्रतिपक्षतासंपत्तेरभावादिति । उपसंहरति । तस्मान्नानुमानविरुद्धम् अनुमानं तुल्यबलम् अपि तु सत्प्रतिपक्षामिसर्थः ।

(१) ज्ञानाकारालीके बहिरिति पु० पा० ।

* संपन्ने इति मुद्रितवार्त्तिकपुस्तकपाठः एकस्मिन्स्तात्पर्यटीका-पुस्तकेऽपि तथैव ।

प्रत्यक्षमप्यनुमेयविरुद्धसाधनादनुमानस्य प्रतिपक्ष इति स-
त्प्रतिपक्षतया ऽन्वयव्यतिरेकादिसंघन्नस्यानुमानस्य प्रत्यक्षेण त-
द्विरुद्धार्थोपसंहारिणा न समावेश इति न बाधकाभाव इत्याभि-
प्रायेण बोधयति । प्रत्यक्षविरोध्यपीति (१४।१६) । परिहर-
ति । न नेति । तुल्यबलौ हि मिथः प्रतिपक्षौ भवतो न तु दुर्ब-
लोत्तमबलौ । न हि भवति तरक्षुः प्रतिपक्षो हरिणशावकस्य,
किन्तु समरकण्डूनिघ्नविषाणकोटिसमुल्लिखितगण्डशैलस्य विपि-
नमहिषस्य । तस्मात्पूर्वभावि प्रत्यक्षमनन्यथासिद्धं सदसत्प्रति-
पक्षमनुमानं समानविषयसमावेशाद्बाधतइति युक्तमित्यर्थः ।

बोधयति । अथोपमानविरुद्धमनुमानं कस्मान्न भ-
वति । (१४।१८) गोसदृशो गवय इत्यारण्यकस्य वाक्यं
श्रुत्वा यदा नागारिको वनं गतो गोसदृशं पिण्डमुपलभते तदा
ऽस्य वाक्यार्थानुभवाहितसंस्कारप्रबोधजनिततत्स्मृत्यपेक्षं गोस-
दृशज्ञानमुपमानं पुरोऽवस्थितस्य पिण्डस्य गवयशब्दवाच्यत्वे
प्रमाणम् । तत्र यदि कश्चित्प्रमाणयेन्नैष पिण्डो गवयशब्दवाच्यः
गोपिण्डसादृश्याद् गोपिण्डान्तरवदिति तदिदमनुमानमुपमानेन
बाधितविषयमस्त्वित्यर्थः । संप्रतिपत्तिरुत्तरम् । नोपमानं न
भवतीति अनुषज्यते । अस्ति चेत् कस्मान्नोक्तमित्यत आह ।
पूर्वप्रमाणविरोधानुविधानान्नोक्तमिति शेषः । तद्वर्शयति
उपमानविरोध इति । स्वफलद्वारा शब्दं प्रमाणं दर्शयति ।
आगमेति । स्वफलद्वारैव प्रत्यक्षं प्रमाणं दर्शयति । साह-
चर्यज्ञानमिति । उपसंहरति । प्रत्यक्षागमयोर्विरोधाभि-
धानादुक्तं तदुपमानमिति ।

भाष्यमनुभाष्याक्षिपति तत्र वादजल्पाविति । (११।
२१।) प्रयोजनस्वरूपोपयोगाभिधानानन्तरं दृष्टान्तपदे व्या-

ख्यातव्ये तदुल्लङ्घनेन वादजल्पयोः को ऽवसर इत्यर्थः । अवस-
रमाह । तेनानेनेति । प्रयोजनव्याख्याङ्गमेवेदं न वादजल्प-
व्याख्याङ्गमिहस्त्यवसर इति । तत्रशब्दार्थं व्याचष्टे । तास्मि-
न्न्यायाभासे इति । वादजल्पकथयोर्हि न द्वयोर्वादिप्रतिवा-
दिनोः साधने समीचीने सम्भवतः वस्तुनि विरुद्धधर्मद्वयस-
मवायाभावात् । तस्माद् द्वयोरेकस्य न्याय एकस्य तु न्याया-
भास इति वादजल्पाभ्यां विविच्यते । न्यायाभास इति तु
सन्निधानादुक्तम् । सन्निहितार्थत्वात्सर्वनाम्न इति ।

वितण्डा तु परीक्ष्यते सप्रयोजना निष्प्रयोजना-
वेति (१५ । २) तुशब्दः प्रसिद्धप्रयोजनाभ्यां वादजल्पा-
भ्यां व्यवच्छिन्नति । प्रतिपक्षस्थापनाहीना हि वितण्डोच्यते ।
तत्र स्थापनाहीनत्वात् प्रतिपक्षहीनेति प्रतीयते । न खलु स्था-
प्यसम्भवः । तथा वितण्ड्यते व्याहन्यते ऽनया प्रतिपक्षसाधन-
मिति व्युत्पत्त्या परपक्षोपघातेन पारिशेष्यात्स्वपक्षसिद्धिरस्याः
प्रयोजनं प्रतीयते । तदेवं संदिग्धप्रयोजना सती वितण्डा प-
रीक्ष्यते प्रयोजनवती न वेति । तत्र यदि निष्प्रयोजना ततो न
सर्वा विद्याः सर्वाणि कर्माणि तन्मुखेन च सर्वे प्राणिनः प्र-
योजनेन व्याप्ता, वितण्डाया एव कर्मरूपाया विद्यारूपाया-
वा निष्प्रयोजनत्वात् । अथ तु प्रयोजनवती तत उपपन्ना प्रयो-
जनव्याप्तिः ।

किं तावत्प्राप्तम् । के चिद् ब्रुवते निष्प्रयोजना वितण्डेति ।
स्थापनाहीनतया तावत् स्थाप्यः पक्षो नास्ति । अवयवव्युत्प-
त्त्या ऽपि परसाधनविघातः प्रतीयते । न च तावन्मा-
त्रेण स्वपक्षसिद्धिरस्ति । न हि पर्वतनितम्बवर्तिधूमे असिद्ध-
त्वादिना दूषिते बह्वेस्तत्राभावो निश्चीयते । तदिदमुक्तम् ।

दूषणमात्रत्वादिति । तस्मिन् निष्प्रयोजनवितण्डावादिनं प्र-
 त्याह । तच्च नैवमिति । (१५ । ४) । परसाधनदूषणेना-
 स्य स्वपक्षः सिद्ध्यतु मा वा सैत्सीत् , स तु स्वपक्षसिद्ध्यैव
 प्रयोजनेन परसाधनमाहन्तीति भावः । तदनेन स प्रयोज-
 नमनुयुक्त इति भाष्यं व्याख्यातम् । अथ न प्रतिपद्यत
 इत्यादि भाष्यं व्याचष्टे । अथ पक्षमपीति । अथापीत्या-
 दि भाष्यं व्याचष्टे अथ परपक्षेति । नास्तिको हि सदस-
 दुभयानुभयरूपतया न विचारं सहन्त इति प्रमेयाणि सर्वथा
 दूषयति । तदयं परपक्षप्रतिषेधमात्रप्रयुक्तः प्रवर्तते । न
 त्वस्यास्ति पक्षो ऽनवस्थापनात्तयोरपि प्रमेयपक्षपातितदूष्यत्वादि-
 त्यर्थः । एतदपीत्यादि व्याचष्टे । तादृगेवैतत् । (१६ । ७)
 एतद्विभजते । एतस्मिन्नपि पक्षे चतुर्वर्गं चेत्प्रतिपद्यते सो
 ऽस्य पक्षः । प्रतिपत्तिरभ्युपगमः । यद्यपि स्थाप्य एव पक्षस्तथा
 पि तन्नान्तरीयकतया अभ्युपगममात्रेण चतुर्वर्गो ऽपि पक्ष
 उक्तः । कश्चतुर्वर्ग इत्यत आह । चतुर्वर्ग इति । एष साधनवादी
 ज्ञापयति । अहो वैतण्डिकोऽजनि अनेन पञ्चावयवाक्येन इदं
 साध्यं ज्ञाप्यत इति चतुर्वर्गः । तत्प्रतीत्या खलु वैतण्डिकस्य
 परपक्षप्रतिषेधः प्रयोजनं सिद्ध्यति । तथा च न निष्प्रयोजनो
 ऽयं वैतण्डिक इत्यर्थः । द्वितीयं पक्षं दूषयति । अथ न प्रति-
 पद्यते इति । चतुर्वर्गनान्तरीयकं स्वदूषणमपि न प्रतिपद्यत-
 इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीय इत्यर्थः । अपरमपि नास्तिकवैतण्डिकं प्रति
 दोषमाह । प्रतिपक्षेति । असिद्धविरुद्धादिदोषो वाक्यस्य
 वैतण्डिकप्रयुक्तस्यार्थः तं यदि प्रतिपद्यते सो ऽस्य पक्षः । अथ
 असिद्धविरुद्धादीनां सद्भावाभ्युपगमे प्रमेयपक्षपातिनां प्रमेयमात्र-
 विचारासहत्वाभ्युपगमो विघटत इति स्ववाक्याभिहितमेव असि-

द्धाविरुद्धादि न प्रतिपद्यते? पूर्ववदोषः नायं लौकिको न परीक्षक इति । तस्माद्वितण्डा ऽपि प्रयोजनवती नाव्यापकं प्रयोजनमिति सिद्धम् । सो ऽयं सर्वः प्रसक्तानुप्रसक्तवादः प्रयोजनव्याख्या-
नार्थमित्याह । उक्तं प्रयोजनम् (१५ । ११)

दृष्टान्तपदव्याख्यानपर भाष्यमनुभाषते प्रत्यक्षविषय इति । आक्षिपति । किमुक्तं भवतीति । न तावद्योयः प्रत्यक्षविषयः स सर्वो दृष्टान्तो ऽदृष्टान्तस्यापि प्रत्यक्षविषयत्वात् । नापि यो दृष्टान्तः स सर्वः प्रत्यक्षविषयः आगमादिविषयस्यापि दृष्टान्तत्वात् । तस्माद्युक्तमेतदित्याक्षेप इति । तत्समाधानभाष्यं यत्रेत्यादि । तद्व्याचष्टे । लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनाविघा-
तहेतुरिति । एतच्च क चिल्लौकिकपरीक्षकाणां क चिल्लौकि-
कानां कचित् परीक्षकाणामिति मन्तव्यम् । अन्यथा यदप्रसिद्धं लौकिकानां केवलं पण्डितरूपवेदनीयं परमाण्वादि, तस्य न दृष्टान्तता स्यात् । अत्र च यो दृष्टान्तः स एवं, न तु य एवं स दृष्टान्त इति द्रष्टव्यम् । एवंभूतव्याख्यानस्य प्रयोजनं दर्शयति । एवं चेति । एतद्विभजते । दर्शनाविघातेनेति । न केवलं प्रमेयविरोधः सूत्रविरोधश्चेत्याह । ततश्चोदाहरणसूत्रं व्या-
ह्रन्येत । यत्तेषु तेषु शास्त्रप्रदेशेष्वतीन्द्रियोदाहरणसूत्रम् सिद्धान्ते पूर्वपक्षे वा यथा मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवदणुश्यामतानित्यत्ववदेवमा-
दि तद्व्याह्रन्यते । नतुदाहरणलक्षणसूत्रम् । तद्धि प्रत्यक्षविषय-
दृष्टान्तत्वे ऽप्युपपद्यते । तस्माद्भाष्ये प्रत्यक्षवचनं दृष्टान्तविषय प्रमाणदार्ढ्यं लक्षयति । प्रत्यक्षमूलत्वाद्वा प्रत्यक्षो दृष्टान्तः । अन्यथा ऽनवस्थाप्रसङ्ग इति । सो ऽयं दृष्टान्तः प्रमेये ऽन्तर्भव-
नेवमर्थं पृथगुच्यत इत्याह । सो ऽयामिति (२२ । १५)
न्यायस्य पञ्चावयवात्मकस्य वचनसमूहस्य दृष्टान्तो मूलमत-

स्तस्य पृथगुपदेशः । अतश्चास्य पृथगुपदेशो यत्सति
तस्मिन्निति । अनुमाननिमित्तत्वमाह । पूर्वं प्रत्यक्षेति ।
दृष्टान्तधर्मीणि दृढतरप्रमाणावधारितमित्यर्थः । शाब्दमूलतां
दृष्टान्तस्य दर्शयति । पूर्वं ज्ञातं चार्थमिति । संबन्धग्रहणाविषयो
ऽर्थो दृष्टान्तः संबन्धग्रहणं च शाब्दज्ञानस्यापि निमित्तं
प्रथमश्राविणः शब्दार्थज्ञानाभावात् । तस्मादस्ति शब्दे ऽपि
दृष्टान्तस्योपयोग इति । अपरं पृथगुपादानप्रयोजनमाह । नास्ति-
कस्येति । अपपञ्चने हेतुमाह । तदुक्तं भाष्य इति ।

सिद्धान्तपदविवरणभाष्यं व्याचष्टे । अभ्युपगमेति ।
(१५।१९) तद्विभजते । अभ्युपगम इदमित्थंभूतं चेति ।
तद्विभजते । इदमितीति । इदमिति हि धर्मविषयसिद्धान्तं
दर्शयति । धर्मी सर्वतन्त्रसिद्धान्तविषयः । इत्थमिति प्रतितन्त्रा-
धिकरणाभ्युपगमसिद्धान्तविषयं दर्शयति । व्यवस्थायामुपलक्ष-
णतया प्रतितन्त्रसिद्धान्तमात्रमुदाहरति । इदं सांख्येष्विति ।
उपलक्षणतामुदाहरणस्योजानानश्रौदयति । सर्वतन्त्रेति । प-
रिहरति । योऽयमिति । अभ्युपगमव्यवस्थितिरनभ्युपगमाद्
व्यवच्छिनति । न तु पुरुषविशेषे व्यवस्थापयतीत्यभिप्रायः ।
अस्यापि प्रमेयान्तर्भूतस्यापि सतः पृथगुपादानप्रयोजनमाह ।
तस्य प्रमेये इति । (१५।२३) तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धस्ता-
वद्विप्रतिपन्नानामपि वादिनां धर्मी तस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तसि-
द्धस्य विशेषेषु प्रतितन्त्रसिद्धान्ताः प्रवर्तन्ते । तथा हि । यदि
घटो नापि न सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धः किमाश्रयः अवयवी वा
परमाणुसमूहो वा ज्ञानाकारो वा प्रधानपरिणामो वा ब्रह्मपरि-
णामो वा तद्विवर्तो वेति प्रतितन्त्रसिद्धान्ताः प्रवर्तन्ते । कथं च
प्रतितन्त्रसिद्धान्ताश्रया वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते । किमाश्रयश्च

न्यायः स्यात् । तथा यद्यधिकरणसिद्धान्तो न भवेत् कथं साध्य-
सामान्यव्याप्तं साधनसामान्यमिति साधनविशेषात् साध्यविशेषो
गम्येत । तस्मादस्ति प्रमेयस्यापि सिद्धान्तस्य पृथगुपादानप-
योजनम् । अभ्युपगमसिद्धान्तमुपरिष्ठाद्विचारयिष्यति वार्तिक-
कारो ऽतस्तत्प्रयोजनमस्माभिर्नोक्तमिति ।

क्रमप्राप्तानवयवानाह । अथावयवाः । (१५।२५) ननु
यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणं किन्तयैवैते प्रतिज्ञा-
दयो वाक्यस्य । नो खलु गगनगुणा वर्णाः समवायि-
कारणतां प्रतिपद्यन्त इति अत आह । वाक्यैकदेशा इति ।
अवयवा इव अवयवाः । न पुनः समवायिकारणम् । यथा
ह्यवयवाः समुदायिन एकस्मिन्नवयविनि कार्ये धारयितव्ये एव-
मेकस्मिन् विवक्षितार्थे प्रतिज्ञादयो ऽवयवा वाक्यस्य समुदा-
यस्य समुदायिन इति । ननु वर्णानामाशुतरविनाशिनां क्रमवता-
मेककालताऽभावे समुदायाभावात् कुतस्तत्समुदायो वाक्यं
कुतश्चैकदेशतेत्याशयवानाक्षिपति । किम्पुनर्वाक्यम् । उत्तरम् ।
पूर्वपदस्मृत्यपेक्षो ऽन्त्यपदप्रत्ययः । स्मृत्यनुग्रहेण प्रति-
संधीयमानो विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यं विशिष्यतइति
विशेषः पदार्थ एकः क्रिया वा कारकं वा प्रातिपदिकार्थो वा
पदार्थान्तरविशिष्टो वाक्यार्थः । यथा 'सोमेन यजेत' 'गोदोह-
नेन पशुकामस्य' 'यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबति स
व्रात्य' इति तस्य विशेषस्यैकस्य प्रतिपत्तिहेतुः । तदनेन (१)
समूहनिबन्धनं पदानामेककार्यत्वं सूचयति । को विशेष-
प्रतिपत्तिहेतुरित्यत उक्तमन्त्यपदप्रत्ययः । अन्त्यं विशेष्यं
विशेषणपूर्वत्वात्तस्य पदं । न च तदविदितं सत्तामात्रेण

चक्षुरादिविशेष्यं प्रतिपादयतीत्युक्तं प्रत्यय इति । (१५।१४)
 प्रतीयमानं विशेष्यवाचि पदं विशेष्यं बोधयति प्रतीतिश्च नानु-
 भवो ऽपि तु स्मृतिः । न हि क्रमवद्वर्णसमुदायः पदं श्रवणेन्द्रि-
 यजनितानुभवगोचरः सम्भवति, सम्भवन्ति तु प्रत्येकं वर्णाः ।
 न चै ते प्रत्येकं पदं, न च पूर्ववर्णस्मृतिनिचयसहितो ऽन्त्यव-
 र्णानुभवः श्रोत्रज इति युक्तम् । स्मृतीनां स्वकार्यसंस्कारवि-
 रोधिनीनामसहभावात् । विनश्यदविनश्यदवस्थयोरुपान्त्यान्त्य-
 वर्णस्मृत्यनुभवयोस्तु स्यान्न चैतावताऽर्थप्रत्ययः पूर्ववर्णस्मृतीनां
 तिरोभावात् । न च पूर्वपूर्वर्णानुभवजनितसंस्कारसहकारिणः
 श्रवणादेव लब्धजन्मनः प्रत्ययस्यैकस्याध्यस्ततस्मृत्यनुभवरूप-
 वैचित्र्यस्य सदसद्वर्णाविगाहिनो विषयभावमापन्ना वर्णा अर्थधि-
 यमादधतीति सांप्रतं, संबन्धसंवेदनाहितसंस्कारोद्बोधसमयजन्म-
 ना स्वजातेन संस्कारेण संबन्धस्मृत्युत्पत्तिसमये विनाशात्पदा-
 र्थावबोधकत्वानुपपत्तेः । तस्मात् स्मृतिरेव प्रत्ययः । अत एवा-
 ध्ययनसमये गुरुमुखाद्गृहीतो वेदराशिर्वेदाङ्गोपाङ्गज्ञानसंस्कृतेन
 स्मर्यमाण एव तस्यार्थं बोधयति । एवं च यदा पदार्थप्रत्याय-
 नएव पदानुभवो न कारणं तदा वाक्यार्थज्ञाने नानापदार्थस्म-
 रकाणाङ्गायोग्यतासन्निधानावधारणादिव्यवहिते कैव कथेति ।
 यदि तर्हि विशेष्यपदमेव स्मर्यमाणं विशिष्टमर्थमवगमयति कृतं
 पदान्तरैस्तत एव वाक्यार्थप्रतिपत्तेरित्यत उक्तम् । पूर्वपदस्मृ-
 त्यपेक्षः (१६।११) पूर्वं विशेषणं तत्पूर्वकत्वाद् विशिष्टप्रतीते-
 स्तस्य पदं स्मर्यमाणपूर्वपदापेक्षः । यद्यपि स्मरणानि सह न
 संभवन्ति तथाप्येकस्मृतिसमारूढानि पदानि निरन्तरसमस्तस्मृ-
 समारूढानि वा परस्परापेक्षाणि । तथा च स्मर्यमाणं विशेष्य-
 पदं विशेषणपदापेक्षं विशिष्टमवगमयति । स्यादेतत् पदमाला

चेत् स्मर्यमाणा वाक्यार्थबोधिनी कृतं पदार्थबोधनेन कृतञ्च
 पदतदर्थसंबन्धबोधनेनेत्यत उक्तम् । स्मृत्यनुग्रहेणेति । प्रत्येकं
 याः प्रदेभ्यः पदार्थस्मृतयस्तदनुग्रहेण । एतदुक्तं भवति यद्यपि
 वाक्यार्थबोधनाय पदमाला प्रवृत्ता तथा ऽपि पदार्थस्मृतीरवा-
 न्तरव्यापारभृता अपेक्षते काष्ठानीव पाकप्रवृत्तानि ज्वलनम-
 वान्तरव्यापारम् । न च पदान्यगृहीतसंकेतानि पदार्थान् स्मार-
 यन्ति इत्युपपन्ना पदार्थस्मृतिसंबन्धसंवेदनयोरपेक्षेति । यदि प-
 दार्थस्मृत्यपेक्षा पदमाला वाक्यार्थबोधिनी हन्त दश दाडिमानि
 षड्रूपा भवन्तीत्येवमादीनामपि वाक्यार्थबोधकत्वं स्यादित्यत
 आह । प्रतिसंधायमानः । प्रतिपदं संधानं पठनं प्रतिसंधान-
 म् । तच्च स्वार्थद्वारेणाकाङ्क्षयोग्यतासन्निधानं, न च दशदाडि-
 मादिवाक्येषु तदस्तीति न ततो वाक्यार्थबोध इत्यर्थः । तदेव-
 मेकस्मृतिसमारोहेण एकार्थावच्छेदेन पदानां समूहो वाक्यं
 तस्य भागा एकदेशा इति ।

यावतीत्यादि भाष्यमवतारयति ते कियन्तः भाष्यव्याख्या-
 नेनोत्तरं यावद्भिरिति पृच्छति । केति । न हि समाप्तेर्निष्पत्तेरन्या
 सिद्धिरस्तीत्यभिप्रायः । उत्तरम् पदार्थस्येति । धर्मिणः सिपाध-
 यिपितधर्मविशिष्टत्वं वास्तवमित्यर्थः । समाप्तिं पृच्छति । केति ।
 (१३।६) उत्तरं विशेषेति । वास्तवो धर्मः सिद्धिस्तद्रोचरस्तुनि-
 श्चयः पुरुषधर्मो निष्पत्तिरिति विशेष इत्यर्थः । कियद्भिः किमभि-
 धानैश्च भागैः सिद्धिः परिसमाप्यते इत्याशङ्क्य भाष्यकृतोक्तम् ।
 तस्य पञ्चेति । तद्व्याचष्टे । समाख्येति । भाष्यमनुभाष्या-
 क्षिपति । तन्नागम इति । न ह्यागमवत् प्रतिज्ञावचनं निश्चायकं
 हेतुवचनादिवैयर्थ्यात् । निष्पादितक्रिये कर्मणि विशेषाना-
 धायिनः साधनस्य साधनन्यायातिपातादिति । समाधत्ते । आ-

गमाधिगतस्येति(१६।७) । आत्मादिप्रमेयप्रतिपादनोद्देशेन हि शास्त्रमेतत्प्रवृत्तं तन्नान्तरीयकतया न्यायं व्युत्पादयत्तमेव व्युत्पादयेद्यथात्मादेः प्रमेयस्य साक्षान्निश्चायकस्तत्प्रतिपादकागमप्रामाण्यनिश्चायको वा । तस्य च न्यायविशेषस्याद्यो ऽवयवः प्रतिज्ञा आगमार्थविषया साक्षाद्विषयाऽऽगमप्रामाण्यप्रतिपादकस्य च परंपरया । तस्मादागमः प्रतिज्ञा । आगमोपचारस्य प्रयोजनमिदं पदार्थसंवादेनागमेनानुगृह्यते न्यायः सप्रयोजनश्च भवति । आगमार्थज्ञानस्य निःश्रेयसहेतुभावेन निरूढत्वात् । तस्माद्यद्यपि न न्यायमात्रवर्तिनी प्रतिज्ञा ऽऽगमस्तथा ऽपि प्रकृतन्यायाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् । तथा चागमानुसंधानेन प्रतिज्ञायाः कल्पितविषयत्वमपि निराकृतं वेदितव्यम् । यदाहुरेके -

‘सर्वो ऽयमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्याखण्डेनैव धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षत’ इति ।

तथा ऽनुमानस्य न्यायानुग्राहकत्वं हेतुवचनस्यानुमानत्वोपचारेण भाष्यकारेणोक्तम् । हेतुरनुमानमिति । (१६।९) तत् खलु हेतुवचनमनुमानप्रतिपादकं विषयतया ऽनुमानेनानुग्रहीतव्यं, न च लिङ्गदर्शनमात्रमनुमेयप्रतिपत्तिहेतुरपि तु संबन्धस्मृतिसहकारि, न च हेतुवचनमात्रात्तत्सहकारिता ऽवगम्यते । तस्मान्न लिङ्गवचनमनुमानप्रतिपादकमिति कथमनुमानत्वोपचार इत्यत आह । एवं लिङ्गदर्शनमात्रे । दृश्यमाने लिङ्गरूपे संबन्धस्मृतिरहिते । हेतूपचारात् । अनुमानत्वोपचाराद् हेतुरनुमानमित्युक्तं भाष्यकृता । तदेव विभजते । यत्तु द्वितीयं लिङ्गदर्शनं(१६।१०)संबन्धग्रहणसमये लिङ्गदर्शनं प्रथमं, तदपेक्षया लिङ्गदर्शनं साध्यधर्मिणि द्वितीयं तत्संबन्धस्मृतिव्यक्तिहेतुभावात् स्मर्यते ऽनेनेति स्मृतिः संस्कारस्तस्य व्यक्तिः

कार्याभिमुखीकरणं तत्र हेतुभावात् । कचित्पाठः संबन्धस्मृतिहेतुव्यक्तिहेतुभावात् स तु सुगम एव । अतो हेतुरित्युच्यते । एतदुक्तं भवति । यत्तु द्वितीयलिङ्गदर्शनं शुद्धमप्यापाततः सम्बन्धस्मृतिहेतुभावात् संबन्धस्मृतिसहकार्येव तथा चानुमानम् । एवं च तत्प्रतिपादकस्य वचस उपपन्नो ऽनुमानत्वोपचार इति सिद्धम् । एवं च वास्तवेन लिङ्गेन संबन्धात्तद्वचनस्य बुद्धिविकल्पितलिङ्गविषयत्वं परास्तं वेदितव्यम् । एवमन्येष्वप्यवयवेषु वक्ष्यमाणेष्वेतदेव प्रयोजनं योजनीयमिति ।

उदाहरणं प्रत्यक्षमिति भाष्यं तद् व्याचष्टे । स्मृतिविषयस्येति । (१६।११) यत्र प्रत्यक्षविषये पूर्वं व्याप्तिर्गृहीता तस्य स्मृतिरिति स्मृतिविषयस्य प्रत्यक्षतः पुनरुपदर्शनादविप्रतिपत्त्या पुनः स्मरणात् तत्स्मारकं वचनमुदाहरणं प्रत्यक्षम् , मूलभूतप्रत्यक्षप्रमाणसमुत्थत्वादिति । कः पुनरुपमानार्थ इति । (१६।१४) प्रत्यक्षमिव प्रत्यक्षमित्यत्रैवकारे तत्रोपमार्थः क इत्यर्थः । एतदेव विभजते । यस्मादिति ।

उपमानमुपनय इति भाष्यं तद्व्याचष्टे । यथा तथेत्युपमानैकदेश इति । उपनयो हि तथा चैतदिति प्रवर्तमान उदाहरणस्थं यथाशब्दार्थमपेक्षत इति यथा तथेति प्रवर्तत इति । किं पुनरुपमानं यस्यायमेकदेश इत्यत आह । उपमानं यथा गौस्तथा गवय इति । उपदेशोपयोगे उपयोगस्तदर्थविषयोऽनुभवः । तस्मिन्सति पश्चाद्वनं गतो नागरः प्रत्यक्षेणादृष्टपूर्वं पिण्डं पश्यति स्मरति चोपदेशार्थं पिण्डस्य च पुरोवर्तिनः स्मर्यमाणेन गवा सादृश्यं प्रत्यक्षेणैव पश्यति । तदेवंभूतं सारूप्यज्ञानं गवयशब्दवाच्योऽयं पिण्ड इति प्रतीतिहेतुरुपमानम् । तदेतस्योपमानस्योपदेशार्थस्मरणगवयपिण्डगोसारूपमानम् । तदेतस्योपमानस्योपदेशार्थस्मरणगवयपिण्डगोसारूपमानम् ।

रूप्यप्रत्यक्षरूपस्यैकदेशे सारूप्ये यो यथातथाभावः स उपनयेऽप्यस्तीत्येतावतोपमानत्वोपचार उपनय इत्यर्थः । सोऽयं सर्वप्रमाणनिवेशेन परमो न्यायः स्तूयते ।

निगमनव्याख्यानभाष्यमनुभाष्याक्षिपति । कः पुनरिति । (१६।१९) न खल्ववयवानां प्रमाणानां वा वाक्ये समवायसंबन्धः संभवतीत्यर्थः । उत्तरम् । एकवाक्येति । अध्यारोपो बुद्ध्या प्रतिसंधानम् । सामर्थ्यं पृच्छति । किं पुनरिति । उत्तरम् । इतरेतरेति । सामर्थ्यं हि पदानां धर्मः । इह तु विभज्यमानानामवयवानां तन्मूलानां प्रमाणानां साकाङ्क्षत्वमेव धर्मः सामर्थ्यं तदत्र समस्तलिङ्गरूपसंपन्नलिङ्गप्रतिपादनमेकं प्रयोजनं विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वं वाऽस्तीति सिद्धमेकवाक्यत्वमवयवानामिति ।

निगमनपदं व्युत्पादयति निगम्यन्त इति । सोऽयमिति भाष्यमनुभाष्य पृच्छति । कः पुनः परमशब्दस्यार्थ इति । (१६।२२) उत्तरम् । विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वं पञ्चावयववाक्यस्य परमत्वमिति । तदेव व्यतिरेकमुखेन प्रतिपादयति । एकैकश इति । यद्यपि लोकप्रत्यक्षादीनामेकैकशोऽपि विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वं तत्र तत्रोपलभ्यते तथाऽपि यदेतद्वेदप्रामाण्यमात्मादिप्रतिपादनं च निःश्रेयसोपयोगिन तत्पञ्चावयववाक्यादेतच्छास्त्रोपदिष्टोपकरणादिना सिद्ध्यतीत्यनेनाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ।

अवयवानां पृथगभिधानमाक्षेप्तुं विकल्पयति । किं पुनरवयवा इति । (१७।२) विकल्पप्रयोजनं पृच्छति । किं चातः । उत्तरम् । यदि प्रमाणान्तरमिति । समाधत्ते । न प्रमाणान्तरमिति । प्रयोजनान्तरमाह । तएत इति । यत एव

वादादिप्रवृत्तिहेतवो ऽत एव तत्त्वव्यवस्थायाश्चाश्रया भवन्ति । पृच्छति । किमिति । न हि कुण्डमिव बदराणि तत्त्वव्यवस्थाऽवयवानाश्रयतीत्यर्थः । उत्तरम् । विशेषप्रतिपादकत्वम् । धर्मविशिष्टो धर्मी विशेषः विशिष्यत इति व्युत्पत्त्या, तत्प्रतिपादकत्वमवयवानां तत्त्वव्यवस्थाश्रयत्वमित्यर्थः ।

क्रमप्राप्ततर्कपदव्याख्यानाय भाष्यमनुभाषते । तर्को न प्रमाणसंगृहीतः । (१७।८) प्रमाणपदेन हि चत्वारि प्रमाणानि संगृहीतानि न चैतेष्वन्यतमस्तर्क इत्यर्थः । अस्तु तर्हि प्रमाणपदसंगृहीतेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रमाणान्तरमसंगृहीतं प्रमाणपदेन, प्रमेयपदेनेवा ऽसंगृहीताः संशयादयः प्रमेया इत्यत आह । न प्रमाणान्तरम् । भाष्यमनुभाष्य हेतुमाह । अपरिच्छेदकत्वात् । अनिश्चायकत्वात् । तदेव व्यतिरेकमुखेन दर्शयति । प्रमाणमिति । स्यादेतत् । अपरिच्छेदकत्वमसिद्धं तर्कज्ञानस्य संशयादिवद्गुणत्वेनात्मलिङ्गत्वात्, अन्यथा त्वकिञ्चित्करत्वादुपादानवैयर्थ्यमित्यत आह । प्रमाणविषयविभागान्निवति । न हि वयं गुणत्वेनोत्पत्तिमत्त्वेन वा रूपेणानिश्चायकत्वं तर्कस्याचक्ष्महे किन्तु प्रमाणविषयविभागहेतुतया, न चैवमस्याकिञ्चित्करत्वमित्यर्थः । पृच्छति । कः पुनरिति । उत्तरम् । युक्तायुक्तेति । इदं युक्तमिदमयुक्तमिति । इतिकारेण युक्तायुक्तविषयं तर्कज्ञानं परामृशति । तदनेन तर्कस्य स्वरूपं दर्शितम् । तस्य व्यापारमाह । यत्तत्र युक्तं भवति । संभवति । (१७।१३) तदनुजानाति न त्ववधारयति तर्कः । एतदुक्तं भवति प्रमाणं तत्त्वावधारणाय प्रयुक्तं करणतयेतिकर्तव्यतामपेक्षते । तर्कश्च प्रमाणविषययुक्तायुक्तविचारात्मा प्रमाणं युक्ते तत्त्वे प्रवर्त्तमानमनुजानन् प्रमाणमनुगृह्णाति ।

तदनुगृहीतं प्रमाणं तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तम् । न च प्रमाण-
विषये चेत्तर्कः प्रवर्तते कृतमस्य प्रमाणानुज्ञया, नन्वपमेव
निश्चायकः कस्मान्न भवतीति सांप्रतं, तस्य प्रसङ्गतया पारतन्त्र्येण
स्वयमसाधनत्वात् । अस्ति हि प्रसङ्गो न प्रसङ्गो हेतुः । तथा
हि प्रत्यक्षमेव तावद्भूतले प्रवर्तमानं तद्विशेषणतया घटाभावे
ऽपि प्रवर्तमानं यद्यत्राभविष्यद् घटो भूतलमिवाद्रक्ष्यते तेन सह
तुल्यदर्शनयोग्यत्वाद्, न च दृश्यते तस्मान्नास्तीति तेन तर्केणा-
नुज्ञायमानं घटाभावविशिष्टभूतले प्रवर्तते केवलमेवेदं भूतलं
नेह घट इति । एवं स्वर्गकामोयजेतेतिशब्दोऽपि प्रवर्तमानः
परमाप्तस्य भगवत ईश्वरस्य नियोगो नास्वर्गफलायां यागभाव-
नायामवकल्पत इति समानपदेनोपात्तोऽपि दुःखतया
धात्वर्थः साध्य इति न युक्तं भिन्नपदोपात्तोऽपि पुरुषविशेष-
णमपि स्वर्ग एव भावनाफलं युक्त इति तर्केणानुज्ञायमानः प्र-
वर्तते । न च यद्यभविष्यद् घट इति वा यद्यभविष्यद्धात्वर्थः
साध्य इति वा क्रियातिपत्तिरस्ति यदाश्रयानिष्टप्रसङ्गेनायुक्त-
त्वमितरथा च युक्तत्वं यत्तर्केण निश्चीयते । तस्मान्न प्रमाणम् ।
निश्चयाय तु प्रवर्तमानं प्रमाणं तद्विषयविवेकेनानुगृह्णन्नितिकर्त-
व्यतात्वेनोपयुज्यत इति । यथोक्तम् —

‘मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः ॥

सो ऽतो वेदो रुपाप्राप्तकाष्ठादिलवणात्मवत्’ ।

पूजितविचारवचनो हि मीमांसाशब्दो ऽयुक्तप्रतिषेधेन यु-
क्ताभ्यनुज्ञानं तर्कः प्रमाणेतिकर्तव्यतात्वेन च प्रमाणाद्वेदाद् भेद-
उक्तः । ‘सो ऽतो वेद’ इति अङ्गाङ्गिनोरभेदविवक्षया । इतिक-
र्तव्यतात्वं चास्य साक्षाद् दर्शितम् ।

‘धर्मे प्रमीयमाणं हि वेदेन करणात्मना ॥

इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति' इति सर्वमवदातम् ।
 तस्यादाहरणं भाष्ये कर्मेति । कर्म कारणमपूर्वं ध-
 र्माधर्माविति यावत् । कार्ये कारणत्वोपचारात् । एतदुपपा-
 दनाय पृच्छति । कथं पुनरिति । निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिः
 शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरभिसम्बन्धो जन्म तस्य कथं कर्मनिमि-
 त्ततेत्यर्थः । अत्र प्रमाणमनुमानमाह । भेदचत्त्वात् । १७। १५
 विचित्रत्वाद् इत्यर्थः । पृच्छति कः पुनरिति । भेदमाह । सुग-
 तिरिति । प्रमाणमुक्त्वा तस्येतिकर्तव्यताभूतं तर्कमवतारयति ।
 सोऽयं भेद इति । यद्येकं निमित्तं स्याद्वैचित्र्यं न भवेत् । न
 ह्यभिन्नात् कारणात् कार्यवैचित्र्यमुपपद्यते, तस्याकस्मिकत्वप्र-
 सङ्गात् । अत उक्तभनेकमिति । नन्वनेकं यागादिब्रह्महत्यादि-
 क्रियारूपं कारणमस्तु कृतमपूर्वरित्यत उक्तम् । अवस्थितं,
 यागादिका तु क्रिया आशुतरविनाशिनी न चिरभाविने स्वर्गाय
 कल्पत इति । अवस्थितं चेद् यागाद्याहितमपूर्वं धर्मोऽस्तीति
 सदैव सुखिना भाव्यम् - एवमधर्मोऽस्तीति सर्वदैव दुःखिना
 भाव्यमिति सुखदुःखयोः कादाचित्कत्वं व्याहन्यत । न ह्यवस्थि-
 तात् कारणादनवस्थितं कार्यमित्यत उक्तम् । अनित्यं, न ह्यव-
 वस्थानं नित्यतां ब्रूमः । किन्तु तावदनेन स्थातव्यं यावदन्त्यसु-
 खदुःखविज्ञानं जनयति अथ नश्यति इति । ननु भिन्नानि स-
 त्वपूर्वाणि तथाऽपि सर्वाणि सर्वात्मसमवेतानि - यथाऽवयवी
 स्वावयवेषु - तथा च सर्वसाधारण्यान्नाक्तवैचित्र्योत्पाद इत्यत उ-
 क्तम् । एकद्रव्यम् । एकद्रव्यं चेदस्तु सर्वसाधारणे पृथिव्या-
 दौ यत्र कुत्र चित्, तथाऽपि वैचित्र्यानुपपात्तिरित्यत उक्तम् ।
 प्रत्यात्मनियतम् । अथ पृथिव्याद्येव कारणं जन्मवैचित्र्ये क-
 स्मान्न भवतीत्याशयवान् पृच्छति । किं कारणं ? कस्मात्कार-

णादित्यर्थः । उत्तरम् । पृथिव्यादीनामिति । सा भूत्, पृथिव्यादिगतं किं चिद्विषयतीत्यत आह । पृथिव्यादिगतस्येति । भाष्योक्तप्रमेयत्वे तर्कस्य हेतुमाह । उपलब्धिविषयत्वादिति ।

तर्कानन्तरं निर्णय उद्दिष्टस्तर्कहेतुकत्वात् । तस्य स्वरूपमाह । निर्णयस्तत्त्वज्ञानमिति । (१८ । ३) यद्येवमिन्द्रियापातजन्मप्रत्यक्षज्ञानमपि तत्त्वज्ञानमिति निर्णयः स्यादित्यत आह । प्रमाणानामिति । अनेन पञ्चावयवाक्यमुपलक्षयति । तत्र सतर्काणां प्रमाणानां समवायात् । परमार्थतस्तु तर्कपूर्वकस्तत्त्वनिश्चयो विनिर्णय इति प्रत्यक्षादीनामपि तर्कसहायानां निर्णयफलत्वमिति । स्यादेतत् । धूमादिगोचरेण तत्त्वनिर्णयेन बह्वयादावनुमीयमाने प्रमाणमेव निर्णयो न फलमित्याशयवान् पृच्छति । कदा पुनरिति । विदिताभिप्रायस्योत्तरं यदेति । संकलय्य तर्कनिर्णयव्युत्पादनस्य प्रयोजनमाह । तावेनाविति । परीक्षको ऽत्र लोकशब्देनोच्यते । तदितरस्य तर्कसम्भवात् । बुद्धेति । परीक्ष्य निर्णयं कृत्वेत्यर्थः । शेषं निगदव्याख्यातम् ।

निर्णयानन्तरं वादव्याख्यानार्थं भाष्यं वादः खल्विति । तदनुभाष्योपपत्तिमाह । वाद (१८ । १२) इति । नाना प्रवक्तारो यस्मिन् स तथा । एकस्यापि शास्त्रकर्तुः पूर्वपक्षोत्तरपक्षसाधनदूषणप्रतिपादको वचनसमूहो वादः स्यादिति नानाप्रवक्तृक इत्युक्तम् । सिद्धान्तभेदानुविधानेन द्वावपि स्वसिद्धान्तानुरूपं साधनं दूषणं चाहतुरिति । प्रत्यधिकरणेत्यादि भाष्यमनुभाष्य व्याचष्टे । प्रत्यधिकरणमस्य साधनम् । (१८ । १९)) अधिक्रियत इत्याधिकरणम् — साध्यं तदधिकृत्य साधनप्रवृत्तेः प्रत्यधिकरणं साधनं यस्मिन्वादे स तथोक्तः । तस्यैवार्थं निष्कर्षं पृच्छति । किमुक्तं भवति । निष्कर्षति । उभाभ्यां—वादिप्रतिवादिभ्यां स्वस्वसाध्ये साधनं वक्तव्यम् । तथा च नानाप्रवक्तृकत्वेन तुल्यत्वे ऽपि वादस्य वितण्डा-

याः प्रत्यधिकरणसाधनत्वेन भेदः सिद्धो भवति । वितण्डायाः प्रतिपक्षस्थापनाहीनत्वेन प्रत्यधिकरणसाधनत्वाभावात् । तथा ऽपि जलपादभेदो वादस्य अस्ति हि जलस्य प्रत्यधिकरणसाधनवत्त्वं च नानाप्रवक्तृकत्वं चेत्यत आह । अन्यतरस्मिन्नधिकरणे निर्णय इति । वादे हि तावद्ब्रूते यावदन्यतरस्मिन् पक्षे निर्णयोन जातः । तच्चबुभुत्सोर्वादिनोर्वादे ऽधिकारात् । जल्पे तु पुरुषशक्तिपरीक्षालक्षणे ऽप्रतिभादिना ऽपि पराजयोपपत्तेर्नावश्यं तच्चनिर्णयः । तस्मादन्यतरनिर्णयावसानत्वेन जल्पाद्भेदो वादस्येति सिद्धम् । यथा चैतत्तथा चोपरिष्ठात्प्रतिपादयिष्यत इत्याह । एतच्चेति । तस्य स्वरूपं पृच्छति । सोऽयमिति । उत्तरं । वाक्येति । चोदयति । ननु चेति । वाक्यसमूहश्च ज्ञानं चेति प्रतिषिद्धमेतदित्यर्थः । परिहरति । नेति । साधनोपालम्भग्रहणस्य शब्दविषयत्वादविरोध इत्यर्थः ।

युगपदेव जल्पवितण्डे व्याचष्टे तद्विशेषाविति । विशिष्येते भिद्येते इति विशेषौ । तस्माद्वादाद्विशेषौ भिन्नौ । भाष्यमनुभाष्य पृच्छति । कः पुनर्विशेषो यद्योगाद्विशिष्टे वादाज्जल्पवितण्डे इत्यर्थः । उत्तरम् । अङ्गाधिक्यमङ्गहानिश्च (१९। १) यथासंख्यम् । तदेव दर्शयति । छलेति । तत्किमिदानीं संशयादिभिरिवात्यन्तवैरूप्यं वादेन जल्पवितण्डयोर्नेत्याह । एतावन्ता विशेषेण कथामार्गभेद इति । एतावानेव विशेषो न सर्वथा, कथात्वेन संशयादिव्यावृत्तेन सामान्यविशेषेण त्रयानामप्यभेदादित्यर्थः । अपरमपि भेदहेतुमाह । विषयभेदाच्चचेति । तद्विभजते । शिष्यादीति । शिष्यमाणोऽत्यन्तविपर्यस्तः दुर्ज्ञानावलेपदुर्विदग्ध इति यावत् । न त्वेवंभूतः शिष्यादिर्विपर्यस्तो ऽप्यनवलिप्तत्वादिति भावः ।

क्रमप्राप्तानां हेत्वाभासानां स्वरूपमाह । अन्यतमेति । (१९। ६) पञ्चमु चतुर्थं वा लिङ्गरूपेष्वन्यतमलिङ्गधर्ममेकं

१सू० १प्र०] हेत्वाभासानां पृथगुपेदशप्रयोजनम् । ६५

द्वयं त्रयं वा अनुविदधाना अहेतवो हेतुवदवभासन्त इति हेत्वाभासा उक्ताः । निग्रहस्थानेभ्य इति भाष्यमवतारयितुमाह । ते च निग्रहस्थानमिति । १९।७ अवतारयति । निग्रहस्थानेति । अवतार्य्य दूषयितुमेकदेशिमतेन व्याचष्टे । यस्मात् किलैते इति । किलशब्दो ऽयमरुचौ । तदेकदेशिव्याख्यानं दूषयति । नोभयथाप्यसंबन्धात् । किं ये ये निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिश्यन्ते ते सर्वे वादे चोद्यन्ते । अथ ये ये वादे चोद्यन्ते ते सर्वे पृथगुद्दिश्यन्ते । उभयथा ऽप्यनैकान्तिकत्वात् नाविनाभावलक्षणः संबन्ध इत्यर्थः । तदेतद्विभजते न वादे चोदनीयत्व(१)मिति । कुत उभयथाऽप्यविनाभावाभाव इत्यत आह । यदि तावदिति । तस्मान्नाविनाभूतो हेतुर्वादे चोदनीयत्वं वा पृथगुपदेशो वा भाष्यकारेणोक्त इत्युपसंहरति । तस्मादिति । वादे देशनीयत्वादित्युपलक्षणं पृथगुपदेशादित्यपि द्रष्टव्यम् ।

तदेतदेकदेशिमतं दूषयित्वा स्वमतेन भाष्यं व्याचष्टे । एतदेव तु न्याय्यमिति । (१९१।८) निग्रहस्थानेभ्यो हेत्वाभासानां पृथगुपदेशे प्रयोजनं यद्भाष्याक्षरेभ्यः साक्षात्प्रतीयते सामान्योपदेशेन विशेष उपदिष्टे विशेषोपदेशः प्रयोजनाधिक्यं सूचयति । यथा ब्राह्मणान् भोजय कठं चेतिकठभोजने विशेषोऽवगम्यते तदिहापि निग्रहस्थानोपदेशेनैव हेत्वाभासेषु लब्धेषु तेषां विशेषाभिधानं प्रयोजनाधिक्यं सूचयति । एतावानेव सूत्रकृतो व्यापारो यत्सूत्रणं नाम । तत्र निग्रहस्थानविशेषाणां हेत्वाभासानां स्वरूपं वादस्य च तत्त्वनिर्णयावसानत्वमालोच्य वादे देशनीया भविष्यन्ति निग्रहस्थानत्वेन हेत्वाभासा नापतिभादय इति प्रयोजनं वर्णयांचकार भाष्यकारः ।

(१) देशनीयत्वमिति कुत्रचि त्पाठः ।

स्यादेतत्—वादे भवन्तु देशनीया हेत्वाभासा मा सूत्रप्रतिभा-
 दयः किमेवमपीत्यत आह । विद्याप्रस्थानभेदज्ञापनार्थ-
 त्वात् । वादजल्पवितण्डाः विद्याः परंपरया निःश्रेयसोपयो-
 गात् तासां प्रस्थानं व्यापारः तस्य भेदस्तज्ज्ञापनार्थ-
 त्वात् । अत एव जल्पवितण्डयोस्त्वित्याह । चोदयति ।
 अथ कस्मादिति । यदि वादे हेत्वाभासाः प्रयुज्येरन् ततो
 निग्रहस्थानत्वेन चोद्येरन्न तु तेषामस्ति प्रयोगो ऽप्रमाणत्वात्
 प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वाच्च वादस्य, तस्मान्निग्रहस्थानमात्रत्वं
 हेत्वाभासानां, तथा चापृथगुपदेशो निग्रहस्थानोपदेशेनैव लब्ध-
 त्वादित्यर्थः । परिहरति । प्रमाणसामान्यादिति (१९।२०) न
 खलु हेत्वाभासान् तदबुद्ध्या प्रयुज्जाते वादिप्रतिवादिनौ, अपि तु
 हेतुबुद्ध्या । तथा चास्ति तेषां वादे प्रयोग इति वादे निग्रहस्था-
 नत्वेन हेत्वाभासाश्चोद्यन्तां नाप्रतिभादीनीत्यर्थवान् पृथगुपदेशः ।

तदेतद्विकल्प्याक्षिपति वादे कानि चिदिति । समा-
 धत्ते । न लक्षणपरतन्त्रत्वाद् अर्थतथाभावस्येति
 ब्रूमः । लक्ष्यतइति लक्षणं समानासमानजातीयव्यावृत्तं रूपं
 वादस्य च निग्रहस्थानानां च । तदधीनो हि तेषां तथाभावो
 व्यवस्था कानि चिदेव निग्रहस्थानानि वादे न तु सर्वाणीति
 सामान्यतो ऽभिधाय तदेव लक्षणपरतन्त्रत्वमभिमतं विशेषे
 योजयति । वादस्येति । उक्तमाक्षिपति । प्रमाणप्रतिरूप-
 कत्वादिति । निश्चितौ हि वादं कुरुतो निश्चयश्च प्रमाणफल
 मिति कुतो ऽप्रमाणस्यावकाशः । उत्तरं भ्रान्तेरिति । न
 निश्चयः सर्वः प्रमाणमूलो ऽप्रमाणमूलस्यापि तस्य दर्शनात् ।
 अन्यथा विपर्ययादप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । वादिनोश्चाभ्रान्तत्वे वस्तुनो
 विरुद्धधर्मद्वयसमालिङ्गितत्वमेकदा स्यादिति भावः । पृच्छति ।
 कः पुनः शिष्येति । उपास्योपासकयोः परस्परोपालम्भनं

न संभवतीत्यर्थः । उत्तरं । विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वमेव
स्वलीकार इति । हेत्वाभासानां च पृथक्करणं न वादे तावन्मा-
त्रावधारणार्थमपि तु यस्मिन्ननुद्धावितेऽपि निग्रहस्थाने तत्त्वप्रति-
पत्तिव्याघातो भवति तस्य सर्वस्य संग्रहार्थम् । एवं न्यूनाधिका-
पसिद्धान्ता अपि संगृहीता भवन्ति । तत्र पृच्छति । न्यूना-
धिकेति । उत्तरं प्रमाणेति । जल्पवितण्डयोस्त्विति भाष्यमनु-
भाष्योपपादयति । जल्पवितण्डयोस्त्विति । (२०।१४)
साहंकारो हि विजिगीषुरप्रतिभादिभिरपि निग्रहस्थानैस्तिरस्कृतो
गलिताहंकारस्तत्त्वबुभुत्सुतां नीतः पश्चाद्वादेन व्युत्पाद्यत इत्यर्थः ।

छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेशप्रयोजनपरं भाष्यमनु-
भाषते । छलेति । उपलक्षणार्थ इति भाष्यावयवार्थं व्याचष्टे ।
परिज्ञानार्थमेव केवलम् । परिज्ञानस्य च फलमुक्तम् स्ववा-
क्ये परिवर्जनमप्रयोगः परवाक्ये चोद्धावनमिति । चोद-
यति । छलजातिनिग्रहस्थानानीति । अत्र हि वाक्ये परि-
वर्जनमुक्त्वा पुनः स्वयं प्रयोगो न युक्तः । कस्मात् व्याघातात् ।
एतद्विभजते । स्ववाक्य इति । परिहरति । न व्याघातः कुतः
प्रश्नापाकरणार्थत्वात् । (२१।३) एतद्विभजते । स्वयं च
सुकरः प्रयोग इति अनेन भाष्येण किमुक्तं भवति । परेण-
प्रतिवादिना जातौ प्रयुक्तायां यदि प्राश्निकान्-सभ्यान् ब्रवी-
ति जातिरनेन प्रतिवादिना-प्रयुक्तेति ते प्राश्निका एनं
पर्यनुयुञ्जीरन्-हे वादिन् कथं-केन प्रकारेण जातिः चतुर्विंशसां
जातिषु कतमा जातिः । सोऽयं प्राश्निकानां प्रश्नः तदपाकर-
णार्थं स्वयं सुकरः प्रयोग इत्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति । (२१।८)
तस्मादेत इति ।

सूत्रकारेण शास्त्रस्यात्यन्तिकदुःखोपरमरूपनिःश्रेयसाधिगमः

प्रयोजनमुक्तम् । भाष्यकारस्तु नास्त्येव तत्र प्रेक्षावतां प्रयोजनं
यत्रान्वीक्षिकी न निमित्तं भवतीत्याह । सेयमान्वीक्षिकीति ।
तदेतद्भाष्यं व्याचष्टे । सेयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या ।
(२१।१०) यद्यपीतरा विद्याः प्रामाणिकमेवार्थमभिनिविशन्ते
तथा ऽप्येतद्विद्याप्रतिपाद्यमेव प्रमाणाद्युपजीव्य स्वे स्वे व्युत्पाद्ये
ऽर्थतस्त्वे प्रवर्तन्ते न तु प्रमाणाद्यपि व्युत्पादयन्ति । यथा
प्रत्यक्षाद्युपजीव्य प्रवर्तमानमनुमानं न प्रत्यक्षादिविषयमपि तदा-
नीमेव गोचरयति । तदनेन विद्योपकरणग्रहणेन व्यापार आन्वी-
क्षिक्या दर्शितः । संप्रति विद्यानां यानि कर्माणि प्रतिपाद्यानि
सामाग्रिहोत्रकृष्यादीनि तत्राप्यान्वीक्षिक्युपाय इत्याह । उपायः
सर्वकर्मणां विद्याव्युत्पाद्यानाम् (२३।३) नतु हालिकमृग-
यादिकर्मणामपि, न हि विद्यापदेभ्यो यावन्मात्रावगतिः
तावन्मात्रेण प्रेक्षावतां परितोषः मा भूदादित्यो वै यूप इत्यादिभ्य
आदित्यादीनां यूपदिता, तस्मात् संशयपरीक्षाप्रमाणविनिवेश-
द्वारेण तदर्थतत्त्वमवधार्य तत्र त्रयी विनिवेशनीया । एवं दण्ड-
नीतिवार्त्तयोरप्यवगन्तव्यम् । यस्मादान्वीक्षिकीपरिशोधितप्रमा-
णप्रकाशितं सामादि इतरा विद्याः कुर्वन्ति । विषयमिति
शेषः । अपि च द्रव्यगुणकर्मणामभिमतानभिमतोपायतापरिज्ञा-
पनेन यथास्वं सर्वा विद्याः प्रेक्षावतः प्रवर्त्तयन्ति निवर्त्तयन्ति
च । तत्र किमविशेषेण साध्यसाधनेतिकर्तव्यतासु प्रवर्त्तयन्ति
आहो स्वित् साधनेतिकर्त्तव्यतामात्रे । तत्र यदि साध्यांशो ऽपि
प्रवर्त्तनागोचरः तदा श्येनादिसाध्यायाः हिंसाया विहितत्वेन
नानर्थत्वम् । अथ साध्यांशं रागतः प्राप्तमनूय साधनेतिकर्त्तव्यते
एव विधीयेते ततः श्येनादिसाध्याया हिंसाया अविहितत्वेन
न हिंस्यात् सर्वा भूतानीति प्रतिषेधादनर्थत्वम् । तदिह साध्या-

शेऽप्रवर्त्तनमान्वीक्षिकीगम्यम् । एवमनुष्ठानगताः प्रयोजकत्वाप्र-
योजकत्वादयः आन्वीक्षिकीगम्या, एवं वार्तादिष्वपि, तदेवमा-
न्वीक्षिकीमाश्रयन्ते सर्वा विद्या इत्याह । आश्रयः सर्वधर्म्मा-
णां सर्वासां विद्यानां पुरुषप्रवर्त्तना धर्म्मास्तेषामाश्रयः । वार्त्ति-
ककारस्तु धर्म्मद्वारेण विद्यानामेवाश्रय इति व्याचष्टे । सर्वविद्यो-
पकारकत्वादाश्रयः (२३।१८) सर्वासां विद्यानामियमुपकरोति,
विद्यया प्रवर्त्तनायां कर्त्तव्यायामियं सहकारितया उपकरोतीत्यर्थः ।

स्यादेतद्व्युत्पाद्याश्चेत्प्रमाणादयः सर्वविद्योपयोगिनो न
तर्ह्यत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरान्वीक्षिक्याः फलं निःश्रेयसपदाद-
वगम्येत व्युत्पाद्यस्वभावालोचनया हि तद्रम्येत, स च विद्यान्त-
साधारण इति विद्यान्तराधिगम्येन निःश्रेयसेन संकरप्रसङ्ग इ-
त्यत आह । तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमश्च य-
थाविद्यं वेदितव्यम् । (२१।२०) विद्यान्तराणि तावद्यत्त-
त्वज्ञानं कुर्वन्ति इति तत्त्वभावालोचनया हि तत्तद्विद्यासा-
ध्ये एव निःश्रेयसभेदे उपयुज्यन्ते नान्यत्र, इह तु प्रमाणादि
यद्यपि साधारणं तथाप्यात्माद्यसाधारणात्मादिरूपभेदसमाभि-
व्याहृतं सदभिमत एव निःश्रेयसे अवतिष्ठत इति । विशुद्धेनार्ज-
नेन होमसाधनस्य द्रव्यस्य प्राप्तिः स्वागतम् । आदिग्रहणेन
क्रमप्राप्ताङ्गग्रामसाकल्यं गृह्यते । श्वमार्जारादिभिरनुपघातोऽनुप-
हतत्वम् । आदिग्रहणाद्विशुद्धोऽभिसंधिरिति । शेषमतिरोहितम् ।

वादादीनां निग्रहस्थानान्तानामुद्देशः पराभिभवोपायत्वा-
न्मदमानादिहेतुत्वेन निःश्रेयसपरिपन्थीति मन्वानश्चोदयति ।
मदमानादीति । परिहरति । न सूत्रार्थापरिज्ञानात् ।
नायं सूत्रार्थः सर्वेषां तत्त्वज्ञानं साक्षान्निःश्रेयसोपयोगि, कि-
न्त्वात्मादितत्त्वज्ञानं, तदितरेषां पारंपर्येण, नत्र जल्पादीनां परा-

हंकारप्रशमनमवान्तरव्यापार इति न निःश्रेयसपरिपन्थिता किं
त्वानुकूल्यमित्यर्थः । मदमानादिहेतुत्वं च हेतुरसिद्ध इत्याह ।
यच्च चेदमिति । उपसंहरति । तस्मान्न निमित्तं वादादि-
परिज्ञानं रागादीनामिति । (२२।२१) इति सूत्रसमाप्तौ ॥१॥

तदेवं प्रथमसूत्रेण शास्त्रस्याभिधेयप्रयोजनसंबन्धान् दर्शय-
ता पदार्थाः प्रमाणादय उद्दिष्टाः, तेषां च लक्षणमुक्त्वा तत्परीक्षा
वर्त्तयिष्यते अपरीक्ष्य तत्त्वनिर्णयायोगात् । न चानिर्णी-
तप्रयोजनसंबन्धानां लक्षणपरीक्षयोरवकाशः । न च
प्रयोजनसंबन्धनिर्णयः परीक्षां विनेति तत्परीक्षार्थं द्वितीयं
सूत्रम् । तत्र प्रयोजनाभिधानस्य द्वैविध्यात् संशयः । द्विविधं हि
प्रयोजनाभिधानं ग्रन्थकृतां दृष्टं समीचीनमसमीचीनं च । यथा
वातिकादिप्रयोजनाभिधानम् आयुर्वेदादिप्रयोजनाभिधानं च ।
तस्मादभिधानसामान्यादुभयथादर्शनाच्च संशयः । तत्रोत्सूत्रेण
प्रयोजनानभिसंबन्धप्रतिपादनपरं पूर्वपक्षभाष्यं तच्च खलु वै
निःश्रेयसमित्यादि । तद्विभजते । न तत्त्वपरिज्ञानात् ।
(२३ । २२) कुतः उभयथा दोषात् । तदत्यन्तविमोक्षल-
क्षणोऽपवर्गो निःश्रेयसं तच्चेत्तत्त्वज्ञानानन्तरं संप्रदायोच्छेदो वा-
तपुत्रीयं वा शास्त्रं स्यात् तस्मान्न तत्त्वज्ञानानन्तरं निःश्रेयसम् ।
तथा सति प्रमाणादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति मिथ्या ।
न चान्यन्निःश्रेयसमित्याभिसंधिः पूर्वपक्षवादिन इति ।

अत्रेदं सिद्धान्तसूत्रमुपतिष्ठते दुःखजन्मेति । तस्य तात्पर्यमभि-
धायावतारयति । न प्रयोजनानभिसंबन्धः । कुतः । निःश्रेयसस्य
परापरभावात् । चतस्रो हि प्रतिपत्तयः प्रमेये आत्मादौ, प्र-
थमा तावदागमाद् यामाचक्षते श्रवणमिति । द्वितीया तु श्रुतस्य
परीक्षा न्यायेनैवावस्थापनं यामाहुर्मननमिति । सा चान्वीक्षि-

कयामायतते । आन्वीक्षिकी च संशयादितत्त्वज्ञापनं प्रमाणतत्त्व-
 ज्ञापनायोपादत्ते । प्रमाणतत्त्वज्ञापनं च हेयोपादेयभेदव्यवस्थि-
 तप्रमेयतत्त्वपरिज्ञापनाय । तत्राप्याद्यन्तवर्जितदशवर्गज्ञापनेनाद्य-
 न्तयोरेवात्मापवर्गयोरुपादेययोस्तत्त्वज्ञानस्योपकरोति । न चा-
 यमान्वीक्षिकीविद्यावधृतप्रमेयतत्त्वोऽपि परितुष्यति पूर्ववेदवात्मा-
 दिगताविपर्ययवासनानुवृत्तेः । नो खलु दिङ्मूढः सहस्रेणाप्यनुमा-
 नैर्विपर्ययसंस्कारमपनयति । तत्त्वसाक्षात्कारस्तु विपर्ययसा-
 क्षात्कारं निवर्त्तयति तज्जनिता च वासना विपर्ययवासनामिति
 लोकसिद्धम् । तस्मादात्मादिसाक्षात्कारवर्ती चतुर्थी प्रमामशेष-
 तद्गोचरवासनाविपर्यासशमनीमर्थयमानेनादरनैरन्तर्याभ्यां ध्या-
 नचिन्तादिशब्दवाच्या तृतीया प्रतीतिः साक्षात्कारफला दी-
 र्घकालमुपासनीया । अथ परिनिष्पन्नध्यानोपायः साक्षात्कारव-
 र्ती प्रतिपद्य चतुर्थी प्रतीतिं निर्मुक्तसकलक्लेशजालोऽप्रवर्त्तमानो
 धर्म्माधर्मसाधनेषु निरुद्धानागतधर्म्माधर्मप्रबन्धोत्पादो भूते-
 न्द्रियविजयी प्रज्ञाज्योतिर्जीवन्नेव मुक्त इत्युच्यते । न चैवमवस्थो
 बीतरागोऽपि सहसैव देहादिभिर्वियुज्यते । प्रागुपात्तस्य धर्म्मा-
 धर्मप्रचयस्य भुज्यमानस्य वा मुक्तस्य वा क्षीयमाणत्वान्न च
 प्रायश्चित्तेनेवात्मज्ञानेनादत्तफलान्येव कर्माणि क्षीयन्ते इति यु-
 क्तम् । 'नामुक्तं क्षीयते कर्म' इति स्मृतेः अन्त्यसुखदुःखसंविज्ञान-
 विरोधस्य कर्मणामवधारणात् । औत्सर्गिकस्य क चित् प्राय-
 श्चित्तादौ विशेषवचनेनापवादात् । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी' इति
 श्रुतेः योगर्द्धिवशाद्युपपत्त्यादितानेकविधदेहोपभोगेनाप्युपपत्तेः ।
 'तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्षयेऽथ संपत्स्ये' इति वा मुक्तोप-
 भुज्यमानफलकर्मप्रक्षयावधित्वप्रदर्शकम् । योगर्द्धिवशाच्चायम-
 नियतविपाकफलान्यपि दीर्घकालफलान्यपि कर्माणि पिण्डी-

कृत्य भूतेन्द्रियविजयितया युगपदेव भुङ्क्ते । अचिन्त्यो हि समाधिप्रभाव इत्युक्तम् । न चाचिन्त्यप्रभावत्वाद्विनैवोपभोगं कर्म्मशयान् प्रक्षयिष्यतीति युक्तम् । दृष्टानुसारेण कथं चिदुपपत्तौ अत्यन्तादृष्टकल्पनाया अयोगात् । तस्मादुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य दोषाभावात् प्रवृत्त्युपरमे योऽनागतापूर्वानुत्पादस्तदपरं निःश्रेयसं तच्च तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरं भवति, ईदृशश्च मुनिस्तत्त्वज्ञानवान् शास्त्रप्रणेतेति न वातपुत्रीयं शास्त्रं, परं तु निःश्रेयसं समाधिप्रभवसंपदा युगपदुपभोगेनोपात्तकर्म्मशयस्य क्षयात् सर्वदुःखोपरम इत्युपपन्नं निःश्रेयसद्वैविध्यमिति भावः । तदेतद्वर्णयति । यत्तावदिति । तत्त्वसाक्षात्कारस्तत्त्वज्ञानम् । संहर्षः सुखम् । आयासो दुःखम् । तत्रानागताभ्यां तावत् प्रवृत्त्यभावात् अनुत्पादादेव मुच्यते विद्यमानकारणे अपि सुखं दुःखे असक्तोऽद्विषंश्च भुञ्जानो न सुखं दुःखतयाऽनुमन्यते न ह्यस्ति संभवो न तत्र वृष्यति तच्च तस्य सुखं न द्वेष्टि तच्च तस्य दुःखमिति । स्यादेतत् । भवत्वेतदपरं निःश्रेयसं प्रकृते तुकिमायातमित्यत आह । अयं शास्त्रार्थः । अर्थशब्दो निमित्ते, अपरं निःश्रेयसं शास्त्रनिमित्तमिति । अथापरनिःश्रेयसोत्पादसमय एव परनिःश्रेयसमपि कस्मान्न भवतीत्यत आह । परं तु(१) निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानात् क्रमेण भवति । (२३।१३) नो खलु उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारः समुच्छिन्नसवासनविपर्ययाज्ञानः तत्कार्यदोषतत्कार्यप्रवृत्तीनां निवृत्त्यै प्रयतते कारणनिवृत्त्यैवाप्रयत्नलब्धत्वात् कार्यानिवृत्तेः । न हि कफोज्ज्वलप्रशमनाय कफनिवृत्तौ सत्यां प्रयत्नान्तरमातिष्ठते तत एव तत्सिद्धेः । परं तु निःश्रेयसं न तावद्भवति यावदुपभोगादुपात्तकर्म्मशयप्रचयो न क्षीयते तस्मा-

तत्त्वसाक्षात्काराधानप्रयत्नात्परस्तदुपभोगप्रयत्नश्चास्थेयस्तथा च न तुल्यकाल उत्पादः परापरयोर्निःश्रेयसयोः । तदिदमुक्तं क्रमेणेति । तदेवमर्थगतिं परिशोध्य सूत्रमवतारयति ।

क्रमेति (२३ । १४) । यद्यप्यपरस्मिन्नपि निःश्रेयसे मिथ्याज्ञानदोषप्रवृत्तीनामपि समुच्छेदक्रमो ऽस्ति तथा ऽपि जन्मदुःखोच्छेदक्रमो नास्ति । पूर्वोपात्तकर्माशयप्रचयस्य तादवस्थयात् । तस्माज्जन्मदुःखोच्छेदक्रमसमभिव्याहृतो मिथ्याज्ञानाद्युच्छेदक्रमः परस्यैव निःश्रेयसस्य शास्त्रप्रयोजनस्य, तत्प्रतिपादनमर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथोक्तम् । इदं चावान्तरप्रयोजनं प्रधानप्रयोजनमग्रे वक्ष्यति ।

अत्र के चिद् योगविभागमिच्छन्ति । कारणोच्छेदात् कार्योच्छेदो ऽभिमतः । न चासौ दुःखादीनां मिथ्याज्ञानान्तानामदर्शिते कार्यकारणभावे सिद्ध्यति । तस्माद् दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामित्येको योगः । अत्र किल समासादेषामितरेतरयोगो ऽवगम्यते । स च योग्यतया कार्यकारणभावः । कार्येण कारणं युक्तं कारणेन च कार्यमिति । अतः सिद्धे कारणभावे उत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इत्यनेन योगेन कारणोच्छेदक्रमेण कार्योच्छेदक्रमप्रतिपादनेनापवर्गः प्रतिपाद्यते । अत्र चोत्तरत्वं पाठापेक्षया कारणस्य तदनन्तरत्वं च कार्यस्याव्यवहितादिपाठापेक्षया । मिथ्याज्ञाने कारणे तत्कार्या दोषाः । एवं शेषेष्वपि योज्यम् ।

तमेतं सूत्रविभागममृष्यमाणो वार्तिककृदाह । इदं सूत्रम् ।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ॥ २ ॥

एकवचनेन भेदं व्यावर्तयति । न हि समुच्छेदक्रमप्रति-
पादनेनापवर्गपरतयैकवाक्यत्वे संभवति वाक्यभेदो न्याय्यः ।
एकनिवृत्त्या अन्यनिवृत्त्यैव कार्यकारणभावः *आक्षिप्त इति ना-
सौ सूत्रकारेण दर्शनीयो, न ह्यर्थार्क्षिप्तं सूत्रकारा दर्शयन्ति ।
तदिदं सूत्रग्रहणप्रयोजनम् । तथा हि—

“स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः” इति ।

अस्तोभमनधिकम्—अर्थलभ्यप्रदर्शने त्वधिकं भवेदिति ।
तत्सूचनात्तु सूत्रं स्यात् । तथा ह्यहुः—

“लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च ।

सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः” इति ।

इतरेतरयोगेनापि कार्यकारणभावः सूचनीय एव, वर-
मेकनिवृत्त्या ऽन्यनिवृत्त्यैव सूच्यताम् एकवाक्यतानुरोधामेति ।
परमतात्पर्यमाह । एतत्सम्बन्धेनैव । (२३ । १८) शास्त्रस्य
निःश्रेयसाधिगमलक्षणेन प्रयोजनेन यः सम्बन्धः पूर्वमाक्षिप्त-
स्तत्समाधानेनार्थवदेतत् सूत्रम् । सम्बन्धपदेन विषयवाचिना
विषयिसम्बन्धिनं(१) लक्षयति ।

तदेवं सूत्रतात्पर्यं व्याख्यायावयवव्याख्यानमवतारयति ।
षडार्थस्त्विति । यद्यपि सामभेदादौ हलशकटादौ च मिथ्या-
ज्ञानमनेकप्रकारं भवति तथा ऽपि न तत्संसारहेतुरपि त्वात्मा-
दिद्वादशविधप्रमेयविशेषविषयमिति सूत्रस्थं मिथ्याज्ञानं विशे-
ष्टुमाह । तत्रात्मेति । (२३ । १८) तदेतेन आत्माद्यपव-
र्गपर्यन्त इत्यादि भाष्यमवतारितम् । तदेतदाक्षिपति । को

वृत्तिशब्दार्थः(१) । न खलु यथा कुण्डे वदरं पटे शौक्ल्यमेवं प्रमेये मिथ्याज्ञानं वर्त्तते, -तस्य ज्ञातृसमवेतत्वादिसर्थः । उत्तरम् विषयार्थः(२) । यावदुक्तं भवति प्रमेयविषयं मिथ्याज्ञानमिति तावदुक्तं भवति प्रमेये वर्ततइति । विषयत्वं चाग्रे निवेदायिष्यते । अनेकप्रकारमित्युक्तम् । तदाह तत्रायं भेदः । तत्रात्मनि तावत् प्रधाने प्रमेये नास्तीति । कथं पुनरेतन्मिथ्याज्ञानमित्यत आह । आत्मा तावादिति ।

अत्र शङ्कते । तस्यानुपपत्तिः । कुतः सदसतोः सारूप्याभावादिति चेत् । सर्वत्र हि रजतोदकादिभ्रमे शुक्तिरजतयोर्वा मरुमरीचिकासलिलयोर्वा सारूप्यमेव निमित्तं प्रतीतम् । न हि जातु रूपं रसादिषु हस्तिनं वा मशकादिष्वारोपयन्ति । असदृशेऽपि श्वेते पीतभ्रमो मधुरे च तिक्तभ्रमः पीतः शङ्खस्तिक्ता गुड इति च दृश्यत इति चेत् । न । तत्रापि सारूप्यसम्भवात् । तथा हि । बहिर्निर्गच्छदत्यञ्जनयनरश्मिसंपृक्तपित्तपीतिमानमाश्रयरहितं शङ्खं च दोषाज्जादित्सितिमानमनुभवन्पीतगुणस्य च तदसम्बन्धमननुभवन्नसम्बन्धाग्रहेण पीतचिखिलवादिसामानाधिकरण्येन सारूप्याच्च शङ्खः पीत इति विपर्यस्यति । एवं त्वगिन्द्रियोपनीतं गुडमननुभूयमानमाधुर्यमनुभवन् रसनाग्रवर्तिनश्च पित्तस्य तिक्तत्वमनुभवन् तदाश्रयं च तिक्त(३)मननुभवन् असम्बन्धाग्रहसारूप्यात्तिक्तनिम्बसामानाधिकरण्येन तिक्तो गुड इति विपर्यस्यति । अतिशीघ्रतया चैष क्रमो न लक्ष्यते । न च ब्रूमो यत्र

(१) वृत्त्यर्थ इति सु० वा० पु० पाठः ।

(२) विषयशब्दार्थ इति सु० वा० पु० पाठः ।

(३) पित्तमिति पु० पा० ।

सारूप्यं तत्र विभ्रम इति येनातिप्रसक्तिश्चोद्येत । अपि तु यत्र भ्रमस्तत्रावश्यं कथं चित् सारूप्यमिति । एवं द्विचन्द्रदिङ्मोहा-
लातचक्रादिष्वपि कथं चित् सारूप्यमूहनीयम् । न च सदस-
तोरत्यन्तविलक्षणयोः सारूप्यमस्ति तत् कथमात्मनि नास्तिता-
ऽऽरोप इत्याक्षेपः ।

समाधत्ते । न प्रमाणगम्यतोपपत्तेः । आक्षेपं विभज-
जते । न हि सदसती (२४ । ३) इति । समाधानं वि-
भजते । तच्च नैवमिति । यदि सदसतोः समानत्वं नास्ति, त-
र्हि भेदस्तथा च कस्य कुत्रारोप इत्यत आह । क्रियागुणेति ।
सो ऽयमसद्दर्मान् । क्रियागुणरहितत्वादीन् । सत्यात्मनि
समारोप्यासत्तया विपर्यस्यति नास्त्यात्मेति । नन्वा-
त्मानं सर्वतोऽभ्यर्हिततमं पश्यंस्तत्रासौ स्निह्यति स्नेहात्तदुप-
काराय घटते—एवं तत्परिपन्थिनं द्वेष्टि, द्वेषाच्च तदपकाराय घट-
ते, ततः कर्मशयमातनोति, ततो जन्म, ततश्च दुःखमिति,
एवमात्मनस्तादृशस्य मा भूतत्त्वज्ञानम्, अस्तु नास्तितासमा-
रोप एव तावद् यतो न प्रवर्तेत । यथा ऽऽहुः—

“सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवमिति तृष्यतः ।

यैवाहमिति धीः सैव सहजं तत्त्वदर्शनम्” ।

अत्रोच्यते । यद्यपि रागादिनिवृत्तिहेतुर्नैरात्म्यदर्शनं, तथा
ऽपि नास्ति कर्म, नास्ति कर्मफलमिति दृष्टेः परमं नि-
दानम् । एवं प्रेयभावाभावज्ञानस्य च । तथा च दुःखहेतोर्हे-
यवर्गस्याभावान्न तद्धानायानेन घटितव्यम् । न वा घटमानो
हेयं हातुमर्हति । सो ऽयं वृश्चिकभिया पलायमान आशीवि-
षमुखे निपतितः । सेयमास्तिक्यायात्मास्तितोपासनीया ।

अभ्यर्हिता (४)चात्मनोऽत्यन्तदुःखनिवृत्तावुपयुज्यते । अय-
मेव चास्योपकारो यदात्यान्तिकदुःखशमनम् । सुखाधाने
त्वस्य तदनुषाङ्गिदुःखाधानादपकारप्रसङ्गात् । न हि जातु
कश्चिच्चेतनः सुखमाप्स्यामीति मधुविषसंपृक्तमन्नमुपभुङ्क्ते ।
तस्मान्नैरात्म्यदृष्टिः प्रयत्नेनोच्छेत्तव्या प्रेक्षावतेति सिद्धम् ।

अपरमपि मिथ्यादर्शनं संसारहेतुमाह । एवमनात्मनी-
ति । (२४ । ७) किं पुनरिति । उत्तरम् । अहंकारेति ।
विशेषमाह । इच्छादीति । पुनः पृच्छति । कथं पुनरिति ।
उत्तरम् । शरीरेति । उपसंहरति । एवमिति । सामान्यधर्मो
ऽहंकारास्पदत्वं विशेषधर्म इच्छाद्याधारता, तां खल्वयं शरी-
रादिष्वारोप्य तत एवाहमिति शरीरादिष्वात्मभावमारोपयति ।

एवं सिद्धं कृत्वा विपर्ययं सर्वमुक्तम् । संप्रति संदिहानो
विपर्ययस्वरूपं पृच्छति । कः पुनरयं विपर्ययः । (२४।१७)
परीक्षकाणां विप्रतिपत्तेः संशयः । के त्तिन्तु स्वाकारं बाह्यत्ववि-
षयं ज्ञानं विपर्यय इत्याचक्षते । अन्ये ऽसद्विषयं ज्ञानम् । अन्ये
त्वानिर्वचनीयज्ञानम् । अपरे त्वग्रहणमेव । अन्यथाख्यातिरिति
वृद्धाः । उत्तरम् । अतास्मिंस्तदिति प्रत्ययः । (२४।१७)

इदमत्राकूतम् । न तावत् स्वाकारं रजतादि बाह्यतया
ऽऽलम्बन्ते विभ्रमाः । तथा हि ज्ञानाकारत्वं रजतादेरनुभवा-
द्यवस्थाप्यते अनुमानाद्वा ? अनुभवो ऽपि रजतप्रत्ययो वा बा-
धकप्रत्ययो वा स्यात् ? । न तावद्रजतप्रत्ययः । स हीदमनहंकारा-
स्पदं रजतमादर्शयति न चान्तर, महमिति हि तदा स्यात्-प्र-
तिपत्तुःप्रत्ययादव्यतिरेकात् । भ्रान्तं ज्ञानं स्वाकारमेव बाह्यतया
ऽऽलम्बते तथा च नाऽहंकारास्पदमस्य विषयो ज्ञानाकारो

ऽपि, ज्ञानाकारता पुनरस्य बाधकज्ञानप्रवेदनीयेति चेत् । हन्त ? चक्षुषी निमील्य वैज्ञानिकपक्षपातं परित्यज्यालोचयतु भवान् किं पुरोवर्तिद्रव्याकारतामात्रं प्रतिषेधति रजतस्याहो स्वित् ज्ञानाकारतामप्यस्योपदर्शयति बाधकप्रत्ययः ? । तत्र ज्ञानाकारतोपदर्शनव्यापारं बाधकप्रत्ययस्य श्रुवाणः श्लाघनीयप्रज्ञो देवानांप्रियः । पुरोवर्त्तित्वनिषेधादर्थान् ज्ञानाकारतासिद्धिरिति चेत् । न, * (त्वस्या) तन्निषेधो वणिग्भीष्यादाबुपलब्धस्य रजतस्य व्यवस्थापने हेतुः । आन्तरत्वं त्वनुपलब्धचरं कुतस्त्यम् । न चानुमानमत्र प्रभवतीति चतुर्थे निवेदयिष्यते । सन्तु तर्हि बाधकप्रत्ययानुरोधाद् असत्प्रकाशनशीला एव मिथ्याप्रत्ययाः । तथा हि बाधकं विज्ञानं नेदं रजतमिति रजतज्ञानगोचरस्यासत्त्वं गृह्णाति । न चासतो विषय-भावो नापपद्यते, न हि विषयत्वं नाम कारणत्वं येनासति न स्यात्, किन्तु स्वकारणाधीनः सामर्थ्यातिशयः, स तादृशो ज्ञानस्य येन सन्तमिवासन्तमपि गोचरयति । न च विषयसामर्थ्यमत्रोपयुज्यते ज्ञानस्य सामर्थ्यमात्रादेव तद्भावसिद्धेः । अत एवासत्प्रकाशनसामर्थ्यमेव मिथ्याज्ञानानामविद्यात्वमनिर्वचनीयत्वं के चिदास्थिषत ।

अत्रेदमालोचनीयं—किमेतन्मिथ्याज्ञानमसत् सदात्मना गृह्णातीत्यसद्विषयमुपेयते आहो स्वित् सदेव सदन्तरात्मना गृह्णाति सतश्च सदन्तरात्मना ऽसत्त्वादसद्विषयमुच्यते । न तावत्पूर्वः कल्पः रजतात्मना चेदसदालम्बेन न सती शुक्तिकां, कस्मात् पुनरयं शुक्तौ रजतार्थी प्रवर्तते न पुनरजताभावे, कस्माच्चेदं पुरोवर्त्ति द्रव्यमङ्गुल्या निर्दिश्य

* त्वस्या इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

तस्य रजतत्वं निषेधति नेदं रजतमिति, यदि तत्र न प्रसज्जिनं रजतत्वं पूर्वविज्ञानेन । अथ शुक्तिरेव रजतात्मना ऽसतीति तदाकारतया तामालम्बमानं मिथ्याज्ञानमसदालम्बनमुच्यते ? तत्रानुज्ञया वर्तामहे, न खलु अन्यथाख्यातिवादिनो ऽपि सदन्तरं सदन्तरात्मना सदभ्युपगच्छन्ति, तथा सत्यन्यथेत्येव न स्यात् । यथा ऽऽहुः अन्यथाख्यातिवादिनः—

“तस्माद्यदन्यथा सन्तमन्यथा प्रतिपद्यते ।

तन्निरालम्बनज्ञानमसदालम्बनं च तत्” इति ।

न च रजतात्मना पुरोवर्त्तिनो द्रव्यस्यानिर्वचनीयता, मिथ्याज्ञानसमये सत्त्वेन बाधकसमये चासत्त्वेन निर्वचनीयत्वात् । न चैवम्भूतस्यासतः प्रथा नोपपद्यते । तस्य सदसद्भ्यामुपाख्येत्वात् ।

यः पुनरद्वैतवादिनां प्रपञ्चो वैनाशिकानां वा सामान्यादिर्नो बहिः किं त्वलीकं तद्विषयं च ज्ञानं मिथ्याज्ञानमित्यपि न संभवति । तस्य सर्वोपाख्यारहितस्य केन चित् साख्याभावात् तत्कारणकत्वाच्च भ्रान्तेः । कारणाभावे कार्यभावस्य सुलभत्वात् । तस्मात् प्रपञ्चश्च सामान्यादि च वस्तुसती नासमीचीनज्ञानगोचरौ, तद्बाधश्चोपरिष्ठादपाकरिष्यते । तस्मान्निर्वचनीयख्यातिरपि ।

स्यादेतत् । अन्यदन्यथा प्रकाशत इति संविद्विरुद्धं, न तावत् सद्भावमात्रेणालम्बनत्वम् । तन्मात्रस्य सर्वप्रत्ययसाधारण्येन सर्वे ऽर्थाः सर्वप्रत्ययविषया इति सर्वसर्वज्ञतापत्तेः । न च कारणत्वेनालम्बनत्वम् । रूपादिविज्ञानानां रूपादिवच्चक्षुराद्यपि कारणमिति चक्षुराद्यालम्बनत्वप्रसङ्गात् । अतीतानागतविषयत्वं च विज्ञानस्य न स्याद् अतीतानागतयोरसत्त्वेनाकारणत्वात् । त-

स्मात् प्रतिभासमानमालम्बनम्, तथाच रजतप्रतिभासः शुक्तिका-
 कालम्बनमिति दुर्घटम् । अपि च चक्षुरीदानां समीचीनज्ञानोप-
 जननसामर्थ्यमिति कथमेभ्यो मिथ्याज्ञानं भवितुमर्हति, न हि श्या-
 माकवीजं पारिकर्मसहस्रेणापि कलमाङ्कुराय कल्पते । दोषस-
 हाया लोचनादयो मिथ्याप्रत्ययमादधत इति चेत् । न । दोषा हि
 कारणानां सामर्थ्यं निघ्नन्ति न पुनः कार्यान्तरजननसामर्थ्य-
 मादधति । न खलु भृष्टकुटजवीजं न्यग्रोधधानायै कल्पते । किन्तु
 न करोति कुटजवीजं कुटजधानाम् । अपि च स्वगोचरव्यभि-
 चारे विज्ञानानां सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः । तस्मात्सर्वमेव विज्ञानं
 समीचीनमास्थेयम् । तथा हि । रजतमिदमिति द्वे ज्ञाने स्मृत्य-
 नुभवरूपे, तत्रेदमिति पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणं दोषवशात् तद्वतशु-
 क्तिकाच्चसामान्यविशेषस्याग्रहणात्, तावन्मात्रं च गृहीतं सदृश-
 तया संस्कारोद्बोधक्रमेण रजते स्मृतिं जनयति, सा च गृहीतग्र-
 हणस्वभावा ऽपि दोषात् गृहीततांशप्रमोषेण ग्रहणमात्रमवतिष्ठते ।
 तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरू-
 पतश्च विषयतश्च भेदाग्रहणात् सान्निहितरजतविषयविज्ञानसारू-
 प्येण इदं रजतमिति भिन्ने अपि ग्रहणस्मरणे अभेदव्यवहारं सा-
 मानाधिकरण्यव्यपदेशं च प्रवर्तयतः । क्वचित् पुनर्ग्रहणे एव
 मिथो ऽगृहीतभेदे । यथा पीतः शङ्ख इति । अत्र बहिर्निर्गच्छ-
 त्रयनराश्मिवर्तिनः पितृद्रव्यस्य काचस्येवातिस्वच्छस्य पीतत्वं
 (च) गृह्यते पित्तं तु न गृह्यते, शङ्खो ऽपि दोषवशाद् गुणरहितः
 स्वरूपमात्रेण गृह्यते । तदनयोर्गुणगुणिनोरसंसर्गाग्रहात्सारूप्यात्
 पीतचिरादित्वप्रत्ययाविशेषेणाभेदव्यवहारः सामानाधिकरण्य-
 व्यपदेशश्च । भेदाग्रहणसञ्जिताभेदव्यवहारबाधनाच्च नेदं रजत-
 मिति विवेकप्रत्ययस्य बाधकत्वमप्युपपद्यते । तदुपपत्तौ च

भ्रान्तित्वमपि लोकमसिद्धं सिद्धं भवति । तस्माद्यथार्थाः सर्वे
ऽपि भ्रमाः प्रत्ययत्वात् पटप्रत्ययवदिति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते ऽभिधीयते । अस्ति तावद्रजतार्थिनो रजतमिद-
मिति ज्ञाने सति पुरोवर्तिद्रव्यप्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यव्यपदे-
शश्चेति सर्वजनीनम् । तत् किं ग्रहणस्मरणयोस्तद्गोचरयोश्च भे-
दाग्रहाद्भवत्वाहो स्विदभेदग्रहात् । न तावच्चेतनो ऽज्ञानात् प्रव-
र्त्तते अपि तु ज्ञानात् । पुरोवर्तिवस्तुग्रहणं रजतज्ञानादगृहीत-
भेदं स्वरूपतो विषयतो वा रजतार्थिनं पुरोवर्तिद्रव्ये प्रवर्तयतीति
चेत् ? हन्त भोः ? किमेतावता पुरोवर्तिवस्तुगोचरं ज्ञानं रजतगो-
चरं भवति आहो स्विच्चन्मात्रगोचरमेव । यदि रजतगोचरं ? पुरो-
वर्ति रजततया गृह्यत् कथं नान्यथाख्यातिः । अथ तन्मात्रगो-
चरं ? को भेदाग्रहस्योपयोगः । न हि वृक्षमात्रदर्शनं निश्चयेन
शिशुपार्थिनं प्रवर्त्तयति । न हि तत्र शिशुपाज्ञानमस्ति । अस्ति
त्विह रजतविज्ञानमगृहीतभेदमिदमिति ज्ञानेनेति चेत् । ननु
रजतविज्ञानं पुरोवर्तिद्रव्ये न वर्त्तते पुरोवर्तिज्ञानं च न रजत
इति तत्र पुरोवर्तिद्रव्यमात्रार्थी पुरोवर्तिनि प्रवर्त्तेत न रजतार्थी
एवं रजतार्थी यत्र क चन प्रवर्त्तेत न नियमेन पुरोवर्तिद्रव्ये, न
हि तेन तत्र रजतत्वमवगतमिति । अथेदं रजतमिति द्वे ज्ञाने भे-
दाग्रहादिदं रजतमिसेकज्ञानसदृशे तदुचितं व्यवहारं प्रवर्त्तयतः ।
यद्येवं, तद्रजतमियं शुक्तिरिति भेदावभासिविज्ञानव्यवहारमपि
कस्मान्न प्रवर्त्तयतः । यथैव हि भेदाग्रहादभेदज्ञानसादृश्यमेवम-
भेदाग्रहाद्भिन्नविज्ञानसादृश्यमपि । सोऽयमुभयतो भेदाभेद-
ग्रहसारूप्यात् प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां युगपदाकृष्यमाणः प्रतिपत्ता
कष्टां दशमावेशितः प्रज्ञाशालिभिरतिव्याख्यायता ।

स्यादेतत् । विपर्ययज्ञानोत्पादे ऽपि शुक्तिरजतयोर्भेदा-

ग्रहे ऽस्य व्यापार आस्थेयः । अन्यथा गृहीतभेदानामपि विपर्ययोत्पादप्रसङ्गात् । तथा च शक्यं तत्रापि वक्तुम्-यथा भेदाग्रहाद्विपर्ययज्ञानोत्पाद एवमभेदाग्रहात् कस्मान्न समीचीनज्ञानोत्पाद इति, तत्र यस्तव परिहारस्सोऽस्माकं व्यवहारव्यपदेशयोर्भविष्यति । यथा ऽऽहुः अख्यातिवादिनः—

“येषामपि विपरीतरूपातिस्तेषामप्यज्ञानवासनानिबन्धनो भ्रम” इति ।

मैत्रम् । ज्ञानहेतूनामज्ञातरूपकार्यसम्बन्धानां चक्षुरादीनां दर्शनाच्चेतनव्यवहाराणां त्वबुद्धिपूर्वकाणामप्रतीतिः । बुद्धिपूर्वकत्वे तुविवेकाग्रह उपयुज्यते न व्यवहारव्यपदेशयोरिति युक्तमुत्पश्यामः । यद्यविवेकाग्रहो ऽपि तत्परिपन्थी विद्यते इति कुतो ऽन्यतरनिबन्धनो व्यवहारः । तस्मात् समारोप एव भेदाग्रह इति । तत् सिद्धमेतद्विवादाध्यासितं रजतादिविज्ञानं पुरोवर्तिवस्तुविषयं रजतार्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वात् । यद्यर्थिनं नियमेन यत्र प्रवर्तयति तद्विज्ञानं तद्विषयं यथोभयसिद्धं समीचीनरजतज्ञानं तथा चैतद् (न तथा चैत) तस्मात् तथा । यच्चोक्तमनवभासमाना शुक्तिका नालम्बनमिति । तत्र किं शुक्तिकात्वस्य रजतमिति ज्ञानं प्रत्यनालम्बनत्वं साध्यते ? आहो स्विद् द्रव्यमात्रस्य सितभास्वरस्य पुरोवर्तिनः । तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे सिद्धसाधनमुत्तरस्मिन्नवभासमानत्वमासिद्धम्—इदमिति पुरोवर्तिनो द्रव्यस्याङ्गुल्या निर्देशात् । दृष्टं च दुष्टानामपि कारणानामौत्सर्गिककार्यप्रतिबन्धेन कार्यान्तरोत्पादकत्वम् । तद्यथा वेत्रबीजानां दावाग्निदग्धानां कदलीप्रकाण्डजनकत्वं भस्मकदुष्टस्य चौदर्यस्य तेजसो बहुतरान्नपानपाचकत्वम् । नेदं रजतमिति च प्रत्यक्षबाधकप्रत्ययादग्रहणविषयं प्रत्ययत्वेन विश्र-

माणां यथार्थत्वानुमानं नोदेतुमर्हति । यथा च प्रमाणाभास-
व्यभिचारेऽपि प्रमाणे, आश्वासस्तथा प्रमाणतो ऽर्थमतिपत्ता-
वित्यत्रोपदर्शितम् । दिङ्मात्रमत्र दर्शितं प्रपञ्चस्तत्त्वसमीक्षाया-
मस्माभिः कृत इत्युपरम्यते ।

तदेवमात्मनि मिथ्याज्ञानं व्याख्याय शरीरादिवेकादश-
सु मिथ्याज्ञानं भाष्य एव दर्शितं, तत्तु स्पष्टत्वान्नोपपादितमस्मा-
भिरित्याशयवानाह । शेषमिति । (२४ । १७) तत्र श-
रीरादिषु मनःपर्यन्तेषु यथायोगं मिथ्याज्ञानं दुःखे सुख-
मित्यादिना अप्रतिहातव्यमित्यन्तेन भाष्येणोक्तम् । प्रवृत्त्या-
दिषु शृङ्गग्राहिकयोक्तम् — प्रवृत्तावित्यादिना रोचयदित्यन्ते-
न भाष्येण । एवं मिथ्याज्ञानस्य स्वरूपं दर्शयित्वा मिथ्याज्ञान-
नदोषप्रवृत्तिजन्मदुःखानां कार्यकारणभावो दोषादीनां स्व-
रूपं चोक्तम् — एतस्मादित्यादिना ताप इत्यन्तेन भाष्येण ।
संप्रति मिथ्याज्ञानाद्युच्छेदादपवर्ग इति वक्ष्यति, तच्चायुक्तं सत्य-
पि तदुच्छेदे संसारतादवस्थयात् । न ह्यन्योच्छेदे ऽन्यस्योच्छे-
दः । तथा च नापवर्ग इति वक्ष्यमाणमर्थमुपपादायितुमुक्तं भा-
ष्यकृता तद्द्विमे मिथ्याज्ञानादय इति । तद्वार्तिककारो व्या-
चष्टे । तद्द्विमे दुःखादय इति । (२४ । १८) भाष्यकारो-
क्तक्रमाद्विपरीतक्रमाभिधानं वार्तिककृत, एवं सूत्रकारोक्तक्रमा-
द्विपरीतक्रमाभिधानं भाष्यकृतो दुःखादीनां मिथ्याज्ञानपूर्वक-
त्वेन मिथ्याज्ञानस्य दुःखादिपूर्वकत्वेनानादित्वं दर्शयितुम् ।
पृच्छति । कः पुनरिति । यद्येत एव संसारस्तर्हि सूत्रकारः
प्रमेयसूत्रे कस्माद् दुःखादिभ्यः पृथक् प्रेत्यभावं संसारापर-
नामानमुपादत्ते । तस्मादेभ्यो ऽन्य एव संसार इति भावः । उ-
त्तरम् । दुःखादीनामिति । तेषां स्वरूपमपि तु कार्यकार-

णभाव इत्यर्थः । क्रमव्यतिक्रमे तात्पर्यमाह । स चानादिरिति । अत्र हेतुमाह । पूर्वापरेति । दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषाः विषयत्वेन तावन्मिथ्याज्ञानस्य कारणमेवमसति जन्मानि मिथ्याज्ञानस्यानुत्पत्तेरविषयोऽपि जन्म मिथ्याज्ञानस्य कारणम् । एवं विना प्रवृत्तिं जन्माभावाज् जन्मद्वारेण प्रवृत्तेरपि मिथ्याज्ञानकारणत्वम् । प्रवृत्तिद्वारेण च दोषाणाम् । तथा मिथ्याज्ञानाद् दोषेभ्यः प्रवृत्तिः प्रवृत्तेर्जन्म जन्मतो दुःखम् । यद्यपि प्रवृत्तिरेव साक्षाद् दुःखहेतुस्तथा ऽप्यनायतनस्य तस्यानुत्पत्तेरन्तरा जन्म करोति । अथ सैव दुःखमिति । अनादित्वाच्च नान्योन्याश्रयत्वं चक्रकं वा, बीजाङ्कुरसंतानयोरिव । संप्रति बीजापाय इव तज्जन्याङ्कुरप्रवाहनिवृत्तिर्मिथ्याज्ञानापाये तज्जन्यप्रवृत्तिजन्मदुःखमिथ्याज्ञानादिप्रवाहनिवृत्तिः कारणानिवृत्तेरिति कथनपरं भाष्यमनुभाष्याक्षिपति । यदा तु तत्त्वज्ञानादिति (२४।२३) । अपायोऽपि तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानस्य स्वरूपतो वा विषयतो वा फलतो वा स्यात् । न तावत् स्वरूपतः । तस्याशुतरविनाशिनः संस्काराद्वा ज्ञानान्तराद्वा अपायस्य तत्त्वज्ञानसाधारण्येन तस्यापि बाध्यत्वप्रसङ्गात् । नापि विषयतः । न हि शुक्तिकाज्ञानं रजतज्ञानस्य रजतविषयतामपहर्तुमुत्सहते, जातं हि तद्रजतं विषयीकृत्य । यथाऽऽहुः ।

‘गृहीत्वाऽर्थं गताश्चौराः कस्तानाच्छेत्तुमर्हति’ इति ।

नापि फलमपहरति । उपदर्शितो हि तेनार्थः प्रवर्तितश्च तत्र पुरुषः तदिदमुक्तम् । कथमपाय इति । (२४ । २४) उत्तरं समानविषय इति । (२४ । २४) यस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये पूर्वेण रजतत्वमासञ्जितं तत्रैवोत्तरं तद्विरुद्धशुक्तिकात्वं धर्ममुपनयति । तथा च पूर्वज्ञानस्य मिथ्यात्वमादर्शय-

२सू० १ प्र०] पूर्वापरज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावप्रयोजकम् । ९३

तज्जनितानां प्रवृत्तिं विघटयत् फलमस्यापहरतीति भावः । ननु
न समानविषयतामात्रेण विरोधः सा भूदेकास्मिन्नात्मनि नित्यत्व-
विभुत्वज्ञानयोर्विरोध इत्यत आह । यस्मादिति । (२४ । २३) तत्त्व-
मिथ्यात्वकथनेन मिथो विरुद्धधर्मप्रसञ्जनं सूचयति । नित्यत्ववि-
भुत्वज्ञानयोस्तु समानविषययोरप्यविरुद्धधर्मोपस्थापकतया त-
त्त्वज्ञानत्वादित्यर्थः । कस्माद्विरोध इत्यत आह । वस्तुन इति ।
(२५ । १) परस्पराभावधर्मिणोरेकत्र समवाये नेदं स्वाभा-
विकं नानात्वं क चिदपीत्यद्वैतप्रसङ्ग इति भावः । उपसंहरति ।
तस्मादिति ।

अत्र देशयति । कथं पुनरिति । (२५ । ३) प्रथममुत्पन्नं
मिथ्याज्ञानमनुपजातविरोधि तेनापहृतविषयं पश्चात्तनं तत्त्व-
ज्ञानमुदेतुमेव नात्सहते प्रागेव तु मिथ्याज्ञानं बाधितुमिति भा-
वः । उत्तरं मिथ्याज्ञानस्येति । (२५ । ४) तत्र हि प्रथम-
मुपजातेनानुपजातविरोधिना ज्ञानेनोत्तरं बाध्यते यत्र पूर्वापेक्ष-
मुत्तरमुपजायते । तत् खलु पूर्वविरोधे न जायते अजातं सत्
कथं पूर्वं बाधेत यथा प्रत्यक्षादिविरुद्धमनुमानम् । इह तु द्वे अपि
ज्ञाने दोषोपहतानुपहतेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्मनी परस्परापेक्षे । तत्र
पूर्वमनुपजातविरोधित्वात् किं बाधतामनागतस्याप्राप्तत्वेन बाधि-
तुमशक्यत्वात् स्वकारणबलादासाद्यमानजनेश्चोत्पत्तिविरोध-
स्याशक्यत्वात् । तदेवमुत्पन्नमुत्तरमुपजातविरोधितया पूर्वबा-
धात्मकं सन्नानुपमृद्य पूर्वमुत्पन्नं भवतीति पूर्वं बाधते । तच्च न
पूर्वेण नाप्यन्येन केन चिदिति भवत्यर्थसहायम् । अर्थासहायं
च मिथ्याज्ञानम् । तदनेन बाध्यत्वाबाध्यत्वे मिथ्याज्ञानतत्त्वज्ञा-
नयोरुपलक्ष्येते । तादिदमन्यैरप्युक्तम्—

“पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम मंतीयताम् ।

अन्योन्यानिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्” इति ।
तथा चानुपजातविरोधित्वमत्र बाध्यत्वे हेतुरुपजातविरो-
धित्वं च बाधकत्व इति ।

यदुपलक्षणार्थं ससहायत्वाभिधानं तज्जिज्ञासुः पृच्छति ।
कस्मात् । (२५ । ६) उत्तरम् । तथात्वेनेति । अने-
नाबाध्यत्वं तत्त्वज्ञानस्योक्तमिति । न केवलमबाध्यत्वं दृढ-
मूलत्वमपि तत्त्वज्ञानस्येत्याह । प्रमाणान्तरानुग्रहाच्च । अन्त-
रशब्दो विशेषवचनः । आत्मादितत्त्वज्ञानं हि फलं प्रमाणविशे-
षैरागमानुमानप्रत्यक्षैरनुगृह्यते तस्माद् दृढमूलत्वात्तदपि तत्त्वज्ञानं
मिथ्याज्ञानं निवर्त्तयतीत्यर्थः । तदेव विभजते । आगमोति ।
एतदेव स्फोरयति । यदा हीति । आगमजेन हि ज्ञानेन प्रमेयं
गृहीत्वा शास्त्रीयेण च न्यायविज्ञानेनानुमानापरनाम्ना व्यवस्था-
प्य भावयतो यदात्ममनःसंनिकर्षाद्योगजधर्मसहायादुत्पद्यते
तत्त्वविषयसाक्षात्कारः प्रत्यक्षफलं तत्र त्रयाणामपि प्रमाणानां
प्रतिसंधानमस्तीति दृढमूलत्वात् तेन मिथ्याज्ञानं बाध्यते ।

विभावयतीति व्याचष्टे । समाहित इति (२५ । ९) समाहितत्वेन
धारणां दर्शयति । अनन्यमना इति प्रत्याहारं, चिन्तयतीति
चेतसो तत्त्वविषयबुद्धिधाराम् । विपर्ययमानत्वम्—ध्यानस्य,
तत्त्वज्ञानस्य स्फुटतरारम्भावस्था । ध्यानजनितभावनासंस्कारो
ध्यानभावना तस्या विवेको मिथ्याज्ञानवासनायाः । पूर्वं हि मि-
थ्याज्ञानवासना तत्त्वज्ञानवासनाया बलवत्यासीदथाभ्यासवशात्
तुल्यबला ऽभवदथेयमेव बलीयसी तत्त्वज्ञानवासनासंभिन्ना मि-
थ्याज्ञानवासनया सहानुवर्त्तते, सम्प्रति तु तत्त्वज्ञानवासनया
असन्तबलीयस्याऽस्याः समूलकापं काषतत्वात् मिथ्याज्ञान-
वासनाया भवति विविक्ता तत्त्वज्ञानवासना तस्यामित्यर्थः ।

नन्वेनेन क्रमेण निवर्त्ततां मिथ्याज्ञानं, निवृत्तं तु साक्षात्कार-
रसमयेऽपि कस्मात् पुनः स्ववासनावशान्न जायते, न खलु
मिथ्याज्ञानवामना अनादिकालप्रवृत्ता आदिमता तत्त्वज्ञानेन
तद्वासनया शक्या निवर्त्तयितुमिष्यत आह । निवृत्ते चोनि । (२५।१४)
तावदेव पुंसां बुद्धयोऽस्थिराः भ्राम्यन्ति स्वोचितं संस्कारजा-
तमातन्वते च न यावद्भूतपर्यं साक्षात् कुर्वन्ति । अथ सा-
क्षात्कृते तत्र स्थिरपदा भवन्ति क्षिण्वन्ति च सवासनान्मिथ्या-
प्रत्ययान् । भूतार्थपक्षपातो हि बुद्धेः स्वभावः । यदाहुर्बाह्या अपि —

“निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।

न बाधोऽयन्नवत्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः” इति ।

तस्माद् मिथ्याज्ञानस्य न पुनरुत्पाद इति ।

उक्तमेवार्थं स्मृतिदाढ्याय पृच्छति । कः पुनरिति ।

(२५ । १५) उक्तं स्मारयितुमुत्तरं सहेति । भवतु

मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तिः सवासनस्य ततोऽपि किमित्यत
आह । मिथ्याज्ञानेति । अत्र पृच्छति । ये तावदिति ।

उत्तरं तेषामपीति । वैराग्यस्वरूपं पृच्छति । किं पुन-
रिति । रागाभावो वैराग्यं, न च तस्मादेव रागादीनाम-

भाव इति भावः । उत्तरम् । भोगानभिष्वङ्गलक्षणमित्यु-
क्तम् । विषयदोषपरिभावनापरिपाकात् खलु विषयपरित्यागे-

च्छा भवति, तथा विराधिगुणेन विषयवृष्णा तत्परिपान्थिनि वि-
द्वेषश्च तदधिकरणाश्लेषादयो निवर्त्तन्ते । असक्तिर्विषयपरित्या-

गेच्छा वशितया च स्वयमुपनतेषु विषयेषु माध्यस्थ्यदर्शनम् ।
दोषाभावे किं भवतीत्यत आह । दोषाभावे इति । पृच्छति ।

का पुनरियमिति । यदि हि जन्मनः प्रवृत्तिः कारणं स्यात्
ततो जन्मनिवृत्त्यै तन्निवृत्तिरर्थेत । न पुनरसौ क्षणिका स-

ती आमुष्मिकाय जन्मने कल्पते अतः किमर्थं निवर्त्यत इति भावः । विदिताभिप्राय उत्तरमाह । धर्म्माधर्म्माः । (२५।२४) कस्मात् पुनरुपचार इत्यत आह । जन्मसाधनत्वात् । एतद्विभजते । नास्मिन्निति । उपचारप्रयोजनं दर्शयित्वा निमित्तमाह । धर्म्माधर्म्मयोस्त्विति । (२६ । १) वर्त्तमानानागतयोरविशेषेण दोषापायान्निवृत्तिरुक्तेति भ्रान्त्या देशयति । यौ तावदनागताविति । परिहरति । नानागतयोरिति । (२६ । ६) अनागताभिप्रायेणैतदित्यर्थः । यद्येवं, वर्त्तमानयोः कुतः प्रक्षय इत्यत आह । वर्त्तमानयोरिति । अस्तु प्रवृत्तेरभावस्ततः किमित्यत आह । प्रवृत्त्यभाव इति । उक्तं विवेकमिहापि योजयति । अत्रापिति । वर्त्तमाननिवृत्तिहेतुं पृच्छति । अथेति । उत्तरं संस्कारेति । श्रुति'स्तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्षये ऽथ सम्पत्स्ये' इति । किं जन्माऽभावे सिद्ध्यतीत्यत आह जन्माभाव इति । अत्रैव वृद्धसंप्रतिपत्तिमाह । एतच्च तदाहुरिति । (२६ । १६) तदेतच्चेति योजना । प्राणनस्य कालभेदावच्छेद आयुः ।

स्यादेतत्—महाप्रलये ऽपि मिथ्याज्ञानादिना दुःखान्तेनास्ति वियोग इति तत्रापि मुक्तिप्रसङ्ग इत्यत आह । सो ऽयं मिथ्याज्ञानादिनेति । (२६ । १७) सर्वत इति । तृतीयार्थे तसिः सर्वेणेति । न च प्रलयावस्थायां सर्वेण वियोगः कर्म्माविद्यावासनयोरविनाशात् । मुक्तौ तु तयोरपि विनाशः । कर्म्मवासना सर्वकार्याणामुत्पादिका ऽवस्थापिका च, तन्निवृत्तौ शरीरादिवत्तत्त्वज्ञानसंस्कारस्यापि प्रलय इत्यशेषविशेषगुणविमुक्तौ मुक्त इत्युच्यत इति सिद्धम् ।

स्यादेतत् । तत्त्वज्ञानान् मिथ्याज्ञानाभाव इत्युक्तम् । किं

पुनस्तत्त्वज्ञानमित्यत उक्तं भाष्यकृता । तत्त्वज्ञानं स्थितिः ।
(२६ १९) । तदनुभाष्य सर्वेषां ज्ञानानां भाष्योक्तानामनुग-
तमेकं स्वरूपमाह । स्वरूपतस्त्विति ।

चोदयति कस्मादिति । (२६/२०) नो खल्वयं प्रेक्षावतां
समाचारो यद् दुःखमिषा सुखपरित्याग इति, अपि तु सुखं
दुःखाद्विभिद्योपाददते दुःखं च वर्जयन्ति । न हि मृगाः सन्तीति
शालयो नोप्यन्ते भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्चीयन्तइति ।
उत्तरम् । विवेकहानस्येति । यद्यपि सुखदुःखे भिन्ने तथा-
प्यनित्यत्वकृतकत्ववत् परस्परानुषङ्गे इति न खलु सुखस्य
केवलस्योपादानं दुःखस्य वा केवलस्य परिवर्जनं शक्यमि-
त्यर्थः । कः पुनरयमनुषङ्गो यतो विवेकहानमशक्यमित्यत
आह । अनुषङ्गो ऽविनाभावः । तत्स्वरूपमाह । यत्रैकं
सुखं वा दुःखं वा तत्रैतरत् सुखं वा दुःखं वा । तदनेनानि-
त्यत्वकृतकत्वयोरिव सुखदुःखयोरविनाभावो दर्शितो न चावि-
नाभावो विना सम्बन्धादिति तत्सिद्धये सम्बन्धविकल्पानाह ।
समाननिमित्तता वा अनुषङ्गो ऽविनाभावः । वाशब्दश्च
वक्ष्यमाणसंबन्धान्तरापेक्षया । अत्र च शरीराद्यपेक्षया समान-
निमित्तता न तु धर्माधर्मापेक्षया । तयोरसाधारण्यादिति
मन्तव्यम् । तयोरविनाभावसिद्ध्यर्थं सम्बन्धान्तरमाह । समा-
नाधारता वा । अपरं सम्बन्धान्तरमाह । समानोपलब्धता
वा । (२७/५) मनोगोचरत्वमुभयोस्ततश्च सिद्धो ऽविनाभा-
वापरनामा ऽनुषङ्ग इति । यत्रैकं तत्रैतरदिति वा । यत्र
यस्मिन्निमित्ते सतीति वा यत्राधार इति वा । यत्रोपलब्धिसा-
धने सतीति व्याख्येयम् । इति सूत्रसमाप्तिं सूचयति ॥ २ ॥
इति प्रथमाद्वितीयसूत्राभ्यामभिधेयसम्बन्धप्रयोजनप्रकरणम् ॥ १ ॥

तदेवं प्रमाणादिपदार्थतत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयससम्बन्ध उक्तः
 परीक्षितश्च । तत्रैतत् स्यात् । स्वपदेभ्यः प्रमाणादयः पदार्था-
 स्तत्त्वतो ज्ञाता यथायथं मिथ्याज्ञाननिवृत्तिक्रमेणापवर्गे उपयो-
 क्ष्यन्ते कृतमुपरितनेन प्रबन्धेनेत्यत उक्तं भाष्यकृता
 त्रिविधा चास्येति । न नामधेयमात्रात् प्रमाणादीनां तत्त्व-
 ज्ञानं भवत्यपि तु लक्षणपरीक्षाभ्यामित्यस्ति प्रबन्धस्यो-
 त्तरस्योपयोग इति भाष्यार्थः । तदेतद्भाष्यमनुभाष्य पृच्छति । प्रवृत्तेरिति । (२७ । ७)
 यदि पुरुषकल्पनामात्रात् त्रैविध्यमथानन्त्यमेव कस्मान्न भवति
 सर्वत्र तस्य सुलभत्वादिति भावः । उत्तरम् अर्थस्य तथा-
 भावात् । अर्थस्य प्रयोजनस्य साक्षाच्छास्त्रकार्यस्य
 तत्त्वज्ञानलक्षणस्य । तथैव त्रिविधैव शास्त्रप्रवृत्त्या भावात् ।
 तथा हि । लक्षणं नाम व्यतिरेकिहेतुवचनम् । तद्धि समानास-
 मानजातीयेभ्यो विभिन्नं लक्षणं व्यवस्थापयति । न चास्य
 धर्मिदर्शनमन्तरेण पक्षधर्मता सिद्ध्यतीति तदुपदर्शनाय नाम-
 धेयमात्रेण धर्मिणामुद्देशः । यद्यपि च प्रतिलक्षणमुद्दिष्टा एव
 धर्मिणस्तथाऽपि शास्त्राभिसम्बन्धपरादपि वाक्यात् समधि-
 गम्यन्त इत्युद्देशोऽप्युक्तः । न चापरीक्षितो हेतुर्व्यतिरेकी
 चतुरूपो भवतीति परीक्षाऽप्यवश्यं कर्तव्या । तस्मात्तत्त्वज्ञानस्या-
 र्थस्य तथाभावात्त्रैविध्यमिति । तदेव विभजते । नामी पदार्था-
 इति । (२७ । ८) किं त्विति । अर्थे स्तत्त्वज्ञानं तथाभूतं
 येनार्थेन हेतुना शास्त्रस्य प्रवृत्तिस्त्रेधा भवति ।

उद्देशस्वरूपप्रतिपादनपरं भाष्यमनुभाष्याक्षिपति । नामधेये-
 नेति । परिहरति । मात्रग्रहणसामर्थ्यादिति । यद्यपि प्रमा-
 नादिशब्दा अपि कारकशब्दा एव, तथाऽप्युद्देशसमये तदर्थानां

३सू० २प्र०] विभागपरस्वापि लक्षणप्रतिपादकत्वम् । ९९

सदपि कारकत्वमविवक्षितम्, अपि तु प्रातिपादिकार्थमात्रम् ।
प्राणादिसूत्रे तु लक्षणपरे कारकत्वं विवक्षितम् । अन्यथा ल-
णत्वायांगादित्यदोषः । अत्र यद्यपि सूत्रकारेण संशयप्रमाण-
प्रमेयेषु परीक्षा साक्षात्कृता न प्रयोजनादिषु, तथा ऽपि तत्कर-
णादेव प्रयोजनादिपरीक्षा ऽपि सूचिता सूत्रकारेणेति त्रिविधे-
त्युक्तम् । अत एव भाष्यकारः सर्वत्रैव परीक्षामावर्तयति ।

स्यादेतत् । विभागपरमेतत् सूत्रमिति वक्ष्यति न च वि-
भागो न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थं एकं किं चिदुपसंग्राहकम-
न्तरेण, न च प्रमाणत्वादन्यत्तदुपसंग्राहकं, न चेदमलक्षितमुप-
संगृह्णाति, न चैतत् सूत्रमस्य लक्षणपरं विभागपरत्वादिति शं-
ङ्कानिराकरणपरं भाष्यं तत्रोद्दिष्टस्येति । तस्यार्थः । यद्यपि
विभागपरमेतत् सूत्रं तथा ऽपि प्रमाणपदसमभिव्याहृतं सत्
सामर्थ्यात् प्रमाणत्वमपि लक्षयतीति । तथा हि । प्रमीयते ऽने-
नेत्यस्य वाक्यस्यार्थे प्रमाणपदप्रयोगः । प्रमा च स्मृतेरन्यो ऽर्था-
व्यभिचारी स्वतन्त्रः परिचोदः । तस्माद्विभागपरादपि सूत्रात्
प्रतीयमानं प्रमाणसामान्यलक्षणमपेक्षितं *संगृहीतमिति प्रमा-
णत्वोपगृहीतानां प्रत्यक्षादीनां युक्तो विभागः । तथा च विभा-
गपरत्वेन साक्षात् सामान्यलक्षणानभिधानाद्विभक्तस्य लक्षण-
मुच्यते इत्युक्तम् । तच्चेदं विशेषलक्षणमिन्द्रियार्थेत्यादि ।

तदेतद्भाष्यं व्याचष्टे । (२७ १५) उद्दिष्टस्येति । लक्षणालक्ष-
णमात्रविवक्षया लक्षितस्यालक्षितस्येत्युक्तम् । तच्छले सामा-
न्यतः, प्रमाणेषु प्रमेयेषु विशेषत इति गमायितव्यम् ।

अत्र भाष्यमथोद्दिष्टस्य त्रिभागवचनमिति । तस्यार्थः
उच्यते ऽनेतेति वचनं सूत्रं विभागस्य । अथेति त्रिवि-

* अपेक्षितं ग्रहीतु मिति पु० पा० ।

प्रवृत्तिव्युत्पादनानन्तरं विभक्तानां प्रतिपादनम्-विभाग-
वचनम् । न च विवेकः स्वरूपत उपयुज्यत इत्यत आह ।
अथोद्दिष्टविभागद्वारेणेति । नात्र विभागमात्रं विवक्षितमपि
तु तद्वारेण न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदस्तत्त्वज्ञानाङ्गमित्यर्थः ।
अव्याख्याने हेतुमाह । सूत्रेति ।

चोदयति । उद्दिष्टविभागानर्थक्यम् । (२७।२०) त्रिवि-
धा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्यस्यानर्थक्यम् । अनर्थमर्थविपर्ययं
कायति कीर्तयतीत्यनर्थकं तस्य भावस्तत्त्वम् । कस्मात् । व्याघा-
तात् । व्याघातमेव स्फोरयति । त्रिविधा चास्य शास्त्रस्ये-
ति । परिहरति । नोद्दिष्टेति । परस्परं विभक्ताः नामधेयमात्रे-
णोद्दिश्यन्ते इत्युद्देशे ऽन्तर्भावात् । तेनायमर्थो भवति सामान्येनो-
द्दिष्टस्य विभागवचनं विशेषेणोद्देश इति । विभागप्रयोजनं पृच्छति ।
किं पुनरिति । उत्तरम् । नियमः । तद्विभजते । यदीति ।
पुनश्चोदयति । लक्षण इति । प्रमाणलक्षणकरणप्रवृत्तो यच्च-
त्वार्येव लक्षयति तत एवाधिगम्यते न न्यूनाधिकानि प्रमाणानी-
त्यर्थः । परिहरति । लक्षणस्येति । (२८।७) आक्षेपं विभज-
ते । स्यादेषेति । परिहारं विभजते । न लक्षणस्येति ।
अन्यपरमपि वाक्यं तदेवार्थलभ्यं स्वीकरोति यत्तेनापेक्षितम् ।
तदेव चापेक्षितं येन विना तदर्थो नोपपद्यते न च प्रत्यक्षादीनां
समानासमानजातीयस्य व्यवच्छेदे पञ्चमाद्यभाव उपयुज्यते ल-
क्षणकरणप्रवृत्तस्य क्वचिदकरणं न तदभावे प्रमाणं सतो ऽप्य-
नुपयोगेनाकरणोपपत्तेः । तदेतदाह । अन्यासम्भवस्येति ।
(२८।११) विभागोद्देशस्य पुनरनन्यपरत्वादन्याभावनिश्चयो
भवतीत्युपसंहरति । तस्मादिति ।

अक्षस्य अक्षस्येति भाष्यमनुभाष्य तात्पर्यमाह । अयं

च सूत्रविवक्षायामिति । (२८।१५) अक्षमक्षं प्रति वर्तत-
 इति विग्रहाव्ययीभावः कृते सर्वोन्द्रियावरोधो भवति । ननु य-
 दीदृशो विग्रहः कस्मात् पुनर्भाष्यकारेणाऽक्षस्याक्षस्येति विग्र-
 ह्यत इत्यत आह । (३०।९) अन्यथा तु वस्तुनिर्देश इति ।
 अर्थमात्रमनेन प्रतिपाद्यते न पुनः समास इत्यर्थः । अथ कस्मात्
 समास एव तेन विग्रहेण न प्रतिपाद्यत इत्यत आह । समासे
 हि अक्षस्येति षष्ठी न श्रूयेतेति । यदि सूत्रगतस्य प्रत्य-
 क्षपदस्याव्ययीभावः समासोऽन्यत्र पुनरस्य कः समास इति
 पृच्छति । कः पुनरिति । उत्तरं प्रादिसमास इति । तथा हि ।
 प्राप्तपन्नालंपूर्वगतिसमासेषु परवाल्लिङ्गताप्रतिषेधादाभिधेयलिङ्गो-
 पादानात् प्रत्यक्षोऽर्थः प्रत्यक्षा बुद्धिः प्रत्यक्षं ज्ञानमित्यभिधेय-
 लिङ्गता सिद्धा भवति । क चित् पाठः समासे हि प्रत्यक्षस्येति
 षष्ठी न श्रूयत इति । सूत्रविवक्षयाऽव्ययीभाव इत्युक्तम् । तत्र
 शङ्कते । कस्मात्पुनः सूत्रविवक्षयेत्युच्यते यावता सर्वत्रैव कस्मा-
 दव्ययीभावो न भवतीति । तत्रेदमुपतिष्ठते । समासे हि अ-
 व्ययीभावसमासे हि सर्वत्र प्रत्यक्षस्येति षष्ठी न श्रूयेतेति ।
 व्युत्पत्तिनिमित्तमात्रं चेदं प्रत्यक्षशब्दस्य न प्रवृत्तिनिमित्तम् । त-
 स्मान्नेन्द्रियगतैर्गुणसामान्यादिभिर्व्यभिचारः । प्रवृत्तिहेतुस्त्व-
 र्थसाक्षात्कारिज्ञानजनकत्वम् । तन्निमित्तः खल्वयं प्रत्यक्षशब्द-
 स्तत्र तत्र लौकिकपरीक्षकैः प्रयुज्यते । मयूरशब्दो मयूरत्वसा-
 मान्यानिबन्धनः कासु चिदेव पतत्रिव्यक्तिषु वर्तमानो मह्यं
 रौतीत्यन्वारूपायते । तदिदं प्रत्यक्षमुद्दिष्टमपि सत् प्रमाण-
 तदाभाससंकीर्णमिति तद्विवेकाय लक्षणमुपयुज्यते । यदि तद्देश-
 पदं तद्विवेचयेत् कृतं तर्हि लक्षणप्रयत्नेन ।

विग्रहवाक्यगता च वृत्तिर्भाष्यकृता व्याख्याता ।

वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा । वृत्तिरिति हि व्यापारः ।
 स तु व्यापार उच्यते यः कारकैः फले जनयितव्ये चरमभावी
 धर्मभेदः फलोत्पादानुकूलो ऽपेक्ष्यते यथा पटे जनयितव्ये
 तन्तुभिश्चरमभाविनः संयोगभेदाः स्वर्गे जनयितव्ये यागेना-
 पूर्वमात्मधर्मः, तथेहापि इन्द्रियादिना प्रमाणेन प्रमायां फले
 प्रवृत्तेन तदुत्पादानुकूलः सन्निकर्षो ज्ञानं वा चरमभावी
 धर्मभेदो ऽपेक्ष्यत इति भवति व्यापारः स एव वृत्तिरित्या-
 रूपायते । व्यवस्थां दर्शयति यदा सन्निकर्षो व्यापार इन्द्रि-
 यादेः प्रमाणस्य तदा ज्ञानमालोचनं वा सविकल्पकं वा
 साक्षात्कारिज्ञानं प्राप्तिः फलम् । उभयस्यापीन्द्रियव्यापा-
 रात् सन्निकर्षापराभिधानादुत्पत्तेः । न चान्तरालिकेन निर्वि-
 कल्पकेनेन्द्रियव्यापारविच्छेद इति प्रत्यक्षव्याख्यानावसरे निवे-
 दयिष्यते । यदा ज्ञानमालोचनं वा विकल्पो वा व्यापार
 इन्द्रियादीनां तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यः फलं तत्रो-
 पादेयमिदं सलिलमिति बुद्धिरनागतोपादानविशिष्टं सलिलमा-
 लम्बमाना न साक्षात्कारवती सलिलमात्रसाक्षात्कारस्तु स्यात् ।
 न च तन्मात्रमस्य फलमपि तूपादेयता, सा च परोक्षा अनाग-
 तत्वात् । तस्मादुपादीयते ऽनेनेत्युपादानम् उपादानं चासौ
 बुद्धिश्चेत्युपादानबुद्धिः तत्र तोयालोचन(१)मथ तोयविकल्पो ऽथ
 च तज्जातीये दृष्टचरपिपासोपशमनहेतुभावस्य स्मृतिबीजसंस्का-
 रोद्बोधः अथ तस्य स्मरणम् अथ लिङ्गपरामर्षः तज्जातीयं
 चेदमिति । तदिदं लिङ्गपरामर्षविज्ञानं साक्षात्कारवत्तुलिङ्गे
 विनश्यदवस्थव्याप्तिस्मरणसहकारि दृश्यमानस्य सलिलस्य पिपा-
 सोपशमनहेतुततया अनुमानमुखेनोपादानबुद्धिरुच्यते । अनुमा-

य खल्वयं (१) तथाभावं तदुपादित्सुः समीहमानस्तदुपादत्ते ।
न च व्याप्तिस्मृतिविच्छिन्नमालोचनं वा विकल्यो वा न लिङ्ग-
परामर्षज्ञानहेतुरिति वाच्यम् । तदुद्बोधितसंस्कारद्वारेण व्याप्ति-
स्मरणे परामर्षे च तस्य तदानीमसतो ऽपि कारणत्वात् । न
च खलु कृषिकर्म सस्याधिगमसमये समस्ति । न च यागादिकं
स्वर्गाद्युत्पत्तिसमये । न च त्रिवृत्कषायपानं विरेकसमये । आन्त-
रालिककार्यपरंपरया तु तत्तत्कार्यसाधनत्वं सर्वत्र समानम् ।

स्यादेतत् । का पुनरियं पिपासोपशमनशक्तिस्तोयस्य या
ऽनुमानगोचरः । न तावन्मीमांसकवदतीन्द्रिया शक्तिरस्माभि-
रभ्युपेयते । किं तु कारणानां स्वरूपं वा सहकारिसाकल्यं वा,
तत्र स्वरूपं हेतूनां प्रत्यक्षमेव सहकारिणां प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां
साकल्यं कार्यसमुत्पादव्यञ्जनीयं न तु तत्तोयरूपमात्रदर्शना-
च्छक्यानुमानं, तत्किमपरमवशिष्यते यदनुमानस्य गोचर इति ।
अत्रोच्यते । न वयमतीन्द्रियं सामर्थ्यमातिष्ठामहे नापि सहकारि-
साकल्यानुमानं किन्तु स्वरूपस्य कार्यसंबन्धिताम् । न चेयं
स्वरूपमेव इहस्थस्येव नारिकेलद्वीपादागतस्यापि (२) बहिर्दर्शनमा-
त्राद् दाहकत्वाव(३)गमप्रसङ्गात् । तस्मात् कार्योपहितं स्वरूपम-
नुमेयम् । इदमेव चास्य कार्योपधानं यत्कार्योत्पादात्पूर्वमवश्यं
भावः आनन्तर्ये त्वनियमः । न च तज्जातीयस्य दृष्टचरस्य
तथाभावदर्शने ऽपि दृश्यमानस्य तोयस्य तद्दृष्टं भवति येन
तत्र स्मर्येत । न खलूज्जयिन्यामुपलब्धस्य सौधस्य पाटलिपुत्रे
स्मरन्त्यभ्रान्ताः । उपादानेन हानं व्याख्यातम् । न चोपेक्षा
ऽनुपादानतया हानपक्षे निःक्षिप्ता । अहानतयोपादानपक्षनिः-

(१) अनुमिमानः स्वरूपं इति पु० पा० ।

(२) बहिर्दर्शन इति पु० पा० । (३) ग्राहकत्वा० इति पु० पा० ।

क्षेपप्रसङ्गात् । उपादानप्रयत्नाप्रसवहेतुतया नोपादानमिति चेत् ?
 किमियं हानप्रयत्नमपि प्रसूते यतो हानं स्यात् । तस्माद् या नो-
 भयप्रयत्नप्रसवहेतुः सोपेक्षाबुद्धिस्तृतीया लोकप्रसिद्धेति सिद्धम् ।
 प्रत्यक्षपदव्युत्पत्तिं दर्शयित्वा अनुमानादिपदेष्वपि व्युत्पत्तिं
 दर्शयति एवमनुमानादिष्वपि इति । तत्रेदमनुमानव्युत्पत्ति-
 परं भाष्यं मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनो ऽर्थस्य पश्चान्मान-
 मनुमानामिति । मितिर्मानं तथा च लिङ्गदर्शनोद्बोधितसं-
 स्कारजा स्मृतिर्विभिन्ना तस्याः मितेरन्यत्वेन लोकसिद्धत्वात् ।
 मितेनेत्यज्ञानसंदेहविपर्ययासा लिङ्गविषया निरस्ता भवन्ति ।
 तथा ऽपि मितेनार्थस्य ज्ञानं शब्दे ऽप्यस्तीत्यत उक्तं लिङ्गेनेति ।
 अपक्षधर्मतां निवर्त्तयति लिङ्गिन इति । धर्मिणः प्रत्यक्षगो-
 चरत्वात् कृतमनुमानेनेत्यत उक्तमर्थस्येति । अर्थ्यते साध्यते
 इत्यर्थः न हि धर्मी स्वरूपेणाध्यते किं तु जिज्ञासितधर्मवि-
 शिष्ट इत्यर्थः । पश्चादित्यनुशब्दस्य व्याख्या । तदेतज्ज्ञाप्यमनु-
 भाष्य आक्षिपति मितेति (२८।२०) कस्मादयुक्तम् इत्यत
 आह । फलाभावादिति । एतद्विभजते । एतस्मिन्निति ।
 अनुमानज्ञानस्य फलावस्थायामेवार्थो मितइति मेयं नावशिष्यते
 यत्रैतत् सिद्धं सत्प्रमाणं भवेदित्यर्थः । तत्र फलविशेषपक्षमा-
 स्थाय यत इत्यध्याहृत्य समाधत्ते नैष दोष इति । (२८।२२)
 अनध्याहारेणाप्यदोष इति समाधानान्तरमाह । भवतु चेति ।
 (२८।२३) पूर्वोक्तदोषं स्मारयति । ननु चेति । परिहरति ।
 न दोष इति । अथ कस्माद्दानादिविषयं प्रमाणमुच्यते न
 स्वगोचरं प्रतीत्यत आह । सर्वं च प्रमाणमिति । (२९।१)
 यद्यपि बह्विज्ञानस्यानुमानस्य सतो हेयत्वादिकं विषयस्तत्रैव
 तस्य प्रामाण्यात् । अन्यथा प्रमाणफलयोर्भिन्नविषयत्वेन विप्रति-

प्रत्या प्रमाणफलभावायोगात् । न हि पनसविषयेषु परशुना
खदिरे द्वैधीभावो भवति । तथा ऽपि फलान्तरानपेक्षमुत्पत्तावेव
विज्ञाने यत्प्रकाशते स तस्य विषयः तत्र तु न प्रमाणं फलान्त-
राजनकत्वात्, अपि तु फलमेवेत्यर्थः । विषयान्तरं प्रति तत्प्र-
माणमित्याह । विषयान्तरमिति । देशयति । यदीति । (२९।
३) भावसाधनश्चेत् प्रमाणशब्दः फलमस्यार्थो न तु फलं
स्वविषये करणन्तज्ज्ञानस्य तज्जनकेनैव कृतत्वात् । न च स्व-
विषयादन्यदस्य विषयान्तरं सम्भवति अतिप्रसङ्गादिति भावः ।
परिहरति । उक्तं फलमिति । यद्यपि यत्र फलं सो ऽस्यौ-
त्पत्तिको विषयस्तथा ऽपि यत्रानेन प्रमाणेन सता हानादिबु-
द्धयो जनयितव्याः सो ऽपि व्यापारेण विषय इति भावः ।
फलत्व एव हेतुमाह । ज्ञातइति । (२९। ५ । परोक्षार्थावगा-
हितया हेयादिबुद्धयः प्रत्यक्षफलं न भवन्ति भवन्ति त्वनुमा-
नस्येति ।

नियमवादिनां मतमुपन्यस्य दूषयति । केचित् त्वि-
ति (२९। ६) अनियमं रोचयमान आह । उभयं त्विति ।

अनुमानशब्दवत् फलेन निर्वचनीयत्वमुपमानशब्दस्येति
मन्वान आक्षिपति । सामीप्येति ! समाधत्ते । नास्ति व्या-
घात इति (२९। ९२) नेयमुपमानशब्दस्य फलेन नि-
रुक्तिरपि तु प्रमाणेन निरुक्तिरिति न व्याघात इत्यर्थः ।

शब्दविषया प्रतिपत्तिः शाब्दं प्रमाणम् । यत् खलु चैत्र
गां वधानेति वाक्यमिदमित्यनुसंधानात्मकं स्मार्त्तं ज्ञानमुपजा-
यते तत्पदार्थस्मरणसहकारि विशिष्टार्थविषयं विज्ञानं प्रसूते त-
ज्ज्ञाब्दं प्रमाणम् । प्रमाणमुक्त्वा फलमस्याह । फलं तदेव ।
यदा हेतव प्रमाणं तदा वाक्यार्थविज्ञानं फलं यदा ऽनुमान-

वद वाक्यार्थविज्ञानं प्रमाणं तदा हानोपादानादिबुद्ध्यः फलमित्यर्थः ।

अत्र प्रत्यक्षादीनां क्रमोद्देशप्रयोजनं प्रत्येकदेशिमतमुपन्यस्यति । के चित्तिवाति । (२९ । १७) प्रत्यक्षपरा हि प्रमाणान्तरजन्याः प्रामितय इति प्रत्यक्षस्य प्राधान्यम् । यद्यपि किं चिदनुमानमनुमानपूर्वकमपि तथा ऽपि प्रायेण प्रत्यक्षपूर्वकम्, उपमानं तु प्रत्यक्षपूर्वकमपि शब्दपूर्वकमेवेत्यस्यानुमानादपकर्षः । स्मरणसहकारिता ऽनुमानसादृश्यमुपमानस्यास्तीति अनुमानानन्तरमुद्देशः । अल्पज्ञानाधीनं च बहुज्ञानमित्यल्पविषयप्रत्यक्षाद्युद्देशेभ्यः परो बहुविषयशब्दोद्देश इति ।

तदेतदेकदेशिमतमेकदेश्यन्तरमतेन दूषयति । तच्चायुक्तमित्यपर इति । (२९ । २२) अक्लिष्टो हि प्रथमं महाविषयमेव दुरवधारणत्वान्निरूपयति । अल्पविषयं तु क्लिष्टो ऽपि शक्तो निरूपयितुम् । अतो महाविषयत्वं प्राथम्य एव हेतुर्न चरमत्व इत्यर्थः ।

अनन्तरमतं दूषयति । एतच्चेति । (२९ । २३) । एतावता क्रममात्रं भवेन्न तु तद्विशेषनियम इत्यर्थः ।

संप्रति विमर्षपूर्वं स्वाभिमतं क्रममनियमहेतुमवधारयन्नेव पूर्वैकदेशिमतमपाकरोति । तस्मादन्य इति । (३० । १) विमर्षनिमित्तां विप्रतिपत्तिमाह । प्रत्यक्षं पूर्वं प्राधान्यादित्येकः महाविषयत्वाच्चादौ शब्दोपदेश इत्यपरः । तत्र महाविषयत्वमनैकान्तिकं सन्नागमस्यैव पूर्वोपदेशं गमयतीत्याह । उभयमिति । पृच्छति । कथमिति । उत्तरं प्रत्यक्षेणापीति । महाविषयत्वलक्षणसाधर्म्यदर्शननिमित्तं सन्देहमाह । तच्चेति । अभिमतेन हेतुना क्रमविशेषनियममवतारयति ।

प्रत्यक्षस्येतीति । यद्यपि प्रमितेः प्रत्यक्षपरत्वेन प्रत्यक्षस्य प्राधान्यं तथा ऽपि शास्त्रे व्युत्पाद्यत्वेनानुमानस्यापि तदस्तीति साधारणतया न हेतुरिति भावः ।

स्यादेतद् व्यवस्थितविषयं प्रत्यक्षं नानुमानविषये प्रवर्तते न चानुमानमगृहीतसम्बन्धमुदेति । न च सम्बन्धग्रहः सम्बन्धिग्रहणमन्तरेण । न चानुमानविषये सामान्यरूपे सम्बन्धिनि प्रत्यक्षं प्रवर्तते । अनुमानान्तरेण ग्रहणे ऽनवस्था, तस्मात् कारणाभावान्नानुमानमस्ति । एतेन शब्दोपमाने अपि परास्ते तयोरपि सम्बन्धवेदनाधीनजन्मत्वात् । तस्मान्नाप्रत्यक्षं प्रमाणमिति विभागवचनमनुपपन्नमिति शङ्कापनेतुं विमर्षपूर्वकं विचारयति स्म भाष्यकारः किं पुनः प्रमाणानीति । तदेतद्भाष्यमनुभाष्याव्याख्याने हेतुमाह किं पुनरेतानीति । (३०।७)

सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरेति भाष्यं तदनुभाष्य हेतुमाह । सेयमिति । आकाङ्क्षाभावप्रतिपादनाय प्रतीतिस्वरूपं क्रमं चाह । यथा ऽयमिति । आहित उत्पादितः । प्रत्ययो निश्चयो यस्य संसर्गोपधानं वह्निं प्रति स तथा । सन्दिग्धेन हि निश्चयाय प्रवर्तितव्यमेवानिश्चितस्तु विनिश्चयाय प्रमाणान्तरे प्रवर्तमानस्तदभ्यर्हिततरं मन्यते । धूमाङ्गत्वेनेति । (३०।१२) अङ्गत्वं व्यापकत्वम् । व्याप्यं पुनर्व्याप्तिक्रियायां कर्मत्वेन प्रधानम् । तदनेन धूमव्यापकत्वोपधानेन धूमाद्भ्रममानो वह्निः परोक्ष इति दर्शितम् । अनुपाहितप्रकाशस्तु प्रत्यक्षेणाव्यवहितवह्निस्वरूपप्रकाशः स हि साक्षात्कार इति । तावदयं प्रमाता साकाङ्क्षो यावदुपधानव्यवहितं स्वरूपमुपलभते । उपधानानपेक्षस्तु प्रत्यक्षेणाव्यवहितं साक्षाद् वह्निं विषयीकृत्य निराकाङ्क्षो भवति ।

धूमाङ्गत्वेन धूमविशेषणत्वेनेति के चित् । तत्तु* प्रकृतानुपयोगितया ऽयुक्तमिति । उपसंहरति । अतः प्रधानमिति । (३२ । ६) । सो ऽयं गुणप्रधानभावो भेदाश्रयो व्यवस्थायां नास्ति व्यवस्थितानां प्रत्येकमकत्वात् । तस्माद् व्यवस्थायां गुणप्रधानभावो न चिन्त्यतइति । इति सूत्रसमाप्ता ॥ ३॥

(इतिप्रमाणविभागप्रकरणम्)

इति न्यायत्रिसूत्रीतात्पर्यटीका समाप्ता ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणविशेषलक्षणानामर्थसिद्धिसामान्यलक्षणविभागोद्देशहेतुत्वेन तदनन्तराभिधानमित्याह । अथ विभक्तानामिति । (३२ । ७) तत्र—तेषु मध्ये । प्राथम्यात् प्रत्यक्षलक्षणम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यादि सूत्रम् । अस्य तात्पर्यमाह । सूत्रार्थः सूत्रप्रयोजनम् । समानासमानजातीयविशेषकत्वम् । समानजातीयमनुमानादि असमानजातीयम् प्रत्यक्षाभासप्रमेयादि तेभ्यो विशेषकत्वं विशेषस्तदस्य सूत्रस्य प्रयोजनम् । यः खलु कुतश्चिद् व्यामोहाद् समानासमानजातीयव्यावृत्तं तद्रूपं न शक्नोति ग्रहीतुं सो ऽनेन लक्षणेन बोध्यते एवंलक्षणकं प्रत्यक्षमिति । तस्मात्सामान्यतः सिद्धविविक्तप्रत्यक्षमात्रानुवादेन लक्षणविधानपरमिदं सूत्रम् । इतस्त्ववगतलक्षणस्तेनैव विविच्य प्रत्यक्षतत्त्वं गृह्णातीति समानासमानजातीयव्यवच्छेदः सूत्रार्थ उक्त इति । अत्र च यत इत्यध्याहृत्य यत्तदोचित्याभिसम्बन्धात् तत्प्रत्यक्षमिति प्रमाणवाचि प्रत्यक्षपदं योजनीयम् । एवं च ज्ञानप्रामाण्यमते ऽपि यत्तद्विशेष्यज्ञानं प्रत्यक्षफलं लिङ्गपरामर्शो वा तदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वाद्युपेत-

त्वेन भवति प्रमाणविशेषणमिति नाव्यापकत्वं लक्षणस्येति ।

सूत्रपदार्थं पृच्छति । अथोति (३०।२१) उत्तरम् । इन्द्रियेति । सन्निकर्षग्रहणलभ्यं प्रकारभेदं परिसंचष्टे । सन्निकर्षः पुनरिति । (३१।१) पुनः शब्देन संयोगसमवायपदोपादानाद् व्यवच्छिन्नान्ति । संयोगपदोपादाने हि न समवायो लभ्यते समवायपदोपादाने वा न संयोगः । सन्निकर्षपदोपादाने त्वभिमतलाभः । अर्थग्रहणेनार्थमानतया ज्ञेयस्वरूपयोग्यता दर्शिता । न चासावन्वाकाशादीनामस्तीति सत्यपि संयोगादौ नासावर्थसन्निकर्ष इति तद्व्युदासः । उत्पन्नग्रहणेन च सन्निकर्षस्योत्पादकत्वं सूचितं ततः समन्वयस्वरूपयोग्यत्वे संयुक्तसंयोगादेरनुत्पादकस्य सन्निकर्षस्य व्युदासः । अन्यथा कुड्यादिसंयुक्तेनेन्द्रियेण कुड्यादिव्यवहितस्य तत्संयुक्तस्य पटादेस्तत्समवेतस्य च रूपादेरपि ग्रहणप्रसङ्गः । न चैतावता त्रिविध एव सन्निकर्षः संयोगः संयुक्तसमवायः समवायश्चेति सांप्रतम् । स्वतन्त्रव्याघातादनुभवव्याघाताच्च । ये हि गुणकर्माश्रयं सामान्यातिरिक्तं सादृश्यमर्थान्तरं रोचयन्ते तेषां कथं रूपादिभेदानामन्योन्यस्य सादृश्यं प्रत्यक्षं भवेद् न हि तदिन्द्रियेण संयुक्तम् । नापीन्द्रियसंयुक्तसमवेतम् । नापीन्द्रियसमवेतम् । तस्माच्चतुर्थः संयुक्तसमवेतसमवायो ऽभ्युपगन्तव्यः इतरथा स्वतन्त्रव्याघात इति । अनुभवव्याघातश्च । अनुभूयन्ते हि रूपत्वगन्धत्वादयः सामान्यविशेषा अनुगतास्तासु व्यक्तिषु परस्परव्यावृत्तिमतीषु, एते नानुभूयेरन् असति सन्निकर्षान्तरे । यदि तु वैयाख्याद् ब्रूयान्नानुभूयन्त एवेति तदा प्रतिवक्तव्यं कुतस्तयो ऽयमनन्तासु रूपगन्धादिव्यक्तिषु रूपमिति वा गन्ध इति वा व्यपदेशभेदः । चाक्षुषत्वाद्युपाधिनिबन्धन इति चेद्

नाननुमंहितोपाधेरुपहितप्रत्ययायोगात् । न खल्वननुसंहितद-
दण्डश्चैत्रं दण्डीति व्यपदिशति । न चेन्द्रियाण्यतीन्द्रियाणीन्द्रि-
यदर्शनविषयभावमनुभवन्ति । तस्मादस्तीन्द्रियेण रूपत्वादि-
सामान्यानुभवो यन्निबन्धनाः कासु चिदेव व्यक्तिषु के चिदेव
व्यपदेशभेदा इति सिद्धं सन्निकर्षान्तरम् । विशेषणभावेन च
संयुक्तविशेषणं ससवेतविशेषणं च संगृहीतम् ।

यस्येन्द्रियेण यादृशः सन्निकर्षः तादृशं तत्र दर्शयति ।
तत्र चक्षुरिति (३१ । ३) । शब्दस्याकाशगुणकत्वं क-
र्णशष्कुल्यवाच्छिन्नस्य नभोभागस्य श्रोत्रत्वम् आद्यस्यैव शब्दस्य
संयोगविभागयोनिजत्वं संतानेन श्रोत्रे समुत्पादः समवाय इ-
त्यादि द्वितीये निपुणतरमुपपादयिष्यते ।

अवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिजातिमन्तौ
च मिथः संबद्धावनुभूयेते नान्यथा तन्तुषु पट इति शुक्लः पट इति
पटः स्पन्दत इति च पटो द्रव्यमिति च बुद्धिव्यपदेशौ स्याताम् ।
शुक्लः पट इत्यादिसामानाधिकरण्यज्ञानं न हि संबन्धज्ञानमिति
चेत् किं पुनरिदं सामानाधिकरण्यम् । तादात्म्यमिति चेद् न ।
द्वितीयबुद्धिव्यपदेशयोः पौनरुक्त्यात् । अपौनरुक्त्यं चाभिमन्य-
न्ते प्रतिपत्तारः येनान्यतरदुपलभ्यान्यद्वुभुत्सन्ते । न चैकं व-
स्तु आत्मकमिति युक्तं भेदाधिष्ठानस्य तन्नान्तरीयकस्य द्वित्व-
स्यैकात्मनि विरोधेनासंभवात् । तस्माद्भिन्ने एव वस्तुनी संबद्धे
सामानाधिकरण्येन प्रतीयेते । असंबन्धे गौरश्च इतिवत्तदनुपप-
त्तेः । संबन्धे ऽपि कुण्डे दधीतिवद्वैपधिकरण्यप्रसङ्ग इति चेद्
न । शब्दवृत्तिभेदेन संबन्धाभेदे ऽपि सामानाधिकरण्यवैयधिक-
रण्यव्यवस्थापनात् न हि जातु दधिशब्दः कुण्डे वर्तते कुण्डश-
ब्दो वा दधि । वर्तन्ते तु सुरभिमधुरशुक्रादिशब्दाः स्वाभिधेयं

निमित्तीकृत्य पटादिष्वेवं पटादिशब्दा अपि जात्यादि निमित्ती-
कृत्य द्रव्ये प्रवर्तन्तइति सामानाधिकरण्यं तेन सामाना-
धिकरण्ये ऽपि प्रवृत्तिनिमित्तानां नैकात्म्यं परस्परं नापि
द्रव्येण, किं तु तैस्तैरन्वितमेकं द्रव्यं प्रतीयते । शब्दा-
नां तु तत्रैकस्मिन्प्रवृत्तेस्वद्राच्यानामैकात्म्यभ्रमः । अयुत-
सिद्ध्या तु कुण्डे दधीतिवन्न स्फुटतरो विवेकप्रकाशः । तदेवम-
स्ति संबद्धानुभवो न चासौ सम्बन्धानुभवं विनेति संबन्धोऽनु-
भूयते स चायुतसिद्ध्यादिसंपत्त्या समवायो न चास्यान्यः स-
मवायो ऽनवस्थानात् । न चेन्द्रियेणास्य संयोगो ऽद्रव्यत्वात् ।
न चासंबद्धस्य ग्रहणम् इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वसमर्थनात् । त-
स्माद्विशेषणविशेष्यभावः परिशिष्यते । नन्वयं विशेषणविशेष्य-
भावो ऽन्यत्र सम्बन्धान्तरपूर्वको दृष्टः, तत्किमत्र सम्बन्धान्तरं
कल्प्यतां तथा चानवस्थेत्युक्तं । न चेन्द्रियासंबद्धस्य ग्रहणं तस्मा-
द्विना सम्बन्धान्तरं विशेषणविशेष्यभाव एषितव्य इति सिद्धम् ।
एवमभावे ऽपि यदिन्द्रिय*संयुक्तं वा यदिन्द्रियसंबद्धं वा यथा
भूतले घटो नास्तीति वा नास्त्यकारे अनुदात्तस्वर इति वा त-
स्य संयुक्तस्य वा विशेषणभावेन समवेतस्य विशेषणभावेन चे-
न्द्रियप्रत्यासत्त्या ग्रहणम् । न च भूतलादिरूपमेव घटाभावो
नार्थान्तरमिति सांप्रतम् । सत्यपि घटादौ भूतलस्य भावात् ।
न च कैवल्यं तस्य धर्मो घटभावविरोधी घटाभावादप्यः ।
न च दृश्ये घटादौ भूतलोपलम्भः कैवल्यमभावव्यवहारहेतु-
रिति युक्तम् । एवं हि घटसंसृष्टभूतलग्नो ऽपि कैवल्यमिति
घटाभावव्यवहारं प्रवर्तयेत् । न ह्यदृश्यो घटस्तदानीं दृश्यमानः ।
दृश्ये अनुपलभ्यमाने इति तु विशेषणे किमपराद्धमुपलभ्या-

भावेन, तदपाकरणायोपलम्भाभावो ऽभ्युपेयते । तस्मात्स-
 दिवासदपि तत्त्वमभ्युपेयम् । तच्च प्रत्यक्षमिन्द्रियव्यापारे सति
 तत्प्रत्ययात् । न च प्रतियोगिस्मरणव्यवहित इन्द्रियार्थसंनि-
 कर्षो नालम्भावधियमुपजनयितुमिति साम्प्रतमित्यग्रे दर्शयि-
 ष्यामः सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वसिद्धौ-यथा शब्दस्मरणपूर्व-
 गृहीतपिण्डानुसन्धानादयो नेन्द्रियव्यापारं व्यवदधतीति । न च
 शब्दस्मरणादीनाम् अनुयोगिता भूतलविकल्पकं प्रत्यङ्गत्वात्
 स्वाङ्गमव्यवधायकमिति न्यायाद् घटस्य तु प्रतियोगितेति सांप्र-
 तम् । कस्य पुनः प्रतियोगी घटः । तदभावस्वेति चेद् भवतु घ-
 टाभावानुभवस्य तु घटस्मरणं हेतुरिति न प्रतियोगि, किं तु अनुया-
 ग्येव । ननु स्वरूपमात्रदृष्टं वेदपाद्यर्थं स्मरन्नेव बहिर्निर्गतश्चैत्रो यदा
 पृच्छयते केन चिद्व्यस्य ! तत्र गृहे तदा किमासीन्मैत्र इति स चै-
 त्रः प्रतियोगिस्मरणविरहात्पूर्वमप्रातिपन्नमैत्राभावो ऽपि तत्प्रश्न-
 जनितमैत्रस्मृतिः क्षणं ध्यात्वा तदभावमवगम्याह मित्र नासी-
 न्मैत्र इति तदियमसतीन्द्रियार्थसंनिकर्षे ऽभावबुद्धिर्भवन्ती प्रत्य-
 क्षाद्यतिरिक्तमभावारूपं प्रमाणं व्यवस्थापयतीति । नैतत् । सं-
 युक्तविशेषणतालक्षणेन मनःसन्निकर्षेण स्मर्तव्यस्य स्मरणाभावं
 मैत्रस्य गृहीत्वा तेन लिङ्गेन तदभावस्य तदानीमनुमानात् । तथा
 हि । तद्गृहं तदा मैत्राभाववज् ज्ञानार्हस्य मैत्रस्याज्ञाने गृहस्य
 ज्ञायमानत्वात् । यद्यस्य ज्ञानार्हस्याज्ञाने ज्ञायते तत्तदभाववत् ।
 यथा घटाभाववद्भूतलं तथा च गेहं तस्मात्तथा । न च यत्कदा-
 चिदानुमानिकं तेनेन्द्रियगम्येन न भवितव्यम् । प्रमाणसंप्लव-
 वस्थापनात् । तत्सिद्धं विशेषणभावादभावस्येन्द्रियप्रमेयेतति ।
 संयोगसमवायपदपरिहारेण संनिकर्षपदोपादानस्य प्रयो-
 जनमाह सो ऽयं सन्निकर्षशब्द (२१ । २२) इति ।

४सू० ३प्र०] प्रत्यक्षकारणान्तरानभिधानेकारणम् । ११३

(अनुपलब्धिप्रमाणखण्डनम् ।)

तदनेन प्रबन्धेनेन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षाद्यदुत्पद्यते ज्ञानं तत्प्र-
त्यक्षमिति भाष्यं व्याख्यातम् । सम्पत्ति न तर्हि इति चोद्यभाष्यं
व्याचष्टे यदीन्द्रियार्थेति । प्रत्यक्ष (ज्ञान) कारणाभिधानप्रवृ-
त्तस्तदेकदेशं वदन्नकुशलः सूत्रकारः स्यादित्यर्थः । कारणान्तराणि
दर्शयति । तद्यथेति । (३२ । १) विषयसंयोगि चक्षुरालोकश्च त-
त्स्थं रूपमात्मीयेन हि रूपेणालोकचक्षुषी द्रव्यं दर्शयत इति स्थितिः ।
महत्त्वं वा ऽनेकद्रव्यवत्त्वं वा अनेकद्रव्या अवयवास्तद्रूपमवयवि-
नो महत एव, न व्यणुकस्य, तस्मादन्योन्यनिरपेक्षत्वं महत्वानेक-
द्रव्यवत्त्वयोरिति विकल्प एव न्याय्य इति । सत्यप्येवंलक्षणकत्वे
चक्षुरवयविनस्तैजसस्य न चाक्षुषत्वमित्यत उक्तम् । उपलब्धि-
फलः संस्कार इति । (३२ । ३) धर्माधर्मनिमित्त उद्भवसमा-
ख्यातः संस्कार उपलब्धिफलो, न चासौ चक्षुषि, तस्यादृष्टव-
शेनानुद्भूतरूपस्पर्शत्वादित्यर्थः ।

परिहरति न वक्तव्यानीति । (३२ । ६) प्रत्यक्षल-
क्षणप्रवृत्तो हि सूत्रकारस्तदेव ब्रूयात् यदस्यासाधारणं, न तु
सदपि साधारणमस्य कारणं, न हि तत्तस्य लक्षणमतिव्या-
प्तेरित्यर्थः । तदनेन नेदमित्यादिभाष्यं व्याख्यातम् ।

असाधारणं कारणं चेत्प्रत्यक्षलक्षणायोपादेयं हन्तान्यदप्य-
स्यासाधारणमस्ति कारणमिति तदप्युपादेयमिति देशयति ।
इन्द्रियमनःसंयोगस्तर्हीति । (३२ । ९) तदनेन मनस-
स्तर्हीत्यस्य भाष्यस्यार्थ उक्तो वेदितव्यः ।

परिहरति । न अनेनैव इन्द्रियार्थसन्निकर्षेणैव । तस्ये-
न्द्रियमनःसन्निकर्षस्योक्तत्वात् । एतदुक्तिसाध्यं यत्तत्तेनैव

कृतं तत्साध्यं त्विन्द्रियमनःसन्निकर्षो न शक्नोति साध-
यितुम् । न च सुखज्ञाने मानसे अस्तीन्द्रियमनःसन्नि-
कर्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्तु सर्वव्यापकः । वक्ष्यति हि मनस इ-
न्द्रियत्वं सुखादेश्वार्थत्वं सिद्धमेवेति । संप्रति व्यापकत्वमभ्युपे-
त्य परीहारान्तरमाह इन्द्रियार्थेति । यद्यपीन्द्रियमनःसन्निकर्षे
ऽपीन्द्रियमस्ति प्रत्यक्षज्ञानस्य विशेषकमिन्द्रियेण व्यपदेशाद् इ-
न्द्रियार्थसन्निकर्षे तूभयमपि विशेषकम् उभाभ्यां प्रत्यक्षज्ञानस्य
व्यपदेशादित्ययमस्येन्द्रियमनःसन्निकर्षाद्विशेष इति ।

चोदयति यदा त्विति । (३२।२१) तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति ।
युञ्जानस्य हि योगिनो यदात्ममनःसंयोगादात्मनि बुद्धयो भवन्ति
ताः खल्व्वात्मना व्यपदिश्यन्ते आत्मबुद्ध्य इति । मनसा च व्य-
पदिश्यन्ते मनोबुद्ध्य इति । तस्मादुभाभ्यां व्यपदेशादुभयोर्विशे-
षकत्वमितीन्द्रियार्थसन्निकर्षवदात्ममनःसन्निकर्षो वक्तव्य इत्यर्थः ।

परिहरति । यच्चेति । चोऽवधारणे । यदेवासाधारणं तद्व्य-
पदेशभागभवति कारणत्वेन तेन व्यपदिश्यत इत्यर्थः । परिहरति*
एतदुक्तं भवति । यथा चक्षुषा इन्द्रियेण ज्ञानं व्यपदिश्यते
चाक्षुषमिति तथा मनसा ऽपीन्द्रियेण व्यपदिश्यते ज्ञानं मानस-
मिति । एवं यथा रूपेणार्थेन व्यपदिश्यते ज्ञानं रूपज्ञानमिति
तथा आत्मना ऽप्यर्थेन व्यपदिश्यते आत्मज्ञानमिति । तत्र
चासाधारणत्वमेव तयोः । यत्र त्विन्द्रियान्तरमेवासाधारणं
लिङ्गादि वा तत्रात्मा नार्थो ऽपि तु प्रमातैव । तथा रूपादि-
ज्ञाने ऽनुमादिज्ञाने वा न तत्र ज्ञानं मानसमिति वा आत्मज्ञान-
मिति वा व्यपदेशः । स कस्य हेतोः । तयोः साधारण्यात् ।
आत्ममनःसन्निकर्षस्त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षेण संगृहीतो न त्विन्द्रि-

यार्थसन्निकर्षस्यैव संग्राहको ऽव्यापकत्वादिति ।

एकदेशिनः परीहारमुपन्यस्यति । इन्द्रियमनः संयोगस्य वा ऽग्रहणं भेदे ऽभेदात् । (३२।२४) यदा हि नगरयोषितः कुतूहलात् प्रणिहितमनसो विकसितनिःस्पन्दयनोत्पलाः सौधमालागवाक्षकैरवनिपतिं सबलवाहनमतिचिरप्रोषितपरावृत्तं गोपुरेण निविशमानमालोकयन्ति तदा खलवासामेकेनैवेन्द्रियमनःसंयोगेन क्रमवदनेकेन्द्रियार्थसन्निकर्षसहकारिणा भिन्नक्रमवन्ति हास्तिकाश्चीयादिप्रत्यक्षज्ञानानि जायन्ते । तदिमाह यस्मादिति । देशयति । यदीति । (३३।२) यदा हि मन्दं गच्छति गवि दूरतः संयुक्तसमवायेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण शुक्लो गौरित्यज्ञासीद् अथ प्रत्यासीदन् गच्छतीत्यपि विजानाति तेनैव संयुक्तसमवायेन सन्निकर्षेण तेन प्रत्यक्षज्ञानस्य शुक्ल इति च गच्छतीति च भेदे ऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षो न भिद्यते । तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षेण तुल्यत्वादिन्द्रियमनः संयोगोपि तत्र वक्तव्य इत्यर्थः । परिहरति । न वक्तव्यः । कुतः । उक्तोत्तरत्वादिति । तद्विभजते । उक्तेति । ननु भवत्युक्तमुत्तरं भेदे ऽभेदादित्यस्याक्षेपः समाधातव्य इत्यत आह अनभ्युपगमाच्च । एकदेशिमतमस्माभिर्नाभ्युपेयते तस्मान्न समाधेयमित्यर्थः ।

तत्किमिदानीं भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यते इति समानत्वान्नोक्त इति भाष्यमनुपपन्नमेव ? नेत्याह । इन्द्रियमनःसंयोगस्य चाग्रहणं समानत्वात् । पृच्छति केनेति । उत्तरमात्ममन इति । पुनः पृच्छति । किं पुनः समानत्वम् । उत्तरं व्यपदेशाभाव इत्युक्तम् । तेन भाष्यस्यायमर्थः प्रत्यक्षज्ञानस्य रूपज्ञानस्य रूपज्ञानमिति वा चक्षुर्विज्ञानमिति वा व्यपदेशेन भिद्यमानस्यात्ममनःसंयोग इवा-

यमिन्द्रियमनःसंयोगो न भिद्यते । एवं हि स भिद्येत यदि स्वसम्बन्धिवाचकेन व्यपदेशेन स्वमन्यतो व्यावर्त्य तेन विशेषणेन विशिष्टं विशेष्यं ज्ञानमप्यन्यतो व्यावर्त्येत्, न त्वास्ति इन्द्रियमनःसन्निकर्षाधाराभ्यामिन्द्रियमनोभ्यां प्रत्येकमस्य व्यपदेशो यथेन्द्रियार्थसन्निकर्षाधाराभ्यामिन्द्रियार्थाभ्यां व्यपदेशो रूपज्ञानमिति चक्षुर्ज्ञानमिति वा । तस्माद्व्यपदेशाभाव आत्ममनःसन्निर्षेण साम्यमिन्द्रियमनःसन्निकर्षस्य तस्मात्समानत्वान्नोक्त इति ।

प्रकारान्तरं समानत्वे दर्शयति । अतीन्द्रियाधारत्वावेति । (३३ । ८) लक्षणं हि प्रसिद्धं भवति यथा धूमो वह्नेः । न चातीन्द्रियद्रव्याधारसन्निकर्षस्तथा प्रसिद्धो यथेन्द्रियार्थसन्निकर्षो ऽर्थस्य सम्बन्धिन एकस्य प्रसिद्धत्वाद् इन्द्रियमनसोस्तु द्वयोरतीन्द्रियत्वात् । आत्मा तु यद्यपि युज्जानस्य शरीराद्यनिरिक्तः प्रत्यक्षः तथाप्यस्मदादीनां न तथेत्यतीन्द्रिय उक्तः । तदनेनातीन्द्रियाधारत्वं स्वरूपेणोक्त्वा (१) तदेव विषयावृत्तित्वमनोवृत्तित्वाभ्यामतीन्द्रियाधारत्वं सामान्यमाह विषयावृत्तित्वं वेति । उपसंहरति तस्मादिति । समानत्वादिति भाष्योक्तो हेतुः चरितार्थत्वादिति स्वोक्तः ।

आक्षिपति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्युक्तमिति (३३ । १५) सान्तरग्रहणादिति हेतुं विभजते । विप्रकृष्टेति । ननु नार्थो विप्रकृष्टश्चक्षुषस्तत्र प्राप्तेरित्यत आह । न च चक्षुष इति । कस्मादित्यत आह भूतविशेषस्येति । बाह्यो भूतविशेष आलोकस्तस्य प्रसाद इन्द्रियाव्यवधायकत्वं कुड्यादिभ्यो विशेषः यः खलु काचाभ्रपटलादिषु स्वच्छेषु समस्ति । स्यादेतत् । अस्ति कृष्णसारलक्षणो भूत-

विशेषः प्रसन्नान्धस्यापि अतस्तस्यापि रूपोपलब्धिः स्यादित्यत आह । तत्तृष्णापूर्वकेति । रूपोपभोगतृष्णा हि तत्साधनं कृष्णसारमपि विषयीकरोति । एतदुक्तं भवति । भूतविशेषः कर्मापेक्षो रूपं च चक्ष्णाणश्चक्षुरित्युच्यते । कर्मक्षयात् तु प्रसन्नान्धस्य न रूपं चष्टइति न चक्षुः । अस्तु गोलकमेव चक्षुः किमेतावतापीत्यत आह न चेति । (३३ । २३) विच्छिन्नं गोलकमर्थादनुभूयतइत्यर्थः । तदेवं वस्तुनः सान्तरस्य ग्रहणमप्राप्यकारित्वे हेतुरुक्तम् ।

के चित् तु सान्तरम् इति ग्रहणविशेषणं हेतुं कुर्वन्ति तन्मतमुपन्यस्यति । अपरे त्विति । (३४।१) साध्यविपर्ययादस्य व्यतिरेकं दर्शयति । न हि प्राप्यकारिष्विति (३४।४) पक्षधर्मतामाह दृष्टं त्विति । यच्चोक्तमप्राप्यकारित्वे साधनं पृथुतरग्रहणादिति तद्विभजते । पृथुतरेति । द्वायाश्रयो हि संयोगोऽल्पमेव संयोगिनमनुरुध्यते न महान्तम् । न जातु रथादिसंयोगा नभो व्यश्नुवते मा भूत्सर्वत्र रथादीनां तत्संयोगादीनां चोपलब्धिः तेन यावन्मात्रं राष्ट्रप्रनादेर्गोलकेन व्याप्तं तावन्मात्रस्य ग्रहणप्रसङ्गः । हेत्वन्तरं चाह दिगिति । अस्यापि व्यतिरेकमुखेन गमकत्वं दर्शयति । यदि प्राप्यकारीति । (३४।४) अपरमपि हेतुमाह सन्निकृष्टेति । यद्यपि गतिक्षणानां प्रत्येकं स्वाश्रयस्य देशान्तरविभागसंयोगोपजननं प्रति चिरक्षिप्रतायामविशेषः स्वाश्रयप्रत्यासत्तौ चाऽविशेषस्तथाऽप्या चापादानविभागाद् आ च प्रापणीयदेशप्राप्तेरन्तरालवर्ती यावान् गतिक्षणप्रचयः पूर्वापरीभूतो गतिरिह विवक्षितस्तस्य सान्तरत्वं मन्दत्वं विलम्बः । नैरन्तर्यं पाटवं क्षिप्रता । तामिमां गतिमभिन्दद् नैरन्तर्येण कुर्वदपि सन्निकृष्टमाशु प्राप्नोति न विप्रकृ-

ष्टेन तुल्यकालं किन्तु विप्रकृष्टं चिरेणेति । यथोक्तं दिग्भागेन—

“सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञाने ऽधिकस्य च ।

बहिर्वर्तित्वादिन्द्रियस्योपपन्नं सान्तरग्रहणमिति चेद् अत
उक्तम् । “अधिष्ठानाद्बहिर्नाक्षं” किं त्वधिष्ठानदेश एवेन्द्रियम् ।
कुतः “तच्चिकित्सादियोगतः” ।

“सत्यपि च बहिर्भावे न शक्तिर्विषयेक्षणे ।

यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनाद् ॥”

यदि च स्यादुन्मील्य निमीलितयनो ऽपि रूपं पश्येत्
उन्मीलनादस्ति बहिरिन्द्रियमिति ।

तद्वार्तिककारः सान्तरग्रहणादिति हेतुं विकल्प्य दूषयति
यत्तावदिति (३४।९) सान्तरता खल्वप्राप्तिसाहचर्यादप्राप्तिं
लक्षयति । हेत्वर्थस्य प्रतिज्ञार्थेनाक्षिप्तत्वादभेदेन । तदुक्तं
प्रतिज्ञार्थान्न भिद्यतइति । (३४।१५) हेतुप्रतिज्ञापदवाच्य-
त्वेन भेदमुपचर्याक्षेप्याक्षेपकभावो द्रष्टव्यः । तस्य व्यवधा-
यकत्वादिति । (३४।२०) रूपवतो ऽप्रसादस्वभावस्य कुड्या-
देरित्यर्थः । यत्तु प्रसादस्वभावं तेजः तन्न गृह्यते किं तु तस्य
रूपमात्रं विस्फारिताक्षेण दृश्यते । तदाश्रयं च द्रव्यं साधयि-
ष्यते । न च तद् गुणो द्रव्यस्यान्तरम् । मा भूद्गन्धादिभिरन्तरं
च द्रव्यस्य मा च भूतां निरन्तरे द्रव्ये स्वगुणाभ्यामन्तरितत्वात् ।
न चापातजन्मालोचनं वा विकल्पो वा द्रव्यानुमानं प्रतीक्षते
येन रूपज्ञानानुमितं द्रव्यमिन्द्रियार्थयोर्द्रव्ययोरन्तरं स्यात् । अपि
च रूपमात्रमगृह्यमाणे द्रव्ये स्वतन्त्रं गन्धादिवद्गृह्यमाणं कथम-
न्तरा स्वाश्रयमनुमापयेत् । आकाशादीनामाश्रयाणामग्रहणात् ।
तस्माद्विविक्तावयवतेजोऽवयविद्रव्याप्रत्यक्षत्वसमारोपमात्रेण दू-
षणं, वक्ष्यमाणं त्वन्यथासिद्धत्वदूषणं परमार्थिकं द्रष्टव्यम् ।

४सू०३प्र०] सान्तरइति ग्रहणमितिहेतुखण्डनम् । ११९

अथाभावो ऽन्तरशब्दवाच्य इति (३४।२१) नास्माकं मूर्त-
द्रव्याभावादन्यदाकाशमस्तीति भावः । दूषयति । स स्वतन्त्र-
श्चक्षुर्विषयो न भवति । इन्द्रियं चार्थं चान्तरा ऽभावो ग्राह्य-
स्तेन सहार्थस्य ग्रहणं सान्तरग्रहणं न चेन्द्रियार्थयोर्मध्ये कस्य
चित्संयुक्तस्य वा समवेतस्य वा ग्रहणमस्ति यत्तन्त्रो ऽयमभावो
गृह्यते इति भावः । स्यादेतन्मा भूदान्तरालिकं संयुक्तं समवेतं
वा विशेष्यं गृह्यमाणमेव तु रूपादि विशेष्यमिति तत्तन्त्रो ऽयम-
भावस्तद्विशेषणत्वेन निरूपयिष्यते ततश्च सान्तरग्रहणमुपपत्स्य-
त इत्यत आह तेन सहोपलब्धाविति (३४।२२) प्रतीयते हि
त्वगादिभिरपीन्द्रियैः प्राप्यकारिभिरौष्ण्याभावविशेषणं शिशिर-
तरं पाथो न चेन्द्रियाणामत्राप्राप्यकारिता । तस्मादनैकान्ति-
कम् । अन्वयाभ्युपगमेनैतदुक्तम् । अन्वयाभावे तु विरुद्धमिति
भावः । न च तैजसं रूपमन्तरं येन सान्तरग्रहणं स्यादित्याह
न चान्या गतिरिति । यथा चैतत्तथोपपादितमधस्तात् ।

ये तु सान्तर इति ग्रहणमिति हेतुमाहुस्तान्प्रति दूषणमाह
यैरपीति । (३४।२३) अन्यथासिद्धत्वे हेतुमाह शरीरेति ।
(३५।२) शरीरावच्छिन्नाः खलवात्मानः शरीरमेवात्मानमभिमन्य-
माना अर्थाननुभवन्ति । तत्र य एव शरीरासम्बद्ध इत्यनुभूयते
तमेव सान्तर इति मन्यते । इन्द्रिसम्बन्धो भवतु मा वा भुञ् शरी-
रसम्बन्धेन तस्य स्पर्शादौ न सान्तरत्वाभिमान इत्यर्थः । हेत्वन्तरं
दूषयति यदपीति । सम्बन्धमात्रेणेति । मात्रग्रहणं सम्बन्ध-
चतुष्टयव्याप्त्यर्थं तद्यथेन्द्रियेणार्थस्य सम्बन्ध इन्द्रियावयवैरर्थस्या-
र्थावयवैरिन्द्रियस्येन्द्रियावयवैरर्थावयवानां, न चैतन्निरर्थतो विना
पृथ्वग्रतां भवतीति पृथ्वग्रता सूचिता । यथा वर्त्तिदेशे पिण्डित-
मपि तेजः प्रसर्पत्प्रासादोदरं व्याप्नोति । तत्कस्य हेतोः ।

पृथग्रत्नादिति । स्वभावरतः प्रसरदपि न स्वपरिमाणानुविधायिनं प्रत्ययमाधत्ते किं तु विषयभेदानुविधायिनम् । विषयानिरूपणाधीननिरूपणा हि प्रत्यया नेन्द्रियनिरूपणाधीननिरूपणाः । तदिदमुक्तं विषयभेदानुविधायी प्रत्यय इति ।

अपरमपि हेतुं दूषयति । यत्पुनरिति । (३५।१०) देहमर्थं चान्तरावस्थितस्य पृथिव्यादेः संयुक्तसंयोगालपीयस्त्वं भूयस्त्वं चापेक्षमाणस्येति । खगानां चोपर्युपरि संचरतां दूरान्तिकभावो बहुलतमालोकावयवभागानां संयुक्तसंयोगालपत्वभूयस्त्वाभ्यामवगन्तव्यः । स च तादृगालोकावयवी प्रत्यक्षोऽन्यथा न रूपमात्रेण तदनुमानं शक्यमित्युक्तम् । न च खगानामुपर्युपरि संचरतां दूरान्तिकप्रत्ययः स्यान्न च पतति पतत्रिणीह प्राप्तो नेहेति भवेत्तस्मादन्यथासिद्धिरेव सहान्तरेण ग्रहणादिति वदत्रापि दूषणमिति द्रष्टव्यम् ।

अपरमपि हेतुं दूषयति । यत्पुनरिति । (३५।१६) युगपद्ग्रहणमसिद्धं तदभिमानस्त्वन्यथासिद्धः अचिन्त्यो हि तेजसो लाघवातिशयेन वेगातिशयो यदुदयगिरिशिखरमारोहत्येव मार्तण्डमण्डले भवनोदरेष्वा लोक इत्यभिमानो लौकिकानाम् । तादृशं चाक्षुषमपि तेज इति क्रमेणापि गच्छद् युगपत्तत्र तत्र प्राप्तमिति लक्ष्यते । न चैकस्मादेव कर्मणो युगपद्दूरान्तिकसंयोगा भवन्तीति युक्तम् । तद्धि स्वकार्ये जनयितव्ये स्वाश्रयप्रत्यासत्तिमपक्षते । अन्यथा मथुरास्थस्य देवदत्तस्य कर्म पाटलिपुत्रेण देवदत्तं योजयेत् । वेगाख्यं संस्कारजमपि कर्म न सहसा शरमन्तरालदेशेन च लक्ष्येण च योजयति । तस्मान्मिथ्यैव यौगपद्याभिमान इति । चोदयति कथं पुनरिति । (३५।१९) अस्ति हि शाखाचन्द्रमसोर्ग्रहणे यौगपद्याभिमानः न चायमसति बाधके मिथ्येति वक्तुं शक्यः सोऽयमबाधितो बोधयत्यप्राप्य-

४सू० ३प्र०] इन्द्रियाणामप्राप्यकारित्वखण्डनम् । १२१

कारितां चक्षुष इत्यर्थः । परिहरति । इदमिति । इन्द्रियं यद्यगत्वा-
ऽनागतमर्थं गृह्णीयात् किमस्य कुड्यकटाद्यावरणमपकुड्यात् । येन
तदावृतं न गृह्णीयात् । गतौ तु स्पर्शवता प्रसादरहितेन सैवास्य
प्रतिबद्धेति न प्राप्नोति विषयमप्राप्तं च न गृह्णातीति । प्रयोग-
स्तु चक्षुःश्रोत्रे प्राप्य स्वविज्ञेयं कार्यं कुरुतः जनकत्वे सति त-
दप्राप्तावजनकत्वात् । यज्जनकं सद् यदप्राप्तौ यन्न जनयति तत्
तत्प्राप्तावेव तज्जनयति यथा कुम्भजनको मृदामप्राप्तावकुर्वन्
कुम्भं तत्प्राप्तावेव करोति तथा चैतत्तस्मात्तथेति । युक्त्यन्तरमा-
ह । दूरान्तिकानुविधानमिति । (३५।२३) दूरे नोपलभ्यते
अन्तिके चोपलभ्यते अप्राप्तेरविशेषेण दूरेऽप्युपलम्भः स्यादनु-
पलम्भे वा अन्तिके ऽपि न(१)स्यात् । प्राप्तौ तु दूरं गच्छत् प्र-
क्षीणं सत् प्राप्तमर्थं न गृह्णाति अतैजसं तैजसमप्याभिभूतं न गृ-
ह्णाति यथोल्काप्रकाशं मध्यन्दिने, अनभिभूतं तु मार्तण्डमण्डलं
गृह्णात्येवेति । चोदयति । विषयीभावादिति । (३६।१)
योग्यो हि तादृश इन्द्रियक्षणः स्वकारणादुपजातः परिणतो
वाऽर्थक्षणश्च ययोरप्राप्तयोरेव ग्रहणग्राह्यभावः, व्यवहिताविप्रकृष्टौ
च न तौ तादृशौ तत्किमप्रतीयमानप्राप्तिकल्पनयेत्यर्थः । परिह-
रति । तच्च नैवमिति । (३६।५) निषेत्स्येते हि क्षणभङ्गपरिणा-
मौ भावानां, तेन स्थेमभाजां भावानां स्वरूपयोग्यता वा महत्वा-
दिर्विषयीभावः सहकारिसाकल्यं वा ज्ञानोपजननं प्रति परि-
शिष्यते । तत्र स्वरूपयोग्यतामात्रं चेदास्थीयते तदा यदेवाव्य-
वहितं सन्निहितं सदनयद्विज्ञानं विप्रकृष्टमपि व्यवहितमपि तदेवेति
तथैव तेन ज्ञानं जनयितव्यम् । अस्ति हि तस्य तदाऽपि स्वरूपयोग्य-
तेति, सहकारिसाकल्यं तु प्राप्तिरेव, तस्मान्न संबन्धमन्तरेण वि-

(१) स इति मुद्रितपु० पा० ।

पयीभाव इति सूक्तम् ।

सन्दिग्धः पृच्छति । अथ प्राप्यकारित्व इति । (३६।९)
 अयमभिसंधिः । कुलालादौ प्राप्यकारिणि दृष्टं यथा विप्रकृष्टो
 व्यवहितश्च न करोतीति, अप्राप्य कारिणि चायस्कान्तादौ दृष्टं
 यथा विप्रकृष्टो व्यवहितश्च लौहं मणिमाकर्षति, तस्मात्तत्र प्रमाणं
 वक्तव्यमिति । उत्तरम् । इन्द्रियत्वमेव प्रमाणम् । तदेव पञ्चाव-
 यवोपपन्नमाह । प्राप्यकारीति । (३८।६) यदि तु कश्चित्
 दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वमुद्भावयेत् त्वगादीनामप्राप्यकारित्वा-
 दिति, तं प्रत्याह । अथ न किं चिदिति । पृच्छति । अथेति ।
 योग्यतयैव हि कारणानि स्वकार्यं कुर्वन्ति, प्राप्तिस्तु स्वरूपयो-
 ग्यताप्रयुक्तां व्याप्तिमुपजीवति न त्वस्याः स्वाभाविकं व्यापक-
 त्वमिति भावः । उत्तरं सौऽपीति । सहकारिसाकल्यं तावन्न
 प्राप्तेरतिरिच्यत इत्युक्तम् । केवलं स्वरूपयोग्यता वक्तव्या । सा
 च व्यस्तानामप्यस्तीति यत्र तत्र व्यवस्थितेभ्योऽपि कार्योत्पा-
 दप्रसङ्गः । अयस्कान्तमणेरपि चक्षुष इव वृत्तिभेद एषितव्यः ।
 अन्यथा व्यवधानविप्रकर्षयोरपि लोहाकर्षणप्रसङ्गात् । न च
 व्यवधानविप्रकर्षाभावसाहितो लोहमाकर्षति व्यवधानविप्रकर्ष-
 योस्तु तदभावाभावेन न भवतीति सांप्रतम् । प्राप्तेरेव तत्र तत्र
 कार्योत्पादं प्रति उपयोगस्यावेदितत्वात् । योग्यतामात्रस्य चो-
 पाधेरपाकृतत्वात् । यथा च द्रव्यातिरिक्तस्तद्धर्मः प्राप्तिस्तथा
 निवेदयिष्यते । तस्मात्सर्वमवदातम् । उपसंहरति । तस्मादि-
 ति । यदपि कृष्णसारानुग्रहोपघाताभ्यां दर्शनादर्शनादिति, त-
 त्रोच्यते । तदधिष्ठानानुग्रहोपघाताभ्यां तस्यानुग्रहोपघातौ । य-
 था कूष्माण्डलतासेचनच्छेदनाभ्यां तत्फलस्यानुग्रहोपघातावत
 एव हि निर्गताऽप्यच्छिन्नमूला चक्षुःसंततिः कार्याय समर्था

न च्छिन्नमूलेति सिद्धम् ।

पृच्छति अथ ज्ञानेति । (३६।२२) प्रत्यक्षसमाज्ञातलक्ष्यानुवादेन लक्षणे विधीयमाने ज्ञायत एवैतज् ज्ञानमिति, लोके साक्षात्कारिज्ञानहेतोः प्रत्यक्षत्वादिति भावः । उत्तरं सुखादिव्युदासार्थम्(१) । तदेव हि लक्षणवाक्यमुच्यते यस्य लक्ष्यानपेक्षोऽतिव्याप्त्यव्याप्तिव्युदासो लक्षणपदेभ्य एव प्रतीयते । लक्ष्यानुरोधेन तु लक्षणव्यवस्थापनेऽन्योन्याश्रयस्वमगतिर्वेति भावः ।

सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वेन विज्ञानत्वादशक्यं व्यावर्तनमिति चेद् । न । अभिन्नहेतुजत्वासिद्धेः । न खलु यैव चन्दनस्पर्शज्ञानस्योत्पत्तौ सामग्री सैव सुखस्यापीति, अस्ति हि शीतार्त्तस्यापि चन्दनेन्द्रियसंयोगाच् शीतस्पर्शज्ञानमिति तद्वदेवास्य सुखमपि भवेत् । अवान्तरसामग्रीभेदेपीन्द्रियार्थमनस्कारजत्वाज् ज्ञानजातीयत्वमिति चेद् । न । किं चित्कारणभेदेऽपि कार्यभेदस्यानाकस्मिकत्वोपपत्तेः । तदर्थत्वाच्च कारणभेदानुसरणप्रयासस्य । न चोपादानाभेदादभेद इति युक्तम् । भिन्नानामपि ज्ञानानामेकसमनन्तरप्रत्ययोपादानत्वस्य भवाद्भिरभ्युपगतत्वात् । अपि चोपादानाभेदश्च कुतश्चित्कारणभेदात् कार्यभेदश्चेति को विरोधः । अत एवास्माकमभेदेऽप्युपादानस्य पिठरस्यौष्ण्यापराख्यस्य च वह्निसंयोगस्य पूर्वरूपादिप्रध्वंसानां कारणानां भेदाद् भिन्नजातीया जायन्ते गन्धरूपरसस्पर्शा इति सिद्धान्तः । तस्मादर्थप्रवणेभ्यो ज्ञानेभ्यस्तदप्रवणतया भिन्नजातीयाः सुखादयो यथास्वमनुकूलवेदनीयत्वादिभिर्लक्षणैरन्योन्यमपि भेदवन्तस्तीव्रसंवेगितया प्रमित्सानपेक्षमानसप्रत्यक्षवेदनीया इति रमणीयम् ।

स्यादेतत् । असत्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानमात्रादेव सुख-
दुःखयोः स्वप्नान्तिके दर्शनात् यत्रापीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्तत्रा-
पि ज्ञानमस्तीति तदेव सुखदुःखयोः कारणं कृत्तसामर्थ्यादिन्द्रि-
यार्थसन्निकर्षस्य तु ज्ञानमात्रोपयोगादन्यथासिद्धौ भावाभावा-
विति । तदयुक्तम् । स्वप्नान्तिके सुखदुःखोत्पादस्यासिद्धेः त-
ज्ज्ञानस्यार्थज्ञानस्येव मिथ्यात्वात् । यथा हि तत्र कामिनीस्मृति-
विपर्यास एवमुपलब्धचरतज्जन्मसुखस्मरणाविपर्यासः । सुखदुः-
खबुद्ध्युत्पाद एव चाऽत्र धर्माधर्मोपयोगो न तु सुखदुःखो-
त्पादे । न चासतीन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानमन्यन्मनोरथादि वा
तादृशं सुखभेदं विधत्ते यादृशो विषयोपभोगजन्मा । सतीन्द्रिया-
र्थसन्निकर्षे ज्ञानमात्रमेव तस्य हेतुः ज्ञानहेतुस्तु सन्निकर्ष इत्यु-
क्तमिति चेद् । न । विषयासन्निधाने विषयस्मृतिमतः तादृशस्य
सुखभेदस्यानुत्पादादित्युक्तमेव । विषयसाक्षात्कारस्तदुत्पादहे-
तुर्न विषयज्ञानमात्रमिति चेद् । हन्तेश्वरस्याप्यास्ति तत्रभव-
तो योर्गद्विसंपन्नानां च महाधियां समस्तवस्तुसाक्षात्कार इति
तेषामपि सुखदुःखोत्पादप्रचयः प्रसज्येत असत्यां प्रतिपक्षधार-
णायाम् । तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपि सुखदुःखोत्पादहेतुरेषि-
तव्यः । स च सख्यर्थसाक्षात्कारे नास्ति सिद्धानामिति न तेषां
सुखदुःखोत्पादः । अपि च चरमभावि कारणं गृहीत्वा पूर्वभा-
विनामकारणत्वापादने तन्त्वादीनामपि पटादीन् प्रत्यकारणत्व-
प्रसङ्गः संयोगभेदादेव तादृशपटोत्पत्तेः तन्त्वादीनां च संयोग-
भेद एवोपयोगात् । तत्सहितस्य तु तत्कारणत्वे सन्निकर्षस्याप्या-
लोचनसहितस्येति समानम् । यथाऽऽहुः पदार्थविदः—

‘स्रगाद्याभिप्रेतविषयसन्निध्ये सतीष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्नि-
कर्षधर्मव्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगात् यदनुग्रहाभिष्वङ्गन-

४सू० ३प्र०] अर्थानां नामधेयतादात्म्योपपादनम् । १२५

यनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत्सुखमिति ।

तस्मात्सुष्ठुक्तं सुखादिनिवृत्त्यर्थं ज्ञानग्रहणमिति ।

इह द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पिका सविकल्पिका चेति ।
तत्रोभयी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन
संगृहीताऽपि स्वशब्देनोपात्ता । तत्र विप्रतिपत्तेः । तत्राविक-
ल्पिकायाः पदमव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायाश्च व्यवसाया-
त्मकमिति । तत्र व्यपदेशो विशेषणमुपलक्षणं वा नामजात्या-
दि, तत्कर्म व्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत् । तद्यथा दित्योऽ-
यं गौरयं शुक्रोऽयं कमण्डलुमानयं गच्छत्ययमिति, सर्वं हि स-
विकल्पकं विशेषणविशेष्यभावेन वस्तुषु प्रवर्तते । अविद्यमानं
व्यपदेश्यं यास्मिन्स्तदव्यपदेश्यं जात्यादिस्वरूपावगाहि, न तु जा-
त्यादीनां मिथो विशेषणविशेष्यभावावगाहीति यावत् । तत्र ना-
मराहितमाविकल्पकं नास्तीति ये विप्रतिपद्यन्ते तन्मतमपाचिकीषु-
रुपन्यस्यति भाष्यकारः यावदर्थं वै नामधेयशब्दाः । सर्वे
ऽर्थाः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र नामधेयान्विताः । नास्ति सो ऽर्थो
यः कदा चित् क चित् कथं चिद् नामधेयेन वियुज्यते । तदने-
न नामधेयतादात्म्यमर्थानां प्रतिजानीते । अत्र हेतुमाह तैरर्थ-
संप्रत्यय इति । अर्था हि प्रतीयमाना नामधेयरूपेतास्तत्सामाना-
धिकरण्येनावगम्यन्ते गौरित्यर्थोऽश्व इत्यर्थ इति । न चोपायत-
या सामानाधिकरण्यं घटते न हि चक्षुरादिसामानाधिकरण्यं रू-
पाद्यनुभवति । नापि ज्ञायमान उपाय उपेयसामानाधिकरण्यम-
नुभवति न हि भवति धूमोऽयं वह्निरिति, किं तु धूमोऽयं धूम-
वत्त्वाद्बह्निमानिति । अपि चाशब्दोपायेऽनुमेयादौ न शब्दसंभेदे-
नाधिगमो भवेदस्ति तु । तस्मात्तैर्नामधेयैः सह समानाधिकर-
णस्यार्थस्य प्रत्ययो यत इति, तस्मान्नामधेयात्मानोऽर्थाः । ष

इजादिषु च शब्दापकर्षे अर्थप्रत्ययापकर्षात् तदुत्कर्षे त्वर्थप्र-
त्ययोत्कर्षात् प्रत्ययस्य च प्रत्येतव्योत्कर्षाधीनोत्कर्षत्वान्नाम-
धेयोत्कर्षेणार्थोत्कर्षोऽर्थस्य तादात्म्यं कथयति । तदिदं समःप्रयो-
जनं संप्रत्यय इति समधिकः प्रत्यय इत्यर्थः । अस्त्यर्थसंप्रत्य-
यो नामधेयसामानाधिकरण्येन, न त्वेतावता नामधेयात्मता सि-
ध्यति, अस्ति हि पुरोवर्तिसामानाधिकरण्येन रजतप्रत्ययो न चैता-
वता युक्ती रजतात्मिका भवतीत्यत आह । अर्थसंप्रत्ययाच्च
व्यवहारः । ततश्चाविसंवादात् प्रमाणं सन्नामधेयतादात्म्यं सा-
धयत्यर्थानामित्यर्थः । तदेवं सामान्यतोऽर्थानां नामधेयतादात्म्यं
व्युत्पाद्य प्रकृते योजयति । तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्प-
न्नं विषयज्ञानं* रूपमिति वा रस इति वा एवं रूपाद्य-
र्थसामानाधिकरण्येन भवति । भवतु किमेतावताऽपीत्यत आह
रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम् । किमेतावतापीत्यत आह
तेन व्यपादिश्यते ज्ञानम् । उक्तमपि व्यपदेशं सव्याख्यान-
माह । रूपमिति जानीते रस इति जानीत इति । तथाचार्था-
नां नामधेयात्मकत्वात्तद्गोचरमालोचनमपि नामधेयगोचरमित्यर्थ-
वन्नामधेयेन व्यपादिश्यमानं शाब्दं प्रसज्यत इति । न
शब्दप्रमाणकतया शाब्दमपि तु शब्दे जातं शाब्दं शब्दश्चास्य
विषयत्वेन जनकोऽर्थतादात्म्यात् । तथा च नाविकल्पं शब्दर-
हितमस्तीति तात्पर्यार्थः । तथा चाहुः—

‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

अनुमिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते’ ।

बालमूकादीनामपि विज्ञानं शब्दानुव्याधवदेवानादिशब्द-
भावनावशात् । यदवोचत—

* अर्थज्ञानमिति भाष्ये पाठः ।

४५० ३प्र०] अर्थानां नामधेयतादात्म्यस्वण्डनम् । १२७

‘आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।

स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावना’ मिति ।

तदस्य निराकरणं लक्षणगतेनालोचनज्ञानावरोधार्थेना
व्यपदेश्यपदेन सूचितमिति । परीक्षापर्वणि वचनार्हमपि सु-
भाषितरुचितया तद्विलम्बमसहमानो भाष्यकारो लक्षणावसर ए-
वाह । अत एवाह अव्यपदेश्यमितीति । तेन सूचितेऽप्य-
र्थे अव्यपदेश्यपदं योजयति । यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसंब-
न्धे अर्थज्ञानं तन्न नामधेयेन*व्यपदिश्यते ।

अयमभिप्रायः । सामानाधिकरण्येन शब्दात्मकत्वं रूपादी-
नामभिधीयमानं शब्दब्रह्मात्मत्वं बोध्यते श्रूयमाणगौरित्यादिप-
दभेदात्मत्वं वा । न तावदाद्यः कल्पः । न खल्वस्मदादिसम-
स्तदर्शनपथातिवृत्तेन शब्दब्रह्मणा रूपादीनामस्ति सामानाधिक-
रण्यप्रतीतिर्लौकिकानां, श्रूयमाणशब्दसामानाधिकरण्येन तु
तादात्म्यप्रसाधनेऽनुपयुक्तशब्दसम्बन्धस्य बालमूकादे रूपादि-
ज्ञानेषु नास्ति श्रूयमाणशब्दगन्धोऽपि प्रागेव तु तत्सामानाधि-
करण्यम् । न च तेषामपि प्राग्भवीशब्दभावनानुगमेन तत्सामा-
नाधिकरण्यमिति सांप्रतम् । न खलु रूपाद्यात्मनः शब्दस्य रूपा-
दिवैशद्येनावैशद्यं संभवति । युगपद्वैशद्यवैशद्यरूपविरुद्धधर्मयो-
गेन भेदप्रसङ्गात् । वैशद्ये तु व्युत्पन्नवद्व्युत्पन्नोऽपि शब्दैर्व्यव-
हरेव । नतु सम्बन्धग्रहणमपेक्षेत । न च तादात्म्यादन्यद्वाचकत्वं
शब्दानां यत्र संबन्धग्रहापेक्षा भवेत् । न च तादात्म्येऽपि क-
ल्पितभेदानां वाच्यवाचकभावः । तथा सति न सामानाधिकरण्यं
स्यात् । न ह्यस्ति संभवो भेदकल्पनां च सामानाधिकरण्यप्रथा-
चेति । तस्माद्व्युत्पन्नानामस्ति शब्दरहितं रूपादिषु निर्विकल्प-

* नामधेयशब्देनेति भाष्ये पाठः ।

कं प्रत्यक्षमिति । न केवलमव्युत्पन्नानां व्युत्पन्नानामप्यस्तीत्या-
ह । गृहीतेऽपि च शब्दार्थसंबन्ध इति अर्द्धोक्त एव सामा-
नाधिकरण्यनिरासाय संबन्धग्रहणस्वरूपमाह । अस्यार्थस्य सा-
म्नादिमद्वेषस्यायं गकाराद्योकारो नामधेयमिति । इतिकरणो
ज्ञानपरामर्षप्रधानः । तथा च यो हित्यो नानादेशकालावस्था-
संसृष्टः पिण्डभेदः सोऽयमिति सन्निहितदेशकाल इत्यर्थः । न
त्वयं पिण्डो हित्यशब्द इति प्रत्ययः । औत्सर्गिकं हि शब्दानाम-
र्थपरत्वं क्वचित्पुनरित्यादिभिः शब्दैस्तदपोद्यते । यत्रापि संब-
न्धप्रातिपादनमभेदेन हित्य इति तत्रापि शब्दो वाच्यपरो न स्व-
परः । यथा गौर्वाहीक इति लक्ष्यमाणगुणयोगपरः । न च तन्मा-
त्रेण वाहीकस्य गोत्वं संभवति तस्माद्भिन्नयोरेव शब्दार्थयोः सं-
बन्धग्रहात्तन्मूलत्वाच्च शब्दव्यवहारस्य (१) न शब्दपुरस्सरमपि
ज्ञानं सामानाधिकरण्यमात्मनोऽर्थस्यावगमयति । यत्तु शब्दानु-
पायेऽपि ज्ञाने शब्दः पूर्वं संभवति तद्गृहीतसंकेतस्य प्रथममिन्द्रि-
यार्थसन्निकर्षादालोचनेन शब्दसंसर्गेरहितेनालोचितेऽर्थमात्रे त-
स्यार्थस्य शब्दभेदेन संबन्धाच्च शब्दविषयः संस्कारः प्रबोध्यते
स प्रबुद्धः शब्दस्मृतिं जनयति । तेन व्युत्पन्नस्य निर्विकल्पका-
त् पराञ्चः प्रत्ययाः शब्दानुपाया अपि शब्दपुरस्सरा जायन्ते ।
यथाऽऽहुः—

‘यत्संज्ञास्मरणं तत्र न तदप्यन्यहेतुकम् ।

पिण्ड एव हि दृष्टः सन्संज्ञां स्मारयितुं क्षमः’ ।

तस्माद् व्युत्पन्नस्यापि नामधेयस्मरणाय पूर्वमेषितव्यो वि-
नैव नामधेयमर्थप्रसयः । तदिदमुक्तं गृहीतेऽपि च शब्दा-
र्थसंबन्धे अस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति । यदा

तु सो ऽर्थो गृह्यते नामधेयरहितो नामधेयस्मरणात् पूर्वमावि-
कल्पकेन तदा पूर्वस्मादव्युत्पन्नावस्थायामर्थज्ञानान्न विशि-
ष्यतइति । यतो न विशिष्यते तस्मात् तदर्थज्ञानं तादृगे-
व भवति । ननु परप्रतिपादनादिलक्षणव्यवहाराय स्वरूपेण
ज्ञाने व्यपदेश्ये यदर्थव्यपदेशेन व्यपादिश्यते तदवगच्छामः अ-
र्थव्यपदेशाकारमिति, कथं चार्थाकारं भवति यद्यर्थव्यपदेश-
योर्ज्ञाभेदस्तस्मात्पुनरपि तादात्म्यं प्रसक्तमिष्यत आह । तस्य
त्विति । अर्थाकारमेव तु ज्ञानमर्थव्यपदेशेन व्यपादिश्यते अन्यथा
ऽशक्यत्वादित्यर्थः । प्रतीयमानं परेण । उपसंहरति । तस्मा-
दिति । तदेवमर्थज्ञानकाले न समाख्याशब्दो व्याप्रिय-
ते प्रतीयमानतया । व्यवहारकाले परप्रत्यायनकाले तु व्या-
प्रियते कारणतया । तदनेन गोपालाविपालादीनां संज्ञानिवे-
शनं तासु तासु व्यक्तिषु व्यवहारोत्कर्षहेतुः नार्थोत्कर्षहेतुरित्य-
पि सूचितं भवति । तस्मादविकल्पप्रत्यक्षावरोधार्थेनाव्यपदेश्य-
पदेनास्यैवाविकल्पकस्य शब्दानुव्याधरहितता सूचितेत्याशयवा-
नुपसंहरति । तस्मादिति ।

तदेतज्ज्ञाप्यं वार्तिककारः तात्पर्यतो व्याचष्टे । तच्चेन्द्रि-
यार्थेति । (३७।१)विषयभेदानुविधायिज्ञानमिति शब्दा-
त्मतामपाकरोति । चाक्षुषं हि रूपज्ञानं रूपएव नियतं न शब्दे
प्रवर्तते । एवं श्रोत्रमपि शब्दएव नियतं न रूपादौ प्रवर्तते । यदि
पुनरिदं शब्दात्मकं रूपादि भवेच् श्रोत्रजं ज्ञानं शब्दग्राहीति
रूपादावपि प्रवर्तते । अप्रवर्तमानं च विधुरयति रूपादीनां
शब्दात्मताम् । अपि च श्रूयमाणशब्दात्मत्वे रूपादीनां तेषा-
मपि श्रवणग्राह्यत्वमित्यन्धोऽपि रूपं गृह्णीयात् । अस्ति हि तस्य
श्रोत्रं च शब्दज्ञानं च । एवं बधिरोऽपि शब्दं गृह्णीयात् । अ-

स्ति हि तस्य लोचनं च रूपज्ञानं च । अशब्दो ऽभाव इति च
विवक्षितविपरीतापत्तिः शब्दाभावस्यार्थस्य शब्दत्वादशब्दत्वे वा
स एवार्थः शब्दाद्भिन्नः प्रसज्येत । एवमभावो ऽप्यर्थ इति श-
ब्दः स्यात् । तथा च नाभावः शब्दस्य सत्त्वात् तथा चार्थानु-
विधायि ज्ञानं न भवेत् । अस्ति च, तस्मान्न शब्दात्मानो ऽर्था
इति । तदुत्पत्तिकाल इति प्राथम्येन शब्दानुव्याधं व्याक-
र्त्तयति ।

एकदेशिव्याख्यानमाह । अपरेत्त्विति । (३७।२) इन्द्रिया-
र्थसन्निकर्षेण हि लिङ्गेन यदिन्द्रियगतिज्ञानं तदपि प्रत्यक्षलक्षणो-
पेतमिति प्रत्यक्षं प्रसज्यते इति तन्निराकरणायाव्यपदेश्यपदम् ।
अपदेशो हेतुवचनं तदेव तदाभासेभ्यो विशिष्टं व्यपदेशः ।
तस्य कार्यं हेतुप्रत्यायनद्वारा अनुमेयज्ञानं व्यपदेश्यं, न व्यप-
देश्यमव्यपदेश्यमलिङ्गोद्भवमित्यनुमानं व्यावर्त्तितमित्यर्थः ।

तदेकदेशिमतं दूषयति । तच्च नैवमिति । (३७ । ३) न-
न्विन्द्रियगतिज्ञानमपीन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमित्यत आह । न
ह्यनुमेयस्येति (३७ । ४) । नैतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजायते
किं तु तज्ज्ञानात् । अत एवातीते ऽपि धूमादौ लिङ्गे तत्स्मरण-
मात्रादेवानुमेयज्ञानं भवति । न च सन्निकर्षपदस्य मुख्यत्वे
सम्भवति ज्ञानलक्षणा युक्तेति भावः । उपसंहरति अत (३७ ।
२) इति । इमं च वार्त्तिकग्रन्थमबुध्यमाना इन्द्रियगतिज्ञाननि-
वृत्त्यर्थमिन्द्रियविषयेष्विति पदं सूत्रे ऽध्याहरन्तीति ।

क्रमप्राप्तस्याव्यभिचारिपदस्य तात्पर्यं ब्रुवाणो भाष्यस्या-
पि तात्पर्यमाह । ग्रीष्मे मरीचय इतीति (३७ । ५) य-
द्यपि सामान्यलक्षणेनैव व्यभिचारिणो निरस्ताः प्रत्ययास्तद-
पेक्षं च विशेषलक्षणम् । अन्यथा ऽनुमानादिपदेष्वप्यव्यभिचा-

रिपदमुपादेयं स्यात् । तथा ऽपि सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ।
 द्वयी हि प्रमाणानां गतिः । किं चित्सत्तामात्रेण प्रमासाधनं य-
 था प्रत्यक्षम् । न हि चक्षुरादीनां ग्रहणं प्रमायामुपयुज्यते अपि
 तु सत्तैव । अनुमानादीनि तु स्वज्ञानेन प्रमासाधनानि, न स्व-
 ल्वगृहीतं लिङ्गं वा शब्दो वा ऽऽगमसहितं सादृश्यं वा यथात्रि-
 षयमादधाति प्रमाम् । तत्रानुमानस्य प्रमोपजननात् प्रागेवार्था-
 व्यभिचारग्रहणमपेक्ष्यते नान्यथा ततः प्रमा सिध्यतीति । श-
 ब्दादौ तु यद्यपि प्रमोपजननं प्रति नार्थाव्यभिचारग्रहापेक्षा तथा
 ऽपि शक्यमतिरोहितार्थमन्त्रमध्यपतितस्य द्वागित्येवाप्रतीयमाना-
 र्थस्यापि 'सृण्वेवजर्भरी तुर्करीतु' इत्येवमादेर्मन्त्रस्याप्तप्रणेतृकतया
 सामान्यतो ऽर्थाव्यभिचारित्वं ग्रहीतुम् । औत्सर्गिकं हि शब्दा-
 नामर्थपरत्वमत एव निगमनिरुक्तव्याकरणसहायास्ततो ऽर्थम-
 वधारयन्ति । एवं यथा मुद्रस्तथा मुद्रपर्णीति आप्तवाक्यश्रवणा-
 देव मुद्रसादृश्यज्ञानस्यानुपजनितफलस्यापि शक्यं तदर्थव्यभि-
 चारित्वं निश्चेतुम् । प्रत्यक्षस्य तु प्रमाणस्यात्यन्तपरोक्षस्योपल-
 म्भ एव प्रमोपजननाव प्राग् दुर्लभः प्रागेव तु तस्य अर्थाव्य-
 भिचारित्वम् । यद्यपि च संवेदनप्रामाण्यपक्षे ऽपि तत्संवेदनं म-
 नसा सुलभं तथा ऽपि न तन्मात्रं प्रमाणमपि त्वसाधारणेन्द्रि-
 यार्थसन्निकर्षसहायमिति तत्सहायस्य तस्य परोक्षत्वमेव, तेन प्र-
 त्यक्षस्य प्रमाणस्य फलाव्यभिचारेणैवाव्यभिचारज्ञानं न स्वरू-
 पत इत्यतः प्रमाणान्तरेभ्यो व्यावृत्तमसाधारणं प्रत्यक्षस्य रूप-
 मादर्शयितुमव्यभिचारिपदोपादानम् ।

अथ वा प्रत्यक्षाव्यभिचार एवानुमानाद्यव्यभिचारे कार-
 णम् । न ह्यस्ति संभवो ऽव्यभिचरितप्रत्यक्षगृहीतपक्षधर्मताकं
 तर्कसहायप्रत्यक्षगृहीताविनाभावं वा ऽनुमानं व्यभिचरतीति ।

यत्तु बाधितविषयं सत्प्रतिपक्षितं चानुमानं तदपि यद्यपि प्रथमं व्याप्तिग्रहणदोषेण न खण्डितं तथा ऽपि खण्डनोत्तरकालं सो ऽपि प्रतीयते । तथा च व्याप्तिग्राहि प्रत्यक्षं तत्रापि व्यभिचरतीति । एवमागमो ऽपि साक्षात् क चित्पारम्पर्येण प्रत्यक्षपूर्वकस्तद्व्यभिचारेणैव व्यभिचरति । आगमव्यभिचारेण चोपमानव्यभिचारो व्याख्यातः । तदेवं प्रत्यक्षाव्यभिचारेण प्रमाणानामव्यभिचारो ऽस्तीति प्रत्यक्षस्यैव विशेषणमव्यभिचारिपदं चकार नेतरेषां प्रमाणानां, न ह्यस्ति संभवस्तन्मूलं प्रत्यक्षमव्यभिचारि तानि च व्यभिचारीणीति । सो ऽयं विशेषः प्रमाणान्तरेभ्यः प्रत्यक्षस्य । यथा ऽऽह मीमांसावार्त्तिककारः ।

‘प्रत्यक्षाव्यभिचारेण स्वलक्षणबलेन च ।

प्रसिद्धाव्यभिचारित्वान्नानुमानं परीक्ष्यत’ इति ।

तस्मात्पुष्टूक्तं ग्रीष्मे भरीचय इति भाष्यं तत्प्रतिषेधार्थमिदमुच्यते अव्यभिचारीति ।

पृच्छति किमिदमिति । उत्तरं यदतस्मिन्निति ! (३७६)

एतच्चोपपादितं द्वितीयसूत्रे । पुनः पृच्छति । किं पुनरत्रेति ।

एकदेशिमतेनोत्तरम् एके तावदिति । तदेतद् दूषयति ।

तच्च नैवमिति । पृच्छति । कस्मात् । उत्तरम् । अर्थस्येति ।

तदेव स्फोरयति । यत्तदिति । अत्र च न निर्विकल्पकं भ्रान्तं

किं तु सविकल्पकमित्याह । तांस्तु मरीचीनिति (३७१४) ।

इन्द्रियेणालोच्य मरीचीन् उच्चावचमुच्चलतो निर्विकल्पकेन गृही-

त्वा पश्चात्तत्रोपघातदोषाद्विपर्ययेति सविकल्पको ऽस्य प्रत्ययो

भ्रान्तो जायते, तस्माद्विज्ञानस्य व्यभिचारो नार्थस्येति । यथा

ऽऽहुर्निरुक्तकाराः --

‘नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः

स भवति' ।

अव्यभिचारिपदेनैव संशयज्ञानमपि परास्तम् । नो खलु संशयज्ञानं विकल्प्यमानवस्तुगोचरं तद्रूपं वस्तु प्रापयति । अपापयच्चोपदर्शितं कथं संवादकमसंवादकं च कथमव्यभिचारि । तस्मादव्यभिचारिपदेनैव संशयज्ञाने निरस्ते सविकल्पकप्रत्यक्षा-
वरोधार्थमुपादीयमानं व्यवसायात्मकपदं संशयज्ञानप्रत्यक्षता-
ऽपाकरणमन्वाचिनोति । तद्यथा—एधानाहर्तुमरण्यं गच्छ शा-
कमप्यानेष्यसीति शाकानयनमन्वाचीयते, न तु तदेवास्य प्रेष-
यितुर्विधित्सितं तथेहापीति । व्यवसायात्मकपदं साक्षात्सविकल्प-
कस्य वाचकं तथा हि व्यवसायो विनिश्चयो विकल्प इत्यनर्था-
न्तरं स एवात्मा रूपं यस्य तत्सविकल्पकं प्रत्यक्षम् । तदेतद-
तिस्फुटत्वाच्च शिष्यैर्गम्यत एवेति भाष्यवार्त्तिककाराभ्यामव्या-
ख्यातमपि अस्माभिः—

चिलोचनगुरुन्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।

यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥

स्यादेतत्—न व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं भवितुमर्हति अभि-
लापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं हि तत् । न चेन्द्रियार्थाभ्यां लब्धज-
न्म विज्ञानमर्थावभासं शक्यमभिलापेन योजयितुम् । न ह्यर्थे
शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा तथा सत्यव्युत्पन्नस्यापि व्युत्पन्न-
वद्व्यवहारः स्यादित्युक्तम् । न चाभिलापो ऽर्थासंस्पर्शी संवेदनध-
र्मोऽर्थेषु तन्नियोजनात्, तस्मादर्थादुपजायमानं ज्ञानमर्थमेवाददर्शये-
न्नाभिलापम् । न हि रूपाज्जायमानं* प्रत्यक्षं रससाहितमेतदा-
दर्शयति । तस्मादभिलापसंसर्गानपेक्षमभिलापसंसर्गिणमादर्श-
यद्विकल्पविज्ञानं विकल्पवासनोत्थापितमनियतार्थग्राहि मानस-

मात्मीयमुत्प्रेक्षालक्षणं व्यापारं तिरस्कृत्यानुभवप्रभवतया-
 अभिमन्यन्ते प्रतिपत्तारः । तत्सिद्धमेतद् यदर्थसामर्थ्यलव्यजन्म
 न तच्छब्दकल्पनानुगतं यथा निर्विकल्पकमर्थसामर्थ्यलव्यजन्मा-
 नश्च विवादाध्यासिता विकल्पा इति प्रसङ्गसाधनविरुद्धव्याप्तो-
 पलब्धिः । शब्दकल्पनानुगतत्वस्य हि प्रतिषेध्यस्य विरुद्धं तद-
 ननुगतत्वं तेनार्थसामर्थ्यजत्वं व्याप्तं तस्योपलब्धिस्तदननुगत-
 त्वमुपस्थापयन्ती तदननुगतत्वं विरुणद्धीति । अथैषां प्रत्ययानां
 प्रत्यक्षमभिलापानुगतत्वमश्वचापह्वयम् । हन्त भोः नार्थसाम-
 र्थ्यजत्वमिति प्रसङ्गविपर्ययः । तथा हि यदभिलापकल्पनानु-
 गतं न तदर्थसामर्थ्यजं यथेश्वरप्रधानादिविकल्पविज्ञानं तथा
 चैते विवादाध्यासिता विकल्पा इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।
 निषेध्यमर्थसामर्थ्यजत्वं तदभिलापकल्पनाननुगतत्वेन व्याप्तं त-
 द्विरुद्धं च तदननुगतत्वमिति । न च संदिग्धव्यतिरेकिता अर्थ-
 सामर्थ्येन हि तदुत्पद्यमानं अर्थरूपमनुकुर्याद् न शब्दरूपम् ।
 न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वेत्युक्तम् । असंबद्धरूपानुका-
 रे तु विज्ञानस्य सर्वरूपानुकारेण सर्वसर्वज्ञतापतिरिति । संकेत-
 वशाच्छब्दानामर्थसंबन्धेनार्थोपलब्धौ तत्स्मरणात् तत्संसृष्टवेद-
 नमिति चेद् । यत्र तर्हि ते कृतसंकेताः तदेव स्मारयेदेतान्,
 तत्रैव च ते कृतसंकेता यदननुगतं सामान्यं, न च तद्दृष्टं, किं तु
 स्वलक्षणं दर्शनगोचरः तदेव हि परमार्थसतः विज्ञानस्य कार-
 णं, न तु सामान्यं, सर्वसामर्थ्यरहितं हि तद् अलीकत्वात् ।
 तस्माद्यद् दृष्टं न तेन शब्दानां संबन्धो येन तु संबन्धो न त-
 द्दृष्टम् । अपि च दृष्टस्य शब्दवाच्यत्वे दर्शनादिव बहिरुष्ण
 इति वाक्यादपि प्रतीयेत । तथा च शब्दादपि तास्मिन्प्रतीते शी-
 तापनोदनप्रसङ्गः । सामान्याविषयौ लिङ्गशब्दौ वस्तुभूतसामान्य-

४सू०४प्र०] सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वखण्डनम् । १३६

वच्च स्वलक्षणं तादृशं च तद्दर्शनस्य कारणमिति । निर्विकल्पके-
न प्रथमाक्षसन्निपातजन्मना जातिमद्वस्तुवेदनात्तत्रोपलब्धचरस-
म्बन्धस्य शब्दस्य स्मरणं, तथा च तच्छब्दाभिधेयजातिविशिष्ट-
द्रव्यावगाहीन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्मविकल्पप्रत्ययो गौरयमिसेवमा-
कारो जायत इति चेद् । यथाऽऽहुर्निरुक्तकाराः—

‘निर्विकल्पकबोधेन व्यात्मकस्यापि वस्तुनो ग्रहणम् । तथा ।

‘ततः परं पुनर्वस्तु धर्मेर्जात्यादिभिर्यथा ॥

बुद्ध्याऽवसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमतेति’ ।

तन्न । पिण्डविवेकेन जात्यादेरविकल्पकेनाग्रहणात् । न हि
जातिजातिमन्तौ क्रियाक्रियावन्तौ गुणगुणिनौ तत्समवायो वा
विवेकेन चकासति । न च विवेकेनाप्रतिभासमानाः शक्या मि-
थो योजयितुं क्षीरोदकवदतद्वेदिना । तस्मादेकमविभागं स्वल-
क्षणमनादिविकल्पवासनासमारोपितजात्यादिभेदं तथा तथा
विकल्पयत इति युक्तमुत्पश्यामः । अपि च परमार्थसद्वस्तुत्रयवे-
दनेऽपि कुतो विशेषणविशेष्यभावः न ह्यङ्गुल्यावेकविज्ञानविषयौ
मिथो विशेषणविशेष्यभावमापद्येते । विशेषणं खलूपकारकम्
उपकार्यं च विशेष्यं नान्यथा तयोस्तद्भावः । न चैकविज्ञान-
समारूढयोर्ज्ञाप्यज्ञापकभावः कार्यकारणभावो वा सम्भवी स-
मानकालयोस्तयोरुभयोरपि पौर्वापर्यान्नियमात् । अपि च वस्तु-
निवेशे जात्यादीनामुपाधीनामेकस्य वस्तुनः सत्त्वं च द्रव्यत्वं च
पार्थिवत्वं च वृक्षत्वं च शिशपात्वं चोपाधय इति दूरादेकोपाधि-
विशिष्टस्य ग्रहे सर्वोपाधिविशिष्टग्रहप्रसङ्गः तथा ह्याधाराधेयभा-
व उपकारगर्भो भवति । पतनधर्मणो हि बदरस्य उत्तरस्य कु-
ण्डमधरं प्रत्यासन्नमपतनधर्मकं बदरं विदधदाधारः तद्वदिहा-
पि द्रव्येण जात्यादीनामुपकर्तव्यं, न च शक्त्यन्तरैरुपकरोति श-

क्त्यन्तरोपकारेऽपि शक्त्यन्तरकल्पनायामनवस्थापातात् । तस्मा-
त्स्वभाव एव स्वकारणाधीनजन्मा द्रव्यस्य स तादृशो येन ब-
हूनामुपाधीनामुपकरोतीति वाच्यम् । तथा च सत्त्वोपकारसम-
र्थे तस्मिन् द्रव्ये गृह्यमाणे द्रव्यत्वाद्युपकारसमर्थोऽपि स एवास्य
स्वभाव इति तत्स्वभावावच्छिन्नाः सत्त्वविकल्पकेन परमार्थस-
द्द्रव्यावगाहिना सर्वेव द्रव्यत्वपार्थिवत्ववृक्षत्वक्षिंशपात्वादयो
विषयीकृता इति विकल्पान्तराणामानर्थक्यम् । (१) यदाह—

‘यस्यापि नानोपाधेर्धीर्ग्राहिकाऽर्थस्य भेदिनः ।

नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे ।

सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः ।

एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे ।

दृष्टे तास्मिन्नदृष्टेऽपि तद्ग्रहे सकलग्रह’ इति ।

अस्माकं तु अनादिविकल्पवासनोपादाना विकल्पा यच्च
गृह्णन्ति यच्चाध्यवस्यन्ति तयोरुभयोरप्यन्यनिवृत्तिरूपतया अव-
स्तुत्वान्न मनागपि परमार्थसद्वस्तु गाहते पारंपर्येण तु वस्तुप्रति-
बन्धाद्यत्र प्रवर्त्तयन्तः प्रापयन्तश्च न विसंवादयन्ति लोकमतो
वस्तुस्वभावाविनिवेशाद्विकल्पानां न पौनरुक्त्यमस्ति । अपि चा-
लोचिते वस्तुनिन्द्रियेण तदनन्तरोत्पन्नशब्दस्मरणव्यवहितव्या-
पारमिन्द्रियमर्थश्च न सविकल्पिकामपि धियमुपजनायितुमर्हतः ।
यथाऽऽह—

‘अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम् ।

अक्षधीर्यद्यपक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्’ ।

न च यदेवालोचनमजीजनदिन्द्रियं तदेव स्मरणसहकारि
विकल्पप्रत्ययमात्ते । न च स्मृतिर्व्यवधायिका स्वाङ्गमव्यवधाय-
कमिति न्यायात्—यतो

४सू० ३प्र०] सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वसमर्थनम् । १३७

‘यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः ।

स पश्चादपीति’ । नो खल्वतीतं भवति गोचरोऽक्षस्येति । न चागोचरे सहस्रेणाप्युपायैरेतत्प्रवर्तयितुमर्हतीति । न च स्मृतिरतीतिविषयाऽननुभूतपूर्वं वर्तमानं गोचरयितुमर्हति । तद्गोचरत्वे चान्धानामपि रूपसाक्षात्कारप्रसङ्गो यथाऽऽह—

‘तेन स्यादक्षापायेऽपि नेत्रधीरिति’ ।

तदेवं नामजातिगुणकर्मकल्पना च प्रत्यक्षत्वेन परास्ता । द्रव्यकल्पनाऽपि दण्डीति ।

‘विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।

गृहीत्वा सङ्कलयैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा’ ।

न चैतावन्तं व्यापारकलापं विचारकनिर्वर्तनीयमिन्द्रियज्ञानं सहते तस्य सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वाद् इति । जातिगुणक्रियावतां चैतन्न संभवत्येव रूपाविवेकसंबन्धयोरप्रतिभासनेन घटनायोगात् क्षीरोदकवदतद्वेदिनेत्युक्तम् । तस्मान्न सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति ।

अत्रोच्यते । यत्तावदुक्तमर्थसामर्थ्यजत्वाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वयोर्विरोध इति । तत्र ब्रूमः । स्याद्विरोधो यदि स्वलक्षणमेवार्थो न त्वेतदास्ति । उपपादयिष्यति हि परमार्थसंज्ञात्यादिमन्तमर्थं स्थेमभाजमभिलापसंसर्गयोग्यं, तेन तज्ज्ञानितं ज्ञानमर्थसामर्थ्यजं चाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं चेति न विरोधः । तथा च प्रसङ्गसाधनस्य संदिग्धव्यतिरेकिता । न च द्रव्याद्यभिन्नं जात्यादि भिन्नं कल्पयन्तो विकल्पा नार्थसामर्थ्यजन्मान इति सांप्रतम् । द्रव्यादपि हि भेदः साधयिष्यते तेषाम् । यथा च भेदेऽपि तेषां तद्वाचकानां सामानाधिकरण्यं तथोपपादितमवस्तात् । न च भिन्नेन शब्देन द्वित्योऽयमित्यभेदक-

रूपनादर्थस्य विकल्पानामनर्थजत्वमिति युक्तम् । उक्तमेतद् अव्य-
पदेश्यपदव्याख्यानावसरे यथा न शब्दाभेदेनार्थो विकल्पैरूपद-
श्यते, किन्तु तदस्थ एव शब्दः स्ववाच्यतया संसर्गेण संज्ञिनमुपलक्ष-
यति । न च शब्दार्थयोरेकेन्द्रियग्राह्यता, किं तु प्रथममालोचितोऽर्थः
सामान्याविशेषवान् सङ्केतसमयवर्तिनीमात्मनोऽवस्थां स्मारयन्
तत्कालभाविनं शब्दमपि स्मारयत्यवर्जनीयतया, न त्विन्द्रिय-
यजविकल्पोत्पादं प्रत्युपयोगः काश्चिच्छब्दस्मरणस्य । अन्यथा
बालमूकादीनां नेन्द्रियजः स्याद्विकल्पः शाब्दस्मरणाभावात् ।
संकेतसमयवर्त्यवस्थास्मरणं तूपयुज्यते । वस्तुनस्तदानीन्तनेदा-
नीन्तनावस्थाभेदवत् एकस्येन्द्रियजेन विकल्पेनाऽऽकलनात् ।
शब्दस्तु संपातायातो न निवेशयत्यात्मानमिन्द्रियजे विकल्पे ।
यथाऽऽह ।

‘देवदत्तादिशब्देन हृदयस्थेन यः स्मृतः ।

चक्षुषाऽपि स एवायं पिण्डः संप्रति दृश्यते’ ।

अनेन हि पिण्डस्य पूर्वापरावस्थावर्तिनीमेकतामिन्द्रिय-
जविकल्पगोचरत्वेन दर्शयति, न तु शब्दनिवेशनमपि । तथाऽह—

‘संज्ञा हि स्मयर्माणाऽपि प्रत्यक्षत्वं न बाधते ।

संज्ञिनः सा तदस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा’ ।

नार्थेन्द्रियव्यापारं व्यवधत्त इत्यर्थः ।

न च प्रागवस्थास्मरणसोपेक्षतया नेन्द्रियार्थसंज्ञिकर्षः का-
रणं विकल्पस्येति सांप्रतम् । यतो—

‘न किं चिदेकमेकस्मात् सामग्याः सर्वसम्भवः’ ।

इति भवन्तोऽप्याहुः । अन्यथाऽऽलोकमनस्कारसोपेक्षमर्थे-
न्द्रियं निर्विकल्पकमपि न जनयेत् । यत्तु प्रथमं नाजीजनतत्
स्मरणसहकारिविरहात् । न हि नाजीजनत्कुशूलस्थं बीजमङ्कुर-

४सू० ३प्र०] सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वसमर्थनम् । १३९

रमिति ससमवाहितक्षित्यादिसहकारिग्रामप्यस्याजनकं भवति ।
न च जनकत्वाजनकत्वलक्षणो विरुद्धधर्मसंसर्गो भेदहेतुरित्यु-
पपादायिष्यते क्षणभङ्गभङ्गे ।

स्यादेतत् । अतीतावस्था नेन्द्रियगोचरस्तस्य वर्तमा-
नार्थे नियमात् । न च वर्तमानोऽर्थः स्मरणगोचरः स्म-
रणस्यानुभवजनितसंस्कारोद्बोधजन्मनः पूर्वानुभवगोचरं प्रति-
नियमात्तस्माद्विन्नविषयतया नेन्द्रियसहकारिता स्मरणस्य ।
न हि रूपाविषयाः सहस्रमपि नयनप्रदीपादयः शब्दविष-
यस्य श्रवसः सहकारितामापद्यन्त इति ? । तर्हि भवतां यत्र
गन्धबुद्ध्यनन्तरं चाक्षुषरूपविज्ञानं तत्र गन्धज्ञानं न समनन्तर-
प्रत्ययः । तत्रापि हि चक्षूरूपविषयं न गन्धाविषयस्य ज्ञानस्य स-
हकारि भवितुमर्हति भिन्नविषयत्वादेव । अथान्वयव्यतिरेकनि-
बन्धनः कार्यकारणभावो न समानविषयत्वमनुविधीयत इत्यु-
च्येत तदस्माकमपि समानम् । नन्वतीतावस्थाविशिष्टत्वमस्य
नेन्द्रियसन्निकृष्टमिति कथं प्रत्यक्षम् । तर्हि यदिन्द्रियसंबद्धं तत्
प्रत्यक्षं तथा सत्याकाशपरमाण्वादयोऽपि तत्संयुक्ता इति तेऽपि
प्रत्यक्षाः प्रसज्येरन् । तस्माद् यदेवेन्द्रियजस्य ज्ञानस्य गोचर-
स्तत्प्रत्यक्षं न त्विन्द्रियसंबद्धम् । नन्वसंबद्धं इन्द्रियं कथं तत्र
ज्ञानं जनयति । तद्वा ज्ञानं कथं प्रत्यक्षं, प्रत्यक्षं चेत् कथमिन्द्रि-
यार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति लक्षणं प्रत्यक्षं व्याप्नोति अस्यैव प्रत्य-
क्षस्य लक्षणेनाव्यापनात् ? मा भूदर्थस्य पूर्वकालवार्त्तिनेन्द्रिय-
गोचरः । तथाऽपि स्मरणसहकारिणा संस्कारसहकारिणा वे-
न्द्रियेण यज्जनितं ज्ञानं तेन तद्विषयीक्रियत एव । न च यत्स्म-
रणसहकारिणेन्द्रियार्थसन्निकर्षेणोपजनितं तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षे-
णोत्पन्नं न भवति । तथा च नाव्यापकमस्य लक्षणम् । ननु पू-

वर्षावस्थाविषयं परामर्षज्ञानं कथमेकं, विषयभेदात् पारोक्ष्या-
 पारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाच्च । तथा हि तदिति परोक्षमि-
 दमिति साक्षात्कारः । न च विरुद्धधर्मसंसर्गेऽप्येकत्वम् । त्रै-
 लोच्यस्यैक्यप्रसङ्गात् । विषयभेदश्च पूर्वदेशकालपरदेशकालसम्ब-
 न्धयोरेकस्य विरोधान्, यथा ह्येकस्मिन् पञ्चरागमणौ गृह्यमाणे
 तदभावो व्यवच्छिद्यते । यदि पुनर्न व्यवच्छिद्येत तदा भावो न
 परिच्छिद्येत तस्य स्वाभावव्यवच्छेदरूपत्वात् । तदभावाविना-
 भाविनश्च पुष्परागादय इति तेऽपि सर्वे व्यवच्छिन्ना भवन्ति ।
 यदि पुनर्न व्यवच्छिद्येरन् स एव पुष्परागाद्यात्मेति तदाविना-
 भावी पञ्चरागाभाव इति स एव तदैव पञ्चरागाभावः पञ्चराग-
 श्च स्यादिति दुर्घटमापद्येत । एवं तस्यैव पूर्वदेशकालसम्बन्धे
 गृह्यमाणे तदभावव्यवच्छेदक्रमेण परदेशकालसंबन्धो व्यवच्छि-
 न्नः पूर्वदेशकालसंबन्धाभावाव्याभिचारी । तथा च न परदेश-
 कालसंबन्धस्वभावः । तथाऽपि यद्यसौ तद्देशकालसंबन्धादन्य-
 स्वभावो भवेत् । तथा सति स एव भवेन्न भवेच्चेति दुर्घटमापद्ये-
 त । तस्मात्पूर्वदेशकालसंबन्धादन्योऽपरदेशकालसंबन्ध इति सि-
 द्धो विषयभेद इति ।

अत्रोच्यते । यदि पारोक्ष्यापारोक्ष्यधर्मभेदात्पूर्वापरा-
 वस्थापरामर्षज्ञानं भिद्येत, हन्त भोस्तदित्यपि विकल्पो भिद्येत ।
 सोऽपि हि परोक्षश्चापरोक्षश्च विकल्पोऽविकल्पश्च । अर्थे प-
 रोक्षो विकल्पश्च, स्वात्मनि त्वविकल्पः अपरोक्षश्च तस्माद्विष-
 यभेदादविरोध इति चेत् ? नन्विहापि तदेवैकं विज्ञानं तस्यैवैकस्य
 वस्तुनः पूर्वदेशकालसम्बन्धे परोक्षमपरोक्षं चापरदेशकालस-
 म्बन्ध इति को विरोधः । योऽपि कालदेशसंबन्धभेदेन विष-
 यभेदे उक्तः सोऽप्युक्तः, यतो युक्तं यत्पञ्चरागस्वरूपग्रहे

४सू० ३प्र०] सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वसमर्थनम् । १४१

तदभावो व्यवच्छिद्यत इति स्वाभावव्यवच्छेदात्मकत्वेन भावानां
तदव्यवच्छेदे स्वरूपाग्रहणप्रसङ्गात् । कस्मात्पुनः पुष्परागादयो
व्यवच्छिद्यन्ते । पद्मरागाभावाविनाभावादिति चेत् । अथ तद-
भावाविनाभावज्ञानं कुतस्त्यं ? तयोः कदा चिदपि तादात्म्ये-
नानुपलम्भादिति चेत् ? यत्र तर्हि तादात्म्यमुपलभ्यते न तत्र
तदभावाविनाभावः, तथा च पूर्वापरदेशकालसंबद्धस्तादात्म्ये-
नानुभूयमान इन्द्रियजेन विकल्पेन पद्मरागो न भिन्नो भवितुम-
र्हति । तस्मात्पूर्वापरदेशकालौ तत्संबन्धौ वा कामं भिद्येयाताम्
परस्पराभावाविनाभावात् । तयोरेकदा ऽपि तादात्म्येनाप्र-
तिभासनात् । न तु तदालिङ्गितस्वभावः पद्मरागमणिस्तस्य ता-
भ्यामन्यत्वात् । न चान्यभेदो ऽन्यभेदमापादयति अतिप्रसङ्गात् ।
न चेन्द्रियार्थसन्निकर्षाभावे ऽपि पूर्वापरावस्थापरामर्शात्मनो वि-
कल्पस्य भावादिनिन्द्रियजत्वमिति साम्प्रतम् । तथा सत्यविकल्प-
कमपि कामातुरस्य कामिनीं भावयतस्तद्विषयमिन्द्रियार्थसन्निक-
र्षं विना ऽपि दृष्टमिति नीलाद्यनुभवात्मानो ऽप्यविकल्पका अ-
निन्द्रियजाः प्रसज्येरन् । यदि तु नीलाद्यनुभवानां कामिन्यनु-
भवात् कथं चिद्विशेषं ब्रूयात् तदा ऽस्माकमप्यनिन्द्रियजेभ्यो वि-
कल्पेभ्य उत्प्रेक्षाव्यापारेभ्यो ऽस्तीन्द्रियजानां दर्शनव्यापाराणां भे-
दः । न च विकल्पगतो दर्शनव्यापारो ऽनुभूयमानः सति सम्भवे
निर्विकल्पकोपाधिरिति युक्तम् । सर्वा एव हीन्द्रियजा वृत्तयो
विकल्पिका अविकल्पिका वा धारावाहिन्यो ऽहमहमिकया
परस्परानपेक्षा एकमर्थमवगाहमाना उदयन्ते व्ययन्ते च, न
त्वमूपामन्योन्यमनुगन्तुतामीक्षामहे । तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षल-
ब्धजन्मानो विकल्पा दर्शनव्यापारा नान्य इति युक्तमुत्तराश्या-
मः । न च शब्दप्रत्यक्षयोर्वस्तुगोचरत्वे सत्यपि प्रत्ययाभेदः का-

रणभेदेन पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदोपपत्तेः । न च बह्विसंयोगजन्मा शी-
तापनोदो बह्विज्ञानाद्भवितुमर्हति । न चैकनोपाधिना सत्त्वेन वि-
शिष्टे तस्मिन् गृहीते उपाध्यन्तरविशिष्टे तद्ब्रह्मसङ्गः स्वभावो हि
द्रव्यस्योपाधिभिर्विशिष्यते न तूपाधयो वा तैर्विशिष्टत्वं वा तस्य
स्वभावः । न च यत्स्वभावसम्बन्धि स स्वभावः, तथा सत्यसं-
बन्धित्वमेव स्यात्, न हि तदेव तेन संबध्यते । अपि च रूपाविज्ञानं
विषयग्रहणधर्मं नानापरमाणुविषयं न परमाणुस्वभावः । तत्स्व-
भावत्वे वा तेषां सर्वान्प्रत्यविशेषात् सर्वैरेव ते परमाणवो वि-
दिताः स्युः । न चासंबद्धा एव स्वज्ञानेन रूपपरमाणवो विष-
यास्तस्येति वाच्यम् । असम्बद्धस्य विषयत्वे ऽतिप्रसङ्गात् ।
स्वभाव एवार्थज्ञानयोः सम्बन्धो यदर्थो विषयो ज्ञानं च विषयीति
चेद् । हन्तोपाध्युपाधिमतोरपि स्वभाव एव संबन्धो ऽस्तु तथा
ऽपि विज्ञानार्थवन्न स्वरूपाभेदः । क्षणभङ्गपरिणामनिराकरणे तु
स्वभावातिरिक्तं सम्बन्धमुपपादयिष्यामः । तस्मान्नैकोपाध्य-
न्वितग्रहे सकलोपाध्यन्वितप्रत्ययप्रसङ्गः । यच्चैकविज्ञानगोचर-
योर्न विशेषणविशेष्यभाव इति । तत्र ब्रूमः । भिन्नज्ञानगोचरत्वेपि
नासौ सम्भवति । न हि विशेषणज्ञानं विशेष्याविषयं विशेष्य-
मवच्छेत्तुमर्हतीति । एवं विशेष्यज्ञानमपि विशेषणाविषयकं न
स्वविषयमवच्छिन्द्यात् । तयोः परस्परवार्त्तानभिज्ञत्वात् । ताभ्यां
वासना ततो मानसप्रत्ययो विशेषणविशेष्याकार उत्पद्यते न त्व-
स्ति वास्तवो विशेषणविशेष्यभाव इति चेद् । अस्तु तावद् वास्त-
वावास्तवचिन्ता, करिष्यते हीयमुपरिष्ठात् । यस्तु भवतामस्य
मानसत्वे प्रयासः स वरमिन्द्रियजत्व एव भवतु, तथा सति दर्श-
नव्यापारत्वमस्य साक्षात्समर्थितं भवति । इतरथा हि निर्विक-
ल्पकोपधानं कल्प्येत । नन्वविचारकमिन्द्रियज्ञानं कथं वि-

४सू० ३प्र०] सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वसमर्थनम् । १४३

शेषणविशेष्यादि सकलं समाकलयेत् । हन्त भोः किं मानस-
मपि ज्ञानमाकलयितुमर्हति । संकलयति, मनसस्त-
त्कारणस्य सर्वविषयत्वादिति चेत् । यदि पूर्वकं विज्ञानं मनः
कथं तस्य सर्वविषयता ? । अस्माकन्तु सर्वविषयमपि अचेतनत-
या न विचारकं, तस्मादात्मैव सकलज्ञानतज्जनितवासनाधारः
स्मर्ता च प्रतिसंधाता च । यदाह—

‘आत्मन्येव स्थितं ज्ञानं स हि बोद्धा ऽवगम्यते ।

स्मरणे चास्य सामर्थ्यं संधानादौ च विद्यते’ ॥

स खल्विन्द्रियार्थसन्निकर्षादालोच्य जातिमन्तं संमुग्धम-
र्थमुद्बुद्धसंस्कारसमुपजातपूर्वापिण्डानुस्मृतिसहायः प्रागेव च-
क्षुषा विकल्पयति गौरयमिति । यथा ऽऽह ।

‘करणं चेन्द्रियं बुद्धेः कर्ता चात्मा स चेतनः ।

स च स्मृतिसमर्थत्वात् सर्वार्थान् कल्पयिष्यति’ ।

तेनैकविज्ञानवेद्यत्वे यद्यपि ज्ञाप्यज्ञापकभाव उपकार्योप-
कारकभावो नास्ति तथा ऽपि तदर्थालोचनानुगतस्मरणयोर्वि-
शेषणविशेष्यभाववगाहि विज्ञानं प्रत्युत्पादकत्वमेवोपकारकत्व-
मस्ति । अथौ हि रूपरूपिभावेन स्थितावपि नापातजन्मना ज्ञा-
नेन तथा गृहीतावपि तु स्वरूपमात्रेण, न हि यावदास्ति तावद्ग-
हीतव्यं, तेन तदेकदेशग्रहणे ऽपि नाप्रमाणता । सविकल्पकं तू-
क्तसामग्रीजन्म जात्यादि रूपतया द्रव्यं च रूपितया कल्पयेत् ।
पश्चाज्जायमानमपीन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवतया प्रत्यक्षं भवत्ये-
व । अक्रमस्यापि क्रमवत्सहकारिभेदसमवधानवशात्क्रमेण का-
र्यकरणमुपपादयिष्यते । तत्सिद्धमेतद्विवादाध्यासिता विकल्पाः
स्वगोचरे प्रत्यक्षाः अव्यभिचारित्वे सतीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वा-
त् । यो य एवम्भूतः स सर्वः प्रत्यक्षो यथा ऽऽलोचनं, तथा चैतत्त-

स्मात्तथेति । तस्मात्सविकल्पकप्रत्यक्षावरोधार्थं व्यवसायात्मक-
पदमिति सिद्धम् । तदस्य सविकल्पकप्रत्यक्षावरोधार्थस्यान्वाचीयमानो व्यव-
च्छेदः तद्व्यवच्छेद्यप्रतिपादनार्थं भाष्यमनुभाष्यान्वाचीयमानमेव
व्यवसायात्मकपदस्यार्थमाह । दूराच्चक्षुषेति । (३७ । १६)
न चैतन्मन्तव्यमिति भाष्यं व्याचिख्यासुर्देशयति । न सं-
शयस्येति । ननु सतीन्द्रियार्थसन्निकर्षे पुरोवर्तिनि द्रव्ये
धूम इति वा रेणुरिति वा ज्ञानमुत्पद्यमानं कथमनिन्द्रियज-
मित्यत आह । न हीति । कस्मान्मानस इत्यत आह । संशीति-
रिति । संपूर्वो हि शीङ् भावप्रत्ययान्तो विशेषापेक्षे विमर्षे
वर्तते, स चैकाधिकरणे स्मर्यमाणौ मिथो विरुद्धौ
धर्मावारोपयन्नन्यतरन्नावधारयति । तथा चाधिकरणमात्रस-
मर्पणमिन्द्रियव्यापारो, मनसा तु स्मरणसहकारिणैव पुरुषः
संशेते । अत एव विस्फारिताक्षः सौदामिनीसंपातात्सकृदालोच्य
कं चित्सामान्यवन्तं धर्मिणं समन्धकारे संदिग्धे, तस्मान्मानस
एवैष संशयो न त्विन्द्रियज इत्यर्थः । तदेतत् परिहरन् न चैतदि-
सादिभाष्यं व्याचष्टे । तच्च नैवम् । (३७ । १९) कस्मात् ।
संशयस्येति । उभयं त्विति । तु शब्दो मनोमात्रनिमित्तत्वं
व्यवच्छिनत्ति । तदनेन चक्षुषा हि इत्यादि भाष्यं व्याख्या-
तम् । पश्यन् समानधर्माणं धर्मिणं नावधारयति—विशे-
षतः संदिग्धे तस्मिन्नित्यर्थः । इन्द्रियेणोपलब्धं सन्निकृष्टं
सन्निकर्षपूर्वकत्वादुपलब्धेः मनसोपलभते जानीते चक्षुःसहा-
येनेत्यर्थः । अत्र भाष्यं—यच्च तदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं
मनसाऽनवधारणं तद्विशेषापेक्षं विमर्षमात्रं संशयो
न पूर्वमिति । अनवधारणशब्दोऽयं संशयज्ञानवाचकः

स्वशक्यकारणेन्द्रियार्थसन्निकर्षे प्रयुक्त उचारेण । उपरतेन्द्रियव्या-
पारस्य हि संशयज्ञानदर्शनात् सत्यपीन्द्रिय(१)व्यापारे संशयो
नेन्द्रियज इति देशिकोऽभिमन्यते । तदनयोः संशयज्ञानयोर्मध्ये
यत्तदिन्द्रियानवधारणपूर्वकमिन्द्रियार्थसन्निकर्षपूर्वकं मनसा-
ऽनवधारणं संशयज्ञानमित्यर्थः । न पूर्वं यदुपरतेन्द्रियव्यापारस्य
संशयज्ञानं दृष्टान्ततया हृदि व्यवस्थितं शङ्कितुरित्यर्थः । तदेत-
द्भाष्यं व्याचष्टे । तत्र यदिन्द्रियार्थेति । (३७ । २१) इन्द्रि-
यार्थसन्निकर्षश्चासावनवधारणं चेति कर्मधारयः, तत्पूर्वकं
मनसाऽनवधारणं संशयज्ञानमित्यर्थः । ननु स्मरणव्यवाहित-
व्यापारमस्य कारणं नेन्द्रियमित्यत आह । तस्य हीति ।
उपपादिमेतदधस्तात् यथा स्मरणं नेन्द्रियव्यापारं व्यवधत्त इति ।
पूर्वं त्विति । दृष्टान्ततया पूर्वत्वम् ।

स्यादेतत् । मन एवेन्द्रियानपेक्षं बाह्ये प्रवर्तत इत्यभ्युपेयम-
न्यथा घटमहं जानामीति ज्ञानमनिमित्तं स्यात् । न तावादिन्द्रि-
यजमान्तरे ज्ञाने चक्षुरादीनामप्रवृत्तेः । नाप्यनुमानादिष्वन्तर्भ-
वति लिङ्गाद्यभावात् । तस्मान्मानसमेवेदम् । यदि च घटादौ
बाह्ये न मनः प्रवर्तते कथं घटमिति भवेज्जानामीत्येव स्यात् ।
न चार्थनिरूपणमन्तरेण ज्ञानरूपनिरूपणं, तस्माद्बाह्याभ्यन्तर-
विषयं मनः, तथा च सर्व एव संशयो मानस इत्याशङ्क्याह भाष्य-
कारः सर्वत्र प्रत्यक्षविषय इति । यद्यप्ययमीदृशोऽनुव्यव-
सायो मानसस्तथाऽऽन्धबधिरादीनामभावात्तत्पूर्वं व्यवसायो-
त्पत्तौ चक्षुराद्यपेक्षणीयम् । अन्यथाऽऽन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गः ।
तथा च संशयज्ञानोत्पादेऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपेक्षणीय इ-
त्यर्थः । तदिदं तस्य हीत्यादिना वार्तिकेन व्याख्यातम् ।

अव्यापकत्वेन लक्षणाक्षेपपरं भाष्यमात्मादिष्वित्यादि,
तद्याचष्टे । इन्द्रियार्थेति । (३८ । १) देशयति । कथं पुन-
रिति । परिहरति । इन्द्रियेति । मा भूदिन्द्रियसूत्रे पाठः, तद्धि
बाह्येन्द्रियलक्षणमान्तरं च मन इत्यत आह । पृथक् चेति ।
(३८ । ६) न च सुखादौ प्रमाणान्तरमस्ति, तस्मात्पारिशे-
ष्यात्सिद्धं प्रत्यक्षत्वमित्याह । प्रत्यक्षाश्चेति । ननु नैते प्रमेयाः,
स्वसम्बेदनसिद्धत्वात्, तत्किमत्र प्रमेयार्थेन प्रमाणेनेत्यत आह ।
न च तेषामिति । ननुक्तं स्वसंवेदनतया न प्रमाकर्म्मभाव एषा-
मित्यत आह । न चान्या गतिरिति । संवेदनत्वेन हि तेषां स्वसं-
वेदनता न चैते संवेदनमित्युक्तमधस्तादिति भावः । आक्षेपमु-
पसंहरति । तस्मादिति । भाष्ये चात्मादिषु सुखादिष्विति
नित्यानित्याभिप्रायं वर्गद्वयमात्मसुखदुःखत्वादयो नित्या अनि-
त्याश्च सुखदुःखादय इति । तदिदमुक्तं दिग्भागेन ।

‘न सुखादिप्रमेयं वा मनो वाऽस्तीन्द्रियान्तरम् ।’

न च तत्सम्भवति । घ्राणादिसूत्रेण विभागपरेण निषेधा-
दिति भावः ।

समाधिभाष्यमिन्द्रियस्य वै सत इति । तद्याचिरुया-
सुर्गुढाभिप्रायः पृच्छति । कश्चैत्रमिति । (३८ । ११) आक्षे-
प्तुरुत्तरमिन्द्रियार्थेति । समाधाता आह । नैष दोष इति ।
आक्षेप्तुरनुशयबीजमुद्वाह्य दूषयति । यत्तु सूत्र इति । नेदं
विभागपरं घ्राणादिसूत्रमपि तु लक्षणपरं, तत्र चेन्द्रियमपि मनो
न लक्षितं वैधर्म्यादित्यर्थः । वैधर्म्यमाह । वैधर्म्यमिति । तत्र
प्रमाणयति । सर्वविषयं त्विति । वैधर्म्यान्तरं दूषयति । भौति-
केति । कार्यस्य हि विशेषौ भौतिकत्वाभौतिकत्वे, भूतकार्यं
भौतिकं यद्भूतकार्यं न भवति तद्भौतिकं न भवति । भूतकार्य-

त्वप्रतिषेधश्च तदन्यकार्यत्वं गमयति । विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनु-
 ज्ञानहेतुत्वात् । इतरथा त्वकार्यमेवोच्येत न त्वभौतिकम् । तस्मा-
 द्दकार्यस्य मनसोऽभौतिकत्वं कार्यधर्मो विरुद्धमित्यर्थः । अपि
 च वैधर्म्यान्मनोवत् श्रोत्रमपि न वक्तव्यमित्याह । श्रोत्रे चेति ।
 शङ्कते । स्वार्थ इति । भूतानि हि घ्राणादीनि श्रोत्रान्तानि मनस्तु
 न भूतमिति वैधर्म्यमित्यर्थः । निराकरोति । तच्च नेति । (३८ ।
 २५) दर्शयिष्यति हि वार्त्तिककारो यथा स्वार्थिको न कश्चि-
 दपि प्रत्यय इत्यर्थः । आक्षेपहेतुमनुभाषते । यत्पुनरिति ।
 (३९ । २) दूषयति । तन्नास्तीति । तदनेन सति चेन्द्रिया-
 र्थसन्निकर्षे इत्यादि भाष्यं व्याख्यातम् । यच्चापरं वैधर्म्यं
 घ्राणादिभ्यो मनस उक्तं भाष्यकारेण तत्सिंहावलोकितेन दूष-
 यति । सगुणानामिति । घ्राणादीनि यथा स्वस्वगुणेन गन्धादि-
 ना बाह्यं गन्धादि बोधयन्ति नैवं स्वगुणेन शब्देन श्रोत्रं बाह्यं शब्दं
 बोधयति, तन्मनोवत् श्रोत्रमपि घ्राणादिसूत्रे न पठितव्यमित्यर्थः ।
 भाष्योक्तेषु मध्येऽभिमतं वैधर्म्यमुपसंहरति । तस्मादिति ।
 भूतत्वाभूतत्वलक्षणं वैधर्म्यं न भौतिकत्वाभौतिकत्वग्रहणेन
 शक्यमित्यवधारणाभिप्रायः । ननु युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेर्ज्ञानका-
 रणं मनोऽस्तीत्यवगम्यते न पुनरस्येन्द्रियत्वमपि, तद्भावानव-
 गमे च नेन्द्रियार्थसन्निकर्षजं सुखादिज्ञानं शक्यं वक्तुमित्यत
 आह । तन्त्रान्तरेति । (३९ । ७) तन्व्यते व्युत्पाद्यते अनेन
 तत्त्वमिति तन्त्रं शास्त्रम् । तदनेन मनसश्चेत्यादि भाष्यं व्या-
 ख्यातम्, तद्दूषितं दिग्भागेन ।

‘अनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा ।’

तद्दूषयितुमुपन्यस्यति । न शेषेति । तद्दूषयति । न त-
 न्वयुक्तीति । (३९ । ११) सर्वस्य तन्त्रान्तरे लोके च सि-

द्धत्वादवक्तव्यतायां स्वमतमपि नास्ति । वचनलिङ्गं हि मत-
ज्ञानं न चाननुमते निषेधमात्रं शक्यं कर्तुमभावस्य भावनिरूपणा-
धीननिरूपणत्वादिति भावः । सिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मा-
दिति । प्रकृतमुपसंहरति । तदिति ।

तदेवं लक्षणपदानि व्याख्याय विमृषति । समस्तमिति ।
(३९ । १७) अभिमतमाह । समस्तमित्याह । भाष्यकारः ।
हेतुमाह । यस्मादिति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचा-
रीति हि प्रत्यक्षलक्षणमनवयवेन समानासमानजातीयव्यावृत्तं
शक्यमेव लक्षयितुम् । नो खल्वयमसावश्व इति ज्ञानमिन्द्रियजं
शब्दजं संभवति । तादृि द्रव्यगोचरं वा भवेद् वाच्यत्वगोचरं वा
वाच्यत्वविशिष्टद्रव्यगोचरं वा । तत्र द्रव्यमैन्द्रियकमेव न शाब्द-
मित्यशक्यं तज्ज्ञानं व्यवच्छेत्तुमनभिमतं च । वाच्यत्वगोचरं तु
ज्ञानं शाब्दमेव, अन्यथा ह्यश्रुतशब्दोऽप्यारण्यकोऽश्वमेवेन्द्रि-
यसन्निकर्षादश्वशब्दवाच्य इति गृह्ययात् । वाच्यत्वविशिष्टद्रव्य-
ज्ञानमपि शाब्दमेव वाह्यविशिष्टधूमज्ञानमिवानुमानिकमन्यथा त-
दप्यैन्द्रियकमिति न तन्निकरणाय यत्ना(१)न्तरमास्थेयम् ।
अथ न वाच्यत्वं नाम मीमांसकानामिव किञ्चिदतीन्द्रियमपि
तु संकेतमात्रमेतस्मादिदं प्रत्येतव्यमिति । तथाऽपि तव्यार्थः
शाब्द एव । अथायमप्यैन्द्रियक एव, तत्र गुरूपदिष्टा गाथा प-
ठितव्या—

‘शब्दजत्वेन शाब्दं चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः ।

स्पष्टग्रहणरूपत्वाद्युक्तमैन्द्रियकं हि तत् ।’

तस्मान्नोभयजं ज्ञानं यद्वारणायाव्यपदेश्यपदं कैश्चिदुक्त-
मिति । व्यवसायात्मकपदेन तु सविकल्पकेऽवरुद्धे निर्विकल्प-

कस्याप्रत्यक्षता मा स्वाक्षीदिति तदवरोधार्थेनाव्यपदेश्यपदेन
निर्विकल्पाकेपि शब्दसम्भेदनिराकरणमन्वाचितमिति शाब्दे-
त्युक्तमव्यपदेश्यपदेन निर्विकल्पकेऽवरुद्धे सविलपकस्ये-
न्द्रियजस्याप्रत्यक्षत्वं मा स्वाक्षीदिति तदवरोधार्थेन व्यव-
यात्मकपदेन संशयज्ञानप्रत्यक्षत्वनिराकरणमन्वाचितमिति सं-
शयेत्युक्तम् । अन्वयं दर्शयित्वा व्यतिरेकमाह । यदीति ।
उपसंहरति । तस्मादिति । हेयास्त्रिंशत् कोटीर्गणयति ।
तत्रेति । (४० । ८) द्विपदपरिग्रहेण दश, इन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षोत्पन्नपदं ध्रुवं कृत्वा ज्ञानाद्येकैकपदसंबन्धेन चतस्रः
कोटयो ज्ञानं च ध्रुवं कृत्वा अव्यपदेश्याद्येकैकपदसंबन्धेन
तिस्रः एव (१) अव्यपदेश्यमिति ध्रुवं कृत्वाऽव्यभिचार्याद्ये-
कैकपदसंबन्धेन द्वे कोटी अव्यभिचारिपदं ध्रुवं कृत्वा व्यव-
सायात्मकसंबन्धेन कोटिरेका । त्रिपदपरिग्रहेणापि दशैव,
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमिति ध्रुवं कृत्वाऽव्यपदेश्याद्येकैकप-
दसंबन्धेन तिस्रः कोटयो ज्ञानमव्यपदेश्यमिति ध्रुवं कृत्वाऽव्यभि-
चार्यादिपदसंबन्धेन द्वे कोटी अव्यभिचार्यव्यपदेश्यपदयोस्तु
व्यवसायात्मकपदसंबन्धे कोटिरेका इन्द्रियार्थसन्निकर्षाव्यपदेश्य-
पदध्रौव्ये चाव्यभिचार्याद्येकैकपदसंबन्धे कोटिद्वयम् अव्यभिचा-
रिव्यवसायात्मकपदयोस्तु ध्रुवयोरिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नपदेन
ज्ञानपदेन च प्रत्येकं संबन्धे कोटिद्वयमिति त्रिपदपरिग्रहेण दश
कोटयः । चतुष्पदपरिग्रहेण पञ्च । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं
ज्ञानमव्यपदेश्यमिति ध्रुवं कृत्वा व्यभिचार्याद्येकैकपदसंबन्धे द्वे
कोटी अव्यपदेश्यपदं त्यक्त्वा परकोटिः ज्ञानपदं त्यक्त्वा
चापरा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नपदं त्यक्त्वा तु पञ्चमी । पृच्छति ।

कस्मात् (४० । १०) पञ्चपदपरिग्रहेणैकत्रिंशत्तमकोटिपरि-
ग्रहेणेतराः कोटयो व्यवच्छिद्यन्ते, न ह्यत्र तद्व्यवच्छेदवाचकः
कश्चिदस्ति शब्द इत्यर्थः । उत्तरम् विशेषेति । विशेषविधान-
प्रस्तावे शेषनिषेधोपन्यासो दृष्टान्तलाभाय, एकदेशाभ्युपगमे
एकत्रिंशत्कोटिषु एकत्रिंशत्तमी कोटिरेकदेश इत्यर्थः । शेष-
विधानं वेति । वाशब्द इत्यर्थः ।

तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तावत्प्रत्यक्षलक्षणं
विकल्पयितुमुपन्यस्यति । अपरे पुनरिति । (४० । १६)
लक्षणं व्याचष्टे । ततोऽर्थादिति । यत्तदोन्नित्याभिसम्बन्धाद्
यस्यार्थस्य यद्विज्ञानं व्यपदिश्यते यदि तत एव तद्भव-
ति नार्थान्तराद्व्यपदेशासम्बन्धिनस्तत्प्रत्यक्षम् । अत
एव व्यपदेशासम्बन्धिनोऽर्थान्तरात् शुक्तिरूपाज्जायमानं रज-
तेन व्यपदिश्यमानं शुक्तिज्ञानं न प्रत्यक्षं, व्यपदेशकादनुत्पत्तेः
व्यपदेशकरजतस्य तत्राभावात् । एतस्य प्रत्यक्षाभासस्य व्यावृ-
त्तिः सुप्रसिद्धेति तामुपेक्ष्यानुमानव्यावृत्तिमाह । एतेनेति । कु-
तः ? न हि तत एव व्यपदेशकादेव बह्वेः तद्विज्ञानमनुमानं
भवति । किं तु यत्र बहिरस्ति तत्र ततश्च यत्र तु दृष्टमात्र एव
बह्वेरुपरमादुपरतो धूमस्तत्रान्यतश्च तद्भवति स्मर्यमाणाद्धूमा-
मादसति तद्व्यपदेशके बह्वौ । ततोऽर्थादित्यत्रार्थविशेषणं तत इ-
ति, तत्संगतश्चैवकारोऽयोगव्यवच्छेदे वर्त्तते यथा चैत्रो धनु-
र्द्धर एवेति । तेन यत्रैव तदयोगः तदप्रत्यक्षमित्यर्थः । तदेतल्लक्ष-
णं दूषयति । अत्रार्थग्रहणमनर्थकं, न हि ज्ञानव्यपदेश आत्मना
वा इन्द्रियेण वा सम्भवति । शङ्कते । अवधारणार्थ इति । (४० ।
२०) अयोगव्यवच्छेदेनैतदवधारणं विशेषणसङ्गतश्चैवकारो-
ऽयोगं व्यवच्छिनत्ति । असति चार्थपदे कस्येदं विशेषणमिति

४८० ३५०] तन्त्रान्तरीयप्रत्यक्षलक्षणखण्डनम् । १५१

विशेषणासङ्गतो नैवकारोऽयोगं व्यवच्छिन्त्यादिति भावः ।
निराकरोति । तन्नेति (४० । २४) । तत इति सर्वनाम्नः
सन्निहितविशेष्यापेक्षत्वात् । अन्यथाऽभिधानापर्यवसानात्
यस्य तद्व्यपदिश्यत इति व्यपदेशसम्बन्धी विशेष्यः प्राप्यत
एवेति सिद्ध्यत्येव विशेषणत्वम् । अभ्युपेत्य त्ववधारणमात्रेऽप्य-
दोष इति मन्यमानेनावभञ्ज इत्युदाहृतम् । अन्यव्यवच्छेदे तदर्थे
हि तदेवान्यद्व्यवच्छिद्यते यद्विरोधि न पुनरन्यमात्रं, यथाऽऽहुः ।
'नियमस्तद्विरोधाच्च कल्प्यते नाविरोधिनः ।' इति ।

स्यादेतत् । तत इत्युच्यमाने यतस्ततः स्यात्तथा चा-
नुमानाद्यपि लिङ्गज्ञानादेस्तत उपजायत इति प्रत्यक्षं प्रसज्येतेति
तन्निवृत्त्यर्थमर्थादिति वक्तव्यं, न हि तदर्थोज्जायते, अपि तु प्र-
त्यक्षमेवेत्यत आह । एतेनेति । (४० । २५) यस्य तद्व्यपदि-
श्यत इत्येतदपेक्ष्य ततःशब्दसामर्थ्येनानुमानादिव्युदासो-
ऽपि प्रत्युक्तः । यच्च ततःशब्दस्य व्यावर्त्यन्तरमुक्तं तदपि दूष-
यति । यत्पुनरेतदिति । यदि हि यस्य व्यपदिश्यते ज्ञानं तत्
प्रत्यक्षं ततो घट इत्यपि ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्येत, तदपि हि घटस्य
व्यपदिश्यते, न तु ततो घटाद्भवति, तस्य विचारासहतया पर-
मार्थसत्त्वाभावेन संवृतिसतो विज्ञानं प्रति कारणत्वाभावात्, तेन
तन्निवारणार्थं तत इत्युक्तं, तदेतन्न बुद्ध्यामहे कथमपक्षिप्त-
मिति । (४१ । १) शङ्कते । यदीति । रूपादिपरमाणव एव
निरन्तरोत्पादाः परमार्थसन्तो भिन्नाः स्वविज्ञानस्याविकल्पस्य
जनकाः, तेषां तु नानात्वं स्वेन रूपेण संवृण्वती निर्विकल्पक-
पृष्ठभाविनी घट इति सविकल्पिका बुद्धिस्तानेव रूपादीनेको-
दकाहरणादिक्रियाकारिणोऽभेदिन इव दर्शयन्ती संवृतिरित्यु-
च्यते । निराकरोति । न हि रूपादिभ्य इति । (४१ । ३)

अनुशयबीजमुद्धाटयति । अथापीति । निराकरोति । मनो-
मोदकोति । भवन्तु व्यतिरिक्ताः कियेतावताऽपीत्यत आह ।
सर्वं चेति । यत्संवृतित्वेन भवतामभिमतं ज्ञानं यच्चाविकल्पकं
तत्सर्वं विषयाद्भवतीति । तस्मात्ततोग्रहणं संवृतिनिवृत्त्यर्थमनर्थ-
कम् । मा भूत्संवृतिनिवृत्त्यर्थं मिथ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थं भविष्यतीति
देशयति । ननु च मिथ्याज्ञानमतस्मादपि भवति । यथा
पुरोवार्तिद्रव्यामिदमिति व्यपदिश्यते रजतमिति च, न तु
शुक्तिरिति, तेन यद्यपि सामान्यरूपेण तस्य व्यपदि-
श्यते ज्ञानं ततश्च तद्भवति, तथाऽपि येन विशेषरूपेण तस्य
व्यपदिश्यते न ततस्तद्भवतीत्यतस्मादपीत्युक्तम् । तस्मा-
त्त एव यद्भवति तत्प्रमितिः, न त्वेवं मिथ्याज्ञानं, तद्वि तत-
श्चाततश्च भवतीत्यर्थः । परिहरति । न ह्यतस्मादारोपिता-
द्रूपाद्रजतात्त्रासतस्तन्मिथ्याज्ञानं भवति किं तु न भवति,
भवति तु यस्य सामान्यरूपस्य व्यपदिश्यत इदमिति
तत एव । समारोपितं तु रजतमस्य विषयो दृश्यमानाकार-
तया, तदिदमुक्तमतस्मिन्तद्भवतीति । एवं लक्ष्यपदमात्रा-
वशेषाल्लक्षणाभाव इत्याह । ततोग्रहणमिति । तथा चाति-
व्याप्तिरित्याह । तथा चेति । अभ्युपेत्य दूषणान्तरमाह ।
यद्यप्येतदिति । यतो भवति ज्ञानं स ग्राह्योऽर्थः कारणं, ग्रा-
हकं च ज्ञानं कार्यं, तयोरयुगपद्भावात् वर्त्तमानाभं ज्ञानम-
तीते मिथ्येति न प्रत्यक्षं स्यात् । तत्समानकालयोस्तु कार्य-
कारणाभावाभावात् ततोऽर्थादिति नास्तीति भावः । शङ्कते ।
नाशोत्पादाविति । क्षणिकत्वाद्भावानां कारणस्य नाशः का-
र्यस्योत्पाद इत्येकः कालः, तथाऽपि कारणस्य ग्राह्या भिन्न-
कालस्यापि, स्वसदृशज्ञानजनममेव हि तस्य तज्ज्ञानं प्रति ग्राह-

४सू० ३प्र०] तन्त्रान्तरीयप्रत्यक्षलक्षणखण्डनम् । १५३

त्वं नान्यत् । यथाऽऽह कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव तद्युक्तं (१) ज्ञानाकारार्पणम् । इति ।
न चैतावता मिथ्यात्वमर्थाहितस्य नीलाकारस्य ज्ञानवर्तिनो व-
र्तमानत्वादिति भावः । निराकरोति । तच्च नेति । पूर्वापरकाल-
कलाविरह (२) लक्षणा क्षणिकता न कचिदपि । विद्युज्ज्वाला-
देरप्याशुविनाशिनो द्वित्रादिक्षणावस्थानादित्यर्थः । पूर्वोक्त-
श्रानुयोगस्तदवस्थ एवेत्याह । विनष्टश्चेति । अनहंकारा-
स्पद (मशातादिरूपं) विज्ञानाद्भिन्नं नीलाद्यनुभूयते न तु
विज्ञानात्मकम् । तथा च यदि विच्छेदग्रहो मिथ्या तथा सति
ज्ञानमेतस्मिन् मिथ्येति कथं प्रत्यक्षम्, सम्यग्ज्ञानभेदस्य
तथाभावात् । न चार्थाहिताकारवेदनमर्थवेदनम्, भाक्तत्व-
प्रसङ्गात् । न च गौणमुख्यलक्षणा गिरां गतयो ज्ञानेषु
शक्या नियोजयितुम्, भिन्नप्रस्थानत्वात् । तस्मान्निराकारं
ज्ञानमर्थमात्मनो भिन्नं गोचरयतीति वाच्यम् । स चेत्कारणं
विनष्टस्य प्रत्यक्षतेति स्यात्तथा च वर्तमानाभभवर्तमानं गोचर-
यतीति मिथ्यात्वमप्रत्यक्षत्वं च स्यादिति भावः । यौगपद्येऽपि
नास्त्युदाहरणं सर्वस्य क्षणिकपक्षनिक्षेपादिति देशयति । तुल्य-
मिति चेत् । निराकरोति । तच्चेति ।
संप्रति दिग्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति । अपर इति ।
(४१।१९) दूषयितुं कल्पनास्वरूपं पृच्छति । अथा केय-
मिति । लक्षणवादिन उत्तरम् नामेति । यहञ्छाशब्देषु हि
नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते ऽदित्येति । जातिशब्देषु जात्या

(१) हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः-पाठः ।

(२) विकल-का० पु० पा० ।

गौरयमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण (ज्ञानत्वं) दण्डी विषाणीति । सेयं कल्पना यत्र ज्ञाने नास्त्यर्थतः स्वरूपतो वा तत्कल्पनयाऽपोढं तत्प्रत्यक्षं, तदिदमाह यत् किल न नाम्नाऽभिधीयते अर्थतः स्वरूपतश्च न जात्यादिभिर्व्य-
पदिह्यते । अव्यभिचाराय विषयकारणत्वमाह । विषयस्वरूपानुविधायीति । प्रमाणत्वमाह, परिच्छेदकं व्यवस्था-
पकम् । ज्ञानतामस्य दर्शयति । आत्मसंवेद्यं स्वसंवेदनादेव तस्य कल्पनारहितत्वमपि । यथाऽऽह,

‘प्रत्यक्षङ्कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।’ इति ।

तत्प्रत्यक्षमिति । तदेतल्लक्ष्यलक्षणपदतत्समुदायव्या-
पारनिरूपणेन दूषयति । त इदमिति । अथ नेति । विकल्प-
योनयो हि शब्दास्तद्गोचरमभिनिविशन्ते यद्विकल्पा गृह्णन्ति
यच्चाध्यवस्यन्ति तदुभयमप्यन्यव्यावृत्तिरूपमवस्तु, तस्मान्ना-
विकल्पकं ज्ञानं तद्गोचरं वा परमार्थसद्गोचरयन्ति विकल्पाः
शब्दाश्चेत्ययमभिसंधिः । अपि चास्य वाच्यत्वे भवदभ्युपगत-
प्रामाण्यागमविरोध इत्याह । अनित्यादीति । (४२।९)
शङ्कते । अथेति । स्वमसाधारणं रूपं व्यावृत्तमिति यावत् ।
निराकरोति । सर्वेऽर्था इति । न हि यथा सम्यग्ज्ञानमाधि-
कृत्य प्रत्यक्षादिलक्षणं कृतं कीर्तिना तथा दिग्नागेन, येना-
धिकारात् ज्ञाने व्यवतिष्ठेत कल्पनापोढमिति भावः । ननु यदि
स्वरूपतो नाभिधीयते, नाभिधेयं तर्हि वस्तु प्रसज्येत । तथा
चावास्तवः स्यात् शब्दो व्यवहार इत्यत आह । सर्वस्य चेति ।
सामान्यविशेषतद्वेदनाद् वस्तुत्रयं, तत्र तद्वद्वस्त्वाधिकृत्योक्तं
वाचाकाराविति । सामान्येनैवाकारेणाभिधीयते सामा-

न्यान्वितमित्यर्थः । ब्राह्मण इति । मनुष्यत्वजातिमानित्यर्थः ।
विशेषमाकारमभिप्रेत्य स्वरूपतो न व्यपदेश्यमित्युक्तं, न तु सर्व-
थेति भावः । प्रकृते योजयति । एवमिति । आशङ्क्य पूर्वोक्त-
मतिप्रसङ्गं स्मारयति । यदिदं चेति(१) । अथाश्वकर्णादिश-
ब्दवदव्युत्पन्नः कल्पनापोढशब्दः प्रत्यक्षस्वरूपस्य वाचक इति
शङ्कते । अथेति । (४३ । १) निराकरोति । एवमपीति ।
भवतु कल्पनापोढशब्दोऽव्युत्पन्नो मा वा भूत्, अवाच्यं तु
प्रत्यक्षमेषितव्यम् । अन्यथा विकल्पस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । तथा
च व्याघात इत्यर्थः । जैमिनिप्रत्यक्षलक्षणं दूषयति । सत्सं-
प्रयोग इति । (४३ । ६) यथाश्रुतस्यातिव्याप्तिः, संशब्दे-
नापि प्रयोगस्य समीचीनता प्रतिपाद्यते, सा च मिथ्याप्रत्यये-
ऽपि तुल्या । व्यत्ययेऽपि बुद्ध्या बोध्यस्योपस्थापनात् तदिति
बोध्यं परामृशति । अस्ति च मिथ्याज्ञानेऽपि बोध्येन संबन्ध
इन्द्रियाणां, बोध्यं हि पुरोवर्त्तिं द्रव्यम् । अथ यथा बोध्यं तादृ-
शा नास्ति सम्बन्ध इन्द्रियाणां, रजतत्वस्य प्रकारस्यासन्निधा-
नात् ? हन्ताव्यापकत्वं लक्षणदोषः । प्रत्यभिज्ञायां तत्ताप्रकारस्य
इन्द्रियेणासंबन्धात् । अपि च प्राभाकरे दर्शने अनुमानादिज्ञा-
नमात्मनि प्रत्यक्षं न भवेत्, नहि तत् सत्सम्प्रयोगजम् । तस्मा-
देतदपि परिभावनीयं सूरिभिरिति । वार्षगण्यस्यापि लक्षणम-
युक्तमित्याह । श्रोत्रादिवृत्तिरिति । पञ्चानां खल्विन्द्रिया-
णामर्थाकारेण परिणतानामालोचनमात्रं वृत्तिरिष्यते, सा च सं-
शयादिव्यापकत्वादलक्षणमिति । तत्सिद्धमिन्द्रियार्थसन्निकर्षो-
त्पन्नमित्येतदेव लक्षणमिति ॥

प्रत्यक्षलक्षणं समाप्तम् ॥

प्रत्यक्षलक्षणानन्तरमनुमानलक्षणपरं सूत्रं पठति ।
 अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानमिति । (४३ । १५)
 अत्रानुमानमिति सिद्धवत् प्रमाणविशेषरूपलक्ष्यानुवाद-
 एव नाप्रत्यक्षं प्रमाणमित्यप्रामाण्यमनुमानस्य सुदूरं प्रतिक्षिपति ।
 दृष्टप्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयान्वयसिद्धिसाधर्म्येण हि कासां चित्राती-
 नां प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा विदधीत । दृष्टसाधर्म्यं चानुमानमेवे-
 ति कथं तेनैव तस्याप्रामाण्यम् । अपि चानुमानमप्रमाणमिति
 वाक्यप्रयोगोऽज्ञं विप्रतिपन्नं संदिग्धं वा पुरुषं प्रत्यर्थवान् , न
 च परपुरुषवर्तिनो देहधर्मा अपि (संदेहाज्ञानविपर्यया गौर-
 त्वादिवत् प्रत्यक्षा वीक्ष्यन्ते, न च तद्वचनात् प्रतीयन्ते, वचन-
 स्यापि प्रत्यक्षादन्यस्याप्रामाण्योपगमात् । पुरुषविशेषमनाधिकृत्य
 तु वचनमनर्थकं प्रयुज्जानो ज्ञायं लौकिको न परीक्षक इत्युन्म-
 त्तवदनवधेयवचनः स्यात् , परिशिष्टं तु परीक्षापर्वणि निवेद-
 यिष्यते । तस्मादकारणेनापि प्रमाणमनुमानमुपेतव्यमिति । ल-
 क्षणं विधत्ते । अथेत्यानन्तर्ये (४३ । १७) । उक्तं प्रत्यक्ष-
 मनुमानस्य हेतुरिदानीमनुमानं हेतुमद् व्युत्पाद्यत इत्यर्थः ।
 लक्षणसूत्रतत्पर्यमाह । अनुमानेति । तदेव स्फुटयति । अने-
 नेति । समानजातीयानि प्रमाणतया प्रत्यक्षादीनि असमा-
 नजातीयानि चानुमानाभासादीनि यथा क्षणिकत्वादिषु सा-
 ध्येषु सत्त्वादीनि । स्यादेतत् , अतिव्यापकमेतत् तत्पूर्वकत्वं,
 तदिति हि प्रत्यक्षं परामृषत्यानन्तर्यात् । तथा च प्रत्यक्ष-
 पूर्वकत्वमनुमानस्येवागमस्मृतिसंशयविपर्ययासानामप्यस्तीति ता-
 न्यप्यनुमानं प्रसज्येरन् । अनुमानादिपूर्वकं चानुमानं न प्रत्य-
 क्षपूर्वकमिति नानुमानं स्यादनुमानलक्षणेनाव्यापनात् , तस्मा-

दव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यामलक्षणमेतदित्यत आह । तत्पूर्वकमि-
 ति । तत्पूर्वकमित्याहत्या विग्रहश्रयमदर्शनम् । तत्र प्रथमे विग्रहे
 तानीत्यनन्तरं सूत्रमुल्लङ्घ्य विभागसूत्रगताः प्रत्यक्षादयः संब-
 न्धनीया योग्यत्वात् । यथाऽऽहुः । 'यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।' इति ।
 तदनेन लक्षणस्याव्याप्तिः परिहृता । तदिदमाह । यदा
 तानीति । निन्वेवं प्रत्यक्षपूर्वकमिति भाष्यविरोध इत्यत आह ।
 पारम्पर्येणेति । पारम्पर्येण हि प्रत्यक्षपूर्वकत्वमुक्तं भाष्य-
 कृता, तस्मान्न विरोध इति । अतिव्याप्तिनिरासाय द्वितीयं
 विग्रहं विवृणोति । यदाऽपीति । ते इति हि विग्रहे अनन्तर-
 सूत्रगतमेव प्रत्यक्षपदं संबध्यते । तथा च द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य
 प्रत्यक्षस्य लिङ्गपरामर्षज्ञानस्य प्रत्यक्षफलस्य तदिदं तत्पूर्वकं
 प्रत्यक्षम् । (४४।१) तच्च स्वविषये प्रत्यक्षमप्यनुमेयार्थप्रत्यक्षं
 कुर्वदनुमानम् । तदिदं तदित्युच्यते । अत्रापि प्रत्यक्षग्रहण-
 मुपलक्षणार्थम् । अनुमाने इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । स्यादेतत् ।
 संबन्धग्रहणसमये पदतदर्थगोचरं प्रत्यक्षं प्रथममर्थ तदर्थविषये
 द्वितीये प्रत्यक्षे सति या तत्पदविषया स्मृतिरुत्पद्यते साऽपि
 प्रत्यक्षद्वयपूर्वा । एवं लिङ्गालिङ्गि(१)संबन्धस्मृतिरपि प्रत्यक्ष-
 द्वयपूर्वेति तदवस्थैवातिव्याप्तिरित्याशयवान्पृच्छति । कतरं
 द्वे* इति । उत्तरं लिङ्गेति । सर्वसंदेहेष्विदमुपतिष्ठते । व्या-
 ख्यानतो विशेष(२)प्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणासिद्धिर्भावाः ।
 न च द्वितीयलिङ्गदर्शनं व्याप्तिस्मरणसमये विनश्यदवस्थमप्य-

(१) लिङ्गालिङ्गि-पाठान्तरम् ।

* इदं मु० वा० पु० नास्ति । ते द्वे-इति तत्र पाठः ।

(२) व्याख्यानतोऽर्थविशेष-पाठः ।

स्ति, व्याप्तिसंस्कारोद्बोधसमयजन्मना स्वजानितेन संस्कारेणास्य
 व्याप्तिस्मरणसमये विनाशात् । विनश्यदवस्थस्य द्वितीयलिङ्ग-
 दर्शनस्य व्याप्तिस्मरणेन सह यौगपद्येऽपि तयोः परस्पर-
 वार्त्तानभिज्ञतया मिथो घटनायोगात् । न चात्मा ते घटयिष्य-
 तीति युक्तम् । वृत्त्या खल्वयं घटयेत् न स्वरूपतः, तस्मादु-
 भाभ्यामुत्पन्नं परामर्षज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं तृतीयं प्रत्यक्षमे-
 षितव्यम् । बुभुत्साऽप्यनुमानज्ञानोत्पत्तौ कारणमिति दर्शयितुं
 बुभुत्सावत इत्युक्तम् । लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्य-
 क्षमित्यत्र संबन्धपदेनानुमानाङ्गं सम्बन्धं विवक्षन् परोक्तान्
 संबन्धविकल्पाननुमानानङ्गभूतान्प्रतिक्षिपति । प्रत्यक्षमिति
 च तस्य प्रमाणमाह । तथा हि केचिदविनाभावं तादात्म्यत-
 दुत्पत्तिनिबन्धनमनुमानाङ्गमाहुः । द्विविधो ह्यर्थः प्रत्यक्षश्च परो-
 क्षश्च । तत्र यो बुद्धौ साक्षादात्मीयं रूपं निवेशयति स
 प्रत्यक्षः । स हि स्वविषयाया बुद्धेः जनक इति तमन्तरेण
 बुद्धिरात्मानमनासादयन्ती तस्य सत्तां निश्चाययतीति युक्तम् ।
 परोक्षस्तु बुद्धौ साक्षात्स्वरूपोपधानसामर्थ्यरहितोऽयुक्तप्रतिप-
 त्तिरेव । न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पना युक्ता, अतिप्रसङ्गात् ।
 नान्तरीयकतया त्वन्योऽप्यन्यं गमयेत् । स हि प्रतिबद्धस्वभावो
 यथाविधः सिद्धस्तथाविधसन्निधानं सूचयति । स च प्रति-
 बन्धो न दर्शनमात्रादवसेयस्तथा सति स इयामो मैत्रतनयत्वात्
 परिदृश्यमानमैत्रतनयस्तोमवादित्यप्यनुमानं स्यात् । इहापि हि
 स्तो दर्शनादर्शने । तस्मात्तादात्म्यतदुत्पत्तिनिबन्धन एव प्रति-
 बन्धः । यदाह

‘कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।

अविनाभावानियमोऽदर्शनाच्च न दर्शनात् ॥’

तथा च लिङ्गविकल्पं विना न लिङ्गविकल्पः, न लिङ्गविकल्पो लिङ्गानुभवं विना, न लिङ्गानुभवो लिङ्गं विना, न च लिङ्गं विना लिङ्गिनमिति लिङ्गी स्वलक्षणाप्रतिभास्यपि पारंपर्येण तत्प्रतिबन्धात्तत्राविसंवादकोऽनुमानविकल्प इति । कार्यकारणभावश्चेदमस्मिन्मति भवति सत्स्वपि तदन्येष्वस्मिन्नसति न भवत्येवमाकारो नान्वयव्यतिरेकाभ्यामतिरिच्यते । तौ च प्रत्यक्षपृष्ठभाविना विकल्पेनावसीयेते । तथा हि सत्यग्नौ धूम इति प्रत्यक्षमेव विकल्पानुगतव्यापारमध्यवस्यति । असति चाग्नौ न धूम इत्यपि प्रसक्षमेव । न ह्यग्निधूमानुपलम्भावन्यावतस्तद्विविक्तवस्तूपलम्भात् । नाप्यनयोर्व्यतिरेकोऽन्यस्तद्विविक्ताद्वस्तुनः । एवं तादात्म्यमपि विपर्यये बाधकप्रमाणोपपत्त्या निश्चेतव्यम् । यथा सत्त्वस्य क्षणिकतया सह तादात्म्यं विपक्षेऽक्षणिके क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोरनुपलम्भान्निश्चीयते तस्मात्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव प्रतिबन्धो नान्यत इति । अत्रोच्यते । सत्यं यत्किंचित् कचिद् लिङ्गं दृष्टं तस्य यत्र प्रतिबन्धः तद्विदस्तस्य तद्गमकं तत्रेत्यनुजानीमः । स एव तु प्रतिबन्धो न तावत्तदुत्पत्त्या सम्भवति । का पुनरियं तदुत्पत्तिर्धूमस्य, किं बन्धनन्तरं भावः, स तादृशोऽस्ति रासभस्यापि इति तत्प्रतिबद्धोऽपि धूमः स्यात् । अथ तदनन्तरमेव भावः, न च रासभानन्तरं भवन्नपि तदनन्तरमेव भवति, तस्मिन्सत्यप्यसत्यग्नौ तदभावात्, असत्यपि तस्मिन्सत्यार्देन्धनवति बहौ तद्भावात् । अथ यद्यपि धूमस्य बहिर्भावाभावानुविधानं तत्र तत्रोपलब्धं तथाऽपि देशान्तरादिषु तद्भावोऽस्य कुतस्त्यः । तथाहि भूयो भूयो रासभे दृष्टे धूमो दृष्टस्तदभावे चादृष्टो न च स तत्कार्यः, तज्जातीयस्यैव धूमस्य रासभं विना सति बहौ भावादेवं सत्य-

पृथनौ पिशाचेन जनितो धूमः कचिदेशादौ तज्जातीय एव
 रासभवद्वन्धभावेऽपि पिशाचादेव भविष्यतीत्यवश्यं शङ्कया
 भाव्यं नियामकमपश्यताम् । न च सति भाविमात्रं नियामकं
 तस्य रासभादिष्वविशेषात् । तदनन्तरमेवेति चावधारणस्य
 (च) शङ्कापनयनमन्तरेणासम्भवात् । अवधारणेन तु शङ्का-
 पनयने परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । स्यादेतत् । यो यो धूमो दृष्टः
 स सर्वस्तावदाद्र्धेन्धनसहितवन्धनन्तरमेव न पिशाचानन्तरं, स च
 कादाचित्कतया निमित्तमपेक्षमाणो यदनन्तरमेव गम्यते तदे-
 वाप्रतीतव्यभिचारं निमित्तं करोति, न तु प्रतीतव्यभिचारं
 रासभादि । नापि सर्वथाऽनुपलब्धपूर्वपिशाचादि । यदि न तान्नि-
 मित्तं कस्माद्विनाऽपि वह्निं कचिद्धूमो नोपलभ्यते । अथासौ
 सर्वथा वह्निसहितः ? तथा सत्याद्र्धेन्धनवत् कथं वह्निरपि न
 कारणम् । कारणं चेत् कथं तमन्तरेण धूमभावशङ्का । अकारणस्य
 हि कार्यस्य नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादनपेक्षत्वान्न कादा-
 चित्कत्वम् । नाप्यनेककारणत्वमकारणत्वप्रसङ्गादेव । वह्नय-
 नन्तरमेव भाव इति हि धूमस्य वह्निकार्यत्वम् । स चेदयम-
 वह्नेरप्यनन्तरं, नैवकारार्थः स्यादिति, न च वह्नेः कार्यम् ।
 एवमन्यस्यापि न कार्यम् न ह्यन्यानन्तरमेव भवति, वह्नेरप्यन-
 न्तरं भावात्, ततश्चाहेतुको धूमः स्यात् । तथा च कादा-
 चित्कत्वव्याहतिः । सत्यम् । तत्कार्यत्वसिद्धौ स्यादेवं, तदेव
 तु तदनन्तरमेव भाव इत्येवंरूपं नास्ति । यद्यपि च विना वह्निं
 नोपलब्धो धूमो यद्यपि च पिशाचाद्यनन्तरं नोपलभ्यते तेषा-
 मनुपलब्धेः, तथाऽपि पिशाचकार्य एव धूमस्तत्र तु (तत्र)
 वह्निः कुतश्चित्स्वहेतोरुपनिपतितो रासभ इव न तु धूमस्य
 जनकत्वेन, तदभावेऽपि तज्जातीय एव कारणभेदजन्मा (कदा

चित्) कादाचित्को धूमः स्यादित्यनिवृत्तिरेव शङ्कायाः । न च दृष्टसम्भवे नादृष्टं कल्पयितुं युक्तमिति शक्यं भवाद्विर्वक्तुम् , अनुपलब्धिलक्षणाप्राप्तस्याशक्यनिराकरणत्वात् । न चानुपलब्ध्यन्तराण्यपि तन्निषेधे प्रभवन्ति, तस्मादनन्तरमेवेत्यवधारणाभावाच्चैवं कार्यकारणाभाववधारणं युक्तम् । न च यद् यदन्यसहितानन्तरमुपलब्धं तत्तदन्यरहितान्तस्माद्भिन्नजातीयं भवति, उक्तं हि रासभसहिताद् वहेर्यादृशो धूमस्तादृश एव तद्विरहिताद्वहेरिति । तस्मादेवंविधा शङ्कापिशाची स्वनिवारकं तदुत्पत्तिनिश्चयमास्कन्दतीति न शक्या निवारयितुम् । अपि चास्तु तदुत्पत्तिनिश्चयः, तथाऽपि कस्मात्कारणमन्तरेण न कार्यं भवति । तथा च सत्यनपेक्षतया कादाचित्कत्वविहतिरिति चेद्, यथाऽऽह,

‘नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।

अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ।’ इति ।

अस्तु तर्हि वहिसम्बन्धः स्वाभाविकतया अन्यानपेक्षोऽव्यभिचारी गमकत्वाद्गमः, स च यो वा स वा भवतु, कृतं कार्यकारणभाववधारणाप्रयासेन । यथा चैतत्तथाऽग्रे दर्शयिष्यामः । अपि च कार्यात् कारणमनुमीयमानं ततः पूर्वकालमेवानुमीयेत, न तु वर्तमानकालम्, न हि हेतुसत्ता कार्यकाला कार्योत्पादाङ्गमपि तु तत्पूर्वकाला । न हि नदीपूरभेदः स्वसत्तासमयवर्तिवर्षं गमयत्यपि तु तत्पूर्वकालम् । तत्कालं तु न तस्य करणम्, अत एव साधक(बाधक)प्रमाणाभावेन तत्कालवर्तिनि वर्षे सन्दिहाना न तदर्थिनः प्रवर्तन्ते । एवं धूमादप्यग्निस्तत्पूर्वकाल एवानुमीयेत न तु वर्तमानकालः, तथा च सति न तदर्थिनस्तत्र निःशङ्कं प्रवर्त्तेरन् । अपि च रसादन्यद्रूपं रससमानकाल-

मनुमिमतेऽनुमातारः, न चानयोरस्ति कार्यकारणभावः तादा-
त्म्यं वा । यद्युच्येत तत्पूर्वेभ्यो रूपरसगन्धस्पर्शक्षणेभ्यो र-
सक्षणो जायते स स्वकारणं पूर्वरूपक्षणमनुमापयन् यादृशा तेन
जनितस्तादृशमेवानुमापयति, स चानुमापकरसक्षणसमानकालरू-
पक्षणान्तरजनक एव स्वकारणमिति तादृशमेव गमयति, तथा
च कार्यसमानकालरूपानुमानसिद्धिः । एतेन धूमानुमानं
व्याख्यातम् । यथाऽऽह,

‘एकसामग्र्यधीनस्य रूपादेरसतो गतिः ।

हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ।’ इति ।

अत्रोच्यते । योऽयं गमकरससमानकालो रूपक्षणः स किं
तज्जनकस्य रूपक्षणस्य स्वभाव उत तत्स्वभाववच्छेदकोऽस्व-
भावभूतः । न तावत्स्वभावः, एकस्मिन्नभिन्ने जन्यजनकभावा-
नुपपत्तेः, तस्य भेदाश्रयत्वात् । तदस्वभावभूतः कथं तद्-
नुमाननिवेशी । तदवच्छेदकत्वादिति चेत्, नन्वेतावताऽप्य-
स्य कारणभाव इति कथं कार्यहेतोर्गम्येत । विशिष्टेन कारण-
स्वभावेनास्वभावोऽप्यसावाक्षिप्यते विशेषणतयेति चेत् । न-
न्वाक्षिप्यते ज्ञाप्यत इत्यनर्थान्तरं, स किं कारणानुमितेः प्राग-
(प्य)नुमितिसमये पश्चाद्वा । न तावत् प्राक्, न हि सत्तामा-
त्रेण कारणं तद्रूपयत्यतिप्रसङ्गात् । किं तु स्वज्ञानेन । न च
कार्यमस्य गमकमकारणत्वादित्युक्तम् । अत एवानुमितिसम-
येऽप्यगमकं, स्वज्ञानेन गमकत्वादुभयोश्च ज्ञानयोः सहभवतोः
सव्येतरविषाणवत् कार्यकारणभावाभावात् । तथा च रसा-
त्कार्यात्तत्कारणं रूपमनुमातव्यं ततश्चानुमिताद्रूपात् कारणा-
त्तत्कार्यं रससमानकालं रूपमनुमातव्यं, तथा च कारणात् का-
र्यानुमानं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्यदिति नाभ्यामेव प्रतिब-

न्धसिद्धिः । लौकिकानां चैतद्रसाद्रूपानुमानम् । न चैते पिशितचक्षुषः क्षणानामन्योन्यभेदमध्यवस्यन्ति । न चानध्यवस्यन्तः प्रवृत्तरूपोत्पादनसामर्थ्यं रसहेतुं रूपमनुमातुमुत्सहन्ते । न च स्वलक्षणानुरोधेन लक्ष्यस्यान्यथाकरणं युक्तं परीक्ष्यकारिणाम्, अतिपतितलोकमर्यादानां तेषां तत्त्वानुपपत्तेः । यथाऽऽहुः

‘सिद्धानुगममात्रं च कर्तुं युक्तं परीक्षकैः ।

न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्त्तनम् ।’ इति ।

अपि चाद्यतनस्य सवितुरुदयस्य हस्तनेन सवितुरुदयेन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्ध्या मध्यनक्षत्रदृष्ट्या चाष्टमास्तमयोदयस्य न कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा, अथ च दृष्टो गम्यगमकभावः । अपि च तादात्म्ये कथं गम्यगमकभावः, न हि तदेव कर्म कर्तुं चेति युक्तम्, तस्य भेदाश्रयत्वात् । यद्यपि च वृक्षत्वशिशपात्वे परमार्थतो न भिन्ने, तथाऽपि भेदान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपाभ्यां कल्पितभेदकयोर्गम्यगमकभाव इति चेन्न । वास्तवमेव वृक्षत्वशिशपात्वयोर्भेदमुपपादयिष्यामः । अपि च काल्पनिकमपि रूपं विचार्यमाणं न यथा भिन्नमेवमभिन्नमपि न भवति, वस्तुनोऽपि तुच्छत्वप्रसङ्गात्, काल्पनिकस्यावास्तवत्वेन तत्त्वानुपपत्तेः । तस्मात्कल्पनारूढयोर्न वस्तुतादात्म्यम् । नापि परस्परं, तथा सति द्रव्यपार्थिववृक्षशिशपादिविकल्पानां शब्दानां च पर्यायत्वप्रसङ्गात् । स्यादेतत् । कल्पना भेदविरहिणां भेदमुल्लिखन्त्यपि परस्परमेषामभेदमवगाहते सामानाधिकरण्याकारत्वात्, अभेदानुल्लेखे तदनुपपत्तेः । तथा च तादात्म्यं सिद्धमिति । तदयुक्तम् । यथा हि सामानाधिकरण्यं न भावानामभेदसाधकम् । जात्यादिशब्दा हि जात्यादीन् निमित्तीकृत्य द्रव्ये वर्तन्ते । तच्चाधिकरणमेकमिति सामानाधिक-

रण्यमश्नुवते । न पुनर्जात्यादीन्यपि मिथो मिश्रयन्ति । शब्द-
समानविषयाणां विकल्पानामपीयमेव गतिः । तस्माद्यत्र ग-
म्यगमकभावो न तत्र तादात्म्यं यत्र तादात्म्यं न तत्र गम्य-
गमकभाव इति सिद्धम् । यत्तु विदितशिशपाव्यवहारमाविदित-
वृक्षव्यवहारमुच्चायां शिशपायां वृक्षशब्दः प्रयुक्तः, तस्मादुच्चत्व-
मेव वृक्षशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति मन्यमानं मूढं प्रति शिशपात्वे-
न वृक्षव्यवहारमात्रं साध्यते वामनायामपि शिशपायां वृक्ष इ-
ति व्यवहर्त्तव्यं शिशपामात्रानुबन्धित्वाद्वृक्षत्वस्येति । तत्रापि
चेद्भवहारः साध्यः शिशपाया भिन्न इति न तादात्म्यम् ।
व्यवहारयोग्यता चेत् सा शिशपाया अभिन्नेति न गम्यगमकभा-
वः । व्यावृत्तिभेदे चोक्तम् । तस्मात्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां प्रति-
बन्ध इति मनोरथमात्रम् ।

यच्च वैशेषिकैः चतुष्प्रकारः सम्बन्ध उच्यते 'अस्येदं का-
र्यं कारणं सम्बन्ध्येकार्थसमवायि विरोधि चेति लौकिकम्'
इति, अत्रापि सम्बन्धिपदेनैव सर्वोपसङ्गहात् शेषाभिधानं व्य-
र्थम् । न च सम्बन्धिपदोपात्तस्यातिप्रसक्तिः शेषपदैर्निवार्यते,
तथा सति शेषपदान्येव सन्तु, कृतं सम्बन्धिपदेन, तेभ्य एव स-
म्बन्धिभेदानामधिगतेः । न चैवं चातुर्विध्यं सम्बन्धस्यानुमाना-
ङ्गस्य । तच्चेष्ट्यते । तथा च सम्बन्धिपदस्य सर्वमात्रारोधे(१)ऽति-
व्याप्तिः । अपि च भूतं वर्षमभूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य कथं विरो-
धि, तद्धि तदनुकूलमेव । एवमभूतमपि वर्षं भूतस्य वाय्वभ्रसं-
योगस्याप्रतिकूलम् । एवं भूतो नकुलजयो न भूतस्य सर्पप-
राजयस्य विरोधी नाप्यभूतोऽसावभूतस्य विरोधी, येषां पुन-
र्विरोधः तेषामन्यतमदन्यतमस्य न लिङ्गमपि तु प्रतिक्षेपकमेव ।

एतेनैव

‘मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिभिः ।

स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः साङ्ख्यानां सप्तधानुमा ।’

इत्यपि पराकृतं वेदितव्यम् । तस्माद्यो वा स वाऽस्तु सम्बन्धः, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते । तथा हि धूमादीनां वन्हादिसम्बन्धः स्वाभाविकः । न तु वन्हादीनां धूमादिभिः । ते हि विनाऽपि धूमादिभिरुपलभ्यन्ते, यदा त्वोर्द्वन्द्वनादिसम्बन्धमनुभवन्ति तदा धूमादिभिः सह सम्बध्यन्ते । तस्माद्वन्हादीनामा-र्द्वन्द्वनाद्युपाधिकृतः सम्बन्धो न स्वाभाविकः, ततो न नियतः । स्वाभाविकस्तु धूमादीनां वन्हादिभिः सम्बन्ध उपाधेरनुपलभ्यमानत्वात् क्वचिद्व्यभिचारस्यादर्शनादनुपलभ्यमानस्यापि कल्पनानुपपत्तेः, अतो नियतः सम्बन्धोऽनुमानाङ्गम् । न चादृश्यमानोऽपि दर्शनानर्हतया साधकबाधकप्रमाणाभावेन सन्दिह्यमान उपाधिः स्वाभाविकत्वं प्रतिवध्नातीति साम्प्रतम्, अवश्यं शङ्कया भवितव्यं नियामकाभावादिति दत्तावकाशा खल्वियं लौकिकप्रमाणमर्थ्यादातिक्रमेण शङ्कापिशाची लब्धप्रसरा न क्वचिन्नास्तीति नायं क्वचित्प्रवर्त्तेत, सर्वत्रैव कस्यचित्कथञ्चिदनर्थस्य शङ्कास्पदत्वात् । अनर्थशङ्कायाश्च प्रेक्षावतां निवृत्त्यङ्गत्वात् । अन्ततः स्तिग्धान्नपानोपयोगेऽपि मरणादिदर्शनात् । तस्मात्प्रामाणिकलोकयात्रामनुपालयता यथादर्शनं शङ्कनीयम्, न त्वदृष्टपूर्वमपि, विशेषस्मृत्यपेक्षो हि संशयो नास्मृते भवति । न च स्मृतिरननुभूतचरे भवितुमर्हति । तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः । स्यादेतत्, अन्यस्यान्येन

सहाकारणेन चेत्स्वाभाविकः सम्बन्धो भवेत् सर्वं सर्वेण
 स्वभावतः सम्बध्येत, तथा च सर्वं सर्वस्माद्भवेत् । अथान्यस्य
 चेद् अन्यत् कार्यं, कस्मात्सर्वं सर्वस्य न भवति, अन्यत्वा-
 विशेषात् । ततश्च स एवातिप्रसङ्गः । यद्युच्येत न भावस्व-
 भावाः पर्यनुयोज्याः, तस्मादन्यत्वाविशेषेऽपि किञ्चिदेव कारणं
 कार्यं च किञ्चिदिति । नन्वेव स्वभावानामनुयोगो भिन्नाना-
 मकार्यकारणभूतानामपि स्वभावप्रतिबन्धे तुल्य एव । तस्मात्
 यत्किञ्चिदेतत् । केन पुनः प्रमाणेन स्वाभाविकः सम्बन्धो गृह्य-
 ते । प्रसङ्गसम्बन्धिषु प्रत्यक्षेण । यदाह । लिङ्गलिङ्गिसम्ब-
 न्धदर्शनमाद्यमिति । (४४ । १) यदा तावत्प्रथमं वह्निधूमयोः
 सहाद्रेन्धनयोः सम्बन्धं पश्यति तदा द्वयोरपि किं स्वाभाविकः स-
 म्बन्धः औपाधिको वा, अथ धूमस्यौपाधिको बन्हेस्तु स्वाभाविकः,
 वह्नेवौपाधिको धूमस्य स्वाभाविक इति न शक्यं निर्द्धारयि-
 तुम् । तत्र वह्नेरनाद्रेन्धनस्य विना धूममयोगोलकादौ दर्शनाद्
 आद्रेन्धनोपाधिरस्य धूमेन सम्बन्धो न तु स्वाभाविक इति
 निश्चीयते । धूमविशेषस्य तु विना वह्निमनुपलम्भात् उपाधिभेदस्य
 चादृश्यमानस्य कल्पनायां प्रमाणाभावाद् विशेषस्मृत्यपेक्षस्य च
 संशयस्यानुपलब्धपूर्वे अनुत्पादाद् उत्पादे चाऽतिप्रसङ्गात् प्रेक्षा-
 वत्प्रवृत्त्युच्छेदात् स्वाभाविकः सम्बन्धोऽवधार्यते । तदिदम-
 वधारणं न मानसम्, अनपेक्षस्य मनसो बाह्ये प्रवृत्तावन्धवधि-
 राद्यभावप्रसङ्गात् । भूयोदर्शनसापेक्षस्य च प्रवृत्तौ प्रमाणान्त-
 रापातात् । न हि मनो निमित्तमित्येव मानसं प्रत्यक्षं भवति ।
 तथा सति न किञ्चिदमानसं, प्रत्ययमात्रस्य मनोनिमित्तत्वात् ।
 तत्तदसाधारणकारणापेक्षया च तत्प्रमाणव्यपदेशे त्वत्रापि
 भूयोदर्शनमसाधारणमिति प्रमाणान्तरं जातम् । तस्मादभिजा-

तमणिभेदतत्त्ववद्भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीनां बन्ध्यादिभिः स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्यामः । एवं मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तराण्येव यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्युन्नेतव्यानि । स्वभावतश्च प्रतिबद्धा हेतवः स्वसाध्येन यदि साध्यमन्तरेण भवेयुः, स्वभावादेव प्रच्यवेरन्निति तर्कसहाया निरस्तसाध्यव्यतिरेकवृत्तिसन्देहा यत्र दृष्टास्तत्र स्वासाध्यमुपस्थापयन्त्येव । न च श्यामादिषु मैत्रतनयादीनां स्वभाविकप्रतिबन्धसम्भवः, अन्नपानपरिणतिभेदस्योपाधेः श्यामताया मैत्रतनयसम्बन्धं प्रति विद्यमानत्वेन मैत्रतनयत्वस्यागमकत्वात् । एतेन पकान्यस्य वृक्षस्याग्रवर्त्तीनि फलानि, एतद्वृक्षप्रभवत्वात्, पतितफलवदिसादयोऽप्यौपाधिकसम्बन्धा व्याख्याताः । तस्मात्सर्वमवदातम् ।

नन्वान्तिमप्रत्यक्षमतीताभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां कथमनुगृह्यत इत्यत आह । स्मृत्या चेति । (४४ । ५) चो हेत्वर्थे । यद्यपि स्वरूपतो लिङ्गदर्शने अतीते तथाऽपि तज्जनिता स्मृतिरनुगृह्याति यस्मादतस्ताभ्यामनुगृह्यते । अनुग्रहश्च करणमेव । सम्बन्धस्मृतिसहकारिणेन्द्रियेण स्वसाध्याविनाभूतलिङ्गविज्ञानं यदुपजन्यते तत्परामर्ष इत्याख्यायते । तथाभूतलिङ्गगोचर एव चतुर्थो वाक्यावयव उपनय इत्याख्यायते । अत्र पृच्छति । कः पुनरिति । (४४।६) अनुमानशब्दस्यार्थो न तावदनुमितिः, न खलु लिङ्गपरामर्षोऽनुमितिः, प्रत्यक्षफलत्वात्, तस्यादनुमीयते अनेनेति करणार्थो वक्तव्यः, स च लिङ्गविषयः क्रिया च लिङ्गविषयेति विषयवैषम्यान्न क्रियाकरणभाव इति भावः । उत्तरम् । अनुमीयत इति । तेनैवाभिप्रायेण पृच्छति । किं पुनरिति । उत्तरम् । अग्रीति । प्रष्टा स्वाभिप्रायमुद्घाटयति । कथं पुनरन्यविषय-

मिति । एकदेशिन उत्तरम् । नानियमादिति । वृक्षोद्देशेन प्रवर्तितः परशुः कर्त्रा न तदवयवोद्देशेन, तस्माद्वृक्षविषयः परशुर्न तदवयवविषयः, द्वैधीभावश्चावयवेषु न वृक्षे, तस्य ततो विनाशादिति भावः । क्व चित्पुनर्यद्विषयमिति । औष्ण्यापेक्षो वह्निसंयोगः करणं तण्डुलेषु, रूपादिपरावृत्तिरूपः पाकः तेष्वेव, तण्डुलेन पिठरं लक्षयति । न केवलं समानविषयत्वा-
नियमः, कर्तुः करणं भिन्नमित्यपि नियमो नास्तीत्यनियमाभि-
धानप्रसङ्गेनाह । क्वचित्पुनरिति । स्थितिः स्वावयवेषु समवा-
यो वा प्रदेशविशेषे संयोगो वा । एवमनियमं दृष्टान्त उक्त्वा
दार्ष्टान्तिके योजयति । एवमन्यविषयस्येति । धूमविषयस्य
प्रमाणस्याग्निविषया क्रिया प्रमितिः । यदाऽग्निविषयमेव ज्ञानं
प्रमाणं तत्राह । क्वचित्पुनरिति । आक्षिपति । किं पुनरिति ।
अत्र हेतुमाह । प्रमितत्वात् । उत्तरम् । प्रमीयते हेयत्वेनेति ।
अनियमवादिन एकदेशिनो मतं नियमवादी दूषयति । तन्नेति ।
हेतुमाह । प्रमाणफलयोरिति । यद्यन्यविषयं करणमन्यविषया
क्रिया भवेत् ततश्छेदने खदिरं प्राप्ते पनसादावपि छिदा स्या-
दित्यतिप्रसङ्गः स्यात् । यद्यपि वृक्षोद्देशेन कर्त्रा परशुः प्रयुक्त-
स्तथाऽप्ययं वृक्षमिव तदवयवानपि प्राप्त इति तद्विषयो भवति,
तेन तदवयवद्वैधीभावमुखेन वृक्षविषयामपि द्वैधीभावाक्रियां ज-
नयतीति न वैयाधिकरण्यं करणफलयोः । एवं यद्यपि लिङ्गवि-
षयं प्रत्यक्षफलतया लिङ्गज्ञानं, तदनुबद्धस्य तस्य मानसप्रत्य-
क्षगोचरत्वात्, लिङ्गनिरूपणमन्तरेण तदनिरूपणात्, न तु लि-
ङ्गज्ञानं लिङ्गिनं विना न निरूप्यते, तस्मात्प्रतिपत्त्यनुबन्धितया
विषयो न लिङ्गज्ञानस्य लिङ्गी, किं तु लिङ्गमेव, तथाऽपि लि-
ङ्गिविषयप्रतिपत्तिजनकत्वालिलिङ्गज्ञानं भवति लिङ्गिविषयम् ।

न चातिप्रसङ्गः, स्वाभाविकसम्बन्धशालित्वाल्लिङ्गस्य लिङ्गिनि । तस्माद् द्विविधो विषयभावः प्रतिपत्त्यनुबन्धितया प्रतिपाद्यतया च, तत्र पूर्वं फलस्य उत्तरस्तु प्रमाणस्येति तद्विवेकः । तस्मात्सुष्ठूक्तं प्रमाणफलयोर्विषयभेदानभ्युपगमादिति । स्थितौ तु भेदः कर्तुः करणस्येति दर्शयिष्यते । तदेवं तानि ते इति विग्रहद्वयं परस्परापेक्षमुपपाद्य तानि तदिति विग्रहद्वयं परस्परापेक्षमुपपादयति । यदा पुनरिति । (४४ । २०) लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनं च अनन्तरलिङ्गदर्शनं च तत्स्मृतिश्चेति विग्रहः । अत्रापि सर्वसन्देहोऽप्यदमुपतिष्ठते, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणमिति भावः । ननु यदि प्रमाणफलयोरेकविषयत्वं तर्हि परामर्षज्ञानविषयीकृत एवार्थो विषयीकर्तव्यो नान्यः, स च प्रत्यक्षप्रमाणविषय एवेति कृतमनुमानेनेत्याशयवान्पृच्छति । किं पुनरिति । (४५ । १) तैर्विशिष्टेन लिङ्गपरामर्षेणेत्यर्थः । शेषोऽर्थः प्रत्यक्षप्रमिताल्लिङ्गादन्यो लिङ्गी । तद्विषयत्वं च लिङ्गपरामर्षस्योक्तमिति पृच्छति । अनुमानमित्यत्र किं कारकम् । अनुमीयतेऽनेनेति करणकारकमेव युक्तं, तस्यैव लिङ्गदर्शनद्वयस्मृतिपूर्वकत्वात्, न त्वनुमितिरनुमानं, प्रमाणव्यापारत्वेनातन्निमित्तत्वात् करणकारकादन्यत्वाद् अतत्पूर्वकत्वाच्चेति भावः । उत्तरम् । भावः करणं वा । ननूक्तं न भावः कारकमित्यत आह । यदेति । न द्रव्यादीनामेव करणत्वम्, अपि तु व्यापारस्यापि । अन्यथा कर्मनामधेयेषूद्भिदादिशब्देषु न करणविभक्तिः श्रूयेत उद्भिदा यजेत दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेतस्यादि । सम्भवति तस्यापि सिद्धस्य फलभावनायां निमित्तत्वम् । एवं बहि-

प्रमायाः सिद्धायाः सम्भवति हानादिवुद्धिनिमित्तभावः । एत-
स्मिंश्च कल्पे तत्पूर्वकमित्यत्र यदा हानादिसम्बन्धावधारणसमये
प्रथमं ज्ञानं बहित्वस्य लिङ्गस्य दर्शनम्, अथानुमानिकं द्वितीयम्,
अथ सम्बन्धस्य स्मृतिरिति त्रयमेकीकृत्य परामर्ष्टव्यं, तत्पूर्वको
हि तथा चायमनुमीयमानो बहिरिति लिङ्गपरामर्षः । तस्माद्
दाहपाककारित्वादुपादेयो बहिरिति ज्ञानमनुमानस्य फलं, तत-
श्च तत्पूर्वकत्वमपि सिद्धं भवतीति भावः । करणकारकपक्षे
फलमाह । यदा करणमिति । अत्र विमृशति । लिङ्गेति ।
तत्पूर्वकत्वानुमितिनिमित्तत्वसमानधर्मदर्शनात्संशयः । अत्राचा-
र्यदेशीयमतमाह । एके तावदिति । सत्स्वपीतरेषु स्मृतेरभावा-
दनुमितेरनुत्पादेन स्मृतिरेवानुमानम्, इतरे तदनुग्राहका
इत्यर्थः । मतान्तरमाह । अपर इति । सत्स्वपीतरेषु लि-
ङ्गपरामर्षं विनाऽनुमितेरनुत्पादाल्लिङ्गपरामर्ष एवानुमानमितरै-
रनुगृहीत इत्यर्थः । स्वमतमाह । वयं त्विति । अन्वयव्यति-
रेकाभ्यामशक्यो गुणप्रधानभावो विवेक्तुं, तयोः सर्वत्र तुल्य-
त्वादिति भावः । तत्किमिदानीं नास्ति गुणप्रधानभाव इत्यत आ-
ह । प्रधानेति । नान्वयव्यतिरेकावत्र प्रभवतो न तु नन्यायान्तर-
मिति भावः । पृच्छति । कः पुनरत्रेति । उत्तरमाह । आनन्त-
र्येति । नेहास्ति तिरोहितं किञ्चित् ।

अतिव्याप्तिं चोदयति । यदीति । (४५ । १९) ननु भवतु
प्रत्यक्षद्वयपूर्वकः संस्कारोऽनुमानं, तेनापि शेषोऽनुमास्यत इत्यत-
आह । स्मृतिहेतुः । (४५ । १९) नानुमितिहेतुरित्यर्थः । परिहरति ।
नैष दांष इति । विशिष्टज्ञानं विज्ञानं, विशेषश्च स्मृतेरन्यत्वं, न
हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं स्मृतिः, तस्याः संस्कारमात्र-
प्रभवतयाऽन्यस्मादनुत्पत्तेः । तेन च ज्ञानेन स्वकारणं विशेषि-

तम् , प्रत्यक्षसूत्रे यत् इत्यध्याहारात् । तस्मादिहापि स्वकारण-
विशेषकं स्मृतेरन्यद्विज्ञानमधिकृतम् । न च संस्कारः प्रत्यक्षपू-
र्वोऽपि तादृशज्ञानकारणमिति न तस्य प्रसङ्ग इत्यर्थः । नि-
र्णयेऽनुवज्जनितफले प्रसङ्गं निवारयति । निर्णय इति । विभा-
गसूत्राक्षिप्तप्रमाणसामान्यलक्षणपूर्वकं विशेषप्रमाणलक्षणं तदपे-
क्षं प्रवर्तमानं नानुवज्जनितफलेऽप्रमाणे निर्णयमात्रे प्रवर्तितुम-
र्हति, जनितफलस्तु निर्णयः प्रमाणमेवेति भावः । स्वविषय-
परिच्छेदकत्वात् फलं, परिच्छेद एव परिच्छेदकः, स्वार्थि-
कः प्रत्ययः ।

त्रिविधमिति सूत्रावयवमर्थगौरवाद्धानिककार उद्भाष्यं व्या-
चष्टे । त्रिविधमिति । (४६ । २) अन्वयव्यतिरेकिणं
लक्षयति । तत्रेति* । विवक्षितोपपत्तिः पक्षधर्मता ।
तज्जातीयोपपत्तिः अन्वयः । विपक्षावृत्तिर्व्यतिरेकः । अन्व-
यिमात्राद्व्यतिरेकिमात्राच्च व्यावृत्तोऽन्वयव्यतिरेकी दर्शनीय
इति हेतुत्रयसाधारणे अबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे
सती अपि रूपे न दर्शिते । विवक्षितप्रत्ययमन्तरेण चा-
न्वयव्यतिरेकयोस्तज्जातीयातज्जातीयवृत्तिव्यावृत्तयोरशक्यप्रती-
तित्वाद्विवक्षितोपादानं, तत्प्रसङ्गेन च तद्धर्मता हेतुत्रयसमा-
नाऽपि दर्शिता । तस्योदाहरणमाह । यथेति । प्रत्यक्षत्वा-
दिति हेतुरात्मनि नित्येऽस्तीत्यत उक्तम्, बाह्यकरणे-
ति । तथाऽपि सामान्यविशेषैर्घटत्वदिभिर्व्यभिचार इत्यत उक्तम्,
सामान्यविशेषवत् इति । तथाऽपि परमाणुभिर्बाह्यप्रत्य-
क्षैर्योगिनां व्यभिचार इत्यत उक्तम्, अस्मदादीति । तथा
चापं नित्येभ्य आकाशादिभ्यो घटादिषु चानित्येष्वन्यत इति

भवत्यन्वयव्यतिरेकी । अन्वयिनं लक्षयति । अन्वयीति । विप-
 क्षहीन इति । विपक्षाभावेन ततो व्यतिरेकाभावं दर्शयति । स-
 द्भ्यामभावो निरूप्यते नैकेन सतेत्युक्तं, तेन हेतोर्यतो विप-
 क्षान्निवृत्तिः स एव नास्तीति कुतो निवर्तताम्, पक्षादन्य-
 स्य सर्वस्यैव सपक्षत्वात् । न निवर्तते चेदस्तु हेतोस्तत्र वृत्ति-
 निवृत्तिनिषेधरूपत्वाद्वृत्तेरिति चेत् । न । यस्याभावाधिकरणत्वमपि
 न भवति निरूपाख्यस्य तस्य भावाधिकरणत्वशङ्कति सुभाषि-
 तम् । न खलु सुमूर्षोस्तोयाभ्यवहारेऽसमर्थस्य शङ्कुलीभक्षणं
 शङ्कते चेतनः । तत्किमिदानीं भावाभावौ न परस्पराभावात्मानौ
 यदेकनिषेधे नान्यविधिः स्यात् । सत्यम् । यत्रैकतर एतयोर्नि-
 षिध्यते (व्यतिरेको निषिध्यते) विधीयते वा तत्र तदितर-
 विधिनिषेधो वाऽवश्यं भवेत् । न त्विह परमार्थतः कस्यचिन्नि-
 षेधः । ननु चात्र निरूपाख्यो हेतोर्व्यतिरेको निषिध्यते । ननु
 निरूपाख्यो निषेधाधिकरणमिति वचः स्वचरितविरुद्धं, न
 चैतत्तत्त्वतो निरूपाख्ये हेतोर्व्यतिरेकं व्यासेधामो नाप्यन्वयं
 विदध्मः । नो खलु अयं सकलप्रतिपक्षभाजनं कचिदप्युपयु-
 ज्यते । उपयोगे वा निरूपाख्यो न भवेत् । कस्तर्हि न निरू-
 पाख्ये हेतोर्व्यतिरेक इत्यस्य वचनस्यार्थः । अथ निरूपाख्ये
 हेतोर्व्यतिरेक इत्यस्य भवद्भाषितस्य कोऽर्थः, अहृदयवाचां खल्व-
 हृदया एव प्रतिवाचो भवन्ति । यक्षानुरूपो बलिरिति हि
 लौकिकानामाभाणकः । न चात्यन्तादृष्टपूर्वाणां कल्पनाजाल-
 गोचरत्वमिति चोपपादितमन्यथाख्यातिनिरूपणावसरे । कल्पि-
 तगोचरश्च व्यतिरेकोऽपि काल्पानिक इति नानुमानाङ्गं भवति ।
 स्वाभाविकरूपसम्पन्नं हि प्रमाणं तत्त्वज्ञानरूपफलाय कल्पते न
 कल्पितरूपसम्पदा, तस्याः सर्वत्र सुलभत्वादिति । तच्च विषयत्वं

चानुमानस्योपपादयिष्यते । तस्मादनुपाख्ये विपक्षे हेतोर्व्यतिरेकनिवृत्तौ वा व्यतिरेके वा सहृदयानां सूक्तैवोचिता । न चैतावता हेतोरगमकत्वं, न हि व्यतिरेकोऽस्तीत्येव गमको भवति, मा भूदसाधारणस्यापि गमकत्वं, किं तु स्वसाध्येन सह स्वाभाविकसम्बन्धशालितया, सा चान्वयव्यतिरेकाभ्यामिवान्वयमात्रेणाप्युपाधिरहितेन शक्या ज्ञातुमिति कृतमत्र व्यतिरेकेण । विपक्षसम्भवे तु तत्रापि हेतुवृत्तिशङ्कानिराकरणाय व्यतिरेकग्रहणमुपासनीयमिति सर्वमवदातम् ।

उदाहरणमाह । यथेति । (४६ । ६) स्वमते त्वभिधेयो विशेषः प्रमेयत्वात् सामान्यवत्, परमाण्वाकाशादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटवादित्यादयो द्रष्टव्याः । विश्वस्यैव सदसत्प्रभेदभिन्नस्य यथास्वं पक्षसपक्षयोरन्तर्भावेन विपक्षाभावादिति । व्यतिरेकिणं लक्षयति । व्यतिरेकीति । तमिमं व्यतिरेकिणं हेत्ववयवलक्षणव्याख्यानावसरे वार्तिककृददर्शयिष्यतीति नेहोपपादितम् । तदेवं त्रिविधमित्यवच्छिद्य व्युत्पाद्यसम्प्रति पूर्ववादित्यादिना एकवाक्यतया व्याचष्टे । अथ वा त्रिविधमिति । (४६ । ९) तिसृष्वपि विधासु साध्यवचनस्य पूर्वमुपपादनात् पूर्वं साध्यं तद्यस्यास्त्यधिकरणतया तत्पूर्ववत् । तथाऽप्यनित्याः परमाणवो गन्धवत्त्वाद् घटवादित्यपि हेतुः स्यादस्ति साध्यं तस्यापि, पार्थिवानामप्यणूनामनित्यत्वेन सिषाधयिषितत्वादित्यत आह । व्याप्त्येति । (४६ । १०) अस्ति गन्धवत्त्वस्य साध्यं न तु व्याप्त्या, पृथिवीमात्रवृत्तितया चतुर्षु परमाणुषु तदभावात् । साध्यस्योपयुक्तत्वात् ततोऽन्यस्तज्जातीयः शेषः साध्यसामान्येन समान इति यावत्, तदिदमाह । साध्यतज्जातीय इति । पदानि विभज्यार्थमाह ।

पूर्ववन्नामेति । सामान्यतोऽदृष्टमिति नञमन्तर्भाव्य व्याचष्टे । सामान्यतश्चेति । तथा च बाधितविषयं प्रकरणसमं चानुमानं स्यादित्यत आह । चशब्दादिति । वार्तिकस्थचशब्देनासत्प्रतिपक्षत्वमपि सूचितम् । तेन सूत्रस्थेनावधितत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमपि रूपद्वयं समुचितमित्युक्तं भवति । नन्वेवं त्रिविधोऽपि हेतुः पञ्चलक्षणः स्यादित्यत आह । एवमिति । एतदुक्तं भवति, अबाधितविषयमसत्प्रतिपक्षं पूर्ववदिति ध्रुवं कृत्वा शेषत्रयदित्येका विधा, सामान्यतोऽदृष्टमिति द्वितीया, शेषवत्सामान्यतोऽदृष्टमिति तृतीया, तदेवं त्रिविधमनुमानम् । तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम् । एकं पञ्चलक्षणमिति । तदेवं स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय भाष्यकृन्मतेन व्याचष्टे । अथ वेति । (४६ । १५) आक्षेप्तुं स्वरूपतो व्याचष्टे । तत्रेति । पूर्वं कारणं कार्यात्, तद् यस्यास्ति विषयतया परामर्षज्ञानस्यानुमानस्य तत्पूर्ववदित्यर्थः । विकल्पाक्षिपति । यदि तावदिति । सर्वत्रानुमानमसङ्गादिति भावः । अतिप्रसङ्गभिया कल्पान्तरमातिष्ठते । अथ पुनरिति । दूषयति । एतदपीति । दूषणान्तरं समुच्चिनोति । कारणदर्शनाच्चेति । नासिद्धाश्रयो हेतुर्गमक इति भावः । परिहरति । नेति । द्वयमपि नाभ्युपेयत इत्यर्थः । किं तर्ह्यभ्युपेयत इत्यत आह । कार्यं त्विति । एनं प्रकारमन्यत्राप्यतिदिशति । एवमिति । पृच्छति । कथमिति । उत्तरम्, द्वयोरिति । पूर्वशब्देन कारणाभिधायिना प्रतिसम्बन्धितया कार्यमभ्युपक्षिप्तमतो द्वयोरप्युपक्षिप्तयोः कारणस्योपयोगादनुमानभावेनेति योजना । उदाहरणमाह । उदाहरणमिति । यद्यपि कारणमात्रं व्यभिचरति कार्योत्पादं तथाऽपि यादृशं न व्यभिचरति तत्र निपुणेन प्रतिपक्षं भवितव्यम् । अन्यथा धूममात्रमपि वह्निमत्तां व्यभिचरती-

ति न धूमाविशेषो गमको भवेत् । रसाद्रूपानुमाने तु वैनाशिका-
नामापादितं कारणात् कार्यानुमानमस्माभिः । अपि चान्त्य-
तन्तुसंयोगानन्तरं यत्र पटो जायते तत्रापि शक्यं कारणात्का-
र्यानुमानम् । यदा खलत्रयमन्यत एवोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिस्मृति-
मान् अविचलेष्वितरेषु तन्तुषु अन्त्यतन्ताबुत्पन्नां क्रियामिन्द्रिय-
सन्निकर्षात् प्रथममेव परामृशति तथा चेयमिति, तदैव क्रियातो
विभाग इत्येकः कालः, अथ यदा विभागात् पूर्वसंयोगनाश-
स्तदा परामर्षादवश्यम्भाविपटाविशिष्टेयं क्रियेयनुमानोत्पाद इत्ये-
कः कालः । अथान्त्यस्य तन्तोः तन्तुसंयोगोऽथ पटोत्पादो-
ऽथ तत्र रूपाद्युत्पादः, अथ प्रत्यक्षदर्शनमित्यनुमानोत्पादस्य पर-
स्ताच्चतुर्थे क्षणे प्रत्यक्षम् । यदि तु क्रियोत्पादानन्तरमालोचन-
मिष्यते तथाऽपि तृतीये क्षणे प्रत्यक्षस्योत्पाद इति नानवस-
रमनुमानम् । अपि च वधिरो मुरजमुखमभिहत्य स्वपाणिना-
भिघातादेव शब्दकारणात् तत्कार्यं शब्दं निःशङ्कमनुमिमीते ।
एवमन्यान्यपि कारणात्कार्यानुमानान्यूहनीयानि । शेषवदुदा-
हरणमाह । नच्चा इति । (४७ । १२) चोदयति । कथं पुनरि-
ति । परिहति । नेति । अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं नदीपूरः । ननु
वृष्टिरनुमीयमाना पूरविशेषान्नातीता शक्याऽनुमातुम्, अनुमान-
समये तदत्ययस्याशक्यनिश्चयत्वात् । नापि च वर्तमाना, तद-
त्ययस्यापि तदानीं सम्भवात् । एवं भविष्यन्त्यपि साधकबाध-
कप्रमाणाभावेन सन्दिग्धैव । तस्मात्रैकाल्यस्याशक्यनिश्चयत्वाद्-
नुपपन्नमनुमानमिदं आह । भविष्यतीति । कारणस्य का-
र्यात् पूर्वकालता शक्या निश्चेतुं कार्येण लिङ्गेन, तेन नातीत-
त्वादि सन्देहः क्षतिमावहति । यः कश्चिदिति योग्याभिप्रायम्,
स च कार्यस्य पुरस्तात्ततो निश्चयव्याप्त इत्यर्थः । सापान्यतो-

दृष्टोदाहरणं भाष्यकारीयं दुरवबोधं शेषवदुदाहरणान्तर्गतं च,
अत्रापि कार्येण सवितुर्देशान्तरप्राप्त्या तत्कारणस्य त्रज्याया
अनुमानात् । न चैतावताऽनुमानस्य त्रैविध्यं भवति, उदाहर-
णमात्रस्यानन्त्येनानन्त्यप्रसङ्गात् । तस्माद्भाष्यकारव्याख्यानम-
रोच्यमानो वार्तिककारोऽन्यथा व्याख्यायोदाहरणान्तरमाह ।
सामान्यतोदृष्टं नामेति । (४७ । १९) साध्यधर्माविनाभा-
विना विशेषणेन साध्यधर्मेण विशिष्यमाणो धर्मी ग-
म्यते गमकत्वेन, हेतुविशिष्टो हि धर्मी गमकः, जिज्ञासितधर्म-
विशिष्टश्च गम्यः । यथाऽऽहुः,

‘स एव चोभयात्माऽयं गम्यो गमक इष्यते ।

असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधकः ।’ इति ।

अविनाभावित्वं स्वभावप्रतिबद्धत्वं सर्वेषामेव हेतूनां सामान्यं,
तत्र धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षया हेतुरेव सामान्यमुक्तः । सामान्येना-
विनाभाविना हेतुना लक्षितं दृष्टं धर्मिरूपमनुमानं सामान्यतोदृष्ट-
मनुमानम् । तृतीयायास्तसिः । तदेतत्पूर्ववच्छेषवतोरपि प्रापकं
तत्पदसन्निधानात् गोबलीवर्द्धन्यायेन ते परिस्रज्यान्यत्र निविश-
ते । तदिदमुक्तमकार्यकारणभूतेनेति । उदाहरणमाह । यथा
बलाकयेति । भाष्यकारीयमुदाहरणमुपन्यस्याक्षिपति । अपरे
पुनरिति । तदिति (४८ । १) गतिमानिति परामृशति ।
उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वादिति । कर्मणो हि महत्त्वरूपवि-
शेषैकार्थसमवाय उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः प्रत्यक्षोपलब्धयो-
ग्यता । समाधत्ते नैवमिति* । देशान्तरप्राप्तिमानादित्यः,
द्रव्यत्वे सति क्षणवृद्धिप्रत्ययाविषयत्वे च सति प्राङ्मुखोपल-
भ्यत्वे च तदभिमुखदेशसम्बन्धादनुत्पन्नपादविहारस्य पारिवृत्य

* नैवेदमिति मु० वा० पु० पाठः ।

तत्प्रत्ययविषयत्वात्, मण्यादिवत् । तत्प्रत्ययविषयत्वादित्युच्य-
माने पुरःस्थितेन स्थाणुना व्यभिचारः, सोऽपि हि प्रत्य-
भिज्ञाविषयो भवति तत्रैव स्थितस्तन्निवृत्त्यर्थं परिवृत्त्येत्युक्तम् ।
तथाऽपि गुणादिभिर्व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं द्रव्यत्वे सतीत्यु-
क्तम् । तथाऽपि प्रदीपादिभिर्व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं क्षयवृद्धिप्र-
त्ययाविषयत्वे सतीति विशेषणम् । तथाऽपि पृष्ठतोऽवस्थित-
या स्थूणया व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं प्राङ्मुखोपलभ्यते सतीति
विशेषणम् । उपलभ्यता चोपलब्धिकर्मता । सा चेहातीता वि-
वक्षिता, अन्यथा पूर्वापरजलाधिवेलावगाहिना तुहिनशैलेन व्य-
भिचारः । यद्यप्ययमपि परावृत्त्य तत्प्रत्ययवतोऽतिपतितोपल-
ब्धिकर्मभावस्तथाऽपि तदा नरान्तरस्योपलभ्यः, मार्तण्डम-
ण्डलं त्वस्ताचलचूडावलम्बि न प्राच्यां कस्यचिदुपलम्भगोचर
इति वैषम्यम् । तथाऽपि यदि द्रष्टैव(१) पुरोवस्थितस्य पश्चिमाभिमु-
खस्य प्रासादस्य स्वयमुपनिपत्य पृष्ठतो भवति तदोक्तलक्षणस्य
हेतोरस्ति व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थमनुत्पन्नपादविहारस्येति वि-
शेषणम् । तदभिमुखदेशसम्बन्धादिति ल्यबलोपे पञ्चमी । स्वा-
भिमुखदेशमुद्दिशानुत्पन्नः पादविहारो यस्य स तथोक्तः । त-
मुद्दिश्य खल्वयं पदूभ्यां सञ्चरमाणः प्रासादस्य पृष्ठतो भव-
तीति भावः । देशान्तरप्राप्तौ साधनान्तरमाह । देशान्तरेति ।
(४८ । ६) सत्यविनाश इति च द्रष्टव्यम् ।

ये त्विमामनुमानपरम्पराममृष्यमाणा दिशः प्रत्यक्षतामिच्छ-
न्ति विप्रतिपन्नं चानुमानेन बोधयन्ति, तन्मतमुपन्यस्य दूषयति ।
तच्च नेति । अरूपमात्मसुखाद्यपि प्रत्यक्षमिति शङ्कमानेन बाह्य-
करणेत्युक्तम् । पृच्छति । कथं तर्हीति । उत्तरम्, दिग्देशेति ।

(१) द्रष्टव्येवेति २ पु० पा० ।

अन्यथासिद्धतया अङ्गुल्या निर्देशस्य दिक्प्रत्यक्षत्वेन न स्वाभाविकः सम्बन्ध इत्यर्थः । स्यादेतत् । अप्रत्यक्षायां दिशि दिग्देशसम्बन्धिष्वित्येतदेव कुत इत्यत आह । आदित्येनेति । (४९।२) तद्विभजते । प्राचीत्ययमिति । तत्पुनरिदं प्रत्यक्षमा चोदयादा चास्तमयाद्देशाद्देशान्तरं सञ्चरणं मार्तण्डमण्डलस्य, अनाकलितद्रव्यत्वे सतीत्यादिदण्डकानुमानानामिन्द्रियव्यापारानन्तरमुपजायमानत्वात्, तत्र मा भूवन्नाकाशदिगादयः प्रत्यक्षास्तथाऽपि परितो निष्पतदतिविशदमयूखजालमध्यवर्तिनो हेलिमण्डलस्य त एव मयूखभागभेदाः देशान्तर इति तेषां प्रत्यक्षाणां प्रत्यक्षेण सवितृमण्डलेन संयोगविभागाः प्रत्यक्षा भविष्यन्तीति युक्तम् । इदं त्वतिस्फुटतयानभिधाय शिष्यव्युत्पादनायाक्षुण्णं मार्गान्तरं दर्शितमिति मन्तव्यम् । तदेवं रूपेण स्पर्शानुमानं शिंशपात्वेन श्रुतेन दृक्षत्वानुमानमित्यादि सामान्यतोदृष्टेन सङ्गृहीतं वेदितव्यम् ।

स्वमतेन व्याख्यान्तरमाह । अथ वा त्रिविधमिति । तद्विभजते । प्रसिद्धमिति । पक्षैकदेशे सदपि सिद्धं, पक्षव्यापकं तु प्रकर्षेण सिद्धमित्यर्थः । यद्यप्यविनाभावः पञ्चसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समाप्यत इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिङ्गरूपाणि सङ्गृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः सङ्ग्रहे गोवलीवर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि सङ्गृह्णाति । अत्रापि यथासम्भवं चतुर्णां पञ्चानां वा रूपाणां लिङ्गसम्बन्धः । तदनेन प्रबन्धेनानुमानवादिनां स्वरूपसङ्ख्याफलविप्रतिपत्तयो निराकृताः । अत्र तत्पूर्वकमिति स्वरूपविप्रतिपत्तिरनुमानमितिसमाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात्फलविप्रतिपत्तिः त्रिविधमिति न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदेन सङ्ख्यावि-

प्रतिपत्तिन्निराकृता ।

सम्प्रत्यन्तर्गणिकभेदानामानन्त्यादनुमानस्याशक्यलक्षणत्व-
मिति यदि कश्चिदनुमन्येत तन्निराकरणाय त्रैविध्यमनुमानस्योच्य-
त इति त्रिविधपदस्य तात्पर्यान्तरमाह । अथ वेति । त्रिविधत्वेन
यतो नियतमतः शक्यलक्षणमित्यर्थः । अनित्यः शब्दः कृतक-
त्वादिति सपक्षे सदेव । अनित्यः शब्दोऽस्मदादिप्रयत्नान्त-
रीयकत्वादिति सपक्षे सदसत् । तदिदमन्वयव्यतिरेकि द्विवि-
धम् । एवमन्वयपि द्वेधा तत्र सपक्षे सदेव, यथा परमाण्वादयः
कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटवदिति । तथा सपक्षे सदस-
द्यथा तत्रैव साध्ये सत्त्वाद् घटादिवदिति । कालभेदः त्रैकाल्यम् ।
प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तश्चेति पुरुषभेदः ।

पूर्वं सिद्धवत्पूर्ववदित्यनुग्रहस्तस्योदाहरणमुक्तम्, सम्प्रति
प्रश्नपूर्वकं तदर्थभासनिराकरणेन तात्त्विकमस्यार्थमाह । पूर्व-
वदित्युक्तमिति । भाष्यव्याघात इत्यर्थः । पूर्ववदित्यस्य
व्याख्यानं शेषवदित्यत्रापि योजयति सामान्यतो दृष्टे चातिदि-
शति । एवं शेषवदादिष्विति ।

अथ वा पूर्ववदिति भाष्यम् । तस्यार्थः, पूर्वेण तुल्यं
वर्त्तत इति पूर्ववत् । क्रियातुल्यतायां च वतिरिति क्रियातुल्यता
दर्शिता । यथेति । पूर्वमन्यतरदर्शनेन सहान्यतरदर्शनं दृष्टान्त-
धर्मिणि यथा । प्रत्यक्षभूतयोरिति प्रमाणमात्रोपलक्षणम् ।
एवं साध्यधर्मिणि अन्यतरधर्मदर्शनेन साधनधर्मदर्श-
नेनान्यतरस्य साध्यधर्मस्यानुमानमनुमितिदर्शनमिति भवति
क्रियातुल्यता । तदेतद्भाष्यमनुभाष्य व्याचष्टे । अथ वेति ।
अत्र दिग्भागेन धूमादग्निरूपधर्मान्तरानुमानं अग्निदेशयोः सम्बन्धा-
नुमानं च दूषयित्वाऽग्निविशिष्टदेशानुमानं समर्थितम् । तथा चाह,

‘केचिद्धर्मान्तरं मेयं लिङ्गस्याव्यभिचारतः ।

सम्बन्धं केचिदिच्छन्ति सिद्धत्वाद्धर्मधर्मिणोः (१) ॥

लिङ्गं धर्मे प्रसिद्धं चेत्किमन्यत्तेन मीयते ।

अथ धर्मिणि तस्यैव किमर्थं नानुमेयता ॥

सम्बन्धेऽपि द्वयं नास्ति पृष्ठी श्रूयेत तद्वति ।

अवाच्योऽनुगृहीतत्वान्न चासौ लिङ्गसङ्गतः ॥

न हि सम्बन्धधर्मतया लिङ्गं प्रमीयते, अपि तु देशसङ्गतमित्यर्थः ।

लिङ्गस्याव्यभिचारस्तु धर्मेणान्यत्र दृश्यते ।

तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिणं गमयिष्यति ॥’ इति ॥

तत्र दिग्भागदूषितान् कल्याणं अन्याश्च विकल्पान् दिग्भाग-
समर्थितं च कल्पमुपन्यस्य दूषयति । अन्ये पुनरिति । धर्म-
धर्मिभावानुपपत्तेरिति । (५० । ३) धर्मेण हि धर्मी प्र-
तिपत्तव्योऽन्यथाऽतिप्रसक्तेरिति भावः । देशस्य च स्वरूपेणो-
त्थर्थः । शङ्कते । अथापीदमिति । निराकरोति । तच्च नैवमि-
ति । यः कश्चिद्वा देशोऽग्निमान् साध्यो धूमवान्वा देशभेदः, तत्र
पूर्वस्मिन्कल्पे निराकरणमाह । अतद्धर्मत्वादिति । यः कश्चि-
दग्निमत्तया देशः साध्यते न तस्यावश्यं धूमो धर्म इत्यर्थः । न
चैतत्साध्यं सिद्धत्वादित्याह । न चाग्निरिति । द्वितीयकल्पमाशङ्क-
ते । अयमिति । निराकरोति । न तस्येति । शङ्कां विभजते । देशो-
ति । निराकरणं विभजते । न ह्ययमिति । न ह्ययमेवंवादी दि-
ग्भागो धूमाधारं देशविशेषं पश्यति । न ह्यस्य मते पर्वतो नाम क-
श्चिदवयवी यदाधारो धूम उपलभ्येत किं तु परमाणवः परमसू-
क्ष्मा अतीन्द्रियाः पर्वतः, एवं धूमोऽपि तादृश एव । यथा व-

(१) सिद्धत्वाल्लिङ्गलिङ्गिनोः— पाठः ।

क्षयति, सर्वाग्रहणमवयवसिद्धेरिति । येषामपि देशभेदोऽवयवी-
दर्शनार्हः तेषामपि वियद्वृत्तिर्नी धूमलेखामभ्रंलिहमुपलभ्यानुप-
लब्धदेशानां नानुमानसम्भव इति भावः । शङ्कते । अविना-
भावेनेति । तदेव विभजयते । अथापीति । निराकरोति । त-
न्नेति । विकल्पयति । अग्निधूमयोरिति । कार्यकारणभावमाल-
म्बते । आस्त्विति । दूषयति । तन्नेति । धूमेन हि वह्निरस्ती-
त्यनुमीयते, न च कार्यसत्ता निमित्तकारणसत्तया व्याप्ता । न
हि यदा यत्र वा पटस्तदा तत्र वा कुविन्दः । नाप्यसमवायिका-
रणसत्तया, न हि यदा यदा संयोगस्तदा तदा कर्म, तस्मात्समवा-
यिकारणाविनाभावः कार्यस्य वक्तव्यः, तत्रेदं दूषणम्, अतद्वृत्ति-
त्वादिति । एकार्थसमवायमविनाभावं दूषयति, नैकेति । एकार्थे
समवाय इति हि द्वेधा, एकस्यार्थस्य समवाय एकत्रार्थे समवा-
य इति, तत्र प्रथमकल्पं दूषयति । ताभ्यामिति । यदि हि व-
ह्निधूमाभ्यामेकोऽर्थः कश्चिदारभ्येत ततोऽसौ तयोः समवे-
यात्, न त्वेतदस्तीत्यर्थः । द्वितीयं कल्पं दूषयति । न च तावि-
ति । तत्किमसम्बद्धावेव वह्निधूमौ, तथा च प्रतीतिविरोध इत्यत
आह । सम्बन्धमात्रमिति । संयोग इत्यर्थः । तदेव तर्ह्यवधार्य-
तामित्यत आह । तदपीति । पृच्छति । कथमिति । उत्तरम्,
यदि तावदिति । कुरुते प्रयोगम् । अस्ति सम्बन्धोऽग्निधूम-
योर्धूमादिति । दूषयति । तन्नाप्रतीतत्वात् । (५१।१) तदनेना-
नैकान्तिकत्वं दर्शयति । सम्बन्धान्तरमाशङ्कते । रूपस्पर्शवदिति ।
न हि बौद्धसिद्धान्ते द्रव्यं नाम किञ्चिदस्ति यत्र रूपस्पर्शौ सम-
वेतौ, किं त्वेकसापग्रथधीनतया नियतसाहचर्यौ, तथा वह्निधूमाव-
पि भविष्यत इत्यर्थः । दूषयति । नोभयोरिति । उभयसाहचर्य-
निराकरणेन यत्र धूमस्तत्राग्निरित्यपि पराकृतम्, तस्यापि साहच-

र्यविशेषत्वादिसाह । यत्र धूम इति । गत्यन्तराभावादुपसंहर-
ति । न चेति । शङ्कते । लोकेति । निराकरोति । नास्तीति । यत्र
तावत्पर्वतनितम्बवार्त्तिनी धूमलेखा सततमुद्गच्छन्ती दृश्यते तत्रा-
सौ देश एव तद्विशिष्टोऽनुमीयते इति लोकप्रसिद्धमेवेति किमत्र
वक्तव्यम् । यत्र तु भूयिष्ठतया तस्य धूमस्य दूरत्वेन देशो न
लक्ष्यते, धूम एव त्वभ्रंलिहो लिम्पन्निवाभ्रमण्डलमवलोक्यते,
तत्र देशानुमानप्रयासालसतया दृश्यमानो धूमविशेष एवाभिमततया
साध्यते धूमत्वैकार्थसमवायिभिः तद्वतैः सन्तत्यूर्द्धगमनादिभि-
रिसाह । धूमविशेषेणेति । विशिष्यतेऽनेनेति विशेषः सन्त-
त्यूर्द्धगमनादिः, तेन धूममात्राद्विषयभिचारिणो बन्धाविनाभावी
धूमो विशिष्यत इत्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् ।

शेषवन्नाम परिशेषः, द्रव्यत्वकर्मत्वयोः शब्दे निरा-
कार्यत्वेनोपयुक्तत्वात्ताभ्यामन्यद् गुणत्वं शेषः, स यस्यानुमान-
स्य प्रतिपाद्यतया तच्छेषवत्, तत्र न द्रव्यं शब्दः एकद्रव्यत्वात्,
द्विविधमेव हि द्रव्यमद्रव्यमनेकद्रव्यं च, अद्रव्यं परमाण्वादि,
अनेकद्रव्यं च घटादि, शब्दस्त्वेकद्रव्यं, तस्मान्न द्रव्यं रूपा-
दिवत् । न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वादिति, तदेतज्ज्ञाप्यमाक्षिपति ।
न कर्मेति । परिहरति । नेति । अन्यमस्यार्थं दर्शयति । समा-
नजातीयारम्भकत्वादिति । यत्समानजातीयारम्भकं न त-
त्कर्म यथा रूपादय इति । कार्यत्वात्तावच्छब्दः समवायिकारण-
वान् । तत्र च पृथिव्यादिनिषेधान्नभोऽस्य समवायिकारणम् । न
चैष नभोव्यापकः सर्वत्रोपलम्भमसङ्गात् । तस्मादव्यापकः । क-
र्णशङ्कुल्युपहितं च नभः श्रोत्रम्, ताल्वादिसंयोगोपधानेन च
नभःप्रदेशे शब्दः समवेतः । प्राप्यकारि च श्रोत्रं न च वक्तृव-
क्त्रावरुद्धनभःप्रदेशं प्राप्नोति, चाद्रव्यं शब्दो गत्वा श्रोत्रेण

५सू० ३प्र०] भाष्योक्तानुमानविशेषविचारः । १८३

सम्बध्यते । तस्माद्विचीर्यतद्गृह्यतया स्वदेशानन्तरदेशे शब्दान्तरारम्भणपरम्परया श्रोत्रदेशोत्पन्नं शब्दं गृह्णातीति सिद्धं स-
ज्जातीयारम्भकत्वादिति । इदं तु परिशेषस्योदाहरणं नादरणी-
यम् । व्यतिरेकिणो हि नामान्तरमिदं परिशेष इति । एष पुन-
रन्वयव्यतिरेकी, द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सदाद्यभेदस्य सपक्षे रू-
पादौ सत्त्वाद्विपक्षे सामान्यादावभावात् । तस्मादात्मतन्त्रतासा-
धनमिच्छादीनां परिशेषोदाहरणं द्रष्टव्यम् । तच्चानन्तरमेव व-
क्ष्यति । सामान्यतोदृष्टं नामेत्यादिभाष्यमनुभाष्याक्षिपति ।
सामान्यत इति । कथं तर्ह्यनुमानमत्र प्रवर्तत इति ।
नित्यपरोक्षेण सह कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धादर्शनादित्यर्थः ।
व्याहृतं चेति । स खल्वत्यन्तापरिदृष्टः स्वरूपतो वा साध्येत
दृष्टधर्मिविशेषणतया वा । तत्र पूर्वस्मिन्कल्पे नानुपलब्ध इति
व्याघातः, उत्तरस्मिन्सन्दिग्ध इति । विशेषस्मृत्यपेक्षो हि संशयो
नात्यन्तानुपलब्धधर्मवत्तायां कचिद्भविष्यति । न खलु सप्त-
परसवत्तया केचिद् द्रव्ये संशेरत इति भावः । समाधत्ते । न वि-
शेषणभूतस्येति । (५२ । १) न तावत्स्वरूपेणानुमीयते
येन नानुपलब्ध इति व्याह्रयेत किं तु दृष्टस्य धर्मिणो विशेषण-
तया, न चैवं सर्वानुमानाविशेषः, साध्यधर्मिण्यस्मदादिभिः
कदाचिदपि प्रत्यक्षेणानुपलम्भात् । तज्जातीयेन तु दृष्टान्तध-
र्मिणि दृष्टेन प्रत्यक्षतो वा मानान्तराद्वा साधनधर्मस्य स्वाभा-
विकप्रतिबन्धग्रहसम्भवादित्यर्थः । उदाहरणमाह । यथेच्छादि-
भिरात्मा । (५२ । २) तदेव विभजते । इच्छादयः खलु
धर्मिणो भवन्ति, मानसप्रत्यक्षदृष्टाः । तेषामात्मा विशेषणं,
कुतः, गुणभूतोऽवच्छेदकतया यतस्तस्मादात्मविशिष्टा इच्छादयः
साध्या इत्युक्तं भवति । साधनधर्मं तद्वर्तिनं दर्शयति । इच्छा-

दीनां गुणत्वमिति । ननूक्तमनुपलब्धचरेण साध्यधर्मेण
 न सन्देहविषयत्वमनुपलब्धचरश्चात्मेति कथं तद्विशिष्टा इच्छा-
 दयो न्यायविषया इति शङ्कामुररीकृत्य प्रयोगं सूचयति ।
 परतन्त्रा इति । मा तत्र सैत्सीदात्मा, पारतन्त्र्यमात्रं तु सिद्ध-
 मित्यर्थः । तेन सामान्यतोदृष्टस्य पारतन्त्र्यमात्रविषयता । न च
 पारतन्त्र्यमिच्छादीनामनुमेयात्मवादीनां कदाचिदप्यस्मदादिप्र-
 त्यक्षगोचरः, परस्य तदाश्रयस्य नित्यपरोक्षत्वादिति । तदेवं सा-
 मान्यतोदृष्टमुदाहृत्य परिशेषोदाहरणं पारमार्थिकं प्रश्नपूर्वकमा-
 दर्शयति । पारतन्त्र्येति । इच्छादीनां हि बाधकैरपनीते द्रव्या-
 ष्टकगुणत्वे गुणत्वमेव व्यतिरेकी हेतुरात्मपारतन्त्र्ये प्रमाणम् ।
 यद्यपि चायं स्वरूपेणात्मा न प्रसिद्धस्तथाऽपि द्रव्याष्टकव्यति-
 रेकादिशब्दैरदूरविप्रकर्षेण परामृष्टः शक्नोति विशेषदुं धर्मिणि
 च न्यायप्रवृत्त्यङ्गं संशयमापादयितुमिति निरवद्यम् । अत्र भाष्यं
 विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्ध इति । तस्यार्थः, त्रि-
 विधमिति विभागवचनादेव त्रिविधे पूर्ववदादौ सिद्धे किमर्थं
 पूर्ववदाद्युपादानं सूत्रेणेति । तत्र समाधानम्, त्रिविधवचनं
 त्रिविधस्य पूर्ववदादेर्वचनमुक्तिः । महत्तस्त्रिविधस्य महा-
 विषयस्यातीतानागतवर्त्तमानविषयस्य लघीयसा सूत्रेण
 तत्पूर्वकमित्येतावतैवोपदेशे परं वाक्यलाघवं मन्यमान-
 स्यान्नयस्मिन्वाक्यलाघवेऽनादरः सूत्रकारस्येति शिष्यान्
 व्युत्पिपादयिषोः । अत्र निदर्शनम् । तथा चायमस्य समा-
 चारः इत्थंभूतेन वाक्यविकल्पेन वैचित्र्येण प्रवृत्त इति
 योजना । एवं तावलक्षणभेदादनुमानं भिन्नं प्रत्यक्षादर्शितम्,
 भाष्यकारस्तु विषयभेदादपि भेदमाह । सद्विषयं च प्रत्यक्षं
 सदसद्विषयं चानुमानम् । चो विषयभेदं समुच्चिनोति ।

सदिति वर्त्तमानम् । असदित्यतीतानागते । प्रत्यक्षं हि लौकिकं
वर्त्तमानविषयमेव । अनुमानं तु त्रैकाल्यविषयम् । यद्यपि प्रत्यक्ष-
मप्यतीतानागतयोः सम्प्रति निषेध्ययोर्निषेधे वर्त्तमानमसद्विषयं,
तथाऽपि न निषेध्ययोः प्रवर्त्तत इत्येतावतैव सद्विषयमुक्तम् ।
अनुमानं तु तयोरपि प्रवर्त्तत इत्येतावता असद्विषयमुक्तम् । तदे-
तदाक्षिपति । सद्विषयं चेति । (५२ । १३) न ह्यनुपलब्ध-
सामान्य इति । सामान्यत उपलब्धो विशेषतश्चानिर्णीतो धर्मो
न्यायप्रवृत्तावधिक्रियते न त्वनुपलब्धसामान्य इत्यर्थः ।
न चासतः स्वतन्त्रस्य सामान्यदर्शनमस्तीति । द्वितीयं
कल्पमाशङ्कते । अथेति । एतद्दुषयितुं धर्मत्रैविध्यमाह ।
धर्म्मा इति । तद्विभजते । तत्रेति । पृच्छति । कथं पुन-
रिति । यदि हि स्वतन्त्रः समवायो न तर्हि कस्याचिद्विशेषणम्,
तथा च न विशेषणतया गृह्येतेति भावः । उत्तरम्, समवा-
यान्तराभावात् । न विशेषणत्वं स्वातन्त्र्येण निराकुर्मः,
किं तु वृत्तिमस्येत्यर्थः । कस्मात्पुनरस्य न समवायान्तरमभ्युपे-
यत इत्यत आह । अथेति । पृच्छति । किमिदमिति । अनव-
स्थाप्रसङ्गो हि नाम तर्को नैष प्रमाणमन्तरेण निर्णयाय पर्याप्त
इत्यर्थः । उत्तरम्, न सन्देहः किं त्वस्त्येव न्यायः । तमाह ।
पश्चेति । अयं पञ्चपदार्थवृत्तिशब्दो बहुव्रीहिणा परमाणौ वर्त्तते
षष्ठीसमासेन च समवाये । न च कथञ्चिच्छब्दाभेदमात्रमनुमा-
नाङ्गम्, मा भूदोशब्दसाम्येन वागादीनामपि विषाणित्वमित्यप-
रितोषान्न्यायान्तरमाह । अनाश्रितः समवाय इति । (५३ । १)
इहबुद्धिनिमित्तत्वं कारणत्वम् । संयोगेनानैकान्तो मा भू-
दिद्यत उक्तं व्यापकत्वे सतीति । सत्युपलब्धिकारणान्तर-
सद्भावे सर्वत्रोपलभ्यता व्यापकत्वम् । तच्चेहप्रत्ययकारणत्व-

मात्मनि च समवाये चाविलक्षणमिति । न्यायेतिकर्तव्यतां तर्कं
 पृच्छति । यदि पुनरिति । उत्तरम् , कार्यमिति । उक्तमनव-
 स्थाप्रसङ्गमवतारयितुमनाधारत्वप्रसङ्ग उक्तः । स्यादेतत् । भव-
 तु वृत्तेः प्रागनाश्रितं कार्यं, पश्चात्समवेक्ष्यति, तुरीसंयुक्तेभ्य इव
 तन्तुभ्य उत्पद्य पटः पश्चात्तुर्ग्येत्यत आह । समवायश्चेति ।
 अनवस्थाप्रसङ्गः पूर्वोक्त इत्यर्थः । शङ्कते । प्राप्तित्वादिति ।
 प्रमाणवत्त्वात् प्राप्तसमवायस्य वृत्तिर्न शक्या अनवस्थाभिया
 परित्यक्तमित्यर्थः । विमर्षपूर्वकं शङ्कां निराकरोति । किमि-
 ति । संयोगे प्राप्तित्वस्य न वृत्त्या स्वाभाविकः सम्बन्धः । कार्य-
 त्वस्योपाधेः तत्प्रयोजकस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः । अथ प्राप्तिय-
 म्मोऽपि कस्मान्न भवतीत्यत आह । यदि पुनरियामिति । न-
 न्वियमनवस्था कस्माद्धीजाङ्गुलादिष्वेहापि नाभ्युपेयत इत्यत
 आह । न चैतामनवस्थामिति । अनिदं प्रथमेष्वनादित्वाच्छ-
 क्यया प्रतिपादयितुमनवस्था प्रमाणेन, न त्विदं प्रथमेष्वनादिमत्त्वेन
 तस्याशक्यनिश्चयत्वात् । तदिदमुक्तं प्रमाणाभावादिति ।
 शास्त्रविरोधश्च समवायान्तराभ्युपगम इत्याह । समवायश्चे-
 ति । तत्त्वमेकत्वं समवायस्य भावेन सत्तया व्याख्यातामिति
 शास्त्रमाह, तदनेकत्वमुपपादयता बाध्यंतेत्यर्थः । चोदयति ।
 सम्बन्धनिवृत्ताविति । तथा च विनश्यति विनष्टे च
 तस्मिन् यो दृश्यते स ततोऽन्य उत्पन्न इति सिद्धं
 समवायस्य नानात्वमिति । परिहरति । न नास्तीति ।
 ख्यातिरुपलब्धिः । कस्मात् , अकृतकत्वात् । अकृतकत्व-
 मेव कुत इत्यत आह अकृतक इति । कार्यं स्वोपादानेनाकृ-
 तकसम्बन्धवदाधारवत्त्वादिति व्यतिरेकी हेतुः । व्यतिरेकाव्य-
 भिचारमाह । यद्ययमिति । उत्पद्यमानः खल्वयं समवायः सह

कार्येण न कार्यस्य, न हि सहोत्पन्नौ रूपस्पर्शौ मिथः
 सम्बध्येते, एकार्थसमवाययुतयोः, सोऽपि समवाये नास्ति,
 सन्नप्यसौ न कार्यमाधारवत् करोति । तस्मात्सहोत्पादे कार्य-
 मनाधारं स्यादिति । शङ्कते । अथेति । कार्यात् पूर्वमुत्पन्नः
 समवायः पश्चादुत्पद्यमानं कार्यमुपादानाधारकं करिष्यति, कार्य-
 हेतुवलादित्यर्थः । निराकरोति । तथाऽपीति । त्रिभ्यो हि
 कारणेभ्यः कार्यं भावरूपं जायते । कार्यकारणसमवायस्य च
 कार्यकारणे समवायिकारणे वक्तव्ये, कार्यात्प्राग्जातस्य च सम-
 वायस्य न कार्यं कारणम् । न च निमित्तकारणमात्रादस्य ज-
 न्येति सांप्रतम्, भावोत्पादस्य सर्वत्र कारणत्रयपूर्वकत्वनियमात् ।
 तस्मात्समवायस्य समवाय्यसमवायिकारणाभावान्न कार्यात्प्राग्-
 त्पाद इति सुष्ठूक्तम्, तथाऽपि कस्येति वाच्यमिति । श-
 ङ्कते । अथेति । दूषयति । कार्येति । न च पटतुरीसंयोग-
 वत्समवायस्य पश्चात्कार्यकारणसमवाय इति युक्तम्, संयो-
 गजस्य संयोगस्य कारणत्रयसम्भवादस्य तु समवायान्त-
 रमन्तरेण कारणत्रयायोगात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गादिति
 भावः । उपसंहरति । तस्मादिति । ततश्च न ज्ञायते
 किमभिप्रेत्यासद्विषयमित्युक्तमित्याक्षेप इति । समाधत्ते । तत्र
 प्रतिषिध्यमानेति । अतीतानागते सम्प्रति प्रतिषिध्य-
 माने तद्विषयमनुमानमसद्विषयमुक्तम् । तन्निषेधस्तु भवतु प्रत्यक्ष-
 गोचरस्तथाऽपि सिद्धो विषयभेद इत्यर्थः । अत्र चैष धर्मत्रै-
 विध्यक्रमः । द्वेधा तावद् विधीयमानः प्रतिषिध्यमानश्च । विधी-
 यमानश्च द्वेधा परतन्त्रः स्वतन्त्रश्चेति । स्वतन्त्रस्य धर्मत्वं वि-
 शेषणत्वमात्रविवक्षया द्रष्टव्यम् । ननु विधीयमानोऽप्यसन् प्र-
 त्यक्षश्च कचिद्यथा व्याप्तिमाणे कुलाले जायमानो घटः । वि-

स्फारिताक्षो हि तदा घटो भवतीति प्रत्येति । न चासौ तदा सन्, सतो भवनं प्रत्यकर्तृत्वात्, गगनवदिति शङ्कते । भवतीति । निराकरोति । न जायमानेति । जायमानस्यार्थस्य विधिविषयस्य सत्तयाऽसत्तया वाऽनभ्युपगमात् । निषेधविषयतया तु तस्यासत्त्वमभ्युपेयत एव । कस्तर्हि भवतिशब्दस्यार्थ इत्यत आह । भवतीति । घटो जायत इति तु लौकिकः प्रयोगो घटशब्दं घटार्थेषु तदवयवेषूपचर्य तेषां च सिद्धतया कर्तृत्वादुपपादनीय इति । उपसंहरति । एवं तावदिति ।

स्वलक्षणं समाधाय परेषामनुमानलक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति । अपरे त्विति । (५४।१) तस्यार्थमाह । अस्यार्थ इति । दूषयति । अत्राति । यथासम्भवं समाप्तं विकल्प्य दूषयति । नान्तरीयकार्थ इति चेति । सत्त्वं विधिविषयज्ञानगम्यत्वं, न तु सामान्यम् । सत्त्वादिभिरानित्यत्वनान्तरीयककृतकत्वधर्मैरनित्यत्वानुमानं स्यात् । न च शक्यं, तेषामाकाशादिषु नित्येषु व्यभिचारादित्यर्थः । तथाऽप्यसमर्थः समाप्त इति । पूर्वमर्थातिरेकमात्रं दूषणमुक्तं, सम्प्रति त्वर्थातिरेकेण हेतुना विशेषणसमासानुपपत्तिरित्यपौनस्त्यम् । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र विशेषणपदोपादानमात्रे विशेष्यपदोपादानमात्रेण वान्यतरस्यार्थात्प्राप्तेरुभयपदोपादानस्यैतत्प्रयोजनं यत्रोभयोः प्रत्येकं व्यभिचारः समुदाये त्वव्याभिचारस्तत्र समाप्तो यथा स्यादिति, स चात्र नास्तीति समासानुपपत्तिरित्यर्थः । सामर्थ्यं प्रयोजनाभिसम्बन्धः । चोदयति । एकपदेति । परिहरति । अत्रापीति । प्रधानं व्यक्तिर्विशेष्यत्वात्, अङ्गं जातिर्विशेषणत्वात् । पृथिवीत्युक्ते भवति संशयः किं पृथिवीत्वं सामान्यमस्य विवक्षितं यथा पथुना यजेतेति किं वा तद्विशेष्यं द्रव्यं य-

था ग्रहं समार्ष्टीति, अत्रेदमुपतिष्ठते द्रव्यमिति । तद्वि पृथिवी-
त्वात् सामान्यविशेषात् पृथिवीं व्यवच्छिन्नति, एवं द्रव्यमित्यु-
क्ते द्रव्यत्वसामान्यं व्यक्तिर्वेति विमर्षे पृथिवीत्येतदुपतिष्ठते ।
न द्रव्यत्वसामान्यं किं तु पृथिवी । न च द्रव्यत्वपृथिवीत्वयोः
सामानाधिकरण्यमस्ति, न हि भवति पृथिवीत्वं द्रव्यत्वमिति, त-
स्मात्सामानाधिकरण्यसम्भवात् प्रधानैकव्यक्तिलाभः । इह त्व-
र्थो नान्तरीयकत्वं व्यभिचरति, नान्तरीयकत्वं नार्थं, न ह्यस्ति
सम्भवो नान्तरीयकश्च स्यान्न चार्थ इति । नान्तरीयकशब्दवा-
च्यस्यानभिधेयत्वासम्भवात् । वस्तुवचनत्वेऽप्यर्थशब्दस्य ल-
क्ष्यासम्भवाद् अविषयं लक्षणं, न हि दिग्भागमते किञ्चिदस्ति
वस्तु यन्नान्तरीयकं सङ्गेतुर्भवति । यथाऽऽह 'सर्वोयमनुमाना-
नुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसस्वमपे-
क्षते' इति । अव्यापकं च, न हि वस्त्वेव नान्तरीयकमसतोऽपि
नान्तरीयकत्वादिति भावः । दूषणान्तरमाह । तद्विद इति
चेति (५५ । ५) नान्तरीयकदर्शनमित्युच्यमाने शब्दसाम-
र्थ्यादेव लभ्यते नान्तरीयकत्वविशिष्टार्थदर्शनम् । सति सम्भवे
शब्दार्थपरिसामाभावात्, अतस्त्रिविध(१)लिङ्गदर्शनसिद्धेः कि-
मपरमवशिष्यते यदवबोधाय तद्विद इत्युपादीयत इत्यर्थः । एत-
देव व्यतिरेकमुखेन निरूपयति । न हीति । एतल्लक्षणदूषणं
लक्षणान्तरेष्यतिदिशति । एतेनेति । पृच्छति । क इति । न
ह्यस्मिन् लक्षणे तद्विद इत्यस्ति, येन तदतिरिच्यते इति भावः ।
उत्तरम्, यथेति । तेषामुदाहरणं दूषयति । उदाहरणमिति ।
तदनेन दिङ्नागस्य लक्षणं दूषयित्वाऽन्येषां लक्षणं दूषितम्, स-
म्प्रति दिग्भागस्य स्वकीयलक्षणमपश्चार्थं वाक्यम् "अनुमेयेथ त-

तुल्ये' इत्याद्युपन्यस्य दूषयति । अपरे त्विति । (५५ ।
 ११) अनन्तरलक्षणकारमपेक्षयापर इत्युक्तम् । देशयति । अनु-
 मेय इति । न हि योऽनुमेये संश्वासंश्च स शक्यः सन्निति
 वक्तुमित्यर्थः । समाधत्ते । नाप्रसङ्ग इति । यद्येवं स्याद्यो वि-
 पक्षे द्वेधा स विपक्षावृत्तिरिति हेतुरेव स्यान्न सव्यभिचार इ-
 त्यर्थः । पुनश्चादयति । न कर्त्तव्य इति । कुतः । अवधार-
 णान्निवृत्तेः । अनुमेये सद्भाव एवेत्यवधारणेनानुमेये सद्भाव-
 स्य नियतत्वात् कुतः पक्षैकदेशवृत्तेः प्रसङ्ग इति भावः । एत-
 न्निराकर्तुं यथासम्भवं विकल्पयति । अनुमेय इति । (५५ ।
 १८) तत्र पूर्वकल्पस्य तात्पर्यं विकल्पयति । किं पुनरनेनेति ।
 असम्भवोऽस्त्यन्तासम्भवो निराक्रियेति, यथा नीलं सरो-
 जं भवत्येव, नात्यन्तं न भवतीति । न तु नीलमेव सरोजं ना-
 नीलमिति, नापि सरोजमेव नीलं नान्यदिति । अथ सम्भव
 इति । अन्वयपरी न व्यतिरेकपर इत्यर्थः । एतद्विकल्पद्वयं दूष-
 यति । उभयथाऽपीति । दूषणान्तरं चाह । न चैकदेश-
 वृत्तिरिति । न ह्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदेनायोगो व्यवच्छिन्नो
 भवति, नापि सम्भवमात्रविधानेनासम्भवो व्यवच्छिन्नो भव-
 ति । ततश्चायोगाव्यवच्छेदादेकदेशवृत्तिरनुमानाभासो न व्यव-
 च्छिन्न इत्यर्थः । स्यादेतत्, विशेष्यसङ्गतोऽयमेवकारोऽनुमेय एव
 सम्भव इति, यथा पार्थ एव धनुर्धर इति । न चायमन्ययोगव्य-
 वच्छेदो धिनैवकारं लभ्यते, तस्मान्न व्यर्थमवधारणमित्यत आ-
 ह । उत्तरपदबाधा च । न ह्यस्ति सम्भवोऽनुमेय एवास्ति
 तत्तुल्ये चेति, तस्मात्तत्तुल्य इत्यस्य बाधा । चकारो नैकदेशवृ-
 त्तिर्निराकृत इति दूषणं समुच्चिनोति । अनुमेय एव सद्भावपक्षं
 यथासम्भवं दूषयित्वा अनुमेये सद्भाव एवेति द्वितीयं पक्षं दू-

षयितुमुपन्यस्यति । अथोत्तरामिति (५५ । २३) तस्य प्र-
 योजनं दर्शयति । तस्य व्याप्तिरर्थः । सद्भाव एवेति किल
 विशेषणसङ्गतमवधारणमयोगं व्यवच्छिन्दत् व्याप्तिं दर्शयति, त-
 था च व्याप्तिरस्यार्थ इत्यर्थः । दूषयति । तथाऽप्यनुमेयम-
 वधारितं सम्भवस्य व्याप्त्या न धर्मः सद्भावः । हेतुमाह ।
 यत एवकारकरणं ततोऽन्यत्रावधारणमिति । मा वधा-
 रि सद्भावोऽवधार्यतां चानुमेये, किमेतावताऽपीत्यत आह ।
 सम्भवव्याप्त्या चेति । (५५ । २५) अनुमेयं स्वत्ववधा-
 रितं सद्धेतुसम्भवं परित्यज्य नान्यत्र वर्तते, ततश्चानुमेयं हेतुस-
 म्भवव्याप्त्याऽवधारितं भवति, हेतुसम्भवस्त्वनवधारितः सर्व-
 त्रैव तत्तुल्ये च विपक्षे च प्रसृतः, स च कश्चित्तत्तुल्यविपक्षौ
 व्याप्नोति, कश्चित्तेकदेशवृत्तिः, तदस्य हेतुसम्भवस्य विपक्षेऽपि
 प्रतिषेधाय युक्तमसति नास्तीति, तत्तुल्ये तु प्रसक्तमप्रतिषिद्ध-
 मनुमतमेवेति तत्तुल्ये सद्भाव इति व्यर्थमित्यर्थः । स्यादेतत् । तु-
 ल्ये हेतुसद्भावसिद्धावपि तत्तुल्ये व्याप्त्वा हेतोः सद्भावो भ-
 वत्वित्येतदर्थं तत्तुल्ये सद्भाव इति वचनमित्यत आह । तत्तुल्ये
 चेति (५६ । ५) यदि पुनर्व्याप्तिर्विवक्ष्यते, कृतकत्वे साध्ये
 प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात्, न ह्ययं सपक्षव्यापक इति
 भावः । देशयति । अथ तत्तुल्य इति । दूषयितुं विकल्पय-
 ति । किं पुनरत्रेति । पूर्वस्य विरोधाद्धाधनम्, उत्तरस्य पौ-
 नरुक्त्यादिति । पूर्वपदेन सह विरोधे निदर्शनमाह । न हि भ-
 वतीति । अनुमेयसद्भाव इत्यनेनानुमेये वृत्तौ हेतोर्लब्धायां
 तत्तुल्य एव सद्भाव इति समुचीयमानावधारणं विपक्षमात्राद्भू-
 तं व्यवच्छिन्नमिति, न तु अनुमेयात्, न नरं च नारायणमेव चादौ स्वतः सुतौ द्वौ जनयां बभूवुः

इति यथेति चेदत आह । तथेहापीति । समुच्चीयमानावधारणे हि तत्तुल्येन यथाऽन्ययोगव्यवच्छेदेनैवकारः सम्बध्यते तथा अनुमेयेनापि सम्बध्येत, तथा चानुमेयैकदेशवृत्तिरपि हेतुः स्यात् । न खलु नरं च नारायणमेवेति निपातो नारायणेन सहान्ययोगव्यवच्छेदेन सम्बध्यते नरेण चायोगव्यवच्छेदेनैति भावः । अथावधारणस्यावैचित्र्येण सम्बन्धमिच्छताऽनुमेये यथा अयोगव्यवच्छेदस्तथा तत्तुल्ये अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्ध उच्येतेति शङ्कते । अथ तत्तुल्य इति । निराकरोति । तत्तुल्य इति । एतदेव स्फोरयति । य इति । ते तव दर्शने । न च यस्यानुमेये सद्भाव एवेत्यनूद्य तस्य तत्तुल्य एव सत्त्वमिति विधातुं शक्यम् । न ह्यनूद्यमानं शक्यं विशेषष्टुम्, तथा सति तद्विशेषणाय प्रयत्नान्तरास्थाने सति वाक्यभेदप्रसङ्गात् । यथा यस्योभयं हविरार्तिमाच्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेदिति, अत्र हि यद्यपि स्वरूपेणात्तरे शक्यप्रतिपत्तित्वेन हविषा विशेषणं मृष्यते, तथापि न शक्यं हविरुभयत्वेन विशेषष्टुं विना प्रयत्नान्तरादिति वाक्यभेदभिया प्रतीयमानमप्युभयत्वमविवक्षितमेवमत्राप्यनुमेय इत्यविवक्षितम् । अथ तद्विवक्षयैव वाक्यभेदमुपेत्य पश्चाद्वाक्यैकवाक्यतयाऽभिमतार्थसिद्धिरास्थीयते । न च विरोधाद्वाक्ययोरेकवाक्यताविरहः, तत्तुल्य एवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदस्य विपक्षमात्रविषयत्वेनाप्युपपत्तौ विरोधासिद्धेः । तस्मादन्यापोहार्थत्वेन पदानां विरोधो वक्तव्यः । तथा हि अनुमेये सद्भाव इत्यत्रानुमेय एव नाननुमेये सद्भाव एव नासद्भाव इति पदार्थः । तथा च तत्तुल्यविपक्षयोर्हेतोरभावो दर्शितः । एवं तत्तुल्यसद्भाव इत्यत्रापि तत्तुल्य एव नातत्तुल्ये सद्भाव एव नासद्भाव इति पदार्थः । तथा चानुमेये-

ऽसद्भाव इत्युक्तं भवति । न चानुमेयतत्तुल्यपदार्थयोः परस्पर-
परीहारवतोः समुच्चयसम्भवः । द्वयोरपि विपक्षमात्रव्यावृत्तिप-
रत्वात् (परस्पर)समुच्चयसद्भाव इति चेत् । न । वृक्षो गौ-
रित्यनयोरपि हस्त्यादिनिवृत्तिमात्रपरत्वेनाभिन्नार्थयोः सामा-
नाधिकरण्यप्रसङ्गात् । तस्माद्विरोधात् समुच्चयमानावधारणं
न युक्तीमिति । न च समुच्चयमानावधारणं दिग्भागो मेने,
यदेवमूत्रे वैशेषिकलक्षणदूषणावसरे, 'यदि रूपमेव चाक्षुषं
ततो न द्रव्यं चाक्षुषं स्यात्, तथा च महदनेकद्रव्यसम-
वायाद्रूपाच्चोपलब्धिरिति द्रव्यचाक्षुषत्वाभिधानं व्याहन्येत' इ-
ति, अत्र हि रूपवद्द्रव्यसहितं रूपमेव चाक्षुषं न गन्धरसादीति
शक्यं समुच्चयमानावधारणम्, तस्मात् समुच्चयमानावधारणा-
भिधानं कीर्तेः स्वातन्त्र्येण, तच्चायुक्तमिति (१) कृतं विस्तरेण ।
असति नास्तितेति दूषयति । असतीति । (५६ । १३) क-
स्मात्, यदसत् तत्तुच्छं स्वयमेव नास्ति, तन्न सदिति शक्यं
व्यवर्तुमसदिति (वा) । भवतु वा तथापि, कस्मात्तस्मिन् हेतोः
न व्यावृत्तिर्भवतीत्यत आह । न ह्यसदिति । यथा चैतत्तथा-
ऽन्वयिहेतूपपादनावसरेऽस्माभिरुक्तम् । स्वरूपेण दूषयित्वा
एतद्गतमवधारणं दूषयिष्यन्ननूय विकल्पयति । किमवधार्य-
त इति । प्रथमं कल्पं दूषयति । यदि तावदिति । तत्तुल्य एव
सद्भाव इत्यनेन गम्यते इत्यर्थः । द्वितीयं कल्पं दूषयति । अथ
पुनरिति । गौरयं विषाणित्वादित्ययं हेतुर्विपक्ष एव नास्ति,
पक्षसपक्षव्यापकत्वात्, न तु नास्त्येव, विपक्षैकदेशे महिषादौ
वृत्तेः, अतो विपक्ष एव नास्ति इत्ययमपि हेतुः स्यात् । तदे-
वमवयवार्थं दूषयित्वा समुदायार्थं दूषयितुमुपन्यस्यति । यदप्ये-

(१) तच्चोपयुक्तमिति २ पु० पा० ।

कद्विपदपर्युदासेनेति । तत्रैकपदपर्युदासेन त्रयः पक्षाः, द्विपदपर्युदासेऽपि त्रय इति षट्कम् । तत्पर्युदासेन सप्तिकापरिग्रहः । यथाऽनुमेये सद्भाव इत्युच्यमाने यस्य तत्तुल्ये नास्तिता विपक्षे च वृत्तिः सोऽपि हेतुः स्यात् । यथा नित्यः शब्दः कृतत्वादिति । तत्तुल्येत्युच्यमाने विपक्षवृत्तेरपक्षधर्मस्य च हेतुत्वं स्यात् । यथा नित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् सामान्यवदिति । नास्तिताऽसतीत्युच्यमाने योऽपक्षधर्मस्तत्तुल्ये नास्ति स हेतुः स्यात् । यथा (१) नित्यः शब्दोऽसत्त्वात् । अनुमेये तत्तुल्ये चेत्युच्यमाने अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति विपक्षवृत्तिर्हेतुः स्यात् । अनुमेयेऽस्ति असति च नास्तीत्युच्यमाने नित्यः शब्दो जातिमच्चे सति श्रावणत्वादित्ययं तत्तुल्यहीनो (२)ऽपि हेतुः स्यात् । तत्तुल्येऽस्ति असति च नास्तीत्येतावत्युच्यमानेऽनित्याः परमाणवः कृतकत्वादित्ययमपक्षधर्मो हेतुः स्यात् । तदेतत्सर्वं माभूदिति समुदायोपादानप्रयोजनम् । तदेतद्दूषयति । एतदपीति । सपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां द्विरूपयुक्तस्यान्वयिनो द्वित्वम् । सम्प्रति साङ्ख्यीयमनुमानलक्षणं दूषयति । एतेनेति । (५७ । १) सम्बन्धोऽविनाभावः साधनस्य साध्येन, तस्मात् प्रत्यक्षाद् दृढतरप्रमाणावधारितात् । तथाऽपि यत्राविनाभूते लिङ्गे भवत एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धाव्यभिचारिणी तयोरपि हेतुत्वं प्रसज्येतेत्यत उक्तम्, एकस्मादिति । शेषस्यानुमेयस्य सिद्धिः । अनुपपन्नत्वमात्रसाम्येनोक्तमेतेन (न) प्रत्युक्तमिति अनुपपत्तिं पृच्छति । कथमिति । यथासम्भवमनुपपत्तिमाह । न हीति । यदि प्रत्यक्षशब्दो ज्ञानवचनः ज्ञानं चैकत्वेन विशि-

(१) तथापि-इति पाठः ।

(२) तत्तुल्यवृत्तिहीन इति २ पु० पा० ।

५सू० ३प्र०] साङ्ख्यीयानुमानलक्षणदूषणम् । १९५

ष्यते तदैतद्दूषणम् । अथ सम्बन्धविशेषणमेकस्मादिति, प्रत्यक्षशब्दस्तु ज्ञेये, न तु ज्ञाने, तदेतदुपन्यस्य दूषयति । अथापि सम्बन्धादिति । शङ्कते । अथेति । सम्बन्धस्य प्रसक्ततोक्ता पूर्व, न त्वनुमितिकाल इत्यर्थः । दूषयति । तथाप्यनुपलब्धसम्बन्धस्य पूर्वमनुमानकाले चानुपलब्धालिङ्गस्यानुमानं प्रसज्येतेति । स्यादेतत् । सम्बन्धत इति व्युत्पत्त्या सम्बन्धो लिङ्गं, तेनाविनाभूताद्देतोः प्रत्यक्षादनुमेयसिद्धिरिति, तथा च गृहीताविनाभावालिङ्गात्सम्पत्तिप्रसक्षादित्युपपन्नमित्यत आह । न चान्या गतिरिति । अत्रापि व्याख्यानं एकस्मादिति व्यर्थम् । तथाहि, अन्वयव्यतिरेकमात्रसम्पत्तिरविनाभाव उच्यते सर्वरूपसम्पत्तिर्वा । तत्र प्रथमे कल्पे माभूद्विरुद्धाव्यभिचारी, बाधितविषयस्तु हेतुः स्यात् । द्वितीये तु कल्पे न सर्वरूपसम्पन्नो हेतुर्विरुद्धाव्यभिचारी भवतीत्येकस्मादित्यतिरिच्यते । तस्मात्सुष्ठूक्तं न चान्या गतिरस्तीति । अव्यापकत्वं लक्षणदोषमाह । रूपेण चेति । न तावदनयोस्तादात्म्यं, भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वाद्विबुद्धिबोध्यत्वाच्च । न चातदात्मनोस्तयोः सम्बन्धः कश्चिदुपलभ्यते । न च प्रतिक्षणपरिणामवादे कुण्डबदरादीनामपि कश्चिदस्ति सम्बन्ध इत्यपि द्रष्टव्यम् । शङ्कते । अथेति । निराकरोति । सोपीति । न हि साङ्ख्यीयानां बौद्धानां वा राद्धान्तेऽस्ति सम्बन्धः समवायो नाम, नापि तदाश्रयो द्रव्यमतः स्वदर्शनव्याघात इत्यर्थः । यद्युच्यते प्राधानिकत्वादूपादीनां प्रधानमेकमाश्रयः, तथा च यत्र रूपं तत्र स्पर्श इत्यत आह । यत्र रूपमिति । कुतः, न कचिदिति । न हि प्रधानमाधारः कार्याणामपि तु प्रधानात्मकत्वमेषामिष्यते, तथा च यत्र तत्रेयनुपपत्तिः, न च तादात्म्यमित्युक्तम्, न च भेदा-

भेदावेकत्र सम्भवतो विरोधादिति भावः । शङ्कते । परस्पर-
 रेति । यथा ह्यासन्दिकाङ्गानि भिन्नान्यनौत्तरार्थव्यवस्थिता-
 न्यपि परस्पराश्रयतया न पतन्ति, एवं रूपस्पर्शावपि परस्परा-
 श्रयावित्यर्थः । निराकरोति । परस्पराधारभावेऽप्यन्यत्रास-
 न्दिकाङ्गादौ नासौ रूपस्पर्शयोः । कुतः, न रूपं स्पर्शं न च
 स्पर्शो रूप इति । परस्परसंयोगप्रतिबध्यगुरुत्वान्यासन्दिका-
 ङ्गानि न पतन्त्यवास्थितानि परस्पराधारत्वेनोपदिश्यन्ते । रूप-
 स्पर्शादीनां तु स्थितिर्न परस्परहेतुकाऽपि तु भोगापवर्गलक्ष-
 णपुरुषार्थहेतुकेति भावः । एतेन साङ्ख्यानां सप्तविधः स-
 म्वन्धः प्रत्युक्तः । शेषं सुबोधम् ॥ ५ ॥
 विभागमूत्रेऽनुमानानन्तरमुपमानस्योद्देशाद्यथोद्देशं च लक्ष-
 णादनुमानलक्षणानन्तरमुपमानलक्षणमाह । अथोपमानमिति
 भाष्यम् । सूत्रं पठति ।
 प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥
 अत्रापि यत इत्यध्याहार्यम् । सिद्धिः साधनम् । तदेतद्भा-
 ष्यकारेण व्याख्यातम् । प्रज्ञातेन प्रसिद्धेन गवा साधर्म्यात्
 सामान्याद्गवयस्य । साधर्म्यं च सामान्यमाभिदधता न सामा-
 न्यातिरिक्तं सादृश्यं नामार्थान्तरमस्तीत्युक्तं भवतीति । साधर्म्यं
 चाप्रसिद्धं न साध्यसाधनाग्रालमिति साधर्म्यप्रसिद्धिरपि द्रष्ट-
 व्या । सा च यथा गौस्तथा गवय इत्याप्तवाक्यात् । तदिदमुक्तं
 यथा गौरिति । साध्यसाधनपदव्याख्यानं प्रज्ञापनीयस्य
 गवयशब्दवाच्यतया प्रत्यक्षदृश्यमानगोसादृश्यस्य गवयत्वसा-
 मान्यविशेषवतः पिण्डस्य प्रज्ञापनमुपमानम् । पिण्डस्य हि
 गवयशब्दवाच्यतां पुरुषोऽतिदेशवाक्यस्मरणसहकारिणः प्रत्य-
 क्षाद्गवयगताद्गोसादृश्यात् प्रजानन् तेन प्रज्ञाप्यत इति प्रमाणव्या-

पारः प्रज्ञापनमुक्तमिति । अत्र वार्तिककारः प्रथमं तावत् सूत्र-
तात्पर्यमाह । सूत्रार्थः पूर्ववत् । (५७ । १८) समाना-
समानजातीयव्यवच्छेद इत्यर्थः । साध्यसाधनमित्युच्यमाने
प्रत्यक्षादिसाधने सुखादिसाधने घटे प्रसङ्गः, अत उक्तं
प्रसिद्धसाधर्म्यादिति । यद्यपि प्रसिद्धसाधर्म्यमुपमानमि-
त्युच्यमाने प्रमाणविशेषाभिधायुपमानपदसामानाधिकरण्यात्
कारकत्वलाभस्तथापि तदाभासनिराकरणाय साध्यसाधन-
पदोपादानम् । तेनोपमानाभासमपाकृतं भवति । अवयवार्थं
विभजते । प्रसिद्धेति । वार्तिककारेण बहुव्रीहिद्वयसम्भ-
वो दर्शितः, न तु तृतीयासमासो भाष्यकारीयो निरस्तः ।
भाष्यकारेण हि संज्ञितया गवयप्रतिपत्तिः फलं साध्यसाधन-
पदवाच्यमुक्ता । आक्षिप्तप्रयोज्यव्यापारत्वात् । प्रयोजकव्यापा-
रस्य प्रज्ञापनस्य पश्चान्निष्कृत्याभिधानं कृतम्, समाख्यास-
म्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थ इति । एतदेव साध्यसाधनप-
दार्थतया वार्तिककारो व्याचष्टे । समाख्यासम्बन्धप्रतिप-
त्तिरूपमानार्थः फलम् । साध्यपदेन समाख्यासम्बन्ध उच्यते,
तस्य साधनं सिद्धिः प्रतिपत्तिरिति । ननु प्रतिपद्यतामयं गो-
सादृश्ययुक्तं गवयं, समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिस्तु कुतस्त्या, न
हि यो सत्सदृशं यं प्रतिपद्यते स तस्य समाख्यामप्यवगच्छ-
तीत्याशयवान् पृच्छति । किमुक्तं भवति । उत्तरम्, आग-
मेति । आगमानुभवाहितात्संस्कारात् स्मृतिः । एतदुक्तं भवति ।
न केवलं साख्यज्ञानं समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुरपि त्वाग-
मार्थस्मृत्यपेक्षमिति । नन्वसत्यागमानुभवे कुतः स्मृतिरित्यत
आह । यदा ह्यनेनेति । (५८ । १) प्रसिद्धसाधर्म्यादित्यत्र
प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेवं

गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्याविशिष्टोऽयमीदृशः
 पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समा-
 ख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतुः । यद्यपि यथा गौरेवं गवय इत्येत-
 स्मादपि गोसदृशस्य गवयशब्दः समाख्येति शक्यमवगन्तुम्,
 न खलु प्रत्यक्ष एव संज्ञाकर्म, समानासमानजातीयव्यवच्छिन्ने हि
 तद्भवति । तच्च यदि मानान्तरेणापि तथाऽवगम्यते कस्तत्र सं-
 ज्ञाकर्म निवारयेत् । गोसादृश्येन चोपलक्षितः पिण्डो य इति
 च सर्वनाम्ना परामृष्टः शक्यो घटादिभ्योऽसमानजातीयेभ्यो
 माहिषादिभ्यश्च समानजातीयेभ्यो व्यवच्छिन्नोऽवगन्तुं गवयस्त-
 थापि यावदयमसौ गवय इति साक्षात्प्रतीते सम्बन्धिनि संज्ञां
 न निवेशयति तावदयं परिप्लुतमतिः प्रमाता कश्चित् खलु द्र-
 क्ष्यामि तादृशं पिण्डं यत्र गवयसंज्ञां प्रतिपत्स्य इति प्रमोत्सुक
 एवोदीक्षेत् । न चासौ वाक्यमात्रसहायोऽप्रसङ्गीकृतगोसदृश-
 गवयपिण्डोऽयमसौ गवयाख्य इति प्रतिपत्तुमर्हति । न च वाक्यं
 विना प्रत्यक्षमात्रात् । तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागम-
 स्मृतिसाहितं सादृश्यज्ञानमुपमानाख्यं प्रमाणमास्थेयम् । ननु य-
 दोदीच्येन क्रमेलकं निन्दतोक्तं धिकरभमतिदीर्घवक्रग्रीवं लम्बो-
 ष्ठं कठोरतीक्ष्णकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपसदं पशू-
 नामिति, तदुपश्रुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापथं गतस्तादृशं वस्तूप-
 लभ्य नूनमसौ करभ इत्यवैति, तत्कतमदेतेषु प्रमाणम् । न ताव-
 दुपमानं साधर्म्याभावात्, नापि पञ्चमं प्रमाणमुपगम्यते । यद्यु-
 च्येत निन्दापरं वाक्यं करभस्य तादृशत्वे न प्रमाणं, न ह्यन्य-
 पराच्छब्दादन्यस्यावगम इति । तत्र तर्हि तादृशत्वे पर्यवस्यति
 वाक्यं तत्र का गतिः । अथ तत्रापि तादृक् करभ आगमाव-
 गतः प्रसङ्गेन प्रत्यभिज्ञायते करभशब्दवाच्यता च तस्य तत्पूर्वं

तादृकरभपरत्वेऽप्यागमस्य प्रयोगमात्रादवगताऽनुमानात् । यो हि यत्र प्रयुज्यते शब्दोऽसति वृत्त्यन्तरे स तस्य वाचको यथा गोशब्दो गोत्वे, प्रयुक्तश्चायं तादृशि करभशब्दः तस्मात्तात्पिण्डस्य वाचक इति । यदिदं प्रागेव प्रयोगानुमितं वाचकत्वमस्य प्रत्यक्षसमये केवलं स्मर्यत इति, समानमेदुपमानवाक्येपि । तत्रापि वाक्यादवगतसाधर्म्यवान्पिण्डः प्रत्यक्षेण प्रत्यभिज्ञायते, प्रयोगानुमितं च गवयशब्दवाच्यत्वं स्मर्यते इति न फलान्तरमवशिष्यते यत्रोपमानं प्रमाणान्तरमिति । अत्रोच्यते । न तावदाकाशादिशब्दवदेव गवयशब्दः साक्षात्पिण्डस्य वाचकः, किं तु गवयत्वं निमित्तीकृत्य पिण्डे वर्तते इति परमार्थः । न च यथा गौरेवं गवय इति वाक्याद्गवयत्वमवगतं, न ह्यनवगतसम्बन्धं गवयपदमेतदवबोधयति(१) । ततस्तदवगमात्सम्बन्धवेदने परस्परान्तरप्रसङ्गः । न च गोसादृश्येनोपलक्ष्यते । न खल्वनुपलब्धचरेण गवयत्वेन गोसादृश्यं सम्बद्धं दृष्टं, न चादृष्टसम्बन्धमुपलक्षकम् । न हि पुरुषेणादृष्टसम्बन्धो दण्डः पुरुषमुपलक्षयितुमर्हति । तस्मात्सम्बन्धिनो गवयत्वस्य सर्वथाऽनुपलब्धेः कुतो वाक्याद्रानुमानाद्वा वाच्यवाचकसम्बन्धावगमः । कुतस्तत्राश्च सम्बन्धस्मृतिः । गवयत्वसामान्यविशेषवति च पिण्डे प्रत्यक्षे युक्तः सम्बन्धावगमः, सम्बन्धिनो गवयत्वस्य प्रत्यक्षत्वात् वाक्यार्थस्य स्मर्यमाणत्वात् । तथापि किं गवयत्वजातिमान् पिण्डो वाच्यः (न चादृष्टगोसादृश्यवानिति(२)) कुतो विनिगमनेति चेत्, वाक्यार्थस्मरणसहकारिगवयत्वजातिमतः पिण्डस्य गोसादृश्यदर्शनमेव तर्कसहायं गवयत्वाभिधाने प्रमा-

(१) गवयपदमवधारयति इति पाठः ।

(२) उत गोसादृश्यवानिति २ पु० पाः ।

णं, तर्कश्च गोसादृश्यविशिष्टपिण्डाभिधाने कल्पनागौरवप्रसङ्गः ।
 तथा हि सादृश्यविशिष्टपिण्डाभिधानं नाप्रतीतं सादृश्यं पिण्डं
 विशिनष्टीति तत्प्रतिपत्तव्यम् । न च शब्दादन्यतस्तदवगम इति
 शब्दस्य तत्र वाचकत्वं कल्पनीयम् । न चाविशिष्टं सादृश्यं
 पिण्डविशेष एव गवयपदमत्रस्थापयितुमर्हति, यस्यकस्यचिद्
 येनकेनचित् सादृश्यादिति तदपि गवा विशेषणीयम् । न
 चान्यतो गोत्वस्यापि प्रतीतिरिति तदपि गवयपदेनाभिधा-
 तव्यमिति कल्पनागौरवम्, गवयत्वजातिमत्पिण्डाभिधाने तु
 लाघवमिति तदनुजानाति । साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रोप-
 लक्षणमिति करभसंज्ञाप्रतिपत्तिरप्युपमानफलमेवेति नाव्याप्तिः ।
 नापि पञ्चमप्रमाणाभ्युपगमः । अत एव बह्वन्युदाहरणा-
 न्युक्ताप्याह स्म भगवान् भाष्यकारः, एवमन्योऽप्युपमा-
 नस्य लोके विषयां बुभुत्सितव्य इति । तस्मात्सर्वं चतु-
 रस्रम् । तदीदृशमुपमानफलमाविद्वान् सादृश्यज्ञानं सादृश्यवि-
 शिष्टज्ञानं वोपमानफलमिति भ्रान्तो भदन्तो दिग्नाग आक्षि-
 पति । प्रत्यक्षेति । पृच्छति । कथमिति । (५८ । ४) उत्तरं
 यदा ताविति । उपलक्षणं चैतत्, उभौ प्रत्यक्षेण पश्यती-
 ति । यदापि गवयमेकं प्रत्यक्षेण पश्यति स्मरति च गां, तदापि
 गोसादृश्यं गवयस्य प्रत्यक्षमेव । गोस्थमप्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वाद्गोरिति
 चेत् । हन्त भोः किमभिमतं सादृश्यमायुष्मतां यदप्रत्यक्षायां
 गवि न प्रत्यक्षम् । सामान्यबाहुल्यं जात्यन्तरवार्तिं जात्यन्तरस्य,
 यथाऽऽहुः—

‘सामान्यान्येव भूयांसि गुणावयवकर्मणाम् ।

भिन्नप्रधानसामान्यव्यक्तं सादृश्यमुच्यते ॥’

इति चेत् । तत्किमिदानीं कर्णत्वादिसामान्यं गोगवयगतक-
 र्णादिव्यक्तिभेदेन भिन्नमित्यपि वक्तुमध्यवासितोऽसि । तस्माद्य-

था कालाक्ष्यां गवि गोत्वमीक्षितवतः स्वस्तिमत्यां प्रत्यभिज्ञाय-
मानं तदित्यवगतं भवति तथेहापीति न फलातिरेकः । तस्मान्न
सादृश्यप्रतीतिफलमुपमानं प्रत्यक्षाद्वाक्याद्वा व्यतिरिच्यत इति
सूक्तम् । भदन्तभ्रान्तिमुद्धाटयति । गवेति । गवयसत्तां सा-
दृश्यविशिष्टामित्यर्थः । अर्थतत्त्वमुक्तं स्मारयति । गवयोति ।
उपसंहरति । तस्मादिति । प्रयोगस्तु प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणा-
न्तरमुपमानं तज्जन्यप्रमाविलक्षणप्रमाजनकत्वात् । यदि न ते-
भ्यो विलक्षणमभविष्यद् न तद्विलक्षणां प्रमामकरिष्यत् । यथा
तान्येव । न चैतत्तथा । तस्मात्तथेति ॥ ६ ॥

अथ शब्द इति भाष्यम् । उपमानानन्तरं शब्दोद्देशादु-
पमानलक्षणानन्तरं शब्दस्य लक्षणमित्यर्थः । लक्षणसूत्रं पठति ।

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

अत्र(१) शब्द इति लक्ष्यपदम् । आप्तोपदेश इति लक्षणम् ।
उपदिश्यतेऽनेनेत्युपदेशो वाक्यज्ञानं तदर्थज्ञानं वाभिधीयते, तत्र
वाक्यज्ञानप्रामाण्यपक्षे तदर्थज्ञानं फलम्, पदार्थस्मृत्यादयस्त्वा-
न्तरालिका इतिकर्तव्यता । तदर्थज्ञानप्रामाण्यपक्षे तु हानादिबु-
बुद्धिः फलम् । यद्यपि विधिरूपदेशः प्रवर्तनमित्यनर्थान्तरम् ।
यद्यपि चायं नियोज्यप्रयोजने प्रवृत्तिनिवृत्ती विदधदाज्ञा(मार्थना)-
ध्येषणाभ्यामतिरिच्यते । ते हि नियोक्तृप्रयोजने प्रवृत्तिनिवृत्ती
विदधतः, तथापि भूतार्थपरोपनिषदादिशब्दाव्यापकत्वात् परप्र-
योजनवद् वचनमात्रविवक्षयोपदेशपदं व्याख्येयम् । यद्यपि सदवे
सौम्येदमग्र आसीदित्यादि वचनं कचिन्न प्रवर्तयति कुतश्चिद्वा
न निवर्तयति पुरुषं तथापि पुरुषश्रेयोऽभिधत्त इत्युपदेश इत्यु-
च्यते । तथाप्यतिव्याप्तिश्चैत्यवन्दनादिवाक्यानामप्येवंलक्षणत्वा-

(१) अन्यत्रेति १-२ पु० पा० ।

दत्त उक्तमासेति । आप्तानामृष्यार्थम्लेच्छानामुपदेशः शब्दो न त्वनाप्तानां मायामोहनिर्मितानां बुद्धर्षभाक्षीनां प्रमाणविरुद्ध-
क्षणिकसर्वधर्मनैरात्म्यवादिनामिति । तदेवाह वार्तिककारः ।
न शब्दमात्रमिति सूत्रार्थः । (५८ । १६) सूत्रस्थाप्तल-
क्षणपरं भाष्यम् । आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा । सुदृढेन
प्रमाणेनावधारिताः साक्षात्कृता धर्माः पदार्था हिताहितप्राप्ति-
परिहारार्था येन स तथोक्तः । तथापि तत्त्वं विद्वानकारुणिक-
तया अलसतया वाऽनुपदिशन् मत्सरितया वा विरीतमुपदि-
शन् आप्तः स्यादित्यत आह । यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्याप-
यिषया प्रयुक्तः । यथादृष्टस्येति । मत्सरितया विपरीतोपदेशो
निवारितः । चिख्यापयिष्यैक्यकृपाभ्यास(१)कारिते निरा-
कृते इति । प्रयुक्त उत्पादितप्रयत्न इत्यलसत्वम् । तथापि स्था-
नकरणपाटवाभावेन वर्णनिष्पादनासामर्थ्येऽनाप्तः प्रसज्येतेत्यत
आह । उपदेष्टा । स्थानकरणपाटववानित्यर्थः । आप्त इति
प्रकृतिप्रत्ययसमुदायात् प्रकृतिं निष्कृष्य तदर्थमाह । साक्षा-
त्करणमिति । अनेन चोक्तस्वरूपसम्पदुपलक्षिता । प्रत्यया-
र्थमाह । तथेति । आप्तलक्षणस्य व्यापकत्वमाह । ऋषीति ।
दर्शनादपिः करतलामलकफलवत् साक्षात्कृतत्रैकाल्यवृत्तिप्रमे-
यमात्रः । आराद्यातः पातकेभ्य इत्यार्यो मध्यलोकः । म्लेच्छाः
प्रसिद्धाः । म्लेच्छा अपि हि प्रतिपथ(२)मवस्थिताः पान्थाना-
मपहृतसर्वस्वा मार्गाख्याने हेतुदर्शनशून्या भवन्त्याप्ता इति । त-
दनेनाप्तं दोषक्षयं विदुरिति परेषामाप्तलक्षणमव्यापकमुक्तं भव-
ति । तदेतद्भाष्यमाक्षेप्तुमनुभाषते । आप्तः खल्विति । (५८ ।

(१) अकृपालसेति पु० पा० ।

(२) परिपन्थ-पाठः ।

१६ ।) आक्षिपति । स्वर्गोति ! आक्षेप्ता भाष्यमाक्षिप्य सूत्रं समाधत्ते । आसः । प्राप्तो युक्त इति यावत् । अपौरुषेयो वैदिक उपदेशः स्वर्गापूर्वदेवताविषयः स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे निर्दोषतया युक्त उपपन्नः, लौकिकश्चार्थम्लेच्छानां प्रमाणान्तरमूलो युक्तः, मानान्तराभावे तु अनाप्तोऽयुक्त इत्यर्थः । समाधत्ते । न ब्रूम इति । पौरुषेयत्वं वेदानां द्वितीयाध्याय उपपादयिष्यते । तस्मात्पुरुषस्यैवाप्तोपदेश इति साधु व्याख्यानं भाष्यकारीयमिति भावः । पृच्छति । कः पुनरिति । अस्ति स्वर्गादीनामप्रत्यक्षत्वे न्यायः, योगिप्रत्यक्षं न स्वर्गादिविषयः प्रत्यक्षत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवादिति भावः । उत्तरम् । ब्रूमो न्यायम् । तमाह । सामान्यविशेषवत्त्वात् कस्याचित् प्रत्यक्षा इति । अत्र यावति पक्षे यो हेतुः सिद्धस्तस्य तन्मात्रं पक्षीकार्यम् । योगजे च प्रत्यक्षे सिद्धे तत्साधकादेव प्रमाणात्तस्य स्वर्गादिविषयत्वमपि सिद्धमिति धर्मिग्राहकप्रमाणविरुद्धं मीमांसकानामनुमानं नोदेतुमप्युत्सहते प्रागेव तद्वाधितुम्, असिद्धे तु योगजे प्रत्यक्ष आश्रयासिद्धो हेतुराभासः, अस्माकं तु सम्यञ्चो बहवश्च न्याया इति भावः । अनित्यत्वं हेतुमाक्षिपति । असिद्धमिति । (५९।४) परिहरति । नेति । नित्ये वाऽपूर्वं इति । अत्र त्रयः कल्पाः, किमेकमपूर्वं सर्वपुरुषसाधारणमाहो असाधारणं, यदा त्वसाधारणं तदापि किं प्रतिपुरुषमेकैकमसाधारणमाहो प्रतिपुरुषमनेकमिति । तत्र प्रथमं कल्पं दूषयति । यदि साधारणेति । न हि कदाचिदप्ययमपूर्वं पश्यति (५९ । १९) लौकिकः पुरुषो योगिनस्त्वनभिव्यक्तमपि पश्यन्तीति भावः । द्वितीयं कल्पं दूषयति । एतेन प्रतिपुरुषमिति । (५९ । २५) उत्कर्षः (६० । २) अधिक्यमवयवोपचय इति यावत् । शङ्कते । व्यञ्जकेति ।

एकमपि व्यञ्जकभेदादुत्कर्षवन्निकर्षवद्दृष्टं, यथा महति दर्पणे म-
हन्मुखं तदेव कर्त्तृनिकायामण्विति भावः । वक्ष्यमाणाभिप्रायेण
निराकरोति । न ह्येकामिति । शङ्किता स्वाभिप्रायमुद्धाटयति ।
ननु चेति । स्वाभिप्रायेण निराकरोति । न दृष्ट इति ब्रूम
इति । शङ्किता पृच्छति । किं पुनस्तत् यदि न दृष्टं, तद्यदि
भेदेन न दृष्टं दृष्टिर्नास्ति किम्पुनस्तद्यद्भेदेन भेददर्शनमिव भास-
ते । समाधाता स्वाभिप्रायमाह । मिथ्याप्रत्यय इति । न भे-
ददर्शनमपजानीमहे, किन्तु पारमार्थिकं भेदं, न च कल्पितोऽपूर्व-
भेदः पारमार्थिकाय कार्यायालमिति भावः । उत्कर्षापकर्षहेतु-
त्वं कर्मण इति शेषः । तृतीयं कल्पमातिष्ठते । प्रतिपुरुषमने-
कामिति । दूषयति । अनिवृत्त इति । अथोत्तरकालमिति ।
अश्वमेधक्रियया तावदपूर्वं स्वकाल एवाभिव्यक्तं फलदाना-
भिमुखीकृतमाभिव्यञ्जकसमानकालत्वादाभिव्यक्तेः प्रदीपादिषु
दर्शनात् । तथापि फलं तावन्न दत्ते यावत् क्रिया न निवर्तते,
निवृत्तायां तु फलं दत्त इत्यर्थः । दूषयति । असतीति । त-
त्त्वत्तु पूर्वं सदपि फलं नाकार्षीच्चरमभाविन्याः क्रियायास्तज्ज-
न्याया वाभिव्यक्तेरनुत्पादादुत्पन्नायां तु क्रियायामभिव्यक्तौ वा
कस्मान्न करोति । न हि क्रियाविनाशस्य कश्चिदुपयोगः, तस्मा-
दकामेनापि त्वयाऽसत्या एव क्रियाया व्यञ्जकत्वमनुग्राहकत्वं
चाङ्गीकर्तव्यं, तच्चैतदुभयमपि चित्रमित्यर्थः । अपि च साऽसती
चेत्क्रियाऽभिव्यनक्ति तथा सत्यसत्तायाः सर्वत्र सुलभत्वान्न
किञ्चिदपूर्वं नाभिव्यक्तमिति क्रियाविलोपः प्रयत्नविलोप
इत्यर्थः ।

अत्र शब्दं प्रमाणान्तरमसहमानो दिग्नागस्तल्लक्षणं विक-
ल्पाक्षिपति । आप्तोपदेश इति । अन्यस्मादन्यस्य निश्चयो न

तावदसम्बन्धादतिप्रसङ्गात् । न च शब्दोऽर्थात्मा, नाऽप्यर्थकार्यः,
विनाप्यर्थं पुरुषविवक्षामात्रादेव तदुत्पादात् । तस्मान्न साक्षा-
च्छब्दादर्थनिश्चयः । विवक्षाकार्यतया तु विवक्षां गमयेत् । सा
चार्थाभिप्रायपूर्वा, अभिप्रायश्च कश्चिन्मनोमात्रयोनिरपरस्तु
प्रमाणमूलः, तत्र यः प्रमाणनिश्चितमर्थं विवक्षति, यथाविवक्ष-
मुच्चारयति, स आप्तः, तस्य वचनात् कार्यात्कारणं विवक्षानु-
मीयते, तस्याश्च कारणमर्थज्ञानं, ततश्चार्थः, तज्ज्ञानस्यार्थकार्य-
त्वादिति प्रमाणगतिः । तत्राप्युपदेश इत्यत्रोपदेश इत्यत्रोपदेश-
क्रियया उपदेष्टार उपस्थापितास्ते च प्रायेण विसंवादका दृष्टा
इत्याप्तग्रहणेन तेषामविसंवादित्वं ततश्चोपदेशादर्थनिश्चयो भव-
त्वित्येतदर्थं यद्युच्यते इत्याह । यद्याप्तानामिति । उपदेष्टृणा-
मित्यर्थः । इमं कल्पं दूषयति । तदनुमानात् । अविसंवादि-
त्वमुपदेष्टुरानुमानिकं तादृशस्य वचनमर्थनिश्चये अनुमानमेव ।
तथा हि । यद्यन्निर्दोषसत्त्वीयं वचनं तत्सर्वमर्थवत्, यथा बुद्ध-
स्य क्षणिकेनैरात्म्यादिविषय उपदेशः, तथा चायं विवादाध्या-
सित उपदेश इति । यथोक्तं भदन्तेन,

‘आप्तवाक्याविसंवादसामान्यादनुमानता ।’ इति ।

द्वितीयं कल्पमातिष्ठते । अथार्थस्य तथाभावः । अत्र
हि उपदिश्यत इति व्युत्पत्त्योपदेशोऽर्थ उच्यत इति आप्त उपदेशो
यस्मात्स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति । यस्माच्छब्दादवगम्यार्थं प्र-
वर्तमानः प्राप्नोति तमेवार्थं स आप्तोपदेशः शब्दः प्रमाणम् । एवं
शब्देन योऽर्थो दर्शितस्तस्याप्त्या तथाता दर्शिता । तदिदमुक्त-
मर्थस्य तथाभाव इति । दूषयति । सोऽपीति । तदेव स्फुटय-
ति । यदा हीति । (३१ । १) आप्त्या हि तथात्वं विनिश्चिन्वन्
अर्थस्य नाप्रतिपन्नया तया निश्चेतुमर्हति, प्रतिपत्तिश्च प्रायेण प्र-

सक्षेणेति प्रत्यक्षत इत्युक्तम् । तमिममाक्षेपमपाकरोति । तन्नेति ।
 (६१ । २) नाप्तत्वसहायः शब्दोऽर्थं बोधयतीति सूत्रार्थः । ना-
 पि शब्दार्थप्राप्त्या शब्दार्थतथात्वमिति । कस्तर्हीत्यत आह । अपि
 त्विति । इन्द्रियसम्बन्धासम्बन्धेऽपि त्विति । दृष्टादृष्टेऽपि त्वित्यर्थः ।
 यथांक्तं स द्विविधो दृष्टादृष्टभेदादिति । एतदुक्तं भवति । नाप्तत्वहे-
 तुकमविसंवादित्वमनेन सूत्रेणागमार्थतया प्रतिपाद्यते, नाप्यर्थतथा-
 त्वमागमार्थतया प्रतिपाद्यते, नाप्यागमः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न
 भिद्यते । किन्तु उपदेशः शब्द इत्युक्तम् । उपदेश इति च कार-
 कपदं उपदिश्यते ज्ञाप्यते प्रयोजनवानर्थोऽनेनेति । तथापि वा-
 तिकाद्युपदेशोऽपि शब्दः स्यादित्यत उक्तम् आप्तेति । तेनोप-
 देशपदादेवागमस्य वाक्यार्थप्रतिपत्तिः फलमुक्तं, तदिदमुक्तं या
 शब्दोल्लेखेन पदार्थस्मरणावान्तरव्यापाराच्छब्दादेवार्थं प्रत्येमी-
 स्यनेनोल्लेखेन प्रतिपत्तिः सागमार्थः फलमिति । आप्तत्वं चागम-
 स्यार्थं प्रत्यायायित्वा स्वस्याव्यभिचारित्वम् । न च यतः प्रामाण्य-
 मवगम्यते ततः प्रमेयमपि । तथा च सति प्रामाण्यज्ञानहेतोरनुमा-
 नादेव प्रत्यक्षादिप्रमेयावगतिरिति प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यप्रसङ्गः ।
 तस्मिंश्चासति कस्यानुमानमपि प्रामाण्यमवधारयेत् । न चाप्तवाक्यं
 कार्यं सत् वक्तुर्ज्ञानानुमानद्वारेणार्थोऽप्यनुमानमेव न त्वर्थस्य प्र-
 त्यायकमिति साम्प्रतम् । यदि हि नार्थं प्रत्याययेज्ज्ञानमात्रमनु-
 मापयेत्, तथा च नार्थविशेषसिद्धिः । न च ज्ञानस्यार्थादन्यो-
 ऽस्ति कश्चिद्विशेषः, तस्माद्वक्तृज्ञानविशेषणाय पूर्वं शब्दादेव केव-
 लाद्वाक्यार्थज्ञानमोषितव्यम् । एवञ्च कृतं वक्तृज्ञानानुमानेनार्थ-
 प्रतिपत्त्यर्थेन । केवलं प्रामाण्यज्ञानाय तदुपयोग इति । न चावि-
 नाभाव एव सम्बन्धो येन शब्दार्थयोरसम्बन्धेन गम्यगमक-
 त्वं न स्यात् । अस्ति साङ्केतिकः सम्बन्धोऽनयोरिति वक्ष्यते ।

न चाविनाभावः प्रत्यायनाङ्गं, चक्षुरादयो नीलादिभेदव्यभिचारिणोऽपि दृष्टास्तत्प्रतिपादका इत्युक्तम् । तस्मात्प्रदानि कृतसङ्केतानि स्वार्थं स्मारयित्वा आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिसध्रीचिनीनि अदृष्टपूर्वं वाक्यार्थं बोधयन्ति न सङ्गतिग्रहणमपि प्रतीक्षन्त इति दूरेऽनुमानाद्भवन्ति । यथा त्वेतत्तथोद्देशे लेशत उक्तम् । उपपादितं च तत्त्वविन्दौ । तस्मात्सर्वमवदातम् ॥ ७ ॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वादिति । सूत्रस्य तात्पर्यमह । नियमार्थम् । तद्विभजते । अनेकधेति । दृष्टादृष्टार्थत्वादिति भाष्यमतेन व्याचष्टे । प्रत्यक्षेति । आप्तप्रणीतत्वाल्लिङ्गानुमितप्रामाण्यशब्दैकविषयस्वर्गयागादिसम्बन्धादिनामनुमानविषयता । तथाऽऽह भाष्यकारः । यस्यामुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थ इति । अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणमर्थस्यानुमानादिति । तेन दृष्टार्थो यस्यागमस्य स तथा । एवमितरोपीति । तदेव भाष्यमतेन व्याख्याय स्वमतेन व्याचष्टे । वक्तृभेदेनेति । दृष्टोऽर्थो येन स दृष्टार्थः प्रवक्ता, एवमदृष्टोऽनुमितोऽर्थो येन स तथा । तत्र दृष्टार्था ऋषयोऽस्मदादयश्च । अनुमितार्थास्तु अस्मदादय एवेति । एवमपि शब्दद्वैविध्यसाधने माभूदपक्षधर्मतेति प्रवक्तृपदेन पुरयति । दृष्टादृष्टार्थप्रवक्तृकत्वादिति । अदृष्टार्थः प्रवक्ता यस्यागमस्य स तथोक्तः । अस्यार्थं सविग्रहं करोति । प्रत्यक्षत इति शेषं सुबोधम् । न स मन्येत* दृष्टानां प्रामाण्यम् । स इति विप्रकृष्टो नास्तिकः परामृष्यत इति भाष्ययोजनिका । परिशिष्टं तु परीक्षापर्वणि निवेदयिष्यते ॥ ८ ॥

॥ इति प्रमाणटीका ॥

इह प्रमेयं हेयोपादेयभावेनावस्थितं मुमुक्षुणा प्रतिपित्सितं,
तच्च परीक्षितस्वप्रमाणविशेषाधीनप्रतिपत्तिः । लक्षणं चास्य प्र-
माणविशेषः । न चावान्तरप्रमाणसामान्यप्रत्यक्षादिलक्षणमन्तरे-
णात्मादिप्रमाणावतारः कर्तुं शक्यः । तस्य प्रत्यक्षादिसामान्य-
विशेषत्वादतः प्रत्यक्षादिलक्षणानन्तरं तदवतारः । अपरीक्षितं च
न तत्तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तमिति परीक्षा विधायिष्यते । तत्परि-
करश्च संशयादय इति युक्तं तेषां पश्चाल्लक्षणम् । तदिह प्रमेय-
लक्षणाय तद्विभागोद्देशसूत्रमवतारयितुं भाष्यकारः पृच्छति स्म ।
किं पुनरनेन प्रमाणेनेति । ज्ञातृभिप्रायमेकवचनं, प्रकृते प्र-
मेये यथायथं प्रमाणानामुपयोगात्, तदेतद्भाष्यमनूय वार्तिककार
आक्षिपति । किं पुनरिति । प्रमेयनान्तरीयकत्वं प्रमाणानां
सामर्थ्यम् । समाधत्ते । न नेति । प्रत्यक्षादिलक्षणसामर्थ्यात्
प्रमेयमात्रं सिद्धम्, विशिष्टं तु प्रमेयमद्यापि न सि-
ध्यतीति तदर्थं प्रश्नः । स च विशेषो यथावदिति
न दर्शित इति । अयमेव च सूत्रार्थ इति । येषां तत्त्व-
ज्ञानात्(१) त्वज्ञानाभ्यामपवर्गसंसारौ भवतस्त(२) एत एव
न न्यूना नाधिका इत्यर्थः । प्रथमसूत्रव्यवस्थामतिदिशति । अ-
त्रापीति । उक्तमर्थमनाकलयन्नाक्षिपति । उभयेति । दिगा-
दीनामिति । (६२।२) द्रव्येषु दिक्कालपरमाणूनामनभिधा-
नात् । वृक्षस्तिष्ठतीति । इतिशब्द आद्यर्थे । तेन वृक्षं पश्यति
वृक्षेण चन्द्रमसं पश्यतीत्यादयो वेदितव्याः । समाधत्ते । न सू-
त्रार्थापरिज्ञानादिति । न प्रमेयपदं प्रमेयमात्रे वर्तते, किं तु
यत्तत्त्वतो ज्ञायमानमपवर्गसाधनं तस्मिन्, तच्चात्माद्येव नान्यदि-

(१) ज्ञानाज्ञानाभ्यामिति १ गुणाभ्यामिति २ पु० पा० ।

(२) तत्र तावन्त एव १ त एव २ पु० पा० ।

ति युक्तोऽन्ययोगव्यवच्छेद इत्यर्थः । अयोगव्यवच्छेदेऽपि न दोष इत्याह । प्रमेयमेवेति । नन्वस्मिन्पक्षे न कदाचिदपि प्रमाणता स्यादित्यस्ति दोष इत्यत आह । किमुक्तं भवतीति । नास्य पुरुषमात्रं प्रति प्रमेयत्वं विधीयते अपि तु मोक्षमाणशिष्यं प्रति विधीयते । अनूयत (६३ । ३) इति प्रमाणान्तरमूलकत्वेन विधानदार्ढ्यं दर्शयति । उपसंहरति । तस्मादिति । कौशलमात्रमात्मनः ख्यापयितुमभ्युपेत्य समाधानान्तरमाह । उपेत्येति । प्रवृत्तिसंस्कारकत्वमस्ति दिक्कालयोः, प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत, प्राचीनप्रव्रणे वैश्वदेवेन यजेत, पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया यजेतेति श्रवणात् । कौशलमात्रमिदं न तु समाधानमित्याह । न पुनरिदमिति । विहितविधानादिति । प्रमाणविधानसामर्थ्येन विहितमित्यर्थः । न केवलं प्रमाणविधानाक्षिप्तमपि त्वाद्यसूत्रगतप्रमेयपदादपि लब्धमित्याह । आद्येन चेति । एतस्मिन्नर्थे सूत्रकारस्यानुमतिमाह । एनं चार्थमिति । भाष्यम्, सर्वस्य सुखदुःखसाधनस्य द्रष्टा सर्वस्य सुखदुःखस्य भोक्ता यतः सुखदुःखसाधनं सर्वं सर्वं च सुखदुःखं जानाति अतः सर्वज्ञः । न चाप्राप्तान्येतानि जानातीत्यत आह । सर्वानुभावी । अनुभवः प्राप्तिः । तदेतद्वैराग्योत्पादायोक्तम् । एवमुत्तरत्रापि बोद्धव्यम् । आत्मन्ययं विशेषो यदनेन रूपेण हेयः केवलेन चोपादेयः, शरीरादीनि तु हेयान्येव, अपवर्ग उपादेय एवेति । अविद्यमानं पूर्वं शरीरं यस्य तदपूर्वं शरीरं तन्निषेधति । नास्येदमिति । प्रमेयतत्त्वमविदुष आत्मनः अविद्यमानमुत्तरं शरीरं यस्य तदनुत्तरं तदपि निषिद्धं, चेत्यनुकर्षणात् । ननु यथा पूर्वेषां शरीराणामनादितेत्येवमुत्तरेषामप्यनन्तता, तथा च मोक्षमाणानां प्रवृ-

तयः तदर्थानि शास्त्राणि चानर्थकानि प्रसज्येरन्नित्यत आह ।
 उत्तरेषामिति । प्रमेयतत्त्वावगमादित्यर्थः । ननु सुखेऽप्युद्देष्टव्ये
 दुःखमात्रोद्देशः किं सुखं प्रत्याचष्टे, तथा चानुभवविरोध इत्यत
 आह । नेदमिति । तदेतद्भाष्यं वार्तिककार आक्षेपसमाधाना-
 भ्यां व्याचष्टे । सुखं पुनरिति । न चान्यत आत्मादिपदा-
 दुपलब्धिः । अस्मादेवात्मादिभ्यो भेदेन प्रत्यात्ममुपलभ्यमा-
 नत्वादेव । निर्विद्यत इत्यस्य व्याख्यानम्, अनभिरतिसंज्ञे-
 ति । उपेक्षाबुद्धिः । निर्विण्णस्य वैराग्यमित्यस्य व्याख्या,
 तां चोपासीनस्य तयैव विरोधिगुणेन तृष्णा विच्छिद्यते ।
 सुखानभिधानेन दुःखपक्षनिक्षेपं सूचयति, तथा च सुखे(१)ऽस्य
 वैराग्यं भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ९ ॥

अपवर्गस्यात्मार्थत्वेन प्रमेयेष्वात्मनः प्राधान्यात्प्रथममात्म-
 लक्षणसूत्रमिच्छेत्यादि, तदवतारार्थं भाष्यम्, तत्रात्मेति ।
 अहमिति ज्ञानं गौराद्याकारं शरीरावभासनं न शक्यं घटादि-
 ज्ञानवद् द्रागात्मनि प्रमाणयितुमिष्यभिप्रायः, परदेहवर्त्यात्माभि-
 प्रायं वा तत् । अत्र वार्तिककारः सूत्रतात्पर्यमाह । समानेति ।
 समानजातीयं शरीरादि, असमानजातीयं प्रमाणसंशयादि । सखे-
 वास्मिन् प्रयोजने प्रयोजनान्तरमन्वाचिनोति । आगमस्येति ।
 ततश्चाप्नोक्तत्वानुमानसिद्धमपि प्रामाण्यं शब्दस्यानेन तदर्थसं-
 वादकेनानुमानेन दृढतरं भवतीत्यर्थः । प्रयोजनान्तरं चान्वाचि-
 नोति । प्रमाणसंप्लवस्येति । द्वावपि वाशब्दौ चार्थेऽन्वाचये
 द्रष्टव्यौ । तदनेन वार्तिकेनानुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति
 भाष्यं व्याख्यातम् । इच्छाया आत्मलिङ्गत्वकथनपरं भाष्यम्,
 यज्जातीयस्येति । यज्जातीयस्येति व्याप्तिस्मृतिकथनम् ।

तज्जातीयं पश्यन्निति पक्षधर्मोपनयः । तस्मादयं सुखहेतुरित्यनु-
मायादातुमिच्छति, सेयमिच्छेदृशी व्याप्तिग्रहणतत्स्मरणपक्षधर्म-
ताग्रहणानुमानेच्छादीनामेककर्तृकत्वं सूचयति भेदे प्रतिसन्धा-
नाभावेन तदनुपपत्तेः । तदिदमुक्तमेकस्येति । यश्चासावेको-
ऽनुभविता च स्मर्त्ता चानुमाता चेष्टिता च स आत्मा । न च
शरीरमेवं भवितुमर्हति, तस्य बाल्यकौमारयौवनवार्द्धकभेदेनान्य-
त्वात् । नेन्द्रियम्, इन्द्रियान्तरगृहीत इन्द्रियान्तरेणाप्रतिसन्धान-
प्रसङ्गात्(१) । यमहमद्राक्षं तं स्पृशामीति । नापि मनस्तस्य
करणत्वेनैवानुमानात् । वक्ष्यति हेतत्सर्वं ज्ञातुर्ज्ञानसाधनो-
पपत्तेरित्यत्र सूत्रे ।

स्यादेतत् । असत्यप्यात्मनि ज्ञातरि सत्यपि च बुद्ध्यादीनां
भेदे तत्सन्तानाभेदेन प्रतिसन्धानव्यवस्थोपपत्त्यत इत्यत आह ।
नियतविषये इति । नियतविषय इति बुद्धिभेदस्य प्रतिसन्धा-
नमपाकरोति । मात्रग्रहणेन च सन्तानं सन्तानिव्यतिरिक्तमपा-
करोति । तदभ्युपगमे वा स एवात्मेति सिद्धं नः समीहितम् ।
तदेतद्भाष्यमनुभाष्य तार्तिककारस्तात्पर्यमस्याह । यज्जाती-
यस्येति । तत्र विचारमारभने । तत्रेति । पूर्वपक्षमाह । कथ-
मिच्छादीति । परिहरति । स्मृत्येति । नन्वेकविषयाणां स्मृ-
त्यादीनां नानाकर्तृकत्वे को विरोध इत्यत आह । न हीति । ना-
नाविषयत्व उदाहरणमाह । न हि रूपेति । नानानिमित्तत्व
उदाहरणमाह । नापि भवतीति । यद्यस्मान्निमित्तात् त्वगिन्द्रियात्
स्पर्शमहमस्पर्क्षं तत्तस्मान्निमित्ताच्चक्षुषो रूपं पश्यामीति । नाना-
कर्तृकत्व उदाहरणमाह । न हि भवति देवदत्त इति । तदे-
तत्किल प्रतिसन्धानं कर्तृभेदादेवदत्तयज्ञदत्तादेर्व्यतिरेकबलेनैक-

कर्तृकत्वं साधयतीत्युक्तं तदेतदनुपपन्नं, भिन्नकर्तृकाद्यतिरेकस्यो-
 पाधिसम्भवेन स्वाभाविकप्रतिबन्धज्ञानवैकल्यात् । अस्ति हि
 देवदत्तयज्ञदत्तविज्ञानानां भिन्नकर्तृकत्वमकार्यकारणभावश्च,
 तत्र किमकार्यकारणभावात् प्रतिसन्धानस्य व्यतिरेक उत भि-
 न्नकर्तृकत्वादिति सन्दिग्धव्यतिरेकत्वादसाधनाङ्गं प्रतिसन्धान-
 मित्याशयवांश्चोदयति । कार्यकारणभावादिति । तदिदमु-
 क्तम् । तदिदं प्रतिसन्धानमन्यथा भवदिति । (६५ । १०)
 गूढाभिप्रायः परिहरति । नानात्वस्येति । चोदक आह ।
 अकार्येति । गूढाभिप्राय एव परिहारवाद्याह । तदयुक्तमि-
 ति । अनैकान्तिकत्वं सन्दिग्धव्यतिरेकिता । चोदक आह ।
 तुल्यं भवतोऽपीति । सिद्धान्ती गूढाभिप्राय एवाह । अभ्यु-
 पगमादिति । चोदक आह । नासाधनादिति । असिद्धा-
 र्थताऽन्यथासिद्धार्थता । हेतोः हेतुवचनस्येत्यर्थः । सम्प्रति स-
 माधाता स्वाभिप्रायमाविष्करोति । न हेत्वर्थापरिज्ञानात् ।
 तदेतद्विभजते । न भवतेति । कः पुनरसौ हेतुविशेष इत्यत
 आह । विशोषितं चैतत्प्रतिसन्धानं (६६ । २) । तत्कथय-
 ति, स्मृत्या सह पूर्वापरप्रत्यययोरेकविषयत्वेन प्रतिस-
 न्धानं यज्जातीयं सुखहेतुचन्दनवनितादि सुखहेतुं प्रतीतं स्मरामि
 तज्जातीयमिमं प्रत्येमीति प्रतिसन्धानम् । तदनेन शालिवीजाङ्कुरस्य
 परम्परया शालिवीजान्तरजननलक्षणात्प्रतिसन्धानात्कार्यकार-
 णभावनियताव्यवच्छिनति । नन्विदं पूर्वापरप्रत्ययप्रतिसंहतिः स्मृ-
 तिरपि कार्यकारणभावादेवोपपत्स्यते कृतमेकेन कर्त्रेत्यत आ-
 ह । सा च स्मृतिर्भवत्पक्षेऽनुपपन्ना । पृच्छति । कस्मात् ।
 उत्तरम् । अन्येन निमित्तेनानुभूतस्य अन्येन निमित्तेना-
 स्मरणात् । न हि भवति येनैव चक्षुषा घटमद्राक्षं तेनैव त्व-

गिन्द्रियेण तं स्पृशामीति । निमित्तभेदे प्रतिसन्धानाभावमुक्त्वा विषयभेदेऽप्याह । न ह्यन्येन स्वभावेन घटत्वादिनानुभूतस्यान्येन वृक्षत्वादिना स्मरणं, न हि भवति यमहं घटमद्राक्षं सोऽयं वृक्ष इति । कर्तृभेदे प्रतिसन्धानाभावमाह । न ह्यन्येन देवदत्तेनानुभूतमन्यो यज्ञदत्तः स्मरति । न हि भवति योऽहं देवदत्तोऽद्राक्षं सोऽहं यज्ञदत्तः स्मरामीति । न चेदं सत्यपि भेदे कार्यकारणभावात्प्रतिसन्धानं भवितुमर्हति, न हि यत्र स्फुटतरः कार्यकारणभावः तन्तुपटयोर्घटकपालयोर्वा दृश्यते तत्र प्रतिसन्धानं भवति, ये तन्तवः स एव पट इति वा यो घटक्षणः स एव कपालक्षण इति वा । वस्तुतः कार्यकारणभूतानामगृहीतभेदानां प्रतिसन्धानहेतुभावः सभागेषु क्षणेषु तथा दर्शनादिति चेत्तन्न । आमलकफलस्यैकस्यापनये तत्रैव स्थाने आमलकान्तरावस्थापने भवति प्रतिसन्धानं, न च तयोरांमलकयोरस्ति कार्यकारणभावः । पूर्वापरप्रत्यययोः स्मृत्या सहैकविषयत्वं कर्त्तरि कार्यकारणभावनिवन्धनं कर्मणीति चेत् ! हन्त नैरात्म्यसाक्षात्कारसात्मीभावेऽप्यस्ति विज्ञानानां कार्यकारणभाव इति तन्निवन्धनं प्रतिसन्धानं पूर्ववदेव प्रसज्येत, सैव चात्मदृष्टिर्दोषाणां निदानं परममिति व्यर्थो नैरात्म्यसाक्षात्कारसात्मीभावप्रयासः । अथासदपि प्रतिसन्धानं कार्यवशादाहरति तथागतो नट इव रामत्वमात्मनः, यदि तत्कार्यकारणभावनिवन्धनं कथमसत्कार्यं कथमाहार्यम् । अथ कार्यकारणभावोऽप्यवस्तुसन् कल्पनामात्रनिवन्धनः, स तर्हि तादृशः शालिबीजस्योत्पादं वास्तवं न नियन्तुमर्हति । न जातु कल्पितवह्निभावो माणवको दहनपाकयोरुपयुज्यते । न च प्रत्यायानां भेदाग्रहात् प्रतिसन्धानमिति साम्प्रतम् । प्रवृत्तिविज्ञानानां

रूपादिविषयाणां भेदेन पृथग्जनैरपि प्रतीयमानत्वात् । आलय-
विज्ञानस्य च प्रवृत्तिविज्ञानातिरिक्तस्यानुपलब्धेः । अहमिति च
सत्त्वदृष्टेः क्षणिकत्वानिराकृतावसति बाधके स्थिरवस्तुविषयत्वा-
त् । तस्मात् स्मृत्या सह पूर्वापरप्रत्यययोरैकविषयत्वलक्षण-
स्य प्रतिसन्धानस्यानेककर्तृकत्वाद् व्यतिरेको निरुपाधिरैक-
कर्तृकतां साधयति, स चैकः कर्त्ता शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यो
भिन्न आत्मेति सिद्धम् । तदनेनाशयेनोक्तम् । अस्ति च
स्मृतिरुक्तरूपा । तस्माद्यस्मिन्पक्षे स्मृतिः सम्भवति तत्र
प्रतिसन्धानं न्याय्यमिति । स च कर्त्रैकत्वपक्ष इति भावः ।
आशयमविद्वान् पुनः परः प्रत्यवतिष्ठते । भवानिति । पर
एवैकग्रन्थेनाह । कथमिति । कथं न सम्भवतीत्यर्थः । स्यादे-
तत् । योगिचित्तेमपि सर्वज्ञस्य चेतस आलम्बनप्रत्यय इति
तस्यापि योगिचित्तेन प्रतिसन्धानं स्यादित्यत आह । यत्काये-
ति । एतदुक्तं भवति । उपादानोपादेयभावेनावस्थितः चित्त-
प्रवाहः सन्तानः, न च योगिचित्तमुपादानं सर्वज्ञस्य चेतसः,
आलम्बनप्रत्ययो हि तदिति । कायग्रहणं च एकसन्तानोपल-
क्षणपरं, तेन जन्मान्तरेऽपि स्मृतिरुपपन्नेति । तमिममस्मदभि-
प्रायानभिज्ञं परमन्यथापि बोधयितुं विभवाम इति सिद्धान्त्यन्य-
था स्मृत्यनुपपत्तिमाह । नास्थिरत्वात् बुद्धीनाम् । न
ह्यजातानन्वयध्वस्तयोरस्ति कश्चिद् विशेष इति पूर्वोत्पन्नोऽनुभवः
काञ्चन वासनामाधाय प्रध्वंसते यथा कालान्तरे स्मृतिराधीयते
इत्यभ्युपगन्तव्यम्, न चास्थिरा बुद्धिः शक्या वासयितुम् इत्यात्मा
स्थिरोऽभ्युपेय इत्यर्थः । युक्तन्तरमाह । असम्बन्धाच्चेति ।
न च बुद्धीनामसमानकालानामस्ति सम्बन्ध इत्यर्थः । पुनः परः
प्रत्यवतिष्ठते । शक्तीति । नास्माकं क्षणिकवस्तुवादिनामस्ति

तज्जगति यदवस्थितं वासकेन वास्यमानं दृष्टमिति भावः । ननु
 तथाऽप्यसमानकालतया सम्बन्धरहितमशक्यं वासयितुमिति
 ग्रहणकवाक्यविवरणव्याजेनापाकरोति । अथापीति । पूर्वचित्तं
 प्रवृत्तिविज्ञानं यत्तत् षड्विधम्, पञ्च रूपादिज्ञानान्यविकल्पकानि
 षष्ठं च विकल्पविज्ञानं, तेन सह जातः समानकालः चेतनावि-
 शेषस्तदालयविज्ञानमित्युच्यते । अहङ्कारास्पदं स्मृतिशक्तिः,
 सा च न शक्तात्तज्ज्ञानादतिरिच्यते, तेन कथाञ्चिद्देवाविवक्षया
 शक्तिविशिष्टमित्युच्यते । सिद्धान्तवाद्याह । अत्रोक्तमिति ।
 उपपादयिष्यते हि भावानां सर्वजनप्रतीतिसिद्धा स्थिरता क्षण-
 भङ्गनिराकरणेन, तथा च स्थिरस्य सम्बद्धस्य च वस्त्रा-
 देर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति । नास्थिरेऽसम्बद्धे च
 भवितुमर्हतीत्यर्थः । स्यादेतत् । अस्थिरयोरपि ज्ञानयोः समानकालतयाऽस्ति
 सम्बन्ध इति कस्मादन्यतरचित्तवासितमन्यतरचित्तं स्मृतिं ना-
 धत्त इत्यत आह । यश्चासाविति । (६६ प्र १६) वक्ष्यमा-
 णापेक्षोऽपिशब्दः । ननु वर्त्तमाने चेतसि मा कार्षीदुपकारम्,
 अनागते तु करिष्यतीत्यत आह । नापीति । पृच्छति । क-
 थमिति । उत्तरम् । वर्त्तमानं तावदिति । प्रकृतमुपसंहरति ।
 तस्मादिति । इतोऽप्यसत्यात्मानि विज्ञानमात्रात्कार्यकारण-
 भावात्स्मृतिर्नोत्पद्यत इत्याह । इतश्चेति । कस्मात् । भावस्य
 अवित्रपेक्षत्वात् । भाव उत्पत्तिमान् धर्मः, भविता ध-
 र्मी । पाको विकृतिः संयोगभेदः, स च तण्डुलावयवसम-
 वेतोऽप्यवयवावयविनोरभेदोपचारात्तण्डुलानामित्युक्तम् । ग-
 तिः (६७ । १२) परिस्पन्दो देवदत्ते कर्त्तरीति । सिद्धा-
 न्ती क्षणिकतावादिनमुत्थाप्याक्षणिकत्वाभिप्रायेण दूषयति । अ-

नाधारैवेति । पूर्वपक्षी क्षणिकत्वाभिप्रायेणाह । कार्य्येति ।
 सिद्धान्तवाद्यक्षणिकत्वाभिप्रायेण परिहरति । तच्च नेति ।
 समानकालयोराधाराधेयभावो दृष्टो यथा कुण्डवदरयोः । स्थि-
 रमेव हि कुण्डं स्थिरस्यैव वदरस्य गुरुत्वेन पततो गुरुत्वं प्रति-
 बध्नदधःपतनं निवारयदाधारो भवति । यद्युच्येत न स्मृति-
 भावः, किं तु भवित्री उत्पत्तिरस्या भावः, न तु भवितुर्भावि-
 त्रन्तरापेक्षा युक्ता, अनवस्थापानादिति शङ्कते । अथापीदमि-
 ति । निराकरोति । तच्च नेति । विरोधादिति विवृणोति ।
 यदीति । कस्माद्याहतमित्यत आह । स्वरूपं चेति । चो हे-
 त्वर्थे । स्वरूपमुत्पत्तेरुच्यमानं स्वतन्त्रं बाधते यतस्तस्माद्विरोध
 इत्यर्थः । अनभ्युपगमादिति विवृणोति । न हि भवन्त
 इति । विरोधादिति स्फोरयति । व्यातिरिक्तां चेति । त-
 न्त्रम् शास्त्रम् । शङ्कते । अथेति । तथा च न विरोधो नाप्य-
 भ्युपगम इत्यर्थः । निराकरोति । किं केति । अभिधानस्वरूप-
 माह । उत्पत्तिरिति । अपि चोत्पत्तेर्भावत्वेऽपि न स्मृतिर्न
 भावः, भावत्वस्य कार्य्यमात्रानुबन्धित्वात् स्मृतेश्च कार्य्यत्वात् ।
 न चानवस्था, नित्ये व्यवस्थानात्, तथा च स्मृतेर्भावस्य भ-
 विताऽऽत्मैव नित्यः परिशिष्यत इत्याशयवानाह । यदा चो-
 त्पत्तिरिति । प्रकृतमुपसंहरति । तस्मादिति । तत् सिद्धमे-
 तत् स्मृतिः पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामेककर्तृका, उभाभ्यां सहैकविष-
 यत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्वात् । या पुनर्नाभ्यामेककर्तृका सा
 न तथा प्रतिसन्धीयते, यथा देवदत्तस्य स्मृतिर्यज्ञदत्तप्रत्ययाभ्यां,
 न त्वियं न तथा, तस्मात्तथेति । तदेवं व्यतिरेकिसमर्थनं कृ-
 त्वाऽन्वयव्यतिरेकिनमत्रार्थे प्रमाणयति । अथ वेति । (६८ ।
 २) अनेकग्रहणमनेकनिमित्तप्रतिषेधशङ्कानिरासार्थं, येन प्रागनु-

भूता रूपादयस्तेनैव(१) गन्ध उपलभ्यत इति खलु मयेति
स्मृत्या सह प्रतिसन्धानं तस्मात् । भरतमताभ्यासेनाभिनये
ये कृतसङ्केतास्तेषाम् । यच्चोक्तं परैः,

नर्तकीभूलताक्षेपो न ह्येकः परमार्थिकः ।

परमाणुसमूहत्वादेकत्वं तस्य कल्पितम् ।

इति तत्राह । भूक्षेपस्य एकत्वात् । न भूः परमाणुसमू-
होऽपि त्ववयविद्रव्यमेकं, तद्वत् च रेचितकमपि क्रियैकैव । भवतु वा
परमाणुसमूह एव भूक्षेपस्तथाऽपि समूहस्य समूहिभ्योऽनन्यत्वात्
परमाणव एव, तेषां च प्रत्येकमेकता अनेकभरतमतानिपुणप्रति-
पत्तिसाधारणता च, अस्ति च तेषामपि स्वगोचराविकल्पोत्पा-
दनपरम्परया मयेतिप्रतिसन्धानहेतुभाव इति यत्किञ्चिदेकत्वं
तस्य कल्पितमिति । तदेवं प्रतिसन्धानद्वारेणेच्छादीनामात्म-
लिङ्गत्वमुक्त्वा सम्प्रति गुणतया लिङ्गतां वार्तिककृदाह ।
अथ वेति । (६८ । ८) गुणत्वेनेच्छादीनां पारतन्त्र्यं रूपा-
दिवत्साधनीयं, तच्चानित्यत्वेनैव सामान्यविशेषसमवायेभ्यो
व्यावर्तकेन सिद्धं, न ह्यनिसो भावो द्रव्यात्स्वतन्त्रो भवति ।
तस्माद्गुणत्वसाधकादेव हेतोः पारतन्त्र्यसिद्धेः कृतं गुणत्वेन
पारतन्त्र्यसाधकेनेति हृदि निधाय वार्तिककारस्तदपि पूर्वमुक्त-
मिति सिद्धेन पारतन्त्र्येण गुणत्वमपि साधयति । न चैतदनि-
त्यस्य पारतन्त्र्यं द्रव्येण सिद्ध्यति, द्रव्यकर्मणोरप्यनित्ययोः
पारतन्त्र्यात् । तस्मादनित्यत्वसिद्धेन द्रव्यपारतन्त्र्येण द्रव्य-
कर्मभ्यां विवेचयति । न द्रव्यं कर्म चेच्छादयः, व्यापक-
द्रव्यसमवायात् शब्दवदित्यादि । यद्यप्यनित्यत्वेन द्रव्यसम-

(१) येन मया रूपादयोऽनुभूतास्तेनैव मया-इति लिखितपुस्त-
के पाठः ।

वायमात्रं सिद्ध्यति, तथाऽपि द्रव्यकल्पनमात्रेणैवोपपत्तौ तदव-
यवकल्पनायां प्रमाणाभावेन तद् द्रव्यमनवयवं तावत्सिद्धम् ।
अनवयवद्रव्यं द्वेधा व्यापकमणु च । न तावदणु, तत्र तत्रेच्छा-
दीनामुपलब्धेः । क्वचिदन्यतरकर्मणा क्वचित्स्वभावतस्तत्संयो-
गोपपत्तौ तद्वातिकल्पनायां प्रमाणाभावात् सिद्धमस्य व्यापकत्वं,
तदेतदादिग्रहणव्याख्यानम् । तदनया वक्रोक्त्या नित्यत्वं पर-
ममहत्त्वं चाऽऽत्मनो दर्शितमिति । एतच्च सामान्यतोदृष्टमनुमानं
सूचयता सर्वं वर्णितमिषाह । सामान्यत इति । यत्पूर्वं हृदि
स्थितमिच्छादीनां पारतन्त्र्ये साध्येऽनित्यत्वहेतुकानुमानं, तदुद्धा-
टयति, कार्यत्वमपि हेतुं समुच्चिनोति । एतेनेति । नन्वस्तु द्रव्य-
पारतन्त्र्यं, तथाऽपि शरीरपारतन्त्र्यमस्तु, कृतमनुपलब्धचरेणा-
त्मनेत्यत आह । अथावदिति । सर्वपुरुषसाधारण्यप्रसङ्गाच्च न
पृथिव्यादिगुणाः, तदुत्पत्तौ करणत्वेन कल्पनाच्च नाकर्तुर्मनसः,
तस्मादष्टद्रव्यातिरिक्तं द्रव्यान्तरं, तत्रेच्छादयः, स चात्मेति सि-
द्धमिषाह । तत्प्रतिषेधादिति ॥ १० ॥

आत्मानं लक्षयित्वाऽऽत्मनो दुःखनिदानानामिन्द्रियादीनां
सर्वेषां साक्षात्पारम्पर्येण शरीरमाश्रित्य तन्निदानत्वमिति तदे-
वास्य दुःखमूलकारणमित्यनन्तरं शरीरं लक्षयितुं सूत्रं चेष्टे-
सादि । तदवताराय भाष्ये, तस्येति । तस्येसात्मानं परामृश-
ति । भोगः सुखदुःखसम्भित्, तदधिष्ठानं शरीरम् । तदनेन
सर्वस्यास्यानर्थसम्भारस्य परमं निदानं शरीरमतस्तदेवेन्द्रियादि-
भ्यः पूर्वं लक्षणीयमित्युक्तम् । अत्र चेष्टाश्रयत्वेनेन्द्रियाश्रयत्वेना-
र्थाश्रयत्वेन च प्रत्येकं समानजातीयेभ्य आत्मेन्द्रियादिभ्योऽसमा-
नजातीयेभ्यः प्रमाणसंशयादिभ्यः शरीरं व्यवच्छिद्यते । कथं
चेष्टाश्रय इति भाष्यं, तस्यार्थं व्याचष्टे । का पुनरिति । (६८)

१७) चेष्टा व्यापारः, स चातिव्यापकतया अव्यापकतया च न लक्षणं, वृक्षादिषु भावात् अभावाच्च पाषाणमध्यवर्तिमण्डूकादिशरीर इति भावः । अत्रोत्तरभाष्यम्, ईप्सितमित्यादि । तद्व्याचष्टे । हिताहितेति । प्रयुक्तस्य उत्पादितप्रयत्नस्य । न व्यापारमात्रं चेष्टाऽभिमता, अपि तु विशिष्टो व्यापारः, स च न वृक्षादिष्वस्तीति नातिव्यापकता । यद्यपि च दारुयन्त्रादिष्वीदृशो व्यापारोऽस्ति, तथापि मूर्त्तान्तराप्रयोगे सतीति विशेषणान्न व्यभिचारः, तेषां शरीरेण मूर्त्तेन प्रयोगात् । शरीरस्य तु मूर्त्तान्तराप्रयुक्तस्य ईदृशव्यापाराश्रयत्वम् । पाषाणमध्यवर्तिनश्च मण्डूकदेहस्य तद्व्यापारायोगेऽपि तद्योग्यत्वात्, पाटिते पाषाणे तादृशस्य तद्व्यापारस्य दर्शनादिति भावः । कथमिन्द्रियाश्रय इति भाष्यं व्याचष्टे । कथमिति । संयोगितया त्विन्द्रियाश्रयत्वे घटादीनामपि शरीरत्वप्रसङ्गस्तेषामपीन्द्रियसंयोगित्वादिति भावः । यस्येत्यादिपरिहारभाष्यं व्याचष्टे । शरीरेति । एतेनेति । (६९ । ३) तद्वृत्तित्वेनानुपपत्त्याऽर्थानामप्यन्यादृश आश्रयार्थो व्याख्येयः । यद्यपि गन्धादयो विषया न स्वरूपेण शरीरमाश्रयन्ते, तथाऽपि यत्तेषां (१) सुखाद्युपलम्भहेतुत्वं कार्यं प्रयोजनं तदर्थमाश्रयत इत्यर्थः । तदनेन यस्मिन्नित्यादिभाष्यं व्याख्यातम् । चोदयति । कथं पुनरिति । परिहरति । सामान्येति । विशेषेण बुभुक्षितत्वादिना (२) । प्रकरणापन्नं निमित्तितम् (३) । सामर्थ्यं प्रकरणादीत्यादिपद (४) सङ्गृहीतमपरमपि सामर्थ्यशब्दार्थमाह । सामर्थ्यं चेति । अपरमप्याह । प्रमाणेति । अत्र प्रथमे पक्षे चेष्टाशब्दो व्यापारविशेषे स्पन्दादिवन्मुख्यार्थः, तदेत-

(१) यदेषां—पाठः ।

(२) बुभुक्षितत्वादिना—पाठः ।

(३) नियन्त्रितम्—पाठः ।

(४) आदिग्रहणेति पु० पा० ।

लोकस्तावदित्यादिना तथा चायं चेष्टाशब्द इत्यन्तेन दर्शितम् । प्रमाणासम्भवो वेति द्वितीयं पक्षं विवृणोति । सामान्यावाच्यपीति । अपिरभ्युपगमे, प्रमाणासम्भवोऽनुपपत्तिः, सा तु न क्रियामात्रेत्यनेन दर्शिता । एवं चेष्टापद-
 व्याख्यानं घटादिषु न शरीरत्वप्रसङ्गः । एवं भाष्यानुसारेण स्वमतेन प्रत्येकं चेष्टाश्रयत्वादि शरीरलक्षणं वर्णयित्वा समस्त-
 मेवेदं शरीरलक्षणमिति ये वर्णयन्ति तन्मतमपाकरोति । यैर-
 पीति । यद्याद्यपदं लक्षणं चेष्टाश्रय इति, तदा घटेन व्यभिचारः,
 तदर्थं द्वितीयपदोपादानम् । इन्द्रियाश्रय इति इन्द्रियसंयोगी-
 त्यर्थः, तथापि तेनैव व्यभिचारः, घटादीनामपि प्राप्यकारित्वे-
 नेन्द्रियाणामिन्द्रियसंयोगित्वादत आह । अर्थाश्रय इति । एव-
 मपि व्यभिचारस्तदवस्थ एव, घटादीनामपि रूपाद्यर्थसमवाये-
 नार्थाश्रयत्वात् । अथ समवायाभिप्रायेणाश्रयत्वं, तथाऽपि न स-
 मवाय इन्द्रियाणां शरीरे । घ्राणस्य पार्थिवत्वेन समवायो न
 विरुद्ध इति चेन्न । तस्य शरीरावयवसमवायित्वेन शरीरासम-
 वायात्, यदि नासिकाग्रमेव घ्राणम् । अथ तदाधारमतीन्द्रियं,
 तथाऽपि न तत्समवेतं शरीरं, प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेर्वायुवनस्पतिसं-
 योगवदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गाद्देहस्य । अपि च यदा चेष्टेन्द्रियार्थस्य
 समवायेन शरीरत्वं, हन्त भो इन्द्रियसमवायिकारणेषु परमाणुषु
 समस्तमेतदस्तीति तेषामपि शरीरत्वप्रसङ्ग इत्याह । समस्तेति ।
 स्यादेतत् । भवन्मतेऽपि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्व्यभिचारः, तेषा-
 मपि यथोक्तव्यापाराधारत्वादत आह । यथा त्विति । मूर्त्ता-
 न्तराप्रयोगे सतीति विशेषितं, चक्षुरादयस्तून्मीलनान्मूर्त्तेन शरी-
 रेण प्रयुज्यन्त इति न प्रसङ्गः । श्रोत्रं तु चेष्टाधार एव न भव-
 ति, तदेतदुक्तलक्षणं शरीरं भावयन्निर्विद्यत इति सिद्धम् ॥११॥

इन्द्रियस्योपनायकत्वेनार्थादिभ्यो विशेषादिन्द्रियाणामर्थादि-
भ्यः पूर्वं लक्षणं, न च विशेषलक्षणमकृते सामान्यलक्षणे शक्य-
मिति भाष्यकारः प्रथममिन्द्रियाणां सामान्यलक्षणं निर्वेदोपयु-
क्तमाह । भोगसाधनानीति । अनेन यच्छरीरसंयुक्तं सत्कार-
क(१)दोषव्यतिरिक्तं साक्षात्प्रतीतिसाधनं तदिन्द्रियमिति सामा-
न्यलक्षणं सूचितम् । साक्षात्प्रतीतिसाधनमिन्द्रियमिति वक्तव्ये
भोगसाधनाभिधानं निर्वेदोपयोगीति । पारम्पर्येण च भोगसा-
धनत्वं घ्राणादीनां, साक्षान्मनस एव तत्साधनत्वात्, सुखदुः-
खसाक्षात्कारस्य भोगत्वात् ।

घ्राण-भ्यः(२) (सू. १२) ॥ अत्रेन्द्रियाणीति लक्ष्यनिर्देशः,
घ्राणादीनीत्यर्थः । तेषां पञ्चानां पञ्चैव लक्षणानीति कथयति ।
लक्षणसूत्राणीति । (६९ । २४) अपाततः सूत्रं विचा-
र्यमाणानि च सूत्राणीत्यर्थः । समानजातीयं घ्राणादेरसनादि
प्रतिनियतविषयत्वात्, असमानजातीयं तु मनआदि सर्वविषय-
मिति । जिघ्रतीत्यादिभाष्यनिराकरणीयशङ्कामाह । उद्देशेति ।
(७० । १) प्रमाणाद्युद्देशेन साम्यादित्यर्थः । लक्षणं हि वि-
धेयं, लक्ष्यं चोद्देश्यं, ज्ञातं चोद्दिश्यतेऽज्ञातं च विधीयत इति,
न चैकस्य युगपज्ज्ञानाज्ञाने सम्भवतः, नापि लक्ष्यलक्षणत्वे इति
भावः । परिहरति । नेदं तथा यथोद्देश इत्यर्थः । कस्मात् कर-
णभावात् स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं यतो घ्राणादीनाम् ।
एतदुक्तं भवति । इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वात्सर्वदा स्वस्वविषयोपल-
ब्धिकरणत्वेनैवानुमातव्यानि, तस्मात्स्वस्वविषयोपलब्धिसाधन-

(१) संस्कारकदोषेति । १ । २ पु० पाठः ।

(२) घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्य इति सूत्रा-
कारः । टीकायामाद्यन्ताक्षरलेखशैल्या तथैव स्थापितम् । एवमग्रेऽपि ।

त्वमेव समानासमानजातीयव्यवच्छेदकतया लक्षणं, तदेकार्थ-
 समवायितुं घ्राणत्वादि लक्ष्यम् । अत्र च घ्राणादिशब्दाः पङ्कजा-
 दिपदवदवयवार्थं निमित्तीकृत्य कचित्सामान्यविशेषे वर्तन्ते, अव-
 यवार्थस्य प्रतीयमानस्यासति बाधके परित्यागायोगात् । अश्व-
 कर्णादौ वृक्षविशेषवाचके वाजिकर्णायोगेन बाधकेनावयवार्थप-
 रित्यागात् । अवयवार्थयोगेऽपि गन्धाद्युपलब्धिसाधने सन्निक-
 र्षादौ घ्राणादिशब्दाप्रयोगात् अवयवार्थान्वितं घ्राणत्वा-
 द्येव घ्राणादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं, तथा च घ्राणादिपदमेव
 घ्राणत्वादिपरं लक्ष्यनिर्देशः, तच्चेन्द्रियाणीत्यनेन सूचितं,
 तदेव त्ववयवार्थपरं लक्षणनिर्देशो घ्राणेत्यादि । न च सन्निकर्षेण
 गन्धोपलब्धिसाधनेन व्यभिचारः, इन्द्रियसामान्यलक्षणयुक्तस्य
 गन्धोपलब्धिसाधनत्वं न सन्निकर्षस्यास्ति । तदनेन जिघ्रत्ता-
 त्यादि स्वविषयग्रहणलक्षणानि इत्यन्तं भाष्यं व्याख्यातम् ।
 निर्वचनग्रहणेन पदप्रवृत्तिनिमित्तमात्रमुच्यते, तेन त्वक्पदमपि
 सङ्गृहीतं भवति । तस्यापि त्वक्स्थाने इन्द्रिये स्पर्शोपलब्धि-
 साधने एवोपचार इति । भूतेभ्य इति सूत्रावयवतात्पर्यपरं भाष्यं
 भूतेभ्य इति नानाप्रकृतीनामित्यादि, तद्वार्तिककारो व्याच-
 छे । भूतेभ्य इति । पृथिव्यादीति । पृच्छति । कः पुनरिति ।
 उत्तरम् । भूतगुणविशेषग्रहणसाधनत्वं, घ्राणेनैव पृथिव्या
 यो गुणविशेषो गन्धः स गृह्यते न रसनादिना । एवं रसनेनैवापां
 यो माधुर्यं गुणविशेषः स गृह्यते, एवं चक्षुषैव शुक्लमास्वरं रूपं
 तेजसः, एवं त्वचैवानुष्णाशीतस्पर्शोऽपाकजो वायोः, एवं
 श्रवणेनैव शब्दो नभस इति नियमः । अत्र च प्रयोगः, गन्धोप-
 लब्धिः करणसाध्या, क्रियात्वात्, छिदिक्रियाकरणातिरिक्तक-
 रणनिष्पाद्या, तदन्वयव्यतिरेकाननुविधाने सति कार्यत्वात्, या
 क्रिया यत्करणान्वयव्यतिरेकाननुविधाने सति कार्य्या सा सर्वा

तत्क्रियाकरणातिरिक्तकरणनिष्पाद्या, यथा पटादिक्रिया घटा-
दिक्रियाकरणदण्डाद्यतिरिक्त(१)करणनिष्पाद्या, तथा चेत्यं,
तस्मात्तथा । तच्च करणं चक्षुराद्यतिरिक्तं घ्राणं, तद् द्रव्यं,
संयोगाधारत्व(२)त्, तच्च पार्थिवं, द्रव्यत्वे सति रूपादिषु मध्ये
गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्, पार्थिवान्तरवत् । एवं रसनादिष्वपि
योज्यम् । तदिदमुक्तं, यज्जातीयमिन्द्रियं पार्थिवं पाथसीयं
वा भवति, तस्य पृथिव्याः पाथसो यो गुणविशेषो गन्धो
वा मधुर एव वा रसभेदस्तेन पृथिवी अब्वाद्यादिभ्य आपो वा
पृथिव्यादिभ्यो व्यवच्छिद्यन्ते इतरेतरभूतव्यवच्छेदहेतुः स
तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते नान्येनेति । न चैवं रसना अपामिव
पृथिव्या अपि रसभेदं गृह्णातीति पार्थिवी भवति, तथात्वे तथा
गन्धोऽप्युपलभ्येत । तेन तेनैवेन्द्रियेणेति नियमो गुणविशेषम-
वधारयति, न त्विन्द्रियमिति । अत्र च कर्णशङ्कुलीसंयोगोपा-
धिना श्रोत्रस्य नभसः कथंचिद्भेदं विवक्षित्वा भूतेभ्य इति
पञ्चम्यर्थो व्याख्यातः । अनेन खल्वाहङ्कारिकाणीन्द्रियाणीति
यदाहुः साङ्ख्यास्तन्निराकृतम् । निराकरणहेतुमाह । ऐकात्म्य
इति श्लिष्टं पदम् । सांख्यानां किल राद्धान्ते कारणात्मकं
कार्यं, तच्च कारणमिन्द्रियाणामहङ्कार एक इत्यैकात्म्यमेकका-
रणकत्वं, तथा चैकात्म्यमेकत्वं घ्राणादीनामित्यनियमः स्यादिति ।
तदेतद्विभजते । यदि पुनरिति । शङ्कते । एकेति । विभजते ।
अथेति । एकः पाक्य एकोऽग्निसंयोगः, एकं चौष्ण्यमि-
त्यर्थः । निराकरोति । न ब्रूम इति । यद्यप्यौष्ण्यं निमित्तं साधा-
रणं, तथाऽपि गन्धाद्युत्पत्तौ पूर्वगन्धादिध्वंसानां भेदादुपपन्नं

(१) चक्रदण्डाद्यतिरिक्तत्वेमादि-पाठः ।

(२) घटादिवत् इत्याधिकः १ पाठः ।

कार्यनानात्वमिति । तदिदमुक्तं ये पूर्वे रूपादयः तेषां स्वगतो विशेषः प्रध्वंस इत्यर्थः । अथ रूपत्वादिसामान्यमेव कस्मात् न स्वगतो विशेष इत्यत आह । एवं च कृत्वेति । रूपत्वादिसामान्यानां तादवस्थे न पक्षतरतमादिभेदः, प्रध्वंसानां तु स्तोक्तभूयस्त्वानिशेषत्वेनोपपद्यत इति भावः । पुनः शङ्कते । एकं कर्म्मोति । निराकरोति । नेति । समवायिकारणं स्वाश्रयप्रत्यासक्तिं वाऽपेक्षत इति भावः । शङ्कते । यदि तर्हीति । (७१ । ३) लक्षणहानिस्तथा च लक्ष्यहानिरित्यर्थः । निराकरोति । चरमभाविनिमित्तान्तरं भावरूपमित्यर्थः । संयोगाभावं तूत्तरसंयोगजननायापेक्षत एव । उपसंहरति । तस्मादिति ॥ १२ ॥

इन्द्रियप्रकृतित्वं तु भूतलक्षणं वेदितव्यम् ॥ १३ ॥
क्रमप्राप्तमर्थलक्षणमवतारयति भाष्यकारः, इमे त्विति । तुशब्देनार्थमात्रावच्छिन्नत्वं । येषामिन्द्रियविषयत्वेन भाव्यमानानां निःश्रेयससाधकत्वं मिथ्याज्ञानविषयीकृतानां तु संसारनिमित्तता त इमे इत्यर्थः ।

गन्ध-र्थाः (सू० १४) अत्र चोद्देशक्रमस्मारिता अर्था लक्ष्यतया प्रतिपत्तव्याः, तेषां च लक्षणं तदर्था इति । तदित्यनन्तरलक्षितानीन्द्रियाणि परामृशति । तेषामिन्द्रियाणामर्था इन्द्रियैरर्थ्यमाणत्वमर्थानां लक्षणम् । एतावतैव लक्षणे पर्यवसिते सुहृद्भावेन विभागाभिधानं (१) पृथिव्यादिगुणा इति । पृथिव्यप्तेजांसि च गुणाश्च धर्माः सङ्ख्याकर्म्मदयः । विभागेऽप्येतावताऽवगते गन्धाद्यभिधानं सुहृद्भावेनेन्द्रियविषयनियमज्ञापनार्थम् । पृथिव्यादीनामिति भाष्यं न पृष्ठीसमासज्ञा-

पनार्थमपि त्वर्थाभिधानमात्रम् । यथाविनिर्गोमिति ।
यथाक्रमं पृथिव्यादिष्वनिलान्तेषु गन्धादयः स्पर्शान्ताः चतुस्त्रि-
द्व्येकनियमेन विनियुक्ताः शब्दश्चाकाशे एवेत्यर्थः । तदर्थं
इति लक्षणपदं व्याचष्टे । इन्द्रियाणामिति । येन क्रमेण प्रा-
णादय इन्द्रियसूत्रे पठिताः, येन चेह गन्धादयस्तदनतिक्रमेणे-
त्यर्थः । अत्र वार्त्तिककारः पृथिव्यादिगुणा इत्यत्रानेकसमा-
सप्रतिभासनात्संशयं कृत्वा द्वन्द्वसमासमवधारयति । पृथिव्या-
दिगुणा इति । पृष्ठीसमासेनाभिन्नार्थत्वात्सप्तमीसमासो न द-
र्शितः । ननु कण्ठेकाल इतिवद्वैयधिकरण्येऽपि बहुव्रीहिर्भविष्य-
ति, पृथिव्यादीनां गुणा येभ्यो गन्धादिभ्यस्ते तथा । तथा हि
परमाणुगता गन्धादयोऽवयविनि गन्धाद्यारभन्ते नभोगतश्च श-
ब्दो नभसि समानजातीयं शब्दमित्यत आह । न चान्यथेति ।
(७२ । ४) ज्ञापकवशात्कचिद्व्यधिकरणानां बहुव्रीहिर्ज्ञापककृतं
च न सर्वत्र, न च गन्धादीनां पृथिव्यादिगुणहेतुत्वप्रतिपादनं
कचिन्निर्वेदायोपयुज्यत इति भावः । अन्यसमासः कर्मधा-
र्यादिः । द्वन्द्वमवधारितमाक्षिपति । न द्वन्द्व इति । समाधत्ते ।
नोभयस्यापीति । पृथिव्यादिग्रहणेनेति । यद्यादिश-
ब्देन वाय्वादयो गृह्येरन्, तदर्थं इति लक्षणमव्यापकं स्यात्,
तेषां बाह्येन्द्रियार्थत्वाभावादित्यर्थः । गुणग्रहणेन सर्व इति आ-
श्रितानाश्रिताभिप्रायं, गुणशब्दस्य धर्मवचनत्वात् । विशेषस्तु
रेखोपरंखादिः, न त्वन्त्यः, तस्यातीन्द्रियत्वात् । एतेषां च य-
थायोगं मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानविषयाणां रागवैराग्यहेतुत्वमूहनी-
यम् । चोदयति । गन्धेति । परिहरति । न कर्तव्यं (७३ । ३)
लघुसूत्रं, गन्धादीनां पृथगभिधानं कर्तव्यमित्यर्थः । निगममाह ।
इन्द्रियाणीति । तत्रेति । अनियतेषु मध्ये । पृथिव्यसंजा-

सि द्वीन्द्रियग्राह्याणि शेषश्च गुणराशिः संख्यादिविशेषा-
न्तो द्वीन्द्रियग्राह इत्यर्थः । तथा सर्वेन्द्रियग्राह इत्यर्थः ।

अत्र बौद्धमुत्थापयति । दर्शनस्पर्शनाभ्यामिति । त-
स्य पर्यनुयोगमाह । स इति । स्वसम्बेदनेन मानसेन
वा रूपाद्यालम्बनप्रत्ययो रूपादिविशिष्टो यथाऽनुभूयते, एवं रू-
पाद्यतिरिक्तघटादिविशिष्टोऽनुभूयत इत्यर्थः । अत्र पर आह ।
रूपादिभ्यस्तथा सन्निविष्टेभ्य इति । तथेत्याकारं निर्दि-
शति । सन्निवेशो व्यवस्थानम् । रूपादिपरमाणव एव तेनाका-
रेणोत्पन्ना एकयोदकाहरणक्रियया व्यवच्छिन्ना घटादय इत्यु-
च्यन्ते, अनुरजनादिकया तु रूपादिव्यपदेशः । यथाह ।

“घट इत्यपि च रूपादय एवैकार्यक्रियाकारिणस्तथा व्य-
पदिश्यन्ते ।”

निराकरोति । नाकारार्थेति । तथार्थस्य यथापदार्थेन नित्या-
भिसम्बन्धात् यथा घटस्तथा सन्निविष्टा रूपादय इत्यर्थो गम्यते, तेन
घटाकारेण घटसादृश्येनेत्ययमर्थः, तथा च दूषणमिति । दूषणा-
न्तरमाह । रूपादिमात्रे चेति । (७४ । १) न तावद्रूपादि-
क्षणे एको घटः, क्षणान्तरे तत्प्रयोगाभावप्रसङ्गात्, तस्माद्रूपादि-
मात्रमविवक्षितभेदं (१), तथासत्येतद्दूषणमित्यर्थः । शङ्कते । सं-
स्थानभेदादिति । यथासंस्थाना रूपादयोऽर्था अनुभूयन्ते
तथासन्निविष्टेभ्यो घटादिप्रत्यया इत्यर्थः । निराकरोति । नै-
तदिति । अन्यत्वे तदेवावयवीति संज्ञाभेदमात्रम्, अनन्य-
त्वे व्यर्थाभिधानम् । शङ्कते । घटादिप्रत्यया इति । एकाने-
कविचारासहत्वाद् असन्त एव घटादयोऽनादिविकल्पवासना-
जनितविकल्पप्रत्ययप्रतिभासमानाः । शब्दशब्देन विकल्पमु-

(१) अविचक्षितमिति पाठः ।

पलक्षयति शब्दवासनावशादिति । निराकरोति । तदयु-
क्तमिति । बीजं मिथ्याप्रत्ययस्य सम्यक्प्रत्ययविषयोऽर्थः, त-
स्य कचिदभ्युपगमेऽभिमतार्थहानमित्यर्थः । यस्तु भिन्नलोकम-
र्यादितया ब्रूते आदिमान् मिथ्याप्रत्ययः सम्यग्ज्ञानं निमित्ती-
करोति, अयं पुनरनादिः पूर्वपूर्वमिथ्याप्रत्ययजन्मा मिथ्याप्रत्य-
यप्रवाहः, कुतमत्र सम्यग्ज्ञानेनेति, तं प्रत्याह । मिथ्याप्रत्यया-
श्चैत इति । रूपाद्यव्यतिरेके अवयविन इत्यर्थः । परस्त्वव्यतिरेके
प्रमाणमाह । न नास्तीति । न हि मांसतोयातिरिक्तः काश्चिद्वृषो
नाम, नापि तृणराजतरु(१)व्यतिरिक्ता पङ्क्तिर्नाम । दूषयति ।
नायं हेतुरिति । ये घटादिभावमापन्ना भवतां दर्शने इति ।
कामेऽष्टद्रव्यकोऽणुरशब्द(२)इति । (७२ । ३) रूपधातुररू-
पधातुः कामधातुरिति त्रैधातुकं जगत् । तत्र कामधातुस्वरूप-
मुक्तं, कामे-कामधातौ । अष्टद्रव्यकोऽणुः-रूपरसगन्धस्पर्शा
इति चत्वारि द्रव्याणि, पृथिव्यप्तेजोवायुरिति चत्वारि, द्रव्यश-
ब्दो वस्तुवचनः, तेषामष्टद्रव्यकोऽणुरित्यागमः । सोऽयं रूपाद्य-
तिरिक्तपृथिव्याद्यनभ्युपगमे बाध्येत । अथ वैयात्यादुच्यते ।
पृथिव्यादीनामिति । ततश्च सांवृतत्वेनाष्टसङ्ख्यासिद्धेर्नागम-
विरोध इति भावः । उत्तरम् । तथाऽपीति । मा भूवन् वस्तु-
तः, उभयेऽपि सांवृता भविष्यन्तीत्यत आह । संहन्यमान-
स्येति । यो हि यत्तन्त्रः स तदभावमभ्युपगम्याशक्याभ्युपगमः,
न खलु संयुज्यमानानामभावे संयोगः शक्याभ्युपगम इत्यर्थः ।
न च संवृतिः, सा हि पररूपं स्वरूपेण संवृणोति, संहन्यमाना-
भावे च न सङ्घातो न संहन्यमाना इति किमनया स्वरूपेणा-

(१) तृणराज-इति लिखितपुस्तके पाठः ।

(२) णुशब्दः-इति लिखितपुस्तके पाठः ।

त्रियेतेति भावः । तदेवं तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावादित्यस्य
 व्याघातदोषं दर्शयित्वा स्वसामर्थ्यालोचनेन न त्रिवक्षितलिङ्गा-
 मिधायिता किं त्वसम्बद्धार्थता हेतुवचनस्येत्याह । तदग्रहे
 इति । (७५ । ९) एवं किलात्राभिमतम् । पृथिव्यादयो रू-
 पादिभ्योऽभिन्ना रूपाद्यग्रहे पृथिव्यादिबुद्ध्यभावादिति । त-
 देतन्न तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावादित्यनेन शक्यं वक्तुं, तदग्रह इत्य-
 न्न तच्छब्दः प्रधानपरामर्शा पृथिव्यादयश्च धर्मितया प्रधानमि-
 ति त एव परामर्ष्टव्याः, तथा च पृथिव्याद्यग्रहे पृथिव्यादिबु-
 द्ध्यभावादिति स्यात् । तथा च प्रतिज्ञातस्तेषां रूपाद्यभेदो न
 सिध्येदित्यसम्बद्धम्, अथ रूपादयः पक्षीक्रियन्ते, तथापि रू-
 पाद्यग्रहे रूपादिबुद्ध्यभावादिति स्यात्, तथाऽपि न प्रतिज्ञातार्थ-
 सिद्धिस्त्यसम्बद्धार्थमित्यर्थः । एवं शब्दान्तरेणापि प्रतिज्ञाप्रयोगे
 तुल्यः प्रसङ्ग इत्याह । एवं रूपादिमात्रमिति । (७८ । १२) प्रति-
 ज्ञादोषमाह । सर्वत्र चेति । नानात्वैकार्थसम्बन्धनियताया
 बहुत्वसङ्ख्याया अभेदैकार्थनियतैकत्वसङ्ख्याया सामानाधिकर-
 ण्यविरोध इत्यर्थः । तदेतदनैकान्तिकमिति चोदयति । नन्वि-
 ति । निराकरोति । तन्नानभ्युपगमादिति । समानं ध-
 र्मसाधनं (७५ । २३) यमाः पञ्च नियमाः पञ्च ब्रह्मचा-
 रिगृहस्थवानप्रस्थयतीनामविशेषेणैव दश धर्मसाधनं, तेषां धर्म-
 साधनत्वमेकं चातुराश्रम्यमिति प्रकृतिगता विभक्तिराह । आ-
 श्रमप्रकृतिगता तु विभक्तिः प्रकृत्यर्थसमवेतामेव बहुत्वसङ्ख्यामाह ।
 समानार्थानामपि प्रकृतीनां रूपभेदेन तत्परस्य प्रत्ययस्य साम-
 र्थ्यभेदात् । यथाऽप्तोयशब्दयोस्तुल्यार्थत्वेऽपि तोयशब्दात्परा
 विभक्तिस्तोयानीति तोयसमवेतामेव बहुत्वसङ्ख्यामाह । आप
 इति तु न तोयगताम्, अपि तु तत्सम्बद्धगतां, तत्सम्बद्धाश्च

तदवयवास्तद्वता रूपादयो वा बहव इत्येकस्यामपि पाथः कणि-
 कायां बहुवचनोपपत्तिराप इति । न च सौरस्ताडं क्रन्दतोऽपि
 लोकस्यानिवृत्तेर्नैवमिति साम्प्रतम् । लोको हि दृष्टव्यवहारमात्र-
 प्रयोजनो न विवेचयति, परीक्षकास्तु तदनुसारिणो विवेचय-
 न्त्येव । अन्यथा हि प्रत्यक्षादिलक्षणप्रणयनवैयर्थ्यप्रसङ्गः । एतेन
 दाराः षण्णगरीत्यादयो व्याख्याताः । षाड्गुण्यमपि षण्णां
 गुणानामेकं राजप्रयोजनसाधकत्वं, वैशेषिकमित्यत्रापि विशेषा-
 णां समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वमेकमुच्यत इति गमयित-
 व्यम् । हेतुदोषमाह । असिद्धोऽपीति । (७५ । २५) स्फ-
 टिकस्य धवलं रूपं, तच्च नीलद्रव्यानुषङ्गादभिभूतं न प्रतीयते,
 स्फटिकश्च प्रतीयते, न च नीलस्य स्फटिकक्षणस्योत्पत्तिरिति
 तृतीये निवेदयिष्यते, तस्मादसिद्धो हेतुरित्यर्थः । दृष्टान्तश्च
 साध्यविकल इत्याह । योऽप्ययमिति । (७६ । ३ ।)
 उत्पन्नपाकजानां तैले सर्पिषि वा पिष्टमांसपिण्डावय-
 वानां द्रव्यान्तरेण तोयेन संयुक्तानां पाकजोत्पत्तौ
 सत्याम् । न चासौ सहसेत्युक्तं कालविशेषानुग्रहे स-
 तीति । स च संयोगभेद एव तोयमांसयोर्न त्ववयवी,
 विजातीययोरनारम्भकत्वात् । नापि यूषजातीयं तोयसंयो-
 गि द्रव्यं क्षीरजातीयमिवेति युक्तम् । तोयविरहे काठिन्ये-
 ऽपि क्षीरबुद्धिव्यपदेशोस्तादवस्थात्, इह तु काठिन्ये न यू-
 षबुद्धिव्यपदेशाविति सम्बन्धभेद एव तोयमांसयोर्यूष इति न्या-
 यम् । स चानुभवसिद्धः संयोगिव्यतिरिक्तः । एवं बहुत्व-
 सङ्ख्यापि सङ्ख्येयातिरिक्ताऽनुभवसिद्धैवेति । एवं तत्र तत्र
 व्याख्येयम् । अनाद्यन्तेष्वनारब्धावयविविविति द्रष्टव्यम् ।
 न च परकीयसाधनदोषोद्भावनमात्रात्स्वपक्षसिद्धिरिति सिद्धा-

नितनं साधनं पृच्छति । अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरे द्रव्ये किं प्रमाणमिति । यतोयं परो रूपादिभ्योऽर्थान्तरं द्रव्यं प्रत्यक्षेण विद्वानपि स्वसिद्धान्ताभ्यासाहितव्यामोहापस्मारो न तथा व्यवहरति, अतोऽनेनानुमानेन स व्यवहार्यते । अस्ति हि सर्वेषामेव लौकिकपरीक्षकाणां ब्राह्मणस्य कमण्डलुरितिवच्चन्दनस्य रूपादय इति व्यपदेशः । तत्र च परो रूपाद्युपलम्भमभ्युपगच्छति, चन्दनोपलम्भमपि, अन्यथा तद्बुद्ध्यभावादित्येतावन्मात्रे वक्तव्ये कथमाह तदग्रह इति, तेनाधिगच्छामो रूपादिग्रहेऽस्य चन्दनबुद्धिरभिमतोति, न चासौ मनोमात्रयोनिः स्मार्त्तीति न्याय्यम्, उपपादितमेतस्याः सविकल्पिकाया इन्द्रियजन्यत्वं व्यवसायात्मकपदव्याख्यानावसरे । द्रव्यबाधकप्रमाणानि च परीक्षापर्वणि निराकरिष्यन्ते । तस्मात्सिद्धमुपलभ्यत्वं चन्दनस्य(१) सोऽयं चन्दनो विवादगोचरेभ्यो रूपादिभ्यो भिन्नः स्वयमुपलभ्यस्य समस्तैरुपलभ्यै(२)र्व्यपदिश्यमानत्वात् । प्रधानमपि सांख्यैर्व्यपदिश्यते प्रधानस्य रूपादय इति, तन्निवृत्त्यर्थमुपलभ्यस्येति । प्रधानं तु काल्पनिकं नोपलभ्यते, तथाऽपि रूपादीनां मूलकारणं प्रधानमिष्यति साङ्ख्यानां व्यपदेशोऽत उक्तमुपलभ्यैरिति । तथाऽपि रूपादीनां परस्परभिन्नानामन्योन्यं व्यपदेश्यव्यपदेशकभाव उपपत्स्यत इत्युक्तं समस्तैरिति । अतः समस्तेभ्यो व्यपदेशकेभ्यश्चन्दनं भिन्नं भवति । उपलभ्यस्योपलभ्येनेति वक्तव्ये प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षेणेति वचनं रूपावगमसमयेऽनुमेयेभ्यो रसादिभ्य(३) एका-

(१) चन्दनस्य व्यपदेश्यस्य-पाठः ।

(२) मुपलभ्यस्य च-पाठः ।

(३) रूपादिभ्य इति १ । २ पु० पा० ।

न्ततो व्यपदेशं व्यावर्त्तयितुं न त्वस्यानुमान उपयोग इति ।
 अस्यानैकान्तिकत्वमुद्भाव्य निराकरोति । सेनावनादिभि-
 रिति । सङ्ख्याया असत्त्वमाशङ्क्य निराकरोति । तदसत्त्व-
 मिति चेदिति । विधीयमानं प्रतिषिध्यमानमिति (७७ ।
 १) यथासङ्ख्यम् । निषेधस्य विध्यधीननिरूपणतया निषेध्य-
 मेकत्वमङ्गीकार्यं तच्च सङ्ख्येत्यर्थः । ननु सन्त्वमी प्रत्ययास्ते
 तु द्रव्यमात्रनिबन्धना भविष्यन्ति, कृतं सङ्ख्ययेत्यत आह । वि-
 शिष्टाश्चेति । न द्रव्यातिरिक्तनिमित्तप्रत्ययाख्यानेनेत्यर्थः ।
 प्रयोगान्तरमाह । तत्प्रत्ययाविषयनिमित्तप्रत्ययव्यतिरेके-
 णेति । घटप्रत्ययस्य विषयः निमित्तं च घटः तत्प्रत्ययव्यतिरे-
 केणेति । नद्विशिष्टसङ्ख्यादिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराकाङ्क्षि-
 त्वात् तत्किमर्थमत उक्तमुत्पत्ताविति । चर्मणि द्वीपिनं हन्तीति-
 वत् । घटादिविषयनिमित्तव्यतिरेकभाज इत्यत्रापि प्रत्यय-
 ग्रहणं कर्तव्यम् । चोदयति । महत्पुष्पिणेति । न सङ्ख्यायागुणस्य
 परिमाणपुष्पयोगमभव इत्यर्थः । परिहरति । नैष दोष इति ।
 स्थानशब्देन तिष्ठतीति व्युत्पत्त्या सङ्ख्योच्यते, सा येषामस्ति
 ते गजवाजिपदातिप्रभृतयः स्थानिनः । प्रत्येकं महान्तः, तत्र ते
 कचिच्छतमेव कचित्पुनस्तज्जानीयस्थान्यङ्गान्तरसन्निधाने सत्यु-
 पचिताः सहस्रं भवन्ति । तेन बहुत्वसङ्ख्योपचयोपकरणात्तदे-
 कार्थसमवेतमहत्त्वोपचारान्महती सेनेत्युच्यते । न चैतावता यत्र
 शतं गजादयो यत्र च सहस्रं तयोः सेनयोर्महत्त्वाविशेषः, उप-
 चयापचयोपकरणत्वेन विशेषितत्वात् । एवं पुष्पितवनादयो
 द्रष्टव्याः । प्रत्ययभेदाद्द्रव्यादिभ्यः सङ्ख्याया भेदमुक्त्वा व्य-
 पदेशभेदादप्याह । अत एवेति । स्थाणुशब्देनापीति ।
 (७८ । ७) मूर्त्तानां समानदेशत्वाभावान्न पर्वसु खादिरश्च

स्थाणुश्च समवेतौ । न चावस्थितसंयोगेभ्यस्तरुविनाशापेक्षेभ्यः
 स्थाणोरुत्पत्तिरिति युक्तम् । यस्य द्रव्यस्य यावत्संयोगप्रचयो-
 ऽसमवायिकारणं स तावानुत्पन्नमात्र एव तज्जनकः, तस्य च
 क्षेपायोगात्, तस्मात्पूर्वणां संस्थानविशेष एव स्थाणुरिति गमयि-
 तव्यम् । अथावस्थितसंयोगानां द्रव्यनाशापेक्षाणां जनकत्वं,
 ततः संयोगप्रचयपदेन स्थाणुत्वसामान्यविशेषवद् द्रव्यमुपल-
 क्षणीयम् । तच्च खादिरतरोर्भिन्नमिति । प्रतिमाया महारजतम-
 द्या अवयविन्याः शरीरं संस्थानमेव । एवं शिलापुत्रकस्याव-
 यविनः संस्थानमेव शरीरम् । शङ्कते । गुणसमुदायेति । अ-
 तादात्म्येनाग्रहणं व्यतिरेकेणाग्रहणं, पृथक्शब्दोऽप्यतादात्म्यं
 ब्रूते । दूषयति । अग्रहणस्येति । सतामपि वस्तुनामनुपलम्भो
 यथा मूलकीलकादीनां (१) प्रमाणाभावेन, शशविषाणादीनां चा-
 नुपलम्भो ग्राह्याभावेन, तस्माद्व्यतिरेकाग्रहणमात्रं हेतुरनैकान्त-
 इति । शङ्कते । ग्राह्याभावादिति चेत् । ग्राह्याभावे सत्य-
 ग्रहणमिति हेतुः, न त्वग्रहणमात्रमित्यर्थः । दूषयति । प्रति-
 ज्ञार्थेनेति । प्रतिज्ञार्थस्यासिद्धत्वेन तद्विशिष्टो हेतुरसिद्ध इत्य-
 र्थः । शङ्कते । ग्रहणेति । ग्रहणं प्रमाणम् । निराकरोति ।
 न प्रमाणाभावमात्राद्व्यतिरेकप्रतिषेधः । यस्तु योग्यप्रमा-
 णाभावादिति विशेषहेतुः, तं प्रत्याह । यश्च तदग्रह इति ।
 असिद्धता हेतुदोषः । दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थप्रतिसन्धानमेव
 रूपादिव्यतिरिक्तग्रहणमतो गुणसमुदायव्यतिरेकेणाग्रहणमित्य-
 सिद्धो हेतुरिति । एकत्रान्यत्वे प्रमाणानामुपपत्तेः, एकत्रा-
 नन्यत्वे प्रमाणानामनुपपत्तेरिति । प्रकृतमुपसंहरति । तस्मा-
 दिति ॥ १४ ॥

(१) मूलककीलकोदकादीनामिति लिखितपुस्तके पाठः ।

आत्मादीनां बुद्धिहेतूनां लक्षणानन्तरं हेतुमती बुद्धि-
लक्षणीयेत्याह वार्त्तिककारः, अथ बुद्धेरवसरप्राप्ताया
इति । लक्षणं तावत्प्रकृतत्वादपदेष्टव्यमेव, तदपदेशद्वारेणान्य-
दपि किञ्चित्सूचनीयम्, अत एवोक्तं, सूत्रमिति । अन्यच्च
साङ्ख्यमतनिराकरणम् । यथोक्तं भाष्यकारेण, अचेतनस्य
करणस्य बुद्धेरिति । इवकारेण नेदं प्रत्याख्यानपरम्, अपि
तु लक्षणपरादयमर्थः प्रतीयमानोऽपेक्षितश्च नोपेक्षणीय इत्युक्तं
भवति ।

बुद्धि-रम् (सू. १५) ॥ सूत्रतात्पर्यमाह । एतैरिति ।
पृच्छति । कथमिति । समानासमानजातीयव्यवच्छेदकं हि
लक्षणमव्यभिचारितया, पर्यायशब्दाश्च सङ्केतमात्राधीनप्रवृ-
त्तयः क नाम न सम्भवन्ति, तस्मान्नैते लक्षणमिति भावः ।
उत्तरम्, व्यवच्छेदेति । (७९ । १) ननु व्यभिचारसम्भवेन
व्यवच्छेदकमयुक्तमत आह । एतैश्चेति । सङ्केतो हि द्वेधा, सार्व-
जनीनो यथा गौरिति गोजातीयस्य वाचकः । प्रादेशिकश्च यथा
चैत्र इति पुरुषभेदस्य । तत्र सार्वजनीनः शक्नोति व्यवच्छेद-
बुद्धिं भावयितुं, तद्विवक्षयैवोक्तमेतैश्चेति । उपपत्तिसाम-
र्थ्यादिति भाष्यावयवं व्याचष्टे । पर्यायेति । अचेतनस्ये-
त्यादि भाष्यम्, तद्व्याचष्टे । य आहुर्बुद्धेरिति । बुद्धिः किल
त्रैगुण्यविकारः, त्रैगुण्यं चाचेतनमित्यचेतनं केवलमिन्द्रियप्र-
णालिकयाऽर्थाकारेण परिणमते, चितिशक्तिश्चापरिणामिनी नि-
त्यचैतन्यस्वभावा, तस्याः सन्निधानादयस्कान्तमणिकल्पा बुद्धि-
स्तत्प्रतिबिम्बोद्भाहितया चैतन्यरूपतामापन्नेवार्थाकारपरिणताऽर्थ-
चेतयते, तेन योऽसौ नीलाकारः परिणामो बुद्धेः, स ज्ञानल-
क्षणा वृत्तिरित्युच्यते । आत्मप्रतिबिम्बस्य तु बुद्धिसङ्क्रान्तस्य

यो बुद्ध्याकारनीलसम्बन्धः स आत्मनो व्यापार इवोपलब्धि-
 रात्मनो वृत्तिरित्यारुपायते, तदिदं बुद्धितत्त्वं जडप्रकृतितया
 इन्दुमण्डलमिव स्वयमप्रकाशं चैतन्यमार्त्तण्डमण्डलच्छायापत्त्या
 प्रकाशते प्रकाशयति चार्थानिति, तन्निराकरणाय पदार्थायोप-
 न्यासः, नात्मवृत्तेरुपलब्धेरन्याऽस्ति बुद्धिः, नापि बुद्धिवृत्ति-
 र्ज्ञानमन्यदिति । अयमभिसन्धिः, न तावद्बुद्धेरात्मच्छायाप-
 त्तिरिन्दाविव मार्त्तण्डमण्डलतेजःसङ्क्रान्तिः पारमार्थिकी, चि-
 तेरपरिणामितया सङ्क्रमायोगात् । तस्माद् भ्रान्तिः, सा च न
 तावद्बुद्धेः, तस्या अचैतन्यात् । नाप्यात्मनः, तस्यावृत्तिकत्वात्,
 तथात्वे वा परिणामापत्तेः । तस्मात्कृपणधनमिवात्मचैतन्यं न
 स्वपरोपकारीति बुद्धेः स्वाभाविकं चैतन्यमास्थेयं, तथा चोभय-
 चैतन्ये दूषणमुक्तम्, प्रत्ययव्यवस्थया यदेककर्तृकत्वानुमानं
 तन्न स्यादित्यर्थः । अथ द्वयोश्चेतनयोरेका वृत्तिवृत्ति-
 भेदाग्रहो वा, तेनैककर्तृकत्वाभिमान इत्यत आह । बुद्धिवृत्त्य-
 विशिष्टायामिति । बुद्धिर्ज्ञानसाधनमिति । बुद्ध्यतेऽनेनेति
 व्युत्पत्त्या मन उच्यते । गन्धादिविषयतया सुखदुःखविषयतया
 चेयं बुद्धिर्भाव्यमाना निर्वेदाय कल्पत इति ॥ १५ ॥

भाष्यकारः क्रमप्राप्तं मनोलक्षणसूत्रमवतारयन्नुत्सूत्रमन्या-
 न्यपि लक्षणान्याह । स्मृतीत्यादि । सुखादिप्रत्यक्षमित्यादि-
 शब्देन विषयतयेच्छादयः सङ्गृहीताः । इच्छादय इत्यादि-
 शब्देन कार्यतया सुखादयः सङ्गृहीताः ।

युग-ङ्गम् (सू० १६) ॥ अनिन्द्रियनिमित्ताः
 अवाग्नेन्द्रियनिमित्ता इत्यर्थः । स्मृतीत्यादिभाष्यस्य
 वार्तिककारस्तात्पर्यमाह । स्मृतीति । अनिन्द्रियेत्यादि
 भाष्यं व्याचष्टे । यस्मादिति । इन्द्रियगतरूपादिव्यावृत्त्यर्थः

मुक्तमिन्द्रियसंयोगीति । तथाऽप्याकाशादीनां मनस्त्वं
 मा भूदत उक्तं सहकारीति । तथाऽप्यालोकस्य माभूदत
 उक्तं निमित्तान्तरमिति । तथाऽप्यात्मनो माभूदत
 उक्तमव्यापीति । (८० । १) आक्षिप्य भाष्यं समा-
 धत्ते । कथं पुनरिति । (८० । ३) चक्षुरादिभ्योऽनुत्पत्तौ
 सत्यां क्रियात्वात् । अत्र च य आत्मनो विशेषगुणास्ते सर्वे
 इन्द्रियजन्मानो यथा गन्धादिप्रत्ययाः, तथा च विवादाध्या-
 सिताः स्मृत्यादयः, तस्मात्तेपीन्द्रियजन्मानः । एवं च संस्कारा-
 दिषु न करणत्वप्रसङ्ग इति । सौत्रं हेतुमाक्षिप्य समाधत्ते ।
 अथायुगपदिति । सम्बन्धभेदादिति । (८१ । ९) यदा-
 तस्यैव मनःसंयुक्तस्येन्द्रियस्य क्रमेण नीलादयोऽर्थाः सम्ब-
 द्यन्ते तदा तत्क्रमात् क्रम इत्यर्थः । बुभुत्साक्रमं गृहीत्वा सि-
 द्धान्तेऽपि मनःपरित्यागो मा भूदत उक्तं सत्यां बुभुत्साया-
 मयुगपद्ग्रहण इति । न हि किञ्चित्करणं सम्बद्धमपि
 सति । यद्येवं स्याद् धारावाहिकज्ञानोत्पत्तिर्न स्यात्, द्विती-
 यादिज्ञानेष्वपि सैव सामग्रीति सकृदेव यावत्कर्तव्यकरणा-
 त्समर्थस्य क्षेपायोगात्, क्षेपयोगे वा पश्चादपि न जनयेत्
 अविशेषात् । न च कर्तुरप्ययं क्रमकारिताधर्मः, स ह्यनेकक-
 रणाधिष्ठानेन युगपन्नानांकार्य्याणि करोति, युगपन्माणवको
 गच्छति पठति वहति चाचार्य्यस्य कमण्डलुमिति, तस्मात्सर्वम-
 वदातम् । तदिदमपि मनः स्मृत्यादिसाधनतया भाव्यमानं नि-
 र्वेदाय कल्पत इति सिद्धम् ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्ता त्विति भाष्यं । प्रवृत्तिलक्षणमवतारयितुम् ।
 मनसोऽपि प्रवृत्तिर्दर्शनीया, न चाप्रतिपादिते मनसि शक्या द-
 र्शयितुमिति मनसोऽनन्तरत्वं प्रवृत्तेरित्यर्थः ।

प्रवृ-म्भः (सू १७) । आरम्भः प्रवृत्तिः, सा द्विविधा ज्ञानहेतुः क्रियाहेतुश्च । तत्र या ज्ञानोत्पादद्वारेण पुण्यपापहेतुः सा वाक्प्रवृत्तिः । वागिति च ज्ञापकहेतूपलक्षणम्, तेन मनसा इष्टदेवताद्यनुचिन्तनं चक्षुरादिभिः साध्वसाधुदर्शनादि सूचितं भवति । क्रियाहेतुर्द्वयी, कायनिमित्ता मनोनिमित्ता चेति । तदेतद्वार्त्तिककारो विभजते । शरीरेणेति । (८२ । १) ननु प्रवृत्तेर्जन्महेतुत्वमुक्तं द्वितीयसूत्रे, न चेयं क्षणिका सती आमुष्मिकं जन्म साधयितुमर्हति, तस्माद् द्वितीयसूत्रव्याघात इति चोदयति । क्षणिकत्वादिति । परिहरति । नेति ॥ १७ ॥

प्रयोज्यव्यापारपूर्वकत्वेन प्रयोजकव्यापारनिरूपणात् प्रवृत्त्यनन्तरं दोषलक्षणम् ।

प्रव-षाः (सू १८) ॥ रागद्वेषौ हि मोहप्रभवौ पुरुषं प्रवर्त्तमानं प्रवर्त्तयतः, तयोर्धर्मः प्रवर्त्तना, सा च मोहैकार्थसमवायः, तावद्ध्वयं रागादिवशः स्पन्दते यावदस्य मोहो वर्तते इति । प्रत्यात्मवेदनीया इति चोद्यभाष्यम्, तस्यार्थः, लक्षणं खल्वनुमानं, न च प्रत्यात्मवेदनीयेषु स्फुटतरेषु तद्युक्तमिति भावः । परिहारभाष्यम्, कर्मलक्षणा इति । तस्यार्थः, स्वरूपतः स्फुटत्वेऽपि न निर्वेदाविषयतया स्फुटता, तया चेह प्रयोजनं, प्रवर्त्तनात्वेन चैते निर्वेदाविषयाः, सा च प्रवृत्त्या कार्थ्येण लक्ष्यत इति कर्मलक्षणा इत्युक्तम् । यतः कर्मणा प्रवृत्त्या प्रवर्त्तकरागादियुक्ताः पुरुषा लक्ष्यन्तेऽतो रागादीनां प्रवर्त्तनावश्वमपि लक्षितं भवति । बहु नोक्तं भवतीति । स्वरूपमात्रं रागादीनामुक्तं भवति, न तु प्रवर्त्तनावश्वमपि तेषामित्यर्थः । तदेतत्सर्वं वार्त्तिककारः प्रश्नपूर्वकं व्याचष्टे ।

का पुनरिति । अवशोऽस्वतन्त्रः । सा पुनरियं प्रवर्त-
ना प्रवर्तकानां दोषाणां व्यापारः कथं गम्यते, दोषा हि
गम्यन्ते, न तु तेषां प्रवृत्तिहेतुत्वमपीत्यर्थः । उत्तरम् , प्रत्या-
त्मामिति । स्वपरात्मनोर्यथासङ्ख्यं प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । मोहैका-
र्थसमवायो हि रागादीनां मानसप्रत्यक्षवेदनीय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

उद्देशक्रमप्राप्तं प्रेत्यभावं लक्षयति ।

पुन-चः (सू १९) ॥ सत्त्वनिकायः प्राणिनिका-
यः । नन्वात्मनो नोत्पत्तिः सम्भवति, नित्यत्वादित्यत आह
भाष्यकारः, उत्पन्नस्येति सम्बद्धस्य । तदेतद्वार्तिककारो
व्याचष्टे । पूर्व्वेति । पुनर्ग्रहणमिति । पुनरित्यभ्यासमाह,
तथा चानादिता सूचिता भवति । तदेतद्वार्तिकजातं द्वितीय-
सूत्रे कृतव्याख्यानम् । पूर्वाभ्यस्तसूत्रे चायमर्थ उपपादयिष्य-
ते । आजरञ्जरीभाव(१)(८३ । ९) इत्यागमभाषयाऽस्या-
र्थस्यागमिकत्वं सूचयति । क्रियामिति । उपसर्पणमपसर्पणं
चेत्यर्थः ॥ १९ ॥

यद्यपि शरीरेन्द्रियबुद्धिसुखदुःखभोगातिरिक्तं गौणमुख्य-
भिन्नं फलं नास्ति, ते च यथायोगं पूर्वं लक्षितास्तेन च रूपे-
ण निर्वेदोपयोगिनस्तथाऽपि प्रवृत्तिदोषजनितत्वेनापि रूपेणा-
मी निर्वेदोपयोगिन इति तेन रूपेण लक्ष्यन्ते ।

प्रवृ-लम् (सू २०) ॥ अत्र च प्रवृत्तिजनित इति व-
क्तव्ये दोषग्रहणं न केवलं प्रवृत्तिं प्रति दोषाणां हेतुभावोऽपि
तु प्रवृत्तिकार्ये सुखदुःखे अपि प्रतीति दर्शनार्थम् । दोषसलिलाव-
सिक्तायां खलु आत्मभूमौ धर्माधर्मबीजे सुखदुःखे जनयतः,

नान्यथा । न चास्ति सम्भवो न तत्र हृष्यति तच्च तस्य सुखं, न च तद् द्वेष्टि तच्च तस्य दुःखमिति सूत्रेऽर्थग्रहणं गौणमुख्यफला-
वरोधार्थम् । भाष्ये च निष्ठा समाप्तिः, सा च प्रलयेऽप्यस्ती-
त्यत उक्तम्, पर्यवसानमिति । अवसानमात्रमास्ति न पुनः
परितः, पुनरपि सर्गहानोपादानयोर्भावादित्यर्थः । सुबोधं
वार्तिकम् ॥ २१ ॥

बाध-स्वम् (सू. २१) ॥ अत्र च बाधनेति बाधनावि-
षयां बुद्धिं लक्षयति, तेन बाधना च तदनुषङ्गिणश्च शरीरा-
दयो गौणमुख्यभावेन लक्षिता भवन्ति । सैव हि बाधनावुद्धि-
र्दुःखे मुख्या शरीरादौ गौणीति । अलमेभिरिति प्रत्ययो
निर्वेदः । वशितया योगिनः स्वयमुपनतेषु विषयेषु औदासीन्य-
मुपेक्षाबुद्धिर्वैराग्यम् । लक्षणशब्द इति वार्तिकम् । अनु-
षङ्गश्च सम्बन्धः, स च बाधनायां विषयविषयिभावः । शरी-
रादिषूक्तः । केचिद्विरक्तमन्या मन्यन्ते न दुःखं नामास्ति स्वरू-
पत इति, तान्निराचिकीर्षुराह । स्वरूपतस्तु दुःखमिति ।
(८४ । २) विकल्पो विशेषः । अभावफलत्वप्रसङ्गादि-
ति । यद्यप्युपात्तदुरितक्षयहेतवोऽपि धर्माः सन्ति, तथाऽप्य-
धिकोत्कर्षशालित्वादिलक्षणां दर्शपौर्णमासादीनां सहस्रमं-
वत्सरपर्यन्तानां विधायकेभ्यो वचनेभ्यो भावफल एव धर्मो
गम्यते, भावस्यैवोत्कर्षशालित्वादिति ॥ २१ ॥

क्रमप्राप्तमपवर्गलक्षणमवतारयति भाष्यकारः, यत्र त्विति ।

तद-र्गः (सू. २२) ॥ तदित्यनन्तरं गौणमुख्यभेद-
भिन्नं दुःखं परामृशतीत्याह भाष्यकारः, तेन दुःखेनेति । मुख्य-
मेव दुःखमिति श्रमो माभूदत आह । जन्मनेति । अनेन जाय-
माना दुःखशब्देन सर्वे शरीरादय उच्यन्ते इत्युक्तं भवति ।

अभयमिति पुनः संसारभयाभावमाह । अभयं च ब्रह्मेति असकृदभयश्रुतेः । ये तु ब्रह्मैव नामरूपप्रपञ्चात्मना परिणमत इत्याहुस्तान् प्रत्याह । अजरमिति । सर्वात्मना परिणाम एक-
देशेन वा, पूर्वस्मिन् कल्पे सर्वात्मना ब्रह्मणोऽन्यथात्वाद्विना-
शप्रसङ्गः । एकदेशपरिणामे तु सावयत्वेन घटादिवदानित्य-
त्वप्रसङ्ग इति सूक्तमजरमिति । वैनाशिकाः प्राहुः प्रदीपस्येव
निर्वाणं मोक्षः तस्य चेतस इति, तान् प्रत्याह, अमृत्युपद-
मिति । एतदुपपादयिष्यते वार्त्तिककारः । तदेतद्भाष्यं वार्त्ति-
ककारो व्याचष्टे । तेनेति । आत्यन्तिकग्रहणं महाप्रलया-
वस्थानिवृत्त्यर्थम् । अत्र भाष्यम्, नित्यं सुखमात्मन इत्या-
दि । तस्यार्थः, विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यश्रुतेः
ब्रह्मस्वभावं सुखं, तथा च ब्रह्मणो नित्यत्वात् तदपि निस्स-
मित्यर्थः । आत्मन इति षष्ठी राहोः शिर इतिवन्मन्तव्या ।
तदेतद्भाष्यं व्याचष्टे । आत्यन्तिकीति । तेषामित्यादि भा-
ष्यं व्याचष्टे । तन्नेति । अत्रानुमानमुपन्यस्यातिप्रसङ्गेन निरा-
करोति । नेति । अथात्मनि दुःखमेकं नित्यं नेच्छति, तत्राह,
अनैकान्तिकता वा । (८५ । २) नित्यस्याभिव्यक्ति-
रित्यादिभाष्यं व्याचष्टे । नित्यामिति । अयमभिसन्धिः, सुखं
तावदात्मनो गुणो नात्मा, उपपादितो हि गुणगुणिनोर्भेदः,
एवं विज्ञानमप्यात्मगुणः, न ह्युदयव्ययवतीभ्यो ज्ञानव्यक्तिभ्यो-
ऽनुदयव्ययधर्मा भवितुमर्हत्यभिन्न आत्मा । न चात्मैव ज्ञानस्वभावः
तत्तद्विषयोपधानेनोदयव्ययधर्मेव भविष्यतीति साम्प्रतम्, घटपहं
जानामीति मानस्यां बुद्धौ त्रयाणामपि ज्ञानज्ञेयज्ञातृणां भेदेनानु-
व्यवसायात् । विषयतज्ज्ञानभेदेऽपि चज्ञातुरेकत्वेन प्रतिसन्धीय-
मानत्वात्, न चैतदसति बाधके भेदज्ञानं भ्रान्तमिति युक्तम्,

न चागन्तुकज्ञानातिरिक्तं स्वाभाविकमात्मानि चैतन्यमनुभूयते,
 न चात्मैव तत्स्वभावः, सुषुप्तत्वानुपपत्तेः, अचेतयन्नेव हि सु-
 पुप्त इत्युच्यते, न च तदा विषयशून्यं स्वनिष्ठमात्मचैतन्य-
 मिति युक्तं, तदवस्थाभेदस्य सुप्तोत्थितेन स्वमान्तिकस्येव स्मर-
 णप्रसङ्गात्, सुखं च न ज्ञानजातीयमित्युपपादितं प्रत्यक्षसूत्रे,
 न च किञ्चिदपि स्वयंप्रकाशमिति चतुर्थे निवेदयिष्यते, तदेवं
 व्यवस्थिते दूषणं भाष्यवार्त्तिकोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽयमात्मम-
 नःसंयोग इति । संसारावस्थायां तावदयमात्ममनःसंयोगो
 धर्मनिमित्तमपेक्षमाणः सुखज्ञानमकार्षीत्, यदि तु मुक्त्यवस्था-
 यां तदनपेक्ष एव सुखज्ञानं करोति, हन्त रूपादिज्ञानेषु इन्द्रि-
 यान्तराण्यपि नापेक्षेतेति भावः । शङ्कते । योगजेति । न वयं
 विषयमात्रापेक्षां ब्रूमो येन रूपादिष्वपि ज्ञानमुत्पादयेदपि तु
 संसारावस्थायां यत्सुखज्ञानायानेनापेक्षितं तदपेक्ष्यते, धर्मश्च त-
 दा तेनापेक्षित इति मुक्त्यवस्थायामपि धर्ममेवापेक्षते, एतावान्
 विशेषो यदयं योगज इति, तथा च न रूपादिज्ञानप्रसङ्ग इति ।
 शङ्कते । नित्योऽसाविति । निराकरोति । योगेति । ननु
 त्वन्मते यथा सुखसंवेदनं जिहासितमेवमस्मन्मतेपि सुखसंवेदनहा-
 नाय घटिष्यत इत्यत आह । न चायं सुखमिति । अस्मन्मते
 हि दुःखहानायैव तदनुषक्तं सुखं जिहासितं, नित्यं तु सुखं
 सर्वदुःखविनिर्मुक्तं सन्न दुःखहानाय जिहासितं भवतीत्यर्थः । न
 केवलमानुकूल्यात्प्रतिबन्धकत्वं नास्ति शरीरादीनां प्रत्युत
 मुक्त्यवस्थायामपि कल्पनीयतेत्याह । नित्यं शरीरादीति ।
 (८६ । ४) सिद्धान्तिनो वचनमनुभाष्य देशयति(१) । प्रमा-
 णाभावादित्युक्तं तच्च नेति । शास्त्रेण हि मोक्षसाधने

(१) चोदयतीति पुस्तकत्रये पाठः ।

लोकः प्रवर्त्तनीयः, अपवर्त्तमानश्च प्रवर्त्तनीयः, इष्टार्थो च प्रवर्त्तते तत्साधने, सुखं चेष्टमिति सुखात्मको मोक्ष इत्यर्थः । सेयं लोकप्रवृत्तिरनैकान्तिकत्वेन संशयहेतुरिति परिहरति । न प्रवृत्तिरिति । स्यादेतत्, मुख्यासम्भवेन गौणमाश्रीयते, सुखशब्दश्च सुखे मुख्यो भाक्तस्तु दुःखनिवृत्तौ, तस्मान्नित्यानन्द एव मोक्ष इत्यत आह । यदि पुनरिति । सञ्चक्षाणकः सङ्ख्यानप्रवृत्तौ योगी । धर्माधर्मौ तावदात्मनि परमार्थिकौ, न त्वविद्याकल्पितौ, तौ च बीतरागेणासक्तेन सता शक्यौ भोगेन क्षेतुम्, स हि सक्तस्तेषु तेषु विषयेषु उपात्तमुपात्तं भुञ्जानस्त्यक्तं त्यक्तं चोपाददानः संसारान्न मुच्यते, तस्मादयं रागो बन्धनमिति समाज्ञातस्तन्निबन्धना च प्रवृत्तिः परिहर्त्तव्या, अन्यथा तु नित्यसुखावधारणजनितेयं तृष्णापिशाची लब्धप्रसरा विषयसुखेष्वपि प्रत्यासन्नेषु पुरुषं प्रवर्तयन्ती मोक्षमस्य सुदूरं प्रतिक्षिपेदिति मनागपि प्रसरोऽस्या न दातव्यः, तस्मान्नित्यानन्दप्रतिपादकश्रुतिराख्यन्तिके दुःखवियोगे भाक्तीति युक्तमिति भावः । चोदयति । यद्यपीति । रागवद् द्वेषस्यापि प्रसरो न दातव्यः, तस्य च त्वया प्रसरो दत्त इति तुल्यो दोष इति । परिहरति । नाप्रतिकूलत्वात् । यथा नित्यसुखोपादानं मोक्षप्रतिकूलया सत्स्या प्रतिकूलं, नैवमात्यन्तिकदुःखहानं द्वेषानुषक्तं, द्वेषः क्रोधो मयुरित्यनर्थान्तरम्, ज्वलनात्मको हि स भवति, नैवं वैराग्यफलप्रत्ययो हि स इत्यप्रतिकूलं दुःखहानमित्यर्थः । तदनेन नित्यं सुखमात्मनो व्यज्यते मोक्ष इत्यादि तस्मिन् प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवतीत्येवमनां भाष्यजातं व्याख्यातं बोद्धव्यम् । यद्येवमित्यादेर्भाष्यस्यायमर्थः, एवं वैराग्येण मोक्षमाणस्य प्रवृत्तौ सत्पां प्रमुक्तस्य य-

दि नित्यं सुखं भवति, कामं भवतु मा भूदुभयोरपि पक्षयोर्वी-
तरागप्रवृत्तौ न मोक्षाधिगमो विकल्पते न सन्दिग्धो भवतीत्य-
र्थः । वैनाशिकानां मोक्षमुपन्यस्यति । चित्तं मुच्यत इति ।
(८७ । ३) संसारी हि मुच्यते, रागादयस्तद्धेतवः, न चात्म-
नि नित्ये रागादयः संसारं कर्तुमुत्सहन्ते, नित्यस्याविकार्य-
त्वेन तादवस्थयादुपनेयाऽपनेयाभावात् । यथाऽऽहुः,

“वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।

चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः स्रतुल्यश्चेदसत्फलः ।”

चित्तं तु कार्यं रागादिवशात्संसारी, तद्वियोगाच्च मुच्यते
इति युक्तमित्यर्थः । देवमनुष्यादिजातिर्गतिस्तत्रोत्पत्तिः । तदे-
तद्दूषयति । नायन्नत इति । क्षणिकत्वाच्चित्तस्य जन्म कि-
नाशप्रयोजनमेव, जन्मानन्तरमेव किनाश इति क्षणस्याभेद्यत्वे-
नोपनेयापनेयाभावात् स्वरसभङ्गित्वाच्च वैयर्थ्यमित्यर्थः । शङ्क-
ते । सन्ततेरिति । अनादिः खलु कार्यकारणप्रवाहरूपा बु-
द्धीनां सन्ततिः, स चात्मसाक्षात्कारोन्मूलितसंवासनक्लेशजाल-
स्य निवर्तते, निवृत्तिश्चेयमेव तस्या यत्तत्सन्तानवर्त्तिनश्चेत-
सोऽनागतस्यानुत्पाद इति भावः । निराकरोति । न तस्या-
शक्यत्वात् । उत्पन्नस्यानुत्पादो न शक्यः, नापि सन्ताननि-
वृत्तिः शक्या कर्तुमन्त्यक्षणानुपपत्तेः । स हन्त्यक्षणः किञ्चि-
दारभते न वा, आरम्भे नान्त्य इति न कार्यकारणप्रवाहनिवृ-
त्तिः, प्रवाहश्च सन्तान इति न सन्ताननिवृत्तिः । अनारम्भे
तस्यासामर्थ्येनासत्त्वात्ततः पूर्वं सर्व एव क्षणा असन्तः स्युरि-
ति कस्योच्छेद इति भावः । शङ्कते । अनागतानुत्पाद इति ।
तथा सत्यनागतानुत्पादलक्षणार्थक्रियाकारित्वादन्त्यक्षणोपप-
त्तिरिति भावः । निराकरोति । अनागतेति । प्रागभावस्या-

नादित्वादिति भावः । पृच्छति । तर्हि कस्येति । नित्यस्यानुप-
कार्यत्वादुपनयापनेयाभाव इति भावः । उत्तरम् । य इति ।
यथा चाक्षणिकस्यैवोपकार्यत्वं तथा सणभङ्गभङ्ग उपपादयिष्यत्वं
इति सिद्धम् ॥ २२ ॥

॥ इति प्रमेयलक्षणप्रकरणम् ॥

संशयलक्षणावतारपरं भाष्यम्, स्थानवत् एतर्हीति ।
तस्यार्थः, स्थानं क्रमः, तद्वतः एतर्हि इदानीमिति । कचित्पा-
ठः स्थानवत् एव तर्हीति, तर्हि तदानीमुद्देशसमये क्रमवतः
संशयस्य प्रमेयानन्तरमुद्दिष्टस्य प्रमेयलक्षणानन्तरं स्थानं क्रमो
लक्षणस्येति । तदेतद्वार्त्तिककारो व्याचष्टे । प्रमेयेति । एत-
देव स्फुटयति । येति । स्थानं क्रमग्रहणेन व्याख्यातं, मत्वर्थश्च
प्राप्तिग्रहणेन ।

समा-यः (सू. २३) ॥ अत्र च विमर्षः संशय इति संश-
यसामान्यलक्षणम् । तत्र च संशय इति लक्ष्यनिर्देशो विमर्ष
इति लक्षणपदम् । एकस्मिन् धर्मिणि विरोधिनानार्थविमर्षो वि-
मर्षः किंस्वित्ति ज्ञानम् । तदनेनासमानजातीयेभ्यः प्रमाणा-
दिभ्यः समानजातीयेभ्यश्च विपर्ययादिभ्यः संशयो निवर्त्तितो
भवति । समानेसादीनि तु त्रीणि विशेषलक्षणानि । तेषु वि-
मर्षः संशय इत्यनुवर्त्तनीयम् । अत्र विशिष्टोऽवमर्षः, वि-
शिष्टः संशयो लक्ष्यपदं, समानधर्मोपपत्तेरनेकधर्मोपप-
त्तेर्विप्रतिपत्तेरिति त्रीणि प्रत्येकं शेषैः पदैरुपेतानि लक्षणा-
नीति । तदेतदाह वार्त्तिककारः । तत्र समानेति । त्रिविध-
एवेति ये पञ्चविधमाचक्षते ते निराकृताः । तदनवधारणं
ज्ञानं संशय इति संशयसामान्यलक्षणपरं भाष्यं व्याचष्टे ।
तत्र विषयस्वरूपेति । प्रत्ययोऽनवधारणात्मकश्चेति ।

आक्षेपपरिहारौ प्रथमसूत्र एव व्याख्यातौ । प्रत्ययशब्दस्य नि-
 श्चयवचनत्वमभ्युपेत्य व्याख्यानं प्रतीयते इति, परमार्थतस्तु प्र-
 त्ययशब्दो ज्ञानपर्यायः, ज्ञानत्वं तु सामान्यं संशयादिष्वप्य-
 स्तीति न विरोध इति । समानधर्मोपपत्तोरिति व्याचष्टे । स-
 मानेति । (८८ । ४) विकल्पाक्षिपति । किं पुनरिति ।
 कस्मादिति । मा कार्षीद् द्रव्ये संशयं गुण एव कस्मान्न क-
 रोतीति प्रश्नार्थः । समावृत्ते । न साधारणेति । यादृशं सङ्ख्या-
 परिमाणप्रचयभेदयोनि परिमाणं स्थाणुपुरुषयोस्तादृशमस्यापि
 पुरावर्तिनो द्रव्यस्य परिमाणं, तस्मात्सदृशपरिमाणधर्मस्य ध-
 र्मिण उपपत्तिरित्यर्थः, महत्त्वदीर्घत्वसामान्यवद्भर्मयोगस्तु सन्न-
 पि न संशयकारणम्, असादृश्ये तद्योगेऽपि संशयाभावादित्य-
 ति भावः । स्यादेतत् । उपपत्तिः सत्ता, न च सदृशो धर्मः स-
 त्तामात्रेण संशये हेतुः, अपि तूपलब्धः, न चोपलब्धेर्वचिकम-
 त्रास्ति पदमित्यत आह । तस्योपपत्तिरध्यवसाय इति ।
 यद्यप्ययमुपपत्तिशब्दः सत्तावचनस्तत्परश्च, तथाऽपि पदा-
 न्तरसमगिव्याहारादवगम्यते सत्तामात्राभिधानेऽपि तदुपलब्धि-
 विवक्षितेति । विषयविषयिणोरभेदविवक्षया सामानाधिकरण्यमु-
 पपत्तिरूपलब्धिरिति । पृच्छति । कस्मादिति । अस्मदायत्ते हि
 शब्दप्रयोगे किमित्यत्राचकं प्रयोक्ष्यामह इत्यर्थः । उत्तरम् ।
 अनुक्तमपीति । विशेषापेक्ष इति विशेषस्यापेक्षोच्यते,
 अपेक्षाशब्दश्च यद्यपीच्छायां वर्तते, तथापीह जिघृक्षायां, वाक्य-
 सामर्थ्यात् । न च सा संशयस्य हेतुः, तस्याः संशये सति
 भावात् । तस्माद्विशेषापेक्षया जिघृक्षालक्षणयेह विशेषयोः पुरो-
 वर्तिनोस्तु सादृश्यात्स्मरणे सत्यग्रहणं लक्षणीयं, यथा गङ्गाश-
 ब्दस्तीरं स्वसम्बद्धमेव लक्षयति, न तु तीरमात्रम्, एवं बुध्दुस्त-

या स्मर्यमाणमेवागृह्यमाणं सम्बद्धम्, न त्वगृह्यमाणमात्रम् । अने-
नैवाभिप्रायेण वक्ष्यति भाष्यकारः, विशेषस्मृत्यपेक्ष इति ।
तस्माद्विशेषग्रहणप्रतिषेधात् सामान्यज्ञानमभ्यनुज्ञातं भवतीति
भावः । परिहारान्तरमाह । अथ वेति । स्यादेतत् । उपप-
त्तिशब्दः सत्तावचनश्चोपलब्धिवचनश्च, तथा च विनिगमनार्था
को हेतुरित्यत आह । यः पुनरिति । (८९ । १) नन्वभा-
वः प्रमाणालम्बन उक्तस्तत्कथं न विरोध इत्यत उक्तं स्वत-
न्त्रमिति । अथ वा सत्तावाचकोऽप्ययमुपपत्तिशब्दः स्वाभि-
धेयविषयामुपलब्धिं लक्षयतीत्याह । विषयशब्देनेति । न
चेयमलौकिकी लक्षणेत्याह । लौकिकमिति । यथा धूमो न
सत्तामात्रेण हेतुस्तथोक्तं प्रागिति ।

एकदेशिनामुपसङ्ख्यानमुपन्यस्यति । अव्यवच्छेदेति ।
ते हि मन्यन्ते व्यवच्छेदहेतुरपि धर्मः समानो भवति, यथा कृ-
तकृत्वं साध्यधर्मिणि शब्दे दृष्टान्तधर्मिणि च घटादौ समानमि-
ति, न चासौ नित्यत्वसंशयहेतुरपि त्वनित्यत्वस्यागोमं साध्य-
धर्मिणि व्यवच्छिन्नति, तस्मादव्यवच्छेदहेतोरिति वक्तव्य-
मित्यर्थः । तदेतद् वक्तव्यं दूषयति । न समानेति । समानो
हि धर्मः प्रतिसम्बन्धिनमपेक्षते केनेति, संशयपदेन च स्ववि-
षयोपस्थापकेन परस्परविरोधिनावुपस्थितौ, तेन ताभ्यां समान
इति गम्यते । तेन विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति अन्य-
जातीयवृत्तिरेव गम्यते, न चैवं कृतकत्वं, तस्मान्न वक्तव्यम-
व्यवच्छेदहेतोरिति । समानशब्दार्थः सादृश्यं तत्र नास्तीत्यर्थः ।

अत्रैवोपलब्धीत्यादिपदद्वयं शङ्कापूर्वकं योजयति । सोऽयं
साधारण इति । उपलब्ध्यनुलब्धी न व्ययतिष्ठेते इति ।
शिरःपाण्यादीनामुपलब्धिर्वक्रकोटरादेरनुपलब्धिः पुरुषस्य वा-

यकं प्रमाणं, तद्विरुद्धवक्रकोटरादेरुपलब्धिः शिरःपाण्यादेरनु-
पलब्धिः पुरुषस्य बाधकं प्रमाणं, तद्वि पुरुष एवायमिति वा इदं-
तया व्यवतिष्ठते, इदंतानिषेधेन वा नायं पुरुष इत्यनिदंतया व्य-
वतिष्ठते, तदभावोऽव्यवस्था । तदनेन साधकबाधकप्रमाणाभा-
वो दर्शितः । विशेषाकाङ्क्षायां चेति विशेषस्मृतिर्दर्शिता ।

विमर्षपूर्वकं समस्तमित्यवधारयति । किमिदमिति ।
(९० । १) तत्रैकपदपरिग्रहे दोषमाह । यदि समानेति ।
विशेषः शिरःपाण्यादिः, विशिष्यते ह्यनेन पुरुषः स्थानोरि-
ति । अनुपलब्धसामान्यस्यापि क्वचिदुपलब्ध्यनुपल-
ब्ध्यव्यवस्थास्तीति । यथा सप्तमे रसे दशमे द्रव्ये, न हि तत्र
साधकं बाधकं वाऽस्ति प्रमाणम्, न च संशयः । विशेषापेक्ष
इत्येतावतीति । तद्यथा हस्तिनं दृष्ट्वा तत्सम्बन्धिनौ स्थूणाह-
स्तिपकौ स्मरति, न च तत्र सन्दिग्धे । द्विपदपरिग्रहे(१)
दोषमाह । एवं समानेति । नौदोलाद्यारूढो हि गच्छन् विदूर
आरोहपरिणाहवद्वस्तुदर्शने सत्यपि च साधकबाधकप्रमाणाभावे
विशेषस्मृत्यभावान्नग इति वा नाग इति वा न सन्दिग्धे । एवमुप-
लब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्ष इति च पदद्वये-
भिधीयमानेऽन्यतः स्मर्यमाणाद्विशेषात्सदृशधर्मवति धर्मिण्यनुप-
लभ्यमाने संशयः स्यात्, अस्ति हि तदा विशेषस्मृतिः साधकबाधक-
प्रमाणाभावश्च, न खल्वनुपलभ्यमाने समानधर्मं धर्मिणि तद्वता
वक्रकोटरादयो वा शिरःपाण्यादयो वा शक्यग्रहा इति । यदा-
ऽयं द्रष्टेति । यदा खल्वयं द्रष्टा प्रतिपरुरङ्गुरोद्देदपुलाकिताभि-
र्मन्दमलयमारुतान्दोलनललितलास्यशालिनीभिः शाखाभिर्मधुम-
दमुदितमधुपमालागुञ्जित(२)वल्लकीवाद्यमनोहराभिर्मत्तपुंस्कोकिल-
कुलविषञ्च्यमानपञ्चमाभिरारब्धसङ्गीतकं सहकारतरुमालोक्या-

(१) एकद्विपदपरिग्रहे—पाठः । (२) मधुपमालासिञ्जित—पाठः ।

थ विदूरवर्त्ती कुञ्जरसदृशधर्मवन्तमनुभवति, तदाऽस्यास्ति समा-
नधर्मोपलब्धिरस्ति च करितरूपविशेषस्मृतिर्न तु साधकबाध-
कप्रमाणाभाव इति न संशेते । कतिपयव्यक्त्याश्रयत्वं सहकार-
त्वादिर्विशेषस्याल्पविषयत्वम्, आरोहपरिणाहादेस्तु बहुव्यापि-
त्वं महाविषयत्वं, नानार्थावमर्षणं (९१।१) च विरुद्धार्थावमर्षणम् ।
तदनेन स्थाणुपुरुषयोरित्यादि भाष्यं व्याख्यातम् । पश्यन्नि-
त्युपपत्तिविवरणम् । विशेषं बुभुत्समान इति विशेषापेक्ष इत्यस्य
विवरणम् । किंस्विदिति विमर्षविवरणम् । स्यादेतत् । संशयोत्तर-
काला बुभुत्सेति कथं बुभुत्समानः संशेत इत्यत उक्तं भाष्य-
कृता समानमनयोरिति । विशेषापेक्षाशब्देनेच्छावाचिना-
ऽगृह्यमाणविशेषस्मरणं लक्षितमिति भावः । सेयं साधकबाधक-
प्रमाणानुपपत्तौ सत्यां समानधर्मोपलब्धिर्विनश्यदवस्था विशेष-
स्मृत्या सहाविनश्यदवस्थयैकस्मिन् क्षणे सती संशयज्ञानस्य
हेतुरिति सिद्धम् । द्विपदपारिग्रहमनेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरि-
त्यत्रापि योजयति । एतेनेति । (९१ । ३) द्वे द्वित्वे नैकी-
कृत्याद्यानन्तरयोरिति द्रष्टव्यम् (१) । अनेकधर्मोपपत्तेरित्यत्र भा-
ष्यकृतो व्याख्यां ग्रहीतुमेकदेशिव्याख्यानमुपन्यस्य दूषयति ।
अनेकेति । शब्दो हि संयोगजः, संयोगजत्वं हि कार्यं द्रव्ये
गुणे च रूपादौ शरीरादिक्रियायां चास्तीति द्रव्यगुणकर्मणां
समानम्, तस्मादनेकस्य धर्मश्चरितार्थः । एवं शब्दगतोऽनेको-
ऽपि धर्मः समानतयैव द्रव्यत्वादिसन्देहहेतुः, त्रिषु संयोगजत्वं
साधारणं, सत्त्वादिना निर्विभक्तस्य निर्गुणत्वं गुणकर्मणोः,
एवं क्षणिकत्वं द्रव्यगुणकर्मणामिति समानधर्मोपपत्त्या गतार्थ-

(१) एकस्यैवानन्तरत्वात्कथमनन्तरयोरिति द्विवचनमित्यतो
वार्त्तिकाशयं प्रकटीकरोति—द्वे अनन्तरे द्वित्वेनैकीकृत्य आद्यपश्चाद-
नन्तरपक्षद्वयं अनन्तरयोरिति द्रष्टव्यम् ।

मित्यर्थः । पृच्छति । अथेति । भाष्यकृद्वाख्ययोत्तरम् । आ-
 साधारण इति । पुनः पृच्छति । कथमिति । समासपदशब्दे-
 न तदेकदेशोऽनेकशब्दो लक्ष्यते, समासगतेनानेकशब्देनेत्यर्थः ।
 उत्तरम् । समानेति । एतदुक्तं भवति, यतोऽनेकस्मात्समाना-
 समानजातीयादेष स्वाश्रयं व्यावर्त्तयति, अतोऽनेकापादानक-
 व्यावृत्तिहेतुत्वाल्लक्षणयाऽनेक इत्युच्यते । तदनेन समानजा-
 तीयमसमानजातीयं चानेकमिति भाष्यं तस्माद्विशेष इत्य-
 ध्याहृत्य व्याख्यातम् । अध्याहृतविशेषपदविवरणं विशेषको
 धर्म इति । सम्बन्धसामान्यविवक्षया षष्ठी तस्यानेकस्येति ।
 लक्षणाबीजान्तरमाह । तस्य चानेकस्येति । निवर्त्त्यनिवर्त्तक-
 सम्बन्धेनानेकशब्देन धर्मो लक्ष्यते इत्यर्थः । तदनेन विनैवाध्या-
 हारं समानजातीयमसमानजातीयं चानेकं तस्य धर्मो
 निवर्त्तकतयेति व्याख्यातम् । न त्वत्र समासभ्रान्तिः कर्त्तव्या,
 दर्शयिष्यति हि बहुव्रीहिमिहैव वार्त्तिककारः । तदनेन लक्षणाबी-
 जद्वयोपन्यासेनासाधारणो धर्म इति ग्रहणकवाक्यं व्याख्या-
 तम् । प्रकारान्तरेणानेकधर्मपदं व्याचष्टे । एकानेकेति । एकं
 चानेकं च तदुभयमनेकं, तदेतस्यानेकस्य प्रत्ययहेतुर्धर्मोऽनेक-
 धर्मः, भेदाभेदप्रत्ययहेतुरित्यर्थः । विभागजत्वं विभागजानां श-
 ब्दानामन्योन्यस्याभेदप्रत्ययहेतुः, तदितरेभ्यो भेदप्रत्ययहेतुरिति,
 तदिदमाह । यतो विभागजन्यत्वादेव प्रत्ययो भवतीदं वि-
 भागजं शब्दजातमेकम्, इदं च ततोऽन्यदनेकं भिन्नं, तत्र य-
 एवैकप्रत्ययहेतुर्धर्मोऽभेदप्रत्ययहेतुः स एवानेकप्रत्ययहेतु-
 र्धर्मोऽनेकधर्मो भेदप्रत्ययहेतुर्विशेषः । जात्याभिप्रायं चैकवच-
 नम् । सदादिर्हि धर्मो द्रव्यगुणकर्मणामभेदप्रत्ययहेतुः सामान्या-
 दिभ्यः शब्दं निर्विभजति । तदिदमाह । यतः सदादेरेव प्रत्य-

यो भवतीदमेकं यतश्च विभागजत्वादिषु प्रत्ययो भवतीदमनेक-
मिति, तस्मात्सिद्धमेकं चानेकमिति तत्प्रत्ययहेतुरुपचारेणानेक-
इति । तदिदमुज्जाप्यं व्याख्यातम् । अत्रोदाहरणमाह ।
यथेति । द्रव्यादिकोटित्रयविशेषे संशयप्रदर्शनार्थमुक्तं सामा-
न्यविशेषसमवायेभ्य इति । सदानिसं द्रव्यवत्कार्यं कारणं
सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः, तेनानेन सदा-
दिना निर्विभक्तस्य पृथक्कृतस्येत्यर्थः ।

स्यादेतत् । यद्येन सहचरितं दृष्टं तत्त्ववचिद्दृश्यमानं तत्
स्मारयत्तद्विरुद्धेनापि सम्बन्धादनिश्चाययत्संशयहेतुर्भवति, यथा
समानो धर्मः, असाधारणस्तु धर्मो विभागजत्वं नर्ते शब्दात्
क्वचित्पृथिव्यादौ वा उत्क्षेपणादौ गन्धादौ वा दृष्ट इति कथं
स्मारयेत्, अस्मारयन् वा कथं संशयं जनयेत् । तस्मात्कोऽयं
भवेदियतो धर्मादिति जिज्ञासामात्रमुत्पादयेत्, न त्वयं वायं
वेति संशयमित्यत आह । न हीति । कस्मान्न दृष्टमित्यत
आह । सर्वत्रासम्भवात् । (९२ । १) न हि द्रव्यादे-
र्विभागतो जन्म सम्भवति, तदन्वयव्यतिरेकाननुविधानादित्य-
र्थः । नन्वत एवोक्तं न संशयहेतुरित्यत आह । विभागज-
त्वं संशय करोति सर्वतो व्यावृत्तेरिति । अयमर्थः ।
यद्यपि विभागजत्वं न द्रव्यादौ कचिद्दृष्टं, तथाऽपि तद्द्रव्य-
तिरेकः प्रत्येकं द्रव्यादौ दृष्ट इति विभागजत्वेन सदाद्यविशेष-
वान् शब्दो द्रव्यकर्मभ्यां व्यावर्तमानः किं गुणः, गुणकर्मभ्यां
वा व्यावर्तमानः किं द्रव्यं, गुणद्रव्याभ्यां व्यावर्तमानः किं
कर्मति व्यतिरेकमुखेन तत्तत् स्मारयन् असाधारणो धर्मो
भवति संशयकारणमिति । देशयति । ननु चेति । अयमभि-
सन्धिः । वंशे पाठ्यमाने वंशदलयोः क्रिया, ततस्तयोर्मिथो

विभागः, ततो वंशदलावरुद्धनभोभागविभागः, सोऽयं विभागजो विभागो न वंशदलकर्मजः, अवयवक्रिया हि तदवरुद्धनभो-
 भागविभागजनिका द्रव्यारम्भकसंयोगाप्रतिद्वन्द्विविभागजनक-
 त्वेन व्याप्ता विकसत्कमलकुड्मले दृष्टा । न हि तत्र मुकुलिता-
 द्विकासि कमलमन्यत्, आकुञ्चितप्रसारिताङ्गुलिकरतलवत्तत्त्वेन
 प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । वंशदलक्रियाऽपि चेत्तादृशी, नूनमन-
 याऽपि द्रव्यारम्भकसंयोगाप्रतिद्वन्द्विविभागजनिकया भवितव्यं,
 तथा च द्रव्यं कार्यमपि न नश्येत्, तस्मान्नानया वंशदलाका-
 शविभागो जनयितव्यः । न चान्यदस्य कारणं सम्भवति,
 तस्माद्वंशदलक्रियाजनितो दलयोर्विभागः कार्यैकार्थसमवेतः
 तदवरुद्धाकाशप्रदेशविभागस्यासमवायिकारणमेषितव्यः, एवं च
 गुणः शब्दो विभागजत्वाद् विभागजविभागवदिति विभाग-
 जत्वं गुणत्वनिश्चयहेतुरिति सिद्धं भवति । परिहरति । अन-
 भ्युपगतविभागजविभागस्य एतद्विभागजत्वमेवं संशय-
 कारणं भवति । अनभ्युपगमवीजं च कुतः पुनरेतदेवमवगतं
 पद्मपत्रावयवक्रिया न विभागद्वयजनिकेति । विभागद्वयक्रम-
 कल्पनायां प्रमाणाभावादिति चेद् हन्त वंशदलयोरपि तुल्यम् ।
 ननूक्तं द्रव्यारम्भकसंयोगाप्रतिद्वन्द्विविभागजनकं स्यात् कर्म
 ततश्च द्रव्यनाशो न स्यादिति ! अथ विपर्ययः कस्मान्न भवती-
 ति, वंशदलद्वयक्रियैव विभागद्वयजनिका, पद्मपत्रावयवक्रिया
 त्ववयवविभागजनिका तदवयवाकाशविभागस्त्ववयवविभाग-
 जन्मा, यदि च पद्मपत्रावयवक्रिया उभयजनिका भवेद् वंश-
 दलक्रियैव द्रव्यारम्भकसंयोगाप्रतिद्वन्द्विनं विभागं जनयेदिति ।
 न चान्यतरत्र विभागविषययोगपद्यानिश्चयः क्रमप्रमाणाभावश्च
 तुल्यः, तस्मात्पद्मपत्रावयवक्रियाया विभागद्वयजनकत्वसन्देहाद्-

शक्यमनिश्चयो व्याप्यव्यापकभावः । क्रियावैलक्षण्यात् स्वहेतु-
वैलक्षण्यजन्मनः कार्यस्य विभागस्य वैलक्षण्यं स्यात् । यदेको
द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्वी, अप्रतिद्वन्द्वी चेतरेः, त्वयापि
चैतद्वैलक्षण्यं क्रियाया अभ्युपगन्तव्यं, यदेका विभागमेकं जन-
यति, अन्या तु विभागद्वयमिति । तस्मादेतदुदाहरणबलेन न
विभागजविभागसिद्धिः । यस्त्वङ्गुलिकर्मानन्तरमङ्गुलितरुविभागो
हस्ततरुविभागः शरीरतरुविभागश्च दृश्यते तत्राङ्गुलितरुविभाग-
मङ्गुल्याश्रया क्रिया करोतु, हस्ततरुविभागन्तु न शक्ता जनयि-
तुम्, तस्याः स्वाश्रयासमवायात्, स्वाश्रयसमवेतकार्यजनने च
क्रियायाः सामर्थ्यावधारणात्, तस्माद्वस्तादितरुविभागः क्रिया-
तोऽसम्भवन्नङ्गुलितरुविभागमेव कार्यैर्कार्यसमवायलक्षणप्रत्या-
सत्या निमित्तीकरोतीति विभागजविभागसिद्धिं मन्यते, तं
प्रत्याह । यः पुनरिति । अस्तु वा विभागजो विभागः, तथाऽपि
विभागजत्वमीदृशमसाधारणमेवेत्याह । अस्तु चेति । अस्तु
तस्याभ्युपगतविभागजविभागस्यापि विभागजत्वमसाधारणं वि-
शिष्टम्, तदेव दर्शयति । विभागजेति । पाठ्यमाने हि वंशे
शब्दोत्पत्तौ वंशदलयोर्विभागो निमित्तकारणं, वंशदलावरुद्धा-
काशविभागस्त्वस्यासमवायिकारणं, न तु भेदर्याकाशसंयोगवद्
वंशदलाकाशसंयोगोऽसमवायिकारणं भवितुमर्हति । तथा हि
प्रयोगः, योऽयं वंशदलविभागानिमित्तः शब्दः स निमित्तसमा-
नजातीयासमवायिकारणजन्यः, तदसाधारणनिमित्तजन्यशब्द-
त्वात्, यो यः शब्दो यदसाधारणनिमित्तजन्मा स सर्वस्तज्जाती-
यासमवायिकारणजन्यः, यथा भेरीदण्डसंयोगानिमित्तः शब्दो
भेदर्याकाशसंयोगासमवायिकारणकः, तथा चायं, तस्मात्तथा ।
तदेवं वंशदलविभागलब्धजन्मना वंशदलाकाशविभागेनासमवा-

यिकारणेन जनितः शब्दः । तदेवं विभागजविभागासमवायि-
कारणकत्वं शब्दस्य । तदपि यद्यप्यङ्गुल्याकाशविभागजहस्ता-
काशविभागासमवायिकारणे कायाकाशविभागेऽस्ति, तथाऽपि
कारणमात्रविभागजविभागासमवायिकारणकत्वादिति हेतुर्भाष्य-
कारेण विभागजत्वादित्यनेन सूचितः । न चाङ्गुल्याकाश-
विभागपूर्वकः कायाकाशविभाग एवं, स हि कारणाकारण-
विभागपूर्वको न तु कारणमात्रविभागपूर्वकः, तदिदमुक्तं
विभागजविभागासमवायिकारणकः शब्दो नान्यः
षदार्थ इति । ननु सहचरितो दृष्टः स्मारयन् विशेषसंशयहेतु-
र्भवति, न तु यो व्यावृत्तः, तेनासाहचर्यादिति शङ्कामपनेतुं
भाष्यकारीयमुत्तरमाह । तुल्यजातीयेष्विति । यद्यपि व्यति-
रेकमुखेनासाधारणः शाक्तः स्मारयितुं, तथाऽपि भाष्योक्तम-
प्युक्तं, यत्खलु सदादिरूपसम्पन्नं विशेषवत्तत्समानजातीये-
भ्योऽसमानजातीयेभ्यश्च व्यावृत्तं, यथा पृथिवीद्रव्यम् अवा-
दिभ्यश्च द्रव्यान्तरेभ्यो गुणकर्मभ्यश्च विजातीयेभ्यो गन्धवस्त्वेन
व्यावृत्तं द्रव्यजातीयमेवं रूपत्वेन रूपं गुणः उत्क्षेपणत्वेनोत्क्षे-
पणं कर्म, तथाविधः शब्दः सदादिरूपसम्पन्नो विभाजत्वेन
समानासमानजातीयेभ्यो विशिष्यते, तस्माद्भवति द्रव्यं गुणः
कर्म वेति संशय इति । पूर्वव्याख्यानतोऽनेकशब्देनासाधार-
णो धर्मो लक्ष्यत इत्युक्तं, सम्प्रति समानशब्दपर्यालोचनया-
ऽप्यनेकशब्दोऽसाधारणे वर्तते लक्षणयैवेत्याह । समानधर्मस्य
संशयकारणत्वेनोपयोगाद्वेति । समानं हि प्रतियोगितया-
ऽसमानं बुद्धौ सन्निधापयति, तत्र द्वयस्यापि समानशब्देन
श्रुत्यर्थाभ्यामुपात्तस्य समानधर्मस्यासमानस्य च समानस्य संश-
यकारणत्वेनोपयोगादिति योजना । पृच्छति । कस्मादिति ।

अस्मदायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यत्राचकं प्रयोक्ष्यामह इति भावः ।
उत्तरम् । नैवमिति । असाधारणो हि धर्मो व्यतिरेकमुखेन
संशयहेतुः, स चानेकस्माद्व्यावृत्त्या सिध्यति, सा च लाक्ष-
णिकानेकपदाधीना नासमानपदाल्लभ्यत इति प्रयोजनवत्लाक्ष-
णिकपदोपादानम् । लक्षणैव चैवमनेकस्माद्व्यावृत्तोऽनेकधर्म
इति विश्रहेण निर्वर्ण्यत इति । अभ्युच्चयमात्रमाह । लाघवं
चेति । असाधारणस्य संशयकारणत्वे व्यावृत्तिः प्रयोजिकेति
मन्वानश्चोदयति । यद्यनेकेति । परिहरति । नैष दोष
इति । व्यभिचाराव्यभिचारौ हि संशयनिर्णययोः प्रयोजकौ
नान्वयव्यतिरेकमात्रमित्यर्थः । चोदयति । यदि तर्हीति ।
(९३ । १) सपक्षासपक्षसाधारण्यं हि हेतोर्व्यभिचारः, स
चेत्संशयस्य कारणं, हन्त समानधर्मोपपत्तिरेव सर्वत्र संशय-
कारणमिति कृतमनेकग्रहणेनेत्यर्थः । परिहरति । सत्यमिति ।
सत्यं सपक्षासपक्षसाधारण्यं हि हेतोर्व्यभिचारः, स च संशयस्य
प्रयोजकः, तथाऽप्येकस्यान्वयः साधारणोऽपरस्य व्यतिरेक
इत्येतावतोभयोपादानमित्यर्थः ।

एवमनेकधर्मोपपत्तेरिति स्वमतेन व्याख्याय परमत-
व्याख्यानं दूषयितुमुपन्यस्यति । नञ इति । नित्यः शब्दः
श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्येकः पञ्चरूपोपपन्नोऽव्यभिचारी हेतुः,
अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यपरः पञ्चरूपोपपन्नोऽव्य-
भिचारी हेतुरिति । तददूषयति । तदयुक्तमिति । न शब्द-
व्यभिचारिणौ पञ्चरूपोपपन्नावित्यर्थः । न चायं प्रतिवादिनः प्रयो-
गोऽपि युक्तः । विरुद्धशब्दस्यार्थो विरुद्धार्थः स्वरूपमनयोर्वि-
रुद्धं (९४ । ३) परस्पराभाववदित्यर्थः । विशेषादर्शनादुप-
जात इति । (९४ । ६) संशयस्य हि विशेषादर्शनं जनकं,

विशेषदर्शनं च निवर्तकमिति, स चेत् त्वन्मते निवर्तकादुत्पद्ये-
ताऽव्यभिचारिहेतुजनिताद्विशेषदर्शनाच्चास्य निवृत्तिः स्यादित्य-
र्थः । न च यदा निवर्तकमस्यास्ति, तदा जनकमपीत्याह । न
हि विशेषदर्शने सतीति ।

स्यादेतत् । प्रत्यक्षमेव स एवायं गकार इत्याकारं प्रत्य-
भिज्ञासमाज्ञातं शब्दस्य स्थेमानमाकलयेत् ।

‘तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति ।’

इति नित्यत्वं परिच्छेत्स्यतीत्यत आह । नायमर्थः प्रत्यक्ष-
स्य विषयः । तदेव हि प्रत्यक्षं संशयस्य निवर्तकं यदनन्य-
थासिद्धं, यथौष्ण्यग्राहि बद्धेः । इदं तु सादृश्येनापि सम्भवा-
त्स्वयं सन्दिग्धं सन्न संशयोच्छेदायालमित्यर्थः । मा भूत्प्रत्यक्षस्य
विषयो भवति त्वागमस्य, नो खलु क्षणिकः शब्दोऽर्थप्रत्यायने
समर्थः, तस्यान्वयव्यतिरेककालानवस्थायिनोऽशक्यसमयत्वे-
नार्थप्रतिपत्तेः(१)रनुपपत्तेः । तस्माद्यद्यपि साक्षान्नित्योऽयमि-
त्यागमो नाभिधत्ते, तथाऽपि विदितसङ्गतेरर्थप्रत्ययं कुर्वन्नात्मनो
नित्यतामाक्षिपन्नित्यताविषयो भवति, यथा ऽऽहुः “नित्यस्तु
स्यादर्शनस्य परार्थत्वा”दित्यत आह । नागमविषयः । यद्यपि
वर्णव्यक्तयः क्षणिकाः, तथाऽपि स्वस्वसामान्यविशेषगत्वान्युप-
हिता गवादिव्यक्तय इव गोत्वाद्युपधानाः शक्यसङ्केता इति न
नित्यतामाक्षिपत्यागम इत्यर्थः । भवतु किं नो बाध्यत
इति । न खलु चन्द्रमसः परभागे हरिणसद्भावसन्देहः शक्यः
कदाचिदप्युच्छेत्तुमस्मदादीनामित्यर्थः । कथं न बाध्यत

इति । सन्दिग्धनित्यानित्यभावे शब्दे कृतकत्वं दृष्टमिति नानि-
 त्यत्वेन स्वभावतः प्रतिबद्धं, तथा च न बुद्ध्यादीनामनित्यत्वं
 साधयितुमर्हतीत्यर्थः । सर्वमिति । कृतकत्वप्रयत्ननान्तरीय-
 कत्वप्रत्ययभेदभेदित्वादीत्यर्थः । सर्वं चानुमानमिति ।
 यदि च पञ्चरूपोऽपि हेतुः संशयकारणं सर्वमनुमानमेवमिति
 सर्वमप्रमाणं स्यादित्यर्थः । वैनाशिकः प्राहुः । नित्यासम्भ-
 वादिति । न बाधापरिज्ञानादिति । बाधविषयापरिज्ञाना-
 दित्यर्थः । स्वदेशे परोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं सप्रतिघटत्वं, (९५ ।
 ३) (१) सौत्रान्तिकमते हि रूपं सप्रतिघमिष्यते मूर्ते च ।
 नित्य एवेति अनित्य एवेति वाऽभिलापो नोपपद्यते, स्थाणुरे-
 वेति वा पुरुष एवेति वाऽभिलापः । चोदयति । नैवं भविष्य-
 तीति । मा भूदभिलाप इत्यर्थः । परिहरति । व्याहृतमिति ।
 स एवैकग्रन्थेनाह । ननु चेति । तदेवं पञ्चरूपोपपन्नयोर्हेत्वो-
 रेकत्र समावेशाभाव उक्तः । यदि पुनरसत्प्रतिपक्षस्वरूपपरहि-
 तयोरेकत्र सम्भवोऽङ्गीक्रियते, तथा च संशयहेतुत्वमित्यभिप्रा-
 येण शङ्कते । अथ कृतकत्वेति । निराकरोति । तथाऽपीति ।
 प्रत्येकं सत्प्रतिपक्षत्वं मिलितयोस्त्वसाधारणत्वं, तादृशोऽन्यत्रा-
 दर्शनादित्यर्थः । तत्किमिदानीं सत्प्रतिपक्षतया कृतकत्वमसा-
 धनमेव शब्दानित्यत्वे, तथा च बहु व्याहृतं स्यादित्याशयवान्
 पृच्छति । यदा पुनरेवम्भूताविति । उत्तरम् । तदा तयो-
 रिति । ननु कृतकत्वस्य साध्यत्वात् श्रावणत्वस्य च सिद्ध-
 त्वात् प्रथमभाविना नित्यानुमानेन सिद्धाङ्गेनापहतविषयं चर-
 मभाविसाध्याङ्गकमनित्यानुमानमेव बाध्यतामित्यत आह ।

यत्नश्च क्रियमाण इति । सिद्धमपि श्रावणत्वमनुनासिक-
त्वाद्यनित्यधर्मसाधारणतया सव्यभिचारं सन्नित्यत्वस्य साधनं
न भवितुमर्हतीति । कृतकत्वस्य तु पाञ्चरूप्यं नित्यस्य च
प्रमाणबाधनमुपपादयिष्यत इत्यर्थः ।

विप्रतिपत्तेरित्यस्य व्याख्यानम्, विप्रतिपत्तेरिति ।
(९६ । ३) यद्यपि विरुद्धा प्रतिपत्तिर्ज्ञानं विप्रतिपत्तिः, तथा-
ऽपि तस्या वादिप्रतिवादिगताया अत्यन्तपरोक्षत्वात्संशयकार-
णत्वानुपपत्तेः स्वकार्यं प्रवादं लक्षयतीत्यर्थः । अत्र भाष्यकार
उपलब्ध्यव्यवस्थाया अनुपलब्ध्यव्यवस्थायाश्च पृथक् संशयका-
रणत्वं मत्वा समानधर्मोपपत्तेरित्यनेन गतार्थतां परिहरन्नाह
स्म, पूर्वः समानोऽनेकश्चेत्यादि । तदुपन्यस्य वार्तिककारो
दूषयति । तत्रेति । नो खलु समानानेकधर्मोपलब्धौ सत्यां
सत्यां च विशेषस्मृतौ साधकबाधकप्रमाणसद्भावे संशयो भव-
तीत्युक्तं, तस्मान्नोपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थे पृथक् संशयकारणे
इति । विशेषमपि दूषयति । समान इति । ननु यदि नास्ति भेदः,
तत्किमिदानीं सर्वेषां ज्ञातृस्थत्वाविशेषेण त्रयाणामपि संशयका-
रणानां समानानेक(१)विप्रतिपत्तीनामभेदस्तथा च पृथगुपा-
दानवैयर्थ्यमिस्यत आह । समानानानेकधर्मयोरिति । पुन-
श्चोदयति । समानधर्मः सर्व एवायमिति । अयमभि-
सन्धिः, असाधारणो ह्यदृष्टपूर्वः क्वचिदपि न संशयं कर्तुमुत्स-
हते, यत्पुनरसाधारणवत्त्वं संशयहेतुत्वेनोपवर्णितं भाष्यकृता,
तत्समानमेव, न त्वसाधारणम्, यथाऽऽहुः,

“अन्योऽसाधारणो धर्मस्तद्वत्ताऽन्या च दृश्यते ।

सर्वसाधारणी सा चेद्दिष्टा संशयकारणम् ।

ततः साधारणस्यैव सिद्धा संशयहेतुता ॥”

यच्च वार्तिककारेण सर्वव्यावृत्त्याऽसाधारणस्य संशयकारणत्वमुक्तं, तत्रापि तदभावस्य साधारणस्य संशयहेतुत्वं, किमायातमसाधारणस्य । यथाऽऽहुः, (४९ । ३२) ।

“सर्वतोऽस्य निवृत्तत्वादभावात्संशयो यदि ।

अनन्यवृत्तिरूपस्य ततोऽसाधारणस्य किम् ।” इति ।

विप्रतिपत्तिरपि विरुद्धहेतुद्वयसमुत्था एकस्मिन् संशयकारणम् । विरुद्धहेतुद्वयसमावेशश्चासाधारण एव, स च साधारणे निविशत इति सूक्तं सर्व एवायं समानधर्म एवाभिधीयत इति । परिहरति । न सूत्रार्थापरिज्ञानादिति । न वयं सर्वत्र साधारणमपजानीमहे, अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारवक्तृगतत्वभेदमात्रमाद्रियमाणाः कारणभेदेन त्रिविधं संशयमाचक्ष्महे इत्यर्थः । वार्तिककारो भाष्यकारमतमुपन्यस्य दूषयति । अपरे पुनरिति साधकबाधकप्रमाणाभावरहितं त्रयमपि न संशयकारणमुक्तमित्यर्थः । अपि चैतयोः पृथक् संशयकारणत्वेऽतिप्रसङ्गान्निश्चयपूर्वं न प्रवर्त्तत लोकः, तथा च लोकविरोध इति दर्शयति । उपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्द्वैविध्याच्चेति । (९७ । ५) न चास्य क्वचिदाश्वासो निःशङ्कता । न चानभ्यासदशापन्ने उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थायाः संशय इति वाच्यम् । अनभ्यासदशापन्ने हि दूराद्वन्दिज्ञाने उपलब्ध्यव्यवस्थाया अपि न नागो नगो वेति संशयः, किं तु किञ्चुककुसुमनिचयो वा उषर्बुधो वेति, अत्र समानधर्मोपपत्तिरेव कारणमितरसहिता, एवमयोग्यानुपलब्धिमात्रादपि न संशयो विना समानधर्मादिदर्शनमित्युक्तम् । विकल्प दूष-

णान्तरमाह । येषां चेति । सामग्रीभेदेन त्रैविध्यं संशयस्य, सामग्रीनिवेशिकारणभेदेन तु न पञ्चविधोऽपि त्वनेकविध इत्यर्थः ।

समानानेकधर्मोपपत्तेरित्यत्र षष्ठीतत्पुरुषं मत्वाऽऽक्षिपति । समानधर्मग्रहणादिति । बहुव्रीहिं मत्वा समाधत्ते । अयं परिहार इति । (९८ । १४) अथेति । कश्चासौ विशेषश्चेति किंविशेषः, अनुपलब्धपूर्वो विशेषो यस्य इत्यर्थः । उपलब्धपूर्वायां व्यक्तौ संशये तद्गता विशेषाः सुस्मृतिताः (९९ । ९) तज्जातीयव्यक्त्यन्तरसंशये त्वन्यगतास्ते सामान्यद्वारेणोपलब्धा एवेति । सामान्यप्रत्यक्षादिति । सामान्यमेव सामान्यः, यथा सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणामिति । सामान्यश्चासौ प्रसक्ष्येति धर्मी तथोक्तः, अव्यवस्थितविशेषत्वं साधकवाधकप्रमाणाभाव इत्यर्थः ।

बौद्धाभिमतं संशयलक्षणमुपन्यस्यति । अन्ये त्विति । (१०० । ७) गूढाभिप्रायो दूषयति । तैरपीति । अविदिताभिप्रायः शङ्कते । धर्मी चेदिति । दूषणवादी स्वाभिप्रायमुद्घाटयति । यदि तावादिति । बौद्धानां हि राद्धान्ते न रूपादिधर्माश्रयः कश्चिदस्ति धर्मी, ततश्च सिद्धान्तव्याकोपः । यदि त्वाह, भवतु राद्धान्तव्याकोपो न हि शास्त्राश्रयो वाद इति, तत्रापि दोषान्तरमाह । धर्मधर्म्मिणोश्चेति । अथाप्यस्मद्दिशेति । समानानेकधर्मपदवद्बहुव्रीहिरित्यर्थः । सामान्यशब्दो हि भवितरि दृष्टो यथा ।

“सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः” ॥

इति भावः । व्यर्थं चाभिधानमिति । सामान्यविशेषतद्वदभ्युपगमेऽपि तद्वतोऽश्रवणात् साधर्म्यस्य सामान्यस्य विशेष-

षा इति गम्येत, न च सामान्यस्य विशेषा इति विरुद्धार्थमभिधानं स्यादित्यर्थः । वैशेषिकलक्षणे हि विशेषाप्रत्यक्षादित्यनेन साधकबाधकप्रमाणाभावो दर्शितः, इह त्वसौ वक्तव्यः, तस्मान्मन्यूनं बौद्धलक्षणमित्याह । उपलब्धीत्यादि । यदि च साधर्म्यदर्शनादित्यनेनान्वयमात्रव्यभिचारोऽभिमतो बौद्धेन ततोऽनेकधर्मदर्शनादिति (१०१ । २) वक्तव्यमिति ।

तदेवं सामान्यलक्षणमेकं त्रीणि च विशेषलक्षणानीति स्थितम् । तदेतानि चत्वारि लक्षणानि पुञ्जीकृत्य विचारयति । समानेति । यदि तावत्संशयसामान्यलक्षणे स्थिते त्रीणि विशेषलक्षणानि, ततः संशयत्वेनोपगृहीतानां त्रयाणां परस्परव्यवच्छेदकमात्रं लक्षणं वक्तव्यं, ततः समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरिष्येतावन्मात्रं वक्तव्यं, कृतमत्र शेषेण, तन्मात्रादेव परस्परव्यवच्छेदसिद्धेः । तस्मात्परस्परव्यवच्छेदमनपेक्ष्य संशयकारणकथनपरमेतत्सूत्रं, तथा चान्यान्यपि संशयकारणानि सन्तीति तान्यपि वक्तव्यानि, यदा स्वत्वयमात्मनः शमादौ संशये किमहं चन्दनवनितादिसन्निधाने रज्ये विरज्ये वेति सोऽयमस्यात्मनः सन्निकर्षजन्मा संशयः आन्तरस्य शमादेर्विषयस्येति । समाधत्ते । अस्तु तावदिति । यद्यपि तावन्मात्रेण समानजातीयव्यवच्छेदसिद्धिः, तथाऽपि विजातीयव्यावर्तनाय सामान्यलक्षणमनुवर्त्तनीयं, तथा च प्रतिपत्तिगौरवं स्यादिति तल्लाघवाय शेषापेक्षा युक्ता । आत्मनः सन्निकर्षादयस्त्वत्यन्तसाधाणा विजातीयव्यवच्छेदायापि नालमिति नोपात्ता इति भावः । एवं संशयकारणावधारणादर्थत्संशयभेदावधारणमित्युक्तं, सम्प्रति कारणविशेषेण संशयस्वरूपमेवोच्यत इत्याह । स्वरूपनिर्देशो वेति । विप्रतिपन्नोऽपि पुरुषः सन्दिग्धवत्प्रतिपाद्य एवेति

मन्वानश्चोदयति । संशयवदिति । विप्रतिपन्नो न शिष्यः,
किं तु जल्पवितण्डाभ्यां शिष्यतां नीत्वा सन्दिग्ध एव प्रतिपाद्यत
इत्यभिप्रायेण परिहरति । सत्यमिति ॥ २३ ॥

उद्देशक्रमप्राप्तस्य प्रयोजनस्य लक्षणम् ।

यम-नम् (सू. २४) ॥ अत्रार्थशब्दो गौणमुख्यप्रयो-
जनावरोधार्थः । तत्र मुख्यं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ, गौणं तु
तत्साधनम् । अत्र भाष्यं, यमर्थमित्यादि । अत्राधिकृत्ये-
त्यस्य व्याख्यानं व्यवसाय निश्चिद्येत्यर्थः । ससाधनौ च
सुखदुःखप्राप्तिपरिहारावर्थः, न च सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ स्व-
रूपेण प्रवृत्तिनिवृत्तिगोचराविति तदुपायप्रवृत्त्यैव चेतनप्रवृत्ति-
गोचराविति दर्शयति । तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठतीति ।
प्रवृत्तिहेतुत्वादिति । यद्यपि सुखदुःखाप्तिहाने तदुपायाश्चा-
सन्ति, तथाऽपि सामान्येन ज्ञायमानानीच्छाद्युपहारमुखेन प्रवृ-
त्तिहेतवः । ननु सूत्रेऽधिकृत्येत्यस्ति भाष्ये व्यवसायेति,
तत्कुतो न विरोध इत्यत आह । व्यवसायोऽर्थस्याधिकार
इत्यादि । तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे । यमर्थमधिकृत्येति
व्यवसायेति । (१०१ । २३) पृच्छति । कस्येति । सुख-
दुःखप्राप्तिपरिहारयोर्व्यवसायस्तत्रैव प्रवर्तयेत्, न चानयोः प्रवृ-
त्तियोग्यता, न चान्यनिश्चयोऽन्यत्र प्रवर्तयति, अतिप्रसङ्गादि-
ति भावः । उत्तरम् । सुखदुःखसाधनानामिति । ततश्च
प्रतीतिप्रवृत्त्योः सम्प्रतिपत्तिरित्यर्थः । सर्वव्यापितामस्य दर्श-
यति । अनेन प्रयोजनेनेति । (१०२ । २) वितण्डाया
अपि प्रयोजनमुक्तं प्रथमसूत्रे । चोद्यमानस्य प्रवर्त्यमानस्ये-
त्यर्थः । शङ्कते । यदीति । लोचयतेऽनेनेति लोकः प्रमाणं,
तदन्वितस्तदुपपन्नः, न च प्रमाणमीदृशमनवस्थाप्रसङ्गादिति

भावः । निराकरोति । अतिदोषोऽयमिति । यथा च प्रमाणस्य प्रमाणोपपन्नता न चाऽनवस्था तथा द्वितीये निवेदयिष्यते । न च प्रसिद्धतरतया न प्रयोजनं लक्षणीयमिति युक्तं, कथमस्य प्रयुक्तौ साधनत्वं क्व च प्रयोजयति कथं च व्यापकमिति सर्वस्य परीक्षकवेदनयित्वात् । अथान्य इति । अप्रामाणिको लौकिक इति, यथा वटे वटे वैश्रवण इति । निराकरोति । तन्न बुद्ध्यामह इति । प्रयोजनस्य प्रामाणिकत्वादित्यर्थः । यदप्युक्तं न्यायस्याङ्गं प्रयोजनं न भवति, तस्मान्न वक्तव्यमिति । तन्न युक्तं या खलु निष्प्रयोजनेति । न ब्रूमः प्रयोजनं न्यायस्याङ्गमित्यपि तु मुख्यं प्रयोजनमेव हि तन्न स्याद् यद्वते पुरुषादन्यार्थमिति, प्रयोजनवांस्तु न्यायो निष्प्रयोजनां तद्गतां चिन्तामङ्गीकरोति फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् । तस्मादनङ्गमपि प्रयोजनं परीक्षाया मूलं, स्वर्ग इव सेतिकर्तव्यताकस्य यागाद्यनुष्ठानस्येति सिद्धम् । क्रमप्राप्तं दृष्टान्तं लक्षयति ।

लौकि-न्तः (सू. २५) ॥ दृष्टान्त इति लक्षणनिर्देशः, शेषं लक्षणम् । साध्यसाधर्म्यात्तद्वर्तमानभावित्वेनार्थ्यते तथा साध्यवैधर्म्यादतद्वर्तमानभावित्वेनार्थ्यते यः सोऽर्थस्तस्मिन्, तथा च नातिव्याप्तिः । उदाहरणसूत्राच्चेदशविशेषप्रतिलम्भः । लोकसामान्यं किं तदित्यत आह । नैसर्गिकमिति । शास्त्रपरिशीलनलब्धजन्मा बुद्ध्यतिशयो वैनायिकः, तद्रहिता लौकिकाः प्रतिपाद्या इति यावत् । तद्विपरीतास्तदुभयसम्पन्नाश्च परीक्षकाः, प्रतिपादका इति यावत् । कथाबहुत्वाच्च बहुवचनम् । तदनेन वादिप्रतिवादिनौ दर्शितौ, तयोर्बुद्धिसाम्यं व्याचष्टे । यथा यमर्थमिति । लक्षणप्रयोजनमाह । दृष्टान्तविरोधेन-

ति । दृष्टान्तस्य विरोधो विरुद्धत्वं साध्यविकलत्वादि । प्रति-
पक्षा इति प्रतिपक्षसाधनानि । समाधिरभूतदोषारोपस्य प्र-
तिषेधः । लक्षितश्च दृष्टान्त उदाहरणलक्षणाय कल्पते
घटत इति भाष्यम् । अत्र वार्तिककारो लौकिकपरीक्षकस्व-
रूपमविवक्षितमिति मन्वान आह । बुद्धिसाम्येति । अवि-
वेक्षाप्रयोजनमन्वयव्यतिरेकाध्यामाह । एवं चेति । परेषां
दृष्टान्तलक्षणाक्षेपमुपन्यस्य दूषयति । सोऽयं दृष्टान्त इति ।
(१०३ । १) दृष्टान्तस्य प्रयोजनमाह, दृष्टान्तः सारूप्य-
व्युत्पत्त्यर्थः । यथाऽऽक्षेप्तोक्तं तत्तदक्षरमनूय दूषयति ।
असिद्धसाधनार्थो वेति । न खल्वसिद्धः साध्येन साधनस्या-
विनाभावो दृष्टान्तेन साध्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

न्यायपूर्वाङ्गलक्षणप्रकरणम् ॥ ४ ॥

अत्र भाष्यकारः सिद्धान्तसामान्यलक्षणसूत्रमपठित्वैव
तात्पर्यं व्याचष्टे, अथ सिद्धान्त इत्यादिना । तत्रेद-
मित्थम्भूतमिति वार्तिककारो व्याचष्टे । इदमिति सा-
मान्यत इति । भाष्ये तु संस्थितिरित्थं भावव्यवस्थेति ।
सामान्योपक्रमस्याभ्युपगमस्य प्रमाणतो विशेषपर्यन्तता परि-
समाप्तिः संस्थितिरित्यर्थः । अत्रैवार्थे सूत्रमित्याह वार्तिककारः ।
अस्यार्थस्येति ।

तन्त्रा-न्तः (सू. २६) ॥ सूत्रार्थमाक्षिपति । किं पुन-
रिति । लक्षणार्थं चेति । सामान्यलक्षणार्थं, न खलु सामान्य-
लक्षणमन्तरेण शक्यो विभाग इत्युक्तम् । समाधत्ते । नानार्थमि-
ति (१०४ । ६) लक्षणार्थत्वं सामान्यलक्षणार्थत्वम् । त-
न्मन्ते व्युत्पाद्यन्ते प्रमेयाण्यनेनेति तन्त्रं प्रमाणं, तदेवाधिकर-
णमाश्रयो ज्ञापकत्वेन येषामर्थानां ते तथोक्ताः । अशास्त्रितो-

ऽप्रामाणिक इत्यर्थः । आभिमानिकं च प्रामाणिकत्वं, तेन सिद्धान्तभेदिनामर्थानां सर्वेषां न प्रामाणिकत्वप्रसङ्गः ।

तदेवं भाष्यकारेण व्याख्याय सामान्यलक्षणं पठितमेवं व्याख्यानपूर्वकमेव विभागसूत्रं पठति । तन्त्रार्थसंस्थितिरिति । तन्त्रग्रहणेन च सर्वतन्त्रप्रतितन्त्रयोरुपादानं, तयोरपि तन्त्रत्वात्, तदिदमुक्तं तन्त्रभेदाच्चिवति । अनवधारितार्थपरिग्रह इति । साक्षाच्छास्त्रे नोपात्तो यथा मनस इन्द्रियभाव इति ॥ २७ ॥

सर्व-न्तः (सू. २८) ॥ यद्यपि घ्राणादिषु भौतिकत्वाभौतिकत्वादौ विप्रतिपत्तयस्तथाऽपि इन्द्रियत्वे नास्ति विप्रतिपत्तिरिति । तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे । सर्वेषामिति । अत्र चोदयति । न दृष्टान्तादिति । परिहरति । भिद्यत इति । न चैवं सर्वतन्त्रसिद्धान्तस्तस्य सर्वैरेव निश्चितत्वादिति । अनुमानागमयोरिति । (१०५ । १) सम्बन्धग्रहणाश्रयावनुमानागमौ, यत्र च सम्बन्धग्रहः स दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥

समा-न्तः (सू. २९) ॥ समानशब्द एकपद्व्यायः, नैयायिकानां हि समानं तन्त्रं न्यायशास्त्रं, परतन्त्रं च साङ्ख्ययादिशास्त्रम् । चेतना आत्मानो निरतिशया अपरिणामिनो न कने चिद्धर्मेणोपजनापायधर्मेण युज्यन्ते, प्राकृतेषु च तत्कारणेषु महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रभूतसूक्ष्मेषु विशेषोऽतिशय इत्यर्थः । तदेतत्सूत्रं वार्तिककृत्वाचष्टे । सामान्येति । योगानामेव सांख्यानामेवेति नियमः ॥

यत्-न्तः (सू. ३०) ॥ यस्म्यर्थस्य साध्यस्य वा हेतोर्वा, सिद्धाविति विषयसप्तमी, न तु निमित्तसप्तमी, द्वयोर्ज्ञानयो-

निमित्तनैमित्तिकत्वायोगात् । तेन यस्मिन्नर्थे ज्ञायमाने तदनुष-
ङ्गिणोऽर्थास्तदन्तर्भावेन ज्ञायन्ते सोर्थः साक्षादधिक्रियमाणस्त-
दनुषङ्गिणां चाधारः, तदाश्रयत्वात्तत्सिद्धेः, स पक्षो वा भवतु
हेतुर्वा तेन रूपेणाधिकरणसिद्धान्तः । पक्षस्तावद्विवादाध्यासि-
तमुपलब्धिमतकरणमुत्पत्तिमत्त्वाद् वस्त्रादिवदिति । अत्र हि पृथि-
व्यादिगतेनोत्पत्तिमत्त्वेनोपलब्धिमतपूर्वकत्वं तद्वत् साध्यमानं
स्वसिद्ध्यन्तर्गतानुषङ्गिसर्वज्ञत्वाद्युपेतमेव सिध्यति, नान्यथे-
होपलब्धिमतपूर्वकत्वसिद्धिरिति । भाष्ये हेतुमतिसन्धानं सिद्ध्यद्
अनुषङ्गयथान्तरान्वितं सिद्ध्यतीत्युदाहृतं, तदेतत्सर्वविरोधार्थ-
वार्त्तिककृदाह । वाक्यार्थेति । हेतुरीदृशः पक्षश्च वाक्यार्थ
इत्यर्थः । पूर्वोऽर्थोयः साक्षादधिकृतः तस्य सिद्धान्तर्गत इति
भाष्यार्थः ॥ ३० ॥

अथाभ्युपगमसिद्धान्तलक्षणसूत्रम् ।

अप-न्तः (सू. ३१) ॥ तद्वार्त्तिककारो व्याचष्टे । अ-
पराक्षितोऽसूत्रित इति । सूत्रितस्य प्रायेण परीक्षासम्बन्धा-
त् । मनसो हीन्द्रियत्वेनासूत्रितस्यापि इन्द्रियत्वाभ्युपगमः प्र-
माणाधिकरणो यतः तस्मादयमभ्युपगमसिद्धान्तः । सूत्रं चैवं
योजनायम्, असूत्रिताभ्युपगमाद्धेतोर्यतस्तद्विशेषपरीक्षणं क्रि-
यते तस्माद्विशेषपरीक्षणाज्ज्ञायतेऽसूत्रितमप्यभ्युपगतं सूत्रका-
रेण । सोऽयमस्याभ्युपगमोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । एवं स्वमतेन
सूत्रं व्याख्याय भाष्यकारव्याख्यानं दूषयति । शास्त्रानभ्यु-
पगत इति । प्रमाणीकृतेन शास्त्रेणाननुज्ञातः प्रमाणानधीन इ-
त्यर्थः । प्रमाणतन्त्राभ्युपगमसंस्थितिरिति सिद्धान्तसामान्यल-
क्षणं, न च प्रमाणानधीनाभ्युपगमस्तदन्वेतीति नायमीदृशोऽभ्यु-

पगमसिद्धान्तो भवितुमर्हतीति हृदि निधायायुक्तताऽपि दर्शिता ।
 अज्ञं प्रत्यसदाचारत्वात् प्रामाणिकं च पुरुषं प्रत्यशक्यत्वादिति
 बुद्धिमतोऽवज्ञानस्यायुक्तत्वादित्यर्थः । सर्व एवायं पक्ष इति ।
 (१०६।६) सर्वतन्त्रप्रतितन्त्रसिद्धान्तौ तावत्साक्षादभ्युपगम्यमानौ
 स्वमुखेनैव पक्षतयाऽभिधीयेते, अधिकरणाभ्युपगमौ तु साक्षाद-
 नभ्युपगम्यमानावप्यर्थादभ्युपगन्तव्यावित्यर्थापत्त्या पक्षावित्य-
 र्थः । ननु यद्युपपन्नप्रमाणतयाऽभ्युपगमः सिद्धान्तस्तर्हि सिद्धान्त-
 भेदिनामर्थानां प्रामाणिकत्वेन विरुद्धधर्मसमालिङ्गिता भावाः
 प्रसज्येरन्नित्यत आह नत्प्रत्ययात् । तस्य प्रमाणोपपन्नत्वस्य
 प्रत्ययादभिमानादित्यर्थः । पक्ष इति । पवि व्यक्तीकरण
 इत्यस्माद्व्युत्पन्नं कर्मतया व्यज्यमानतया उपादानं स्वार्थस्य
 पक्ष इति पदमुपादीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या । क्रियासाधन इति ।
 प्रधानक्रियासाधने । क्रियाविशेषयुक्त इति । अवान्तरव्या-
 पारयुक्ते । तेन हि प्रधानक्रियायां कारकाणां वैचित्र्यं भवतीति ।
 यश्चासौ न्यायस्याभ्युपगम इति । यावदभ्युपगतं न्यायस्य
 साधनं न्याय इति तावदभ्युपगतं भवति प्रमेयसाधनं प्रमाणमिति,
 न च धर्मिण्यनभ्युपगते तदाश्रयोऽभ्युपगतो भवति, तस्मादुभ-
 यथाऽपि सर्वतन्त्रसिद्धान्तानपह्नव इत्यर्थः । अथ सङ्ग्रहः पक्ष-
 शब्देनेति । (१०७।६) । यथा दण्डशब्देन दण्डसम्बन्धोप-
 हितसीमानः समानासमानजातीयाः सर्वे संगृह्यन्ते तथा पक्षश-
 ब्देनापीत्यर्थः । अयं तु कल्पः सर्वतन्त्रसिद्धान्ताव्यापकत्वकथने-
 नैवार्थादपाकृत इति न पृथग् निराकृतः । पक्षशब्दो हि व्यज्य-
 मानत्वोपाधिवन्धनप्रवृत्तिः, न च व्यज्यमानत्वमस्ति निसर्ग-
 व्यक्ते सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति भावः । वाक्यार्थप्रतिपत्ता-
 विति । पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्के इत्यस्य दिवा भोजननिषे-

थोऽर्थः तस्मात्तद्विपरीतरात्रिभोजनविधिरथापत्तिर्लोकसिद्धा,
सा च न यथा प्रमाणान्तरफलं, तथा द्वितीये निवेदयिष्यते ।
तदनेन प्रबन्धेन भदन्तदिग्नागोदितानि दूषणानि निराकृ-
तानि ॥ ३१ ॥

प्रति-वाः (सू. ३२) ॥ वार्त्तिककारः सूत्रतात्पर्यमाह ।
अवयवानामिति । नन्ववयवसामान्यलक्षणमन्तरेणाशक्यो
विभागोद्देशः तद्विशेषलक्षणं च । न चेदं सामान्यलक्षणं, विभा-
परत्वादित्यत आह । सूत्रम् । विभागपरमप्येतदर्थोदवयवसा-
न्यलक्षणं सूचयतीति सूत्रम् । अन्यपरादपि वाक्यात् प्रतीय-
मानोऽर्थोऽपेक्षितः स्वीक्रियते एवेति शाब्दाः । तत्रावयवपदा-
देव सामान्यलक्षणमवगम्यते । अवयवत्वेनैकवाक्यता दर्शि-
ता, सा च पदानां परस्परापेक्षितसम्बन्धयोग्यार्थाप्रत्याय-
ने न भवति, तस्मात्तथाविधार्थप्रत्यायनमेव प्रतिज्ञादीनामवयव-
सामान्यलक्षणं सिद्धमिति सूत्रमित्यनेन दर्शितं वार्त्तिककृतेति ।
विभागोद्देशतात्पर्यमाह । विभागेति । त्र्यवयवग्रहणमुपलक्ष-
णार्थम्, द्व्यवयवमित्यपि द्रष्टव्यम् । अत्र भाष्यं, तत्राप्रतीयमा-
न इति । सामान्येनावधृते धर्मिणि विशेषेणाग्निमत्त्वादिना सन्दिग्धे
अग्निमत्त्वादितत्त्वावधारणं प्रत्ययः, तस्यार्थः प्रयोजनं हानोपा-
दानोपेक्षाबुद्ध्यः, तस्य प्रवर्तिका उत्पादिका जिज्ञासा । प्रत्य-
यसाधनानुसरणद्वारेण प्रत्यासात्तिः संशयतत्त्वज्ञानयोर्विषयगता,
न तु स्वरूपगता, संशयानन्तरया जिज्ञासया संशयस्य व्यवधा-
नात् । शक्यं प्रमेयं तस्मिन् प्राप्तिः शक्तता प्रमाणानां प्रमातुश्च,
सा च स्वरूपसहकारिभ्यां द्वेधा । तामिमां भाष्यकारोऽनया
वाचोभङ्गा दर्शयति । प्रमातुः प्रमाणानीति । प्रतिज्ञादि-
वदिनि वैधर्म्यदृष्टान्तः । प्रतिपक्षोपवर्णनमिति । यदि

शब्दो नित्यः स्यान्न स्यात्कृतक इति अनित्यत्वस्य नित्यत्वं प्रतिपक्षः तस्मिन् हेत्वभाववर्णनं न चायमकृतक इति तदुपवर्णनप्रतिषेधे सति तत्त्वज्ञानाभ्यनुज्ञानार्थम् । तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति तत्त्वज्ञानं प्रमाणं, तदभ्यनुज्ञानार्थं संशयव्युदासस्तर्कापरनामा । व्युदस्यते ह्यनेन प्रमाणाभ्यनुज्ञानद्वारेण प्रमाणेतिकर्तव्यताभूतेन संशय इति । तदेतज्ज्ञाप्यजातं प्रश्नपूर्वकं वार्त्तिककृद्वाचष्टे । कथं पुनरिति । न पुनर्जिज्ञासादयः परप्रतिपादकाः शब्दादवगताः सन्तः । अथ माभूवन् परप्रतिपादकाः स्वप्रतिपादका एव कस्मान्न भवन्तीत्यत आह । निश्चितत्वाच्चेति । (१०८। ५) साधनादेव गम्यते प्राप्यते प्राप्तं च ज्ञायते इत्यर्थः । शक्यप्राप्तिश्च प्राप्यते ज्ञायते इत्यर्थः । तत्किं सर्वथैवानङ्गं जिज्ञासादय इत्यत उक्तं भाष्यकृता, प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्था इति, तदेतज्ज्ञाप्यं व्याचष्टे । प्रकरणे त्विति । प्रकरणं कथाप्रवृत्तिः, तदुत्थापका जिज्ञासादयोऽवयवा अङ्गमित्यर्थः । ते च जिज्ञासादय उत्पन्नाः प्रकरणस्योत्थापकाः स्वरूपेण, न पुनः स्वज्ञानेन, येन स्वशब्दप्रतिपाद्याः सन्तः प्रकरणेऽप्यङ्गं भवेयुः, यथा प्रतिज्ञादयः स्वज्ञानेन स्तार्थान् प्रतिपादयन्तः, तस्मात्सर्वथैव जिज्ञासादिवाचकपदप्रयोगोऽनर्थक इति भावः । अत एवाह परप्रतिपादकत्वादिति । तुशब्दो जिज्ञासादिभ्यो व्यवञ्छिनति । अथवावयवमपीत्यपिना अवयवप्रतिषेधं समुच्चिनोति । उपनयनिगमनयोरित्यत्र प्रतिज्ञाया अपीति द्रष्टव्यम् ॥ ३२ ॥

साध्य-ज्ञा (सू. ३३) ॥ परिगृह्यतेऽनेनेति परिग्रहः, स च वचनं चेति परिग्रहवचनम् । उदाहरणमनित्यः शब्द इति । तदाक्षिप्य वार्त्तिककारः समाधत्ते । सिद्धत्वादिति ।

अग्निमानेव नातद्वाङ्, नास्याग्निनेदानीमयोगः । स च पर्वतेऽग्निम-
 ति साध्यमाने विशेषणविशेष्ययोः परस्परसम्बन्धलक्षणो निय-
 मोऽर्थात् सिध्यति, न तु साक्षादयोगव्यवच्छेद एव साध्यः,
 लिङ्गस्यान्यापोहविषयत्वानभ्युपगमात् । तस्य निर्देश इति ।
 (१०९ । १६) निर्दिश्यतेऽनेनेति हि प्रतिज्ञावाक्यमुच्यते ।
 अत्रान्ययोगव्यवच्छेदं वाक्यार्थं मन्वानो भदन्तः प्रतिज्ञालक्षण-
 मतिव्याप्त्यव्याप्तिभ्यामाक्षिपति । उभयेति । उभयोरवधार-
 णयोः प्राप्तौ संशयेन किमिदमवधार्यते किं वेदमिति प्रसक्ता-
 विसर्थः । प्रतिज्ञावधृतेति । यत एवकारो न ततोऽन्यत्रावधा-
 रणमिति हि शाब्दा इति भावः । व्यतिरेकित्वादिति । व्य-
 भिचारित्वादित्यर्थः । समाधत्ते । सर्वस्मिन्वाक्य इति ।
 (११० । ६) संसर्गो वाक्यार्थ इत्युत्सर्गः, कचित्पुनरन्ययोगव्य-
 वच्छेदोऽपीति । सामान्यश्रुतौ नियम इति । यथेन्द्रियार्थस-
 न्निकर्षोत्पन्नमित्युक्ते ज्ञानं सुखादि च सामान्येन प्राप्तं, तत्र ज्ञा-
 नग्रहणं न विधायकं प्राप्तत्वादतः सुखादिव्यवच्छेदफलं विज्ञाय-
 ते, यदि त्वस्मदर्शनमातिक्रम्य सर्वत्रावधारणं करोति ततोऽस्य
 लोकविरोध इत्याह । सर्वत्र चेति । तत्किं लोके न कचिदव-
 धारणमित्यत्राह । यत्र चेति । चोदयति । ननु चेति । सिद्ध-
 मतिक्षेपः साध्यशब्दस्यार्थ इत्यभिप्रायः । परिहरति । न सूत्रा-
 र्थेति । सन्देहेऽप्यदमुपतिष्ठते, व्याख्यानतोऽर्थप्रतिपत्तिरिति भा-
 वः । चोदकः स्वाभिप्रायमुद्घाटयति । अथ पुनरिति । अ-
 साध्यनिर्देशः सिद्धनिर्देशः तस्य निवृत्तिः साध्यशब्दादवग-
 म्यते, न तु प्रज्ञापनीयोऽर्थ इत्यर्थः । परिहरति । असाध्यं
 चेति । भवेदेतद्यदि सिद्धमात्रमसाध्यं स्यादपि त्वनुपपद्यमानं
 साधनं सिद्धिर्यस्य तदप्यसाध्यं, तथा चासिद्धस्य चाधुषत्वादे-

निवृत्तिरित्यर्थः । पुनश्चोदयति । अथ पुनरिति । (१११।२)
 न कृतकत्वादि साध्यं, नाप्यनुपपद्यमानसाधनं, नापि कृतक-
 त्वादि पराङ्गत्वेनोपात्तं येनापज्ञापनीयं स्यादित्यर्थः । परिहरति ।
 नैष दोष इति । प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्र-
 हवचनमिति सूत्रार्थः, न पुनर्धर्ममात्रपरिग्रहवचनमिति । अभ्युप-
 गम्य व्यवच्छेदं शब्दार्थमेतदुक्तं, परमार्थतत्त्वनियमः, कचित्संसर्गः
 कचिद् व्यवच्छेद इत्याह । यच्चेदमिति । इतोऽपि नासिद्धयोर्हे-
 तुदृष्टान्तयोः प्रसङ्ग इत्याह । साध्यनिर्देश इति च प्रतिज्ञा-
 यामिति । प्रमाणतन्त्रः खल्वभ्युपगमसिद्धान्तः, न च चा-
 क्षुषत्वादिषु प्रमाणमूलता, तदभिमानोऽपि बाधकादपाकृत इ-
 ति । ननु यदि सर्वतन्त्रासिद्धान्तातिरिक्तानां सिद्धान्तान्तरा-
 णां साध्यत्वं, तर्हि साध्येनैव चरितार्थत्वादपार्थक्यं पृथगभिधा-
 नमेतेषामत उक्तमवस्थायामिति । विमत्यवस्थायाम् । सर्वतन्त्रे तु
 विमतिरशक्येत्युक्तम् । परिहारान्तरमाह । जिज्ञासादीति ।
 (११२।७) विभागसूत्रेण प्रकरणोत्थानहेतवो वाक्यावयवतया
 निराकार्यतया जिज्ञासादयो बुद्धिस्थीकृतास्तेन यत्र जिज्ञासा-
 दयः स साध्यः, न च चाक्षुषत्वादिषु प्रमाणबाधितेषु सन्त्येत
 इत्यर्थः । परिहारान्तरमाह । अर्हत्यर्थ इति । अपरमपि परिहा-
 रमाह । कर्मकरणयोरिति । एवं तावद्व्युत्पत्त्यादिपर्या-
 लोचनया साध्यशब्दस्य न हेतुदृष्टान्तयोः प्रसङ्ग इत्युक्तं, सम्प्र-
 ति लोक एवातिस्फुटास्तिस्रो विशा अर्थानां, कृतमत्र सूक्ष्मानु-
 सरेणेनेत्याह । साध्याऽसिद्धसिद्धभेदादिति । अन्यतरा-
 सिद्धयोर्हेतुदृष्टान्तयोः प्रसङ्गो माभूदिति कर्मतया त उपादी-
 यन्त इत्युक्तम् । उभयपक्षेति । पक्षशब्दो वर्गवचनः, सम्प्रति-
 पन्नमुभयोर्वर्गयोरित्यर्थः । परिहारान्तरमाह । अथ चेति । अव-

यत्रानामेतत्प्रकरणं, तेषां च प्रधानैकार्थप्रत्यायनेनैकवाक्यना-
मापन्नानामवयवभावः, यत्प्रत्यायनोद्देशेन च ते प्रवर्तन्ते तत्प्रधा-
नं, धर्मी च सिषाधयिषितधर्मविशिष्टस्तथा, न च साक्षात्तत्प्र-
त्यायनाय ते विभवन्तीति तदर्थं साधने व्याप्रियन्ते, तेन सि-
षाधयितधर्मविशिष्टो धर्मी तेषां प्रधानं विषयः, प्रधानं च प्रथमं
बुद्धौ विपरिवर्तते इति साध्यशब्देन स एवोच्यते न तु हेतुदृ-
ष्टान्तावप्रधाने इत्यर्थः । तदेवमदुष्टमस्मल्लक्षणमिति यदस्मल्लक्ष-
णमनेन दोषेण भङ्क्ता भदन्तेनान्यथा लक्षणं प्रणीतं तदेव दुष्ट-
मित्याह । न चेदयामिति । (११.३।३) ननु यत्र साध्यपदम-
स्ति, भवतु तत्रेष्टग्रहणमनर्थकं, न त्वस्मिंस्तदस्तीति कथमिष्टग्रह-
णमनर्थकमित्यत आह । कर्मग्रहणाच्चेति । माभूत्साध्यपदमस्ति
तु पक्षपदं, तदपि हि पठ्यमानं व्यज्यमानं साध्यमेवाह, तच्च
कर्म चेप्सितमिति । प्राप्तुमिष्टमित्यर्थः । चोदयति । अथाप्य-
निष्टेति । नन्वनिष्टः पक्ष इति विप्रतिषिद्धमित्यत उक्तम् । अ-
र्थतः किलेति । वस्तुव्यवस्थापनाय प्रवृत्तस्य तादृशं नेष्ट-
मित्यर्थः । बौद्धपक्षमुपन्यस्यन्नेव मध्ये तदभिमतं किञ्चि-
न्निराकरोति । अश्रावण इति । कृतव्याख्यानमेतत्प्रथम-
सूत्रे । कारणतो विकारादित्येवमादेः न व्यङ्ग्यं व्यञ्जकं
कारणमनुविधत्ते । नो खलु महति प्रदीपे घटो महानल्पे-
वाऽल्प इति, महति तु कारणे महान् शब्द इति । त-
स्मात्कारणतो विकारात् कार्यः शब्दो यथा महाद्भिः स्थूल-
पिण्डैरारब्धोऽवयवी महानिति । तदनेन प्रत्ययभेदभेदित्वं हेतु-
रूपलक्षितो भवति । आदिशब्देन सतः शब्दस्याभिव्यक्तौ दो-
षादित्येवमादयो ग्राह्याः । दोषश्च दर्भेध्मादिवदुपयुक्तानामृचां
निरिष्टिकत्वेन पुनरनुपयोगः, कार्यत्वे पुनरन्यत्वेन न निरिष्टि-

कत्वमित्यर्थः । यद्यप्यागमोऽपि शब्दानित्यत्वेऽस्ति, यथा 'सो-
मं राजानमसृजत ततस्त्रयो वेदा असृज्यन्त' इति. तथाऽपि
'नासदासीन्न सदासीदाम्नाय एव खल्वयमग्र आसीत्' इति नित्य-
त्वेऽप्यागमदर्शनादनिश्चयादनुमानस्यैवात्र प्रामाण्यं, तथा चानु-
मानविरोध इति । प्रसिद्धिविरोधं तु न बुद्ध्यामहे प्रमाण-
विरोधाद्भेदेन । अबोधमाह कोऽयं प्रसिद्धिविरोध इति ।
एकग्रन्थेनाह (११४।१) प्रसिद्धिः प्रत्यक्षादीनामिति । अचन्द्रः
शशीति यदि चन्द्रे शशिब्दवाच्यत्वं निषिद्ध्यते, तदा लोकव्य-
वहारावगतान्वयव्यतिरेकप्रभवानुमानविरोधः । अथ विकल्प-
ज्ञानगोचरत्वनिषेधः, ततो भवतां स्वसंवेदनप्रत्यक्षाविरोधो-
ऽस्माकं तु मानसप्रत्यक्षविरोध इति सर्वथा न प्रमाणादन्या
प्रसिद्धिरिति । तदेवं बौद्धपक्षमुपन्यस्य तदुक्तान्युदाहरणानि दू-
षयित्वा बौद्धपक्षमुपसंहरति । एतदर्थेति । तदेतद्दूषयति ।
एतच्चेति । वस्तु हि यादृशं स्वकारणादुत्पन्नं तादृशमेव तत्,
न तस्यान्यथाभाव इति न तत्र दोषो निविशते, तद्विषयाणि
पदान्यपि प्रत्येकमदुष्टान्येव, या पुनः पौरुषेयी दृष्टमन्यत्रार्थ-
मन्यत्र समारोप्य भ्रान्त्या वा परविप्रलम्भाय वा प्रतिज्ञादि-
रूपेण वाक्यक्रिया सा स्ववचनविरोधादिशालिनी दुष्टा तद्द्रा-
रेण पुरुषो निगृह्यते नार्थो न पदानीति स्वार्थापवादः स्ववच-
नविरोधः कर्तृदोषो भ्रमो वा विप्रलम्भो वा क्रियायामुपचर्यते ।
न च क्रियायाः भ्रमो वा विप्रलम्भो वा, तयोरभिप्रायभेदतया
पुरुषधर्मत्वात्, क्रियायास्तु बाधनात् पुरुषाभिप्रायावगति-
रिति क्रियाद्वारेणेत्युक्तम् । चोदयति । प्रतिज्ञाया इति ।
तदेतदतिप्रसङ्गेन दूषयति । नैतद्युक्तं हेत्वादीति । न पुन-
र्दूषणानि न्यूनतावयवान्तरदोषाक्षेपभावोद्भावना-

नीति । (११५।१) त्रैरूप्यसम्पन्नो हेतुः पूर्णः, स त्रिषु रूपेष्व-
 न्यतमेन रूपेण रहितो न्यूनोऽसिद्धो वा विरुद्धोऽनैकान्तिको
 भवतीति सोऽयं न्यूनतादोषो हेतोः । अवयवदोषश्च प्रतिज्ञादोषः
 स्ववचनविरोधादिः हेतुदोषोऽसिद्धत्वादिरेवमुदाहरणदोषः सा-
 ध्यविकलत्वादिः, उत्तरदोषो जातिः प्राप्त्यप्राप्तिसमादिः तस्या-
 क्षेप उपादानं स्वीकार इति यावत् । भावोऽप्रतिभादिः स हि
 वादिनो वा प्रतिवादिनो वाऽभिप्रायः, तस्योद्भावनानि दूषणा-
 नीति । न हि सम्भवे सत्युपचार इति । प्रतिज्ञागता हि
 दोषा यदि तद्गतत्वेनोद्भाव्यमाना न वादिनो निग्रहमापादयेयुः,
 ततस्तत्र निष्प्रयोजनत्वेनासम्भवात् पक्ष एव उपचर्येरन्,
 पारयन्ति तु प्रतिज्ञागतानि दूषणानि निग्रहीतुं वादिन-
 मिति । सोऽयं प्रतिज्ञागतानां दोषाणां प्रतिज्ञायां सम्भव
 इति । कस्मात् पुनर्मन्वास्था इत्येव न युज्यत इत्यत उक्तं,
 लौकिकप्रयुक्तवाक्यार्थान्वाख्यानं नानादिलोकप्रयोगो
 नियोज्यः पर्यनुयोज्यो वेत्यर्थः । स्यादेतत् । इष्टग्र-
 हणमनक्षरारूढमप्यभिप्रायव्याप्तं यथा स्यादित्येवमर्थः, यथा
 परार्थश्चक्षुरादय इति । अत्र हि परार्थमात्रमक्षरारूढं न
 च तन्मात्रं साध्यमपि त्वात्मपरार्थं, तच्च नोच्चारयति,
 माभूदनन्वयो हेतुः सङ्घातत्वादिति, तस्मात्तदवरोधाय-
 ष्टग्रहणमित्याह । अत्रेष्टग्रहणेनेति । परिहरति । अय-
 मप्यर्थः साधनादेव गम्यते । अयमभिसन्धिः वचनलिङ्गा
 हि वक्तुरभिप्राया भवन्ति, यत्परं च वचनं स वचनार्थः, ता-
 त्पर्यं चास्य कचिद्वाच्ये कचिल्लक्ष्य इति सर्व एवासौ वचना-
 र्थः । यस्तु नैवंविधः कथमसौ वचनार्थः कथमसौ वाच्यभिप्राय-
 व्याप्त इत्यवगन्तव्यं । न च कचिदपि पक्षः प्रतिज्ञापदवाच्यस्त-

स्य वाक्यार्थत्वेन लक्ष्यत्वादेवेति । अनिष्टनिवृत्तिरिष्टेति ।
तत्साधनमनिष्यमाणमपि तदानीमिष्टमेव, अन्यथा तत्र प्रयत्ना-
नुत्पत्तेरिच्छापूर्वकत्वात्तस्येति । अथ संशयो विचारणेति ।
ततश्च संशयविषय इष्यमाणो जिज्ञास्यमानश्च साध्य एव भवति
न साधनादिरित्यर्थः । स्थानान्तरीयं च भदन्तस्य लक्षणं,

“साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः ।” इति ।

तत् दूषयति । एनेनेति । (११६ । ७) अत्रापि हि
साध्यपदादूर्द्ध्वं वृथाक्षरचतुष्टयमिति । तथा पक्षो यः साधयितु-
मिष्ट इत्यत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थानिराकृतग्रहणं न क-
र्त्तव्यम् । एतदुक्तं भवति । न केवलमस्माकमेतद्विरुद्धार्थानिरा-
कृतपदमनर्थकं प्रतिभाति, समानतीर्थानामपि तथा विभाति य-
तस्तैर्ज्ञोपात्तमिति । अत एव वक्तव्यं पक्षो यः साधयितुमिष्ट
इति, (११७ । ५) यद्यप्यत्रापि प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारयोः साध-
यितुमिति समानं, तथाऽपि तुमुना य एव साधयितावादी स
एवैषितेत्युक्तं भवति । न पुनर्वादिनो नियोक्ता साधयिता वादी
चैषितेति । एषितृत्वं च वादिनो ध्रुवं कृत्वैतदुच्यते । यदा पुनरे-
षितृत्वमपि प्रयोजके सञ्चार्यते तदा स्वयंग्रहणेनाप्यप्रतीकार
इत्यभिप्रायः । तत्त्वभाक्तयोश्चेति । (११७ । ६) सिद्धः
साध्यस्य प्रयोजकः कर्ता, स हि सिध्यन्तं साध्यं साधयति
वादी, तस्मिन्नियं साधना समवेता । यस्तु तस्यापि प्रयोजक-
स्त्वृतीयस्थानपतितो न तस्मिन् साधना समवैतीति यः कार-
यति स करोत्येवेति कथञ्चिदस्य भक्त्या कर्तृत्वं, तच्चायुक्तं सति
मुख्ये कर्त्तरीत्यभिप्रायः । आश्लस्यं मुख्यत्वम् । पूर्वाभिप्राय-
स्थितमर्थमुद्घाटयति । तुमुनश्चेति । अत्रोक्तं भाष्यकारीया-
भ्युपगमसिद्धान्तनिराकरणावसरे । अप्रमाणकमर्थमिति ।

यस्तावच्छास्त्राविरुद्धोऽर्थः प्रमाणसिद्धः, स शास्त्रीय एव शा-
स्त्राभ्युपेतप्रमाणसिद्धत्वात्, तं व्युत्पादयन् न शास्त्रं बाधते ।
यस्तु प्रमाणीकृतवैशेषिकतन्त्रः शब्दनित्यत्वं साधयति, सोऽन-
वधेयवचनः न हेत्वभिधानं यावत्परिषत्प्रतिवादिभ्यां नीयते,
अपि तु प्रतिज्ञोच्चारणानन्तरमेव निगृह्यते । यस्तु वैशेषिकतन्त्रा-
ध्ययनमात्राद्वैशेषिकत्वमात्मनो दर्शयित्वा शब्दनित्यतां प्रति-
जानीते नासौ प्रमाणीकृतवैशेषिकतन्त्र इति न स निगृह्यते ।
यश्चाप्रमाणकोऽभ्युपगम इति । अभ्युपगम्यत इत्यभ्युपग-
मः । तदभिधानं प्रतिज्ञेति चरुव्यमिति । (११८ । १)
साध्यग्रहणात्तद्ग्रहणस्य लाघवादिस्वर्थः । यस्तु तत्र भवता
नैयायिकेनेति । प्रकृतमुपसंहरति । तस्मादपेक्षेति ॥ ३३ ॥

अवान्तरसङ्गतिं प्रदर्शयन् प्रतिज्ञावचनस्य साधनाङ्गत्वमपि
दर्शयति । हेतोरवसरप्राप्तस्येति । प्रतिज्ञानन्तरं हेतुवचनस्या-
वसरः । तथा हि परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयन्ति प्रेक्षावन्तः,
तदेव च परं बोधयितव्या यद्बुभुक्षन्ते, तथा सत्यनेनापेक्षिता-
भिधानात् परो बोधितो भवति, नो खल्वाम्भान् पृष्टः कोविदा-
रानावक्षाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति, अनवधेयवचनश्च कथं
प्रतिपादको नाम, यथा च माठर समिधमाहरेति गुरुणा प्रेषित
एषोऽहमाहरामीत्यनुक्ता तदर्थं यदायं गृहं प्रविशति तदाऽस्मै
कुप्यति गुरुः, आः शिष्यापसद छान्दमवत्तर माठर मामवधीर-
यसीति ब्रुवाणः । एवमनित्यं शब्दं बुभुक्षमानायानित्यः शब्द
इत्यनुक्ता यदेव किञ्चिदुच्यते कृतकत्वादिति वा यत्कृतकं तद-
निसमिति वा कृतकश्च शब्द इति वा तत्सर्वमस्यानपेक्षितमापा-
ततोऽसम्बद्धाभिधानं, तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हति । य-
त्कृतकं तत्सर्वमनित्यं, यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनम-

र्थसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानि सत्त्वनिश्चायकमिसवधानमत्रेति चेन्न,
परस्परश्रयत्वप्रसङ्गात् । अवधाने सत्यतोऽर्थनिश्चयस्तस्मा-
च्चावधानमिति, न च परिषत्प्रतिवादिनौ प्रमाणीकृतवादिनौ
यदेतद्वचनमनुसन्धाय प्रयतिष्येते, तथा च सति न हेत्वाद्यपेक्षे-
तां, तद्वचनादेव तदर्थनिश्चयात् । अनियः शब्द इति त्वपेक्षित
उक्ते कुत इत्यपेक्षायां कृतकत्वादिति हेतुरूपतिष्ठते । सोऽयं
पञ्चावयवप्रयोगे च तल्लक्षणे च प्रतिज्ञानन्तरकाल एवावसरो
हेतोः, तदेवं हेतोः स्वरसमाप्तस्य सामान्यलक्षणापदेशद्वारेण तद्वि-
शेषलक्षणसूत्रम् ।

उदा-तुः (सू. ३४) ॥ श्रुत्यर्थप्राप्त्यवयवलक्षणमूचना-
त्सूत्रम् । अत्र च हेतुरिति लक्ष्यनिर्देशः, स च विभागोद्देशे
वाक्यावयव इति वचनरूपः, तस्य सामान्यलक्षणं साध्यसा-
धनमिति । साध्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या यद्यपि पारार्थ्यापन्नं
कृतकत्वादिकमर्थमाह, तथाऽपि तस्य वचनात्प्रकहेतुसामाना-
धिकरण्यानुपपत्तेर्विषयि कृतकत्वादित्यादिकं वचनमुपलक्ष्य-
ति । यदि च वचनं हेतुरित्युच्येत, तत्साध्येन समभिव्याहृतं प्र-
तिज्ञा स्यात् । अथ वचनमित्येतावदुच्येत, तदातिव्याप्तिः स्यात् ।
उपचारे तु न क्वचित्प्रसङ्गः, उपनयादपि साधनं न परा-
ङ्गतया गम्यते, किं तु प्रातिपदिकार्थप्रधानतया स्वनिष्ठमिति न
तत्रापि प्रसङ्गः । हेत्वाभासाश्च न साधनमिति साधनपदेनैव
निराकृताः । न्यायवाक्यावयवत्वेन च नान्यशब्दे प्रसङ्गः ।
तदेवं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वं सिद्धं सामान्यलक्षण-
स्य । इदं चाऽऽर्थम्, श्रुतं तु विशेषलक्षणम् । हेतुरिति यद्यपि
सामान्यपदं, तथाऽपि प्रकरणादन्वयव्यतिरेकिहेतुपरं द्रष्टव्यम् ।
तेन हेतुरिति लक्ष्यनिर्देशः परिशिष्टं तु लक्षणम्, तदेतद्व्याप्यक-

व्याचष्टे । उदाहरणेनेति । साधर्म्यपदव्याख्यानं सामान्या-
 दिति । साध्यसाधनपदव्याख्यानं साध्यस्य धर्मस्येति । साध्य-
 स्येति धर्मिमात्रे बुद्धिर्मा भूदत उक्तं धर्मस्येति । धर्मसहितस्य धर्मि-
 ण इत्यर्थः । तदेव स्फुटयति । साध्ये प्रतिसन्धायेति । उदाह-
 रणे साधर्म्यात्साध्यस्येत्यनेनान्वयपक्षधर्मत्वे अन्वयव्यतिरेकप-
 क्षधर्मत्वानि च दर्शितानि । साध्यसाधनमित्यत्र च साध्यग्रह-
 णेनावधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे सूचिते । तद्विपरीतस्य साध-
 नानर्हत्वादिति, तदेतद्वार्त्तिककारो व्याचष्टे । उदाहरणेनेति । यो
 धर्मो धूमादिः साध्ये भवति स तथाभूत एवोदाहरणेऽपी-
 ति । उदाह्रियत इत्युदाहरणं दृष्टान्तधर्मो तस्मिन् । न पुनः स एव,
 कुतः, अन्यधर्मस्येति । यदि तर्हि नान्यस्य धर्मोऽन्यत्र वर्त्तते,
 कथं तर्हि समानता सा हि तत्त्वान्यत्वविरोधिनीत्यत आह ।
 किं तु तत्तुल्यः स एवोच्यते । यथा तानेव शालीन् भुञ्जुमहे
 तानेव तित्तिरीनिति । तदनेन सामान्यादिति भाष्यं व्याख्या-
 तम् । उदाहरणग्रहणप्रयोजनमाह । यदि पुनरिति । साधर्म्यमात्रं
 हि विरुद्धे चासाधारणे सव्यभिचारे चास्ति, तेषामपि वचनं
 हेतुः स्यात्, तेषामपि यथास्वं साधारणत्वादित्यानिष्टमित्यर्थः ।
 ननु तथाऽपि सव्यभिचारेऽप्युदाहरणसाधर्म्यमिति कथं नि-
 वर्त्तते इत्यत आह । उदाहरणेति । विशिष्टविधानस्य शेषनि-
 षेधोऽर्थसिद्ध इत्यर्थः । पक्षान्तरमाह । अवधारणेन वेति ।
 (११९ । १) साधर्म्यादित्यतो विशेषेण सर्वसाधर्म्यप्राप्तावु-
 दाहरणसाधर्म्यमपि प्राप्तमेवेति विधानानर्थक्ये परिसङ्ख्यापकं
 सदवधारणार्थमेव भवति, तदवद्योतनाय चैवकार इत्यर्थः ।
 साधर्म्यमेवेत्यत्र साध्यपदं योजनीयं, तेन साध्यैकदेशासिद्धि-
 मपाकरिष्यति । पृच्छति । कस्य पुनरिति । उत्तरम् कस्या-

न्यस्येति । अत्रैव हेतुद्वयमाह । प्रकृतत्वात् प्रत्यासत्तेश्च ।
 साध्यं खल्वत्र प्रकृतं प्रधानं, तदुद्देशेनावयवानां प्रवृत्तेः, साध्य-
 साधनमिति च पदेन सन्निधापितमिति तदेव । द्वितीयमवधार-
 णं स्फुटिकीरोति । अत्रापि चेति । साध्ये प्रतिसन्धायेति
 भाष्यार्थमाह । साध्योदाहरणाभ्यामिति । द्वाविति ।
 सपक्षे व्यापकाव्यापकावित्यर्थः । अनैकान्तिकस्य चेति । सा-
 धारणस्य वा असाधारणस्य वेत्यर्थः । एवं भाव्यमानेने-
 ति । (१२० । २) परिभाव्यमानेन । नातिप्रसक्तस्येति ।
 परिसङ्ख्यायकं हेत्वाभासलक्षणं न विधायकमित्यर्थः ।

एतत्किल हेतुलक्षणं भदन्तो दूषयावभूव,

“साधनं यदि साधर्म्यं न वाक्यांशः”-

न ह्यर्थः पञ्चावयववाक्यस्यावयवः ।

“न पञ्चमी”-

यदि साधनसाधर्म्ययोरत्यन्ताभेदो यदि वा सामान्यवि-
 शेषभावेन कथञ्चिद्भेद उभयथाऽपि न पञ्चमी, साधनसा-
 मानाधिकरण्येन प्रथमाप्रसङ्गात् । अत्यन्ताभेदे चैकतरपदाप्र-
 योगात् ।

“वाक्यं चेत्-”

ततः पञ्चम्युपपद्यते । साधनं हि वाक्यरूपं साधर्म्यादर्थ-
 दुत्थितं यतः ।

“तद्विशेष्यं स्यात्”-

न हि वाक्यमेवार्थादुत्थितम्, अपि तु विवक्षाद्यपीति । न
 विशेष्यं कुतः,

साधनत्वादसंभवः ।”

अर्थसमुत्थानामपि ज्ञानविवक्षादीनामप्रसङ्गो ऽसाधन-

त्वादिति ।

“न तत्रापि द्विधा दोषात्—”

साक्षाद्वा साधनं पारम्पर्येण वा, यदि पारम्पर्येण, वक्तु-
ज्ञानं तर्हि साक्षात्साधर्म्यसमुत्थं पारम्पर्येण च श्रोतुः साध्य-
विज्ञानसाधनं हेतुः स्यात् । अथ साक्षात्साधनं, तर्हि श्रोतु-
ज्ञानं पारम्पर्येण साधर्म्यसमुत्थं साक्षात्साधनं हेतुः स्यात् ।

“प्रकृते त्वन्यसम्भवः ।”

यदि तु पञ्चावयववाक्यस्य प्रकृतत्वाज्ज्ञानादिव्यवच्छेदः,
तथाऽप्यन्यसम्भवः, उपनयस्यापि साधर्म्यसमुत्थत्वात् ।

“स्वलक्षणेन बाधा चेन्न विकल्पादिसम्भवात् ।

तस्मात् पृष्ठ्यस्तु तत्रापि विशेषणमनर्थकम् ।”

साधर्म्यस्य हेतुरित्येतावन्मात्रं वक्तव्यमिति । तदेतद्विधा-
गदूषणमुपन्यस्यति । उदाहरणसाधर्म्याच्चेति । यद्यर्थात्म-
कं साधर्म्यमेव साधनमुच्यते तदैतद्दूषणमित्यर्थः । यदि पु-
नरर्थात्मकस्य साधर्म्यस्यार्थात्मकमेव साधनं सामान्यमुच्यते,
तत्राह । अथ पुनरिति । तदिदमुक्तं भदन्तेन । “न पञ्च-
मी ।” अन्ये त्वेतदन्यथा व्याचक्षत इत्याह । अन्ये त्विति ।
विशेषातिरिक्तं न सामान्यं नाम किञ्चिदस्ति, तस्य कल्पना-
मात्रत्वात् भेदस्य च वस्त्वधिष्ठनित्वादित्यभिप्रायः । दोषान्तर-
माह । साध्यसाधनेति । यदा हि साध्यसाधनं नामोदाहर-
णसाधर्म्यादतिरिक्तं नास्ति, किं तु शब्दमात्रमवशिष्यते, तदो-
दाहरणसाधर्म्यमनेनाभिधेयत्वेन विशेषणीयं, तथा च साध्यनि-
र्देशः प्रतिज्ञेत्यनेन विरोधः । अनेन ह्यवयवः शब्दात्मकः प्रति-
ज्ञा लक्ष्यते, हेत्वादिसमुदायापेक्षया चावयवो भवति, न चाभि-
धानाभिधेयात्मकः समुदायो दृष्ट इति, तस्मात्समुदायाभावा-

नोभयेषामवयवत्वं, तदिदमुक्तं “न वाक्यांश” इति । तदेतल्लक्षणं व्याचक्षाणैरस्माभिः परिहृतमिति न परिहारान्तरं प्रयोजयतीत्याह । तत्र त्विति । उक्तं यथा हेतुपदसन्निधौ साधनपदं हेतुपदे प्रवर्तते, न चोपनये प्रसङ्गः, तस्य प्रातिपदिकार्थमात्रप्रधानत्वेन हेतुभावाप्रकाशकत्वात् । अत्र चोदयति । साधर्म्यस्येति । साधर्म्यस्य लिङ्गस्य कृतकत्वादित्यादिहेतुपदवाच्यस्य व्यभिचार्यव्यभिचारित्वयोगादुदाहरणविशेषणयोगो न पुनः साध्यसाधनपदवाच्यस्य कृतकत्वादित्यादेर्हेतुवचनस्येत्यर्थः । तदुक्तं भदन्तेन, “तत्रापि विशेषणमनर्थकं”, वचनेऽपीत्यर्थः । तदेतददूषयति । वचस इति । वचनमपि दर्शनभेदेनोभयथाऽपि भवति, यथा मीमांसकानां नित्यं वचनं, वैशेषिकाणामनित्यमिति, केषाञ्चिदमूर्तः शब्दः केषाञ्चिन्मूर्त इति, यथाऽऽहुः, “वायुरापद्यते शब्दनाम्” इति । तथा प्रातिस्विकमपि भेदं सर्वेषामेव शब्दानामितिकारो दर्शयतीत्याह । दृष्टश्चेति । (२२१ । ३) स्वचरितविरोधमाह । स्वयमिति । अनभ्युपगतेति । अनभ्युपगतोऽर्थान्तरं विपक्षो यस्य हेतोरनित्यत्वे साध्ये कृतकत्वादेः स तथोक्तः । यदभ्युपगतं भदन्तेन, “तस्मात् षष्ठ्यस्तु” इति, तददूषयति । यदपीति । विवक्षातः कारकशब्दप्रयोगादिति । कारकत्वेन सम्बन्धित्वमुपलक्षितं, क्रियाकारकगर्भत्वात्सम्बन्धित्वस्य, न तु पञ्चमी वा षष्ठी वा कारकविभक्तिरिति ।

अत्र भाष्यकारेण शुद्धं हेतुवचनमुदाहृतम् । उत्पत्तिधर्मकत्वादिति । तस्य चोदाहरणसाधर्म्यसमुत्थत्वज्ञापनायो दाहरणमपि दर्शितमुत्पत्तिधर्मकर्मनित्यं दृष्टमिति । तत्र भाष्यकारेण शुद्धं हेतुवचनमुदाहृतम्, त-

त्प्रातिज्ञापदेन पूरयित्वा वार्तिककार आह । उदाहरण-
मिति (१२२ । १) अत्र पृच्छति । किं पुनरिति । सतो वि-
नाशो वाऽनित्यत्वं तद्योगो वा, तच्चोभयमयुक्तं, न हि सदसतोः
कश्चिदस्ति सम्बन्धोऽसमानकालत्वात्, ततश्चानित्यः शब्द इति
सामानाधिकरण्यं न स्यादिति । अपि च शब्दस्य भूत्वा यद्-
भवनं न तदेव पिठरस्य, न चाभवनत्वं नामास्ति सामान्यं येन
दृष्टान्तो न साध्यविकलः स्यात् । न च सामान्यातिरिक्तं सा-
दृश्यं वस्त्वन्तरं दृष्टमिष्टं वा, तस्मान्मृषाशेषमनित्यत्वं साध्यमिति
भावः । गूढधिय उत्तरम् यस्यानित्यत्वमस्ति तदनित्यम् ।
स्वाभिप्रायेण पृच्छति । अथेति । उत्तरवाद्यभिप्रायमुद्धाटय-
ति । उभयान्तेति । अपरान्तेति वक्तव्ये उभयान्तग्रहणेन पू-
र्वान्तनिवेशनं हेतोरुत्पत्तिमत्त्वस्यात्यन्तकीं प्रत्यासत्तिमाविना-
भावोपयोगिर्नी दर्शयितुमिति । अवच्छेदकत्वं चोपलक्षणत्वं, न
विशेषणत्वं, तच्चापरन्तस्य भिन्नकालस्याऽसम्बद्धस्यापि वि-
रोधितया बुद्धिस्थस्य सम्भवति । तथा च यैवापरान्तावच्छिन्न-
स्य सत्ता पिठरस्य सैवापरान्तावच्छिन्नस्य शब्दस्यापि । एवं स-
त्तासमवायोऽपि तद्विधयोः पिठरशब्दयोः समानः । विरोधिभा-
वः पश्चाद्भावश्चाभावमात्रात् प्रध्वंसस्य विशेषः । पृच्छति ।
अथोत्पत्तीति । न तावदुत्पन्नस्योत्पत्तिर्धर्मः, तदाऽप्युत्पन्नत
इति प्रत्ययपसङ्गात् । नाप्यनुत्पन्नस्य, असतो धर्मित्वायोगादिति
भावः । गूढधिय उत्तरम्, उत्पत्तिरिति । उक्ताभिप्रायवान्
पृच्छति । का पुनरिति । उत्तरम्, असद्विशेषणस्य सतो-
त्यन्तमभावभावप्रातिषेधः । असदिति प्रागभावमाह । विशे-
षणत्वं च प्रागभावस्य उपलक्षणत्वं, तच्च भिन्नकालस्यापि
बुद्धिस्थतामात्रेणोक्तं, तेनासद्विशेषणस्य सत इत्येतावतैव पूर्वा-

न्तपरिच्छिन्नस्य सत्तासम्बन्धः सत्ता वा तद्विशेषणोत्पत्तिर्दाशि-
ता । यश्चेद्वशस्तस्य गगनवन्नात्यन्तं सम्भवः गगनकुसुमवद्वा ना-
त्यन्ताभाव इति स्वरूपमुक्तमुत्पत्तिमुपलक्षयितुम् । उपलक्षणोपल-
क्ष्ययोश्चाभेदविवक्षया सामानाधिकरण्यम् । न चैवं लब्धोत्प-
त्तिनि वस्तुन्युत्पद्यत इति प्रसङ्गः, लभ्यमानोत्पत्तिनि तदवयवेषु
तदुत्पादनानुकूलव्यापारावेशलब्धपूर्वापरीभावेषु तत्प्रयोगस्य
लोके दर्शनात् । तस्मात् पूर्वान्तावच्छिन्नवस्तुमत्तया तत्सम्बन्धेन
वा तस्पैव वस्तुनोऽपरान्तावच्छिन्ना सत्ता तत्सम्बन्धो वा ज्ञाप्य-
त इति सर्वं रमणीयम् । ननु भाष्यकृदभूत्वा भावित्वमित्यस्य
वाक्यस्यार्थमुत्पत्तिं वक्ष्यति, त्वं पुनरसद्विशेषणस्य सतोऽत्यन्त-
मभावभावप्रतिषेध इत्यस्य वाक्यस्यार्थमुत्पत्तिं, तत्कुतो न विरोध
इत्यत आह । वाक्यार्थेति । य एवार्थो भाष्यकारेणोत्पत्तिश-
ब्दार्थतयाऽभ्यनुज्ञातोऽङ्गीकृतः, स एवास्माभिरपि नात्यन्तम-
भावभावप्रतिषेध उत्पत्तिरपि त्वसाद्विशेषणस्य सतः सत्ता वा
तत्सम्बन्धो वेत्युक्तमित्यर्थः । ३४॥

सुत्रान्तरमवतारयति । किमेतावदिति ।

तथा-त् (सू. ३५) ॥ अत्र यदि वैधर्म्यादित्युच्यते ततः
सकलकेशरादिमत्पदार्थपक्षीकरणेनाश्वत्वं यदा विषाणित्वेन
साध्यते, तस्यास्ति पक्षवैधर्म्यमिति हेतुः स्यादित्यत आह ।
उदाहरणेन वैधर्म्यादिति । विपक्षेणेत्यर्थः । तथाऽपि यदा
शरीरमात्रं पक्षीकृत्य सात्मकत्वं साध्यते प्राणादिमत्त्वेन, तदा-
ऽस्ति तस्योदाहरणेन वैधर्म्यमिति सोऽपि हेतुः स्यादित्यत
आह । एवेति । न चैतावता सपक्षसत्त्वप्रसङ्गः, सपक्षस्याभा-
वात्, अवधारणस्य च व्याप्त्या पक्षसत्त्वेनोपपत्तेरिति । तथा-
ऽपि अन्वयव्यतिरेकिणो हेतोरनैकान्तिकस्य च विपक्षैकदेशव्या-

पिनः सङ्ग्रहः स्यात्, यथा अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वाद्,
 अनित्यो मूर्त्तत्वादित्यत आह । वैधर्म्यमेवोदाहरणेनेति ।
 विपक्षोदाहरणेनेत्यर्थः । भाष्यकारीयमुदाहरणं निगदेनोपन्य-
 स्यति । अनित्यः शब्द इति । नित्यमनुत्पत्तिधर्मकं दृष्ट-
 मिति योजना । तदेतद्दूषयति । एतच्चेति । माभूत्प्रयोगमात्रभेदाद्
 भेद उदाहरणभेदाद् भेदो भविष्यतीत्यत आह । उदाहरण-
 मात्रभेदाच्चेति । तदेतद्भाष्यकारीयमुदाहरणं दूषयित्वा स्व-
 कीयमुदाहरणमाह । उदाहरणं त्विति । (१२३ । ३) प्राणा-
 दिना च स्वकारणं प्रयत्नाद्युपलक्षयति । यदुभयपक्षसम्प्रति-
 पन्नं निरात्मकं तत्सर्वमप्राणादिमद् दृष्टमिति विपर्ययेण
 योजना । प्राणादिकारणेच्छारहितं यदित्यर्थः । तस्मान्नेदमि-
 ति नेच्छादिसमवायिकारणरहितं, यश्चासौ इच्छादिसमवायि-
 कारणं पृथिव्यादिविलक्षणो द्रव्याणां नवमः स आत्मेत्युच्यत
 इत्यर्थः । अन्वयिव्यतिरेकेणस्तद्व्यतिरेकस्य च तन्त्रान्तरसिद्धेन
 नाम्ना तन्त्रान्तरसिद्धान्ततां दर्शयति । सोऽयमवीत इति । वि-
 विधेन प्रकारेण इतः प्राप्तो वीतः, पक्षव्यापकत्वे सति सपक्षव्या-
 प्त्याऽव्याप्या च, तस्मादन्योऽवीत इति । गूढाभिसन्धिः पृच्छति ।
 कथं पुनरिति । गूढाभिसन्धेरुत्तरम्, अथ योऽभ्यनुज्ञात इति ।
 यथा वीतस्यार्थपरिच्छेदकत्वं तथैवावीतस्येत्यर्थः । प्रष्टा स्वा-
 भिप्रायमुद्घाटयति । वीतोऽन्वयादिति । गृहीताविनाभावो
 हि हेतुः साध्येन तस्य परिच्छेदकः, स च दृष्टान्तधर्मिणि हेतु-
 साध्यधर्मयोर्दर्शने सत्यविनाभावो दृष्टो भवति, न च सात्म-
 कत्वं क्वचित् दृष्टं, तत्कथं तेनाविनाभावदर्शनं प्राणादिमन्वस्य,
 दर्शने च नावीतः, किं तु वीत एवेत्यर्थः । उत्तरवादी प्रष्टारं
 पृच्छति । अथ प्रमेयत्वमिति । प्रष्टा आह । व्याभिचारा-

रादिति । उत्तरवाद्याह । न तर्ह्यन्वय इति । स एवैकग्रन्थेना-
ह । यदि चेति । तदेवमुत्तरवादिना स्वाभिप्राय उद्घाटिते (१)
पृच्छति । कथम् अव्यभिचारित्वं व्यतिरेकिण इति । अव्य-
भिचारमाह । यावदिति । अत्रापि यावन्निरात्मकं तत्सर्वम्
अप्राणादिमद् दृष्टमिति व्यत्यासेन योजना । साध्यविपर्ययस्य
व्याप्यत्वाद् व्यापकनिवृत्तौ च व्याप्यं निवर्त्तते, यथा वृक्षत्वनि-
वृत्तौ शिशपात्वमारादुपलभ्यमानादेकशिलाभयादवलप्रदेशादि-
त्यर्थः । यदि पुनरेवमुच्यते निवर्त्ततामप्राणादिमत्त्वं जीवच्छरीरा-
त्, प्राणादिमत्त्वस्य प्रमाणत उपलब्धेः, मा निवर्त्तिष्ट नैरात्म्यं,
तस्माद्व्यभिचारादहेतुत्वमिच्छाशङ्कते । अथ पुनरिति । निरा-
करोति । न युक्तमिति । किं जीवच्छरीरे साध्ये नैरात्म्यनि-
श्चयाद् व्यभिचार उत तत्सन्देहात् । यदि निश्चयात्, कृतं
व्यभिचारेण, बाधितविषयत्वेनैव हेतोरपाकरणात् । अथ
सन्देहात्, तथा सत्यन्वयिनोऽप्यहेतुत्वेन सर्वानुमानोच्छे-
दप्रसङ्ग इत्यर्थः । शङ्कते । सर्वात्मकत्वप्रसङ्ग इति
चेत् । (११४ । ३) निराकरोति । न विकल्पानुपपत्तेः ।
शङ्कावाक्यं विभजते । यदीति । न तावदयमात्मा नाम प्रमाणेन
क्वचिदुपलब्धः, यस्य प्रतिषेधो नैरात्म्यमवगम्येत, तदुलम्भे
वा कृतमनया कुसृष्ट्या । तस्मात् कल्पयित्वाऽऽत्मानमप्राणाणिकं
तत्प्रतिषेधस्य घटादाप्राणादिमत्त्वेन व्याप्तिं गृहीत्वा जीवच्छ-
रीरे व्यापकस्याप्राणादिमत्त्वस्य निवृत्त्या नैरात्म्यस्य व्याप्यस्य
निवृत्तेरात्माऽवगन्तव्यः । एवं च सति कल्पनाकोषस्यापरिमे-
यत्वाद् यद्यदेव कल्प्यते तत्तदभावस्य घटादौ सुलभत्वाद् अप्रा-
णादिमत्त्वेन व्याप्तेर्जीवच्छरीरेऽप्राणादिमत्त्वस्य व्यापकस्य नि-

वृत्तेरात्मसद्भाववत् सकलकालपनिकाडित्थादिमत्त्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।
 निराकरणवाक्यं विभजते, तच्च नैवं, कस्माद् विकल्पानु-
 पपत्तेः । विकल्पयति । किमिति । अयमर्थः । प्राणादयो ही-
 च्छान्वयव्यतिरेकानुविधायिभावाभावतया इच्छादिकार्याः,
 अक्षणिकत्वे च व्यवस्थिते कार्ये समवायिकारणापेक्षमितीच्छा-
 दीनां समवायिकारणेन भाव्यमिति कार्यत्वाद् घटादिवच्छरीरे-
 न्द्रियादीनां च समवायिकारणत्वनिषेधे सति यदिच्छादीनां सम-
 वायिकारणं परिशिष्यते तद् द्रव्यमात्मेति क्षेत्रज्ञ इति जीव इति चा-
 ख्यायते, तदस्य विशेषतोऽनवगतस्यापीच्छादिसमवायिकारणतया
 सामान्यरूपेणावधारितस्य शक्यः प्राणादिरहितेषु घटादिष्वभा-
 वः प्रतिपत्तुम्, निरात्मकशब्देनापि चायमेवार्थ उच्यते, तेन
 प्राणादिलक्षणकार्याभावेन घटादौ नैरात्म्यलक्षणकारणाभाव-
 स्य व्याप्तिरवधारिता, सोऽयं जीवच्छरीरे कार्यस्य अभावो
 व्यापको निवर्तमानः स्वव्याप्यं तत्कारणाभावमादाय निवर्तत
 इति सिद्धं जीवच्छरीरे प्राणकारणं स चात्मेति । यदि च डि-
 त्थादयोऽपि तथा तदाऽऽत्मनो नामान्तराणि नार्थान्तराणि ।
 नामानि च लोकतन्त्राणि । अवधारितं कार्यं प्राणाद्युपलक्षि-
 तमिच्छादि यस्य सोऽवधारितकार्यः स एव स्वभावो यस्य
 तथोक्तः । एतदुक्तं भवति, सामान्यतस्तावदिच्छादीनां कार्य-
 त्वेनान्वयव्यतिरेकिणा हेतुना समवायिकारणवत्त्वमनुमितम्,
 उभयसिद्धश्च घटादाविच्छादिकारणभावः । येऽपि हि नैरा-
 त्म्यवादिनो बुद्धिं वा भूतपरिणामभेदं वा इच्छादिकारणमाच-
 क्षते, तेऽपि घटादौ न तदातिष्ठन्ते । तस्मादुभयसिद्धनैरात्म्या
 घटादयः, तेषु चेच्छादिकार्याभावेन नैरात्म्यं व्याप्तं, सोऽयं
 जीवच्छरीरे कार्याभावो व्यावर्तमानः कारणाभावं व्यावर्तयति ।

न च कार्येणैव कारणमनुमीयतां जीवच्छरीरे किं व्यतिरेकिणां,
‘ऋजुमार्गेण सिद्ध्यन्तं को नु वक्रेण साधयेत् ।’

इति वाच्यम् । कारणमात्रस्य ततः सिद्धेरित्युक्तम् ।
परिशेषाद्विशेषसिद्धिरिति चेत्, स एव व्यतिरेकीत्युक्तम् । यदि
हि पृथिव्यादिसमवायिकारणा इच्छादयो भवेयुः, घटादिष्वपि
प्रसज्येरन् । तस्माद् घटादिष्विच्छादिकार्यनिवृत्त्या द्रव्याष्टकाति-
रिक्तकारणनिवृत्तिर्व्याप्ता दृष्टेतीच्छादयः शरीरे दृश्यमाना व्यापि-
कां स्वनिवृत्तिं निवर्त्तयन्तो व्याप्यद्रव्याष्टकातिरिक्तकारणाभाव-
निवृत्तिमुखेन नवमं द्रव्यं साधयन्ति । न चैषां बुद्धिरेव समवायि-
कारणं, द्रव्यस्यैव समवायिकारणत्वानियमाद् बुद्देश्चाद्रव्यत्वात् ।
यथा च भूतानां परिणतिभेदो न कारणं तथा तृतीय उपपाद-
यिष्यते । व्यतिरेकमुखेनापि प्राणादेः सात्मकत्वेनान्वयसिद्धौ
न केवलव्यतिरेकीति चेत्, न स्वाभाविकं साध्येन प्रतिबन्ध-
मन्वयव्यतिरेकिणि व्यासेधामः, किं तु सपक्षाभावेन विधिमु-
खेनास्य प्रतिबन्धं निराकुर्मः । एतावतैव चान्वयिनो भिद्यते ।
न च पक्ष एव सपक्षः, जिज्ञासितविशेषस्य ज्ञातविशेषादन्यत्वा-
त् । शरीरादिषु च सत्सु नैरात्म्यनिषेध एवात्मसद्भावः, अस-
न्निषेधस्य सद्भावलक्षणत्वात् । सपक्षाभावस्तु नैरात्म्येनाप्यव्यप-
देश्य इति कथं नैरात्म्यनिषेधेन व्यपदिश्यतामसतोऽधिकरण-
त्वायोगादित्युक्तम् । एतेन परैर्यदुक्तम् ।

‘सपक्षाव्यतिरेकी चेद्भवेद्धेतुरतोऽन्वयी ।’

नान्वयव्यतिरेकी चेदनैरात्म्यं न सात्मकम् ।

तदनेन निराकृतम् । एतच्चास्माभिरन्वयिहेतुसमर्थनेन
स्फुटीकृतम् । तस्मात्सर्वमवदातम् । विपक्षव्यतिरेकमात्रेण व्य-
तिरेकिणो गमकत्वं मत्वा चोदयति । यदि तर्हीति । परिहरति ।

हेत्वर्थापरिज्ञानादिति । न वैधर्म्यमात्रेण गमकत्वम्, अपि
 त्वव्यभिचारिणा, स चात्राव्यभिचारो नास्तीत्यर्थः । ननु मा
 भूद् गन्धवत्त्वं हेतुर्व्यतिरेकव्यभिचारात्, अनित्यादिवन्नित्याद-
 ५१स्य व्यभिचारात्, यस्य पक्ष एव केवलं न तु सपक्षविपक्षौ,
 न तस्य व्यतिरेकव्यभिचारोऽस्तीति स कस्मान्न हेतुरिति चोद-
 यति । यः पुनरिति । परिहरति । सत्यमिति । व्यतिरेक-
 मोंऽव्यभिचारो नासति व्यतिरेके सम्भवति, असतोऽधिकर-
 णत्वायोगादित्युक्तत्वादिति । प्रत्युदाहरणान्तरं दर्शयति । एते-
 नेति । एतेन विपक्षाभावात् ततो व्यावृत्त्यभावेनेत्यर्थः । चोद-
 यति । यः पक्षैकदेश इति । यदि हि पक्षैकदेशवृत्तिरपि
 विपक्षाभावाद् न व्यतिरेकी हेतुः, तर्हि यस्य पक्षैकदेशवृत्तेरपि
 सतो विपक्षनिवृत्तिरस्ति स हेतुः प्रसज्येत, अस्ति खल्वस्योदाह-
 रणवैधर्म्यमेवेति व्यतिरेकिहेतुलक्षणमित्यभिप्रायः । परिहरति ।
 अयमपि न हेतुः । (१.२५ । २) कस्मात्, सूत्रार्थेनापो-
 दितत्वात् । तं सूत्रपाठपूर्वकं दर्शयति । सूत्रार्थ इति । अत्र
 च येन पक्षैकदेशवृत्तेर्व्यतिरेक्याभासस्य निराकरणं तदवधारणं
 प्रथमं दर्शितम् उदाहरणेनैव वैधर्म्यं, नानुदाहरणेन पक्षेणापि,
 अस्य तु पक्षेणापि व्यतिरेक्यपि न हेतुः, न पुनर्वैधर्म्यमेवेति
 सूत्रार्थः । तथा सति सव्यभिचारमात्रस्य निवृत्तिः स्याद् न
 तु पक्षैकदेशवृत्तेरित्यर्थः ।

सम्प्रति हेतुलक्षणमुपन्यस्य दूषयति । हेतुर्विपक्षाद्विशेष
 इत्यन्ये । एतच्चाचष्टे । अन्ये त्विति । साधर्म्यमात्रनिरा-
 करण इति । यस्य कस्यचित्साधर्म्यस्य निराकरणे विपक्षसा-
 धर्म्यनिराकरणे तावदिष्टसङ्ग्रहः । यदा तु सपक्षादिसाधर्म्य-
 निराकरणं, तदाऽनिष्टस्य विरुद्धत्वादेः सङ्ग्रहः । उपलक्षणं

चैतत् । इष्टानिष्टसङ्ग्रह इति इष्टपरित्याग इत्यपि द्रष्टव्यम् ।
 स चानेकभेद इति । सपक्षादपि विशेषे सति
 विपक्षाद्विशेषः, पक्षादपि विशेषे सति विपक्षाद्विशेषः,
 विपक्षमात्राद्विशेष इति प्रकाराः । अत्र पूर्वयोः प्रकारयोर्यथा-
 क्रममसाधारणस्यासिद्धस्य च हेतुत्वप्रसङ्ग इति तन्निवृत्त्यर्थं
 विपक्षादेवेत्यवधार्यते । द्वितीयमवधारणमवतारयितुमाह ।
 अवधारणे चेति । विपक्षादेवेत्यनेनावधारणेन विशेषोऽवधा-
 रितः, न विपक्षः, स चायं विशेषे चाविशेषे च प्रसृत इति विप-
 क्षैकदेशवृत्तेरपि पक्षसपक्षसाधारणस्य हेतुत्वप्रसङ्ग इति तन्निवृ-
 त्त्यर्थं द्वितीयमवधारणं विशेष एवेति । उपसंहरति ।
 तदेवमिति । तदेतदव्यापकत्वेन दूषयति । सत्यमेक इति ।
 अत्र चोदयति । विपक्षैकदेशवृत्तिप्रतिषेधादिति ।
 (१२६ । १) विशेष एवेत्यवधारणे विपक्षैकदेशवृत्तिः
 गौरियं विषाणित्वादिति हेतुत्वेन प्रतिषिद्धः, तस्मादेतस्मिन्न-
 धारणे सत्येव विपक्षादेवेत्यवधारणीयं, तथा च विपक्षादेव यो
 विशेष एव स हेतुः सपक्षात्तु यो विशेष एव स न हेतु-
 रित्युक्तं भवति । तथा चाश्वोऽयं विषाणित्वादिति
 सपक्षाद्विशेष एवेति हेतुत्वेन प्रतिषिद्धो भवति । यस्तु सपक्षै-
 कदेशवृत्तिः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिः स सपक्षाद्विशेष एव न
 भवति, अपि तु सामान्यमपीति तस्य हेतुत्वमवधारितमिति
 हेतुरेवासावित्यर्थः । परिहरति । यद्येवमिति । यदि सपक्षादपि यो
 विशेषः सपक्षैकदेशवृत्तिः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिर्हेतुः, एवं सति
 विपक्षादेवेत्यवधारणं बाधितं भवति । शङ्कते । अथेति । न
 विपक्षादेवेत्येतन्मात्रमवधार्यते, येन सपक्षैकदेशवृत्तिः प्रयत्नान-
 न्तरीयकत्वादिर्न हेतुः स्यादपि तु यो विशेष एव स हेतुरिति

प्राप्ते विपक्षादेवेति नियम्यते, तेन साधारणस्य विशेषस्य विपक्षवृत्तेर्हेतुत्वं प्रतिषिद्धं भवति । यथाऽऽश्वोऽयं विषाणित्वादिति । यः पुनर्विशेषश्चाविशेषश्च सपक्षे हेतुः, तस्य हेतुत्वेऽपि न विपक्षादेवेति बाधितं भवति । यद्यपि चैवं सति सपक्षैकदेशवृत्तेर्हेतुत्वं न श्रुतं, तथाऽपि विपक्षादेवेत्यनेनावधारणेनानिषिद्धमनुमतमेव । तेन चाश्रुतेनार्थेनार्थवती अवधारणे इत्यर्थः । निराकरोति । एवं चेति । यथा तत्तुल्यैकदेशवृत्तेरविहितमपि हेतुत्वमनिषेधादनुमतमेवं पक्षैकदेशवृत्तेरपीति सोऽपि हेतुः स्यादित्यर्थः । पुनः प्रत्यवतिष्ठते । नैष दोष इति । पक्षधर्मत्वे सति विशेष एवेति नियमे कुतः पक्षैकदेशवृत्तेः प्राप्तिः, अपक्षधर्मत्वात्तस्येत्यर्थः । परिहरति । यो धर्मः पक्षस्येत्यनेनेति । पर आह । न कर्तव्य इति । दूषयितुमवधारणं विकल्पयति । किं पुनरिति । प्रथमकल्पं गृह्णाति । अस्तु तावदिति । एतमपि दूषयितुं विकल्पयति । किं पुनरस्येति । सामर्थ्यं प्रयोजनाभिसम्बन्धः । सम्बन्धज्ञापनपक्षेऽज्ञापननिवृत्तिः प्रयोजनम् । असम्भवनिवृत्तिपक्षे त्वयन्तायोगव्यावृत्तिः फलम् । यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति । विकल्प्य दूषयति । उभयथाऽपीति । युक्त्यन्तरमाह । न चेति । (१२७ । १) अत्यन्तायोगो निषिद्धो भवति, न त्वयोग इत्यर्थः । शङ्कते । अथेति । विशेषणसङ्गतो ह्येवकारोऽयोगं व्यवच्छिनत्ति यथा चैत्रो धनुर्द्धर एवेति, हेतुविशेषणं चेदं पक्षधर्म एवेति । तस्मात्सिद्धं पक्षैकदेशवृत्तेर्निराकरणमित्यर्थः । निराकरोति । सत्यामिति । शेषमनुमानसूत्रे व्याख्यातप्रायमिति नेह व्याख्यातम् । हेतुर्विपक्षाद्विशेषः इति च सौत्रान्तिकपक्षमिति (१२० । १०) । यदा त्वनित्यत्वहेतौ लक्ष्ये लक्षणं विचार्यत इति विपक्षशब्दार्थो

वाच्यः । ननु नित्यो विपक्ष इत्यत आह । न ह्यसतीति ।
 न हि निरुपाख्यमाख्यायत इत्यर्थः । न चास्यापादानत्वं नाप्य-
 धिकरणत्वं, येन पञ्चमी वा सप्तमी वा प्रसज्येतेत्याह । न चा-
 सतीति । न चासतो विपक्षाद्वावृत्त्यभावेन विशेषोऽपीत्याह ।
 विपक्षासम्भवे सतीति । पक्षस्यैवेति । अत्र चैवकारा-
 स्त्रयः पदान्तरानपेक्षत्वं सूचयन्ति । पक्षस्यैव धर्म इति हेतुलक्षणे
 असाधारण एव हेतुः स्यात् । समान एव सिद्ध इति हेतुलक्षणे
 अश्वस्य विषाणित्वे साध्ये गोत्वादिहेतुः स्यात् । विपक्ष एव
 नास्तीत्युच्यमाने अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादित्यपि हेतुः स्यात् ।
 तस्मात्त्रयः पक्षा हेयाः । तथा च पक्षस्य धर्मः समाने च सिद्ध
 इत्यत्र सव्यभिचारो हेतुः स्यात् । पक्षस्य धर्मो विपक्षे च ना-
 स्तीत्युच्यमानेऽसाधारणो हेतुः स्यात् । समाने च सिद्धो विपक्षे
 च नास्तीत्युच्यमाने अनित्यः परमाणुः कृतकत्वादिति हेतुः
 स्यादिति । त्रयः । सप्तममभिमतं पक्षमाह । पक्षस्येति । शेषं
 सुबोधम् । अत्र दिङ्मागेन
 “सपक्षे सन्नसन् द्वेधा पक्षधर्मः पुनस्त्रिधा ।
 प्रत्येकमसपक्षे च सदसद्द्विविधत्वतः ॥”
 इति नत्र पक्षधर्मान् हेतुतदाभासान् दर्शयित्वा
 “तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये ।
 स हेतुर्विपरीतोऽस्माद्विरुद्धोऽन्यत्वनिश्रितः ॥”
 इति हेतुतदाभासविवेको दर्शितः । तस्यार्थः । यः पक्षधर्मः
 स सपक्षे सन्नसन् द्वेधा इति त्रिविधः, स पुनरसपक्षे सदसद्द्विवि-
 धत्वतः प्रत्येकं त्रिधा भवतीति, पक्षधर्मः सपक्षे सन् विपक्षे स-
 दसद्द्विविधत्वतस्त्रिधा, पक्षधर्मः सपक्षेऽसन् विपक्षे सदसद्द्वि-
 विधत्वतस्त्रिधा, पक्षधर्मः सपक्षे द्वेधा विपक्षे सदसद्द्विविधत्वत-

स्त्रियेति । अत्रोदाहरणं,

“प्रमेयकृतकानित्यकृतश्रावणयत्रजाः ।

अनित्ययत्रजास्पर्शा नित्यत्वादिषु ते नव ॥”

नित्यत्वादिषु साध्येषु प्रमेयत्वादयो नवहेतुतदाभासाः ।

तेषां यथासंख्यं नित्यत्वादीनि साध्यान्मुदाहरन्ति

“नित्यानित्यप्रयत्नोत्थमध्यमत्रिकशाश्वताः ।

अयत्रानित्यनित्याश्च प्रमेयत्वादिसाधनाः ॥”

तदेतेषु हेतुतदाभासेषु हेतुनिर्द्धारितो येन तदुपन्यस्य वार्तिककारो व्याचष्टे । तत्र य इति । (१२९ । ११) तदेतदुपपत्तिः । यथाश्रुतीति । “तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चाऽसंस्तदत्यये” इत्येतावन्मात्रान्न लभ्यत इत्यर्थः । चोदयति । ननु चोक्तमिति । उक्तं दिङ्मागेन ।

“साध्यधर्मो यतो हेतुस्तदाभासश्च भूयसा ।” इति तदेतत्परिहरति । उक्तमेतदिति । न पुनः पक्षधर्म एवेत्यर्थः । अवधारणमबुद्धा शङ्कते । अथापीति । अवधारणार्थालाभनोत्तरमाह । सत्यमर्थादिति । ननु पक्षधर्मत्वनिवृत्त्यैव पक्षाव्यापकत्वं गम्यते, न ह्यव्यापको भवत्यपक्षधर्मनिवृत्तिमानित्यत आह । अपक्षधर्मनिवृत्तिमात्रत्वेन चेति । अत्यन्तनिवृत्तिनिषेधेन वृत्तिमात्रं स्याद् नैकान्तिकी वृत्तिरित्यर्थः । चोदयति । न प्राप्त इति । (१३० । १) परिहरति । नावधारणस्येति । हेतुहेत्वाभासावेव पक्षधर्मो नान्य इतिनियमज्ञापनार्थमवधारणमिष्टं भवद्भिरित्यर्थः । शङ्कते । अथोभयेति । निराकरोति । तथाऽपि सन् सजातीय इति । तदेतत्पूर्वमेव व्याख्यातमायम् । द्वेधा चेति सर्वथा न वक्तव्यमिति ।

सन् सजातीय इत्यस्योपादानेऽनुपादाने चेत्यर्थः । सन् सजातीय इति नोपादातव्यमिति यदुक्तं, तत्र शङ्कते । अथ मन्येतेति । निराकरोति । अवधारणेति । यद्यवधारणं युज्येत तदा अवधारणार्थो युक्त आरम्भस्तदेव त्वयुक्तमित्यर्थः । आद्ये पद इति । (१३१ । ३) पक्षस्य धर्म इत्यस्मिन् पद इत्यर्थः । अन्यपदे इति । अन्ये पदे ययोः पक्षधर्मत्वविपक्षासत्त्वयोस्ते तथोक्ते । तत्र द्वैविध्यं निराक्रियत इति । सन् सजातीय इति सर्वथेति । सजातीये द्वेधा चेति पदोपादानेऽनुपादाने चेत्यर्थः । सजातीय एव द्वेधेत्येनेनैवेति । हेतुतदाभासयोरौत्सर्गिके पक्षधर्मत्वे स्थित इति भावः । शङ्कते । अथ मा भूदिति । सजातीय एव द्वेधेति नावधारणमित्यर्थः । निराकरोति । तथाऽपीति । सन् सजातीये द्वेधेति मध्यमपदे इत्यर्थः । तदेवं सजातीये एव द्वेधेत्यवधारणं दूषितं, सम्पत्ति द्वितीयमवधारणं शङ्कते । अथ पुनरिति । निराकरोति । तथाऽपीति । तथापि पक्षैकदेशवृत्तिरपि हेतुः प्रसक्तः, यदि च तदत्यय एवेति नावधार्येत, ततोऽनैकान्तिकोऽपि हेतुः स्यादिति दोषः । दिग्गमस्यैव प्रदेशान्तरहेतुलक्षणम्, ग्राह्यधर्मः पक्षधर्मः । तदंशेन तस्यैव पक्षस्यांशेन साध्यधर्मसामान्येन व्याप्ते हेतुरिति, तदेव तद्वेतुलक्षणमुपन्यस्यास्मिन् पूर्वोक्तं दोषमतिदिशति । एतेनेति । अतिदेशमेव स्फुटयति । अव्यापकादिरिति । यथाश्रुतलक्षणे पक्षाव्यापकस्य हेतुत्वं तदंशेन व्याप्त इत्यस्य विवरणालोचनेन सपक्षसत्त्वं विपक्षाच्च व्यावृत्तिरित्यर्थः, तथा च पूर्वोक्तदोषप्रसङ्ग इत्यर्थः । सिंहावलोकितन्यायेन दूषयति । असंस्तदत्यय इतीति ।

अन्येषां हेतुलक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति । तादृगिति । तदे-

तद्याचष्टे । तादृशेति । किलकारोऽरुचौ । पक्षधर्म इति च हेतोर-
 भिधानं, तेन त्रिलक्षणप्राविभागात्मा हेतुरित्यर्थः । दूषयति ।
 यत्तावदिति । श्रावणत्वाद्यपीति । (१३२ । ३) तदुक्ता-
 साधारण इत्यर्थः । यस्तु तादृशा विना न भवतीति विपक्षे
 सत्ताप्रतिषेधात् सपक्षे सत्त्वं गम्यते विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञा-
 विषयत्वादिति मन्येत, तं प्रत्याह । भवतु तावदिति । एक-
 देशाभ्यनुज्ञानेऽपि विशेषनिषेधस्योपपत्तेर्न समस्तशेषाभ्यनुज्ञाने
 प्रमाणमस्तीत्यभिप्रायः । चोदयति । ननूपदर्शनग्रहणा-
 दिति । परिहरति । न तल्लभ्यत इति । न हि चाक्षुषत्व-
 मिति । बौद्धानां रूपत्वादिजातेर्नित्याया अभावाद् न चाक्षुष-
 त्वमनित्यत्वेन विना भवतीत्यर्थः । यस्तु मन्येत, विशेषनिषेधस्य
 शेषमात्राभ्यनुज्ञाहेतुत्वेनागृह्यमाणविशेषत्वात् पक्षसत्ताभ्यनुज्ञानं,
 तथा चोपदर्शनपदेन पक्षे हेतोः सत्तोपदर्शनं भवतीति, तं प्रत्याह ।
 उपेत्य हेति । सुबोधम् । तदेवं लक्षणं दूषयित्वा तदुदाहरणं
 दूषयति । यत्त्विदमिति । एतस्मिन् हेतुलक्षण इत्यर्थः ।
 प्रयत्नानन्तरीयकत्वं प्रयत्नकारणकत्वं तत्साक्षात् पारम्पर्येण
 वा, तत्र प्रथमे कल्पे दूषणमाह । प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्येति ।
 द्वितीयकल्पमाशङ्क्य दूषयति । अथेति । प्रयत्नग्रहणमपार्थक्यमि-
 त्यर्थः । भावप्रत्ययवाच्यं विकल्प्य दूषयति । यच्चेदमिति ।
 (१३३ । ३) एवमप्युपलब्धेरेवेति । न हि बौद्धराद्धान्ते
 किञ्चिदुपलभ्यमानं नित्यमस्ति, येनोपलब्धिर्विशेष्येत इत्यर्थः ।
 प्रयत्नानन्तरमन्यथा चेति । यद्यदुपलब्धिकर्म तत्सर्वं
 प्रयत्नादेव पुरुषव्यापारादेवोपलभ्यते नान्यथेत्यर्थः । शङ्कते ।
 अथेति । अस्माकं नैयायिकानामिति भावः । उत्तरम्,
 त्वयैवेति । अस्मद्वर्शनं चेदास्थाय त्वया बौद्धेनोच्यते, ततः प्रय-

न्नग्रहणेनाप्यनैकान्तिकत्वं तदवस्थमेवेत्यर्थः । अव्यापकं चेति ।
 न हि द्वन्द्वदहनाभिघातप्रस्फुटेद्वणुदलविभागजन्माऽटात्कारो-
 ऽस्मदादिप्रयत्नसाध्य इत्यर्थः । शङ्कते । अथेति । । वर्णात्मक-
 मित्यर्थः । निराकरोति । तन्नापीति । पारम्पर्येणापि
 प्रथम एव वर्णः प्रयत्नानन्तरीयकः, न द्वितीयादयः, अतिपार-
 म्पर्यश्रयणे त्वतिप्रसङ्गः, प्रायेण तस्य तत्र तत्र सुलभत्वा-
 दिति । अथ य इति । विशेषः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं धार्मिविशे-
 षणं, प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सामान्यं च हेतुरित्यर्थः । निराकरो-
 ति । तथाऽप्यन्य इति । न हि भवतामस्माकमिव विशेषाति-
 रिक्तमस्ति वस्तु, सामान्यं सद् यो हेतुः स्यात् । न च कल्प-
 नारोपितं हेतुः सम्यग्ज्ञानस्य भवितुमर्हति, न चात्यन्तासतः क-
 ल्पनाऽपि सम्भवतीति भावः । तदेवमुदाहरणं दूषयित्वा प्रस-
 ज्ञेन परेषामुदाहरणविचारं दूषयति । यदप्युक्तमिति । यत्
 खलु सर्वसामर्थ्यरहितं तदाश्रितानाश्रितभावाभावधर्मवन्न भव-
 तीत्यर्थः । नित्यं तु किञ्चिद्भवतीति । तस्य धर्मयोगः सम्भवत्येव,
 न त्वस्याप्यप्रयत्नानन्तरीयकत्वं, त्वप्रत्ययाभिधेयं हि जन्म, तत्
 प्रयत्नेन प्रयत्नादन्येन वा विशेषणीयम्, यस्य तु जन्मैव नास्ति
 तस्य तद्विशेषणं दूरोत्सारितमित्यर्थः । एतेनाभाव इति ।
 (१३४।४) नैयायिकाभिमतोऽप्यभावो व्याख्यातः, तस्या-
 पि हि प्रागसतः स्मकारणे न समवाय इति जन्म नास्तीति न
 तद्विशेषणयोग इत्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति । तदेवमिति ॥३५॥
 हेतावुक्ते नाव्याप्तोऽसौ साध्यधर्मेण हेतुभावे व्यवतिष्ठते,
 न च व्याप्तिप्रदर्शनमुदाहरणमन्तरेणेति हेतुलक्षणानन्तरं क्रम-
 प्राप्तमुदाहरणलक्षणमाह । तस्माद्व्याप्तिप्रदर्शनमुदाहरणमन्तरेणेति हेतुलक्षणमाह ।
 साध्य-रणम् (सू. ३६) ॥

सूत्रमित्युदाहरणसामान्यलक्षणसंप्रत्ययेन सूचितमिति दर्शितम् । अस्य तात्पर्यमाह । अस्म्योति । दृष्टान्तोऽर्थरूपो नोदाहरणस्य वचनात्मकस्य स्वरूपतो लक्षणं सम्भवति, तस्मात् स्वाभिधायकवचनोपलक्षकत्वेन लक्षणत्वं सामानाधिकरण्यात् च भजत इत्यभिसन्धिर्नोक्तमुदाहरणोपलक्षणमिति । अनेन च समानजातीयेभ्यः प्रतिज्ञादिभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्च प्रमाणादिभ्य उदाहरणं व्यवच्छिन्नं भवति । साध्येन साधर्म्यमित्यादि भाष्यम्, तस्यार्थः, साध्येन-धर्मिणा शब्देन, साधर्म्यम् दृष्टान्तस्य स्थाल्यादेः कृतकत्वं हेतुः । तिच्चानित्यत्वेन साध्ये शब्दे दृष्टान्ते च स्थाल्यादौ समानं, तस्मात् कारणात् प्रयोजकात् तद्धर्मभावी तस्यैव साध्यस्य शब्दस्य धर्मो धर्मान्तरं येन विशिष्टः शब्दः सिषाधयिषितोऽनित्यत्वेन तदनित्यत्वं तद्धर्मः, स एव भावस्तद्भावः, सोऽस्यास्तीति तद्धर्मभावी, स्थाल्यादिरनित्यत्वधर्मवानिति यावत् । तेन तादृशा दृष्टान्तेनोपलक्षितं तद्विषयं वचनमुदाहरणमिति । तत्र वार्तिककारः सूत्रपदं व्याचक्षेण एव फलतो भाष्यं व्याचष्टे । साध्येति । उदाहरणसाधर्म्यादित्यस्य व्याख्यानं साध्यसाधर्म्यादित्यत्रापि योजयति । अत्रापि । साध्येन शब्देनैव कृतकत्वं साधर्म्यं दृष्टान्तस्य नासाध्येन विपक्षेणाकाशादिना नित्येन, ततो हि कृतकत्वं व्यावृत्तमिति । तथा च सव्यभिचारो व्यवच्छिन्नो भवति । साधर्म्यमेवेति भागासिद्धौ व्यवच्छिन्नः । । यस्मात्साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी भवतीत्येतत्सोऽयं दृष्टान्त उदाहरणमिति यावद्वाक्यं न समाप्यते, तावदर्होक्त एव पृच्छति । किं कुतश्चिदिति । अवधारणद्वययोगिनः साध्यसाधर्म्याद्दृष्टान्तोऽवश्यमेव तद्धर्मभावी भवतीति गतार्थं तद्धर्मभावीत्येतदिति भा-

वः । उत्तरं न भवत्यपीति । यथा नित्ये शब्दे साध्येऽमूर्त-
त्वादेः साध्येन शब्देन कर्मणः साधर्म्यात् कर्म न तद्धर्मभावि
भवतीत्यर्थः । साध्येनैवेत्यवधारणेनैवैतदुदाहरणं प्रत्युक्तमिति
शिष्योपध्यायश्यामत्त्रमैत्रतनयत्वादयोऽत्रौपाधिकसम्बन्धा उदा-
हर्त्याः । हेतुलक्षणे तु सामान्यलक्षणापेक्षं विशेषलक्षणमिति
नातिव्याप्तिः । अत्र साध्यसाधर्म्यग्रहणेन साधनविकल्पमुदा-
हरणं भवतीत्युक्तं भवति, यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् परमाणु-
वदिति । तद्धर्मभावीत्यनेन च साध्यविकलं परास्तम् । यथा नित्यः
शब्दोऽमूर्तत्वात्कर्मवदिति । एतेनोभयविकल्पमपि परिहृतं, यथा नि-
त्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् घटवत् । पञ्चम्युपादानेन च साध्यसाधर्म्य-
प्रयुक्तं तद्धर्मभावित्वं यत्र वचने प्रदर्श्यते तदेवोदाहरणं नान्य-
दिति दर्शितं भवति । प्रयोजकत्वं च साध्यसाधर्म्यस्य हेतोः
स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्यत्वमिति यावत् । तेनाप्रदर्शितान्वय-
विपरीतप्रदर्शितान्वययोरनुदाहरणत्वमुक्तं भवतीति । । तद्यथा,
अनित्यः शब्द उत्पत्तिमत्त्वात् पटवदिति । यो योऽनित्यः स स
उत्पत्तिमान् यथा घट इति । समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् सामा-
न्यलक्षणमप्यनेन सूचितमित्याशयवता भाष्यकृता समाख्यानि-
रुक्तिः कृता, तां वार्त्तिककारो दर्शयति । उदाहिष्यतेऽनेनेति ।
चोदयति । ननु चेति । परिहरति । नैष दोष इति । वचन-
स्य विशेषणत्वेनोलक्षणत्वेनेत्यर्थः । अभिधीयमान इति
चाभिधानोपलक्षणपरं नाभिधेयपरम्, असामानाधिकरण्यदोषस्य
तावदवस्थ्यात् । तद्धर्मभावीतिसूत्रावयवव्याख्यानपरं भाष्यं
तस्य धर्म इत्यादि । अत्र चोत्तरमिति गूढाभिप्रायं तदेतद्भा-
ष्यमनुभाष्य व्याचष्टे । तस्य धर्म इति । तस्य धर्मस्तद्धर्म
इति हि धर्मस्य सम्बन्धित्वेन पृथग्वचनम् । न च धर्म एव ध-

मस्य, नापि धर्मान्तरं धर्मस्य, किन्तु धर्मिण इत्यर्थः । अनेन भाष्यकारीयामनुपपत्तिमुक्त्वा वार्तिककारः स्वकीयामप्याह । धर्मे च साध्य इति । अनेन हेतूदाहरणोपनयलक्षणैर्व्याघात उक्तः । भाष्यं साध्यसाधर्म्यादुत्पत्तिधर्मकत्वादिति, तद्व्याचष्टे । तस्य धर्मिण इति । (१३५ । ३) तद्धर्मभावी भवतीति तदनुपपन्नं, न हि कृतकत्वात् स्थालपादेरनित्यत्वं भवति जायते बीजादिवाङ्मुर इत्यत उक्तं भवति विद्यते ॥ ३६ ॥

वैधर्म्योदाहरणस्य लक्षणम् । तद्वि-तम् (सू. ३७) ॥ अनुवृत्तेन पूरयित्वा सव्याख्यानं सूत्रं पठति । साध्य-वैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणमिति । सात्मकतया साध्येन जीवच्छरीरेण वैधर्म्याद् घटादेर्दृष्टान्तस्य सात्मकत्वसाधर्म्यविरहादिति यावत्, तस्य साध्यस्य जीवच्छरीरस्य धर्मः प्राणादिमत्त्वं तद्धर्मः, स एव भावस्तद्धर्मभावी, सोऽस्यास्तीति तद्धर्मभावी, न तद्धर्मभावी अतद्धर्मभावी प्राणादिरहितो घटादिरिति यावत् । एतदुक्तं भवति । यत्र घटादौ साध्यधर्माभावप्रयुक्तः साधनधर्माभावः स घटादिवैधर्म्यदृष्टान्तः, तद्विषयः शब्द उदाहरणमिति । सूत्रस्थश्च वाशब्दः समुच्चये वेदितव्यः, व्यतिरेकविषयत्वाद्वैधर्म्योदाहरणस्येति । अत्र भाष्यकारेणान्वयव्यतिरेकी पूर्वसूत्रोदाहृतोऽत्राप्युदाहृतः, साधनधर्माभावप्रयुक्तत्वं च साध्यधर्माभावस्योक्तं, तच्चायुक्तम् । अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ सत्यपि वैधर्म्ये साधर्म्योदाहरणमेवोचितं, तत्र तत्पूर्वकत्वाद्वैधर्म्यप्रतीतिः । ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात् । व्याप्यव्यापकभावश्च यादृशो भावयोस्तदभावयोस्तद्विपरीतो बोद्ध-

व्यः, अन्यथा सपक्षैकदेशवर्त्ता न हेतुः स्यादिति मन्यमानो वार्ति-
 ककार आह । उदाहरणमवीतहेनाविति । तच्चास्माभिः सूत्रं
 योजयद्भिरुक्तमिति । अत्राचार्यदेशीयानामनार्षसूत्रपाठदूषणं ना-
 स्माकं सूत्रपाठेऽस्तीति प्रतिपिपादयिषुराचार्यदेशीयानां पाठम-
 भिप्रायं चाह । अन्ये त्विति । आर्षे हि पाठे सामानाधिक-
 रण्याददृष्टान्तस्यार्थरूपस्य शब्दरूपेणोदाहरणेनैक्यं स्यात् । यदा
 तु दृष्टान्तस्योदाहरणमिति पाठः, तदा नायं दोष इति । दूषणं चा-
 परेषां यथा न दृष्टान्तस्योदाहरणेन सामानाधिकरण्यम्, एवं भावि-
 त्वस्याप्यर्थरूपस्य, स्वविषयवचनोपलक्षणत्वेन तु सामानाधिक-
 रण्यं दृष्टान्तेऽपि तुल्यम्, तस्मादार्षमेवास्त्विति । आर्षेऽपि पा-
 ठे परोक्तं दूषणमुपन्यस्यति । एतस्मिन्नपीति । उपहासे कि-
 लकारः, ण्यन्ताद्भवतेस्ताच्छील्ये णिनिना भावीति व्युत्पन्नः,
 तथा च तद्धर्मकारित्वमर्थः, न च ज्ञापनादन्या क्रिया स-
 म्भवतीति गमकत्वम्, तच्च सर्वेषामवयवानामभिन्नमिति साधा-
 रणत्वान्न वक्तव्यमित्यर्थः । तदेतदनभ्युपगमेनैव परिहरति ।
 नायमिति । अन्ये तु तद्धर्मभावीत्येतद्विकल्प्य दूषयन्तीत्याह ।
 अन्ये त्विति । तत्र प्रथमकले दूषणमाहुः । तद्यदीति । नायं
 सूत्रार्थः, (१३६ । १) सर्वावयवसाधारण्यादिति तस्मान्न कि-
 ञ्चिदेतत् तद्धर्मं भावयितुं शीलमस्येति । द्वितीयकले दूषणमा-
 हुः । दण्डिन्याय इति । सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवन्न
 सम्भवमात्र इत्यर्थः । तदेतत्परेषां दूषणं दण्डिन्यायमालम्ब्य परि-
 हरति । न वक्तव्यमिति । सम्भवव्यभिचाराभ्यां समर्थं विशे-
 षणमित्यर्थः । न बहुव्रीहाविति । अन्यपदार्थविवक्षयैवेनिरा-
 श्रीयते, सा च बहुव्रीहिणैव लभ्यत इति कुतमत्रोनेनेत्यर्थः ।
 सुहृद्भावेन चेदत एवाह । अथावश्यमिति । प्रयोजना-

न्तरं भाविग्रहणस्यान्वाचिनोति । सन्तीति । अत्र वसुव-
न्धुना प्रतिज्ञादयस्त्रयोऽवयवा दुर्विहिता अक्षपादलक्षणेनेत्युक्तं,
तद्दूषयति । तदेतस्मिन्निति । तदेवमुदाहरणलक्षणमुपपाद्य
परेषां लक्षणं दूषयितुमुपन्यस्य व्याचष्टे । तथा सिद्ध इति । यथा
च स एव साध्यो विशिष्टप्रत्ययभेदभेदित्वेनेति । प्र-
त्ययः कारणम् । तदेतत्साध्यसाधनवत्त्वं दृष्टान्तस्य बौद्धराद्धान्ते-
ऽव्यापकं, स्थाल्यादौ दृष्टान्ते कृतकत्वानित्यत्वरूपसाध्यसाधनव-
त्त्ववैकल्यात्, प्रागभावो हि स्थाल्याः कृतकत्वं प्रध्वंसाभावश्चा-
नित्यता राद्धान्ते बौद्धानां, न चैवमुभयं स्थाल्यामस्ति, तस्याः
स्वाभावविरोधित्वादिति दूषयति । अत्र विरफूर्जताऽपी-
ति । एतेनेति । (१३७।३) अव्यापकत्वेन । निदर्शयतेऽस्मिन्ननेन
वेति निदर्शनम् ।

साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता ।
इति च प्रत्युक्तं, कृतकत्वानित्यत्वयोः स्थाल्यामसंभवदर्शनादव्या-
पकत्वेन । अस्मद्राद्धान्ते यथा तयोः स्थाल्यादौ सम्भवः, तथोक्तं
हेतुलक्षणसूत्र इति । भाष्ये, पण्डितरूपवेदनीयमिति । प्र-
शस्तपण्डितवेदनीयमित्यर्थः ॥ ३७॥

स्वप्रतिपत्तौ व्याप्तिस्मरणानन्तरं तथा चायं न तथेति वा
परामर्षज्ञानोत्पादाद् उदाहरणवचनस्य च व्याप्तिप्रतिपादक-
त्वात् परामर्षज्ञाने हेतोरुपनयस्योदाहरणपूर्वकत्वनियमाद् उदा-
हरणानन्तरमुपनयं लक्षयति ।

उदा-यः (सू. ३८) ॥

अपेक्षापदं भाष्यकृद्याचष्टे । उदाहरणतन्त्र इति । उदा-
हरणवशः वश्यत इति वशः, वशिन् उदाहरणस्य वश्य इत्य-
र्थः । एतदेव कर्मणो भावं निष्कृष्य विवृणोति । वशः साम-

धर्मम्, वश्येन उदाहरणस्य फलेन उपनयेनाभिसम्बन्ध इत्यर्थः ।
 तथात्वातथात्वयोर्विषयं विभजते । साध्यसाधर्म्ययुक्त इति ।
 ननु हेतोरूपसंहार उपनयो न साध्यस्य, तथा चानुपपन्नः
 साध्यस्योपसंहार इत्यत उक्तं साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिध-
 र्मकत्वमिति । उदाहरणसिद्धव्याप्तिकहेतुमत्तया साध्यमुपसं-
 ह्रियते, न स्वरूपेणेत्यर्थः । अत्राप्युदाहरणापेक्ष उपसंहार
 उपनय इति सामान्यलक्षणम् । तथा न तथेति चेति सामान्य-
 लक्षणापेक्षे विशेषलक्षणे इति बोद्धव्यम् । अत्र केचिदाहुः, हे-
 तुवचनादेव सोदाहरणात् साध्यसिद्धेरसाधनाङ्गमुपनय इति,
 तन्निराकर्तुमाह वार्तिककारः, तथा न तथेति प्रतिबिम्बनार्थम् ।
 (१३७ । ९) तदेतत् प्रश्नपूर्वकं विभजते । किं पुनरिति ।
 तदनेन व्युत्पन्नाव्युत्पन्नतया परेषामनियतमतिपात्तिसाधनत्वात्
 स्वप्रतिपक्ष्यनुसारेण परो बोधयितव्यः, व्याप्तिस्मरणानन्तरोत्पन्न-
 लिङ्गपरामर्षपूर्वकश्च स्वयमनुमेयार्थप्रत्यय इति तथैव परे बो-
 ध्यन्ते, तथा च परामर्षज्ञानहेतोरुपनयस्य सिद्धमर्थवत्त्वम् । न च
 यथा लिङ्गपरामर्षज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधानमनुमेयज्ञानस्य, त-
 था दधिभक्षणाद्यनुविधानमपि, येनातिप्रसङ्गश्चोद्येतेति । प्रयो-
 जनान्तरमुपनयस्याह । साध्ये वा सम्भव इति । चोदयति ।
 ननु चेति । यद्यपि साधनतया कृतकत्वमुक्तं, प्रतिज्ञानन्तरं
 प्रतिपन्ना साधनस्यैवापेक्षितत्वात्, तथाऽपि तन्नासिद्धं तत्र
 साधनत्वेन व्यवतिष्ठत इति स्वसिद्धिमाक्षिपति सामर्थ्यादिति
 भावः । परिहरति । नोक्त इति । यत्परः शब्दः स शब्दार्थ
 इति शब्दाः । साधनत्वपरश्च कृतकत्वादिति । सामर्थ्यादा-
 क्षेपे तदाहरणमपि न प्रयोक्तव्यम् । अत्रापि साधनत्वसामर्थ्या-
 दाक्षेपाद् अव्याप्तस्य साधनत्वायोगात्, ताद्विधस्यापि प्रमेयत्वादेः

शब्दनित्यत्वादौ साधनत्वभ्रमेण प्रयोगोऽसिद्धेऽपि तुल्य इति व्याप्तिप्रदर्शनार्थोदाहरणप्रयोगवद्धेतोः सिद्धत्वप्रतिपादनाय उपनयस्यापि प्रयोग इति रमणीयम् ॥ ३८ ॥

निगमनलक्षणावतारपरं भाष्यं, द्विविधस्य पुनरिति । साधर्म्येण वैधर्म्येण द्विविधानामपि हेतूदाहरणोपनयानां समानं निगमनलक्षणमित्यर्थः ।

हेत्व-नम् (सू. ३९) ॥

तस्मादिति हेत्वपदेशात्तद्धेतुकमनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम् । यद्यपि च सिद्धनिर्देशो निगमनं साध्यनिर्देशश्च प्रतिज्ञा, तथाऽपि यस्यैव प्रतिज्ञायां साध्यत्वमासीत् तस्यैव निगमने सिद्धत्वमित्यवस्थावन्तमेकमाश्रित्य समानविषयतया निगमनं प्रतिज्ञेत्युपचर्यते, तथा च पुनर्वचनमप्युपपन्नं, तदेतद्भाष्यकारो व्याचष्टे । साधर्म्योक्त इति । व्युत्पादयति । निगम्यन्त इति । साधर्म्यवैधर्म्ययोः प्रतिज्ञातः प्रभृति निगमनान्तं प्रयोगमाह । तच्चेति । तत्र प्रथमसूत्रवदेव यथास्वमवयवेषु प्रमाणानां परमं न्यायं स्तोतुं सम्भवमाह । अवयवसमुदाये चेति । आसौपदेशस्येति । सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादेरासौपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिसन्धानात् । ननु कस्मात् प्रतिज्ञैवासौपदेशो न भवति, कृतमस्या आगमान्तरविषयत्वेनेत्यत आह । अनृषेश्चेति । अनुमानं हेतुः । स्यादेतत् । द्वितीयं लिङ्गदर्शनं हेतुर्न च तदनुमानं, तृतीयस्योपनयविषयस्य लिङ्गदर्शनस्य तथाभावादित्यत आह । उदाहरण इति । उदाहरणे दृष्टान्तधर्मिणि साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धं सादृश्यं सम्यग् दृष्ट्वा लिङ्गस्य प्रतीतिः । एतदुक्तं भवति, यद्यपि त्रयाणामपि लिङ्गदर्शनानां सम्प्रतीतिनामनुमानत्वं, तथा-

ऽपि तदेकदेशे मध्यमेऽपि लिङ्गदर्शने समुदायोपचारादनुमान-
व्यपदेश इति । प्रत्यक्षाविषयमुदाहरणं । कस्मात्, दृष्टेनो-
दाहरणे प्रतिबन्धेनादृष्टस्य साध्यधर्मिण्यनुमेयस्य सिद्धेः । यदि
पुनर्न मूलं प्रत्यक्षमास्थीयेताव्यवस्थया नादृष्टं सिद्ध्येदिति भावः ।
निगमनप्रयोजनं प्रतिपादयति । सर्वेषामिति । प्रतिज्ञादीना-
मुपनयान्तानामेकोऽर्थः स्वभावप्रतिबद्धं लिङ्गं वा अनुमेयं वा,
तस्य प्रतिपत्तिः, तस्यां सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति, तदनेनै-
कार्यत्वं दर्शितम् । द्विविधं हि प्रयोजनं तत्रात्रान्तरं स्वभावप्र-
तिबद्धलिङ्गप्रतीतिः, परमं च साध्यप्रतीतिरिति । सम्प्रति वि-
भागे साकाङ्क्षत्वं दर्शयति । इतरेतराभिसम्बन्ध इति । अ-
भिसम्बन्धेन फलेनाकाङ्क्षामुपलक्षयति । असत्यामिति । प्र-
धानं हि प्रतिज्ञापदं, तदुत्तरकाले हि साधनाकाङ्क्षायां प्रतिज्ञा-
माश्रित्य हेतुपदं प्रवर्तते, न पुनः प्रथममेव हेत्वपेक्षेति हेतुल-
क्षणेऽस्माभिः प्रतिपादितमिति । हेतुपदविरहे आकाङ्क्षां दर्शय-
ति । असति हेताविति । उदाहरणाभावेऽप्यपेक्षामाह ।
असत्युदाहरण इति । उपनयाभावेऽप्यपेक्षामाह । उपनयं
चान्तरेणेति । निगमनाभावेऽप्यपेक्षामाह । निगमनाभावे
चेति । अवयवानां प्रातिस्विकं प्रयोजनमुक्तमपि शिष्यहिततया
भाष्यकारः प्रतिपादयति । अथेति । पञ्चावयवप्रतिपादनप्र-
यत्नस्य प्रयोजनं दर्शयति । न चैतस्यामिति । कथं पुनः प्रक्र-
मत इत्यत आह । अव्यवस्थाप्येति । व्यवस्थापिते न जाते-
स्वसर इत्याह । व्यवस्थिते हीति । अत्र केचिदाहुः, निगम-
नमसाधनाङ्गं, कथं, प्रतिज्ञागतार्थत्वादिति, तन्मतमपाकर्तुं वा-
र्तिककारः सप्रयोजनं निगमनं दर्शयति । प्रतिज्ञाविषय-
स्यार्थस्येति । चतुर्भिः खल्ववयवैर्हेतोस्त्रीणि रूपाणि द्वे वा प्र-

तिपादिते, न त्वबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षितत्वे । पञ्चसु वा
चतुर्षु वा रूपेषु हेतोरविनाभावः परिसमाप्यते, तस्माद्बाधि-
तत्वासत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयसंभूचनाय निगमनं, तदिदमुक्तं, वि-
रीतिप्रसङ्गप्रतिषेधार्थमिति । बाधेन प्रतिपक्षेण वा साध्यवि-
परीतप्रसङ्गः स्यादिति सोऽयं प्रतिज्ञाविषयार्थस्य अशेषप्रमा-
णमूलावयवोपपत्तौ सखां प्रतिज्ञेयस्यार्थस्य सिद्धतया पुनर्वचनेन
निगमनेन प्रतिषिध्यते । न च प्रतिज्ञावचनादेव तत्सिद्धिः,
तस्य साध्यपरत्वात् । न चान्यपरादप्याक्षेपात् सिद्धिः, हेत्वादि-
प्रयोगवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, प्रतिज्ञात एव सर्वाक्षेपसम्भवात्, त-
स्माद् रूपद्वयप्रतिपादनार्थं निगमनं, यथा च त्रैरूप्यातिरिक्तमे-
तद्रूपद्वयं, तथोपपादितमस्माभिः प्रथमसूत्रे । हेत्वाभासेषु च
शेषं दर्शयिष्यत इति । एतस्मिन् सूत्रार्थे परस्य प्रतिज्ञायां नि-
गमनं गतार्थं मन्यमानस्यावकाशो नास्ति । यस्तु मन्येत, न
हेतोरविनाभावसिद्धिमन्तरेण सिद्धनिर्देशो निगमनं भवति, न च
पाञ्चरूप्यं विनाऽविनाभावसिद्धिः, निगमनात्तु तत्सिद्धौ न सि-
द्धनिर्देशो निगमनमपि तु तदपि साध्यनिर्देश एवेति, तं प्र-
त्युपेत्य तद्दोषनिराचिकीर्षया परेषां वाक्यमुपक्षिप्यते ।
परेषां वाक्यं पठति । उपनयानिगमने त्विति । दूषयति ।
इदं तावदिति । यथाश्रुति निगमनोपनययोरभेदं साधयति,
अर्थगतं चाविशेषं हेतुमाह, तच्चैतदालोकितमसौरेक्ये काकस्य
काष्ण्यादिवदापतितम् । शङ्कते । अथ हेतूपनयाविति ।
(१३८ । १) उपलक्षणं चैतत्, प्रतिज्ञानिगमने इत्यपि द्रष्ट-
व्यम् । अर्थाविशेषादिति । अविशिष्टार्थत्वादित्युन्नेतव्यम् ।
तथा च सम्बन्ध इति शङ्कितुरभिप्रायः । अत्रापि दोषमाह ।
स विपक्षेति । पुनः शङ्कते । अधैकप्रयोजनकत्वेनेति ।

निराकरोति । तथापीति । सिद्ध्यत्येकप्रयोजनत्वे साध्ये हेतो-
 रविरोधो हेतुस्तु न प्रतिज्ञार्थादतिरिच्यते इत्यर्थः । तद्वार्णि-
 तमिति । अन्यश्च हेत्वर्थोऽन्यश्चोपनयार्थ इत्येतद्वर्णितमित्यर्थः ।
 एतेनोपनयनिगमनप्रयोजनाभिधानेन ये व्यवयवं वाक्यमाहु-
 स्तन्मतमपास्तमित्याह । पक्षधर्मत्वेति । यच्च परैरुपनये दूषणं
 विकल्प्याभ्यधायि, तत्तावदुपन्यस्यति । यदपि यथा तथेति ।
 सर्वसामान्ययोगे हि तदेव स्यान्न तु तथेति । अन्यथा शब्द-
 स्य कृतकत्वादिति । न हि यथा घटः कृतकः तथा शब्दो-
 ऽपि कृतकः, घटशब्दयोरभेदप्रसङ्गादित्यर्थः । तस्मात्सामान्य-
 प्रतिषेधे विशेषप्रतिषेधे च कृतकत्वसामान्यं परिशिष्यते, तस्य
 च यथातथाभावयोरभावात्कृतकत्वादित्येव स्यात्, तथा च
 न हेतोरतिरेक उपनयस्येसाह । परिशेषादिति । तदेतत्परेषां
 दूषणं निराकरोति । तदप्ययुक्तमिति । यथा तथेति वाक्य-
 मुपमानैकदेशमुपमानमुपचारात्, उपमानमर्थो यस्य सोऽयमुपमा-
 नार्थ उपनयः, तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात् । तच्चोपमानं न
 सर्वथा साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्तते । साध्ये शब्दे
 साधनस्य कृतकत्वस्य स्थालीगतस्य यः सर्वथाभावः स्थाली-
 त्वाद्येकार्थसमवायः, तमाश्रित्य न प्रवर्तते, तथा च शब्दस्था-
 ल्योरभेदप्रसङ्गाद्यथा तथेत्येव न स्यात् । तस्मात्स्थालीस्थप्रका-
 रान्तरव्युदासेन कृतकत्वसामान्यमात्रसाधारण्येन यथातथेत्युप-
 मानोपपत्तिरित्यर्थः । नन्वेवमपि कृतकत्वसामान्यमात्रं शब्दे
 स्यान्न तु यथातथाभावः, तथा च न हेतोरतिरेक इत्युक्तमत
 आह । कृतकत्वसामान्यं त्विति । न हि जातु शाबलेयस-
 न्निधौ गोत्वसामान्यमात्रं भवत्यपि तु विशेषसहितं, तथा च
 यथातथाभाव उपपन्न इत्यर्थः । एतेन यत्परैरुपनयस्य दृष्टान्ता-

दभिन्नत्वं वर्णितं, तदपि परास्तमित्याह । गन्तार्थत्वादिति ।
 अनेनोपमानसमानत्ववर्णनेन । एतदेव विभजते । यदप्यु-
 क्तमिति । व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः, दृष्टव्याप्तिकस्य हेतोः
 साध्यधर्मिण्युपसंहार उपनय इति महान् भेद इत्यर्थः । एतेन
 निगमनं प्रतिज्ञायाः समानाभिधेयत्वेऽपि प्रतिज्ञार्थत्वेन प्रत्यु-
 क्तम् । प्रतिज्ञायाः साध्यपरत्वाद् निगमनस्य विपरीतशङ्कानि-
 वृत्तिपरत्वादिति । प्रयोजनभेदसामान्यमात्रविवक्षया एतेनेत्यु-
 क्तम् । अत्र भाष्यकारेणैकस्मिन्नन्वयव्यतिरेकिण्येव वीताव्रीतवा-
 क्ये पश्चादवयवे उदाहृते, तत्र कदाचिद् भ्रान्तिः स्यादेकोदाह-
 रणतया द्वे अपि वाक्ये परस्परापेक्षे एवेति, तन्निराकरणायाह ।
 ते एते इति । न पुनरन्वयि व्यतिरेकि चेत्येकं वाक्यमि-
 त्यर्थः ॥ ३९ ॥

अत्र भाष्यं तर्कलक्षणावतारपरम्, अत ऊर्ध्वमिति ।
 उद्देशक्रमानुसारेण ।

अवि-तर्कः (सू. ४०)

तर्कप्रवृत्तिक्रममाह । अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थ इति । यद्यपि
 संशयस्य पश्चादेव जिज्ञासा भवति, तथाऽपि जिज्ञासायाः प-
 रस्तादपि संशयो भवति, स चात्र विवक्षितः, तर्कप्रवृत्त्यङ्ग-
 त्वात्, तर्केण हि प्रसङ्गापरनाम्ना द्वयोः पक्षयोरेकतरनिषेधेनै-
 कतरः प्रमाणविषयतयाऽभ्यनुज्ञातव्य इति विषयप्रत्यासत्त्या
 तर्कप्रवृत्तिं प्रत्यङ्गता संशयस्येति । कारणोपपत्त्येति व्याचष्टे ।
 सम्भवत्यास्मिन्कारणं प्रमाणमिति । अत्र च कारणव्या-
 ख्यानं प्रमाणमिति । उपपत्तिव्याख्यानं सम्भवतीति । अ-
 नुज्ञाव्याख्यानम् एवमेतन्नंतरदिति । एतदुक्तं भवति । य-
 स्मिन्विषये प्रमाणं प्रवर्तितुमुद्यतं, तद्विपर्ययाशङ्कायां न ताव-

त्प्रवर्त्तते, न यावदनिष्ठापस्या विपर्ययाशङ्काऽपनीयते, तदपनय-
 एव च स्वविषये प्रमाणसम्भव इति चोपपत्तिरिति व्याख्या-
 यते । तथा प्रमाणस्योपपत्त्या इतिकर्तव्यतया प्रमाणस्याभ्यनु-
 ज्ञातस्य विशोधिते विषये प्रमाणमप्यगृहं प्रवर्त्तते । न चोपपत्तिरे-
 वास्तु निश्चयहेतुः, कृतं प्रमाणेनेति वक्तव्यम् । उपपत्तेः स्व-
 तन्त्राया आश्रयासिद्धतया स्वतो निश्चयायोगात्, तदुपपादितं
 प्रथमसूत्र इति । उदाहरणमाह । निदर्शनमिति । स्वकृतस्य
 कर्मण इत्यादिना पूर्वस्य कारणमित्यन्तेन संसारो दर्शितः,
 उत्तरेत्यादिनाऽपवर्ग इत्यन्तेनापवर्गः । तेन संसारापवर्गावि-
 च्छन्तौ वादिप्रतिवादिनौ प्रति आत्मनित्यत्वविषयं प्रमाणं प्र-
 वर्त्तमानमनेन तर्केणानुगृह्यत इति प्रमाणविषयविपर्ययाननु-
 ज्ञैव प्रमाणविषयाभ्यनुज्ञाऽनिष्टप्रसज्यविपर्ययस्यैव साक्षान्नि-
 वर्त्तनात् । अत एव भाष्ये उपसंहारे यत्र कारणमनु-
 पपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानातीति । ननु यदि तर्क
 एवमेतन्नेतरदिसेवमाकारः, कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तु
 तत्त्वज्ञानमेवेति देशयति । कथं पुनरिति । परिहरति । अनव-
 धारणादिति । पर्यायेर्निश्चयादत्यन्तभेद उक्तः । भावित-
 च्चिन्वितात् । अत एव प्रसन्नान्निर्मलादिति । प्रमाणस्य
 सामर्थ्यादिति तर्कस्य स्वातन्त्र्यमपाकरोति । स्यादेतत्, यदि
 न तर्कस्तत्त्वनिश्चयसाधनमपि तु प्रमाणमेव, हन्त भोः किमर्थं
 तर्हि वादे प्रमाणतर्कसाधनेत्युक्तमित्यत आह । सोऽयं तर्क
 इति व्यक्त्यभिप्रायेण । प्रमाणानीति । प्रमाणविषयविपर्यया-
 शङ्काविघटितानि प्रमाणानि प्रतिसन्दधान इत्यर्थः । वार्त्तिक-
 कारः सूत्रतात्पर्यमाह । अस्थिति । (१३९ । २) समानजा-
 तीयात्संशयादेरसमानजातीयाच्चेच्छादेर्व्यवच्छिद्यते । यद्यपि

संशयजिज्ञासे अथ्यविज्ञाततत्त्वेऽर्थे प्रवर्तेते, तथाऽपि न कारणो-
पपत्तिरिति तयोर्व्यवच्छेदः । तत्त्वं व्याचष्टे । यथेति । स-
मानासमानजातीयव्यवच्छिन्नमन्त्रिपरीतं रूपं तत्त्वमित्यर्थः ।
चोदयति । कुतः पुनरिति । न हि सामान्यज्ञानविधायकं प-
दमत्रास्तीत्यर्थः । परिहरति । अविज्ञातेति । विशेषनिषेधः शे-
काभ्यनुज्ञाहेतुरित्यर्थः । विमृषति । अविज्ञाततत्त्व इति स-
मासोऽयमिति । अवधारयति । षष्ठीविग्रहणेति । युक्त-
मुपपन्ने, तृतीयाविग्रहेण त्वनुपपन्नमित्यर्थः । संशयवाद्याह ।
विशेषहेत्वभावादिति । युक्तमिति प्रतिज्ञामात्रेणोच्यते, न
त्वत्र हेतुरभिधीयत इत्यर्थः । युक्तत्वे हेतुमाह । युक्तमर्थग्र-
हणसामर्थ्यादिति । अन्यश्चोदयति । अर्थग्रहणमन्तरेणा-
पीति । ज्ञेयेन हि ज्ञानं निरूप्यते, न ज्ञात्रा, तस्य साधारण्या-
दिति सामर्थ्यमित्यर्थः । गूढाभिसन्धिः परिहरति । एवमपी-
ति । तस्याभिसन्धिभेदमुररीकृत्य चोदयति । सा भूत्स-
मास इति । उत्तरवाद्याह । भवत्येवेति । नाद्याध्यनेन स्वा-
भिप्रायो दर्शित इति मत्वा पुनश्चोदयति । अनुक्तेऽपीति ।
उक्तपरिहारपूर्वं स्वाभिप्रायमुद्घाटयति । अत्रोक्तमिति ।
समस्तानभिधानप्रसङ्गाच्चति स्वाभिप्रायोद्घाटनम् । ए-
तदुक्तं भवति, सामर्थ्यप्राप्तस्यानभिधानेऽतिप्रसङ्ग इति न सा-
मर्थ्यमाश्रित्य लक्षणे संशयो निराकरणीय इति तन्निराकरणा-
र्थमर्थग्रहणं कर्तव्यमिति । अत्र चोदयति । अविज्ञाततत्त्व
इति न वक्तव्यमिति । (१४० । २) न हि तत्त्वे ज्ञाते
तत्त्वज्ञानार्थिता भवति, तस्माद्भ्रम्यते अविज्ञाततत्त्व इति भावः ।
गूढाभिसन्धिरुक्तं परिहारं स्मारयति । अत्र तावदुक्तमिति ।
अविदिताभिप्रायश्चोदक आह । सा भूदिति । अस्तूहस्तर्क इ-

त्वेतावदेवेत्यर्थः । उत्तरवादी स्वाभिप्रायमुद्घाटयति । न बु-
 द्धिधर्मेति । यद्यपि नास्माकं राज्ञान्ते शुश्रूषादयो बुद्धिगुणाः,
 बुद्धितत्त्वस्यैवाभावात्, तथाऽप्यात्मगुणा अपि साङ्ख्याभिप्रायेण
 बुद्धिगुणा उक्ताः । एतदुक्तं भवति, यद्यूहस्तर्क इत्येतावदुच्येत,
 यदि वा तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इत्येतावन्मात्रं, ततो विज्ञाततत्त्वे-
 ऽपि यदूहः पूर्वानुभूतपरिच्छेदात्मा जायते पुनस्तत्त्वज्ञानार्थं सो-
 ऽपि तर्कः स्यात्, तस्मादविज्ञाततत्त्व इति वक्तव्यमित्यर्थः ।
 यद्यपि कारणोपपत्तिस्त इत्येतस्मादप्ययमर्थो गम्यत एव, तथा-
 ऽपि कारणोपपत्तेरेवंरूपत्वं नाविज्ञाततत्त्वग्रहणमन्तरेण भवति ।
 तथाहि अधिगतपरिच्छेदात्माऽप्यूहः कारणस्योपपत्त्या सम्प-
 वेन ज्ञायते, कारणासम्भवे कार्यस्यासत्त्वात्, न त्वसावविज्ञा-
 ततत्त्व इति ततो व्यवच्छेदः । तथा च सति प्रमाणमपि तर्कः
 स्यादत उक्तं, कारणोपपत्तिस्त इति । उक्ते सति प्रयोजनानुस-
 रणं, न त्विह लाघवादरः सूत्रकारस्येति मन्तव्यम् । चोदयति ।
 षष्ठ्याभिधानमिति । परिहरति । न विभक्तिव्यत्ययादि-
 ति । तथाऽन्यत्र कणभुजः सूत्रे । विप्रतिपन्नः पृच्छति । क-
 स्मात् । प्रष्टवैकग्रन्थेनाह । यदि व्यत्ययेनेति । परिहरति ।
 न न युक्त इति । सामान्येनाधिगतस्य विशेषेण ज्ञा-
 पनार्थम् । नित्यत्वादयो विशेषाः समवायिनः, वह्न्यादयश्च धू-
 मादिसंयोगिन इति । शेषं सुगमम् । देशयति । ऊहः संशय-
 निर्णयाभ्यामिति । (१४१ । १३) केचित्सिद्धान्तैकदे-
 शिनोऽनुमानं तर्क इत्याहुः । अन्ये त्वनुमानमेव युक्त्यपेक्षं
 विपर्ययेऽनिष्टप्रसङ्गापेक्षं तर्क इति वर्णयन्ति । तत्र प्रथमचोदकं
 प्रत्याह । यत्तावादिति । आक्षिप्त आक्षिप्तहृदयः, न तु तर्क-
 प्रत्ययस्वरूपं चेतयत इत्यर्थः । विशेषदर्शनादिति । (१४२ ।

१) विशेषदर्शनान्निश्चयः प्रमाणेन भवति, न तर्केण तदनुज्ञानमात्रत्वात् तर्कस्येत्यर्थः । चोदकं निराकृत्य सिद्धान्तैकदेशिनं निराकरोति । एतेनेति । यदि संशयात्प्रच्युतो निर्णयं चाप्राप्तस्तर्हि तस्य स्वरूपं वक्तव्यमिति पृच्छति । किं पुनरिति । उत्तरम्, भवेदिति । प्रमाणविषयाभ्यनुज्ञेत्यर्थः । द्वितीयमेकदेशिनं निराकरोति । यैरपीति । युक्तिर्हि प्रमाणोपपत्तिस्तज्जन्मा च प्रत्ययस्तर्क एव, स चानुमानमिति त्वयोच्यते, अस्माभिस्तु तर्क इति संज्ञाभेदमात्रमित्यर्थः । शङ्कते । अथेति । निराकरोति । अनुमानमिति । प्रमाणोपपत्त्यतिरिक्ताया युक्तेरनिरूपणाद् युक्त्यर्थो वक्तव्यः, न ह्यपेक्षणीयमन्तरेणापेक्षा शक्या निरूपयितुमिति भावः । ननु यदेव किञ्चित्स्वविषयाधिगमेनानुमानमपेक्षते, सैवापेक्षणीया युक्तिरनुमानस्य भविष्यतीत्यत आह । स्वविषयाधिगमे चेति । शङ्कते । अथेति । निराकरोति । एवमिति । यद्युत्पत्तौ प्रत्यक्षागमापेक्षमनुमानं, न वक्तव्यं युक्त्यपेक्षमिति, सर्वस्यानुमानस्य तथाभावेऽव्यभिचारेण विशेषणायोगादिति भावः । पुनः शङ्कते । अथानुमानस्येति । निराकरोति । तत्रापीति । एवमपि तर्को नार्थान्तरं स्यादनुमानभेदस्य चेदृशस्य प्रमाण एवान्तर्भाव इति भावः । उक्तमर्थं प्रमाणयति । भवेदिति । भवेदितिप्रत्ययोऽवधारणप्रत्ययश्चेत्यर्थः । चोदयति । अनुमानमिति । विपर्ययोऽनिष्टप्रसङ्गो व्यतिरेकीलिङ्गं, तच्चागृहीतमम्बन्धे लिङ्गिनि न प्रवर्तत इति लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वादप्राणादिमत्त्वप्रज्ञादिति वदनुमानमेवेत्यर्थः । परिहरति । न तर्केति । युक्तं व्यतिरेकिणि जीवच्छरीरे धर्मिणि प्राणादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य दर्शनान्न तु यद्युत्पत्तिमानात्माऽभविष्यन्न संसारापवर्गावुपापत्स्यतामित्यत्रात्मनि धर्मिणि

साधनधर्म उत्पात्तिरस्ति तद्दर्शनं वा यतः संस्कारोद्बोधे सति
लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृतिर्भवेदित्यर्थः । न केवलं प्रसङ्गसाधनं
साध्यधर्मिण्यसिद्धमपि त्वन्यगत एव प्रसङ्गहेतुः, न त्वनुमानम-
न्यगताद्धर्मात्प्रवर्तते, तस्मादनुमानादस्य स्फुटो भेद इत्याह ।
अनुमानं चेति । भाष्यव्याख्यानं, सोऽयमिति ॥ ४० ॥

नैतन्निर्णयमात्रस्य लक्षणमपि तु परीक्षाप्रयोजनस्य, स च
निर्णयो विमर्शानन्तरोत्पन्नतर्कसहायप्रमाणनिबन्धनस्तर्कविषय
एवेति निर्णयभेदलक्षणमिति नाव्यापकं तल्लक्षणमिति दर्शयितुं
भाष्यकारो निर्णयलक्षणमवतारयति । एतस्मिंस्तर्कविषये-

विमृ-यः (सू. ४१) ॥

अत्र पक्षप्रतिपक्षयोः कर्मतया न निर्णयसाधनत्वमित्यनु-
पपत्त्या साधनोपालम्भौ वादमृत्रगतौ लक्षणीयाविति तावेव
तावद्भाष्यकृद्विभजते । स्थापना साधनं, प्रतिषेधः साधन-
स्योपालम्भः । लक्षणानिबन्धनं सम्बन्धमाह । तौ साध-
नोपालम्भाविति । यद्यप्युपालम्भो न प्रतिपक्षाश्रितः, तथा-
ऽपि तदुद्देशेन प्रवृत्तस्तदाश्रित इत्युच्यते । मुख्यपदोपादानोल्ल-
ङ्घनेन लाक्षणिकपदोपादानलभ्यं प्रयोजनमाह । व्यतिषक्ता-
विति । अर्थग्रहणसामर्थ्यलभ्यमेकतरनिर्णयावसानत्वमाह ।
अनुबन्धेन प्रवर्तमानाविति । एतच्च वार्तिके स्फुटीभविष्य-
ति । तमेव साधनोपालम्भयोः परस्परानुबन्धं दर्शयति ।
तयोरन्यतरस्येति । यस्य साधनस्य वा उपालम्भस्य वाऽव-
स्थानं तस्य साधनस्य वा उपालम्भस्य वा योऽर्थः पक्षः प्रति-
पक्षो वा तस्यावधारणमित्यर्थः । अत्र पक्षप्रतिपक्षप्रयोगाद्वादे
संशयोस्तीति भ्रान्त्या चोदयति । नेदमिति । एक इति वार्त्ता ।
प्रतिज्ञातमर्थं हेतुतः स्थापयति । द्वितीयस्य प्रतिवादिनः

प्रतिषिद्धं प्रतिषेधं वायुक्तस्य हेतोर्दूषणमिति यावत् । उद्धर-
 ति दूषणाभासीकरोति । द्वितीयेन तु प्रतिवादिना वायुक्त-
 स्य हेतोः स्थापनाहेतुत्वं प्रतिषिध्यते तस्यैव वादिनः
 प्रतिवायुक्तदूषणप्रतिषेधहेतुश्च प्रतिवादिनैवोद्भिद्यते ।
 वादिनो वा प्रतिवादिनो वा हेतुश्चोपालम्भश्च निवर्त्तते, तस्मि-
 न्निरुद्धे योऽवतिष्ठते एकस्तेनार्थनिर्णयो न द्वाभ्यां, तस्मादयु-
 क्तं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामिति । न तावत्संशयविषये निर्णये वादि-
 प्रतिवादिनौ स्तः, तयोर्निश्चितयोरेव प्रवृत्तेः । अभ्युपेक्ष परिह-
 रति । उभाभ्यामिति । वादिनः साधनस्य सम्भवः, प्रतिवा-
 दिन उपालम्भस्यासम्भवः, एवं प्रतिवादिनः साधनस्य सम्भ-
 वो वादिन उपालम्भस्यासम्भव इति । विमृश्येति विमर्शं
 कृत्वेति । अनुपादेयोऽपि विमर्शः कार्यत्वात्कृतिव्याप्य उक्तः ।
 विमृश्येतिपदोपादानस्य प्रयोजनमाह । सोऽयमिति । अव-
 योत्य नियमेन विषयीकृत्येत्यर्थः । एकधर्मिस्थयोरित्यस्य व्य-
 तिरेकमाह । यथा क्रियेति । विरुद्धयोरित्यस्य कालभेदेन व्यति-
 रेकमाह । एकधर्मिस्थयोश्चेति । न निर्णयमात्रस्येदं लक्षणमपि तु
 परीक्षाविषयस्येत्याहान चायं निर्णय इति । अर्थावधारणं निर्णय
 इति एतावन्मात्रं लक्षणम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षं भव-
 तीति योजना । हृदि व्यवस्थितमभ्युपगममुद्घाटयति । वादे शा-
 स्त्रे चेति । न हि ज्योतिष्तोमादीनां स्वर्गादिसम्बन्धनिर्णये आगमेन
 कर्तव्ये विमर्शोऽस्ति, नापि वादजल्पवितण्डासु विमर्शः, निश्चि-
 तयोरेव वादिनोस्तत्र प्रवृत्तेरित्यर्थः । वार्त्तिकं, संबन्धोऽर्थश्च
 पूर्ववत् । (१४३१३) सम्बन्ध उद्देशकपेण तर्कानन्तर्यलक्षणः
 अर्थश्च प्रयोजनम्, समानासमानजातीयव्यावृत्तिरित्यर्थः । शेषं
 भाष्यव्याख्यानमेव गतम् । ननु भवतु पक्षशब्दलक्षितस्य सा-

धनस्य निर्णयं प्रति कारणत्वं, प्रतिपक्षशब्दलक्षितस्य तु तद्दू-
षणस्य न साक्षात्साधकत्वमित्यत आह । पक्षाच्चेति । हेतुत्वं पार-
म्पर्येणेत्यर्थः । पक्षप्रतिपक्षाभ्यामिति । साधनदूषणाभ्यामित्य-
र्थः । लक्षणमाचिक्षिप्सुर्विकल्पयति । क पुनरयमिति । अत्र पक्ष-
प्रतिपक्षाभ्यामेवेति प्रथमः कल्पः, तदा हि यत एवकारकरणं
ततोऽन्यत्रावधारणमिति निर्णये नियमो भवेत् । निर्णय एवेति
द्वितीयः कल्पः, तदा हि पक्षप्रतिपक्षाभ्यामित्यत्र नियमः । वि-
मृश्यैवेति तृतीयः, तदाऽपि निर्णये नियमः । तत्र प्रथमं
कल्पमाक्षिपति । यदि विमृश्येति । एतस्मिन्किल कल्पे नि-
र्णयः पक्षप्रतिपक्षविमर्षातिलङ्घनेनान्यत्र न प्रवर्तत इति प्रत्य-
क्षं प्रमाणं निर्णयफलं न स्यात् । न हि तत्र पक्षप्रतिपक्षौ नापि
विमर्ष इति प्रत्यक्षलक्षणं बाध्यते इत्यर्थः । तृतीयकल्पमाक्षिपति ।
एतेनेति । व्याघातेनेत्यर्थः । द्वितीयकल्पे दूषणमाह । अथ पक्षे-
ति । तदा निर्णयस्यानियमात् पक्षप्रतिपक्षौ च तदभावश्चेति तदु-
भयं तदाश्रयः निर्णयः प्राप्नोति, तथा चाव्यापकं लक्षणमित्य-
र्थः । प्रथमं कल्पमालम्ब्य समाधत्ते । तर्कविषय इति । न निर्णय-
मात्रस्येदं लक्षणमपि तु निर्णयविशेषस्येत्यर्थः । निर्णय इति ।
निर्णयमात्रमित्यर्थः । अथ निर्णयस्य किमिति । निर्णयसा-
मान्यस्येत्यर्थः । एकशश्च प्रमाणैरिति । प्रत्यक्षादिभिः ।
संहृत्य प्रमाणैरिति साधनदूषणसमाधानैरित्यर्थः । पक्षप्रति-
पक्षाभ्यामेव वादे निर्णयो न तु विमर्षः, शास्त्रे तु निर्णय एव,
न तु शास्त्रातिरिक्तं साधनान्तरमाश्रीयत इत्यर्थः । पक्षप्रति-
पक्षशब्दाभ्यामिति । (१४४।९) लक्षणायां हि येन
लक्ष्यते तदवच्छेदकतया तदपि बुद्धौ सन्निधीयते, ततश्च तेन
नियमो भवति लक्ष्यमाणस्य, यथा गङ्गायां घोष इति गङ्गासम्ब-

न्येव तीरं घोषेणान्वीयते, न त्वकूपारतीरमपीति । चोदयति ।
 अर्थेति । परिहरति । न नेति । अर्थग्रहणे क्रियमाणे कालप-
 निकत्वं प्रतिषिध्यते, न चाकल्पितं विरुद्धधर्मवदित्येकतरनिर्ण-
 यः । नेदं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामित्यादि चोद्यभाष्यं व्याचष्टे ।
 पक्षप्रतिपक्षाभ्यामिति । उभाभ्यामिति परिहारभाष्यं व्या-
 चष्टे । उभाभ्यामेवेत्याहेति । पृच्छति । एतस्मिन्निति । प्रथमं
 साधनं, द्वितीयं दूषणं, तृतीयं समाधानम् । उत्तरं, सर्वत्र ।
 कदाचित्प्रथमे कदाचिद् द्वितीये कदाचित्तृतीय इत्यर्थः । अवश्यं
 तु तृतीय इत्याह । अथ वेति । उभयत्र कल्पे प्रश्नः, कथमिति ।
 उत्तरम् एकस्तावदिति । निर्णयोऽनुमानमेवेति केचित् ।
 (१४५ । ८) तथा हि तृतीयलिङ्गदर्शनं प्रत्यक्षफलं निर्णय-
 स्तदेव चानुमानमतो निर्णयो नानुमानादतिरिच्यत इत्यर्थः ।
 परिहरति । न लिङ्गलिङ्गाति । यदि निर्णयमात्रमनुमानमुच्येत,
 न तदा तस्य सर्वस्य लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वमिति । यदि
 तु लिङ्गपरामर्शो निर्णयस्तस्य चास्ति लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धापेक्षि-
 त्वमिति तत्राह, प्रमाणाफलत्वात् । सामान्यव्याप्तो विशेषः सा-
 मान्यनिवृत्तौ निवर्तते शिंशपात्वमिव वृक्षत्वनिवृत्तौ, न च फले
 प्रमितिरूपे निर्णये प्रमाकरणत्वं फले नास्तीति नानुमानत्वं त-
 द्विशेष इत्यर्थः । इतश्चानुमानान्निर्णयो भिद्यत इत्याह । निर्णयः
 स्वविषय एवेति । न हि निर्णयो निर्णयत्वेन प्रतिपत्त्यनुबन्धि-
 भूताद्विषयादन्यत्रानुमानं तु तत्र चान्यत्र च, यथाऽनुमेयोऽग्निरेव
 हेयत्वादिभिः परिच्छिद्यते अग्निज्ञानेनानुमानेन, यदा तु धूमज्ञाने-
 नाग्निरनुमीयते तदाऽन्यत्रेति गमयितव्यम् । शेषमतिरोहितम् ॥४१॥
 इति मिश्रश्रीवाचस्पतिविरचितायां न्यायवार्तिक-
 तात्पर्यटीकायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाहिकम् ।

नितान्तदक्षिणलक्षणधियो गृह्णन्त्वमत्सराः ।

वाचस्पतिगिरामत्र तत्त्वानि विबुधा इव ॥ १ ॥

उद्देशक्रमप्राप्तं वादलक्षणसूत्रमवतारयितुं भाष्यम्, तिस्रः कथा भवन्तीति, तदयुक्तम्, बृहत्कथादीनां तिसृषु कथा-स्वनन्तर्भावात् । न च सामान्यलक्षणाभिधानमन्तरेण विशेष-लक्षणावतारोऽस्ति, वादादयश्च कथाविशेषा इत्यत आह वार्तिककारः, तिस्रः कथा भवन्तीति । (१४६ । २) नायं कथामात्रनियमो येन बृहत्कथादीनामकथात्वं स्यात्, अपि तु यन्नानाप्रवक्तृके विचारे वसति ताद्विचारवस्तु, विचारविषया वाक्यसन्दृढिः कथेति यावत्, तस्यां कथा-यामेष नियमस्तिस्र एवेति । तथा च नानाप्रवक्तृकविचार-विषयवाक्यसन्दृढिः कथेति सामान्यलक्षणम् । पक्षप्रति-पक्षपरिग्रह इति सूत्रावयवेन सूचितमित्येतदप्यर्थादुक्तं भवती-ति द्रष्टव्यम् । यद्वस्तु विचार्यत इत्यर्थाभिधानमात्रं, न तु विचारवस्त्वित्यस्य विवरणम् । वादादिष्वधिकारिणः पुरुषा-नाह । तत्र गुर्वादिभिरिति । वादलक्षणस्याऽऽनन्तर्ये हेतु-माह । तत्र यथोद्देशमिति । सूत्रमिति । सामान्यलक्षण-मप्यनेन सूच्यत इत्युक्तं भवति । एकाधिकरणस्थावित्यादि-भाष्यं प्रश्नपूर्वकं व्याचष्टे । काचिति । वस्तुधर्माविति विभजते । वस्तुधर्माविति । धर्मशब्दो विशेषे । तदन-वसायाद्वस्तुनः सामान्यतोऽवसाय उक्तो भवति । तदिदमाह । वस्तुनः सामान्येनेति । अविरुद्धावप्येवम्, न विचारं प्रयोजयत इत्यर्थः । प्रमाणतर्कसाधनां पालम्भपदस्य तात्पर्य-माह । अस्याेति । अनेन तस्य विशेषणमित्यादिभाष्यं

व्याख्यातम् । यद्यपि वितण्डायामपि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो-
 ऽस्ति, तथाऽपि प्रतिपक्षसाधनं नास्ति, तस्याः साधनहीनत्वात् ।
 यद्यपि च जल्पेऽपि पक्षप्रतिपक्षसाधनमस्ति, तथाऽपि न
 प्रमाणमूलैरवयवैस्तर्केण च साधनोपालम्भाविति जल्पवितण्डा-
 भ्यां प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भग्रहणेन व्यवच्छेदः । यथा चैत-
 त्थोपरिष्ठादुपपादयिष्यते । आक्षिपति । कथं पुनस्तर्क्येति ।
 (१४७ । २) समाधत्ते । न ब्रूम इति । तर्कस्येतिकर्तव्य-
 तारूपस्य प्रमाणानुग्राहकतया प्रमाणमूला अवयवास्तर्कमूला
 अपि भवन्ति, तथा च तर्कस्यापि साधनोपालम्भहेतुभावः
 सिद्धो भवतीत्यर्थः । विकल्प्याक्षिपति । साधनमुपालम्भ-
 आस्मिन्निति । परं प्रति हि सिद्ध्युपालब्धी विवक्षिते, न
 च ते प्रमाणतर्काभ्यां, तयोः स्वप्रतिपत्तिहेतुत्वात् । अवयवा-
 र्थस्यावयवशब्दार्थस्येत्यर्थः । उभयथाऽभिमतत्वेऽपि करण-
 साधनपक्षं कुक्षीकृत्य तावत्समाधत्ते । नान्यार्थत्वादिति ।
 अन्यप्रयोजनत्वादित्यर्थः । यदा तु भावसाधनौ तदा पृच्छति ।
 अथैताविति । विप्रतिपन्नस्य प्रश्नः, न प्रतिपक्षविषय उपा-
 लम्भो नापि तत्साधनविषयः, तयोर्वस्तुनोः स्वकारणादुत्प-
 न्नयोः सदा तद्रूपत्वेन पुरुषधर्मोपालम्भानास्पदत्वादित्या-
 क्षेपार्थः । समाधत्ते । एवमेतदिति । (१४८ । ६) धर्मो
 धर्मविशिष्टः पक्षः प्रतिपक्षो वा कर्म, तस्य विषयः तस्य
 धर्मिणो वास्तवं तादृशत्वमतादृशत्वं वा, करणस्य तु कर्मैव
 विषयः । तत्र च कर्मकरणे समर्थे एव नासमर्थे । अन्यविषये
 तु पुरुषस्ते नियुजानोऽसमर्थीकरोति । सोऽयं पुरुषस्याप-
 राधो न कर्मकरणयोः । यथाऽऽकाशे निशातमीसं व्यापा-
 रयतः पुरुषस्यापराधो नाकाशस्य शब्दे समर्थस्यासेर्वा नि-

शातस्य दारुणि समर्थस्य । तस्मादौपचारिकः साधनस्यो-
 पालम्भो न मुख्यः, मुख्यस्तु पुरुषस्यैव, वचनद्वारेण
 तद्भाष्यते पुरुषस्येति वचन उपचर्यते न तु पक्षे, पक्षद्वारा-
 रेणानुद्धावनादिति सिद्धम् । यथाऽयमर्थः सूत्रपदेभ्यो लभ्यते
 तथा प्रश्नपूर्वकं दर्शयति । कथं पुनरिति । यदुक्तं प्रमाण-
 तर्कसाधनोपालम्भग्रहणं वादस्य जल्पवितण्डाभ्यां विशेषणा-
 र्थमिति, तत्र प्रकारं पृच्छति । अथेति । प्रष्टुमाह । नन्वि-
 दमपीति । उत्तरम्, न समानमिति । नियममाह । प्रमा-
 णतर्कसाधनोपालम्भ एव वादः । एवकारेण छलादि-
 साधनोपालम्भत्वं वादस्य व्यवच्छिद्यते, तथा च जल्प-
 वितण्डाभ्यां व्यवच्छेदः । एतदुक्तं भवति । तर्कानुगृहीतप्र-
 माणमूला अवयवाः परमार्थतो भवन्तु मा भूवन्, वादिप्रतिवा-
 दिनोस्त्वभिप्रायो भवति प्रमाणमूला अवयवा इति, एतावतैव
 प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भता, वादस्य वीतिरागकथात्वेन तत्त्व-
 निर्णयावसानत्वात् । जल्पवितण्डयोस्त्वप्रमाणमूलत्वं विदुषा-
 ऽपि प्रतिवादिना छलादिभिः प्रत्यवस्थेयमेकान्तपराजयाद्वरं
 संशयोस्त्वतीच्छता जिगीषुणा । तथा चास्य शास्त्रे व्युत्पा-
 दनं नासदृशं, यथा चैवमाचारस्तथा जल्पलक्षणे वक्ष्यामः ।
 जल्पे निग्रहस्थानविनियोगादिति भाष्यं, तदनुप-
 पन्नम् । उपालम्भग्रहणादेव वादेऽपि निग्रहस्थानस्य लब्ध-
 त्वादित्यत आह वार्तिककारः, छलजातीति । (१४९ । २)
 असत्युपालम्भग्रहण इत्यर्थः । चोदयति । समस्तेति । यद्युपा-
 लम्भग्रहणस्य निग्रहस्थानविधानं प्रयोजनं, हन्त भो न जल्पा-
 द्वादस्य विशेषः, कृतं चोत्तराभ्यां पदाभ्यामित्यर्थः । परि-
 हरति । नोत्तरयोरिति । नियमः परिसङ्ख्या । तदनेन

कस्यचिदनुज्ञानार्थमिति भाष्यं व्याख्यातम् । सिद्धान्ता-
 विरुद्ध इत्यत्र भाष्यव्याख्यामुपन्यस्य दूषयति । सिद्धान्ता-
 विरुद्ध इत्यनेन किलेति । भाष्यमते दूषिते पृष्ट्वा स्वमतेन
 व्याचष्टे । अथ किमिदं पदमिति । पृच्छति । कस्मात्पु-
 नरिति । उत्तरम्, गुर्वादिभिरिति । न खल्वप्रतिभाद्युद्भा-
 वनं तत्त्वप्रतिपत्ताबुपयुज्यते । अधिकं तु न यद्यपि तत्त्वप्रति-
 पत्तिं साक्षाद्वाहन्ति, तथाऽपि तत्प्रयोजनानुसरणे परः प्रति-
 पत्ता समाकुलितबुद्धिः न तत्त्वं प्रतिपत्तुमर्हतीत्यधिकस्यापि
 तत्त्वप्रतिपत्तिविधातहेतुत्वमिति । तत्त्वबुभुत्सुरिति । जिगी-
 षुतां निराकरोति । न हि गुर्वादिभिर्जिगीषासम्भवः । त्रि-
 विधं फलमिति । अनधिगततत्त्वावबोधः संशयानिवृत्तिरध्य-
 वसिताभ्यनुज्ञानमिति फलानि त्रीणि । प्रतिद्वन्द्वानि तु न
 वादोऽपि तु जल्पवितण्डे । चोदयति । प्रमाणतर्केति । पारमा-
 र्थिकात्तर्कसहितात्प्रमाणादेकस्मिन्विषये साधनोपालम्भयोः संभवे
 विरुद्धधर्माङ्गितमेकदा वस्तु प्रसज्यत इत्यर्थः । परिहरति । नैष
 दोष इति । (१५०।३) वादेऽभिप्रायो नियम्यते वादिप्रतिवादिनोः,
 प्रामाणिकधिया साधनोपालम्भौ ताभ्यां प्रयोक्तव्यौ, नाप्रा-
 माणिकधिया जल्पवितण्डयोरिव, न पुनर्वस्तु नियम्यत इति,
 तथा च वादे बुद्धिपूर्वं छलादिप्रयोगे तदुद्भावनमपि सम्भवति,
 तावदेव चोद्भाव्यं यावदनुद्भाविते तत्त्वप्रतिपत्तिव्याघातः, य-
 स्मिंस्त्वनुद्भावितेऽपि न तत्त्वप्रतिपत्तेर्व्याघातः, तत् प्रयुक्तमपि
 नोद्भावनीयम् । एतच्च पञ्चमेऽध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यते ।
 साधनोक्तं प्रकारं दूषणेऽप्यतिदिशति । दूषणमप्येवम् । पू-
 र्वस्मिन्प्रयोजने स्थिते भाष्यकारः प्रयोजनान्तरमन्वाचिनोति ।
 अवयवेऽपि । न हि पञ्चावयवोपपन्नं प्रमाणं तदनुग्राहकं

च तर्कमन्तरेण भवतीति । पञ्चावयवोपपन्नत्वादेव प्रमाणतर्कप्र-
 तिलम्भे साधनोपालम्भयोर्व्यतिषद्ज्ञापनायावश्यं साधनोपाल-
 म्भग्रहणं तावत्कर्तव्यमन्यथैकः सुस्थानस्थित एव शब्दस्यानि-
 त्यत्वं प्रति पञ्चावयवोपपन्नं वाक्यं प्रयुक्ते, अपरोऽपि तादृशः
 शब्दनित्यतां प्रति तादृशमेव वाक्यं प्रयुक्तं इति सोऽपि वादः
 प्रसज्येत । साधनोपालम्भविशेषणाय च प्रमाणतर्कग्रहणं कर्त-
 व्यमिति भावः । प्रयोजनान्तरमन्वाचिनोति । अन्तरेणापि
 चेति । वादः पञ्चावयवोपपन्न इत्येकः कल्पः, प्रमाणतर्कसा-
 धनोपालम्भ इति द्वितीय इत्यर्थः । प्रयोजनान्तरमन्वाचिनोति ।
 छलजातीति । विनिग्रहो जल्पो मा विज्ञायि वादगतनि-
 ग्रहस्थानरहितौ मा विज्ञायीत्यर्थः । तद्विज्ञाने कीदृशोऽर्थो भव-
 तीत्यत आह । छलजातिनिग्रहस्थानेति । वादगतो निग्रहो
 न जल्पे जल्पगतश्च निग्रहो न वाद इति मा विज्ञायि, इष्यते हि
 वादगतो निग्रहो जल्पे, सोऽयमिष्टोऽर्थो ग्रन्थाधिक्यात् प्रमाण-
 तर्कग्रहणाल्लभ्यत इत्यर्थः ।

तदेवं स्वाभिमतं वादलक्षणं व्याख्याय चासुबन्धवं लक्षणं
 दूषयितुमुपन्यस्यति । अपरे त्विति । स्वपक्षस्य सिद्धिः
 परपक्षस्य चासिद्धिः, तदर्थं वचनं वाद इत्यर्थः । दूषय-
 ति । अत्र चेति । प्रथमं हेतुं विभजते । एताविति । पूर्वः
 पक्षोऽयुक्तः, पक्ष उत्तरस्तु युक्त इत्यर्थः । एकस्य वा शब्दस्य
 धर्मिणोऽनेकनित्यविशेषणाभिसम्बन्धिनः पुरुषाभिसन्धि-
 भेदादनेकशब्दाभिधानं स्वपरशब्दाभिधानमित्यर्थः । तदेव
 चिन्त्यते किं तत्स्वाकिरणमिति । न तावद्भूमि-
 धनादिष्विव स्वोचितार्थक्रियासु यथेष्टविनियोगयोग्यत्वं

स्वत्वमज्जनापादितमनित्यत्वादिना प्रतिज्ञाते शब्दादौ सम्भव-
तीत्यर्थः । चोदयति ममेति प्रत्ययोत्पात्तिकारणत्वं स्वत्वमका-
रणत्वमस्वत्वमिति । दूषयति । निर्दिष्ट इति । यथेष्टविनियो-
गयोग्यमेव ममेति प्रत्ययकारणं नान्यत् । न चैतन्नित्यत्वादिना प्र-
तिज्ञाते शब्देऽस्ति शास्त्रकारस्येत्यर्थः । अपि चोपकारकत्वेन
व्याप्तं स्वत्वं, गोघटादिषु तथा दर्शनाद्, पक्षान्निवर्तमानमुपका-
रकत्वं स्वत्वमपि स्वव्याप्यं निवर्तयति वृक्षत्वमिव शिंशपात्व-
मिषाह । यच्च यस्येति । द्वितीयं कल्पमाशङ्कते । साधनीयेति ।
निराकरोति । अहो शब्दार्थेति । विशेष्यपदादनतिरिक्तार्थं
विशेषणपदमित्यर्थः । अपि चेदं विशेषणपदं सामान्यतः प्रसृतं
विशेष्यपदं विशेषेऽवस्थापयति न वा, अवस्थापयति चेद् न
साधनीयमात्रार्थता स्वशब्दस्य, न चेद्विशेषणं, व्यर्थमित्याह ।
व्यवच्छेदार्थमिति । (१५१ । २) ननु च विशेष्यशब्दो
विशेषणयोगाद्विशेषे वर्तमानोऽपि सामान्यशब्द एव, ततश्च शक्नो-
ति समानमर्थं वक्तुमिति देशयति । सामान्यशब्दा अपीति ।
परिहरति । न ते सामान्यशब्दा इति । अपि च साधनी-
यः पक्ष इति विरुद्धोपदर्शनेन स्फुटा प्रतीतिर्भवतीति अयु-
क्तप्रतिपादनार्थं युक्तस्याप्युपन्यास इति । यदि न पक्षेण दूषणं
सम्बध्यते, कस्तर्हि तस्य विषय इति शङ्कते । अथ दूषणस्ये-
ति । उत्तरम्, कस्याचिदिति । उत्तरदोषो जात्युद्भावनम् ।
आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपाः, के ते भावा अप्रतिभाविक्षेपादयः, नैते
स्वपरपक्षाभ्यां सम्बध्यन्ते, नापि स्थापनयेति । चोदयति । स-
त्यमिति । परिहरति । उपचरितेति ।

“नर्ते प्रयोजनादिष्टं मुख्यशब्दार्थलङ्घनम् ।”

इति गाथा भवतामित्यर्थः । अपि चोपचारश्चेल्लक्षणं वरमेवं
 क्रियतां लक्षणं लाघवायेत्याह । यदि चेति । शङ्कने । अथे-
 ति । निराकरोति । स्वरूपत इति । (१५२ । १) मुख्यत इत्य-
 र्थः । चोदयति । स्थापनयापीति । परिहरति । न दोषेति ।
 ननु न दूषणमात्रं सम्बध्यते, असिद्ध्यर्थमिति च दूषणमात्रा-
 भिधानं, तत्कुतो विशेषप्रतिलम्भ इत्यत आह । सामान्याभि-
 धानेपीति । तृतीयं कल्पं दूषयितुमुपन्यस्यति । स्वपरशब्दा-
 विति । एतदपि सूत्रान्तरेण दूषयति । न युक्तमेतदपीति ।
 ते साधनदूषणैः स्वपरशब्दाः सम्बध्यन्त इति सूत्रे हि नियमेन
 स्वपक्षे साधनं परपक्षे दूषणमुक्तं, तथा चोत्तरपक्षो दूषणीय
 एवेति उत्तरपक्षवादिनाऽपि दूषणीयम् । एवं पूर्वपक्षोपि
 साधनीय एवेति उत्तरपक्षवादिनापि साधनीयो न दूष-
 णीयः स्यादित्यर्थः । अपि चायुक्तस्य पूर्वस्य पक्षस्य
 साधनं युक्तस्य चोत्तरपक्षस्य दूषणमिति विपरीतप्रसङ्ग
 इत्याह । स्वपक्षश्चोत्तरपक्षवादिनः पूर्वपक्षादयुक्तपक्षाद-
 न्यो युक्त इत्यर्थः । न पदार्थो नावयवार्थ इत्यर्थः । एतेन
 सूत्रान्तरनियमाभिधानव्याघातेनेत्यर्थः । व्याख्याता निरा-
 कार्यत्वेन । षष्ठं कल्पं दूषयितुमुपन्यस्यति । एक एवायमिति ।
 दूषयति । युक्तमेतत् । एकस्यानेकं विशेषणम् । द्वितीयं हेतु-
 मुपन्यस्तं व्याख्यातुं स्मारयति । समासेति । न केवलं विशे-
 ष्यात्पृथक् स्वार्थो विशेषणं नावधार्यते, अपि त्वन्यस्मादपि न
 भिद्यत इत्याशयवानाह । भेदाच्चेति । (१५३ । २) चोद-
 यति । असत्यपि भेद इति । केवलं पत्युर्विशेष्यात्सेना न भि-
 द्यतेऽपि तु ततोऽन्येभ्योऽपि हास्तिकाश्वीयरथपदातिभ्य इति,
 एवं पानकमपि न केवलं तदङ्गेभ्यो जीरकादिभ्योऽपि त्वन्ये-

भ्याऽपि फलमलिलादिभ्य इति । परिहरति । तच्च नेति । उक्तं
 प्रस्मृत्य शङ्कते । अथ मन्यसे स्वार्थ इति । उक्तस्मारणेन
 निराकरोति । तन्नेति । एतेन कर्मधारयबहुव्रीही अपीत्याह ।
 एतेनेति । अपि च स्वः पक्षो यस्य साधयितुः स तथोक्तः, तथा
 च साधयितृविषयं स्यादित्याह । साधयितृविषयं चेति ।
 ननु मा भूद्यथेष्टविनियोगयोग्यार्थता स्वशब्दस्य, साधनीयार्थता
 तु भविष्यति, तथा च समासोपपत्तिरिति चोदयति । ननु चे-
 ति । षष्ठीसमासपक्षोक्तं दोषं स्मारयति । न सम्भवतीति ।
 अपि च साक्षात्स्वपक्षस्य भेदे सूत्रान्तरव्याघातोऽभेदे वा एतस्य
 व्याघात इत्याह । विरोधाच्चेति । अपि च वाक्यसमासयोः
 समासो ज्यायान् लाघवादिताह । आस्तां तावदिति । न
 ह्ययं समर्थः समास इति । (१५३ । ४) सिद्धयसिद्धयर्थमि-
 त्ययं समासः स्वपक्षपरपक्षयोः प्रत्येकं न सम्बन्धार्थ इत्य-
 र्थात् कस्यचित्सिद्धिः कस्यचिदसिद्धिरित्यर्थः । परिहरति ।
 यद्यसामर्थ्यान्न समासः । सिद्धयसिद्धयर्थमिति । समा-
 सेऽपि तर्हीति । स्वपक्षपरपक्षसिद्धयसिद्धयर्थमिति समासे-
 ऽपीत्यर्थः । एकवचनबहुवचनप्रसङ्गोपि नास्त्यसामर्थ्यादिति
 चोद्यसमाधानाभ्यां दर्शयति । एकवचनेति । अनित्यत्वेऽपि
 समासविधेः समास एव विग्रहाज्ज्यायानिति चोद्यसमाधा-
 नाभ्यां दर्शयति । अनित्य इति । भवतु गौरवमपि को दोष
 इत्यत आह । अनुगत्यर्थं चेति । लघुनोपायेनार्थसिद्धौ गुर्व-
 भिधानमनर्थकं यथाऽऽहुः । “अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
 इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्तमाचरेत् ।” इति ।
 अनर्थकप्रयोगश्चानपेक्षितः शिष्यैरिति तेषामशासनान्न

शास्त्रं स्यात्, तदिदमुक्तं, शास्त्रत्वेनेति । सिद्धयसिद्धयर्थ-
मित्येतदपि दूषयति । सिद्धयसिद्धयर्थमित्येदपि न युक्त-
मिति । (१५५ । २) तन्न तावदिति । तदिति तयोर्मध्य-
इत्यर्थः । अधिकरणप्रत्यायनमिति । प्राश्निकप्रत्यायनमित्य-
र्थः । कुतो व्याहतमित्यत आह । ये चैने इति । चो यस्मादर्थ-
अधिकरणे वर्तते पक्षस्येति व्याहतमित्यर्थः । चोदयति ।
नायमिति । सिद्धिज्ञानं तस्य पक्षो विषयः, आश्रयास्तु
प्राश्निका इत्यर्थः । विकल्प्य दूषयति । न युक्तमेतदिति ।
न तावत् ज्ञानं पक्षविषयं प्राश्निकाधिकरणं चेति बौद्धरादान्ते
सम्भवति, ज्ञानस्यानाधारत्वात् । विषयिविषयभावस्यातास्त्रि-
कत्वात् । तस्मादन्या सिद्धिः, तत्रेदमुपतिष्ठते, किं तर्हीति ।
सिद्धियोगात्सिद्धः पक्षो भवति, प्रमाणयोगश्च सिद्धिः, सैवार्थस्य
तथाता, तस्यास्तु प्राश्निकानां प्रतीतिर्भवति, तस्मान्न प्राश्नि-
कप्रतीतिः पक्षस्य सिद्धिरिति विरोधः । यस्मात्सोऽर्थ-
स्तथा भवति तस्मात्तथाभावादधिकरणप्रत्यायनं भवतीति ।
द्वितीयं कल्पमाशङ्कते । अथासिद्ध इति । यावत्पक्षविषयं साधनं
न प्रयुज्यते तावच्चधिकरणप्रसायनं ततः साधनप्रयो-
गात् प्रागधिकरणप्रत्यायनमस्तीति वादवैयर्थ्यम्,
साधनदूषणप्रयोगोऽनर्थकः । दूषणान्तरमाह । पक्षस्येति ।
न प्रयोजनमन्तरेणेदानीन्तनानामस्मदादीनां मुख्यार्थशब्दस्या-
तिक्रमोऽवाचकपदप्रयोगेण लभ्यते इत्यर्थः । यथाऽऽहुः, “अस्म-
दायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं प्रयोक्ष्यामहं” इति । स्या-
देतत् । मञ्चास्थाः क्रोशन्तीति वक्तव्ये विनाऽपि प्रयोजनं
मञ्चाः क्रोशन्तीत्युपचारो दृष्ट इत्यत आह । अपि तु प्रमाणा-
सम्भवेनेति । (१५६ । १) प्रमाणासम्भवेनापि त्विति या-

जना । नन्विहापि विनाऽपि प्रयोजनं प्रमाणासम्भवमात्रेणो-
 पचारो मन्वाः क्रोशन्तीतिवद्भविष्यतीत्यत आह । लोकप्र-
 युक्तशब्दार्थवदुपचारोऽपि लौकिको न प्रयोजनाभावेन
 शक्योऽपवदितुं न लोकः पर्यनुगोऽप्यो यतः, इदानीं तु न
 अस्मदादिप्रयोगः प्रयोजनाभावेन शक्यः पर्यनुयोक्तुमित्याश-
 येनाह । न चेदं लौकिकमिति । अपरे त्विति । न दूषण-
 विषयत्वमसिद्धिर्येन न पक्षेण सम्बध्येतापि त्वज्ञानं, तच्च पक्ष-
 विषयमेवेति न मुख्यार्थलङ्घनमित्यर्थः । अत्रापि पूर्वोक्तं प्रसङ्ग-
 माह । तच्चदीति । तस्मात्पक्षस्येतीच्छता सिद्ध्यसिद्धी ज्ञाना-
 ज्ञाने पक्षधर्माच्चेवाभ्युपगन्तव्ये यतस्तयोः पक्षधर्मत्वादेतद्भ-
 वति सिद्धः पक्षोऽसिद्धः पक्ष इति । अस्तु तर्ह्येवमित्यत
 आह । एवं सतीति । द्रष्टाधरता ज्ञानस्य विषयता च बौद्ध-
 राद्धान्ते सम्भवतीति भावः । शङ्कते । अथ मा भूदिति ।
 अस्ति खल्वालयज्ञानं यदुपाश्रित्य षडपि प्रवृत्तिज्ञानानि जा-
 यन्ते । तस्मादालयप्रत्ययो द्रष्टा तत्स्थे एव सिद्ध्यसिद्धी न तु
 पक्षस्य, तद्विषयत्वात्तस्यापीति चेत्, कः पुनरयं विषयविषयि-
 भावः । तत्कारणत्वमिति चेत् । चक्षुरादीनामपि ज्ञानकारणानां
 विषयत्वप्रसङ्गः । असाश्चाकारणस्याविषयत्वप्रसङ्गः । ज्ञानप्र-
 काश्यत्वं विषयत्वमिति चेन्न, ज्ञानेनार्थे प्रकाशाजननात् ।
 तस्माज्ज्ञानस्य तदसमवायिनः तद्विषयस्य द्रष्टृस्थतैवेति सि-
 द्धम् । निराकरोति । तथाऽपीति । पुनः शङ्कते । अथ तथा-
 तथाते इति । प्रमाणयोग इत्यर्थः । निराकरोति । तथाऽपी-
 ति । तत्त्वं जिज्ञासुः पृच्छति । के पुनरन्ते इति । सुहृद्रावे-
 नोत्तरमाह । वस्तुधर्माच्चेति । यद्यपि प्रमाणयोगायोगौ प्रमे-
 यस्य प्रमातुश्च साधनासम्बन्धे कर्तृत्वानुपपत्तेः, तथाऽपि प्रमे-

यस्य साधन्यात्तत्रैवाभिधानप्रत्ययाविति प्रमेयधर्मावुच्येते व्य-
 षयव्यक्ती, न तु प्रमातृधर्माविति । सिद्ध्यसिद्ध्यर्थमित्यर्थ-
 शब्दानुपपत्तिः । कस्माद्विकल्पानुपपत्तेः । विकल्पमाह ।
 अर्थशब्दः खल्विति । इह सूत्रे धननिमित्तादिवचनताऽर्थ-
 शब्दस्य न सम्भवतीति त्रयमवशिष्यत इति त्रैधा प्रवर्त्तत
 इत्युक्तम् । साधनं साधनाभासो दूषणं दूषणाभास इति चतु-
 र्विधं वाक्यम् । प्रथमकल्पमपाकरोति । तन्न तावदिति ।
 तदिति । तेषु मध्य इत्यर्थः । ग्रन्थान्तरेण युक्तायुक्तत्वेन
 विशेषणाच्चतुर्विधवाक्यसङ्ग्रहार्थो ह्युद्देशे अर्थशब्दो व्याख्यातः ।
 न च युक्तायुक्तविशेषणे चतुर्विधवाक्यमङ्गहो भवति । साधना-
 भाससम्बन्धिनः पक्षस्य युक्तत्वाभावाद् दूषणाभाससम्बन्धिनश्च
 प्रतिपक्षस्यायुक्तत्वाभावादित्यर्थः । अथ न साधनादियो-
 गोऽपि तु साध्यधर्म एव साधनानपेक्षो युक्तायुक्तत्व-
 मिति शङ्कते । अथ पुनरिति । निराकरोति । तथाऽपीति ।
 कुतो व्याघात इत्यत आह । न हीति । (१५७ । १) यदि
 प्रत्यायनं सिद्धिः प्रतीतिः, तथाऽपि सा प्रत्याय्यं न सम्भवति,
 अथ करणं, तथाऽपि कर्म करणं न सम्भवतीति व्याघात
 इत्यर्थः । द्वितीयं कल्पमाशङ्क्य निराकरोति । अथ प्रयोजन
 इति । प्रयोजनं कार्यम्, तन्न कारणाभासाद्भवितुमर्हति, न हि
 बहिरिति गृहीतः खद्योतो दहति पचति वेत्यर्थः । तृतीयं
 कल्पमाशङ्क्य निराकरोति । अथाभिधेय इति । ग्रन्थकारः
 सूत्रकारः । एवं तिबति । एवं सति सिद्धिशब्दोऽसिद्धिशब्दश्च
 वादः स्यात् । ननु धननिमित्तादयोऽप्यर्थशब्दवाच्याः सन्ति,
 ते कस्मादिह न गृह्यन्त इत्यत आह । अतत्र सूत्रे न चान्योऽ-
 र्थशब्दस्य विषयः सम्भवति, न हि सिद्धिर्धनं वा स्वपर-

पक्षयोः साधनं वा निवृत्तिर्वा सम्भवतीत्यर्थः । अपि च वचन-
विशेषणपक्षे स्वशास्त्रव्याघात इत्याह । सिद्धयसिद्धयर्थं च
वचनं वाद इति ब्रुवाणेनेति । नैयायिकहतदूषणं पूर्वमिदं
सूत्रमुत्तरम् । उपसंहरति । तदेवमिति । तन्त्रं शास्त्रम् । लोकं
च बाधन्त इति । अवाचकपदप्रयोगात् साधनदूषणाभास-
वादिनश्च वादित्वेन लोकसिद्धस्यावादित्वापादानात् सिद्धयसि-
द्धिशब्दयोश्च वादत्वापादनादित्यर्थः । सूत्रं दूषयित्वा वृत्तिं
दूषयति । यथा चेति । स्वस्य पक्षस्येति । स्वस्यात्मीय-
पक्षस्य । न हि पक्षव्यतिरेकेण पक्षाधारं साध्यं ज्ञानमन्यत्
वा सिद्धिशब्दाभिधेयं सम्भवति, ज्ञानस्य पुरुषाधारतया-
नाधारतया वा पक्षाधारत्वानुपपत्तेः । पक्षस्य तु भवेत्केन-
चित्सम्बन्धेन यादृशतादृशेनेत्यर्थः । ते साधनदूषणैरित्य-
त्र (१५८ । २) पृथगुक्ते साधनदूषणे युक्तायुक्तताभ्यां
ते युक्तायुक्तत्वे । साधनदूषणैरिति । न हि कर्म करणं
भवतीत्यर्थः । अपि च युक्तायुक्तार्थाभ्यामभेदे साधनदूषणप-
दमनर्थकं, ते इत्यनेनैव युक्तायुक्तत्वावमर्षिणा गतार्थत्वादित्याह ।
युक्तायुक्तशब्दाभ्यां चेति । अथ न पर्यायताऽपि तु सा-
मान्यविशेषभावो युक्तायुक्तत्वे सामान्यं साधनदूषणे च विशेष
इति शङ्कते । अथ मन्यस इति । निराकरोति । न प्रथमेति ।
उभयव्यभिचारे विशेषणविशेष्यभावे कामचारादुत्पलैरित्युक्तम् ।
द्वितीयं कल्पमाशङ्क्य दूषयति । योग इति चेदिति । न
खलु योगो नाम बौद्धानां साध्यसाधनवृत्तिर्दूष्यदूषणवृत्तिर्वा
कश्चिदस्तीत्यर्थः । अपि च सांवृतोऽपि योगः साध्यसाधन-
ज्ञानाधीननिरूपणतया नानिरूपिते साध्ये निरूपितो भवति,
निरूपणं च निर्णय इति योगनिरूपणात्प्राक् साध्यनिर्णयात्कृतं

योगनिरूपणेन साध्यनिर्णयार्थेनेति । युक्तायुक्तत्वेन करणेनाधिकरणप्रत्यायनमिति व्याघात इत्याह । साधनेनेति । भवति ज्ञायते । तृतीयं कल्पमाशङ्क्य निराकरोति । अथ पदार्थस्येति । युक्तायुक्तत्वेनाधिकरणप्रत्यायनमिति युक्तायुक्तत्वयोः करणत्वं दर्शिनं, तत्तथात्वात्तथात्वपक्षे न सम्भवति, कर्मत्वात्, तदिदमुक्तं, ते व्यवच्छेद्ये परिच्छेद्ये न तु व्यवच्छेदस्य परिच्छेदस्य साधने इति । अधिकरणप्रत्यायनमिति दूषयति । अधिकरणेति । शास्त्रसम्बन्धः प्रयोजनेनेति । चोदयति । प्राश्निकप्रत्यायनादिति । कश्चिच्चोदकं पृच्छति । तत्प्रत्यायनादिति । चोदकस्योत्तरम् प्रतिवादी किलेति । सिद्धान्त्याह । सन्तमप्यर्थं न प्रतिपद्यत इति । (१२९ । १) न खल्वाध्यात्मिकशक्तिसम्पन्नः समाहितः समग्रसाधनप्रयोगे सति सन्तमर्थं न प्रतिपद्यत इति सम्भवतीत्यर्थः । तथाविधेनापि चेत्प्रतिपन्ना सोऽर्थोऽन्यथा प्रतिपन्नः, कथमसौ तथा सन्नित्यभिधीयते इत्याह । कथं चेति । शङ्कते । अथ जिगीषुतया प्रतिपद्यमानोऽपीति । कामकारोऽनुज्ञा । निराकरोति । तथाऽपीति । न प्रतिपद्यते प्रतिपद्यमान इति व्याहतं, न चायमनुज्ञानिषेधो न प्रतिपद्यत इति, वादे वीतरागकथात्वाज्जिगीषाया अभावादिति भावः । यच्च प्राश्निकप्रत्यायनादिति । अन्यदीयेन करणेन न्यः प्रतिपद्यत इति सुभाषितम् । अन्यविषयस्येति । अन्याश्रितस्येत्यर्थः । न चायं नियम इति । न वादे प्राश्निकानामुपादानं, दैवागतानां तु न वर्जनमित्यर्थः । वादस्य जल्पव्रितण्डाभ्यामभेदमभिप्रेत्य चोदयति । यदा तु नायमिति । आशयस्थितमर्थमनभ्युपगच्छन् परिहरति । सत्यमिति । अभिप्रायं दर्शयति । न त्रैविध्येति । दूषयति । न

भवद्भिरेव प्रतिषेधादिति । त्रैविध्यानभ्युपगमादिति दूषय-
 ति । यद्यपीति । यच्चोक्तं वृत्तौ पक्षसिद्धिविषयमेतदपि दूषयि-
 तुमुपन्यस्यति । यच्चोक्तमिति । दूषयति । न कामतो विना
 प्रयोजनमिति । विनाऽपि प्रयोजनं प्रमाणसम्भवेनापीति योज-
 ना । सूत्रोक्तं दूषणं वृत्तावाह । तदर्थं वचनं, सिद्ध्यसिद्ध्यर्थमि-
 त्यर्थः । अधिकरणं दूषयति । अधिकरणमिति । (१६०।१) न
 हि वादे प्राश्निकाधारमिति । प्राश्निका एव तावद्वादे न सन्ति,
 अभ्युपेत्य उक्तमिति शङ्कते । प्रत्यायनाधारत्वादिति । सिद्धिः
 प्रत्यायनं, तदाधाराः प्राश्निका इत्यर्थः । निराकरोति । नेति ।
 शङ्कते । तस्मिन्निति । दैवमिलिते प्राश्निके सतीत्यर्थः । निरा-
 करोति । नेति । न हि दैवमिलितं कारणं, मा भूद्द्वैभोऽपि धूमस्य
 कारणमिति भावः । चोदयति । यदि प्राश्निका न सन्ति
 तद्वाद इति । तयोर्वादिप्रतिवादिनोर्वादस्य परीक्षकस्य च
 तयोर्वादस्य क चासौ परीक्षा, प्राश्निकाभावे हि वादतत्परीक्षा-
 तदधिकरणानामज्ञानमित्यर्थः । परिहरति । साधनेति । वीत-
 रागौ हि वादिप्रतिवादिनावेव वादस्वरूपज्ञानं तत्परीक्षां च कर्तुं
 शक्नुतः, तत्किमत्र प्राश्निकैः, साधनप्रयोगः पक्षविषयः दूषण-
 प्रयोगः स्थापनाविषय इति वादस्वरूपं, साधनदूषणतदाभासानां
 परितो ज्ञानं परीक्षा, तदर्थं तस्मिन् वादेऽधिकारो वीतरागयोरेव
 वादिनोस्तदिदं केति निप्रश्नस्योत्तरमिति । तस्मात्सप्तम्यर्थेऽधि-
 धिकरणार्थः । पराभिमतः प्राश्निक इति यावत्, स नास्ति,
 वादिप्रतिवादिनोरेव वीतरागयोः कथासमाप्तेरित्यर्थः । यदपि
 वृत्तौ चोदितं यदि सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं वचनं वादस्तदा प्राश्निकप्र-
 तिवादिनोः प्रियाप्रियवचसि रथ्यातथावादे प्रसङ्ग इति, तदप्य-
 तिनिर्वाजमित्याह । यदपीति । न हि प्रियाप्रियवचसः साक्षात्

पारम्प्रेयण वा सिद्ध्यसिद्ध्यर्थता, नापि साधनदूषणयुक्तायु-
क्तत्वविशेषणसम्बन्धः, तस्मादेवंवादी नोत्तरार्हः, न ह्युन्म-
त्ताय कश्चिदनुन्मत्त उत्तरमाह । ब्रूवाणो वा सोऽप्युन्मत्तः
स्यात्, तदिदमुक्तं, दत्तः स्वहस्त इति । पूर्वं सिद्ध्यसिद्ध्यर्थ-
मिति अपरं युक्तायुक्तत्वमिति, उभयोरप्यनेन चोद्येनासम्ब-
न्धात् । यदि त्ववश्यमुत्तरं वाच्यं, ततो वरमेवं वक्तव्यमित्याह ।
यदि त्विति । सेयं सूक्ष्मेक्षिका परैरिह कृतेति तन्निर्वन्धेन वा-
र्त्तिककृताऽपि कृतेति ॥१॥

उद्देशक्रमानुरोधेन वादलक्षणानन्तरं जल्पं लक्षयति ॥
यथो-ल्पः (सू० २) ॥ अत्रापि समानजातीयाभ्यां वाद-
वितण्डाभ्यामसमानजातीयंभ्यः प्रमाणादिभ्यो व्यवच्छेदः सूत्रा-
र्थः । यथोक्तोपपन्नपदार्थं व्याचष्टे । समस्तामिति । चोदयति ।
यथोक्तोपपन्न इति न युक्तमिति । निग्रहस्थाननियमस्य
प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भाभिप्रायनियमस्य च जल्पेऽभावाद् भावे
वा वादजल्पयोरभेदप्रसङ्गाद्वादलक्षणस्य जल्पव्यापकत्वेन व्यभि-
चारप्रसङ्गाद् यथोक्तोपपन्न इत्ययुक्तमित्यर्थः । परिहरति । नैष
दोष इति । (१६१।७) उक्तमात्रमिह सम्भवाद् योग्यतासम्भ-
वाद् गृह्यते, न ह्यनुक्तोऽर्थलभ्यो नियमः, न ह्यसौ सूत्रपदश्रवण-
मात्रात्प्रतीयते, अपि तु तदर्थे प्रतीते तस्यान्यतः सिद्धौ सत्यां
नियम्यत इति प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इत्येतदतिदि-
श्यत इति उक्तमात्रोपलक्षणपरम् । तेन प्रमाणतर्कसाधनोपाल-
म्भः पञ्चावयवोपपन्नः सिद्धान्ताविरुद्धः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह इत्ये-
तस्य वादपदलक्ष्यवर्जं समस्तस्य लक्षणस्यातिदेशः, नियमस्त्वा-
र्थो न सम्बध्यत इति सिद्धम् । लक्षणमात्रस्येति । उक्तमा-
त्रवस्य, नार्थस्य नापि लक्ष्यपदस्येत्यर्थः । अत्रैव दृष्टान्तमाह ।

यथाऽन्यत्र वैशेषिकतन्त्रे इति । न नियमार्थे पदे इत्युपलक्षणं, न प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भपदलभ्योऽभिप्रायनियम इत्यपि द्रष्टव्यम् । पक्षान्तरमाह । अथ वेति । यथा गोभिर्युक्तो रथो गोरथ इति युक्तपदलोप इति । न नियमार्थयोरित्येतदप्युपलक्षणं पूर्ववदेव । इह वादलक्षणं पठता भाष्यकारेण नियमोऽप्यतिदिष्ट इति मन्वानश्चोदयति । भाष्यमिदानीमिति । परिहरति । न सूत्रेति । जल्पलक्षणानुकूलो यः पाठक्रमः यतोऽर्थस्वरूपमात्रं प्रतीयते, न त्वार्थोऽर्थ इत्यर्थः । यदुपपन्नम् उक्तमात्रमित्यर्थः । तत्र भाष्यकारेण छलादीनां निषेधार्थतया साधनाङ्गभावमाक्षिप्य परपक्षविघातेन स्वपक्षरक्षणादङ्गभाव इति दर्शितं, तदेतद्वार्त्तिककार आक्षिपति । छलजातिनिग्रहस्थानैरिति । तत् किं निग्रहस्थानान्यप्ययुक्तानि, न चैतच्छक्यमित्यत आह । छलं तावदादति । छलजात्योराक्षिप्तयोः सम्पातायातानि निग्रहस्थानानीत्यभिप्रायः । भाष्योक्तं समाधिमाशङ्कते । अङ्गभाव इति । (१६२।१) निराकरोति । एतदपीति । न हि सहस्रेणाप्यन्यैः पाटच्चरेभ्यो गृहं रक्षयत इत्यर्थः । एवमाक्षिप्ते पाङ्गस्थः पृच्छति । किमर्थं तर्हीति । सिद्धान्तितन उत्तरं साधनेति । वादे तावद्यद्यपि न साधनविघातसमर्थानि तथाऽपि तेषां तत्त्वमविद्वान् एभिरस्य साधनं विहनिष्यामीत्यनया बुद्ध्याऽपहतो व्यामोहितः तस्माद्वादे भ्रमेणोपादानमेषामित्यर्थः । यत्र त्वेषां तत्त्वं विद्वान् प्रवर्तते न स वादः, किं तु जल्पः वितण्डा वेत्याह । यत्र चैतानीति । ननु जल्पवितण्डयोः प्रयोगात् साधनमङ्गं वा स्यादत आह । न पुनरिति । ननु न यदि साधनमङ्गं वा कस्मात्तर्हि जल्पवितण्डयोरेषां प्रयोग इत्यत आह । साधुसाधनोपादाने वेति । साधुसाधनोपादाने वादिना कृते परेण प्रतिवादिना

जिगीषुणाऽऽकुलितबुद्धिः द्राक् पारमार्थिकमुत्तरमप्रतिपद्यमानः
छलादीनि प्रयुङ्क्ते । किमर्थमिष्यत आह । कदाचिदिति । यथा-
कथं चित्प्रयोगेण । तदनेन प्रकारेण तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् जल्पे
सदाचारो न च शास्त्रकाराणां छलादिव्युत्पादनमसदृशं, न च
घटपटाद्यभिधानप्रसङ्गः, वाग्युद्धे तेषामप्रसङ्गादिति । न बाधेति ।
नैकेनापरं तदैवापोद्यत इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥२॥

उद्देशक्रमानुरोधेन जल्पानन्तरं वितण्डालक्षणमाह ।

स-ण्डा (सू० ३) ॥ पूर्ववादिपक्षापेक्षया प्रतिवादिन
आत्मीय एव पक्षः प्रतिपक्षः, तस्य स्थापना साधनं यत्तथा हीनः,
तदनेन जल्पाद् व्यवच्छिन्नोक्तिः । तदेतदाह भाष्यकारः, स
जल्प इति । तयोरेकतरं प्रतिवादी आत्मीयं पक्षं न स्थाप-
यतीति । परपक्षप्रतिषेधेनेति । तत्स्थापनाप्रतिषेधेनेत्यर्थः ।

स्यादेतत् । यथा प्रतिवादिनः पक्षो वादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्ष एवं
वादिपक्षोऽपि प्रतिवादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्ष इत्युभयपक्षस्थापना-
हीना वितण्डेति स्यादत आह वार्त्तिककारः । प्रतिपक्षस्थापना-
हीन इति । प्रथमपक्षवादिनो हि स्थापनाया अभावे किं वैतण्डिक
आहेति न च पक्षः शक्य आहन्तुं, तस्मात्प्रथमपक्षवादिनोऽस्ति
स्थापनेति द्वितीय एव पक्षः स्थापनाहीन इति सामर्थ्यादुक्तमिति ।

अत्र चोद्यभाष्यम्—अस्तु तर्हीति । स्थापनाया
अभावे स्थाप्यः पक्षो नास्ति, न हान्यथा पक्षस्य पक्षत्वमिति
भावः । परिहरति । यद्वै खलु तदिति । वैतण्डिकोऽपि हि वादी
पारिशेष्यान्परपक्षः सेत्स्यतीति बुद्ध्या स्वपक्षमस्थापयन् परपक्ष-
स्थापनामाहन्ति, तस्मात्परपक्षप्रतिषेधलक्षणं चाक्यमस्य
पक्षः परपक्षनिषेधेन पारिशेष्यात् पक्षसिद्धिहेतुत्वादुपचारतः ।
तस्मादस्ति वैतण्डिकस्य पक्षो न तु परपक्षप्रतिषेधादन्या स्थापना,

तेनास्य पक्षोऽस्ति, नास्ति तु पक्षस्थापना, तदिदमुक्तं न कश्चि-
दर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति । पक्षत्वं तु तद्योग्यतामात्रेण, न
तु स्थाप्यमानतयेति ।

अस्तु तर्हीति भाष्यार्थमाह वार्त्तिककारः, अपरे त्विति ।
(१६३ । ३) तस्मात्प्रतिपक्षहीनो वितण्डेति वक्तव्यमित्यर्थः । प-
रिहरति । अयुक्तं चैतदिति । न तावदस्थाप्यमानस्यापि स्थाप-
नार्हतालक्षणा पक्षता न युज्यते, तस्मान्नवैतण्डिको दूषणादन्यत्
किञ्चिदभ्युपगच्छतीति अनभ्युपगमात् पक्षोऽस्य नास्तीति व-
क्तव्यम्, तथा च चतुर्वर्गाभ्युपगमे विरोधोऽनभ्युपगमे वा नायं
लौकिको न परीक्षक इति प्रसङ्ग इति भावः । प्रतिपादयितुरय-
थार्थावबोधं प्रतिपत्तारं चात्मानमित्यर्थः । यस्तु मन्यते च-
तुर्वर्गाभ्युपगमेऽपि दूषणमात्रं वितण्डेत्येव वक्तव्यं लाघवायेति,
तन्मतमुपन्यस्यातिप्रसङ्गापादनेन दूषयति । दूषणमात्रेति । स-
माख्याननिर्वचनसामर्थ्यादेव गम्यत इत्यर्थः । उपसंहरति । तस्मा-
दिति । तदनेनार्थतौ यद्वै खल्वित्यादि भाष्यं व्याख्यातम् ॥३॥

उद्देशक्रमानुरोधेन वितण्डानन्तरं हेत्वाभासेषु लक्षयितव्ये-

ध्वर्थाक्षिप्तसामान्यलक्षणमेषां विभागोद्देशपरं सूत्रम् ।

सव्य-साः (सू० ४) ॥ तद्व्याख्यानपरं भाष्यं
समाख्यानिरुक्तिवशेन सामान्यलक्षणप्रतिपादकं वार्त्तिककारः
पठति । हेतु लक्षणाभावादिति । पृच्छति । किं पुनरि-
ति । न ह्यन्यस्यान्यत्वमात्रेण सादृश्यं, मा भूत्सर्वस्य सर्व-
सादृश्यमिति भावः । उत्तरम् । प्रतिज्ञेति । प्रयोगगतं
सामान्यमुक्त्वा प्रयोज्यगतमाह । अन्यतमेति । अवाधि-
तविषयत्वासत्प्रतिपक्षितत्वे सती अप्यविवक्षित्वा त्रै-
लक्ष्यद्वलक्षण्याभिधानं द्रष्टव्यम् । शेषमतिरोहितम् ।

एतस्यां त्रिषोडश्यां साध्यव्यापकसाध्यैकदेशवृत्तिधर्मभेदात्
 षोडशीद्वयं विशेषणविशेष्यासिद्धिभेदाच्चतुःषष्टिः । (१६४
 १३) एवं समर्थासमर्थविशेषणभेदाच्चतुःषष्टिः । तदेतच्चतुः-
 षष्टिद्वयमष्टाविंशतिकं शतं पूर्वया त्रिषोडश्या सह षट्सप्ततं शतम् ।
 साध्यव्यापकानां धर्मविशेषाणामुदाहरणान्याह । तत्रेति । विप-
 क्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां प्रथमद्वितीयौ साधारणौ । तृतीयोऽन्वयव्य-
 तिरेकी साध्यतज्जातीयव्यापको हेतुरेव । विपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां
 चतुर्थपञ्चमौ विरुद्धौ हेत्वाभासौ । यत्र विपक्षे न वृत्तिस्तं दर्श-
 यति । ह्यणुक्रवदिति । षष्ठोऽविद्यमानसपक्षविपक्षोऽसाधारणो-
 ऽत एव घटादिवदिति । सप्तमाष्टमावसपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां
 साधारणौ । नवमः सपक्षैकदेशवृत्तिरन्वयव्यतिरेकी हेतुरेव । दश-
 मैकादशौ सपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यामन्वयिनौ हेतू । द्वादशस्तु अ-
 विद्यमानविपक्षोऽसाधारणः । त्रयोदशचतुर्दशौ त्वविद्यमानस-
 पक्षौ विपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां विरुद्धौ । पञ्चदशोऽपि व्यतिरेकी
 हेतुरेव । षोडशस्तु अविद्यमानविपक्षोऽसाधारणः । यदि बाह्य-
 करणप्रत्यक्षे बाह्यनसे इति साध्येत तदा नानित्यत्वं सपक्षव्या-
 पकं स्यात् सामान्ये बाह्यकरणप्रत्यक्षेऽभावात्, अतः साध्यधर्म-
 विशिनष्टि । सामान्यविशेषचदिति । (१६५।१८) अनित्ये
 रूपविज्ञाने अमूर्त्तत्वादिति । (१६६।२) रूपविज्ञानस्कन्धाति-
 रिक्तानां वेदनासंज्ञासंस्कारस्कन्धानामनित्यतया सपक्षाणां व्या-
 पकममूर्त्तत्वमिति । तज्जातीयैकदेशवृत्तित्वममूर्त्तत्वस्य दर्शयितुं-
 यत्र न वर्तते तत्पुरस्सरमुदाहरणं रूपादिवदिति । अनित्यः
 शब्दोऽश्रावणत्वादिति नित्ये शब्दत्वे न वर्तते । अर्थः शब्द-
 इति । शब्दो धर्मी, अर्थ इति साध्यो धर्मः । द्रव्यगुणकर्मणा-
 मन्यतम इत्यर्थः । यद्यश्रोत्रग्राहत्वादित्युच्येत ततः सामान्यादि-

धनर्थेषु विपक्षेष्वपि वर्तेत, अत उक्तमश्रोत्रग्राह्यसामान्यव-
 च्चादिति । अश्रोत्रग्राह्यं च तत् सामान्यवच्चेति विग्रहः । ननु
 चाक्षुषत्वं न विपक्षादिति, समवायस्यानाश्रितस्य चाक्षुषत्वादत
 उक्तम् औत्क्यपक्षे इति । (१६७।२) सिद्धान्तभेद इति ।
 सौत्रान्तिकानामित्यर्थः । असमर्थविशेष्यस्योदाहरणं कृतकत्वे
 सति प्रमेयत्वादिति । असमर्थविशेषणस्योदाहरणं प्रमेयत्वे
 सति कृतकत्वादिति । निरपेक्षं खलु कृतकत्वमनित्यत्वे साध्ये
 समर्थं प्रमेयत्वं त्वन्यापेक्षमसमर्थमित्यर्थः । तदेवं त्रिषोडश्या प्रकृ-
 त्याऽष्टौ चत्वारिंशद्भवन्ति हेत्वाभासाः । व्यापकाव्यापकभेदेन तु
 द्विषोडशी यदा विशेषणविशेष्यासिद्ध्या चोभयसम्प्रतिपन्नयाऽस-
 मर्थविशेषणविशेष्यतया च उभयसम्प्रतिपन्नया संदिग्धविशेष-
 णविशेष्यतया च उभयसम्प्रतिपन्नया विक्रियते तदा चतुःष-
 ष्टित्रयेण द्वानवतं शतं भवति । वाद्यसिद्धप्रतिवाद्यसिद्धतया उ-
 भयान्यतरसंदिग्धतया च चतुःषष्टिद्वयेनाष्टौ विंशकं शतमपरम् ।
 तदिदमन्यतरासिद्धा (१६८।३) इत्यनेन वार्तिककृता सूचि-
 तम् । द्वाभ्यामूना त्रिंशद् द्वात्रिंशदिति कथंचिद्व्युत्पत्त्या ।
 ते पुनर्व्यापकाव्यापका व्यधिकरणविशेषणविशेष्यव्यधि-
 करणसंदिग्धविशेषणविशेष्यव्यधिकरणासमर्थविशेषणविशेष्य-
 भेदेन चतुःषष्टित्रयेण द्वानवतं शतमपरम् । एवमप्रसिद्धाश्रय-
 विशेषणविशेष्या उभयान्यतरपक्षाप्रसिद्ध्याऽष्टौ विंशकं
 शतम् । अत्रापि द्वात्रिंशकमिति पूर्ववद्व्याख्येयम् । अन्यत-
 रमात्रमत्र विवक्षितं, न तु वादिप्रतिवादिभेदः । ते पुनरसि-
 द्धाश्रयाः पूर्ववद्भेदेन व्यधिकरणविशेषणविशेष्यसंदिग्धविशेष-
 णविशेष्यासमर्थविशेषणविशेष्यभेदेन चतुःषष्टित्रये सति द्वानव-
 तं शतम् । तदेवमनन्तराभ्यां द्वानवतशताभ्यां शतत्रयं चतुरशी-

तं यत्तदेवाष्टाचत्वारिंशकशताभ्यां द्वानवतेन शतेन संपिण्डितं
 द्वात्रिंशदुत्तराष्टशती विकारभूता भवति । अष्टाचत्वारिंशत् प्रकृ-
 तयः पञ्चान्निवेशनीया इति । उभयाप्रसिद्धाश्रयविशेष्यमुदा-
 हरति, यथाऽग्निमान्देशो धूमवत्त्वात् । उक्तं हि प्राग् यथा
 न देशोऽग्निमत्तया साध्योपि तु धूमविशेष एवेति । अन्यतरप्र-
 सिद्धाश्रयोदाहरणमाह । अस्ति चात्मा इच्छादिगुणत्वा-
 दिति । आश्रयासिद्धविशेषणादयोऽप्युहनीयाः । असमर्था-
 व्यापकासिद्धविशेषणानामुदाहरणम् । असमर्थाश्च ते-
 ऽव्यापकाश्च व्यधिकरणतयाऽसिद्धाश्चेति विग्रहः । अनित्यः
 शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वे सति कृतकत्वादिति ।
 कृतकत्वस्यैव विशेष्यस्य सामर्थ्यादसमर्थमनित्यत्वे प्रयत्नान-
 न्तरीयकत्वम् । अव्यापकं च स्तनयितुशब्दानामव्यापकत्वात् ।
 व्यधिकरणतयाऽसिद्धं च, कोष्ठवायुतालवादिक्रियाया एव प्रय-
 त्नानन्तरीयकत्वं न त्वाद्यस्यापि शब्दस्य, प्रागेव तु श्रोत्रसमवा-
 यिन इति । कृतकत्वे सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति चामम-
 र्थाव्यापकासिद्धविशेष्याणामुदाहरणं द्रष्टव्यम् । वैभवेन त्वासि-
 द्धतावर्जमुदाहरति । अव्यापकासमर्थविशेष्याणामुदाह-
 रणम् । अनित्यः शब्दः प्रत्ययभेदभेदित्वेनोपलभ्यमा-
 नत्वात् । उपलभ्यमानत्वं नित्येऽप्यस्तीति व्यभिचारादसम-
 र्थम् । कारणभेदभेदित्वमेव तु विशेषणं समर्थमव्यभिचारादिति ।
 केवलव्यधिकरणविशेष्याणामुदाहरणमस्ति प्रधानं भे-
 दादीनां गोघटादीनां सुखदुःखमोहात्मकत्वेनान्वयदर्शनादिति ।
 अन्वयदर्शनं भेदाधिकरणतया न प्रधानाधिकरणमिति व्यधिकर-
 णमिति व्यधिकरणं विशेष्यम् । केवलव्यधिकरणाविशेषणा-
 नामुदाहरणं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाश्चन्दनशब्दादत्यन्तं भि-

न्नार्थाः समुदायसमुदायसद्भावे सति रूपादीनामर्थानां रूपादिशब्दानां च तेन चन्दनशब्देन व्यपदिश्यमानत्वात् । चन्दनस्य रूपादय इति समुदायसमुदायसंभवो रूपादिषु, व्यपदेशश्च रूपादिशब्देष्विति व्यधिकरणं विशेषणमित्यर्थः । तदनेन प्रपञ्चेन द्वात्रिंशदुत्तराष्टशती दर्शिता । सम्प्रति द्वानवतशतयुगमान्तरं दर्शयितुमुदाहरणमाह । अन्यथासिद्धोदाहरणं नित्यः शब्दोऽभ्यासात् । सेयं क्रियाऽभ्यावृत्तिर्यथा शब्दानित्यत्वेऽप्युपपद्यते तथा द्वितीये दर्शयिष्यते । सिहोवलोक्तिन्यायेन व्यधिकरणविशेष्यं संदिग्धविशेषणमुदाहरति । संदिग्धाप्रसिद्धेति ।

विशेषणशब्दः तन्त्रेण विशेषणे विशेष्यं च कर्मकरणसाधनतया प्रयुक्ते वर्तते । तेन संदिग्धं विशेषणम् अप्रसिद्धं व्यधिकरणतया विशेष्यं येषां तेषामुदाहरणमित्यर्थः । यथा संदिह्यमानधूमादिभावेऽग्निमान् देशो धूमवत्त्वे सति प्रकाशत्वात् । धूमत्वे विशेषणं संदिग्धं प्रकाशकत्वं च विशेष्यं व्यधिकरणं, तत्त्वलु वह्नेर्द्धर्मो न देशस्येति । अप्रसिद्धविशेषणसंदिग्धविशेष्याणामुदाहरणं दर्शयति । विपर्ययेणेति । अप्रसिद्धेत्यपि द्रष्टव्यम् । अग्निमान् देशः प्रकाशकत्वे सति धूमवत्त्वादिति । सम्प्रति द्वानवतशतयुगमान्तरं दर्शयितुं भूमिरचनां करोति । एवमिति । ये संदिग्धासिद्धा व्यापकाव्यापकभेदेन द्वात्रिंशत् एवोभयान्यतरासिद्ध्या चतुःषष्टिर्भवन्ति । ततः किमित्यत आह । ते चतुःषष्टितामापन्नाः । पूर्ववज्जेदेन व्यधिकरणविशेषणविशेष्यसंदिग्धविशेषणविशेष्यासमर्थविशेषणविशेष्यभेदेन तावच्चतुःषष्टित्रयमित्येकं द्वानवतं शतम्, अपरं चाश्रयासिद्धव्यधिकरणविशेषणविशेष्यसंदिग्धासमर्थविशेषणविशेष्यभेदेन द्वानवतं शतं, तदिदं चतुरशीतिं शतत्रयं संदिग्धासि-

द्धमाश्रित्य । अपरमपि द्वानवतशतयुगमान्तरमन्यथासिद्धमाश्रि-
 त्याह । एवमन्यथासिद्धभेदो द्रष्टव्यः । अन्यथासिद्धभेदो-
 ऽपि हि व्यधिकरणविशेषणविशेष्यसंदिग्धासमर्थाविशेषणविशेष्य-
 भेदाच्चतुःषष्टित्रयमिति पुनश्च स एवान्यथासिद्ध आश्रयासि-
 द्धव्यधिकरणविशेषणविशेष्यसंदिग्धासमर्थाविशेषणविशेष्यभेदा-
 च्तुःषष्टित्रयमिति द्वानवतशतयुगमेन शतत्रयं चतुरशीतम् । अप-
 रमपि द्वानवतशतयुगमाह । एवं विरुद्धविशेषणविरुद्धवि-
 शेष्याश्चेति । विरुद्धविशेषणविशेष्या अपि हि व्यधिकरणवि-
 शेषणविशेष्यसंदिग्धासमर्थाविशेषणविशेष्यभेदाच्च आश्रयासि-
 द्धव्यधिकरणविशेषणविशेष्यसंदिग्धासमर्थाविशेषणविशेष्यभेदाच्च
 शतत्रयं चतुरशीतम् । तदेवमेभिस्त्रिभिश्चतुरशीतैः शतत्रयैर्द्विपञ्चा-
 शच्छतोत्तरं सहस्रमेकं द्वात्रिंशदुत्तरयाऽष्टशत्या सहस्रमेकं चतुरशी-
 तिसहिता च नवशती, तदेवं प्रकृतिभूताष्टचत्वारिंशत्प्रक्षेपेण
 भूपिण्डितं द्वात्रिंशे द्वे सहस्रे (१६९।१) भवत इति ।

तन्नासन्वादिति । पञ्चानां चतुर्णां वा रूपाणां सम्पत्ति-
 रव्यभिचारः, स चैकस्मिन्विषये विरुद्धयोर्ज्ञेयं संभवति, अन्ततोऽ-
 सत्प्रतिपक्षस्यैव रूपस्याभावादित्यर्थः । पञ्चानां हेतूनामिति ।
 सपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यामन्वयी द्वेधा, व्यतिरेक्येकः, अन्वयव्य-
 तिरेक्यपि सपक्षव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां द्वेधेति पञ्च हेतवः । पञ्चानां
 हेतूनां सरूपासरूपप्रतिबन्धात् पञ्च पञ्चका भवन्ति ।
 सरूपोऽन्वयिनोऽन्वयी, व्यतिरेकिणो व्यतिरेकी, अन्वयव्यति-
 रेकिणोऽन्वयव्यतिरेकी । असरूपश्चान्वययादेर्व्यतिरेक्यादिः, तेन
 प्रतिबन्धः । एतदुक्तं भवति, अन्वययादावेकैकस्मिन् सरूपासरूपाः
 पञ्च हेतवः प्रतिबन्धका इति पञ्चभिः पञ्चकैः पञ्चविंशतिर्विरु-
 द्धाव्यभिचारिण इति । चोदयति । लक्षणत एवेति । परिहरति ।

नानर्थकमिति । यत्परो हि शब्दस्तत्रासौ प्रमाणं, समाना-
समानजातीयव्यवच्छेदकं च लक्षणसूत्रमिति तत्रैव प्रमाणं, न
त्वियत्तायामतत्परत्वात् । न चासावार्थी, सतोऽप्यनुपयोगाद्
अलक्ष्यमाणत्वोपपत्तेः प्रमेयान्तरवदिति ॥ ४ ॥

तदेवमर्थाक्षिप्तसामान्यलक्षणं विभागं दर्शयित्वा विशेषल-
क्षणमवतारयति भाष्यकारः, तेषां हेत्वाभासानां मध्ये ।

अनै-रः (सू. ५) ॥ अत्र चानैकान्तिकसव्यभिचारशब्दौ
पर्यायौ पुरुषभेदापेक्षया लक्ष्यलक्षणत्वेनावस्थितौ । यस्यानैका-
न्तिकपदार्थोऽप्रसिद्धः प्रसिद्धश्च सव्यभिचारपदार्थः, तं प्रत्यनै-
कान्त इति लक्ष्यनिर्देशः, सव्यभिचार इति लक्षणं, यस्य तु
सव्यभिचारपदार्थोऽप्रसिद्धः प्रसिद्धश्चानैकान्तिकपदार्थस्तं प्रति
सव्यभिचार इति लक्ष्यनिर्देशोऽनैकान्तिक इति लक्षणम् । तत्र
सव्यभिचार इति लक्षणपदं कक्षीकृत्याह भाष्यकारो व्याभि-
चार एकत्राव्यवस्थितिः । एतदुक्तं भवति, सव्यभिचारपदं
निर्वचनसामर्थ्याल्लक्षणपदमिति ।

अनैकान्तिकपदलक्षणपक्षे भाष्यकारोक्तमनित्यत्वमेकोऽन्त
इत्यादि, तद्वार्तिककारः पर्युदासाभिप्रायेण व्याचष्टे । एकस्मिन्नन्ते
नियत ऐकान्तिक इति । (१७०।१) न हेतुरैकान्तिको येन तद-
न्यत्वेन हेत्वाभाससङ्ग्रहादेकजातीयत्वेन हेत्वाभासानां विभागसूत्र-
विरोधः स्यात्, किं त्वेकास्मिन्नन्ते यो नियतः स ऐकान्तिक-
स्तद्विपर्ययादनैकान्तिकोऽनियतोऽनित्यत्वे नित्यत्वे चान्वयेन
व्यतिरेकेण बोध्यपक्षगामीति यावत् । न चैवम्भूता विरुद्धादयो
हेत्वाभासा इत्यभिप्रायः । तदेवमनैकान्तिकः सव्यभिचार इति
स्थिते पृच्छति । कः पुनरिति । उत्तरं साध्यतज्जातीयेति ।
अवगतपेक्ष व्यभिचार इति, अनैकान्तिकपदवाच्यत्वमस्य कथ-

मित्यत आह । सर्वोऽयमिति । प्रमेयपदार्थस्य तु सर्वव्या-
पिनो नान्तो व्यतिरेकोऽस्तीत्यत उक्तमन्यत्र प्रमेयादिति ।

अत्र बोद्धेयं द्विकल्पे दूषणमुक्तं तदुपन्यस्यति । अनैका-
न्तिक इति । किं पुनरयमिति । (१७० । ८) ऐका-
न्तिको (१) हेतुस्ततोऽन्यः सर्व एव हेत्वाभास इत्यर्थः ।
द्वितीयं पक्षं दूषयति । अथ प्रसज्येति । तथाऽपि हेतो-
रभावोऽनैकान्तिको न चासौ सव्यभिचारः, भावधर्मो हि
व्यभिचाराव्यभिचारौ, नाभावे सर्वोपाख्याविरहिणि युज्येते
इत्यर्थः ।

तदेतच्छाक्यदूषणं निराकरोति । नायं पर्युदासपक्ष
इति । पर्युदासपक्षस्तावदस्माकमभिमत उपपन्नतरश्च, केवलमयं
प्रसज्यप्रतिषेधवल्लभस्तमादाय सर्वं दूषयतीति तमेवाङ्गीकृत्य
सर्वत्र ब्रूम इत्याशयवतः समाधानम् । न पुनरब्राह्मणादावपि
वार्तिककारस्य प्रसज्यप्रतिषेधोऽभिमतः, किं तु पर्युदास
एवेति । अभ्युपेत्य तु तत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधाभिधानम् । न
हि प्रसज्यप्रतिषेधस्तुच्छोऽपि तु कस्य चिद्वस्तुनोऽभावेन विशिष्टं
किञ्चिदेव वस्त्वित्यर्थः ।

अत्र भाष्यं निदर्शनं नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति ।
वैधर्म्ये दृष्टान्तमाह । स्पर्शवानिति । अनित्यः कुम्भः
स्पर्शवान् दृष्ट इति योजना, वैधर्म्ये व्याप्यव्यापकवैपरीत्या-
दिति । वैधर्म्यव्यभिचारमाह । दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वं
च धर्मो न साध्यसाधनभूतौ गृह्यते । न हि यदनित्यं
तत्सर्वं स्पर्शवद् बुद्ध्यादिभिर्व्यभिचारात् । साधर्म्येऽप्येव व्य-
भिचारो वक्ष्यत इतीह नोक्तम् । ननु च मा भून्नित्यत्वं सा-

ध्यम्, अस्पर्शत्वमेवास्तु नित्यत्वस्य साध्यमित्यत आह । स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति । तथाऽपि यदस्पर्शवन्न भवति तन्नित्यमपि न भवतीति वैधर्म्यं व्यभिचरति, स्पर्शवतोऽप्यणोर्नित्यत्वादित्यर्थः । साधर्म्यव्यभिचारमाह । आत्मादौ चेति ।

अत्र वार्तिककारोऽस्पर्शवत्त्वस्य हेतोः प्रश्नपूर्वकं स्वरूपं निष्कर्षति । किं पुनस्तदस्पर्शत्वं शब्दाद्भिन्नमित्यर्थः । सत्ताविशेषणो वा समवायः समवायविशेषणा वा सत्ता अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यर्थः । वाक्यार्थे च पदप्रयोगोऽस्पर्श इति श्रोत्रियपदवदित्याह । वाक्यार्थ इति । अनैकान्तिक इति लक्षणपक्षे चांदयति । अतिदेशेति । (१७१ । ६) यदि हि क चिच्छास्त्रप्रदेशे अनैकान्तिकः कथितः (१)स्तदेशातिलङ्घनेनात्रातिदिश्यमानो विदितरूप इह सव्यभिचारं लक्षयेत् न त्वस्य शास्त्रप्रदेशे क चिदपि कीर्तनमस्तीत्यर्थः । परिहरति । नेदमिति । लोकप्रसिद्धत्वेनोक्तप्रायमित्यर्थः । अन्वयेनैवोभयान्तसन्नियतोऽनैकान्तिक इति मन्वानः शङ्कते । अव्यापकत्वादिति । परिहरति । व्यावृत्तीति । कचिदन्वयस्योभयान्तसंनियतता कचिद्व्यतिरेकस्येत्यर्थः ।

एकेषां मतमुपन्यस्यति । अपरे त्विति । दूषयति । तैस्तिष्ठति । नोदाहरणे व्यभिचाराल्लक्षणव्यभिचारो भवति, अन्यत्वात् । नोखलुदाहरणमाद्रियन्ते परीक्षकाः, किं तु लक्षणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

सिद्धा ङः (सू. ६) ॥ पृच्छति । कोऽस्य सूत्रस्येति । (१७२।६) न खलु हेतुरचेतनः सिद्धान्तमभ्युपगच्छति । यश्चाभ्युपगच्छति चेतनो नासावन्यतमेन हेतुलक्षणेन युज्यते इ-

ति न हेत्वाभासः । न च पक्षः सिद्धान्त इति तद्विरोधी न विरुद्धः स्यादिति भावः । उत्तरम्, अभ्युपगतार्थविरोधी विरुद्धः । हेतुद्वारेण पुरुषस्याभ्युपगमो हेतावुपचरितः, अभ्युपगममात्रविवक्षया सिद्धान्तशब्दः प्रयुक्तो न पुनः सिद्धान्त एवेह विवक्षितः, तेन पक्षोऽभ्युपगमविषय इति तद्विरोधी हेत्वाभासः सङ्गृहीतो भवति । विशेषविरुद्धस्य च न हेत्वाभासतेत्युक्तं भवति । न हि विशेषोऽभ्युपगमस्य विषयः, न स्वत्वयं प्रतिज्ञापदगोचरः, किं तु प्रतिज्ञार्थस्य सिद्ध्यनुषङ्गीति नाभ्युपगमगोचर इति भावः । ईदृशस्य सूत्रव्याख्यानस्य फलमाह । एवं चेति । ईदृशं व्याख्यानमन्तरेणानुक्तस्य विरुद्धस्येत्यर्थः । अभ्युपगतेन बाध्यत इति । स्वरूपेण हेतुत्वेन वेत्यर्थः । तदनेन तं विरुणद्धीत्यादिभाष्यं व्याख्यातम् ।

चोदयति । नन्वेवामिति । यदि हेतुत्वबाधाविरुद्धो हेतुः, सव्यभिचारादयोऽपि विरुद्धाः, तेषामपि हेतुत्वं बाधितम्, अबाधे वा न हेत्वाभासा इति भावः । परिहरति सत्यमेक एवेति । ईदृशा विरुद्धत्वेन तुल्यत्वेऽप्यवान्तरभेदविवक्षया पञ्चत्वम् । यथा प्रमाणादीनां प्रमेयत्वेन तुल्यत्वेऽपि प्रमाणप्रमेयादीनामवान्तरभेदविवक्षया षोडशत्वम् । यथा वा तृणविशेष एवामाधारणतया तृणोल्लपतया व्याख्यायते । एवं विरुद्धविशेष एवासावनैकान्तिकादिर्विरुद्धानैकान्तिकादिपदवाच्य इत्यर्थः ।

अत्रोदाहरणभाष्यम् । यथा सोऽयं विकार इति । महङ्कारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियभूतसूक्ष्ममहाभूतानि विकारः, तस्य व्यक्तित्वमलक्षणावस्थापरिणामः, तस्मादपाय इति । अत्र हेतुर्नित्यत्वप्रतिषेधादिति । तस्य व्याख्यानं न नित्यो विकार उपपद्यत इति । अपेतोऽपि विकारोऽस्ति विनाशप्रतिषे-

धातु, सो ऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति हेतुव्यक्तेरपेक्षोऽपि
विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते । एतदेव
प्रश्नपूर्वकं विभजते । कथमिहादिना । विरोधस्य व्याश्रयत्वात्
सिद्धान्तेन विरुध्यत इत्यभिसन्धाय सिद्धान्तं व्याहन्तीत्युक्त-
मित्यर्थः ।

तदेतद्भाष्यं व्याचष्टे । उदाहरणमिति । ननु नित्यत्व-
प्रतिषेधादिति हेतुर्विनाशप्रतिषेधेन सिद्धान्तेन विरुध्यत इत्येवं
ब्रुवाणः शास्त्रविरोधमापादयति, तथा च कालात्ययापदिष्टो हे-
त्वाभासो न विरुद्ध इत्यत आह । एते ते वाक्ये परस्परा-
र्थवाधिते इति । दृढतरप्रमाणवाधितो हि हेतुः कालात्ययाप-
दिष्टो भवति । यथा ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरव-
दिति हेतुः,

“गौडी पैष्टी च माध्वी च त्रिविधा सुरा ।

यथैवेका तथा सर्वा न पेया ब्रह्मवादिभिः” ॥

इत्यादिभिरागमैरतिदृढैर्वाधितः कालात्ययापदिष्टतया हे-
त्वाभासो भवति । प्रकृते वाक्ये परस्परविरुद्धार्थतया न प्रतिष्ठां
लभेते, न पुनरन्यतरदन्यतरेण शक्यं वाधितुं, द्वयोस्तुल्यबल-
त्वात्, तस्मान्नायं कालात्ययापदिष्ट इत्यर्थः ।

व्याख्यानंतरमाह । प्रतिज्ञाहेत्वोर्वा विरोध इति ।
सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैतीति प्रतिज्ञा नित्यत्वप्रतिषेधादिति
हेतुना विरुध्यते । व्यक्तिमात्रादपैति न तु विनश्यतीति हि प्रति-
ज्ञार्थो ऽपेक्षो ऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादित्यनेन व्याख्यातः ।
तथा च व्यक्तेरपैतीत्यनेन विकारस्य नित्यत्वं प्रतिज्ञातं नित्य-
त्वप्रतिषेधादित्यनेन हेतुना विरुद्धं भवति । स्वसिद्धान्तेनेति ।
स्वपक्षेणेत्यर्थः । अत्र चार्थे सुगमं भाष्यम् ।

अत्र वार्तिककारश्चोदयति । ननु प्रतिज्ञाविरोध इति । प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध इत्यर्थः । परिहरति । नैष दोष इति । प्रतिज्ञाश्रितत्वं विरोधस्य विवक्षित्वा निग्रहस्थानेषु प्रतिज्ञाविरोधस्योपादानम् । हेत्वाश्रितत्वं तु तस्यैव विरोधस्य विवक्षित्वा हेत्वाभासेऽन्तर्भाव इति । यदा प्रतिज्ञाया हेतुविरोध इति (१७३४) हेतोरप्यन्यतरासिद्धतया प्रतिज्ञातुल्यत्वाभिप्रायम् । यदि हेतुरुभयसिद्धो भवति तदा हेतोर्वा प्रतिज्ञाविरोधत्वमिति । उपमंहरति । अत इति । हेतोर्विरोधोदाहरणम् विरोधकत्वं विरोधः । शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वं प्रमाणविनिश्चितं नित्यत्वप्रतिज्ञां बाधते इत्यर्थः । प्रसङ्गाद्धेत्वाभासातिरिक्तस्य प्रतिज्ञापदयोर्विरोधस्य निग्रहस्थानस्योदाहरणमाह प्रतिज्ञाविरोधस्येति । तृतीयेऽध्याये चैष विरोध उपपादयिष्यते । हेतोरन्यतरासिद्धतया समानबलयोः प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधोदाहरणं गुणेति । हेतुविरोधोदाहरणं नास्त्येको भाव इति । उत्पत्तिमत्त्वं ह्यन्यतरासिद्धमपि शक्यसाधनमिति प्रतिज्ञार्थं व्याहन्ति । समूहे भावशब्दप्रयोगादिति । उभयसिद्धमेव प्रतिज्ञार्थं व्याहन्तीत्येतावता भेद इत्यर्थः ॥ ६ ॥

यस्मा-मः (सू० ७) ॥ प्रकरणशब्दार्थमाह भाष्यकारः । विमर्षाधिष्ठानाविति । विमर्षः संशयः । तस्य विषयौ अनवसिन्तावनिर्णीतौ । तादृशयोरेव पक्षप्रतिपक्षशब्दवाच्यत्वात्, प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियते इति व्युत्पत्त्या प्रकरणम् । चिन्तापदं व्याचष्टे, तस्य-प्रकरणस्य, चिन्ता विमर्षात्प्रभृति प्राग् निर्णयात् समीक्षणमालोचनं जिज्ञ सा, सा खलु तत्त्वानुपलब्ध्या कृता । नेखलायं नित्यधर्मान्निश्चयत्वाविनाभाविनोऽनित्यधर्मान् वा अनित्यत्वाविनाभाविन उपलभमानस्तत्र संदि-

ग्रे, तच्च जिज्ञासते, सैव नित्यधर्मानुपलब्धिरनित्यधर्मानुपल-
 ब्धिर्वा विचित्राभिसंधितया वादिनां निर्णयायापदिश्यमाना
 प्रकरणसमो हेत्वाभासः । कुतः, उभयपक्षसाम्यात् । यथा
 नित्यत्वपक्षेऽनित्यधर्मानुपलब्धरेवमनित्यत्वपक्षेऽपि नित्यधर्मा-
 नुपलब्धिः, सेयं तत्त्वानुपलब्धिमात्रविवक्षयोभयपक्षसमा, प्रकर-
 णसमा तु यथा प्रकरणमनिश्चायकमेवमियमपीत्यर्थः । व्युत्पत्ति-
 मात्रं चैतत्-प्रकरणसमपदस्य, प्रवृत्तिनिमित्तन्तु सत्प्रतिपक्षत्वं,
 अन्यथाऽनैकान्तिकस्यापि प्रकरणसमत्वप्रसङ्गादिति । प्रज्ञापनं
 प्रज्ञाप्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या निदर्शनमुक्तम् । अनैकान्तिकत्वशङ्कां
 सत्प्रतिपक्षस्य व्यवच्छिन्नमिति । यत्र समान इति । संशयेन
 समोऽनिश्चायकत्वादिति । एतदुक्तं भवति । न हि नित्यधर्मा-
 नुपलब्धिरुभयसिद्धे नित्येऽस्ति येन सव्यभिचारो भवेन्नाप्य-
 नित्यधर्मानुपलब्धिः उभयसम्पत्तेऽनित्येऽस्ति येन सव्यभिचारो
 भवेदपि, तु परस्परमनयोः सत्प्रतिपक्षतयैव हेत्वाभासत्वमिति
 यस्मात्प्रकरणचिन्तेत्युक्तं सूत्रकृता । अत्र यस्मादर्थं
 प्रश्नपूर्वकं दर्शयति वार्त्तिककारः कस्मादिति । (१७३ ।
 १४) कारणत्वं तत्त्वानुपलब्धेर्यतिरेकेण दर्शयति ।
 यस्मादिति । अत एवेति । तत्त्वानुपलब्धेरित्यर्थः ।
 चोदयति । नन्वयमिति । पक्षप्रतिपक्षौ हि प्रकरणं, तौ च
 साध्यौ, ताभ्यां च समः साध्यसमः । तथा च साध्यसमाद्
 हेत्वाभासान्न पृथग् निर्देशः प्रकरणसमस्येत्यर्थः । परिहरति ।
 नाविशिष्ट इति । यद्यपि प्रकरणसमशब्दो व्युत्पत्त्या साध्या-
 विशिष्टेन समानार्थः, तथाऽपि प्रवृत्तिनिमित्तमस्य सत्प्रतिपक्ष-
 त्वम् । न च तत्त्वानुपलब्धिः स्वयमसिद्धा, सा ह्युपलम्भाभावेन
 मूलमेति भावः ।

परमतमनुभाष्यातिप्रसङ्गापादनेन दूषयति । ये तु संशय-
हेतुत्वादिति । चोदयति । समूह इति । (१७४।१) यस्मिन्सति
भवत्येव तत्कारणं, समूहं सति च भवत्येवेति, नैकैकस्मिन्,
तस्मान्नैकैकं कारणमिति भावः । परिहरति । समूहः कारण-
मिति । न ह्यकारणानां समूहः कारणं भवितुमर्हति, अतिप्रस-
ङ्गात् । न च समूहिवैलक्षण्यमन्तरेणाऽऽजानतः समूहस्य वैलक्षण्यं,
तस्मात्समूहिन एवान्योन्यसमवधानवन्तः कारणं, तथा च प्रत्य-
क्षस्योपपन्नं संशयकारणत्वं, न च यस्मिन् सति भवत्येव तत्का-
रणम्, अपि तु यस्मिन्सत्येव न त्वसतीति क्षणभङ्गभङ्गे वक्ष्याम
इति । ननु भयधर्मानुपलब्धिरुभयपक्षसाधारणीति स्वयमभिचार-
एवेत्यत आह । उभयधर्मानुपलब्धाविति । नोभयधर्मानुप-
लब्धिर्हेतुरपि तु एकधर्मानुपलब्धिः, न चासौ साधारणी, किं
तु सत्प्रतिक्षेप्यर्थः । उभयविशेषानुपलब्धेः प्रकरणसमत्वे-
नाभिधानाशक्यत्वात् ।

प्रकरणसमस्योदाहरणान्तरं दूषयति । शरीरान्यत्वं त्वि-
ति । परेषां किलोदाहरणं नित्य आत्मा शरीरादन्यत्वाद् आका-
शवदिति । अत्र शरीरादन्यत्वमुपलभमानो यदा तत्त्वं
नित्यत्वमात्मनः प्रत्येति, न हि तदा जिज्ञासितुं नित्यत्वं प्रव-
र्त्तते । यदा तु तत्त्वं नित्यत्वं नोपलभते शरीरादन्यत्व-
मुपलभमानोऽपि तदा प्रवर्त्तते । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां
तत्त्वानुपलब्धिरेव प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तिका न शरीरादन्यत्वं,
तस्मान्नैतत्प्रकरणसमस्योदाहरणम्, अपि तु तत्त्वानुपलब्धिरेव ।
इतश्चैतन्न प्रकरणसमस्योदाहरणमित्याह । शरीरादन्यत्वं
चानैकान्तिकम् । उपसंहरति । अतो न सूत्रार्थः । न सूत्र-
विषयः । एवमन्यान्यपि सत्प्रतिपक्षोदाहरणान्यूहनीयानि ॥७॥

साध्या-मः (सू.८) ॥ अत्र साध्यसम इति लक्ष्यनिर्देशः
 साध्याविशिष्ट इति लक्षणम् । तदनेन स्वरूपासिद्धैकदेशासि-
 द्धाश्रयासिद्धान्यथासिद्धानां सङ्ग्रहः, तेषामसिद्धत्वेन साध्यावि-
 शिष्टत्वात् । अत्र चासिद्धः साध्यसम इति वक्तव्ये साध्याविशिष्ट-
 ग्रहणमन्यतरासिद्धस्यापि सिद्धेः प्रागेहेतुत्वज्ञापनार्थमन्यथाऽत्य-
 न्तासिद्ध एव साध्यसमो नान्यतरासिद्धः, तस्य कदाचित् सिद्धे
 रिति भ्रान्तिः स्यात् । साध्याविशिष्टेन तु सोऽपि गृह्यत इति ।
 नन्वेवं साध्याविशिष्टत्वेनान्यतरासिद्ध एव स्यान्नेतरे, तेषाम-
 सिद्धत्वेन साध्याविशेषाभावादित्यत उक्तम् । साध्यत्वादिति
 यदि हि साध्यं नासिद्धं भवेत् साध्यत्वादेव च्यवेत, न खलु
 सिद्धं साध्यते, तस्मात् साध्यत्वादसिद्धता, सा च कस्यचित्
 सर्वदा कादाचित्की कस्यचिदिति सर्वेषामविशिष्टत्वमिति नाव्या-
 प्तिः । नापि साध्यत्वस्यातिप्रसक्त्याऽतिव्याप्तिः, हेत्वाभाससामा-
 न्यलक्षणापेक्षित्वात्तद्विशेषलक्षणस्येति सूत्रार्थः ।

साधनीयत्वादिति च भाष्यगतं न साध्यत्वादित्यस्य
 व्याख्यानमपि तु गतिमत्त्वस्यासिद्धत्वपरम् ।

अत्र वार्तिककारः सूत्रार्थं व्याचष्टे साध्येनाविशिष्टो
 य इति । साध्येन व्यभिचारो मा भूदित्यत आह । साधनधर्म
 इति । हेत्वाभाससामान्यलक्षणयोगे सति एतल्लक्षणमिति न व्य-
 भिचार इति भावः ।

अत्र भाष्यकारेण स्वरूपासिद्धाश्रयासिद्धान्यथासिद्धानां
 साधारणमुदाहरणमुक्तं द्रव्यं च्छाया गतिमत्त्वादिति । तद्वि-
 भजते वार्तिककारः, द्रव्यं च्छायेति । अत्र स्वरूपासिद्धतां
 तावदाह । यथैवेति । आश्रयासिद्धतामवतारयितुं गतिमत्त्वं
 छायायाः पञ्चावयवेन वाक्येन साधयति । गतिमत्त्वमिति ।

आश्रयासिद्धमाह, नाश्रयासिद्धत्वादिति । सत्या च च्छा-
याया देशान्तरे दर्शनाद्योऽस्या गतिमस्वमनुमिनोति प्रत्यक्ष-
यासिद्धं देशान्तरे दर्शनम् । तदाश्रयासिद्धत्वात् "देदुक्तं स-
ति द्रव्यभाव इति । सति सत्त्व इत्यर्थः । न तच्छाया सामा-
न्यविशेषसमवायान्तर्भूता अनित्यत्वात्तस्याः न कर्म संयोगवि-
भागासमवायिकारणत्वाभावात् । न गुणो भासमवायात् । न
मनोदिकालगुणः तद्गुणानामप्रत्यक्षत्वात् । अप्यात्मगुणो बाह्ये-
न्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । नापि नभोनभस्वतोः तद्गुणानामचाक्षुषत्वात् ।
नापि तेजसः तद्विरोधित्वात् तत्सहचरिगुणान्तरानुपलब्धेश्च ।
अत एव न पृथिवीपाथसोरपि । अपि तद्गुणश्चाक्षुषो नालो
कमन्तरेण शक्यग्रहः च्छाया तु तमन्तरेण गृह्यते तस्मिन्सु सति
न गृह्यत इति दुर्घटम् । नापि द्रव्यं हि पृथिव्यादीनामन्यतम-
मेव भवेदन्यद्वा दशमम् । न तावद्व्यतमं तद्गुणानामनुपलब्धेः
नाप्यन्यद्रूपवदिति युज्यते । तस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः अ-
स्पर्शवत्त्वादनारम्भकत्वेनानेकद्रव्यत्वाभावात् । तस्माद्भाऽभाव
एव च्छाया न तु सतीति सिद्धः ।

यस्तु मन्यते मा भृच्छाय सती भवतु भाऽभावः, तथाऽपि
नाश्रयासिद्धता देशान्तरदर्शनस्य भाऽभावाश्रयत्वादेवेति तं
प्रत्यभ्युपेत्यान्यथासिद्धतया साध्यसमत्वमापादयति । अभ्युपे-
त्येति । स्वाभाविको हि सम्बन्धो हेतोः साध्येन सहानुमानाङ्गं
नौपाधिक इति विवेचितमनुमानलक्षणे । तदयमन्यथासिद्ध औ-
पाधिकसम्बन्धो भवति हेत्वाभासः । सेयं हेतोरसिद्धिर्द्विधा
स्वरूपतो हेतुत्वेन च । स्वरूपतोऽपि द्वेधा स्वत आश्रया-
सिद्ध्या च । न चैतावता सव्यभिचारादीनामपि हेतुत्वासिद्धे
रसिद्ध एवान्तर्भावः, सव्यभिचारत्वादिविशेषणेन तेषामतो भे-

यत्, न्यथासिद्धस्य तु तद्विशेषणत्वायोगिनो हेतुत्वासिद्धिमा-
त्रेण साधनेऽन्तर्भाव इति सर्वमदातम् ।

संकलनं । सोऽयमिति । (१७५ । ४) त एतेऽसिद्धभेदा
उदाहरणभेदेऽपि द्रष्टव्याः यथा नित्यः शब्दः चाक्षुषत्वादिति
अयमसिद्धः । सुभुवनादीनामकर्त्तेश्वरोऽशरीरत्वादित्याश्रया-
सिद्धः । स इयाममैत्रतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रतनयस्तोमव-
दित्यन्यथासिद्धः भक्षणपरिणतिभेदनिबन्धनत्वात्पुण्यभेदस्या-
न्यथासिद्धत्वमिति । अयमप्यसिद्धत्वादिति भाष्ये अपिश-
ब्देनाश्रयस्य च्छायाः सत्त्वेनासिद्धिः सूचिता ।

अत्र भदन्तेनेदं । ध्यसमलक्षणमुदाहरणान्तरंकल्पयित्वा
दूषितम् । इदं किलारीदाहरणं नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्
बुद्धिवदिति । तदेतत्तिऽप्यसिद्धं न भवतीति दूषयित्वा
भदन्तेन शङ्कितम्, अथवाध्येनाविशिष्टो दृष्टान्तो यस्मि-
न्स साध्याविशिष्टो हेत्वाभास इति बुद्धैर्दृष्टान्तस्य नित्यत्वेनासि-
द्धत्वादिसाशङ्क्य बहुव्रीह्यभावेऽदूषितम् । तदेतत्सर्वमनभ्युपग-
मेन वार्त्तिककारो दूषयति । नित्यः शब्द इति । यद्येतन्नोदा-
हरणं, किमुदाहरणं को वा सूत्रार्थ इत्यत आह । यथा त्वस्मा-
भिरिति । अयं भदन्तोक्तो दोष इत्यर्थः । कस्मादित्यत आह ।
भदन्तेन सूत्रार्थो न विज्ञातः, न हि सव्यभिचारोऽनेन ल-
क्ष्यते । येन सव्यभिचारमस्पर्शवत्त्वमस्योदाहरणं स्यात्, किं तु
साध्यसमः, नापि व्यधिकरणबहुव्रीहिदूषणेनाऽक्षरार्थो ज्ञातः,
नापि बुद्धिवदिति दृष्टान्ताभासमेव हेत्वाभासं कुर्वता हेत्वाभा-
सदृष्टान्ताभासौ ज्ञातौ भदन्तेनेत्यर्थः ॥ ८ ॥

काला-तः (सू. ९) ॥ अत्र कालातीति इति लक्ष्य-
निर्देशः, कालात्ययापादिष्ट इति लक्षणम् हेतोरपदेशस्य हि

साध्यसंदेहविशिष्टःकालः, यथाऽऽहुः नानुपलब्धे न निर्णीते
न्यायः प्रवर्तते अपि तु संदिग्ध इति । परे ऽप्याहुः संदिग्धे हे-
तुवचनादिति । यत्र च प्रत्यक्षानुमानागमविरोधोऽनुष्णोऽग्नि-
द्रव्यत्वादिति, अश्रावणः शब्दो गुणत्वादिति च, शुचि नरशिरः-
कपालं प्राण्यङ्गत्वादिति च, स सर्वः प्रमाणतो विपरीतनिर्णयेन
संदेहविशिष्टं कालमतिपततीति सोऽयं कालस्यात्ययेनापदिश्य-
मानः कालातीत इति । तथा चोदाहृतम् यत्तु प्रत्यक्षागमविरुद्धं
न्यायाभासः स इत्यत्र वार्त्तिककृता । बाधाविनाभावयोः सहा-
संभव इति चात्र बौद्धानामाक्षेपोऽस्माभिः समाहितः । एवं व्य-
वस्थिते भाष्यकारः सूत्रं स्वपरमतशिलष्टं व्याचष्टे, कालात्ययेन
संशयकालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशः, धर्मविशिष्टो हि
धर्मी हेतोरपदिश्यमानस्यार्थः, स ह्यर्थ्यते हेतुना, तस्यैकदेशः
साध्यधर्मः, स धर्मिणि बलवता प्रमाणेन तद्विपरीतधर्मनिर्णयं
कुर्वता संशयकालमतिपातितः, स तादृशो हेतुः कालासयापदि-
ष्टः कालातीत इति स्वमतेनास्यार्थः । अत्र च पूर्वमेवोदाहृतमि-
ति पौनस्त्यान्नोदाहृतम् ।

परमते तु कालात्ययेन युक्तो यस्य हेतोरनुरूप एक-
देशो हेतुविशेषणमिति यावत्, स कालात्ययापदिष्ट इति
योजना । परमतेनैव निदर्शनमाह । निदर्शनमिति ।
नित्यत्वं चात्रावस्थानमात्रमभिमतमिति । अन्यथा घटादिभिरा-
लोकसंयोगव्यङ्ग्यैर्व्यभिचारः । तदेतत् पञ्चावयवं वाक्यमु-
पन्यस्य संयोगव्यङ्ग्यत्वस्य हेतोरैकदेशस्य विशेषणस्य संयोग-
स्य व्यक्तिकालात्ययेन हेत्वाभासतामाह । अयमहेतुरिति ।
स पुनरयमसिद्धविशेषणतया हेत्वाभासः साध्यसम एवेति न
पृथग्वाच्य इति स्थूलतया एष दोषो भाष्यकारेण नोद्भावितः ।

यत्पुनर्भदन्तेन कालातीतस्य व्याख्यानं कृतं प्रतिज्ञानन्तरं
 हि हेतोः कालः तमतीत्य हेतुः पश्चादपदिश्यमानः कालातीतो
 भवति, तद्यथाऽनित्यः शब्दो घटादिवदित्युक्ते कस्मादित्यनुयुक्तो
 ब्रूते कृतकत्वादिति, स कालातीत इति । तेन चैवं दूषितं, किं
 निराकाङ्क्षे वादिन्येष प्रतिवादिनः प्रश्नः, आहो साकाङ्क्षे, यदि
 निराकाङ्क्षे तदा न्यूनमेवास्य निग्रहस्थानं न हेत्वाभासस्तस्या-
 प्रयोगात् । प्रयुक्तो हि हेतुस्तदाभासो वा स्यान्नाप्रयुक्तः । अथ
 साकाङ्क्ष एव वादिनि प्रतिवादिनः प्रश्नस्तथाऽपि पश्चादप्यसौ
 हेतुः प्रयुक्तो हेतुरेव, न ह्यसौ तदा न स्वसाध्याविनाभूतोऽप-
 क्षधर्मो वेति । तस्मान्न कालातीतो नामास्ति हेत्वाभास इति ।
 तदेतद्भदन्तदूषणमेतद्व्याख्यानानभ्युपगमेन परिहरति । अवय-
 वविपर्यासवचनं त्विति । अनभ्युपगमहेतुं पृच्छति । कस्मा-
 दिति । उत्तरं यस्येति । अर्थेन सामर्थ्येन सम्बन्धोऽर्थसंब-
 न्धः । अपि च पौनरुक्त्यादपि नाभ्युपगम्यत इत्याह । अव-
 यवेति । यस्यापदिश्यमानस्येत्यादि पुनरुच्यते इत्यन्तं वार्त्तिकं
 भाष्यव्याख्यानानेव व्याख्यातम् । शङ्कते । समीकृतेऽभिधा-
 नादिति । (१७६।१) अयमर्थो नैतदप्राप्तकालेन निग्रहस्था-
 नेन पुनरुक्तम्, अपि तु हेत्वाभास एव । स ह्यवयवविपर्यास
 उच्यते यत्रैकग्रन्थेनैव वादी प्रतिज्ञोदाहरणादि प्रयुज्य पश्चाद्धेतुं
 प्रयुङ्गे । एष तु प्रतिज्ञोदाहरणे प्रयुज्य विरतः प्रतिवादिनाऽनु-
 युक्तः पश्चाद् हेतुं प्रयुङ्गे । तस्माद् न्यूनतादूषणेन पक्षे समी-
 कृते पक्षमात्रतां नीते सिद्ध्यवस्थातः प्रच्याविते पश्चादभिधा-
 नाद्धेतोरेष कालातीतो हेत्वाभासो न पुनरप्राप्तकालं-निग्र-
 हस्थानमिति चेदिति । निराकरोति यदीति । हेत्वनभिधा-
 नेन न्यूनतया समीकृतः पक्षः, किमत्र हेतोरसामर्थ्यं, न ह्यन्य-

दोषेणान्यो युज्यत इत्यर्थः । शङ्किता ब्रूते । एतदस्येति । नि-
राकरोति । नैतदिति । न्यूनतया निगृहीतो यदि पश्चादभिधा-
नेन निग्रहीतव्यः, ततो वाद्येन निगृह्यताम् । न त्वयं पश्चादभि-
हित इति समर्थः शक्यो हेतुर्निग्रहीतुमिति नायं समीकृताऽभि-
हितत्वेनापि हेत्वाभास इत्यर्थः । उभयनिराकरणमुपसंहरति
तस्मादिति ॥ ९ ॥

उद्देशक्रमानुरोधेन लक्षणक्रमस्य हेत्वाभासानन्तरं छल-
स्योद्देशाच्छललक्षणस्यापि हेत्वाभासलक्षणानन्तर्यमाह भाष्यका-
रः । अथ छलम् ।

वच-लम् (सू. १०) ॥ यथा वक्तुरभिमतोऽर्थः ततो
विरुद्धोऽर्थस्तस्य विकल्पः कल्पना सैवोपपत्तिः तथा । अथ
लक्षणान्तरवच्छलस्य सामान्यलक्षणे कस्मादुदाहरणं न दीयत
इत्यत आह । न सामान्यलक्षणे इति । सामान्यविशेषवत् सर्व-
मुदाहरणं, निर्विशेषस्य सामान्यस्यासत्त्वेन केवलस्य सामान्य-
स्योदाहरणमशक्यमित्यर्थः । विभागे त्विति । विभज्यत इति
विभागो विशेषलक्षणं, तस्मिन्मुदाहरणानि ॥ १० ॥

छलसामान्यलक्षणमभिधाय तद्विशेषलक्षणान्यभिधातुं प्र-
थमं तावन्न्युनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थं विभागमवतारयति ।
विभागश्चेति । विभज्येत ऽनेनेति विभागः सूत्रमुच्यते ॥ ११ ॥
तत्र च विशेषलक्षणमवतारयति । तेषां-छलानां मध्ये
वाक्छलं लक्ष्यते-

अवि लम् (सू. १२) ॥ नवः कम्बलो यस्येति एको
विग्रहो नव कम्बला अस्येति अपर इति विग्रहे विशेषः । वा-
क्छलशब्दार्थं व्युत्पादयति । वाचि निमित्ते छलं वाक्छल-
मिति । नवकम्बल इति उभयत्रापि समानायां वाचि निमित्त-

भूतायामित्यर्थः । तदेतच्छ्रुतं पराजयावस्थायां जल्पे प्रयोक्त-
व्यमित्युक्तम्, परवाक्ये पर्यनुयोगोऽस्येति चोक्तम्, तदत्र य-
था पर्यनुयोगः तथा दर्शयति शिष्यहिततया भाष्यकारः अस्य
प्रत्यवस्थानमिति । उभयार्थभानेऽसम्भवदर्थकल्पनमयुक्तमि-
त्यर्थः । अथ प्रयोक्ताऽपि कथं साधारणेन शब्देनार्थविशेषं
बोधयति, अवोधयँश्च कथं प्रतिपादको नामेत्यत आह । प्रसि-
द्धश्चेति । सम्बन्धस्वरूपमाह । अभिधानाभिधेययोर्यो नि-
यमोऽयमेव शब्दोऽस्यैवार्थस्येति तत्र यः पुरुषस्य नियोगोऽस्मा-
दयमेव बोद्धव्य इत्येवमाकारः । किमतो यद्येवमत आह । प्रयु-
क्तपूर्वाश्चेति । तथाऽपि किमित्यत आह । प्रयोगश्चेति । ता-
मिमां भूमिरचनां प्रकृते योजयति । तत्रैवमर्थगत्यर्थ इति ।
एतदुक्तं भवति । न सङ्केतकरणावस्थायां वृद्धव्यवहारे वा क-
श्चिच्छब्दः कश्चिदर्थं शृङ्गयाहिकया बोधयत्यपि तु सामान्यद्वि-
रेणार्थप्रकरणादिसहकारी विशेषे वर्तते । तस्मान्नैष प्रतिपादयि-
तुरपराधो यदेष विशेषशब्दैर्विशेषान्न प्रतिपादयति । किं तु
सङ्केतस्यापराधो यो विशेषमपहाय सामान्ये शब्दानां वर्तते ।
तस्माद्यथासङ्केतं बोधयन्नापराध्यः प्रयोक्तेति सिद्धम् । साम-
र्थ्यमेव दर्शयति । यत्रार्थक्रियाचोदनेति ।

स्यादेतदविशेषाभिहितेऽर्थ इति न युक्तं, न हि नवक-
म्बल इति पदं प्रकरणादिनिरपेक्षं कश्चिदर्थमविशेषे-
णाभिधते गवादिशब्दवत् । न हि सङ्ख्याविशेषे च
नवीनत्वे चास्ति कश्चित् सामान्यविशेषो बाहुलेया-
दिष्विव गोत्वं यमभिदधीतेत्यत आह वार्तिककारः, सा-
मान्यश्रुतीति । अभिहितिरभिहितम्, उच्चारणमिति याव-
त् । समानः शब्दो नार्थे सामान्यमित्यर्थः । अश्व इति नामप-

दमश्चत्वस्य वाचकम् । आख्यातपदं यदा कस्य चिदभिमुखं
प्रयुज्यते अश्व इति तदा वृद्धिं गतोऽसीति प्रतीयते । चोदय-
ति । अविशेषेति । समानो हि शब्दोऽभिधेये संशयमाधत्ते न
त्वर्थमभिधत्त इत्यर्थः । परिहरति । न प्रकरणादीति । (१७-
७ । २) इवेतो धावतीति इतः सारमेयो द्रुततरं याति श्वि-
व्री निर्णेनेक्तीत्यर्थः । अर्थ इत्यस्य प्रयोजनमाह । अर्थग्रहण-
मिति । अविशेषश्रुतौ शब्दे सति अर्थे अर्थान्तरकल्पना न श-
ब्द इत्यर्थः । अस्य प्रत्यवस्थानमित्यादिभाष्यं व्याचष्टे ।
तस्येति । सुगमम् ॥ १२ ॥

संभव-लम् (सू. १३ सम्भवतोऽर्थस्य ब्राह्मणवि-
शेषस्य विद्याचरणसंपदा, विद्याचरणसंपदमत्येति यत्सामान्यं
ब्राह्मणत्वं त्रात्ये ब्राह्मणे, तस्य ब्राह्मणत्वस्यातिसामान्यस्य
योगादसम्भूतार्थकल्पनया यः प्रतिषेधः तत्सामान्यच्छ-
लम् । अहो खल्वयं ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति हि स्तु-
त्यर्थं वाक्यमभ्यनुजानतोक्तं संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंप-
दिति, तदेतदपि वाक्यं स्तुत्यर्थमेव, न त्वस्य ब्राह्मणत्वाद्देतो-
र्विद्याचरणसंपद्विवाक्षितेति । तत्र परो हेतुत्वमस्याविवाक्षितमा-
रोप्य वचनं विहन्तीति तदिदं सामान्यच्छलमिति । विषयानु-
वाद इति । संपद्विषयस्य ब्राह्मणत्वस्यानुवाद इत्यर्थः । क-
स्याविवाक्षितहेतुकस्य पुंसः । तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे ।
सामान्यस्येति । विवक्षितार्थमतिगतं सामान्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥

धर्म-लम् (सू. १४) ॥ शब्दस्य धर्मः प्रयोगः, तस्य
विकल्पो द्वैविध्यम् । तस्य च द्विविधः प्रयोगः प्रधानो भा-
क्तश्च । तत्रापि प्रधान औत्सर्गिकः, तस्य तु कचिदपवादाद्
भाक्तो भवति । तदेतदाह भाष्यकारः, अभिधानस्य यथार्थं

प्रयोगो धर्मः औत्सर्गिकः । तत्किमयमेव नेत्याह । विकल्पो द्वैविध्यम् । कोऽसौ द्वितीय इत्यत आह । उत्सर्गस्य कचिदपवादादन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः । तदेवं व्यवस्थिते धर्मविकल्पेन निर्देशे वाक्ये, निर्दिश्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या, तत्र भाक्तविवक्षायां मञ्चाः क्रोशन्तीति अत्रार्थसद्भावेन प्रतिषेधः । तमेवार्थसद्भावमाह । मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्तीति । वार्तिकमते त्वर्थसद्भावस्यैव प्रतिषेध इति व्याख्येयम् । ननु यद्यन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः इन्त सर्वं सर्वत्र प्रयुज्येतेत्यत आह । उपचारो नीताथः । प्रापितार्थः । सहचरणादिना निमित्तेनेति । अन्यत्र दृष्टस्याप्यन्यत्र प्रयोगः संबन्धादेव भवतीति नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः । न च्छन्दतः न छन्ननेत्यर्थः । ननु यदि भाक्ततयाऽप्युपपत्तिर्न किञ्चिज्जल्पाकभाषितं दुष्टं स्यात्, सर्वस्यैव यथाकथञ्चिद्भाक्तत्वेनोपपत्तेरित्यत आह । प्रधानभूतस्येति । भाक्तस्येत्येतावति वक्तव्ये प्रधानग्रहणं सिद्धतया दृष्टान्तलाभाय लोकसिद्ध एवोपचारः कर्तव्यो नापूर्वो विना प्रयोजनम् । लोकसिद्धश्चायमुपचारो मञ्चाः क्रोशन्तीत्यर्थः । सूत्रव्याख्यानपरं वार्तिकं धर्मविकल्पनिर्देशशब्देन सूत्रस्थेनाभिधानं प्रयोगः शब्दस्य धर्मो भवन् द्विधाभिधीयते । द्वैविध्यमाह । प्रधानमिति । सोऽयमाभिधानाभिधेयव्यवहार इति । अभिधानं शब्दोऽभिधेयो गम्यः, स च कचिद्वाच्यः कचिद्भाक्त इति । सुबोधम् ॥ १४ ॥ परीक्षापर्वणः सन्निधानात्तदर्थं लक्षणपर्वण्यपि योग्यायै ? सूत्रकारः छललक्षणं परीक्षते ।

वाक्छ-त् (सू. १५) ॥ स्थान्यर्थो गुणशब्दो यो वस्तुतः स एव प्रधानशब्दः स्थानार्थ इति कल्पयित्वेति

१६-१८ सू० ४ प्र०] जातिनिग्रहस्थानलक्षणम् । ३५३

योजना । यथा वाक्छले नवीनार्थो नवशब्दः सङ्ख्याभेदे क-
ल्पितस्तथेहापीति पूर्वपक्षः ॥१५॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।

न त-त् (सू. १६) ॥ तस्योपचारच्छलेऽर्थसङ्गाधप्रति-
षेधस्वार्थान्तरकल्पनातः वाक्छलादित्यर्थः ।

सूत्रतात्पर्यमाह वार्तिककारः । अविशेषादित्यस्ये-
ति । (१७८ । ७) विधेयं वस्तु । मञ्चाः क्रोशन्ती-
त्यत्र क्रोशनं विधीयते । मञ्चा इति त्वनूयते । अत एव
गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति मञ्चा इत्येतदप्रधानमनूयतया भा-
क्तं न तु क्रोशन्तीति, न विधौ परः शब्दार्थ इति न्या-
यात् । तदिह विधीयमानं क्रोशनमेव वस्तु प्रतिषिध्यते नैव
मञ्चाः क्रोशन्तीति छलवाक्येन । नवकम्बलो देवदत्त इति वा-
क्ये तु देवदत्तमनूय नवत्वविशिष्टः कम्बलो विधीयते । तत्र न
विधेयस्य वस्तुनः कम्बलस्य सङ्गाधः प्रतिषिध्यते । किं तु त-
देकदेशस्यानेकताया इति महान् भेद इति सिद्धान्तः ॥ १६ ॥

अवि-ज्ञः (सू. १७) ॥ किंश्चित्साधर्म्यान्नित्वाभावे
द्वित्वस्याप्यभ्युपगतस्याभावप्रसङ्गः । ओमिति ब्रुवतो वस्तुत्वेन
समस्तभेदोच्छेदप्रसङ्गः । भाष्यवार्तिके अतिरोहितार्थे ॥ १७ ॥

उद्देशक्रमानुरोधेन जातिलक्षणक्रममाह भाष्यकारः । अतः
छललक्षणादूर्ध्वम् ।

साध-तिः (सू. १८) ॥ प्रतीपमवस्थानं प्रत्यवस्थानं
तथा सति छलस्य सम्पद्दूषणस्य च जातित्वप्रसङ्गोऽत उक्तं
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामिति । न च छले साधर्म्यवैधर्म्ये स्तः,
न च सम्पद्दूषणं साधर्म्यवैधर्म्यमात्रादपि तु प्रयो(गा)जकादिति ।
प्रयुक्ते हेतौ तदाभासे वा यः प्रसङ्गो जायते सा जातिरिति । जल्पे

हि वेदप्रामाण्यं विद्वांसं प्रति कुहेतुना यदा नास्तिकैरधिक्षिप्यते
सदुत्तरं चास्य यदा सहसा न प्रतिभाति तदेश्वराणां माभूद्वेदा-
प्रामाण्यबुद्धिरिति जात्याऽपि प्रत्यवस्थेयम् । अन्यथेश्वरचरि-
तानुवर्तिनीनां प्रजानां विप्लवा भवेदिति । कचित्पुनरबुद्धिपूर्व-
मेव हेतौ हेत्वाभासे वा जातिप्रयोगः सम्भवति । जायमा-
नोऽर्थ इति जातिपदव्युत्पत्तिनिमित्तं दर्शितम् ।

तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे । साधर्म्येणेति (१७९ ।
३) यथा पक्षे सति प्रतिपक्ष एवं स्थापनायां सत्यां
प्रत्यवस्थानमिति । सूत्रार्थस्तु यथाश्रुति न पुनरु-
दाहरणसाधर्म्येण यथाभाष्यं बोद्धव्यः । यद्येवं भाष्यं
तर्हि कथमित्यत आह । उदाहरणार्थमिति । एवं वैध-
र्म्येण वेद्यतदपि यथाश्रुति, न पुनर्यथाभाष्यमुदाहरणार्थं त-
दित्यर्थः । अस्य व्याख्यानस्य गुणाभिधानेन प्रश्नपूर्वकं प्रपञ्च-
माह । किमर्थमिदमिति ॥ १८ ॥

विप्र-नम् (सू. १९) ॥ सूक्ष्मविषया प्रतिपत्तिर्विपरी-
ता । स्थूलविषया च कुत्सिता । कथमसौ निग्रहस्थानमित्यत
आह । विप्रतिपद्यमान इति । अप्रतिपत्तिमाह । आरम्भवि-
षय इति । लाघवाय विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती इति वक्तव्ये कस्मा-
दसमासकरणमित्यत आह । असमासाच्चेति । विप्रतिपत्त्यप्रति-
पत्तिभ्यामन्यदपि हेतुदाहरणाधिकं नाम जल्पे निग्रहस्थानमस्ति,
तदपि ग्रन्थाधिक्येनावरुध्यत इत्यर्थः ।

आरम्भविषये अनाम्भ इत्यादि भाष्यं, तस्या-
चष्टे । स्वपरार्थोत्तराऽसंबित्तिरिति । द्वेधा स्वल्पा-
रम्भविषयेऽनारम्भो भवति । दृश्यं वा परोक्तं साधनं
प्रतिषेधहेतुं वा न प्रतिपद्यते । सेयं स्वपरार्थोत्तराऽसंप्रतिप-

१९-२० सू० ४ प्र०] जातिनिग्रहस्थानलक्षणम् । ३५५

तिः उत्तरग्रहणं साधनमप्युपलक्षयति, स्वार्थोत्तराऽप्रतिपत्ति-
स्तु साधनप्रतिषेधहेतु परकीयौ प्रतिपद्य तत् प्रतिषेद्धुं स्वकीय-
मुत्तरं न प्रतिपद्यते इत्यर्थः । चोदयति, स्वयं प्रयुक्ते वस्तुतः
समर्थे साधने कथम् अप्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिर्वेति द्रष्टव्यम् । प-
रिहरति । तदाऽपीति । समर्थसाधनज्ञानं साधनप्रतिपत्तिर्न
साधनमात्रज्ञानमित्यर्थः ॥ १९ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं भाष्यकार आह । किं पुनरिति ।
यद्यपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां दृष्टान्तस्यापि भेदस्तथाऽपि लक्षणा-
भेदाभिप्रायेणाभेद उक्तः ।

तद्वि-त्वम् (सू. २०) ॥ नानाकल्प इति स्वरूपतः ।
विविध इति प्रकारतः । यथालक्षणमिति यथास्वरूपमित्यर्थः ।
अध्यायार्थं संक्षिप्याह वार्त्तिककारः । तन्त्रप्रतिज्ञेति ।
तन्त्रस्य शास्त्रस्य प्रतिज्ञा प्रमाणादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधि-
गम इति सूत्रं, शास्त्रमेव हि तत्त्वज्ञानमिति । संसारो दुःखज-
न्मप्रवृत्तिदोषमिध्याज्ञानानामिति । तन्निवृत्तिश्च संविदा उत्त-
रोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति । तस्माद्यः प्रमाणा-
दिसूत्रेणोद्देशः तत्परिकरो द्वितीयं सूत्रं, द्वाभ्यामुद्देशः, शेषं
सुबोधमिति ॥

इति मिश्रश्रीदाचस्पतिविरचितायां न्यायवार्त्तिकता-
त्पर्यटीकायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाहिकम् ।

समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ॥

१ अ० १ आ० ४१ सूत्राणि । २ आ० ३० सूत्राणि
मिलित्वा ६१ सूत्राणि १ आ० प्रकरणानि । २ आ० ४ प्रक-
रणानि मिलित्वा ११ प्रकरणानि ।

हरिदाससंस्कृतग्रन्थमालासमारुह-
काशीसंस्कृतसीरिजपुस्तकमालायाः

२४

न्यायविभागे (३) तृतीयपुष्पम् ।

षड्दर्शनटीकाकृद्वाचस्पतिमिश्रविरचित-

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाः

द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमाध्यायाः-द्वितीयो भागः ।

काशीस्थश्रीवल्लभरामशालिग्रामसाङ्गवेदविद्यालयाध्यापकेन
न्यायाचार्यपं० श्रीराजेश्वरशास्त्रिद्राविडेन संशोधितः ।

काश्यां—

चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमालाप्रकाशक-श्रीयुतहरिदासगुप्तात्मज-
श्रेष्ठिजयकृष्णदासगुप्तमहाशयेन स्वकीये 'विद्याविलास'
नाम्नि यन्त्रालये मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

१९८३

—प्रकाशनालय—
:आलोकनसंस्कृतपुस्तकालय: १०१

४९

। प्रकाशनालय (१) आलोकनसंस्कृतपुस्तकालय

—प्रकाशनालय—

हमारे यहां हर तरह की छपाई तथा जिल्दसाजी का कार्य भी होता है।
हर तरह के संस्कृत ग्रन्थ तथा भाषाभाष्य पुस्तकों के मिलने का पता—

जयकृष्णदास—हरिदास गुप्तः,

चौखम्बासंस्कृतसरीज आफिस,

विद्याविलास प्रेस, गोपालमन्दिर लेन,

बनारस सिटी ।

। प्रकाशनालय—

—प्रकाशनालय—

—प्रकाशनालय—

‘आलोकनसंस्कृतपुस्तकालय’

। प्रकाशनालय—

५२९९

KASHI-SANSKRIT-SERIES
(HARIDAS SANSKRIT GRANTHAMALA)

24

Nyāya Section No. 3

NYĀYAVĀRTIK-TĀTPARYA TĪKA

BY

ŚRĪ VĀCHASPATI MIŚRA.

Vol. II Containing 2nd, 3rd, 4th & 5th Adhyayas.

EDITED BY

Nyāyāchārya

Pandit Śrī Rājeswar Śastri Dravid.

Professor,

SRI VALLABHRAM SALIGRAM SANGA-
VEDA VIDYALAYA, BENARES.

Printed-Published and sold by
JAI KRISHNA DAS-HARI DAS GUPTA,
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE,
Vidya Vilas Press,
North of Gopal Mandir, Benares City.

1926.

KASHI-SANSKRIT-SERIES
(HARIDAS SANSKRIT GRANTHAMALA)

24

Nyaya Section No. 3

NYĀYAVĀRTIK-TĀTPARYA TĪKA

BY

ŚRĪ VĀCHASPATHI MĪRĀ.

Agents:

- 1 Luzac & co, Booksellers,
LONDON.
- 2 Otto Harrassowitz, Leipzig:
GERMANY.
- 3 The Oriental Book-supplying Agency,
POONA.

VEDA VIDYALAYA, BENARES.

Printed-Published and sold by

ŚRĪ KRISHNA DAS-HARI DAS GUPTA.

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE.

Vidyā Vilās Press,

North of Gopal Mandir, Benares City.

1926.

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां
द्वितीयोऽध्यायः ।

००

अत ऊर्ध्वं प्रमाणादिपरीक्षेत्यादिभाष्यनिराकरणी-
यामाशङ्कामाह वार्तिककारः. त्रिविधा चास्येति । (१८ १ ।
४) स्थानवतां क्रमवतां परीक्षावचनमिति प्रमाणमेव परी-
क्ष्यत इति युक्तमिति । किमत्रादौ प्रमाणं न परीक्षितं, किं तु
संशय एव परीक्ष्यत इत्याह । तानि विलङ्घ्येति । सोऽयं
क्रमभेदः कुत इति भाष्यार्थमाह । परीक्षाङ्गत्वादिति । उद्दे-
शक्रमानुरोधेन हि प्रमाणं पूर्वं लक्षितं, न तु लक्षणे संशयस्या-
स्ति कश्चिदुपयोगः । परीक्षा तु सर्वा विमर्शकरणिकेति परीक्षा-
पर्वणि सर्वथाऽऽर्थक्रमेण संशयस्य पूर्वभावः । यथाऽग्निहोत्रं
जुहोति यवागूं पचतीत्यत्राग्निहोत्रात्प्राग्भावो यवागूपाकस्य,
तस्याग्निहोत्रसाधनत्वात् । संशयलक्षणं चात्र परीक्ष्यते न संशय
इति नानवस्थाऽपि । देशयति । ननु चोक्तमिति । शास्त्रगता
त्वियं परीक्षा, सा च न विमर्शपूर्वेत्यार्थक्रमाभावान्नोद्देशक्रमो
बाधनीय इत्यर्थः । परिहरति सत्यं न निर्णये नियम इति ।
न निर्णयः सर्वः संशयपूर्वः, विचारः सर्व एव संशयपूर्वः,
शास्त्रवादयोश्चास्ति विचार इति तेनापि संशयपूर्वेण भवितव्यम् ।
शिष्टयोश्च वादिप्रतिवादिनोः शास्त्रे विमर्शाभावो न शिष्यमाण-
योः, तस्मादस्ति शास्त्रेऽपि विमर्शपूर्वो विचार इति सिद्धम् ।
संज्ञीतिरिति संशयस्य निरुक्तम् । (१८ २ । २) नावध्या-
रयतीत्यर्थः । ननु यथा लक्षणार्थः पूर्वनिरूपितस्तथा निर्वाजः

पूर्वपक्ष इत्यत आह । तस्य यथाश्रुतीति । परीक्षासाध्यो ह्यर्थस्तत्र व्याख्यानानेन लक्षणपदेभ्यः साक्षादेव गम्यत इत्यर्थः । समानमनयोरिति साक्षात्कारं दर्शयति । न हि साक्षात् स्थाणुपुरुषावुपलभमानः समानं चानयोर्यमं कश्चित्सन्दिग्ध इत्यर्थः । व्यवच्छेदात्मकत्वादिति । न निश्चयोऽनिश्चयस्य जनकः, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्येत्यर्थः । न समानधर्मोऽप्यवसायादेवेति संशयलक्षणोक्तकारणमात्रोपलक्षणपरम् । एकवृत्तित्वाच्चेति । न हि यावेवारोहपरिणाहौ स्थाणोस्तावेव पुरुषस्येत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेरिति न स्वरूपविरोधादिप्रतिपत्तिरस्तीत्यर्थः । ॥ ३ ॥ ४ ॥

तथाऽत्यन्तसंशय इति तत्पदान्तरेण समानधर्मोपपत्त्यादेर्विशेषणमपश्यतः पूर्वपक्षः ॥ ५ ॥

सिद्धान्तमाह अस्योत्तरमिति । (१८३।१३) यथो-वा (सू. ६) ॥ यदि निर्विशेषणं समानधर्मोपपत्त्यादि संशयकारणमुच्येत ततः पश्चादकरणात्पूर्वमपि न कुर्यादित्यसंशयः पूर्वं वा करणात्पश्चादपि कुर्यादित्यत्यन्तसंशयः, न त्वसौ निर्विशेषणः संशयकारणमिति नासंशयो नात्यन्तसंशय इत्यर्थः । एतेनेति समानपदप्रयोगेन । सदृशार्थो हि समानशब्द इति पूर्वं व्याख्यातम् । यदप्येतत् सारूप्याभावाद (१८४।७) व्यवसायसंशययोः कार्यकारणयोरिति । विशेषानवधारणमुभयोः समानमित्यर्थः । भाष्यकारेण तु यत्सारूप्यमुक्तं तत्तथा न बोद्धव्यम् । यदि हि कार्यकारणयोरुत्पत्तिः सारूप्यं तदतिव्यापकं चाव्यापकं च । नित्यानामपि कारणत्वात् । तस्मात्सारूप्यशब्दो न सारूप्यस्य निर्देशः । अपि तु

कार्यकारणधर्मान्वयव्यतिरेकपर इत्याह । कारणसङ्गावादि-
ति । अनवधारणेनैव तत्त्वानुपलब्धेरिति प्रत्युक्तम् ।
सत्प्रतिपक्षयोरपि मिलितयोरन्यत्रादर्शनेनासाधारणत्वान्तर्भा-
वात्, एकैकविवक्षया तु हेत्वाभासान्तरत्वमिति भावः । न
चाव्यवस्थातः संशय इति । (१८५ । १) नासौ पृथकार-
णमपि तु समानधर्मोपपत्त्यादिपरिकरतयेत्यर्थः । यत्पुनरेतद्वि-
प्रतिपत्ताविति । विषयापेक्षया विप्रतिपत्तिः स्वरूपापेक्षया
सम्प्रतिपत्तिरिति । एवमव्यवस्थायामपि द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

कोऽस्य सूत्रस्येति तात्पर्यप्रश्नः । उत्तरं स्वयमिति ।
संशयपूर्वकत्वात्सर्वपरीक्षाणां परिचिक्षिप्तमात्रेण संशयाक्षेपहेतु-
भिर्न प्रतिषेद्धव्योऽपि तु परैरेवमाक्षिप्तः संशय उक्तैः समाधान-
हृत्भिः समाधेयः । यथोहित्वेति भाष्ये यदप्युक्तमित्यर्थः ।
शास्त्रकथायां वादलक्षणायामित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ प्रमाणपरीक्षेत्यादिभाष्यम् । आर्थेन हि क्रमेण
संशयपरीक्षायामुक्तेनोद्देशक्रमो बाधितः, प्रमाणादिषु तु तद्वाध-
कारणाभावाद् उद्देशक्रमानुरोधेन प्रमेयादिभ्यः प्राक् प्रमाणा-
न्येव परीक्षितानि, तत्रापि प्रथमं प्रमाणसामान्यलक्षणपरीक्षा,
तत्पूर्वकत्वाद्विशेषलक्षणानाम् । तत्र सामान्यलक्षणमुपलब्धिसा-
धनं प्रमाणमिति, तच्चोपलब्धिसाधनत्वं प्रत्यक्षादीनामेवेति प्रत्य-
क्षादीनामित्युक्तम् ।

तदेतदाह वार्तिककारः । अथेदानीमिति । (१८६ ।
१) परीक्षणीयं पृच्छति । किं पुनरेषामिति । सर्वैरेव
वादिभिः स्वसिद्धान्तव्यवस्थापनाय प्रमाणान्यभ्युपगन्तव्या-
नि, तदभावे तद्व्यवस्थानुपपत्तेः । यस्य तु स्वपक्ष एव
नास्ति, नासौ लौकिको न परीक्षक इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीयः ।

तस्मात्सर्वप्राणभृत्सिद्धेर्न प्रमाणसामान्यं परीक्षणीयमिति भावः ।
 उत्तरम्, आदौ तावत्संभव इति । न परीक्षा संशयमन्तरे-
 णेति संशयबीजमाह । सदस्तोरिति । पूर्वपक्षमाह । व्युदस्य
 संशयमिति । अयमत्र पूर्वपक्षिणो माध्यमिकस्याभिसन्धिः ।
 यद्यपि मम विश्वविचारसहत्ववादिनः प्रमाणं नाम न किञ्चि-
 दास्ति विचारसहं, तथाऽपि लोकसिद्धान्येव प्रमाणानि तैरेव
 प्रमाणैः पर्यालोच्यमानानि विचारं न सहन्ते, सोऽयं प्रमाणा-
 नामपराधो यानि स्वविरोधेन विलीयन्ते न । ममापराध इति ।
 ज्ञानं हि प्रमाणं तद्योगात्प्रमेयमिति चार्थ इति च भवति । त-
 द्यदि प्रमाणं पूर्वं प्रमेयादर्थादुत्पद्यते ततः प्रमाणात्पूर्वं नासावर्थ
 इति इन्द्रियार्थेत्यादिसूत्रव्याघातः ॥ ८ ॥ ९ ॥

अथ पूर्वं प्रमेयं पश्चात्प्रमाणं तत्राह । पश्चादिति ।
 यद्यपि स्वरूपं न प्रमाणाधीनं, तथापि तस्य प्रमेयत्वं तदधीनं,
 तदपि चैत्प्रमाणात्पूर्वं न प्रमाणयोगनिबन्धनं स्यादित्यर्थः ।
 तदिदमुक्तं प्रमेयसंज्ञेति ॥ १० ॥

यौगपद्ये दृष्टव्याघातः, सूत्रव्याघातश्च । प्रयोगस्तु-
 प्रत्यक्षादयो न प्रमाणत्वेन व्यवहर्त्तव्याः कालत्रयेऽप्यर्थाप्रतिपा-
 दकत्वात् । यदेवं न तत्प्रमाणत्वेन व्यवहियते, यथा शशवि-
 षाणं, तथा चैतत्तस्मात्तथेति ।

एवं पूर्वपक्षिते सिद्धान्तमाह । अत्र समाधिरिति ।
 उपलब्धिहेतोरित्यादिभाष्यस्य कालत्रयेऽप्यर्थाप्रतिपादकत्वा-
 दिति हेतोरसिद्धतोद्भावनमर्थः ।

स्वयं वार्त्तिककारोऽस्यानुमानस्य दूषणमाह । प्रत्यक्षादी-
 नामप्रामाण्यमिति चेति । (१८७) लब्धात्मकं खल्वनुमानं
 प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानामप्रामाण्यमापादयेत्, न त्वलब्धात्मकं,

तस्य तु प्रतिज्ञाविरोधेनात्मलाभ एव नास्तीति कथं तेषामप्रामाण्यमापादयितुमर्हतीति भावः । यदि प्रमाणानि नार्थं साधयन्ति, प्रत्यक्षादीनीत्येव न स्यात् । न खलु तानि प्रमाणतोऽसिद्धानि प्रत्यक्षादीनीत्येव भवन्तीत्यर्थः । न चैतेषामर्थसाधनत्वं सामान्यविशेषाभिधायिप्रत्यक्षादिपदगोचरताऽपीत्याह । कथं चान्यथेति । अपि च प्रामाण्यनिषेधे न प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनामसत्त्वम् । न ह्यकमण्डलुर्माणवक इत्यनेन माणवकः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि ? तस्य कमण्डलुयोगो धर्मः, ततश्च प्रमाणानामसत्त्वं पूर्वपक्षिणोऽभिमतं न स्यादित्याह । धर्मप्रतिषेधाच्चेति । शङ्कते । अथ भावस्यास्वतन्त्रत्वादिति । निराकरोति । एकमपीति । प्रतिषिध्यमान (१८८।३) इति मात्रे वक्तव्ये विधीयमान इति दृष्टान्तार्थम् । एतेन तद्धितार्थ इति । प्रामाण्यपदार्थ इत्यर्थः । यथाश्रुतश्च हेतुर्व्यधिकरण इत्याह । यश्चायं हेतुरिति ।

यत्पुनरित्यादि भाष्यं व्याचष्टे । यत्पुनरेतत्प्रमाणेनेति । संभवः प्रत्यक्षादीनां निवर्त्यत इति । प्रत्यक्षादीनामभावे कारकहेतुवचनमित्यर्थः । असम्भवं प्रत्यक्षादीनां सिद्धमेव ज्ञापयतीत्याह । अथासम्भवो ज्ञाप्यते । न ह्यसतो निवृत्तिरिति (१८९।३) नासन्न घटो मुद्गरप्रहारेण निवर्त्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

देशयति । त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिरित्येवमभिधानेनेति । परिहरति । नैष दोष इति । त्वद्वचनं त्वदभ्युपगमविरुद्धमस्माकं तु नैतद्वचनं नाभ्युपगमविरुद्धमित्यर्थः । न च धर्मिणां प्रतिषेधे कश्चिन्न्याय इति । (१९०।१) नानुमानं धर्मिप्रतिषेधे प्रभवति, आश्रयासिद्धत्वाद्धेतोरित्यर्थः ।

अपि च प्रमाणमात्रमपिश्लेषतः प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यमिति प्र-
 सक्षादीनां प्रामाण्यमिति च वाक्ययोरर्थभेदाभेदौ विचारं न
 सहेते इत्याह । प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यमिति । एवमेव
 वक्तव्यमिति । नञोरप्रयोगेण लाघवात् । सो ऽसाधर्म्ये वेति
 ति । यदा सत्येव घटे तस्यासामर्थ्यं विवक्षित्वोच्यते नास्ति
 घट इति नोदकाहरणसमर्थ इति तदा गम्यते । तन्त्रान्तरा-
 भ्युपगतानां प्रतिषेध इति । तन्त्रान्तरे यादृशं प्रमाणमभ्यु-
 पेयते तादृशस्याभ्युपगमो भवति । यथा प्रधानं नास्तीति जग-
 त्कारणस्य सुखदुःखमोहात्मकत्वं प्रधानत्वं तत्प्रतिषिध्यते, न
 पुनर्जगत्कारणं, तस्यान्यादृशस्याभ्युपगमादिति । कथमिति
 प्रमाणाक्षेपः । कस्येति प्रतिपाद्याक्षेपः । कश्चेति प्रतिपादका-
 क्षेपः । प्रतिपाद्याक्षेपं विभजते । अप्रतिपन्न इति । प्रतिपाद-
 काक्षेपं विभजते । प्रतिपन्नश्चेति । क (१९१ । १) प्रति-
 पाद्ये । किं प्रतिपाद्यत इति । यद्युपादीयते उदाहरणं तत्प्र-
 माणेनानवधारितं न शक्यमुपादातुमिति भावः ॥ १२ ॥

न केवलमशक्यं व्यर्थं चेत्याह । प्रत्यक्षादीनां चेति ।
 सर्वैः प्रमाणैरिति । उदाहरणादिविषयैः प्रमाणैर्विप्रतिषि-
 द्धो विरुद्धो भवति, बाधितविषयतया प्रमाणाभासो भवती-
 त्यर्थः । विरुद्धं चेत्याह । सिद्धान्तमभ्युपेत्येति । प्रमाणा-
 नामित्यवयवाभिप्रायम् । अवर्जयन्निति वर्जनविरुद्धमुपादा-
 नमुच्यते, उपाददान इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तत्प्रामाण्येवेति । अस्यार्थः । यदि माध्यमिको ब्रूयात्
 प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेरिति स्वाक्यावयवा-
 श्रितानि प्रमाणानि यथालोकप्रतीतिसिद्धानि, तैरविचा-
 रितसिद्धैरितरेषां प्रामाण्यं प्रतिषिध्यत इति । तत्रेदमुच्य-

ते । तत्प्रामाण्ये वा अवयवाश्रितप्रत्यक्षादिप्रामाण्ये न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधोऽवयवाश्रितानामेव प्रामाण्याभ्युपगमात् । किं पुनरिदमविचारितसिद्धत्वं, किं विचारासहत्वम्, आहो सर्वजनसिद्धतया सन्देहानास्पदत्वम् । तत्र पूर्वस्मिन्कल्पे विचारासहत्वेन स्वयं हुस्थितेनान्येषां प्रामाण्यं बाध्यत इति सुभाषितम् । तस्मादुत्तरः कल्पः, तथा च न सर्वप्रामाण्यं तस्यैव प्रामाण्यात् ।

अत्र भाष्यं, वीत्ययमुपसर्गः सम्प्रतिपत्त्यर्थे प्रतिषेधशब्दार्थमनुजानाति विशेषमभिदधातु न तु तद्व्यतिरिक्तार्थो न व्याघातवचन इत्यर्थः । तदिदमुक्तं न व्याघाते । कस्मादर्थभावात् । स्ववाक्यावयवाश्रितानां हि प्रमाणानां प्रामाण्ये सर्वप्रमाणप्रतिषेधव्याघातः पूर्वमुक्तस्तत्प्रतिषेधः पूर्वेण विरुध्यते । अशक्यश्चेति अर्थाभाव इत्यर्थः । तदेतद्वार्त्तिककारो व्याचष्टे । वीत्ययमुपसर्गोविशेषप्रतिषेधे । (१९२ । १) यावदुक्तं भवति विशेषेण सर्वेषु प्रमाणेषु प्रतिषेध इति, तावदुक्तं भवति विप्रतिषेध इति, प्रतिषेधशब्दार्थाभ्यनुज्ञानत्वाद्विशब्दस्य । तेन न सर्वप्रमाणाविप्रतिषेध इत्यनेन विपदसहितेन किमुक्तं भवति । इदमुक्तं भवति कानिचिदिति । अवयवाश्रितानि प्रमाणानि विचार्य समुदायं विचारयति । यच्चेति ॥ १४ ॥

तदिदं सूत्रकारेण त्रैकाल्यासिद्धेरित्यनुयोगस्यप्रतिषेधेऽपि साम्यादप्रमाणविरोधश्चापादितः, सम्प्रत्यसिद्धतोद्भावनपरं सूत्रं पठति ।

त्रैका-ङ्गेः [सू. १५] । तत्पाठमाक्षिपति । किमर्थमिति । स्वातन्त्र्येण चेदस्य सूत्रस्यार्थः पूर्वमुक्तः, कृतं सूत्रपाठे-

नेत्यर्थः । परिहरति । पूर्वोक्तेति । न तदस्माभिरुक्तसूत्रमुक्तमपि तु सूत्रार्थ एवेति ज्ञापनार्थं सूत्रपाठोऽस्माकमित्यर्थः । नियमेन यः प्रतिषेधः पूर्वमेव वा पश्चादेव वा सहैव वेति तं प्रतिषेधति । अनियमेति । खलुशब्दोऽयं यस्मादर्थे । यस्मादानियमदर्शाक्राधिः ।

वार्तिकं तदुत्थानज्ञापनार्थः सूत्रपाठ इति दर्शयति । पाठक्रममतिलङ्घ्य कस्मात्तत्रैवेदमिति । अत्रैव तद्भाष्यं कस्मान्नोक्तमिति च द्रष्टव्यम् । परिहरति । अविशेषादिति । अथ शब्दः श्रोत्रविवरे समवेतः कथमातोद्यमसंबद्धं गमयतीत्यत आह । योऽसौ वीणावेणुशब्दयोरिति । अयं शब्दो धर्मी वीणाङ्गुलिसंयोगजशब्दपूर्व इति साध्यो धर्मः, तन्निमित्तासाधारणधर्मवत्त्वात्, पूर्वोपलब्धवीणानिमित्तध्वनिवदिति । तदिदमुक्तं वीणानिमित्तकत्वमिति । धूमदर्शनादिति । संयोगिना हि वह्निना विशिष्टो धूमोऽनुमीयते न कारणेन, अस्तीति वर्त्तमानावभासानुपपत्तेरिति ॥ १५ ॥

यत्पुनराक्षिप्यते यदनियतं न तत्परमार्थसत्-यथा रज्ज्वामारोपितं सर्पत्वं, तामेव हि रज्जुं तदैव कश्चित्सर्प इति कल्पयति कश्चिद्वारेति । स एव कदाचित्सर्प इति कल्पयित्वा पश्चाद्वारेति कल्पयति, तथा च प्रमाणप्रमेयभावस्तस्मान्न परमार्थसन्निति । अत्रेदमुत्तरसूत्रम् ।

प्रमेया च तुला प्रामाण्यवदिति (सू. १६) । तद्योजनिकां करोति । प्रमाणं प्रमेयमिति चेयमिति । अयमभिमन्धिः । क्षणभङ्गपरिणामनिरासे सति स्वकारणादुत्पन्नं स्थिरं वस्तु तत्तद्वस्त्वन्तरसन्निधानात्तत्तद्धर्मयोगे सति तत्तद्बु-

द्विव्यपदेशमनुभवति । समावेशं दर्शयितुं पृच्छति । यदा पुनरिति । (१९३ । ३) उत्तरम्, तदा निमित्तेति । अस्थ चार्थस्य ज्ञापनार्थं सूत्रं प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवदिति । न केवलं प्रमाणं समाहारगुरुत्वे तुला, यदा पुनरस्यासन्देहो भवति प्रामाण्यं प्रति तदा सिद्धप्रमाणभावेन तुलान्तरेण यत्परीक्षितं सुवर्णादि तेन प्रमेया च तुला, प्रामाण्यवत् । यथा प्रामाण्ये तुला प्रमेया च तथाऽन्यदपि सर्वं प्रमाणं प्रामाण्ये प्रमेयमित्यर्थः ।

तदेतद्भाष्यकृदाह, एवमनवयवेन कात्स्न्येन । तन्त्रार्थः शास्त्रार्थ इति । कचित्प्रमातृत्वप्रमेयत्वप्रमाणत्वादीनां समावेशो यथाऽऽत्मनि । स हि प्रमाता प्रमीयमाणश्च प्रमेयं, तेन तु प्रमितेन तद्वतगुणान्तरानुमाने प्रमाणम् । कचित्पुनः प्रमाणत्वप्रमेयत्वफलत्वानां समावेशो यथा बुद्धौ, कचित्पुनः प्रमाणत्वप्रमेयत्वयोः, — यथा संशयादौ । सेयं समावेशस्य तन्त्रार्थव्याप्तिरिति । तथा च कारकशब्दा इति ।

अत्र पुरयित्वा व्याचष्टे वार्तिककारः यथा च प्रमाणेति । यावन्ति यत्र निमित्तानि तावतां तत्र नैमित्तिकानां प्रवृत्तेरवश्यंभावो नियमः ।

व्यस्थितौ वृक्षः स्वातन्त्र्यात्कर्तेति भाष्यम् । तत्र स्वातन्त्र्यं पृच्छति वार्तिककारः, किं पुनः स्वातन्त्र्यमिति । इतरकारकाप्रयोज्यत्वं, (सः प्रयोजकोऽयं न कारकान्तराणां) प्रयोजकत्वं च कारकान्तराणां कर्तुः स्वातन्त्र्यमुक्तम् । इह तु कारकान्तराणामभावात्तादृशं स्वातन्त्र्यं नास्तीति भावः । उत्तरं कारकान्तरानपेक्षत्वं, कारकान्तरापेक्षस्य हि प्रयोजकतया कथञ्चित्स्वातन्त्र्यं

विवक्ष्यते तदनपेक्षस्य नितरां स्वातन्त्र्यमित्यर्थः । यदाऽयं
 स्थितिशब्दो गतिप्रतिषेधवचन इति । यावदुक्तं भवति
 न गच्छतीति, तावदुक्तं भवति तिष्ठतीति । अत्र च निषेधस्य
 निषेध्याधीनानिरूपणतया तदुपाधिः पूर्वापरीभावो न तु स्वरूपेण
 निषेधस्य पूर्वापरीभावसम्भव इति । यदाऽप्यस्तेरभिधायक
 इति । सत्तासामान्याभिधायक इत्यर्थः । अस्ति व्यनक्तीति ।
 वृक्षस्य हि महत्त्वे सति रूपवत्त्वे सति सत्तासमवाय एव सत्ता-
 व्यञ्जकत्वम्, तत्र चानपेक्ष इत्यर्थः । गेहसम्बन्धानुभवो
 (१९४ । २) गेहसम्बन्धप्राप्तिः समवायः । तद्विषया क्रिया
 गतिविधारकः प्रयत्नस्तेन हि स तिष्ठति । घटो गृहेस्तीति
 त्वौपचारिकः प्रयोगः । यदाऽप्ययमभिव्यञ्चन इति । अत्रापि
 निषेधस्य पूर्वापरीभावोपाधिरेव निषेधस्य तथाभावः । अथ
 वा तिष्ठतीत्यत्रापि कया चिद्विवक्षया कारकान्तरापेक्षाऽस्तु,
 तथाऽपि तत्प्रयोजकत्वेनैव स्वातन्त्र्यमित्याह । समुदायेति ।
 अवयवानां समूहः समुदायस्तदेकदेशोऽवयव इति । ध्रियत
 इति कर्त्तरि लकारः । प्रत्यभिज्ञानविषयता वा स्थितिः । तस्यां
 सत्यामपि कारकान्तरापेक्षायां प्रयोजकतया स्वातन्त्र्यमित्याह ।
 पूर्वापरेति । अनेके पर्यायवन्तः प्रत्ययाः प्रागनु तत्ताश्रयस्य
 धर्मिणः पुनरनुभवः । अथ स्मृतिरथ प्रतिसन्धानमिति । वैना-
 शिको देशयति । चक्रेति । यदेव दण्डसंयोगेन चक्रभ्रमणं तदे-
 वेदमुपरतेऽपि दण्डसंयोगे इत्यर्थः । परिहरति न प्रमाणेति । ना-
 सति बलवति बाधके प्रमाणे प्रत्यभिज्ञानस्य शक्यं मिथ्यात्वं, उवा-
 लादिषु तु तदस्तीत्यर्थः । न च समस्तप्रतिसन्धानप्रत्ययमिथ्या-
 त्वे मिथ्याप्रतिसन्धानप्रत्ययो भवितुमर्हति बीजा(भाषा)दित्याह ।
 मिथ्याप्रत्ययाश्चेति । वैनाशिकः पृच्छति । अथ भवत इति ।

एवं ब्रुवाणः प्रत्यक्षमप्रमाणयन्न शक्यस्तेन बोधयितुमित्यनुमानं प्रमाणमाह । उक्तं प्रमाणमात्मलक्षणे । रूपेति । (१९५।१) अनुमानान्तरमाह । कार्यस्येति । कार्यकालानुभवनं कार्यकालप्राप्तिः । वैनाशिकः शङ्कते । अनाधारमिति । प्रतीत्य पूर्वभावं विकृत्येत्यर्थः । दूषयति । तच्चेति । बोधयस्याधारसमानकालत्वमनुभवसिद्धं तेनाधारेण कारणेन कार्यकालं स्यादव्ययम् । अनाधारत्वं तु कार्यस्य नानुभवगोचरः, अपि तु युक्त्या साध्यं, सा च दृष्टान्ताभावादनुपपन्ना । न च विप्रतिपत्तिमात्रादनुभवः शक्योऽपवादितुं, क्षणभङ्गसाधनानि च निराकरिष्यन्ते । यदि हि रूपादीनामाधारवत्त्वं निषिध्यते ततोऽस्याभ्युपगमविरोधो भवति, भूतानि पृथिव्यादीनि भौतिका रूपादय इति । अभ्युपगमान्तरविरोधमाह । यच्चोक्तं भवद्भिरिति । न केवलं रूपादीनामाश्रितत्वं भवद्भिरभ्युपगतमुपपन्नं चेत्याह । अनाश्रितत्वाच्चेति । पृच्छति । कर्मणि कः कारकार्थः । (१९६ । ३) कारकशब्दार्थः । क्रियानिमित्तं हि कारकं यत्पुनः क्रियाया एव व्याप्यं न तत्क्रियानिमित्तमिति न कारकम् । अकारकं च कथं कर्म । कारकाधिकारित्वात् कर्मसंज्ञाया इति भावः । उत्तरं क्रियाविषयत्वमिति । अनात्मसमवेतक्रियाफलशालित्वं क्रियाविषयत्वं कर्मत्वं, देवदत्तसमवेतया हि क्रिया दर्शनलक्षणया वृक्षविषयोऽनुभवो जन्यते, इदमेव चानुभवस्यार्थविषयत्वं यदर्थाधीननिरूपणत्वमित्युक्तं प्रमाणलक्षण इति । तेन क्रियाविषयस्य क्रियातः प्राग्भावाद्युक्तं कारकत्वम् । एवं च विकार्यप्राप्ययोरुपपन्नः कर्मभावः निर्वर्त्यस्य तु पटादेर्यद्यपि क्रियायाः प्राग्भावो नास्ति, तथाऽपि तदवयवानां तन्तून प्राग्भावस्तेषां तादर्थ्येन पटत्वे उपचारात्पटं करोतीति युक्तः

प्रयोगः । तथा हि सहचरणादिसूत्रे वक्ष्यति कटार्थेषु वीरणेष्विति । एतेन कर्मलक्षणेनाहिं लङ्घयति, ग्रामं गच्छन् वृक्षमुलान्युपसर्पतीत्यादयोऽपि सङ्गृहीता वेदितव्याः । नगरं गच्छति चैत्र इत्यत्र यथा प्राप्तिर्नगरसमवेता, एवं चैत्रसमवेताऽपीति चैत्रस्यापि क्रियाजनितफलशालिनो मा भूत्कर्मत्वमित्यत उक्तमनात्ममवेतेति । आत्मविषयेऽपि च मानसप्रत्यक्षे यद्यप्यात्मनो न कर्मता, तथाऽपि ज्ञानक्रिया सकर्मिकैवात्मधर्मस्यात्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचित्कर्मणोऽवभासनादिति सर्वमवदातम् । वृक्षः सम्प्रदानं भवतीति । पाणिनीयलक्षणानुरोधेन लौकिकप्रयोगानुरोधाच्च सम्प्रदानमिति नैयमन्वर्थसंज्ञेति भावः । गुरुत्वप्रतिबन्धे कारणमिति प्रकृतोदाहरणाभिप्रायम् । तथा च गुणादीनामप्याधेयत्वाधिगतेर्द्रव्यादिभिराधेयभावः सिद्धो भवति । तेन न द्रव्यस्वभावः कारकमिति यदुक्तं माध्यमिकेन तदस्माकमभिमतमेव, काल्पनिकं तु कारकं न मृष्यामह इत्यनेनाभिसन्धिना भाष्यकारेणोक्तम् ।

एवं च सतीति । न क्रियामात्रमिति (१) । नावान्तरक्रियामात्रम् । यत्प्रधानक्रियासाधनमवान्तरक्रियाविशेषयुक्तमिति ।

तदेतदनुभाष्य वार्तिककारो व्याचष्टे । एवं च सतीति । तदनेन कारकसामान्यमुक्तम् ।

विशेषलक्षणपरं भाष्यं यत् क्रियासाधनं स्वतन्त्रमिति, तद्व्याचष्टे यदा तु विशेष इति । (३९७ । २) स्यादेतत् । क्रियासाधनमित्येतावदेवास्तु, क्रियाविशेषयुक्तमिति वा कृतमुभयोपादानेनेत्यत आह । सर्वस्य च कारकस्येति ।

यद्यवान्तरक्रियामात्रमुच्यते ततस्तस्मिन् सर्वस्य कर्तृत्वात्कार-
कवैचित्र्यं न स्यात्, प्रधानक्रियामात्रोपादाने च तत्र सर्वेषा-
मवान्तरव्यापारमन्तरेण वैचित्र्यायोगादत उभयोपादानं प्रयो-
जनवदिति ।

एवं लक्षणत इति भाष्यं व्याचष्टे । एवं च शा-
स्त्रमिति । देशयति । यदीति । परिहरति । न शक्तेरि-
ति । पुनर्देशयति । शक्तेरिति । परिहरति । नैष दोष-
इति । ननु बुद्ध्यादयोऽपि शक्तिव्यक्तिहेतवो न चैते क्रियारू-
पाः, किन्तु गुणरूपा इत्यत उक्तं क्रियेत्यनेनेति । सामर्थ्य-
बलम् । दुर्बलो हि जानन्नप्युपायं न व्यापारयति, यथा पाणिना
कुण्ठः कुठारं, तेन शक्तिक्रियासम्बन्धयोः कारकशब्दो मुख्यः,
शक्तिमात्रे तु गौण इति । प्रकृते योजयति । कारकशब्दश्चा-
यमिति । (१९८ । ५)

सम्प्रति प्रकारान्तरेण प्रमाणान्याक्षिप्य समाधीयन्ते ।
अस्ति भ्राः कारकशब्दानामिति । (१९८ । ७) अत्रैते
कल्पा उपप्लवन्ते । किं प्रत्यक्षादीनामुपलब्धिः ससाधना
निःसाधना वा । यदाऽपि ससाधना तदाऽपि किमेभिरेव
प्रत्यक्षादिभिराहो प्रमाणान्तरेण । यदाऽप्येभिस्तदाऽपि किं
तथैव प्रत्यक्षव्यक्त्या । अथैका व्यक्तिर्व्यक्त्यन्तरेणेति । तत्र
प्रमाणान्तराभ्युपगमे विभागसूत्रव्यावातः, अनवस्थापातश्च ।
तत्र प्रत्यक्षादिभिः प्रत्यक्षाद्यन्तराणां ग्रहणे अनवस्थापातः ।
तथैव व्यक्त्या तु ग्रहणे आत्मनि वृत्तिविरोधः । न हि तथैवा-
सिधारया सैवासिधारा छिद्यते । तस्मादसाधना प्रमाणोपलब्धिः,
एवं चेत् कृतं प्रमेयसाधनैः प्रमाणैः, प्रमाणवदसाधनैवास्तु
प्रमेयोपलब्धिरिति पूर्वः पक्षः । नासाधना प्रमाणसिद्धिर्नापि

प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तप्रमाणाभ्युपगमो येन विभागसूत्रव्याघातः
स्यात् । नापि च तथैव व्यक्त्या तस्या एव ग्रहणमुपेयते,
येनात्मनि वृत्तिविरोधा भवेत् । अपि तु प्रत्यक्षादिजातीयेन
प्रत्यक्षादिजातीयस्य ग्रहणमातिष्ठामहे । न चानवस्था अस्ति
किं चित्प्रमाणं यस्त्वज्ञानेनान्यधीहेतुः, यथा धूमादिः । कि-
ञ्चित्पुनरज्ञातमेव बुद्धिमाधनं यथा चक्षुरादि, तत्र पूर्वं स्वज्ञाने
चक्षुराद्यपेक्षं चक्षुरादितु ज्ञानानपेक्षमेव ज्ञानसाधनमितिकाऽनव-
स्था, बुभुत्सपा च तदपि शक्यज्ञानं साच कदाचिदेवकचिदिति
नानवस्था । न च मामाण्यं प्रमाणानामप्रतीतं न प्रवृत्त्यङ्गमिति
तदर्थं प्रमाणान्तरपेक्षायामनवस्थेतिवाच्यम् । दृष्टार्थे संशयादपि
प्रवृत्तौ सत्यां प्रवृत्तिसामर्थ्येन तस्य सुज्ञानत्वात्, अदृष्टार्थेषु
प्रवृत्तिसामर्थ्यावधृतमामाण्यप्रमाणसाधर्म्येण तस्यशक्यज्ञानत्वा-
दिति दर्शितं प्रथमे सूत्रे । तस्मात्प्रत्यक्षादिभिः प्रत्यक्षादीनामुप-
लब्धिर्नचानवस्थेति सिद्धान्तः ।

भाष्यं-भोइक्षामन्त्रणे । कुतः पुनरुपलब्धिहेतुत्वमतआह ।
संवेद्यानिचेति, चोहेतौ । उपलब्धिविषयत्वं कुत इत्यत आह ।
प्रत्यक्षं मे ज्ञानमिति ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

प्रदीपभावाभावयोर्दर्शनस्य तथाभावात् । ज्ञातृ-
मनसोश्च दर्शनादिति (२०० । १) भाष्यं, तद्व्याचष्टे
वार्तिककारः । न चायमेकान्त इति । ज्ञाता ज्ञेय इति सक-
र्माभिप्रायं, न ह्यन्यस्य समवेता ज्ञानक्रिया येनात्मनः कर्मता
स्यात् अपि तु ज्ञातृस्यैव, परसमवेतक्रियाफलशालि हि कर्मेत्युक्तं,
तस्मात्सुखादीनामात्मधर्माणामत्र कर्मता, आत्मनस्तु प्रकाश-
मानता, तत्र विवक्षया ज्ञेयत्वाभिधानं, मनस्तु यद्यपि स्वज्ञानं
प्रति करणं कर्म च, तथाऽपि न स्वात्मान वृत्तिविरोधः । यदि

हि ज्ञातं करणं भवेत्तदाऽऽत्माश्रयदोषप्रसङ्गः । स्वसत्तया च ज्ञानं प्रति करणम्, अन्यच्चास्य ज्ञानमन्या सत्ता, न च तत्समवेता ज्ञानक्रिया, किं त्वात्मसमवेता, तस्माज् ज्ञेयत्वं ज्ञानसाधनत्वं च मनसो न दोषमर्हतीति ।

येतु प्रदीपप्रकाशो यथा न प्रकाशान्तरमपेक्षते, एवं प्रमाणान्तरमनपेक्षमाणान्यपि सन्ति भविष्यन्तीत्याचार्यदेशीया मन्यन्ते, तान् प्रत्याह ।

कचि-न्तः (सू. १९) ॥ यथाऽयं प्रसङ्गः प्रमाणानामनपेक्षत्वप्रसङ्गः, प्रदीपे प्रदीपान्तरानपेक्षया प्रकाशकत्वदर्शनात्प्रमाणान्तरानपेक्षाण्येवालोकवत्प्रमाणानि सेत्स्यन्ति, एवमर्थमुपादीयते प्रसङ्ग, प्रमेयाण्यनपेक्षाण्येव सेत्स्यन्तीत्येवमर्थमप्युपादेयः, तथा च प्रमाणाभाव इत्यर्थः । तदेवं प्रदीपदृष्टान्ताश्रयणेन प्रमाणाभावप्रसङ्गमुक्त्वा स्थाल्यादिदृष्टान्तोपादाने तु प्रमाणस्यापि प्रमाणान्तरापेक्षेत्याह । यथा च स्थाल्यादिरूपग्रहण इति । तदेतद्भाष्यं व्याचष्टे वार्तिककारः, यथा प्रदीपप्रकाशः सजातीयानपेक्षस्तथा प्रमाणानि सजातीयानपेक्षाणि न पुनर्यथा स्थाल्यादिरूपं प्रमाणापेक्षं तथा प्रमाणान्यपि प्रमाणापेक्षणीति । कस्मात्पुनः स्थाल्यादिरूपं प्रमाणापेक्षमित्यत आह । स्थाल्यादिरूपप्रकाशने चेति । २००।१८ प्रदीपप्रकाशस्तत्र प्रमाणमिति लोकसिद्धमित्यर्थः । कस्मादेवं स्थालीरूपवन्न प्रमाणानि, तान्यपि प्रमाणान्तरेण प्रकाश्यन्तामित्यर्थः । तदनेन प्रदीपदृष्टान्तेन निरपेक्षत्वं न तु स्थाल्यादिदृष्टान्तेन सापेक्षत्वमित्यत्र नियमहेतुर्नास्तीत्युक्तं, नियमान्तरहेत्वभावमाह । अयं च प्रदीपप्रकाशदृष्टान्त इति । यथा हि प्रमाणानि प्रदीपदृष्टान्तेन निरपेक्षाणि, एवं तेनैव दृष्टान्तेन कस्मान्न प्रमेयाण्यपि,

ततश्च प्रमाणाभावप्रसङ्गः । न हि प्रमाणानामेव प्रदीपो दृष्टान्तो न प्रमेयाणामिति नियमहेतुरस्ति । तदनेन यथा प्रसङ्ग इति भाष्यं व्याख्यातम् । प्रदीपप्रकाशो दृष्टान्तो भवत्वित्यनेनायमेव दृष्टान्तो नायमिति नियमो निराकृतः, पूर्वेण तु प्रदीपदृष्टान्तेन निरपेक्षत्वमेव न तु स्थालीदृष्टान्तेन सापेक्षत्वमित्ययं नियमो निराकृत इति न पुनरुक्तम् । प्रकाशकत्वादिना तु हेतुना संगृहीतः प्रदीपदृष्टान्तो भवतीति नियमः शक्यो वक्तुम् । केवलं प्रकाशकत्वं सजातीयान्तरानपेक्षत्वे साध्ये विकल्पनीयं, किमत्यन्तसजातीयमाहो सजातीयमात्रं, यद्यत्यन्तसजातीयं ततः सिद्धसाधनं, न हि चक्षुरादि प्रमाणं स्वग्रहणे चक्षुराद्यन्तरमपेक्षते, अथ कथञ्चित्सजातीयं, तदपेक्षत्वमालोकस्याप्यस्ति, तस्यापि चक्षुराद्यपेक्षत्वात्ततश्च साध्यहीनो दृष्टान्तः, विरुद्धश्च हेतुर्विषयज्ञानमपि विषयज्ञानेन न गृह्यते किंतु ज्ञानविषयेण ज्ञानेनेति नात्यन्तसजातीयमिति, तदनेनाभिप्रायेण वार्तिककृतोक्तमनेकान्त इत्ययं दोषो न भवति । (२०१।३) दोषान्तरं तु भवतीत्यर्थः । इतरग्रन्थस्तु सिद्धान्तं दर्शयद्भिरस्माभिरुपपादितार्थ इति न व्याख्यातः । येनानवस्थामुपाददीतेति सोपहासम् ॥ १९ ॥

प्रत्य-त् (सू० २०) ॥ प्रत्यक्षलक्षणं चानेन सूत्रेणोच्यते प्रत्यक्षस्वरूपं वा, न तावत्प्रत्यक्षकारणमित्याह । यदिदं भवता प्रत्यक्षलक्षणमुच्यत इति । प्रत्यक्षकारणमित्यर्थः । कारणे सति कार्यं लक्ष्यते ज्ञानमिति । द्वितीयं कल्पं शङ्कते अथेति । (२०२ । १) सिद्धान्तवाच्याह । नोभयथाऽपीति । लक्षणपक्ष एव सिद्धान्तोऽभिमतः, कारणपक्षाभ्युपगमः प्रौढिवादेन द्रष्टव्यः । सकलप्रत्यक्षव्यापकमसाधारणं कारणमवधा-

र्यते । न हीदृशमन्यत्कारणमात्ममनःसंयोगो वा इन्द्रियमनः-
संयोगो वा प्रत्यक्षस्यास्ति, पूर्वस्य साधारणत्वाद् उत्तरस्य
चाव्यापकत्वादिति । समाधानान्तरमाह, अर्थतो वेत्यादिना
मनःसन्निकर्षोऽपि कारणमित्यन्तेन ॥ २० ॥

तदेवं सिद्धान्तसारमुक्तं नात्ममनसोरित्यादिसूत्रमपठित्वैव
भाष्यकारो व्याचष्टे । न चासंयुक्ते द्रव्य इति । सर्वं हि कार-
णजातं कार्योपजननाय परस्परसमवधानमपेक्षते, अन्यथा यत्र तत्र
स्थितेभ्योऽपि कारणेभ्यः कार्यमुपजायेत । तदात्मनाऽपि मनः-
संबन्धेन कार्यं जनयितव्यं, सम्बन्धश्चात्ममनसोः संयोग एव ।
भवतु वा संयोगजं ज्ञानम्, अर्थेन्द्रियात्मसंयोगजं कस्मान्न
भवति, कृतं मनःसंयोगेनेत्यत आह । मनःसन्निकर्षे इति ।
तस्मादात्ममनःसन्निकर्षोऽपि वक्तव्य इति पूर्वपक्षः । तदिदं
नात्ममनसोः सन्निकर्षेत्यादिसूत्रं पाठस्य पुरस्तात्कृतभा-
ष्यम् । तदेतद्वार्तिककारो भाष्यमनुभाष्य पूर्वपक्षसूत्रं पठति ।

नात्म-त्तिः (सू. २१) ॥ सूत्रार्थमाह । आत्ममन-
सोरिति । पूर्वपक्षस्य क्षणमप्यवस्थानमसहमानो वार्तिककारः
प्रतिषेधमस्योक्तं स्मारयति । नोक्तेति । (२०३ । २) ॥ २१ ॥

तदेवं द्वाभ्यां सूत्राभ्यां पूर्वपक्षिते सति भावमात्रेण इन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षादीनामनेन कारणत्वमुक्तमिति मन्यमानः पार्श्वस्थः प्र-
त्यवतिष्ठते । सति चेन्द्रियार्थेति (१) । न सति भावमात्रेण
कारणत्वमाकाशादीनामपि कारणत्वमसङ्गात् । तादृशश्चात्ममनः-
संयोग इन्द्रियात्मसंयोगश्चेति न कारणं युक्तमित्यर्थः ।

दूषयति । अकारणभावेऽपीति । नान्वयमात्रात्कारणत्व-
निश्चयः, अपित्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां, न च दिगादावस्ति व्यतिरेकः,

नित्यत्वविभुत्वाभ्यामवर्जनीयः सन्नधिः, सेन्द्रियशरीरवर्सात्ममनः-
 संयोगस्त्वन्वयव्यतिरेकावधृतसामर्थ्यः, समस्य ज्ञानानुत्पादात् ।
 इन्द्रियार्थसन्निकर्षे त्वमति विप्रकृष्टे व्यवहिते च ज्ञानं न जायते,
 इन्द्रियमनःसन्निकर्षाभावे तु नायुगपज्ज्ञानानि भवन्ति, तस्मा-
 न्नाकाशादीभिरतिप्रसङ्ग इति । तदेतद्वार्त्तिककारो व्याचष्टे । ये च
 सति भावात् कारणभावं वर्णयन्ति पूर्वपक्षिणश्च सिद्धा-
 न्तिनो वा असति न भवतीति वादागन्तव्यारेको *न तु
 प्रयोजकस्तान् प्रति पार्श्वस्थो ब्रूते । तेषां दिग्देशेति । यथा
 चान्द्रमसं रूपमिति । यद्यपि तत्रापि तेजस्यौष्ण्यमस्ति
 तथाऽप्यत्यन्ताभिभवेन स्वोचितार्थक्रियानुपयोगादसत्कल्पत्व-
 मित्यर्थः ॥ २२ ॥

एवं पार्श्वस्थे निरस्ते पूर्वपक्षी ब्रूते । यद्येवमिति (२०४। २)
 सिद्धान्त्याह । नोपसङ्ख्येय इति ।

ज्ञान-धः (सू. २३) ॥ अत्र ज्ञानस्यात्मलिङ्गत्वमुच्यते,
 ज्ञानं तावत्कार्यमनित्यत्वाद् घटवत् । (तच्च) क चित् समवेतं
 कार्यत्वाद् घटवत् । न च तत्पृथिव्याद्याश्रितं मानसप्रसक्षत्वात् ।
 यत्पुनः पृथिव्याद्याश्रितं तत् प्रत्यक्षान्तरवेद्यमप्रसक्षमेव वा ।
 न च तथा ज्ञानं द्रव्याष्टकातिरिक्ताश्रितम् । तदाश्रयश्च द्रव्य-
 जातीयः, समवायिकारणत्वादाकाशवत् । तस्य च विभुत्वमा-
 त्मलक्षणेऽस्माभिरुक्तम् । अतो गुणजातीयं ज्ञानं, कार्यत्वे सति
 विभुद्रव्यसमवायाच् शब्दवत् । एवं व्यवस्थिते प्रश्नोत्तरे वार्त्ति-
 कगते व्याख्यातव्ये । आत्मसमवायादिति । कार्यत्वे सति
 विभुद्रव्यसमवायादित्यर्थः । विभुद्रव्यसमवाय एवासिद्ध इति
 वदत आह । न पृथिव्यादिगुणः स्वसंवेद्यत्वात् । मानसप्र-

लक्षवेद्यत्वादित्यर्थः । स्वपरसंबद्धं प्रत्यक्षान्तरवेद्यं द्रष्टव्यम् । अन्यथा पृथिव्यादिगुणेन द्वित्वादिना व्यभिचारः स्यादिति । तस्माज् ज्ञानलिङ्ग आत्मा, न त्वसावसंयुक्तो ज्ञानं जनयति । तस्य सदातनत्वे सदा ज्ञानोत्पादप्रसङ्गात् । तस्मात्संयोगभेदं कादाचित्कमपेक्षत इत्यर्थात्सिद्ध आत्मगनःसंयोग इति न सूत्र-
कृतोक्तः । प्रौढिवादित्येष समाधिरिति दर्शयितुमुक्तमेव परमस-
माधिं स्मारयति । उक्तं चात्रेति ॥ २३ ॥

अन्यार्थमिति । प्रमेयभूतमनःस्वरूपप्रतिपादनार्थम् । अन्यार्थस्यापि तदर्थप्रकाशकत्वम् (२०५ । २) उप-
पत्तिः । लिङ्गम् । ईदृशं हि तल्लिङ्गं यदन्यार्थमपि मनसो ज्ञान-
कारणत्वं प्रतिपादयतीति । न हि ज्ञानं स्वतन्त्रं येन स्वका-
रणं मनो नापेक्षेत, नापि चक्षुरादि स्वतन्त्रं ज्ञानजनने येन मनो
ज्ञानकरणं न स्यादित्याह । न चक्षुरादीति । तस्मादर्थप्राप्तत्वा-
दात्मनःसंयोग इन्द्रियमनःसंयोगश्च नोक्तौ सूत्रकारेण ॥ २४ ॥
देशयति । अथ कस्मादिति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षेऽप्यर्थतः
प्राप्तिरविशिष्टेति भावः । परिहरति । प्रत्यक्षेति । सर्वानभिधाने
हि प्रत्यक्षं न लक्षितं स्यादिति तल्लक्षणाय किञ्चिद्रक्तव्यम् ।
तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्ष एव वक्तव्यः, समस्तप्रत्यक्षव्यापकत्वात् ने-
तरावव्यापकत्वादतिव्यापकत्वाच्चेति परमः समाधिः ॥ २५ ॥

सुप्त-त् (सू. २६) ॥ ज्ञानोत्पत्तेरिति सूत्रशेषः । प्र-
णिधाय सङ्कल्प्य । प्रदोषे सुप्तोऽर्द्धरात्रे मयोत्थातव्यमिति, सो-
ऽर्द्धरात्रे एवावबुध्यते । प्रबोधज्ञानमिति । प्रबोधे निद्राविच्छे-
दे सति द्रव्यस्पर्शस्य संज्ञानं प्रबोधज्ञानमित्यर्थः । सुप्तमनसामिति
व्याचष्टे । एकदा खल्वयं विषयान्तरेति ॥ २६ ॥

प्राधान्ये च हेत्वन्तरम् ।

तैश्चा-णाम् (सू. २७) ॥ इन्द्रियैर्व्यपदेशं विग्रहसमा-
साभ्यां ज्ञानस्य दर्शयति । घ्राणेति । इन्द्रियविषयसङ्ख्यानुरो-
धात्तज्ज्ञानस्य तद्व्यपदेश इत्याह । इन्द्रियेति । वार्त्तिकं-यच्चा-
साधारणं तेनेति । दिगादिरप्युपाधिकल्पितेन प्राचीत्वादिना
कार्यं विशेषयन्नसाधारणमेवेत्यभिप्रायः ॥ २७ ॥

अनेन प्रबन्धेनेन्द्रियार्थसन्निकर्ष एव कारणं ज्ञानस्य, न
त्वात्ममनःसन्निकर्ष इन्द्रियमनःसन्निकर्षो वा ज्ञानकारणमनेनो-
क्तमिति मन्वानो देशयति ॥

व्याह-तुः (सू. २८) ॥

परिहारसूत्रम् ॥

नार्थ-त् (सू. २९) ॥ अनेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्रा-
धान्यमात्रमुच्यते । न त्वात्ममनःसंयोगस्येन्द्रियमनःसंयोगस्य वा
ऽकारणत्वमुच्यत इति न व्याघात इत्यर्थः । पृच्छति । असन्ति
संकल्पे प्रणिधाने चेति । यत्नः । प्रणिधानम् । सङ्कल्प
इच्छा । उत्तरं । यथैवेति । नन्वस्य जात्यायुर्भोगनिमित्तत्वमव-
गतं, न तु मनःप्रेरकत्वमपीयत आह । तेन ह्यप्रेर्यमाणे म-
नसीति । भोगो हृदष्टस्य प्रधानं प्रयोजनं तन्नान्तरीयकतया
जन्मायुषी आक्षिपति । स्वसन्निसुखदुःखसाक्षात्कारश्च भो-
गः, तदायतनं च शरीरम् । अप्राप्तं च मनो न तत्र भोगं च
भोगविषयौ सुखदुःखे च तयोः कारणं च ज्ञानं जनयितुमर्ह-
ति, नूनं तत्प्राप्तिहेतोर्मनःकर्मणः कारणमदृष्टं वक्तव्यम् । अन्य-
थाऽस्य सर्वद्रव्यगुणकर्मकारणता न स्यात् । मा मूत्सर्वार्थिते-
त्यत आह । एषितव्यं चास्येति । अणूनां विशेषणं भूत-
सूक्ष्माणामिति ।

व्याहृतत्वादिति पूर्वपक्षसूत्रम् । अस्य तात्पर्यमाह वार्त्ति-

ककारः । अनेनेति । (२०६ । ७) नन्वियं त्रिसूत्री इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यमाह, न पुनः संयोगान्तरस्य कारणत्वं प्रत्याचष्ट इत्यत आह । इयं किलेति । कारणत्वं प्रतिविध्यत इत्यभिमानः पूर्वपक्षिण इत्यर्थः । दृष्टव्याघात इति । अयौगपद्यं दृष्टं, तस्य व्याघात इत्यर्थः । शेषं तु भाष्यव्याख्याया व्याख्यातमिति ॥ २९ ॥

अतः परमिदानीमिति । (२०७ । १२) न ह्यवयवी नाम कश्चिदर्थान्तरभूतोऽवयवेभ्योऽस्ति, अपि त्ववयवा एव परमार्थसन्तः, तेषु च कतिपयानवयवान् गृहीत्वा तत्सहचरितानवयवाननुमाय प्रतिसन्धानजेयं वृक्षबुद्धिस्तानेवावयवानालम्ब्यमानाऽनुमानमिति प्रत्यक्षस्यानुमानेऽन्तर्भावादिभागसूत्रेण न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदो नोपपद्यत इत्यर्थः । निराकरोति । न यथासम्भवं विकल्पानुपपत्तेः । एकदेशो ह्यवयविन आधार इति । (२०८ । १४) एकश्चासौ देशश्चेत्येकदेशः । देशश्चाधारो न चाधेयोऽस्त्यवयवीति कथमाधार इत्यर्थः । अहो शब्दार्थकौशलमिति । शब्दे ऽर्थे वा कौशलमित्यर्थः । अर्थे तावदकौशलमाह । अकार्येति । कार्यस्यैकस्य कारणानां तदेकं कार्यं कर्तुं परस्परप्रत्यासत्तिर्भवति । यथा मृदण्डचक्रसूत्राणां घटे जनयितव्ये प्रत्यासत्तिः । कार्याणां चैकसामग्रीजन्मनां परस्परप्रत्यासत्तिः, यथा रूपरसगन्धस्पर्शानां, कार्यकारणयोर्वा, यथा अग्निधूपयोः, येषां तु न कार्यकारणभावो नैककार्यत्वं वा नैककारणत्वं वा, तेषां कुतो नियमवती प्रत्यासत्तिरित्यर्थः । शब्दाकौशलमाह । न च परस्परेति । अवयविनं दधदवयवान्तरमवयवान्तरमपेक्षते । ततश्चावयवाः परस्परोपकारिणो भवन्ति । अवयव्यभावे तु न परस्परोपका-

रिणः कथमवयवा इत्यर्थः । न चावृक्षप्रतिसन्धानजेति ।
 स्वस्तिमतीं हि गां गृहीत्वा कालाक्ष्यां गवि गौरिति प्रतिस-
 न्धानं दृष्टं, न त्वश्वं गृहीत्वाऽश्वान्तरे गौरिति प्रतिसन्धानं
 दृष्टं, तत्कस्य हेतोः, तयोरगोत्वात्,—एवमवर्गभागपरभागाना-
 मवृक्षत्वाद्वृक्ष इति प्रतिसन्धानं न भवेदित्यर्थः । यद्युच्येत मां
 भूद्वक्षरूपधर्मिग्रहः, पूर्वमवर्गभागं धर्मिणं वृक्षविशेषमनुमाय
 प्रतिसन्धास्यतीत्यत आह । न चानुमानम् । (२०९ । ६)
 कस्मादित्यत आह । अनुमान इति । नायमनुमाना पूर्व-
 मनुपलभ्याग्निमनुमानेन च धूमविशेषणमग्निं प्रतिपद्य
 प्रतिसंघत्ते अयं धूमोऽयं चाऽग्निरिति । अथ पूर्वं प्रति-
 सन्धानं पश्चादनुमानमिष्यत आह । न च प्रतिसन्धायेति ।
 प्रतिसन्धानसमय एवाग्नेरवगतत्वाद्भवितव्यमत्राग्निनेति व्यर्थम-
 नुमानं स्यादित्यर्थः । अभ्युपेत्याह । प्रतिसन्धायापि चेति ।
 किं चार्वागभागमयमिति । स भागवान् भागो न भ-
 वति किं तु भागवैव । कस्मान्न पश्यतीत्यत आह । नार्वा-
 गभागपरभागौ संवद्धौ । (२१० । ४) एकावयविसमवा-
 येन हि परस्परसम्बद्धौ स्यातां, न चावयव्यस्ति, न चापि
 संयुक्तौ, संयोगस्यावयविनिरासमार्गेण निरस्तत्वादित्यर्थः ।
 पृच्छति । कथं पुनरिति । उत्तरं नित्यमवर्गभागेनेति । स-
 म्बन्धस्तावन्नास्तीत्युक्तमेव । तमभ्युपगम्य तत्तरं—सत्यं सम्बद्धौ
 सत्यपि सम्बन्ध अशक्यग्रहोऽसावित्यर्थः । सत्यं सम्बद्धा-
 वित्ययमभ्युपगमवाद एव । यच्चेदमुच्यते प्रतिसन्धानप्र-
 त्ययजेति । पूर्वं सत्यपि वृक्ष अवयवानामवृक्षत्वान्नावयवे प्रति-
 सन्धानजा वृक्षबुद्धिरित्युक्तं, सम्प्रति तु वृक्षस्यासत्त्वेन नाव-
 यवे वृक्ष इति प्रतिसन्धानमित्यपौनरुक्त्यम् । रूपं च मयोप-

लब्धं रसश्चेति । य एवोपलब्धा रसप्रत्ययोपरञ्जितः स एव
 रूपप्रत्ययोपरञ्जित इत्यर्थः । प्रमाणस्य यथाभूतार्थपरिच्छे-
 दकत्वादिति । यथा भ्रान्तमप्यनुमानमर्थसम्बन्धेन प्रमाण-
 मिति न भवति, तथा प्रथमेऽध्याये दर्शितम् । प्रधानानुकारे-
 ण (२११ । १) भ्रान्तिरिति विपरीतरूपातौ सत्यां, सा
 चोपपादिता प्रथमाध्याये । न तथा शब्दस्यार्थानभिधा-
 नादिति । कः पुनरयं तथाशब्दार्थः । परमाणूनां रूपं वा नैर-
 न्तर्यं वा संयोगभेदो वा उत्पादभेदो वा । यदि रूपमात्रं, तद्
 घटादिष्वपीति वृक्षबुद्धिः स्यात् । अथ रूपभेदः, क्षणान्तरेणा-
 वृक्षः स्यात् । न हि तत्पूर्वं रूपम् । अथ नैरन्तर्यं, तद् घटादि-
 ष्वप्यस्ति । न वा कचिदपि, गन्धरसरूपस्पर्शपरमाणुव्यवधा-
 नात् । न संयोगो भवद्भिरास्थीयत इति कुतस्तद्भेदः । उत्पा-
 दभेदोऽपि परमाणूनां रूपमेव । न हि परमाणुव्यतिरिक्तः क-
 चिदस्ति तेषामुत्पादः । रूपं च पूर्वं विकल्पितम् । यदि हि क-
 चिदवयवसन्निवेशो वास्तवः पूर्वापरभागादिशब्दप्रवृत्तिहेतुरुप-
 लब्धः स्यात् ततस्तथाशब्दार्थः प्रतीयेत, न तु भवतां कचिदेष
 वास्तवः, वस्तुसतां परमाणूनामभागत्वादित्यर्थः । सामान्यतो-
 दृष्टे धर्मविषयकमपि प्रत्यक्षं नास्तीति भ्रान्तः पृच्छति । सा-
 मान्यतोदृष्टस्येति । (२१२ । ६) उत्तरम् । अयं विशेष
 इति । द्विकस्य प्रत्यक्षेण प्रसिद्धौ सामान्यतोदृष्टं प्रवर्तते । त्रि-
 कस्य तु प्रत्यक्षेण प्रसिद्धौ प्रत्यक्षतोदृष्टमिति विशेषः । सर्वस्या-
 प्रत्यक्षत्वाद् वृक्षबुद्धिर्न प्रत्यक्षतोदृष्टादनुमानादपि सामान्यतो-
 दृष्टादित्याह । भवत्प्रक्षे त्विति ॥३०॥

न प्र-त् (सू. ३१) ॥ न प्रत्यक्षस्यानुमानता । कुतः
 यावदेकदेशभूतस्यार्थजातस्य ग्रहणमेकदेशग्रहणादुपलब्धेरित्यत्र

हेताविष्यते तावदपि प्रत्यक्षेण । अन्यथैकदेशग्रहणाभावेनानुमानानुदयात् । अनुमानान्तरेण वा तद्ग्रहणे अनवस्थापातात् । अतस्तावतोऽर्थजातस्य प्रत्यक्षेणोपलम्भात्तावत्प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रतिज्ञा हेतुना एकदेशग्रहणानुपलब्धेरित्यनेन बाधिता, एकदेशग्रहणस्य प्रत्यक्षेणानभ्युपगमे वा प्रमाणान्तरस्य तत्रानुपपत्तेरसिद्धो हेतुः, सेयमुभयतस्पाशा रज्जुरित्यर्थः ।

अनुमानेनैकदेशग्रहणात्तासिद्धो हेतुरित्यत आह भाष्यकारः न चैकदेशग्रहणमिति । अनुमितिरनुमानम् । भावयितुं कर्तुम् अनवस्थाप्रसङ्गेन हेत्वभावादिति । तदेतत्सूत्रं वार्त्तिककरो व्याचष्टे । विरुद्धाश्रयमिति । नन्वेकदेशप्रत्यक्षत्वेऽपि तन्मात्रं प्रत्यक्षं, न तु सर्वं प्रत्यक्षं स्यादित्यत आह । न चैवं प्रतिज्ञायते सर्वमिति । अप्रकारवदिति । अनुमानस्य हि त्रयः प्रकारा यादृशा न तादृशाः प्रत्यक्षस्येति । त्रिकालविषयत्वाच्चेति । अनेन परोक्षार्थत्वं सूचयत्यनुमानस्य, प्रत्यक्षं त्वपरोक्षार्थविषयं, तस्मादपि भेद इत्यर्थः । लिङ्गपरामर्शज्ञानस्य प्रत्यक्षफलस्यापि प्रमाणस्य सतो लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यनुग्रहोऽस्त्युत्पत्तौ, न त्वेवं प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्य, अत उत्पत्तौ वा कार्ये वा लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यपेक्षेत्यर्थः । अन्यथाऽपि चेत्यादि भाष्यं व्याचष्टे इति श्रुति । (२१ ३ । ४) न त्वेतदनुमानमिसादिभाष्यार्थमाह । इन्द्रियेति । इन्द्रियसम्बन्धाच्चार्थस्य प्रत्यक्षमुत्पद्यते, न त्वनुमानमेवमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

अपि चावयविनोऽसत्त्वं मन्यमानेन त्वयैकदेशमात्रोपलब्ध्या वृक्षबुद्धेरनुमानत्वमुक्तं, न त्वियमेकदेशमात्रोपलब्धिरपि तु तस्य तत्सहचरितस्य चावयविन उपलब्धिलक्षणमाप्तस्य सिद्धेरित्याह । न चैकदेशोपलब्धिरिति । तदेतद्भाष्यमनुभाष्य वा-

तिंककारो व्याचष्टे । न चेति । अत्र देश्यभाष्यम् । अकृत्स्न-
ग्रहणादिति चेत् । उत्तरभाष्यं न कारणत इति । देश्य-
विवरणम् । न चावयवा इति । एकदेशग्रहणनिवृत्त्यर्थं हि त्व-
याऽवयविग्रहणमास्थीयते, न चैतावता कृत्स्नग्रहणसम्भवो यत्
एकदेशग्रहणनिवृत्तिः स्यात् । न ह्यवयविग्रहणे कृत्स्ना अप्यवयवा
गृहीता भवन्ति । नाप्यवयवी, तस्यार्वागभागस्य ग्रहणेऽपि मध्य-
मपरभागस्थस्याग्रहणादिति देश्यभाष्यार्थः ।

तदेतद्भाष्यं वार्तिककारो व्याचष्टे । नावयविन उपल-
ब्धिरिति । यत्खलु बहुषु वर्तते तत्प्रत्येकं समष्ट्या वा, यथा
कलंविङ्ककण्ठगुणः । एकदेशेन वा यथा सूत्रसूत्रं कुसुमेषु । न च
कृत्स्नैकदेशाभ्यां प्रकारान्तरमस्ति । अनयोरन्यतरनिषेध-
स्यान्यतरविधिनान्तरीयकत्वात् नित्यत्वानित्यत्ववदिति ।
न चैकत्र कृत्स्नसमाप्तावन्यत्र तस्यैव सम्भव इति, तथा
सति कृत्स्नसमाप्तेरभावात्, तस्माद्योऽवयवान्तरे दृश्यते
नासावयवी, तथा चावयवा एवेति प्राप्त मित्यपि द्रष्ट-
व्यम् । न ह्यस्य कारणव्यतिरेकेणेति । (२१ ४ । ५)
यदि हेकदेशान्तराण्यस्य स्युः, ततस्तेष्वपि वृत्ताधिकदेशान्त-
रकल्पनायापनवस्थाप्रसङ्ग इत्यर्थः । पूर्वपक्षवाद्येव प्रश्नपूर्वकं
क्रियातिपत्तिमाह । अथोपलभ्यमान इति । उत्तरभाष्य-
विवरणपरं भाष्यं कृत्स्नमिति वै खल्वित्यादि । तदेकग्रन्थ-
तया अङ्ग तु भवानित्यादिसम्बोधनोपक्रमं भाष्यं व्यपस्थित-
म् । तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे । एकस्मिन्निति । अयमभिस-
न्धिः यत्तावत्कुसुमेष्वेकदेशेन वर्तमानं दृष्टमिति, तदनुपपन्नं, यदि
कुसुमेषु सूत्रावयवा वर्तन्ते किमायातमवयविनः सूत्रस्य । न
ह्यन्यस्मिन्वर्तमाने अन्यद्वर्तत इत्युक्तम् । न चावयविनोऽभावे

भवत्येतदपि सूत्रमवयववयववैवर्त्तत इति । अथ मा भूत्सूत्रं
नामावयवि, एकदेशास्तु कुसुमे वर्त्तन्त इति ब्रूमः । तथा च
सति नैकमनेकवैकदेशेन वर्त्तते किं त्वनेकमनेकवेति । तथा च
कुसुमपरमाणवेकस्मिन्सूत्रपरमाणुरेको वर्त्तत इत्युक्तं भवति, न
च वृत्तिरपि परमाणुभ्यामतिरिच्यते यतो भवति वर्त्तते इति,
तस्मान्निरन्तरोत्पाद एव परमाण्वोवृत्तिरिति व्यवहर्त्तव्या, न
पुनः परमाणुस्वरूपातिरिक्ता काचिद्वृत्तिरस्ति वस्तुसती । एतेन
कलत्रिङ्गकण्ठगुणवत्प्रत्येकं कृत्स्नपरिसमाप्तिवृत्तिरित्यपि व्याख्या-
तम् । तथा च वृत्तेरभावादेकदेशेन वा कात्स्न्येन वा वर्त्तत इति
रिक्तं वचः । यथालोकप्रत्ययं तु वृत्तेरभ्युपगमे सूत्रं कुसुमेषु
नैकदेशेन वर्त्तते, किं तु तदेकदेशाः सूत्रं च कुसुमेषु वर्त्तत इति
लौकिकोऽनुभवः । तत्र सूत्रस्य वृत्तिः कुसुमेषु नैकदेशेन वा
नापि कात्स्न्येन, किं तु स्वरूपतः, एवमवयवेष्ववयविनः स्वरू-
पत एव । इयांस्तु विशेषो यत्सूत्रस्य कुसुमेषु वृत्तिं प्रति सन्ति
भागा अपीति सूत्ररूपं च भागाश्च कुसुमेषु वर्त्तन्त इति, अवय-
विनस्तु स्वावयवेषु वृत्तिं प्रति नावयवान्तराणि सन्तीति रूपमा-
त्रेण तत्र वर्त्ततेऽवयवीति । तस्मान्न किञ्चित्कचित्कात्स्न्येनैकदे-
शेन वा वर्त्तमानं दृष्टमिति तयोर्वृत्तिं प्रति व्यापकत्वमसिद्धम् ।
रूपस्यैव व्यापकत्वमिति । तच्चावयविन्यप्यस्तीति व्यापकानुप-
लब्धेरसिद्धेर्नावयविनोऽवयवेषु वृत्तिनिवृत्तिरिति सिद्धम् । यथा
च कृत्स्नैकदेशशब्दौ नावयविरूपे वर्त्तते तथोक्तं वार्तिककृतेति ।
नैकदेशेन वर्त्तते न च कात्स्न्येन वर्त्तते अथ च वर्त्तत
इति एषा वाचोयुक्तिः यद्यथाभूतं वस्तु तत्तथा निर्दि-
श्यत इहेति योजना । उभयेन व्याघातादिति । (२१
५ । ४) एकस्यानेकवृत्तेः एकदेशेन कात्स्न्येन च व्याघात इत्य-

र्थः । स एव हि धर्मो विकल्प्यते यो विकल्प्यमानो धर्मिणं न बाधते, यथा शब्दो नित्योऽनित्यो वेति, यो ह्यधिकरणं धर्मिणमेव बाधते नासौ धर्मविकल्पोन्याय्यः । आश्रयासिद्ध्या तस्यानुपपत्तेरिति ।

यस्तु मन्यते यत्सत्तत्सर्वमनवयवं, यथा विज्ञानं, सच्चेदं नीलाद्यनुभवावसितमिति स्वभावहेतुः, सत्तामात्रव्यापित्वादनवयवित्वस्य । तथा ह्येकस्य सत्त्वं विरुद्धधर्मासंसर्गेण व्याप्तं, तद्विरुद्धश्च विरुद्धधर्मसंसर्गो नीलादीनां सावयवत्वे प्रसजन्स्वविरुद्धं विरुद्धधर्मासंसर्गं निवर्त्तयंस्तद्व्याप्तं सत्त्वमपि निवर्त्तयति । तथाहि पाण्यादिकम्पे तत्स्थानोऽवयव्यपि कम्पत इति तस्य जङ्घादिष्वप्यवयवेष्वविशेषावस्थानस्याप्यवयविनः कम्प उपलभ्येत, न चोपलभ्येत, तस्मात्स एव तदानीं कम्पते न कम्पत इति विरुद्धधर्मसंसर्गः । अथावयवेषु कम्पमानेष्वपि नावयवी तत्समवेतः कम्पते, ततश्चलाचलयोर्वस्त्रोदकवद्युतसिद्धिप्रसङ्गः । एकस्यावयवस्यावरणे तत्तदवयवस्थानोऽवयव्यावृत इति अवयवान्तरस्थानस्याप्यावरणप्रसङ्गः, अभेदात् । न वाऽस्य कचिदप्यावरणमित्यविकलो दृश्येत । अवयवस्यावरणं नावयविनस्तस्यान्यत्वात्, न ह्यन्यस्यावरणे अन्यदावृतं भवत्यतिप्रसङ्गादिति चेन्न । अर्धावरणेऽप्यनावृतत्वादवयविनः प्राग्बदविकलग्रहणप्रसङ्गः । अवयवदर्शनद्वारेणावयविदर्शनाददृष्टावयवस्यावयविनोऽप्रतिपत्तिरिति चेन्न । विकल्पासहत्वात् । किं सर्वावयवदर्शनद्वारेणावयविनः प्रतिपत्तिरुत कतिपयावयवदर्शनद्वारेण । पूर्वस्मिन्कल्पे नावयवी कदाचिदपि दृश्येत । न ह्यसर्ववित्सर्वावयवोपलम्भक्षमः, अर्वाभागेन मध्यपरभागयोर्व्यवधानात् । कतिपयावयवदर्शने तु तदभिव्यक्तावल्पावयवदर्शनेऽपि बहवयवदर्श-

नवत्स्थूलोपलम्भप्रसङ्गः । रक्ते चैकस्मिन्नवयवे तत्स्थानोऽव-
यव्यपि रक्त इति अवयवान्तरेऽपि तस्याभेदाद्वागोपलम्भप्रस-
ङ्गः । अवयवमात्ररागे वा तत्स्थानस्यावयविनो रूपपरत्वं दृश्य-
ते, सोऽयं विरुद्धधर्मसंसर्ग इति । तदनेनाभिप्रायेण वार्तिककारो
ग्रहणाग्रहणलक्षणेन विरुद्धधर्मसंसर्गेण सर्वानेव विरुद्धधर्मसंसर्गा-
नुपलक्षयति । ग्रहणाग्रहणेति । निराकरोति । न भेद इति ।
इदं तावदत्र वक्तव्यम् । यद्यनुभूतावसितं नीलमनवयव-
त्वेन साध्यते, ततः सिद्धसाधनं, नो खलु रूपविशेषो नीलादि-
रस्माकमपि सावयवो गुणत्वात् । तदाश्रयो घट इति चेत् ।
ननु घट इत्यपि च रूपसगन्धस्पर्शा एवार्थक्रियाकारिणस्तथा
व्यपदिश्यन्ते, ते च गुणत्वेन निरवयवा एव, न तु तदाश्रयो-
ऽस्ति इत्थं नाम । अथ परसिद्धं द्रव्यं रूपाद्याश्रयं पक्षीकृत्य पर-
सिद्धेनैव तस्य सत्त्वेनानवयवत्वं साधयति, सोऽयमसिद्धं सिद्धने
साधयन् महानैयायिकत्वमात्मनो दर्शयति । न हि स्वयमप्रतीतौ
साध्यधर्मिणौ परप्रत्यायनाय कल्पेते । यथा ऽऽहुः ।

योऽपि तावत्परासिद्धः स्वयंसिद्धोऽभिधीयते ।

भवेत्तत्र प्रतीकारः स्वतोऽसिद्धे तु का क्रिया ”

इति । न च प्रसङ्गसाधनेऽप्येतद्वितुमर्हति । न च साव-
यवत्वेन, विरोधाभावात् । न चैकस्य विरुद्धधर्मो बाधकं प्रमा-
णम् । न तावदेकस्यावयविनो ग्रहणाग्रहणं । अवयवावरणेऽपि
तस्य कतिपयावयवावस्थानस्य ग्रहणादेव । न च बहवयवस्था-
नस्य ग्रहणे इव कतिपयावयवस्थानस्य ग्रहणे तादृशस्थौल्यानव-
भासादनवभासोऽवयविन इति साम्प्रतम् । परिमाणभेदो हि
स्थौल्यमवयवविधर्मो न च तस्य तादृशस्थानवभासे ऽवयवी ना-
वभासितो भवति, तस्य ततोऽन्यत्वात् । तस्मादिन्द्रियसाम्बन्ध-

मात्रादवयविनो ग्रहणम् । इन्द्रियेणार्थस्य इन्द्रियावयवैरर्थस्य
 इन्द्रियेणार्थावयवानां इन्द्रियावयवैरर्थावयवानां सन्निकर्षात्परि-
 माणभेदग्रहणमिति सामग्रीभेदादवयवितत्परिमाणभेदयोर्ग्रहणाग्र-
 हणे उपपद्यते । एतेनावगिभागसहितस्य ग्रहणेऽपि न मध्यभाग-
 सहितस्याग्रहणं कथञ्चिद्विरोधमावहतीत्युक्तं भवति । न वाऽव-
 यवकम्पेऽप्यवयविनः कम्पो येनावयवान्तरेऽपि कम्पप्रसङ्गः,
 भिन्नत्वादवयवावयविनोः । तथा सति युतसिद्धिप्रसङ्ग इति चे-
 त् । का पुनरियं युतसिद्धिः, किं भेदोऽवयवावयविनोः, आहो
 स्वदसम्बद्धस्य विद्यमानत्वम् । यदि भेदः, सोऽस्माभिरिष्यत
 एव । अथासम्बद्धस्य विद्यमानत्वं, तत्सत्यपि पृथग्गतिमत्त्वे ना-
 वयविनोऽस्ति, जातः सम्बद्धश्चेकः कालः । तथाहि नावयव-
 वयवासम्बद्धोऽस्ति । न हि जातिमान् जात्यसम्बद्धोऽस्ति । न
 गुणकर्मणी द्रव्यासम्बद्धे स्तः । न च विशेषो द्रव्यासम्बद्ध इति ।
 ये त्वप्राप्तिसंयोगौ युतसिद्धिमाहुस्तैरवयवावयविनोरसंयोगे हेतु-
 र्वक्तव्यः । अयुतसिद्धिरिति चेन्न । तस्या एवासंयोगेन बुभुत्स-
 नादिति । रक्तारक्तत्वं च नावयविन एकस्य, तस्यारक्तत्वा-
 देव । तत्संयोगिनस्तु महारजनस्य रक्तत्वात्, तस्य च पटादर-
 क्तादन्यत्वात् । पटो रक्त इति तु भ्रमः, न त्वनेन विश्रमेण
 सर्वत्र भवितव्यम्, तस्य महारजनसंयोगनिमित्तत्वात् तस्य च
 पटवृत्तित्वात् पटस्य च सर्वत्राविशेषात्, पटस्य क चिदसंयोगे
 संयुक्तासंयुक्तभेदप्रसङ्गः । न हि स एव तदैव तत्रैव भवति न
 भवति चेति युज्यते । तस्मात्संयुक्तात्पटादन्योऽसंयुक्तः पट इति
 प्राप्तम् ।

अत्रोच्यते । एषा तावत्प्रमेयगतिः । भावाभावौ पर-
 स्परविरहात्मानौ, भावानिवृत्तिरेवाभावः, अभावाविवृत्तिरेव

भावः । न तु भावाभावाभ्यामन्या तयोर्निवृत्तिः । तेन नैतयोः कदाचिदपि परस्परात्मत्वं भवितुमर्हति, अदर्शनात् । एवमनयोराश्रयैकत्वनानात्वे अपि यथादर्शनं व्यवस्थापनीये, यथा तस्यैव श्वैसस्य यदा प्रासादे सज्जावस्तदैवाभावः काक इति । एवं य एवं कुम्भः श्यामः स एव पश्चादग्निसंयोगादश्यामः, यः पुनरस्य परिमाणभेदो न सति कुम्भे विनश्यति, तत्र किमुच्यतां परिमाणावस्थापत्तावपि न नश्यतीति । एवं प्रमेयवैचित्र्यं दर्शनवैचित्र्यव्यवस्थापितं यथाऽभ्युपेयते तथा तस्यैव संयोगस्य तस्मिन्नेकदा भावाभावौ व्यवस्थापनीयौ, तथैव दर्शनादिति । न हि दृश्यमानस्य दृश्यमानान्तरवैधर्म्येण रूपमुपलभ्यमानं शक्यमपाकर्तुम्, मा भूद् दृश्यमानवैधर्म्येण दृश्यमानरूपान्तरापाकरणमविशेषात् । तस्माद्दर्शनानुरोधात्प्रमेयवैचित्र्यासिद्धेरुपपन्नः संयोगशब्दबुद्ध्यदीनां तत्रैव तदानीमभावो भावश्चेति । अत एवैषामव्याप्यवृत्तित्वमास्थीयते । रूपादीनां तु न दृष्टस्तत्रैव तदानीमभावो भावश्चेति तेषां व्याप्यवृत्तीनां भावाभावौ युगपदेकत्र विरुद्धाविति सिद्धम्-रक्ता रक्तयोरेकत्राविरोधः सहदर्शनादिति ।

यत्पुनर्यदनेकवृत्ति तन्नाना, अनेकवृत्तिश्चावयव्यभ्युपगत इति प्रसङ्गसाधनं स्वभावहेतुः, नानात्वाभावादनेकवृत्तित्वाभाव इति प्रसङ्गविपर्ययो व्यापकानुपलब्धिरिति । तत्र ब्रूमः । एकत्वानेकवृत्तित्वयोरविरोधेन नानात्वस्य व्यापकत्वासिद्धेर्न प्रसङ्गो नापि विपर्यय इति । यथैव नीले परिच्छिद्यमाने तदभावो व्यवच्छिद्यते, अन्यथा न नीलं परिच्छिन्नं स्यात्, एवं तदभावाविनाभावि पीतमपि नीलपरिच्छेदकं प्रसङ्गं व्यवच्छिन्नान्ति, तथैकावयवसंसर्गे अवयविनः परिच्छि-

द्यमाने तदभावो व्यवच्छिद्यते, तदभावाविनाभूताश्चावयवान्तरसंसर्गा इति तेषु व्यवच्छेदव्याः, तदव्यवच्छेदे तदभावो न व्यवच्छिद्येतेति स एव तदानीमेव तत्र भवेन्न भवेद्वेति दुर्घटमापद्येत, सोऽयमेकत्वानेकवृत्तित्वयोर्विरोध इति चेत् । हन्त भावपरिच्छेदे तदभावो व्यवच्छिद्यत इति युक्तम् । भावपरिच्छेदलक्षणत्वात्तदभावव्यवच्छेदस्य । न हि भावादन्वस्तत्र भावाभावो नाम । भावान्तराणि तु कस्माद्व्यवच्छिद्यन्ते । तदभावाविनाभावादिति चेत् । कुतः पुनरयं भावान्तराणां भावाभावाविनाभावः । पीतादिभावतादात्म्येन कदाचिदपि नीलस्य भावस्यानुपलम्भादिति चेत् । यत्र तर्ह्येकावयववृत्तेरप्येकस्यावयवान्तरेषु वर्तमानस्य तादात्म्यं दृश्यते न तत्रैकावयवसंसृष्टाभावाविनाभावोऽवयवान्तरसंसृष्टस्य, तस्मान्नैकत्वानानावृत्तित्वयोर्विरोधः । अपि च एकं विज्ञानमनेकै रूपचक्षुरालोकमनस्कारैः कथं सम्बध्यते, सम्बध्यमानं वा, न वास्तवः कश्चित्कार्यकारणभावो नामास्ति सम्बन्धः । प्रतीत्य कथमेकम् । समुत्पादमात्रं तदिति चेत् । अथ कस्माद्रूपाद्येव प्रतीत्य रूपज्ञानं जायते न पुनारसाद्यपि । स्वभाव एव तादृशो यतस्तानेव प्रतीत्य जायते न पुनारसभादीनिति चेत् । हन्त भाः स्वभावान् भिन्नान् प्रतीत्य कथमेको भावो जायते । को विरोधो न हि कार्यकारणयोस्तादात्म्यं येन कारणस्वभावानुरोधः कार्यस्य भवेदिति चेत् । तत्किमवयवावयविनोरप्यभेदः समवायस्य वा ताभ्यां, येनावयवभेदेऽवयविनो वा समवायस्य वा भेदो भवेदिति समः समाधिः । तस्माद्व्यवयविनि प्रमाणं वक्ष्यामः तत्तदसति बाधकेऽप्रत्यूहमवयविनमवस्थापयिष्यतीति सिद्धम् । यः पुनर्मन्यते अवयवसमुदाय एवावयवीति तं प्रत्याह

भाष्यकारः । सनुदाय्यशेषतेत्यादि । सुगमम् ॥ ३२ ॥
 साध्य-हः (सू. ३३) ॥ परं प्रत्यसिद्धत्वमेवावयविनः
 साध्यत्वम् । स खल्वेवं मेने संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितिः ।
 स एव संविदा व्यवस्थाप्यते यस्तस्या विषयः । स एव विषयो
 य आकारमस्यामर्पयति । न च निरन्तरोत्पन्नरूपादिपरमाण्व-
 तिरिक्तमवयव्याकारं विश्रुतीं संविदमीक्षामहे, किं तु निरन्त-
 रोत्पन्नरूपादिपरमाण्वाकाराम् । स्थौल्यं च न यद्यपि परमा-
 णूनां प्रसेकमस्ति, तथाऽपि प्रतिभासधर्मो बहुत्वादिवन्न पुनर-
 वयविनमेकमवस्थापयितुमर्हति । यदाहुः, सोऽयममूल्यदानक्रयी
 स्वाकारं च ज्ञाने समर्पयति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छयव्य-
 चीति । तदेवं परं प्रत्यवयविनोऽसिद्धेर्विप्रतिपत्तिः । ततः
 साधकबाधकप्रमाणाभावे सति संशय इत्यर्थः । न साध्यत्वं
 स्वरूपेण संशयहेतुरिति मत्वा भाष्यकृदाह । एवं च सतीति ।
 परासिद्धत्वे सतीत्यर्थः ।

साध्यत्वादिति यथाश्रुतं सूत्रं गृहीत्वा वार्तिककारो
 विकल्पाक्षिपति । किं पुनरत्रेति । (२१७ । १) कुत-
 श्चिद्धेतोस्तस्य धर्मिणोऽभ्यनुज्ञानमङ्गीकारमर्हति, सर्व-
 स्यैव हेतोराश्रयासिद्धेरिति भावः । अथाव्यतिरेक इति ।
 सत्येव धर्मिणि तस्यावयवेभ्योऽभेदो धर्मः साध्य इत्यर्थः ।
 अवयव्यपेक्षत्वादिति । पटमपेक्ष्य हि तन्तवोऽवयवा भवन्ति,
 नो खलु रण्डाकरण्डावस्थितास्तन्तवोऽवयवा उच्यन्त इति ।
 न च षष्ठीति । (२१८ । १) पटस्यावयवास्तन्तव इति
 न षष्ठी, तथा च पटस्येति विशेषणाभावे अवयवत्वपात्रं हेतुः
 स्यात्, स च विरुद्ध इत्यर्थः । अनर्थान्तरभावेनावयवत्वमित्य-
 स्योदाहरणम् । न च तन्तुस्त्वन्तोरिति । षष्ठ्यर्थाभावे तूत-

रमुदाहरणमिति । तन्तूनां तन्त्रवयवत्वं ब्रवीतीति ।
तच्छब्दस्य प्रधानपरामर्शकत्वादित्यर्थः । अवयवशब्दस्य
चेति । पूर्वं कारणमविवक्षित्वा अवयवशब्दस्य परापरशब्द-
त्सम्बन्धिशब्दतामात्रं गृहीत्वोक्तं, सम्प्रति कारणत्वं विवक्षि-
त्वोच्यत इत्यपौनस्त्यम् । देशयति । नैव हीति । असत् क्रिय-
माणं निर्वर्त्य, न चास्माकं सत्कार्यवादिनां तदस्तीत्यर्थः । दूष-
यति । एतच्चेति । न हि पटाकारप्रत्ययस्तन्तुमात्रालम्बनो
रण्डाकरण्डावस्थितेष्वपि तन्तुषु प्रसङ्गात् । न च तन्तुपरिमाण-
भेदालम्बनः, तस्य पूर्वमपि सत्त्वात् । असत्त्वे वा सत्कार्यवा-
दव्याहतिप्रसङ्गात् । तस्यैवासत् उत्पत्तेः । तस्मात्तन्तुष्वपरेषु
पर इत्यकामेनापि मिथ्याप्रत्यय इति वक्तव्यं, तथा च दूषणमि-
ति । प्रतिज्ञैकदेशश्चेति । संयोगमात्रपक्षीकरण इत्यर्थः ।
तान्येष तानीति । (२१९ । १३) तान्येव प्रत्यासन्नानि
क्षणभङ्गपरिणामप्रतिक्षेपादित्यर्थः । यथा दण्डाद्यनेकं कारण-
मिति । दण्डवेमाद्यनेकं कारणं घटपटादीनां कार्याणाम् । सं-
योगादिनिमित्तान्तरापेक्षामिति । संयोग आदिर्येषां नि-
मित्तान्तराणां कुम्भकारकुविन्दादीनां तानि निमित्तान्तराणि ।
अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, यथा चित्रगुरिति । तेन साध्य-
स्यैव दृष्टान्ततेति न दोषः । विमृश्यावधारयति । वयं तु
ब्रूमो विभाग उत्पन्न इति । (२२१ । ८) संयोगोऽनपक्षे-
कर्मकारणकः, कर्मकार्यत्वाद्विभागवदिति स्थिते प्रतिबन्धका-
पगमात्रं विभागेन क्रियत इति सिध्यति । यथा वा संयोगः
साधारणकार्यद्रव्येति । यदा हि पटः पाठ्यते तदा येषाम-
वयवानामवस्थितानां संयोगानां पटाख्यं साधारणं कार्यं, तस्य
साधारणस्य कार्यद्रव्यस्य पटस्य च तदसमवायिकारणानां च

संयोगानां केषां चिद्विनाशोत्तरकालमर्द्धपटारम्भे तेषामनपेक्षाणां
कारणत्वं, विभागस्तु कर्मजन्यस्तत्र कतिपयसंयोगविनाशद्वारेण
साधारणपटादिकार्यविनाशमात्रे व्याप्तिर्यते न तु विभागापेक्षो-
ऽर्द्धपटे जनयितव्ये संयोगः कारणमित्यर्थः । न हि प्रमाण-
मन्तरेणेति । (२२२ । २) मिथ्याज्ञानमपि प्रमाणपूर्वकं, सम्य-
ग्ज्ञानपूर्वकत्वाद्विपरीतरूपातेरित्यर्थः । वृक्षास्थितिं भावयद्भिः ।
पूर्वापरप्रत्ययैकविषयस्य वृक्षस्य स्थितिं स्थिरतां भावयद्भिरि-
त्यर्थः । भेदादर्शनामिति । (२२४ । ९) आकारिभेदादर्श-
नम् । यथा घटपटावाकारिणौ भेदेन दृश्येते नैवमवयवावयवि-
नौ, नापि समवायसमवायिनावित्यर्थः । यस्मादयमुपनयो
(२२५ । ७) ऽवयवाश्च तन्तवोऽवयवी च पट इति । पूर्वम-
वयवाश्चेत्येतावन्मात्रं हेतुकृतं, सम्प्रति त्ववयवावयविनावित्य-
पौनरुक्त्यम् । अन्योऽवयवार्थ इति । अवयविनोऽन्योऽवय-
वशब्दार्थ इत्यर्थः । प्रदेशिनोऽन्यः प्रदेशशब्दार्थ इत्यर्थः ।
तत्प्रदेशशब्दस्य व्यपदेशविषयत्वस्येति । (२२६ । ७)
तन्तवो हि पक्षीकृताः प्रधानमिति तदिति सर्वनाम्ना हेतुगतेन
पराम्प्रवृत्त्याः । तथा च तन्तुप्रदेशस्य व्यपदेशविषयत्वं न तन्तु-
नामित्यसिद्धो हेतुरित्यर्थः । तेभ्यस्तूत्पत्तेरिति—कल्पितस्य
हेतोर्विवरणं तन्तुभ्यस्तूत्पद्यते पट इति । उभयेन व्या-
घातादिति । (२२ । ९) अभ्युपगमे नानभ्युपगमेनेत्यर्थः ।
द्रव्यान्तरेति । द्रव्यान्तरोत्पत्तिदेशावच्छेदो व्य-
वच्छेदः । यथा पटोत्पत्तिदेशादन्यो घटोत्पत्तिदेश इत्यर्थः
व्यक्त्यादिधर्मभेदेनेति । आदिग्रहणेनाविर्भावसंस्थानादय-
उच्यन्ते ते च कारणव्यापारात्पूर्वं नासन्निति जन्मापि ते-
षामपूर्वमित्यर्थः । यथा चक्रादिभ्यो (२२८ । ४) रथावय-

बोध्य इत्यर्थः । हिमवत्परमाणुकमिति । (२३० । १) पर-
माणुग्रहणं सूक्ष्मद्रव्योपलक्षणार्थम् । न पुनः परमाणोर्द्व्यणुका-
दन्यत्रारम्भसम्भवः । न च विवादाध्यासितः परमाणुर्न मह-
द्द्रव्यमारभते परमाणुत्वाद् व्यणुकारम्भकपरमाणुवत् । अमह-
त्त्वाच्च न हिमवत्परमाणुकं प्रत्यक्षं स्यात् । तस्माद्धिमवद्धिम-
बिन्दुभ्यां संसर्गिभ्यां संयोगादवयविद्रव्यमारभ्यते महत्त्वं चा-
स्यावयवमहत्त्वादुत्पद्यते । तथा च चाक्षुषत्वमस्य भवति । एवं
तोयदविमुक्तोदबिन्दूदधिसंयोगाद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिः प्रतिपत्त-
व्या । भावो ऽप्रत्यक्षः स्यादिति । भावः सत्ता । ननु यथा
संयोगः संयोगिद्वयनिरूपणाधीननिरूपणः तयोरेकस्यैवाप्रत्य-
क्षत्वे न प्रत्यक्ष एवमवयवाप्रत्यक्षत्वे नावयवी प्रत्यक्षः स्यादि-
त्यत आह । न चायं पक्ष इति । संसृज्यमाननिरूपणाधीननि-
रूपणो हि संसर्गो युक्तं यत्तदनिरूपणे न निरूप्यतइति । न
त्ववयव्यवयवनिरूपणाधीनो यत्तेष्वनिरूपितेषु न निरूप्यत
इति । व्यणुकस्यावयवाग्रहणे ऽपि ग्रहणात् । एवं विदूरवर्त्तिनो
हस्तिवनस्पत्यादेरवयवाग्रहणेऽपि ग्रहणादिति भावः । न च
तत्कृतो ऽस्ति भेद इति । न ग्रहणाग्रहणकृतो भेद इत्यर्थः ।
न हीन्द्रियमन्यस्य सांख्यस्यान्यथा सूक्ष्मत्वेनार्थं प्रकाशयति ।
अन्यस्य नैयायिकस्यान्यथा स्थौल्येन अविकल्पत्वादैकरूप्ये-
णावस्थानादिति । प्रत्यक्षप्रमाणविरोधादिति । (२३२ ।
५) महाभूतानां हि मूलकारणं परमाणवः परमसूक्ष्मास्तेषाम-
प्रत्यक्षत्वे मानसानुव्यवसायगम्यं परमसूक्ष्मविषयं मे प्रत्यक्ष-
मिति तदभावश्चात्मनि संयुक्तविशेषणेन मनःसन्निकर्षेण प्रत्यक्ष-
विरोध इत्यर्थः ।

एके त्विति । यमेव हि व्यणुकं दृश्यं भवन्तो दृश्यावय-

वमाचक्षते तमेव वयं परमाणुमाचक्षमहे, न हि तदवयवकल्पना-
यामस्ति परमाणमिति भावः । कथमवगम्यते भिद्यते असरे-
णुरिति । अङ्गुल्यग्रास्यां मृद्यमानस्यास्यादर्शनं सूक्ष्मतया ऽप्यु-
पपद्यते । जालसूर्यमरीचिस्थमेव तद्रजः कथं चिदुपलभ्यते ना-
न्यथेति भावः । द्रव्यत्वे सतीति सामान्यसमवायौ निवर्तयति ।
बाह्येत्यात्मानं निवर्तयति । अनित्यत्वाच्चेति । अनन्तावयव-
त्वेन मेरुसर्पपयोरभिन्नपरिमाणत्वप्रसङ्गात् महाभूतमूलकारणम-
नवयवं कल्पनीयं न च द्रव्यमनवयवं विनश्यति आकाशादिव-
दिति नित्याः परमाणवस्त्रसरेणवस्त्वनित्या इति न परमाणुः ।
अनित्यत्वमेव कुत इत्यत आह । सामान्यविशेषवत् इति ।
संहतानामिति । रूपादीनां सङ्घातः परमाणुरिति । नचा-
संहतप्रतिषेध इति । अप्रतिषेधे वा तएवासंहताः परमाणव इति
भावः । संयुज्यते चायं विभज्यते चायमवयवव्यन्तरेणेति
न व्यतिरेक इति । यथा भिन्नात्संयोगाप्राप्त्यभावो व्यावृत्त-
एवमभिन्नादपि, न हि स एव तन्तुस्तेनैव तन्तुना प्राप्यतइ-
त्यर्थः । सत्त्वरजस्तमसां न संयोगः किं तु तेषां स्वाभाविकः
स को ऽपि परिणतिभेदो यतः संभूयकारित्वमित्यर्थः । गुरु-
त्वान्तरकार्याग्रहणादिति । (२३३ । २१) अवयवगुरु-
त्वाद् गुरुत्वान्तरमवयविनस्तस्य यत्कार्यमवयवविशेषस्तस्याग्र-
हणादित्यर्थः । सत्यमुपपादितः पक्षधर्म इति । (२३४
१०) कार्याग्रहणेन कार्याभावस्ततः कारणस्य गुरुत्वस्याभाव-
इत्यर्थः । प्रतिषेध्यं कार्यगतरूपादि तदभ्यनुज्ञातं भवती-
ति । तथा ऽपि कुतः प्रत्यक्षविरोध इत्यत आह कारणरूपा-
दय इति । चोहेतौ । एतेन कार्यं रूपादिप्रतिपत्तिः
प्रत्युक्ता निषेध्यत्वेनेति । यदा हि कार्यमेव रूपादि नास्ति

तदा कस्मात्तत्र रूपादिप्रतिपत्तिः प्रतिषिध्यते इत्यर्थः । यथा
रूपाद्यन्तरकार्यमिति । अवयविगतानां रूपादीनां कार्यं
रूपसंस्कारादवयविनश्चाक्षुषता एवं दृश्यतेति । उपन्यासः
स्थापनम् ।

यद्यप्ययमवनमनविशेषाभावस्तुलाव्यधिकरणः न, तथाऽपि
न शाब्दी तुलासंबन्धिताऽस्य प्रतीयते, किं त्ववनमनविशेष-
संबन्धितेत्येतावतोक्तम् । सोऽयमिति । (२३५ । २) असिद्ध-
स्तावदित्यकदेशिनो दूषणम् ।

तदेतदेकदेशिदूषणं दूषयति । न तद्वत्तानुपलब्धेः । पर-
मार्थदूषणमाह । अयमपीति । गुरुत्वमात्रोपहितानामणूना-
मवनमनविशेषं न करोति तुला । द्रव्यसमाहार इति (२३६ ।
२) कार्यकारणद्रव्यसमाहारो मृत्कणमृच्चूर्णशर्कराकपालकुम्भ-
समाहार इत्यर्थः । ननु समाहारः कुम्भस्य कारणं तच्च ज्ञातेयद्गुरु-
त्वमेवेत्यत आह । न चेति (२३६ । ३)

ये त्वाहुः सर्वो मृत्कणादिः कुम्भपर्यवसानः कार्यसमूहः
परमाणुष्वेव समवैति, ते हि मृत्कणादिकमारभ्य मृच्चूर्णान्यार-
भन्त इति । प्रसङ्गात्तन्मतमपाकर्तुमुपन्यस्यति । के चित्त्विति ।
निराकरोति । तान्प्रतीदमिति । गुरुत्वमनुपतदिति ।

(३३७ । ७) न च यथा प्रदीपाधीनप्रकाशाघटादयो न तु
प्रदीपः प्रदीपाधीनप्रकाशः तस्य स्वमहिमनिषिद्धतमोनुषङ्गत्वात् ।
एवं गुरुत्वाधीनपाता घटादयो, गुरुत्वं तु स्वस्य चान्येषां च
गुरुत्वान्तरानपेक्षं पतनहेतुरिति वक्तव्यम् । न हि प्रदीपेन
स्वात्मनि प्रकाशयितव्ये किं चिदन्यत् क्रियते, यादृशा घटा-
दयः स्वप्रकाशोत्पादे तादृशः प्रदीपोऽपि । चाक्षुषः पुनरयं
स्वभावभेदो येन घटादौ प्रकाशयितव्ये प्रदीपमपेक्षते न तु प्र-

दीपे प्रकाशयितव्ये प्रदीपान्तरमिति । तस्मान्न प्रदीपस्य स्वा-
त्मनि कर्मकरणभावः । गुरुत्वं तु द्रव्यगतस्य पतनकर्मणः क-
रणं, तेन हि द्रव्यं पात्यते । स्वगतस्य तु पतनकर्मणः करणत्वे
तदेव कर्म करणं चेति स्वात्मनि वृत्तिविरोधः । आत्मनस्तु
स्वात्मनि प्रकाशयितव्ये कर्तृत्वमेव न कर्मत्वमित्युपपादितमि-
ति । तस्माद्गुणादयो विवादाधिकरणा न पतन्ति अद्रव्यजाती-
यत्वाद्गुरुत्ववदिति सिद्धम् । सिद्धान्त्याह । वेद पुनरिति ।
कारणं प्रमाणम् । रूपादयो न संयोगरूपप्राप्तिमन्तः गुणत्वात्संयो-
गवदित्यप्राप्ते रूपादिषु निश्चयात्तददर्शननिमित्तो रूपादिषु
प्राप्तिभ्रमो द्रव्येषु प्राप्तिप्रत्ययः परिमार्थिक एवेति विनिश्चयः ।
तदनेनाभिप्रायेणोपसंहरति । तस्मान्नवस्थितमिति । (२३८।
८) शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ३३ ॥

सर्वा-द्धेः (सू. ३४) ॥ स्यादेतद् यथा अवयविनं
नाभ्युपैति परः एवं गुणकर्माद्यपि । तत्कथमयं प्रसङ्गः परस्य
सर्वाग्रहणमित्यत आह तदिदं सूत्रमिति । (२४० । ९)
योऽपि हि तावद् गुणकर्मादि नेच्छति सोऽपि न तत्प्रत्यय-
मपन्हुते अस्ति लौकिकपरीक्षकाणामवयविद्रव्यगुणकर्मादिप्रत्य-
यः सोऽयमशक्यापन्हवः तस्य च प्रत्यक्षत्वमुपपादितं प्रत्यक्ष-
लक्षणे । अवयविद्रव्यबाधकानि च प्रमाणान्यधस्तान्निराकृता-
नि । सोऽयमस्ति बाधके स्वयं च गुणादिभिश्च सहोपलभ्य-
मानो न शक्यो निराकर्तुमित्यधिकरणार्थः ॥ ३४ ॥

धार-श्च (सू. ३५) ॥ ते एते धारणाकर्षणे गो-
घटादिकमुपलभ्यमानमवयविनं साधयतः, कुतो निरवयवे
विज्ञानाकाशादौ, अवयवे च परमाणौ चादर्शनात् । इदमेवं
प्रयोगमारोहति । योऽयं दृश्यमानो गोघटादिरवयवी परमा-

णुसमूहभावेन विवादाध्यासितः नासावनवयवी धारणाकर्षणा-
 नुपपत्तिप्रसङ्गात् । यो यो ऽनवयवी तत्र तत्र धारणाकर्षणे न
 भवतः यथा विज्ञानादौ, न चायं गोघटादिस्तथा तस्मान्ना-
 नवयवीति । न विरोध इति (२४१ । ३) व्यभिचारलक्ष-
 णो दोषो विरोधः । अवयविन एव ते प्रत्येकमिति । पर-
 माणुसमूहे तु प्रत्येकमपि न परमाणवो ऽवयविन इत्यर्थः ।
 विशेषहेत्वभावादिति । एवं हि विशेषहेतुः स्याद् यद्यव-
 यविनमन्तरेण क चिद्विज्ञानाकाशादौ संग्रहश्चोक्तलक्षणो धा-
 रणाकर्षणहेतुता वा ऽस्य दृष्टा स्यात् । न चासौ दृश्यते काष्ठ-
 तृणोपलादयः प्रत्येकमवयविन एवेत्यर्थः । स्यादेतत् । अव-
 यवित्वेन तुल्यत्वे ऽपि कस्मादेकत्र धारणाकर्षणे नान्यत्रेत्यतः
 आह । पांशुराशीति । समूहमात्रत्वेन तुल्यत्वे ऽपि यथा क-
 श्चिद्विशेषे हेतुरेवमवयवित्वेन तुल्यत्वे ऽपीति समानमित्यर्थः ।
 तत्सहचरितस्य सम्बन्धविशेषः स्नेहद्रवत्वकारित इति ।
 तस्माद्भाष्यकारस्य सूत्रदूषणं परमतेन द्रष्टव्यम् ॥ ३५ ॥
 अथेदानीमन्वयिन इति । अन्वयव्यतिरेकिण इति ।
 पदो ऽयमित्येकाविषया बुद्धिरेकबुद्धिः तन्तव इति नानाविषया
 बुद्धिरनेकबुद्धिः । समुच्चितासमुचितविषयत्वादिति ।
 असमुचितविषयत्वादेकबुद्धेः समुचितविषयत्वाद्नेकबुद्धेरिति ।
 आशङ्कत इतरसूत्रम् ।

सेना-नाम् (सू. ३६) ॥ तथोक्तमिति । (२४२ ।
 ९) बहुत्वसंख्यैव सेना वनं चेति । यस्तु मन्यते सेना वन-
 मिति व्यपदेशाय तज्जनिताया वा विज्ञानाय बहुत्वसंख्या कथं
 चित्कारणं सम्भवति यस्त्वयमैन्द्रियकः प्रलयः प्रत्येकमगृहीतैक-
 त्वेषु वृक्षेष्वनुत्पन्नापेक्षाबुद्धेर्द्रागित्येकघनवनावगाही जायते तत्र

कारणाभावेन बहुत्वस्यानुत्पादान्न बहुत्वसंख्यालम्बन इति
 न परितुष्यति तं प्रत्याह । अभेदप्रत्ययस्य चेति । उपलभ्य-
 मानरूपेष्वेव कुतश्चिन्निमित्तादनुपलभ्यमानपृथ(त्के)षु मिथ्याऽभे-
 दबुद्धिर्भवति । न पुनः सर्वथानुपलभ्यमानेष्विति तात्पर्यार्थः ।
 यस्तु नोभयपक्षसंप्रतिपन्नमस्ति जगति किं चिदेकमिति मन्यते
 तं प्रत्याह । एकं नास्तीति । स्यादेतत् । दूरात्काष्ठलोष्ठवृण-
 पाषाणादयः प्रत्येकं पृथक्कृता नोपलभ्यन्ते । समुदायस्तु ते-
 षां दृश्यते । न च ते द्रव्यान्तरमारभन्ते विजातीयत्वात् तथा
 मा भूवन् परमाणवः प्रत्येकं दृश्याः समूहस्तु तेषां दृश्यते वि-
 नैव कार्यान्तरारम्भमित्यत आह । गृह्यमाणग्रहणस्य चेति ।
 (२४३।३) तेषामेवागृह्यमाणानामपि मिलितानां दर्शनं येन रूपेण
 ग्रहणयोग्यता निमित्तान्तरात् न गृह्यन्ते, परमाणवस्तु परम-
 सूक्ष्मतया न स्वरूपेण ग्रहणार्हा इति मिलिता अपि न ग्रहीत-
 व्या एव, न जातु मिलिता अपि पवनसमूहा भवन्ति चाक्षुषाः ।
 रूपवन्महत्त्वमपि भावानां स्वरूपयोग्यता ग्रहणं प्रतीति भावः ।
 ततश्च त एवैन्द्रियका अनैन्द्रियकाश्चेति महान्विरो-
 धः । अत्रान्तरे वार्त्तिककार आह स्म—को वा विरोधो-
 बहवः संजातातिशयाः पृथक्भवेयुः कारणं बुद्धेर्यदि ना-
 मेन्द्रियादिवदिति । एतदपि वार्त्तिककृतैवाथाऽनुपजा-
 तविशेषा इति वदता परास्तम् । न खलु स्थैर्यसिद्धौ भा-
 वानामयवविद्रव्योत्पादमन्तरेणास्यन्यो ऽतिशयः— परमाणू-
 नाम् । न च यमागन्तुकमासाद्य परमाणवो ऽवयविनं जन-
 यन्ति तेनैव स्थूलबुद्धिं, कृतमवयविनेति सांप्रतम् । यदाभासा
 हि बुद्धिस्तदस्या आलम्बनप्रत्ययः । न चेयं परस्परव्यावृत्तपरम-
 सूक्ष्मपरमाण्वालम्बना तथा सति स्थूलभेदात्तदेकमिति न स्या-

तु । न चैष प्रत्ययो विकल्पः स्पष्टप्रतिभासत्वात् । न वाऽविक-
ल्पोपाधिरस्य विशदता निर्विकल्पकेनापि तस्याऽग्रहणात् । न
च प्रतिभासधर्मः स्थौल्यम् । नानादिग्देशस्थितस्य निरन्तरस्यै-
केन विज्ञानेन ग्रहणं स्थौल्यम् । तत्खल्वीदृशत्वं परमाणूनां प्र-
तिभाससमयभावीति प्रतिभासधर्म इत्युच्यते । तथा चैष समी-
चीन एवानुभवः न हि ते न परमाणवो न च न निरन्तरोत्प-
न्ना न च न दिग्देशभिन्ना न वैकस्मिन्विज्ञाने न चकासति ।
तस्मात् कस्यात्रान्यथात्वम् । यथा ऽऽह —

“न च तद्दर्शनं भ्रान्तं नानावस्तुग्रहा(द्य)त्स्वतः ।

सांवृतग्रहणं नान्यन्न च वस्तुग्रहो भ्रमः” इति ।

अत्र तावत्तिलतण्डुलवद्वन्धरूपरसस्पर्शपरमाणुभिरन्तरित-
तया नैरन्तर्यमेषां नास्ति । तस्मादन्तरालाग्रहणे दूरादेकघनव-
नप्रत्ययवदयं मिथ्याप्रत्ययो रूपादिपरमाणूनां सान्तरत्वाद्
अनेकत्वाच्च । न चासति बाधके मिथ्येति युक्तम् । उक्तञ्च बाध-
काभावः, स्थेमा च भावानामुपपादयिष्यते । तस्मादयुक्तमेत-
दपीति ।
हृदमेव परीक्ष्यत इति भाष्यम् । सर्वत्रावयविनमपन्हुवा-
नस्य अतीन्द्रियं वाऽणुसंचयमात्रमिच्छतः सेनावनाङ्गाना-
मपि करिकुसुम्भादीनामतीन्द्रियाणुसंचयमात्रत्वाद् दृष्टान्ताभावः
इति तात्पर्यार्थः । शङ्कते दृष्टमिति चेत् । सेनावनाङ्गानि ता-
वद् दृष्टतया न शक्यान्वपहोतुमिति सिद्धं निदर्शनमित्यर्थः ।
निराकरोति । तच्च नैवमिति । यदि दृष्टमप्रत्याख्येयमवयवव्यपि
दृष्ट इति सोऽपि न प्रत्याख्येयः । अथायं परीक्ष्य प्रत्याख्याय-
ते सेनावनाङ्गान्यपि प्रत्याख्येयानीति दृष्टान्ताभावः साध्यसम-
त्वादिति भाष्यार्थः ।

वार्तिकं यथायमनेकस्मिन्निति । अविद्यमानो विशेषः
 शुक्तौ रजतत्वं तस्य दर्शनं वणिग्वीथ्यादौ तस्य द्वारं संस्कारः
 तेनाध्यारोपितः शुक्तिविपरीतधर्मो रजतत्वं येन सामान्यदर्श-
 नेन तत्तथोक्तं तस्य भावः तच्चा सामान्यदर्शनस्येति । तिरोभू-
 तभेदमुपमानमेव भाक्तं भेदोल्लेखेन ज्ञायमानमौपमिकमिति विवेकः
 (संज्ञाज्ञानमौपमिकोदाहरणम्) । यथा सिंहो माणवक इति ।
 (२४४ । ५) नन्वेतदपि तिरोभूतभेदतया भाक्तमेवेत्य आह ।
 सिंह इव सिंहः । अयमर्थः । सिंहशब्दादुपमानादाचारे स-
 र्वपातिपदिकेभ्यः किव्रिति किवन्तात्कर्त्तरि अचि कृते सिंहशब्द
 उपमानार्थो भवति । नानाभावे चाणूनामित्यादिमाष्यं व्या-
 चष्टे । मिथ्याप्रत्यया अपीति । तदभावे तु । प्रधानभावे
 तु घटादौ मिथ्याप्रत्यया इति । परमाणुषु संचितेष्विति ।
 येषामपि घटो स्वयवी तैरपि परमाणुसंचयो ऽभ्युपेयः येषाम-
 प्यवयवी नास्ति तैरपि परमाणुसंचय उपयः सो ऽयमुभयसंमतः
 संचय इत्यर्थः । ते ऽपि संचिता एवेति । वैभाषिकाः खलु
 वात्सीपुत्रा भूतभौतिकसमूहात् पटादीनपि शब्दादीनिच्छन्ति अत-
 स्तेषां मते शब्दादयो ऽपि संचिता एवेत्यर्थः । अपि चास्मन्मते
 ऽपि शब्दादीनां न मुख्यमेकत्वं सङ्ख्याया गुणस्य गुणेषु श-
 ब्दादिष्वभावात् । अपि तु भाक्तमेवेत्यत आह । शब्दादिषु
 चैकप्रत्यय इति । शङ्कते सर्वत्रेति । (२४५ । १) निराक-
 रोति । न द्वे इत्यत्रेति । समुच्चयनिवृत्तिमात्रमेव चेदेकत्वं
 द्वित्वनिषेधेन समुच्चयो निवर्त्ततइति । तन्निवृत्तिमात्रमेकत्वेमेवेति
 एकमनेकं वेति संशयो न स्यात् । न च तत्रोत्तरमेकमेवेति नि-
 यमार्थं भवेदिति । गतौ । प्राप्तौ । शङ्कते सर्वत्रेति । निरा-
 करोति । नैकमित्यत्रेति । अयमाभिसंधिः । द्वित्वादीनामभावे

समुच्चयमात्रं स्यात् । न तु समुच्चयानामवान्तरभेदः तथा च नै-
कमित्यसमुच्चयसहितैकत्वसमुच्चयः प्राप्त एवेति न संशयः स्यात् ।
इदं त्विह वक्तव्यम् । शब्दादौ द्वित्वाद्यभावे कथं द्वित्वादिप्रयो-
गः । भाक्त इति चेत् । किं भक्तिनिमित्तं । समुच्चयमात्रं चेत् कुतो द्वा-
विति नियमः । समुच्चयविशेषादिति चेद् नन्वस्य नास्त्याजानतो
भेद इत्युक्तम् । न चेद् द्वित्वमस्ति यद्विशिष्यात् तथा चाकामे-
नापि समुच्चयानामवान्तरभेदः स्वाभाविको वक्तव्यः । तथा च
स एवास्तु संशयविषयः कृतं द्रव्ये द्वित्वादिनेति । तस्मात्सं-
विदेव भगवती वस्तुपगमे नः शरणं समुच्चयादिविलक्षणं द्वि-
त्वाद्यवगाहमाना व्यवस्थापिका द्वित्वादीनां तदनुसरणप्रकार-
श्च युक्तिबहुलतया वार्तिककृता कृत इति मन्तव्यम् । यः पुन-
रनुभूयमानमेकत्वं द्वित्वादींश्चानुभूयमानान्न प्रतिपद्यते तस्य
खल्वनुभवमपन्दुवानस्य निर्मर्यादतयैकत्वाधारो ऽपि नास्तीति
कस्य समुच्चयो द्वित्वादिः स्यात् । समुच्चयभावे ऽपि कस्या-
भावे एकत्वं स्यादित्याह । यः पुनरिति । अपि च एकत्वा-
दीन् मुख्याननभ्युपगच्छतो ऽयमपि भाक्तः प्रयोगो न स्यादि-
त्याह । एकत्वं द्वित्वादींश्चेति । भाष्यमनुभाष्यव्याचष्टे ।
तेषु चैवमिति । (२४६ । २) इयत्ता ऽनवधारणादि-
ति । प्रत्यक्षपरिमाणविषयमित्यत्रावधारणं परममहतां त्वप्रत्य-
क्षपरिमाणानां सत्यपीयत्तानवधारणे नापरिमाणता द्रव्यत्वेन
व्योमादीनां परिमाणानुमानादिति । यथा महत्परिमाण
इति । कुवलयपरिमाणादामलकपरिमाणं महदिति लौकिका व्य-
पदिशन्ति । यथा कुवलादामलकं महदिति । न च परिमाणस्य
परिमाणयोगः अनवस्थाप्रसङ्गादिति । तस्माद्भाक्तो ऽयं व्य-
पदेशो महत्त्वे महदिति । तस्मिन् तच्चशब्दो भाक्तमहच्छब्दवान्

गुणत्वान्महत्त्ववत् गुणत्वं च शब्दस्यानुमानलक्षणे प्रसाधितम् ।
 भाक्तं च मुख्यपूर्वकमिति क चिन्मुख्येन महत्त्वेन भवितव्यं
 तच्चासति बाधके द्रव्ये मुख्यमिति सिद्धम् । न महत्प्रत्यय-
 विषयत्वादिति । (२४७ । १६) न तन्मात्राद् अपि त्व-
 बाधितादनन्यथासिद्धादिति तदेवाह । अपि त्वित्यादि । अने-
 नानन्यथासिद्धिर्द्रव्ये महत्प्रत्ययस्य दर्शिता । तथैकादिमह-
 त्प्रत्यया इति । (२४८ । १०) समुदायमेकमाश्रित्येति शेषः ।
 समुदायश्च समुदायान्तरप्राप्ताविति । यदा हि भि-
 न्ना अपि समुदायिनः प्राप्या एकीकृता एकः समुदायः तदा
 समुदायान्तरमपि समुदायान्तरेण प्राप्तमेकः समुदायो न चैक-
 स्यात्मना प्राप्तिरस्ति । न हि तदेवाङ्गुल्यग्रं तेनैवाङ्गुल्यग्रेण
 प्राप्यते ततश्च द्वयोः समुदायाप्राप्तिरित्युक्तमित्यर्थः ।
 चोदयति । नैव जातिरस्तीति । अयमभिसंधिः न सा-
 मान्यं नाम वस्तुसद् यस्याश्रयो वस्तुभूतो ऽनुस्रियते । तथा
 हि तत्पिण्डे वा वर्तते सर्वत्र वा, यदि सर्वत्र सर्व एव गावः
 प्रसज्येरन् यथा हि शाबलेयादयो गोत्वाभिसंबन्धाद् गाव एवं
 विश्वमेव तत्सम्बद्धमिति गौः प्रसज्येत । अथ केषु चिदेव पिण्डे-
 शु वर्तते तदा वक्तव्यं ततो यदा क चिद्देशेपिण्डो जायते तदा
 वक्तव्यं कुतस्त्यं पुनरस्य गोत्वमिति । न तावत्तत्रापि पिण्डो-
 त्पादात्पूर्वमासीन्नापि पिण्डान्तरादागतं तस्य निष्क्रियत्वात्पि-
 ण्डान्तरस्यागप्रसङ्गाच्च । न च पिण्डे जायमाने जायते अनिस-
 त्वापत्तेः पिण्डान्तरस्य च गोत्वाज्जन्माजन्मस्वरूपविरुद्धधर्मा-
 ध्यासेन भेदे ससामान्यत्वप्रसङ्गः । तदितो महाव्यसनाद्वि-
 भ्यता सांघृतमेव सामान्यमास्थेयं न पारमार्थिकमिति । परिह-
 रति । जातिविशेषस्येति । (२४९ । २) प्रत्ययानुवृत्तिर्य-

द्यपि प्रसङ्गा तथा ऽपि विप्रतिपन्नं प्रति सैव लिङ्गमुच्यते । स-
 न्ति हि के चिद्भावा ये सहावस्थाने ऽपि परस्परमसम्बद्धा
 यथा समानकाला गन्धरसरूपस्पर्शा विज्ञानानि च बहूनि परेषां
 समानकालान्यप्यसंसर्गाणि । दिक्कालाकाशात्मानश्च सहाव-
 स्थाना अपि परस्परसंसर्गाणि वैशेषिकाणां तथा सामान्यमपि
 सर्वासंबद्धमपि सर्वैः सहावतिष्ठते । यास्त्वस्य व्यक्तयस्ताभिः
 परं सम्बध्यन्ते । तथा च यत्र जायन्ते व्यक्तयस्तत्रासम्बद्धावपि
 स्तः सामान्ये समवायाविति । तासां जन्मैव सामान्यसमवाया-
 वच्छेदः । स च स्वकारणादननुयोज्य इति वस्तुगतिं
 प्रामाणिकीं विद्वांसो नास्माद्दूषणाद्विभ्यतीति । बाधकान्तराणि
 चास्यावयविव्याख्यानेन प्रसङ्गानि । तावदेव तर्ह्यधि-
 करणं जातेः प्राप्तमिति । ये ये वृक्षत्वादिजातिमनपेक्षा
 व्यञ्जयन्ति ते ते परस्परं वृक्षादिव्यक्तितया भिद्यन्ते । यथा
 किंशुकाशोकचम्पकादयो भिन्नास्तरवस्तथा स्वर्गभागमध्यभागा-
 परभागा अपि भिन्नास्तस्य स्युः । अवयविनि तु जायमाने
 नायं दोषः । तस्य सर्वावयवसाधारण्येन प्रत्यभिज्ञायमा-
 नत्वात् । न चैवमवयविनो ऽपि तावन्तः स्युरिति वाच्यम् ।
 तस्यैकस्य सर्वावयवसाधारण्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । अवय-
 वान्तरस्य तु नावयवान्तरे प्रत्यभिज्ञानमिति । तेषां वृक्षव्यक्ति-
 हेतुत्वे वृक्षानेकत्वप्रसङ्ग इति । सर्वापकृष्टः संघातश्चेति
 व्याघातः । संहन्यमानापेक्षयाऽनपकर्षादित्यर्थः ।
 सांख्यमवयवेभ्यो ऽनर्थान्तरमवयविनं मन्यमानं प्रति
 प्रयोगमाह । अर्थान्तरमिति । (२५०।१८) प्रावरणसामर्थ्यं
 पटस्य तन्तूनां तु पटोत्पादनसामर्थ्यम् । तन्तुपटरूपे इति ।
 तन्तूनां नीलपीतलोहितादिरूपं पटस्य तु चित्रं तत्र नीला-

दीनां समवायिकारणं तन्तवः चित्रस्य तु पटः । एवं तन्तु-
पटयोः सावर्ण्ये ऽपि कश्चिद्विशेष उच्येत । विशेषवत्त्वं च वैय-
धिकरण्येन प्रतीयमायनत्वं तेन च भिन्नकारणत्वं भिन्नसमवा-
यिकारणत्वं साध्यत इति न सिद्धसाधनं नाप्यनैकान्तिकत्व-
मिति । ये तु पक्षहेतू अन्यथाकारं गृहीत्वा दूषयांश्च भूवुः
तन्मतमुपन्यस्य दूषयति । एके त्विति ।

अनुमानमिदानीमिति भाष्यम् । अत्रेदानींपदार्थमाह
वार्तिककारः । अथेदानीमवसरप्राप्तमिति । (२५१।५)
उद्देशक्रम एव लक्षणपरीक्षयोः सम्बन्ध इत्यर्थः ।

रोधो णम् (सू ३९) ॥ अप्रमाणपदस्य व्याख्यान-
भाष्यमेकदा ऽपीति । प्रतिपादकं निश्चायकम् । लक्ष्यपरत्वा-
लक्षणस्य लक्षणयुक्तस्य लक्ष्यस्य व्यभिचारादप्रमाणत्वेन लक्ष-
णमेव दूषितं भवतीत्यर्थः ।

वार्तिकम् । पूर्ववदादेरुदाहरणानीति । अत्र च नदी-
पूरमयूरवाशिते शेषवत् उदाहरणे पिपीलिकाण्डसञ्चरणं चाचिर-
मुत्पत्त्यमानस्य वर्षस्य न कार्यं न ह्यनागतं कारणं भवति पूर्वो-
त्पन्नस्य । न च नासावक्रत्वादयो ऽप्यनागतेन मरणेन क्रियन्ते
तथा सति पुत्रो ऽपि पितुः कारणं स्यादिति सर्वमवदातम् ।

कार्यकारणभावव्यवस्थापनं लौकिकं भवेत् । नियमवान्
खलु प्राग्भावः कारणत्वस्य व्यवस्थापको नियमवांश्च पश्चा-
द्भावः कार्यत्वस्य व्यवस्थापकः नासावक्रत्वादयो मरणस्य
यत्कारणं तस्य पूर्वकार्याणीति प्रत्यासत्त्या ऽनयो मरणमनु-
मापयन्ति । न च पिपीलिकाण्डसञ्चरणं वर्षस्य कारणमनु-
पलब्धसामर्थ्यात् । असत्यपि तस्मिन्वर्षस्योत्पत्तेः । वर्षमूल-
कारणस्य तु महाभूतसंक्षोभस्य पिपीलिकाण्डसञ्चरणं पूर्वकार्यं

३७-३९ सू० ५ प्र०] अनुमानप्रामाण्यवर्तमानपरीक्षे । ४०३

कथ्यमानाः खलु पिपीलिका भौमेनोष्मणा स्वान्यण्डानि भूमि-
ष्ठान्युपरिष्ठान्नयन्ति । तस्मात्पिपीलिकाण्डसञ्चारेण वर्षकारण-
मनुमाय यदि वर्षकारणात्कार्यं वर्षमनुमिमते अनुमातरः तदा
पूर्ववदुदाहरणम् । अथ कार्यकारणभावमबुद्धैर् तदा कार्यका-
रणभावाभावेन सामान्यतोदृष्टस्योदाहरणमिति मन्तव्यम् ।
उदाहरणव्यभिचारद्वारकमिति । लक्ष्यदूषणद्वारेण लक्ष-
णस्य दूषणमित्यर्थः । न हि व्यभिचारलक्षणस्यानुमानांप्रा-
माण्यप्रतिपादकस्यानुमानस्य व्यभिचारे किं चित्प्रमाण-
मस्तीति ॥ ३७ ॥

भाष्ये पिपीलिकीप्राशस्येति । प्रायशब्दः प्रबन्धार्थः ॥ ३८ ॥
तदेवमनुमानलक्षणपरीक्षाद्वारेणानुमानलक्षणं परीक्ष्य संप्र-
त्यनुमानविषयपरीक्षया अनुमानपरीक्षामवतारयति भाष्यकारः ।
त्रिकालविषयमिति ।

तत्र वार्तिककारः सत्यां कालस्य सिद्धौ वर्तमानत्वं
परीक्ष्यते स एवापरीक्षितोऽद्यापि न सिध्यतीति काल-
स्वरूपं परीक्षते । तत्र तावदिति । (२५२।२२) त्रि-
कारण्येयमिति । (२५३।३) कारणान्तरवैकल्यं विषय-
स्यायोग्यत्वमभावो वा विषयस्येति त्रीण्यनुपलब्धिकारणानीति ।
अथ धर्मोऽपि नास्तीति । भावरूपो हि हेतुरभावाधिकरणो
न भवति अभावरूपस्य त्वभावाधिकरणत्वाविरोध इत्यर्थः ।
परिहरति । साधनार्थो ह्ययते । न हि पराभिमतो ऽभावः
सर्वसामर्थ्यरहितः साधनं कस्य चिद्भवति अस्मदभिमत-
तस्त्वभावः परतन्त्रोभावाधिकरण एव नानाधिकरणो नाप्य-
भावाधिकरण इत्यर्थः । एवं कालस्य बाधकप्रमाणाभावमुक्त्वा
साधकं प्रमाणमाह । परापरादीति । स्वयं विद्यमानयोर-

नियतदिग्देशयोः समानदिक्कयोर्वा देशतस्सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोर्वा
विप्रकृष्टसन्निकृष्टयोर्वा युवस्थविरयोरेकस्मिन् शरीरावस्थाभेदा-
नुमितातीतसूर्योदयास्तमयरूपक्रियाप्रचयबहुत्वान्तरितजन्मानि स्थ-
विरे युवानं शरीरावस्थाभेदानुमितातीतसूर्योदयास्तमयरूपाक्रि-
याप्रचयाल्पत्वान्तरितजन्मानमवधिं कृत्वा विप्रकृष्टा बुद्धि-
रुत्पद्यते तामपेक्ष्य बहुतरसवित्रुदयास्तमयविशिष्टेन काल-
प्रदेशेन योगाद्वीयसि परत्वस्योत्पत्तिः एवं वर्षीयांस-
मवधिं कृत्वा यवीयसि सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते तामपेक्ष्या-
ल्पतरदिनकरोदयास्तमयाल्पत्वान्तरितजन्मानमवधिं कृत्वा वि-
प्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते तामपेक्ष्य बहुतरसवित्रुदयास्तमयप्रचयवि-
शिष्टेन कालप्रदेशेन योगाद्वीयस्य परत्वस्योत्पत्तिः । तयोश्च
कालपिण्डसंयोगयोः प्रत्यक्षत्वं न लोकसिद्धं, ते एते परत्वाप-
त्वे कालपिण्डसंयोगादुत्पद्यमाने कालकारणविशिष्टमात्मानं
कार्यतया गमयतः । सूर्योदयास्तमयक्रियाप्रचयाल्पत्वबहुत्ववि-
शिष्टात्पिण्डादेव परत्वापरत्वे भविष्यतः कृतमत्र द्रव्यान्तरेण
कालेनेति चेत् । न । सवितृसमवेतायाः क्रियायाः पिण्डेनासं-
बन्धात् । संयुक्तसमवायस्त्वस्याः सम्बन्धः कालेन सर्वगतेना-
स्यास्ति, न वाकाशं सर्वगतमपि परापरव्यतिकरं प्रत्यवकल्पते ।
अस्य स्वरूपेणाभेदात् । अपि चाकाशात्मानौ न परापरव्यति-
करकारणम् असाधारणगुणयोगित्वात् पृथिव्यादिवत् । तस्मा-
त्परापरव्यतिकरकारणे कल्पनीये । ते च द्रव्यमपारतन्व्याद्
आकाशवत्ते दिक्काला उच्येते एवं यौगपद्यायौगपद्याचिराक्षिप्रप्र-
सया अपि काललिङ्गं न हेते क्रियायां तत्कारकेषु वा
भवितुमर्हन्ति तेषु सत्स्वपि कादाचित्कत्वात् । नन्वयं कालो
ऽपि नित्य इति तस्मिन् सत्यप्येते कादाचित्काः कथं कालका-

रणम् * अपि । यद्युच्येत-एकसूर्यपरिस्पन्दावच्छिन्नकालसम्बन्धिन्यः क्रियाः युगपदनेकसूर्यपरिस्पन्दावच्छिन्नकालसम्बन्धिन्यः क्रियाः क्रमवत्यो यौगपद्यप्रत्ययगोचरः । एवं बहुतरानेकसूर्यपरिस्पन्दावच्छिन्नकालसम्बन्धिनी क्रिया चिरप्रत्ययगोचरः । अल्पतरानेकसूर्यपरिस्पन्दावच्छिन्नकालसम्बन्धिनी क्रिया क्षिप्रप्रत्ययगोचर इति । कृतं तर्हि सूर्यपरिस्पन्दस्य कालावच्छेदेन । नन्वयं साक्षादेव क्रियामवच्छेत्स्यतीति । तथा च युगपदादिप्रत्यया भविष्यन्तीति । तन्न । सूर्यपरिस्पन्दस्य क्रियाभिः सम्बन्धाभावेन तदवच्छेदकत्वानुपपत्तेः न वा ऽऽकाशादिसम्बन्धद्वारमस्य तदवच्छेदकत्वम् । तथा हि नाकाशादयः क्रियायौगपद्यादिप्रत्ययनिमित्तम्, असाधारणगुणयोगित्वाद् घटवत् । एवं यौगपद्यादिप्रत्यया न दिकारणकाः दिग्देशनियमानपेक्षणात् । कालपिण्डसंयोगजपरत्वापरत्ववदिति । तस्मात्सूर्यपरिस्पन्दस्य देवदत्तादिपरिस्पन्दस्य चास्ति कालेन सर्वगतेन संयुक्तसमवायलक्षणः सम्बन्धः । एतया च द्वारा परिस्पन्दयोरप्यस्ति सम्बन्ध इति । कालसम्बन्धानपेक्षमेव च सूर्यपरिस्पन्दावच्छिन्नस्य देवदत्तादिपरिस्पन्दस्य ग्रहणमुपपद्यते । यथा दण्डीति शब्दादण्डावच्छिन्नं पुरुषं प्रतीत्य तदन्यथानुपपत्त्या पश्चादण्डपुरुषयोः संयोगभेदो ऽवगम्यते न तु सम्बन्धज्ञानपुरःसरं दण्डविज्ञानम् । एवं परत्वापरत्वे अपि कालपिण्डसंयोगनिबन्धने गृहीत्वा कालो ऽनुमीयते न तु कालज्ञानपुरःसरं तज्ज्ञानं तत्सिद्धमरूपतया कालो ऽप्रत्यक्षः परत्वापरत्वाद्यनुमेयश्चेति । तस्मात्सुष्टूक्तं परादिप्रत्ययानां चेति । कार्यकारणविशेषापेक्ष इति । कार्यस्य परापरादेः प्रत्ययस्य च यः कारणविशेषोबहुतराल्पत-

रातीततपनपरिस्पन्दावच्छिन्नकालपिण्डसंयोगस्तदपेक्षः * काल
 एकोऽपि परापरादिप्रत्ययहेतुः परापरत्वलक्षणगुणोत्पादनद्वारे-
 णोति वर्तते कारणव्यङ्ग्यः कालः तस्य निष्पन्नतया व्यक्तिसा-
 धनत्वोपपत्तेः । न तु क्रियाव्यङ्ग्यः तस्याः साध्यतया असिद्ध-
 त्वाव्यक्तिं प्रति हेतुभावाभावात् । तथा चातीतानागतमात्रदर्श-
 नाद्वर्तमानाभावेन न त्रैकाल्यविषयमनुमानं तयोश्च पितापुत्रव-
 त्परत्वापरत्ववद्दृष्टस्वदीर्घवच्च परस्परापेक्षासिद्धिरन्तरेणापि
 वर्तमानकालमिति पूर्वः पक्षः ॥ ३९ ॥ तयो-त्वात् (मू. ४०) ॥ नातीतादिरूपता कालस्य
 कारकव्यङ्ग्या तयोस्तादवस्थ्यात् । अपि तु क्रियाव्यङ्ग्यता तां
 खलूररीकृत्य प्रवर्तमानानयमतीतानागतवर्तमानान् प्रतिपद्यते
 नान्यथा । यदा खल्वयं पुरुषः फलं प्रवर्तमानपतनक्रियाविशि-
 ष्टं प्रतिपद्यते तदा व्यपदिशति पतति फलमिति । तन्मूले चा-
 स्यातीतानागतत्वे अपतत् फलं पतिष्यतीति । न च वर्तमानपतन-
 मसिद्धं येन न कालं व्यञ्ज्यात् (तद्द्वयोस्तादवस्थ्यात् अपि
 तु क्रियाव्यङ्ग्यता) तदसत्त्वे कस्येदं कारणं गुरुत्वं कस्य च
 फलं कारकं कस्य च फलं भूमिसंयोगः कार्यः । न च परत्वा-
 परत्वादीनामपि सिद्धिः परस्परापेक्षा । किं तर्हि ? सन्निकृष्टबु-
 द्ध्यपेक्षमपरत्वं विप्रकृष्टबुद्ध्यपेक्षं परत्वं पूर्वसंख्यावच्छिन्नता च
 संयुक्तसंयोगानां सन्निकर्षः । परसंख्यावच्छिन्नता च विप्रकर्षः ।
 एवं ह्रस्वत्वदीर्घत्वे अपि परिमाणभेदौ न परस्परापेक्षौ पिता-
 पुत्रौ च प्रमाणप्रमेयव्याख्या व्याख्यातौ । तस्मादतीतानागत-
 योर्वर्तमानापेक्षत्वाद्वर्तमानस्य च तदनपेक्षत्वादस्ति त्रैकाल्यमिति
 सिद्धान्तः ॥ ४० ॥

भाष्यम् अथापीति । कस्मादतीतानागतावितरतरापेक्षौ

न भवतः कृतं वर्तमानेनेति शङ्कां सूचयति । तन्निराकरणाय सूत्रम्-
 नाती-द्विः (सू. ४१) ॥ परस्परापेक्षसिद्धेर्हि वर्तमा-
 नाभावः सैव तु नास्तीति सूत्रार्थः । कया युक्त्येति प्रश्नः ।
 उत्तरं केन कल्पेन प्रकारेणातीतः तदनेन वर्तमानाभावे ऽतीत-
 स्वरूपाक्षेपः कृतः । ह्रस्वदीर्घत्वादीनां परस्परापेक्षसिद्धित्वमङ्गी-
 कृत्याह । तन्नोपपद्यते विशेषहेत्वभावादिति । परमा-
 र्थतस्तु नाचेतरेतरापेक्षा ह्रस्वदीर्घत्वादीनामपि सिद्धिरिति ।
 नास्वकीयां युक्तिं वार्तिककार आह । न च वर्तमानका-
 लानभ्युपगमे पतत इतीति । (२५५।६) ॥ ४१ ॥

वक्ष्यमाणसूत्रावतारपरं भाष्यम् । अर्थसद्भावव्यङ्ग्यश्चा-
 यिति । अस्यार्थः न केवलं पतनादिक्रियाव्यङ्ग्यो वर्तमानः
 कालः अपि त्वर्थसद्भावोऽर्थस्य सत्ता ऽस्तिक्रियेति यावत् ।
 तथा व्यङ्ग्यः कालः । एतदुक्तं भवति पतनादयः क्रियाः
 वर्तमानेष्वपयान्त्यपयान्त्यच, अस्तिक्रियातु सर्ववर्तमानव्या-
 पिनी । तदेवमस्तिक्रियाविशिष्टस्य वर्तमानस्याभावे स-
 र्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः । न चाविद्यमानं तस्य विवरण-
 मसादिति । न च वर्तमानाभाववादी विद्यमानं सत्किंचिद-
 नुजानाति ।

अत्र वार्तिककारः पृच्छति । कथं पुनरिति । (२५५ ।
 १७) न हि सर्वं प्रत्यक्षं वर्तमानविषयमतीतानागतयोरपि यो-
 गिप्रत्यक्षत्वादिति भावः । उत्तरं यस्मादिति । नाती-
 तानागतविषयतया प्रत्यक्षानुपपत्तिं ब्रूमः अपि त्वतीतानागता-
 धारतयेत्यर्थः । भाष्यमपि वर्तमानाभावे प्रत्यक्षनिमित्तं सन्नि-
 कर्षः अस्मदादिप्रत्यक्षाविषयो विद्यमानो घटादिः प्रत्यक्षं
 प्रमाणमनाधारं सत्सर्वं नोपपद्यतइति द्रष्टव्यम् ॥ ४२ ॥

अत्र भाष्यमुभयथा वर्तमानो गृह्यत इति । तदवतार्य व्याचष्टे वार्तिककारः । उपपन्नश्च सन् द्वेधा भिद्यते इति । क्वचित् क्रियामात्रव्यङ्ग्यः यथा ऽस्तीति । क्वचित् क्रियासन्तानव्यङ्ग्यः । पतति छिनत्तीति (२५६।३) अत्र हि पूर्वपरीभावः प्रतीयते । न च प्रतिक्षणमपवर्गवतः कर्मण एकस्य पाकस्य वा छेदनस्य वा पूर्वापरीभाव इति । कर्मसंतानस्त्वास्थेयः सो ऽपि चैकमुपसंग्राहकमन्तरेण न भवत्यत उक्तं भाष्यकृता एकार्था क्रिया क्रियासंतान इति । एकप्रयोजनावच्छिन्नेत्यर्थः । अत्र चाधिश्रयणादयो भवन्तु पच्यर्थाः यथाऽहं महाभाष्यकारः तदभिसन्धिपूर्वकं प्रेषणमध्येषणं वा युक्तं तत्सर्वं पच्यर्थ इति । रूपादिपरावृत्तिमात्रार्थत्वं वास्य पचे, राख्यातार्थः सर्वो ऽयमध्येषणादिर्भवतु भावनाऽभिधानः नोभयथापि का चिदस्ति दर्शनक्षतिः । अनागताद्यवच्छिनत्ति नानारम्भ इति । अनारम्भोऽननुष्ठानं न विवक्षितं यथा पक्ष्यतीत्यत्रेत्यर्थः । अतीताद् व्यवच्छिनत्ति । नोपरमो विवक्षित इति यथाऽपाक्षीदित्यत्रेत्यर्थः । संतानारम्भविवक्षायामिति । आरम्भोऽत्र चिकीर्षाऽभिधीयत इति न विरोधः ।

तदेवं वर्तमानं क्रियासद्भावमुक्त्वा तत्सम्बन्धव्यङ्ग्यां कारकस्य वर्तमानतामाह । यच्चेदं छिद्यमानमिति । (न) तत्क्रियमाणं । वर्तमानक्रियासम्बन्धेन वर्तमानं न तु स्वरूपत इत्यर्थः । तस्य च कारकस्य वर्तमानक्रियासम्बन्धमतीतानागतानपेक्षमपेक्षयातीतानागतत्वे । क्रियायाः कारकस्यापि व्यक्तिः तद्भावव्यक्तिः । तद्वेतुकं च द्वैविध्यमिति प्रतिपादनपरं सूत्रमवतारयति । तस्मिन् क्रियमाणे ।

कृत-णम् (सू ४३) ॥ भाष्यम् । आरब्धोऽभीष्टफ-
लोरीकरणेन क्रियासंतानः पचतीति । वक्ष्यमाणासंपृक्ततो-
पयोगितया क्रियासंतानस्वरूपमाह । तत्रेति । क्रियासंताने । (नो)
न (तु) नु विद्यत इत्यत्रापि पूर्वपरीभावावगमादतीतानागताभ्यां
संपृक्त एवेत्यत आह वार्तिककारः । अत्र हि केवल इति ।
शब्दमाहात्म्यात्सम्पर्को न वास्तवो, वास्तवं तु वर्तमानत्वमत
एवाह । केवलः शुद्ध इति । पर्यायाभिधानमाश्रितिकं संपर्का-
भावं दर्शयति । यदि क चिन्मुखं वर्तमानत्वं नाभ्युपेयते तत-
स्तत्पूर्वको भाक्तोऽपि वर्तमानप्रयोगोऽपि न स्यादित्यत आह ।
अन्यश्च लोक इति ॥ ४३ ॥

अत्य-द्धिः (सू. ४४) ॥ यथा गौरेवं गवय इत्यति-
देशवाक्यार्थस्मृतिसहकारि सारूप्यदर्शनं साध्यस्य गवयो ऽय-
मिति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य साधनमुपमानं तच्चेदं नोपपद्यते वि-
कल्पानुपपत्तेः । किं यथा गौरेवं इति गवा ऽत्यन्तसाधर्म्यं वि-
वक्षितं तथा सति गवान्तरमेव गवयः स्यात् । तदिदमाह भाष्य-
कारः न चैवं भवति यथा गौरेवं गौरिति । चो यस्मा-
दर्थे । तस्माद्यथा गौरेवं गवय इति वाक्यस्यार्थो भवति यथा
गौरेवं गौरिति । गवा प्रायसाधर्म्यादपि गवयोपमानं न
सिध्यति । महिषस्यापि गवा प्रायसाधर्म्यस्य विद्यमानत्वेन
तस्यापि गवयाभिधानप्रसङ्गात् । तदिदमाह । न हि भवति
यथा ऽनङ्गवानेवं महिष इतीति । यथा ऽनङ्गवानेवं गवय
इत्यस्य वाक्यस्यार्थो यथानङ्गवानेवं महिष इति यस्मान्न भव-
ति । एकदेशसाधर्म्यादुपमानं न भवति । एकदेशोपमान-
स्यैवानुपपत्तेरतिप्रसङ्गात् । तदिदमाह न हि सर्वेण सर्वमुप-
मीयते तथा सति सुमेरोरपि सर्पपेणोपमानप्रसङ्गात् ॥ ४४ ॥

प्रसि-त्तिः (सू. ४५) ॥ प्रकरणाद्यपेक्षं हि वाक्यं स्वार्थं प्रतिपादयति, न केवलम् । तद्वशाच्च क्वचिदत्यन्तसाधर्म्यं प्रतीयते क्वचिद्भूयःसाधर्म्यं क्वचिदेकदेशसाधर्म्यं, तदिह प्रतीतमहिषादिकं पुरुषं प्रति यथा गौरवं गवय इति वाक्यमुच्चार्यते तदा महिषादिपरिहाराय भूयः साधर्म्यं विवक्षितमित्यवगतं वाक्यार्थं स्मरन् महिषादिषु वने गोसाधर्म्यं पश्यन्नपि न गवयसंज्ञां निवेशयति । अपि तु साधर्म्यवति गवयएव तां निवेशयति । यस्त्वप्रतीतमहिषादिस्तं प्रत्येतद्वाक्यमुपमानं न भवत्येवेति परमार्थः । यथा च प्रकरणादिवशादत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यमाश्रित्यातिदेशवाक्यानि प्रवर्तन्ते तथा चोक्तं वार्तिककृता । नसाधर्म्यस्येत्यादि भाष्यं नियमं निषेधति न साधर्म्यस्य कृत्स्नभावमेव वा ऽल्पभावमेव वा आश्रित्यातिदेशवाक्यं प्रवर्तते । किं तर्हि ! प्रसिद्धसाधर्म्याद्धेतोः साध्यसाधनभावमाश्रित्योद्दिश्येति । एतदुक्तं भवति । न नियमः, किं तु क्वचित्किं चित्साधर्म्यमाश्रित्यातिदेशवाक्यं प्रवर्तते तच्च प्रकरणाद्युन्नेयमिति । अनभ्युपगमादिति च वार्तिकं नियमाभिप्रायमेव । तत्क्रिययैव (२५७ । २३) तत्क्रियान्तरमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

प्रत्य-द्धेः (सू. ४६ ॥ यथा गौरवं गवय इति हि वाक्यं प्रत्यक्षेण गवा गवयप्रत्यक्षं प्रतिपादयति । न खलु श्रुतवाक्यो ऽपि यदा प्रत्यक्षेण गवयं पश्यति तदा वाक्यार्थाधिगमादधिकं किं चित्प्रतिपद्यते । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धो ऽप्यनेन वाच्यादेवावगतः । तस्मात्प्रत्यक्षेण गवा प्रत्यक्षस्य गवयस्य गवयसंज्ञाविशिष्टस्य प्रतीतेरुपमानस्यानुमानतेति पूर्वः पक्षः ॥ ४६ ॥

सिद्धान्तस्तु—

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः
(सू. ४७) ॥ गवयत्वं हि संज्ञि, न च तद्यथा गौरेवं गवय
इति वाक्यात्प्रतीयते । अपि तु कस्य चिद्गवा सादृश्यं, न च
वाक्यगतो गवयशब्दस्तस्य वाचकः । तथा तदानीमगृहीतसंगति-
त्वात् । न च सादृश्यं संज्ञि, तस्मात्प्रत्यक्ष एव गवयत्वस्य प्रत्य-
क्षत्वात्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धपरिच्छेदः प्रमाणार्थः । उपादितं चैतदु-
पमानलक्षणे । तस्मात्प्रत्यक्षो गवयः अप्रत्यक्षेण गवा प्रतीय-
यत इति सिद्धमित्यर्थः ।

पूर्वपक्षवाद्याह । परार्थमुपमानमिति चेन्नन्यसे सिद्धा-
वादिन् ! तन्नास्ति । कुतः । स्वयमप्यध्यवसायात् । एवं हि
परार्थं स्याद्यथा गौरेवं गवय इति वाक्यं यदि परस्यैवाध्यवसायं
जनयेत् यावतोच्चारयितुरप्यध्यवसायं जनयति तस्मात्स्वार्थम-
पीत्यर्थः । एतदेव दर्शयति भाष्यकारः भवति भोः स्वयम-
प्युच्चारयितुर्वाक्यादध्यवसाय इति । सिद्धान्तवाद्याह ।
नाध्यवसाय उच्चारयितुः प्रतिषिध्यते उपमानम् उ-
च्चारयितारं प्रति न भवति । कुत इत्यत आह प्रसिद्धसा-
धर्म्यादिति ॥ ४७ ॥

वार्त्तिकं तु परार्थत्वेनानुमानादुपमानभेदमाह । परार्थत्वा-
च्चेति । (२५८ । १९) ननु प्रत्यक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानं न
चैतत्परार्थमित्यत आह । न हि यथागौरिति । अस्तु तर्हि
वाक्यमेवेत्यत आह । न ह्यागमेति । भिन्नयोरप्यनुमानोपमान-
योरेतावन्मात्रेण साध्यमित्युसंहारव्याजेनाह । तस्माद्यथेति ।
अतिरोहितामितरत् ॥ ४८ ॥

अत्र हि सूत्रकारेण प्रथममनुमानान्तर्गतिः परीक्षिता, न चाप-
रीक्षितप्रमाणभावस्य सा युक्तेति वार्त्तिककारः प्रथमस्य प्रमा-

णभावमेव परीक्षते । तस्याक्षेपो न शब्दः प्रमाणमिति । (२५९ ।
 ८) यास्मिन् सति प्रमा भवत्येव न न भवति तत् प्रमाणं साधक-
 तमस्य करणत्वात् । सत्यपि तु शब्दे प्रमा न भवतीति तस्य
 साधकत्वं विघटयति । विषयाभावाच्चेति । प्रामाण्यं हि
 विषयवत्तया व्याप्तं सा शब्दान्निवर्त्तमाना प्रामाण्यमपि निवर्त्त-
 यति वृक्षतेव निवर्त्तमाना स्वव्याप्तं शिंशपात्वम् । द्विविधश्च
 विषयः प्रत्यक्षः परोक्षश्च । तत्र पूर्वः प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्य विषयः ।
 अप्रत्यक्षश्चाविनाभूताल्लिङ्गादवगन्तव्यः । तदनपेक्षणे असम्ब-
 न्धाविशेषात्सर्वं सर्वस्माद्गम्येत । तथा च सर्वः परोक्षार्थप्रत्ययो
 अनुमानव्याप्तः । न च प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामन्यो राशिरस्ति । तस्मा-
 द्विषयाभावादपि न शब्दप्रामाण्यमिति । यत्तावत्सत्यप्रामि-
 तेरिति । तन्न । असिद्धत्वादिति । न शब्दमात्रं प्रमाणमपि
 तु गृहीतः स्मर्यमाणसम्बन्धश्च । न चेदृशे शब्दे सति प्रमा न
 भवति । यादृशे तु सति प्रमा न भवति नासौ प्रमाणमित्यर्थः ।
 तन्महत्प्रत्ययकर्तृत्वादिति । (२६० । ३) महत्त्वपरिमाणं
 हि महतो विशेषणं तन्न ज्ञातं विशेष्ये महति प्रमाणम् ।

तदेवं सिद्धप्रमाणभावस्य शब्दस्यानुमानाद्भेदं परीक्षमाणः
 पूर्वपक्षयति । अनुमानं शब्द इति ।

शब्दो-त्वात् (सू. ४९) ॥ यज् ज्ञानं प्रत्यक्षेणानुप-
 लभ्यमानार्थविषयं प्रत्यक्षस्य पश्चादुपजायते तदनुमानं यथा
 ऽग्निमद्भूमज्ञानं तथा च शब्दज्ञानं तस्मादनुमानमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

अद्विप्रवृत्तिकत्वं प्रकारभेदरहितत्वं प्रत्यक्षानुमाने तु प-
 रोक्षापरोक्षावगाहितया प्रकारभेदवती इत्यर्थः ॥ ५० ॥ ५१ ॥

सिद्धान्तस्वरूपमुपक्रमते । यत्तावदिति । एतेन-संशया-
 दियु व्यभिचारेण, ते ऽपि हि त्रिकालविषया इति । अन्वयव्य-

तिरेकोपपत्तिमात्रं प्रत्यक्षे ऽप्यास्ति । प्रत्यायनाङ्गान्वयव्यतिर-
कज्ञानं तु अन्यादृशं शब्दे अन्यादृशं त्वनुमाने, तद्धि पक्षधर्म-
तापेक्षमनुमाने, शब्दे तु तदनपेक्षामित्यत्र सूत्रं भवति ।

आप्तो यः (सू. ५२) ॥ यो ह्यत्यन्तादृष्टपूर्वः स्वर्गापूर्व-
देवतादिः स वाक्यार्थरूपः तथा हि—

‘यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद’मिति ॥

स्वर्गो वाक्यार्थः । एवमपूर्वमपि, तत्त्वलु स्वर्गनरकादिहेतुः
कालान्तरस्थायी पुरुषविशेषगुणः स्वकार्यविरोधीति वाक्यार्थः,
एवं देवता ऽपि । सा ऽपि हि सूक्तहविर्भागिनी सहस्राक्षा
द्युपेतदेहादिमती वाक्यार्थ एव । नैवैष शब्दादृते अस्मदादिप्रत्य-
क्षादिगोचरः । न चागृहीतं लिङ्गमस्मिन्प्रवर्तितुमर्हति । न चा-
गृहीते सम्बन्धिनि शक्यग्रहः सम्बन्धः । पदं तु यद्यपि पदार्थ-
सङ्गतिसंवेदनमपेक्षते । यद्यपि पदार्थ एव । पदार्थान्तरविशिष्टो
वाक्यार्थः । येऽपि वाक्यार्थे सर्गादौ पदार्थस्मरणद्वारेण प्रवर्त्त-
मानं सङ्गतिग्रहानपेक्षमेव स्पर्शरूपवाक्यार्थं कुर्वन्ति स्वलोकसिद्धं
सुखजातीयमुद्दिश्य लोके सिद्धैरेव दुःखाद्यसंभेदैर्विशिष्टं स्वर्ग-
पदवाच्यं प्रतिपादयन्ति नापदार्थं वाक्यार्थं कुर्वन्ति वाक्यार्थे
च पदवचनं स्वर्ग इति यथा श्रोत्रियंश्छन्दो ऽधीतइति । यथा
चक्षुरादयो रूपादिष्वगृहीतसङ्गतयः प्रवर्त्तन्ते एवं पदार्थसङ्गति-
ग्रहापेक्षाण्यपि पदानि वाक्यार्थबोधने न सङ्गतिग्रहमपेक्षन्ते, कार्य-
व्यङ्ग्यत्वात्प्रमाणभावस्य सङ्गतिग्रहानपेक्षेभ्यो ऽपि च पदभे-
देभ्यो वाक्यार्थावबोधकार्यदर्शनात् । तस्मान्न पदं तदर्थो वा
वाक्यार्थावबोधे लिङ्गं तत्र सम्बन्धग्रहानपेक्षत्वाद रूपादिबोधे
चक्षुरादिवत् ।

स्यादेतत् । सा भूतप्रत्यक्षतोदृष्टमनुमानं वाक्यार्थे सामान्य-
 तोदृष्टं भविष्यति । यद्यपि च वाक्यार्थे साध्ये पदानामपक्षध-
 र्मत्वं यद्यपि च पदस्मारिताः पदार्था व्यभिचारिणः तथा
 ऽप्याकाङ्क्षायोग्यतासत्तिविशेषणाः पदार्थाः संसर्गे लिङ्गं भवि-
 ष्यन्ति । तथा हि यन्न दुःखेनेत्यादिभिः पदैः स्मारिताः पदार्थाः
 गुणप्रधानभावेनावस्थिताः संसर्गवन्तः आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमत्त्वे
 सति पदैः स्मारितत्वाद् गामभ्याजेति पदस्मारितपदार्थवत् ।
 संसर्गस्य च संसृज्यमाना एव विशेषो न पुनराजानतो
 ऽस्तिकश्चिद्विशेषः । संसृज्यमानाश्च पदैरेव स्मारिता इति
 संसर्गविशेषप्रतिलम्भः । स एव च वाक्यार्थ इति सिद्धमानुमा-
 निको वाक्यार्थ इति । गामभ्याजेत्यत्र पदार्थानां संसर्गवत्त्वं च
 वाक्यश्रवणसमनन्तरप्रयोज्यदृष्टप्रवृत्त्यनुमितपदार्थसंसर्गप्रत्यया-
 दवगतम् । तदेतदचतुरस्रम् । पदानामेव पदार्थस्मरणवान्तरव्या-
 पाराणां वाक्यार्थप्रमां प्रति करणतया प्रमाणत्वात् । तेषां चाप-
 क्षधर्मतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः । यदि तु पदानि पदार्थमात्रपर्यव-
 सितदृष्टीनि न वाक्यार्थप्रत्ययपराणि स्युः ततो न पदार्थाना-
 माकाङ्क्षा ऽस्तीति वाक्यार्थप्रत्ययो न भवेत् । न खल्वाकाङ्क्षां
 विना सन्निधियोग्यताभ्यामेव पदार्थाः संसृज्यन्ते यथा ऽयमेति
 पुत्रो राज्ञः पुरुषो ऽपसार्यतामित्यत्र पुत्रसम्बन्धेन निराकाङ्क्षो
 राजा न पुरुषेण सम्बद्ध्यते । न च पदानां वाक्यार्थप्रत्ययप-
 रत्वमन्तरेण तत्स्मारितानां पदार्थानामाकाङ्क्षास्ति । न हि
 यद्येन विना न भवति तत्तदाकाङ्क्षति येन कारकं क्रियामपेक्षेत
 द्रव्यं वा गुणं तथा सति पटो भवतीति वाक्यं न निराकाङ्क्षं
 स्यात् । पटस्य द्रव्यस्य गुणाकाङ्क्षित्वात् । तस्माद्रक्तः पटो भव-
 तीत्यस्यैकदेशः पटो भवतीति साकाङ्क्षत्वादप्रमाणमेवं पटो

भवतीति हि वाक्यं यं कं चिद् गुणं गृहीत्वाऽनाकाङ्क्षं प्रमाण-
मेव, यदा पुनरक्तः पटो भवतीत्यस्यैकदेशो यं कं चिद् गुणमा-
क्षिप्य निराकाङ्क्षः एवं विभागे सति निराकाङ्क्षत्वेन वाक्यभेदः
स्यात् । रक्त इत्यपि च वाक्यं यं कं चिद् गुणिनं क्रियां च कां
चिदाक्षिप्य निर्वृणुयात् । न च विशेषदर्शने सति नाक्षेप इति युक्तम् ।
एकवाक्यतायां सत्यां विशेषदर्शने अनाक्षेपः । अनाक्षेपे च स-
त्येकवाक्यतेत्यन्योन्याश्रयापत्तेः । तस्माद्वाक्यार्थप्रतिपादनपर-
समभिव्याहृतपदकदम्बस्मारितत्वेनापर्यवसानमेव पदार्थानामा-
काङ्क्षेति युक्तमुत्पश्यामः । तथा च पटो भवतीत्येतावन्मात्रं निरा-
काङ्क्षं यं कं चिद् गुणमाक्षिप्य निर्वृणोति रक्तः पटो भवतीत्यत्र
तु रक्तपदस्यापि समभिव्याहारात् पटादिसंसर्गपरत्वमिति पटादि
संसर्गमन्तरेण रक्तत्वमपर्यवस्यत् पटादयश्च रक्तत्वसंसर्गं विना
ऽपर्यवस्यन्तः परस्परसंबन्धा भवन्तीति सिध्यत्येकवाक्यता ।
तस्मात्पदान्येव पदार्थस्मरणद्वारेण तत्संसर्गं लक्षयन्ति वाक्यार्थे
प्रमाणं तेषां चापक्षधर्मतया न लिङ्गत्वम् । । । । ।
स्यादेतत् । अयं पदकदम्बकविशेषः स्मारितपदार्थसं-
सर्गवान् आकाङ्क्षादिमत्त्वे सति पदकदम्बत्वाद् गामभ्या-
जेतिपदावलीवादिति नापक्षधर्मता । मैवम् । अन्योन्याश्रया-
पत्तेः । कर्मकारकं हि पटादन्यद्वस्तुतः सिद्धं ज्ञानलक्षणाय
फलाय कल्पते । यथा ऽग्निपत्ता धूमस्य पर्वतस्य वा ऽग्निसंयोगः
न त्वग्निज्ञानजनकत्वं तद्वत्ता । फलव्यङ्ग्यं हि तन्नानुपजाते फले
कल्पते । तथा च फलोपजनने सत्यग्निपत्ता तद्वत्तायां तु कर्मणि
फलोपजननमित्यन्योन्याश्रयापत्तिः । न हि फलकर्मणोरैक्यम् ।
न हि वृक्ष एव छिदा भवति । तदिह संसर्गवत्त्वं पदानां तद्विज्ञा-
नजनकत्वं नानुमानसाध्यं भवितुमर्हति । न ह्यग्निज्ञानजनकत्वं

धूमस्यानुमानसाध्यमित्युक्तम् । स्मृतिजनकत्वमप्येषां वाक्यार्थ-
प्रसायनाय कल्पितं न संबन्धान्तरं व्यनक्तीति । तत्सिद्धमेतन्न
पदानि वाक्यार्थबोधे लिङ्गमपक्षधर्मत्वान्मनोवदिति । अपि च
लौकिक एवार्थः परीक्षकैरनुगम्यते न तु स्वकृतलक्षणानुरोधेना-
लौकिकमास्थीयते । न च क्लेशेन कया चित्प्रणाड्या पक्षधर्मतां
कल्पयित्वा लोकः पदेभ्यो वाक्यार्थमवगच्छति अपि तु स्वत-
न्त्रेभ्य एव तेभ्य इति सिद्धः शब्दस्य प्रमाणस्यानुमानाद्भेदः ।
आप्तोक्तत्वं तु स्वर्गादिप्रतिपादकस्यागमस्य प्रामाण्ये लिङ्गमेव । न
चैतावता तदर्थं आनुमानिको भवति । न हि प्रवृत्तिसामर्थ्यानु-
मितप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षस्य विषयो भवत्यानुमानिकः । अर्थविषयं
हि प्रमाणं प्रामाण्यविषये च प्रवृत्तिसामर्थ्याप्तोक्तत्वे इति । एवं
व्यवस्थिते अभ्युच्चयमात्रतया भाष्यवार्तिककाराभ्यामाप्तोक्तत्वा-
श्रयत्वानाश्रयत्वे शब्दानुमानभेदहेतुतयोपन्यस्त इति मन्तव्यम् ।
एतेन प्रवृत्तिभेदकथनेनाद्विप्रवृत्तिकत्वं व्याख्यातम्-नि-
राकार्यतया ।

संबन्धात्प्रतिपत्तेरनुमानं शब्द इति यदुक्तं पूर्वपक्षिणा
तदनुभाष्य दूषयति । यत्पुनरेतदिति ।

अस्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्येति भाष्यं तस्य व्या-
ख्यानं वाच्यवाचकभाव इति । स्वाभाविको हि शब्दार्थयोः
संबन्धस्तथा स्यात् तादात्म्यलक्षणो वा प्रत्याय्यप्रसायकभावो
वा प्राप्तिरक्षणो वा, तत्राव्यपदेश्यपदेन प्रत्यक्षलक्षणस्येन ता-
दात्म्यमपाकृतम् । शब्दार्थयोः प्राप्तिनिराकरणहेतुना चोपरि-
ष्टादौत्पत्तिकः प्रत्याय्यप्रसायकभावो निराकरिष्यते । तेन प्रा-
प्तिं निराकरोति भाष्यकारः प्राप्तिरक्षणास्तिवति । एकेन्द्रिय-
प्राप्तेभ्योहि प्राप्तिः प्रसक्ता यथा ऽङ्गुल्योः न तु शब्दार्थयोरेके-

न्द्रियग्राह्यता तस्मान्नानयोः प्राप्तिः प्रत्यक्षगम्या वायुवनस्पत्यो-
 रिवेत्यर्थः । ननु शब्दस्यार्थः समानेन्द्रियग्राह्य एव तत्कथं ने-
 न्द्रियेण गृह्यते शब्दस्तस्य विषयभावमतीतो ऽर्थ इत्यत आह ।
 अस्ति चातीन्द्रियविषयभूतो ऽपीति । शब्दग्राहकेन्द्रियम-
 तिपतित इन्द्रियमात्रमतिपतिश्चातीन्द्रियः स च विषयभूतश्चेति
 कर्मधारयः । तदेतच्चस्माच्छब्दस्येति वार्तिकेन व्याख्यातम् ।
 प्राप्तिरक्षणे चेत्यादि भाष्यं व्याचष्टे । नानुमानेना-
 पीति । उपसंपद्यते । प्राप्नोति गच्छतीति यावत् । आग-
 च्छन्नुपलभ्येत मोदकादिः न चोपलभ्यते तस्मान्नागच्छति
 शब्ददेशमर्थः । ततश्चास्मिन्पक्षे शब्देन लोकव्यवहार उच्छि-
 द्येत । अथ शब्द इति । २६२ । ६ न तावद् गुणस्य शब्दस्य
 गतिरुपपद्यते तस्मात्संतानट्टया शब्दोऽयं देशमागच्छतीति वा-
 च्यं तथा च नित्यत्वव्याहतिरित्यर्थः । शङ्कते । अथ नाग-
 च्छतीति । भवति विद्यतइत्यर्थः । अभूत्वा भवनं भवत्यर्थ
 इति मत्वा निकरोति । नित्यश्च भवति चेतीति । शङ्कि-
 ता स्वाभिप्रायमाह । अथ नागच्छतीति । निराकरोति । न
 सर्वार्थेति । न हि समानदेशाः समानेन्द्रियग्राह्याः प्रतिनियत-
 व्यञ्जकव्यङ्गा दृष्टा इत्यभिप्रायः । सामान्यस्याश्रयोपल-
 विध्वर्यक्तिहेतुः न पुनः शब्दस्याश्रयोपलब्धिरस्ति
 यतः शब्दो व्यज्येत । प्रत्युत शब्देनैवाश्रयो व्यञ्जनीयः स्या-
 त् । । तथा चार्थाश्रितः शब्दस्ताल्वादिभिरप्राप्तैः सर्वान्प्रति
 व्यक्त इत्युक्तदोषापत्तिः । न च शब्दस्यार्थं वृत्तिरनुभवगोचर
 इत्याह । न च वाच्ये वृत्तिः । आगमात्प्रतिपत्स्यत इति
 (२६३ । ७) निरुक्तादिरागमः । उत्तरं स एवायमिति ।
 निरुक्तादीनामर्थसम्बन्धे प्रतिपादकत्वं भवेत् । स एव

तु विचार्यत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ पूर्वपक्षवाद्याह । शब्दार्थेति ॥ ५४ ॥ सिद्धान्तवाद्याह । न सामयिकत्वादिति । अभिधानाभिधेयनियमनियोग इति । अभिधानाभिधेय-
योर्नियमो गोशब्दस्य सास्त्रादिमानेवार्थ एवमश्वशब्दस्य के-
सरादिमानेवेति । तस्मिन्नियोगोबोद्धव्य इति भगवतः पर-
मेश्वरस्य सर्गादौ सो ऽयं समय इति अर्थः । तस्मि-
न्नुपयुक्ते ज्ञाते शब्दार्थव्यवस्था भवति । सम्बन्धवादिनो-
ऽऽपिचाऽयमवर्जनीय इति । ये ऽपि मीमांसका वैयाक-
रणा वा स्वाभाविकं शब्दार्थयोः सम्बन्धमास्थिषत तेषामपि नैव
सत्तामात्रेण गमको ऽपितु ज्ञातः सन्, विज्ञाने चायमस्य वाच-
क इति वा ऽस्मादयं बोद्धव्य इति वा संकेत एवोपायः । वृद्ध-
व्यवहारो ऽपि गवादिशब्दानां देवदत्तादिशब्दवत्संकेतपूर्व एव ।
तद्वरमस्तु संकेत एव, कृतमत्र स्वाभाविकेन सम्बन्धेन, तन्मात्रा-
देव प्रयोगप्रतिपत्तिव्यवहाराणामुपपत्तेरित्यर्थः । नन्वेयं समयः
केषां चित् पदानामसति स्वाभाविके ऽर्थेः सम्बन्धे न कर्तुं
शक्यः निर्दिश्य ह्यर्थं ब्रूयादयमस्माद्बोद्धव्य इति । न च निर्देशो
ऽसति स्वाभाविके सम्बन्धे केषां चिच्छब्दानां सिध्यति । सङ्के-
ताधीने तु वाचकत्वे सर्वेषामकृतसमयत्वात् किं केन निर्दिश्यते ।
तस्मात्संकेतकरणमेव स्वाभाविकसम्बन्धं प्रतिपादयति शब्दाना-
मित्यत आह । प्रयुज्यमानग्रहणाच्चेति । परमेश्वरेण हि
यः सृष्ट्यादौ गवादिशब्दानामर्थे संकेतः कृतः सो ऽधुना वृद्ध-
व्यवहारे प्रयुज्यमानानां शब्दानामविदितसंगतिभिरपि बालैः-
शक्यो गृहीतुम् । तथा हि वृद्धवचनानन्तरं तच्छ्राविणो वृद्धा-
न्तरस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिभयशोकहर्षादिप्रतिपत्तेस्तद्धेतुं प्रसययम-

नुमिमीते बालः । तस्य च सत्स्वप्यन्येष्वर्थेषु भूतस्य अभूतस्य वा श्रवणसमनन्तरं च भवतो वाक्यश्रवणहेतुतामवगच्छति तदवयवानां च पदानामावापोद्वापभेदेन तदर्थप्रत्ययोपजनापायदर्शनात्तेषु तेष्वर्थेषु तेषां तेषां पदानां वाचकत्वं कल्पयति । एवं पदावयवेषु प्रकृत्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । सोऽयं वृद्धव्यवहारः साम्प्रतिकानां संकेतग्रहोपायः सर्गादिभुवां तु महर्षिदेवतादीनां परमेश्वरानुग्रहाद्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयसंपन्नानां परमेश्वरेण सुकर एव सङ्केतः कर्तुम् । तद्व्यवहाराच्चास्मदादीनामपि सुग्रहः संकेतः (तद्व्यवहारपरम्परागतश्चास्मदादीनामपि) संकेतग्रहो न सम्बन्धस्मृतिमपेक्षते । आप्तपरम्परात एव ततो निःशङ्कव्यवहारोपपत्तेः । अत एवाह भाष्यकारः लौकिकानामिति । स्यादेतत् । यदि शब्दानां साङ्केतिकः सम्बन्धो न स्वाभाविकः कुत तर्हि साध्वसाधुविभागपरेण व्याकरणेन, स्वाभाविकं हि यस्य वाचकत्वं स साधुरसाधुश्चेतरः, सामयिकत्वे तु सर्वत्र साधवोऽसाधवो वेत्यत आह । समयपरिपालनार्थं चेदमिति । पारमेश्वरसमयपरिपालनार्थमित्यर्थः । तथा च येषां पदानां येनार्थेन परमेश्वरेण कृतः समयः तानि तत्र साधूनि असाधूनीतरत्रेति विभागाय व्याकरणमर्थवदिति सिद्धम् । अर्थरूपस्तुपोलेशोऽर्थतुषः स नास्ति, केवलं परैः प्राप्ति-लक्षणः सम्बन्धः कल्पित इत्यर्थः । तथा च स्वाभाविकसम्बन्धाभावादनुमानाभेदायाविनाभावासिद्ध्यर्थं स्वाभाविकसम्बन्धमिधानमयुक्तमिति सिद्धम् ।

वार्तिके स पुनः समयः कुत इति । यदि न के चनापि शब्दा न प्रसिद्धसम्बन्धास्ततोऽशक्यमतीतिः समय इति भावः । उत्तरं पदज्ञानात् । पदं ज्ञायते व्युत्पाद्यते अनेनेति

व्युत्पत्त्या व्याकरणमित्यर्थः । ननु सर्वेषां शब्दानामभिहितस-
ङ्गतिः कथं व्याकरणादपि शब्दमात्रात्समयं प्रतिपद्यते इत्यत
आह । लोकतश्चेति । वृद्धव्यवहारावधृतसमयो व्याकरणात्साध्व-
साधुविभागं च प्रतिपद्य तइत्यर्थः । तदेतद्विभजते । तादिदं शा-
स्त्रमिति ॥ ५५ ॥

एवं तावद्दृष्टेनैव समयेनोभयसिद्धेन शब्दार्थव्यवस्थापन-
स्योपपत्तेर्नात्यन्तापरिदृश्यमानस्वाभाविकसम्बन्धकल्पना युक्ते-
त्युक्तं सम्प्रत्यनुपपन्नोऽप्ययं स्वाभाविकः सम्बन्ध इत्याह ।
जाति-त् (सू. ५६) ॥ स्वाभाविको हि सम्बन्धः
कस्य चिच्छब्दस्य केन चिदर्थेनास्ति न सर्वस्य सर्वेण । तथा
सति शब्दार्थव्यवस्था न स्यात् । एवं च तर्हि न ऋष्यार्यम्ले-
च्छानां नियमः स्यात् । तथा हि यवशब्द आर्यैर्दीर्घशुके पदार्थे
प्रयुज्यते, ते हि यवशब्दादीर्घशुकं पदार्थं प्रतिपद्यन्ते म्लेच्छास्तु
प्रियङ्गुं प्रतिपद्यन्ते । एवं त्रिवृत्शब्दमृषयः स्तोत्रीयानवके प्रयु-
ज्यन्ते । आर्यास्तु लताविशेषे । सोऽयमनियमो न स्यात्स्वाभाविके
सम्बन्धे, न हि स्वाभाविकसंबद्ध आलोको रूपेण सहस्रेणापि
शिल्पिभीरसादिसम्बद्धः शक्यः कर्तुम् । यतस्ततो रसादयो
गम्येरन् । नापि तत्र संकेतेन स्वाभाविकः सम्बन्धो व्यज्यते ।
सदेव हि व्यज्यते नासत् । नो खलु यत्र घटो नास्ति तत्र तं
प्रदीपः शक्तो व्यङ्क्तुम् । सोऽयमनियमः सामयिकत्वे उप-
पद्यते पुरुषच्छाधीनत्वात् । तस्याश्चानियमात् । न तु स्वाभा-
विकेन इति । न च वाच्यं सर्वेण शब्दाः सर्वैरेवार्थैः स्वभाव-
तः सम्बद्धाः संकेतेन तु नियम्यन्ते इति । प्रमाणाभावात् ।
जातिभेदेन चार्थभेदप्रत्ययस्य संकेतभेदादप्युपपत्तिरिति । नन्वा-
र्थदेशवार्त्तिनां म्लेच्छानामार्यव्यवहारनिश्चितसंकेतानां नानियम

इत्यत आह वार्तिककारः (२६५।२) जातिविशेषशब्देनेति ॥ ५६ ॥ तदभ्यः (सू. ५७) ॥ अनुमानान्तर्भावे कदाचिदर्थविनाभावाद्भवेच्छब्दस्य प्रामाण्यं तद्वहिर्भावे तु सुलभमस्याप्रामाण्यमिति मत्वाऽनुमानभेदाभिधानानन्तरमप्रामाण्यमाह पूर्वपक्षी । तस्येत्यादिभाष्यं तद्वार्तिककारो व्याचष्टे ॥ तदित्यधिकृतशब्दाभिधानादिति । शास्त्रे ह्यस्मिन्निःश्रेयसाधिगमपरे तन्नान्तरीयकतया वेदप्रामाण्यव्युत्पादनमाधिकृतमित्यधिकृतः शब्दो वेद इत्यर्थः । स्यादेतत्-अनृतत्वमप्रामाण्यमिति पर्यायः तथा च प्रतिज्ञार्थ एव हेतुरित्यत आह ॥ अप्रामाण्यमर्थस्याप्रतयायकत्वम् । अर्थस्येत्यविपरीतस्येत्यर्थः । पुत्रकामेष्टिकारीर्यादयो हि ऐहिकफला नामुष्मिकफलाः ऐहिकत्वेनैव तत्फलस्य चेतनेन काम्यमानत्वात् एतच्छरीरोपभोगयोग्यत्वाच्च । विरुद्धार्थोपस्थापकत्वेन सहासम्भवो वाक्ययोर्वापदयोर्वेति । अत्र भाष्यकारेणोदितहोमादित्रिविधाक्यानां निन्दाभिर्व्याघात इत्युक्तमधिकविवक्षया वार्तिककार आह । अग्निहोत्रमिति । होमकालानामुदितादीनां निन्दया प्रतिषेधात् । ननु मध्याह्नापराहसायाहा भविष्यन्ति होमस्य काला इत्यत आह । न चान्य इति । तेषामपि सर्वेषामुदितकालत्वादित्यर्थः । यस्तूदयानन्तर एव काल उदितकाल इत्युच्यते तथा चान्यो ऽस्ति काल इत्युक्तं व्याघाते न तुष्यति तं प्रत्यन्यथा व्याघातमाह । उदितानुदितेति । अग्निहोत्रं जुहोतीत्युत्पत्तिवाक्येन विहिते अग्निहोत्रनामनि होमे तदनुवादेनैकं वाक्यमुदितं कालं विधत्ते, अन्यच्चाऽनुदितकालमपरं च समयाध्युषितकालं, न चैक एव होमस्तदा तदा शक्यः कर्तुम् । न च

कालगुणानुरोधेन प्रधानस्य होमस्यावृत्तिरित्युक्तम् । न चोदि-
तादिवाक्ये होमस्याभ्यासः श्रूयते । तस्मात्परस्परव्याघाताद-
प्रामाण्यमेव साधीय इति । नन्वेते ऽनृतत्वादयः सर्ववेदवाक्या-
व्यापिन इति भागासिद्धतया हेत्वाभासता इत्यत आह ।
दृष्टान्तत्वेनेति । अयमत्र प्रयोगः । पुत्रकामेष्टिवनाभ्यासवा-
क्यानि अप्रमाणम् अनृतत्वादिभ्यः क्षणिकवाक्यवादिति । एवं
शेषाणि वेदवाक्यानि अप्रमाणं वेदवाक्यत्वात् पुत्रकामेष्टिवाक्यव-
दिति । पर्युदासं साध्यमुक्त्वा तेनैव हेतुना प्रसज्यप्रतिषेधसाध्य-
माह । अग्निहोत्रादिवाक्यानां चेति । तदन्यवाक्यं पुत्रका-
मेत्यादि ॥ ५७ ॥

एवं पूर्वपक्षमुक्त्वा सिद्धान्तमुपक्रममाणः प्रथमं तावद-
नृतत्वं दूषयति—
न क-त् (सू ५८) ॥ फलादर्शनमन्यथा ऽप्युपपद्यमा-
नं नानृतत्वं साधयति ततश्चासिद्धमनृतत्वं हेतुरित्यर्थः । स्यादे-
तत्-इष्टेश्चोदितत्वादनपेक्षेयं (साधयति) पुत्रकारणमिति
किमस्याः कर्मकर्तृवैगुण्यं करिष्यतीत्यत आह । इष्टेः करण-
साधनत्वेनेति । (३६६।५) दृष्टसहकार्यदृष्टं कारणं न केवलं, ततो
दृष्टवैगुण्यादुपपन्नमभवन्नं फलस्येत्यर्थः । अपेक्षणीयं कर्तारमाह
पितराविति । करणमाह । इष्ट्येति । क्रियामाह । संयुज्य-
मानाविति ।

इष्ट्याश्रयंतावादिति भाष्यम् । समीहा-तदङ्गसमिदा-
दिकर्मानुष्ठानं तस्या-श्रेष्ठो भ्रंशो ऽननुष्ठानमिति यावत् ।
अविद्वान्प्रयोक्तेति । विदुषो ह्यधिकारः सामर्थ्यात् । अत
एव सीशूद्रादिरश्चापसमर्थानामनधिकारः विद्वानपि यादिद्विजा-
तिकर्महानिहेतुं कर्म ब्रह्महत्यादि कृतवान् तत्कृतमपि कर्म फ-

लाय न कल्पते कर्तृत्वे वैगुण्यादिति दर्शयति । कपूयति ।
 कपूयं निन्दितं कर्म आचरतीत्याचरणः पुरुषः । हविरसंस्कृ-
 तमपूतमप्रोक्षितं वा । उपहतं श्वमार्जारदिभिः । मन्त्रा न्यूनाः
 क्रमविशेषेण । दक्षिणा दुरागता दौत्यद्यूतोत्काचादेर्दुष्टादुपा-
 यादागतेत्यर्थः । अन्वाहार्यमिह दक्षिणा । सा ततो न्यूना वा
 दीयते यावत्ता पुरुषो न तृप्यति । स च पुरुषाहारो जरत्वरत्वे-
 नापाक्यतया निन्दितः । मिथ्यासंप्रयोगः पुरुषायितादिर्मातरि,
 योनिव्यापदो नानाविधाः पुत्रजनप्रतिबन्धहेतवः । लोहितरेत-
 सो बीजस्यो पहतत्वं यतः पुत्रजन्म न भवति । मिथ्याभि-
 मन्थनं यतो नाग्निर्जायते । कर्मवैगुण्यकर्तृवैगुण्ये आह वार्ति-
 ककारः । तथेष्टेः साधयितुरिति । मन्त्राणामसामर्थ्या-
 दिति । मन्त्रादिसाधनानां पुत्रकामेष्ट्यादीनां कर्मणामित्यर्थः ।
 ननु यदि निरपेक्षा नेष्टिः साधनं स्तांस्त्वैनपेक्षमाणौ पितरावेव
 सम्यक् संयुज्यमानौ पुत्रस्य जनकौ, कृतमत्र पुत्रका-
 मेष्ट्या, अत एव स्लेच्छादीनामपि पुत्रजन्मोपपद्यत इत्यत आह ।
 तत्सहकारित्वादिति । (२६७६) नान्वयव्यतिरेकगम्य-
 मिष्टेः सहकारित्वमपि त्वागमगम्यं, स्लेच्छादीनां पुत्रजन्म
 जन्मान्तरीयादृष्टवशादित्यागममामाण्यादनुसरणीयम् । दृश्य-
 मानकर्मकर्तृवैगुण्ये च फलानुत्पादोऽदृष्टमपेक्षणीयं सूचयति ।
 तदनेन पुत्रकामेष्ट्यादीनामनियतफलत्वमपि सूचितं भवति ।
 तथा कर्मान्तरप्रतिबन्धेन कर्मकर्तृसाधनावैगुण्येऽपि फलानुत्प-
 पादः समर्थितो भवति । ऐहिकफलेषु तु कारीर्यादिषु साधन-
 वैगुण्यं परिहारः । अनृतत्वादप्रमाणमिति चेदिति । धर्मवि-
 शेषणत्वेनोपयुक्तानामपि पश्चान्निष्कृत्याभिधानं न दोषावहमिति
 भावः । उत्तरं किमिदमिति । तन्वर्थाप्रतिपादकत्वं प्रतिज्ञातमे-

तदेवानृतत्वं । च हेतुरिति प्रतिज्ञाहेत्वोरर्थाभेद इत्यत आह ।
अनृतत्वं चेति ॥ ५८ ॥

यत्पुनरुक्तमुदिते होतव्यमित्यादीनामेव परस्परव्याघात
इति तत्राह । उभयेति । (२६८।१) विधिपरेषु वाक्येष्वेकै-
नैवावाक्येनोभयवाक्यार्थप्रतिषेधानभिधानान्नान्यथा ना-
नाप्रामाण्यमित्यर्थः । यद्यपि चैको होमः समुच्चयेन तदा तदा न
शक्यः कर्तुं तथा ऽपि विकल्पेन करिष्यते बहुलं हि विकल्पो
लोके ऽप्युपलभ्यते । वस्तु हि व्यवस्थितं न विकल्प्यते अनु-
ष्ठाने चानागतोत्पाद्ये विधिप्रतिषेधविकल्पानामविरोधः स्वरूपा-
निष्पत्तेरिति । वाक्यार्थो न कर्त्तव्य इति । वाक्यं तन्न कर्त्त-
व्यमित्यस्यार्थः । कामतो वा प्रकल्प्येतेति । परस्परव्याघातार्थ
प्रकल्प्येतेत्यर्थः । अभिहितंवेति । यदनेन वाक्येन स्वसाम-
र्थ्येनाभिहितं तद्वा परीक्षकैरवधृयानूयते इदमनेन वाक्येनाभि-
हितमिति । निर्द्धारयति । अभिहितेति । विहितानुवादो वेति
क्व चित्पाठः । विहितो होमस्तस्यानुवादः कालविशेषविधाना-
येति । विहितानुवाद एव न्याय्यः कालविशेषविधानाय न तु
कालान्तरप्रतिषेधो ऽर्थः कल्प्यतइत्यर्थः ॥ ५९ ॥

एकादश सामिधेन्य उत्पत्तौ पठितास्तासां प्रथमोत्तमयो-
स्त्रिर्वचनं पञ्चदशारत्वं मन्त्रस्य प्रयोजनवतः साधयत्सप्रयोज-
नमिति ॥ ६० ॥

तदेवं वेदप्रामाण्यहेतुनुद्धृत्य प्रामाण्यसम्भवहेतुः सूत्रकारेण
वक्तव्य इति पूर्वं वार्त्तिकारः स्वत एव तावत्प्रामाण्यसंभवे-
हेतूनाह । पुत्रकामेष्टीति । सौत्रं हेतुमवतारयाति सम्-
स्तानीति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

विधिर्विधायकः (सू. ६३) ॥ तस्य व्याख्यानं य-

द्वाक्यमिति । चोदकं प्रवर्तकम् । अत्र चारोग्यकामः पथ्य-
मशनीयादित्यादित्याद्युपदेशश्रवणसमनन्तरं पथ्याशने प्रवर्तमान-
मानं प्रयोज्यदृष्टमुपलभ्य बालस्तस्य प्रवृत्तिहेतुं प्रत्ययमनुमि-
मीते अभ्य प्रवृत्तिः प्रवर्तकप्रत्ययपूर्विका स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वा-
न्मत्प्रवृत्तिवत्सचायमनुमाता व्युत्पित्तुः स्मात्मासिद्धमेव
प्रवर्तकज्ञानमनुमिनोति, नादृष्टपूर्वं, न हि स्वात्मनि पूर्वसिद्धे प्रवृ-
त्तिहेतौ दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पना न्याय्या । न चैष शब्दतद्व्यापार-
पुरुषाशयनिरूपाधिप्रवर्तकमात्रापूर्वप्रत्ययानात्मनि प्रवर्तकानव-
गतवान् येन तेषु प्रवर्तकत्वशङ्का ऽप्यवतरेत् । स्तन्यपानादि-
विषयकार्यप्रत्ययो ऽस्य प्रवर्तक इति चेत् ? किं पुनरेतत् कार्य-
मिति । पुरुषप्रयत्नः कृतिस्तद्व्याप्यत्वमिति चेत् । ननु कृतिरिति
मानसी प्रवृत्तिः तदुपाहितं कार्यं प्रवृत्तिविषयः प्रवृत्तिफलं वा
फलोद्देशेन पुरुषप्रवृत्तेः, तदवगमः प्रवृत्तिहेतुः । प्रवृत्त्यवगतिस्त-
र्हि प्रवृत्तिहेतुरित्युक्तं भवति । (न चाननुविधेयो ऽश्रद्धेयः) न
वाननुविधेयनियोगेष्वस्माकं व्युत्पन्नानां नास्ति प्रवृत्त्यवगमः
न चास्मात्प्रवर्तमहि । अपि चेयं प्रवृत्तिः प्रयत्नापरनामा इच्छा-
द्वेषयोनिरसति कारणे न स्वज्ञानमात्रादुदेतुमर्हति । न चेच्छाद्वे-
षावैव प्रवृत्तिहेतू लिङादिगोचराविति सांप्रतम् । तत्खलु लिङा-
दिगोचरो ऽभ्युपेयः । यत्स्वज्ञानेन प्रवर्तयति । न तु स्वसत्तया
शब्दस्य ज्ञापकत्वादनुत्पादकत्वाच्च । न चेच्छाद्वेषौ स्वज्ञानेन प्रव-
र्तयतो यतः प्रवृत्तिं प्रति ज्ञानाय शब्दमपेक्षेयाताम् । अपि तु सत्तया
तस्मात्तदेव लिङादेर्ज्ञाप्यम् । ससं ज्ञानमिच्छाद्वेषौ प्रसूते
तत्र फलं निसर्गसुन्दरतया ज्ञातमात्मनीच्छां प्रसूते एवं तदु-
पायो ऽपि तत्तया ज्ञातः फलसम्बन्धादात्मनीच्छां, तस्माद्
द्वयमवाशिष्यते फलं तदुपायो वा, तत्र फलस्य यद्यपि स्वत

एवेच्छादिविषयत्वं तथा ऽपि ताद्विषयेच्छा न तत्र प्रवर्तयितुमर्हति तस्यायोग्यत्वेन प्रवृत्तिविषयत्वानुपपत्तेः । न च फलमात्रेच्छा अन्यच्च तदुपाये स्वकार्यं प्रयत्नं जनयितुमर्हति इति प्रयत्नयोरेकविषयतया कार्यकारणयोः सम्प्रतिपत्तेः । न च तत्सम्बन्धात्तदुपायो नेष्यते येन फलेच्छाया एवोपायविषयप्रयत्नप्रसवहेतुत्वं कल्प्येत । यथा ऽऽहुः

“अन्यदिच्छत्यन्यत्करोतीति विप्रातिषिद्ध”मिति ।

तस्मादिष्यमाणमपि फलं प्रवृत्तिविषयत्वाभावान्नात्मनि स्वज्ञानेन प्रवर्तकं, तदुपायस्तु प्रवृत्तिविषयत्वादिष्यमाणत्वाच्च स्वज्ञानेन प्रवर्तक इति युक्तमल्पश्यामः । बालानां तु स्तन्यादावपेक्षितोपायताज्ञानं प्राग्भवीयव्याप्तिग्रहणजनितसंस्कारानुवृत्तिवशादुत्पन्नव्याप्तिस्मरणानां तज्जातीयत्वालिङ्गज्ञानजमनुमानमेव । एतच्च पूर्वाभ्यात्यस्तस्मृत्यनुसन्धानादिसत्रोपपादयिष्यते । अत एव प्रयोजनलक्षणं व्याचक्षणेनाक्तं वार्तिककृता

“इदं सुखसाधनमिति बुद्धा सुखावाप्तये यतते इदं दुःखसाधनमिति चावगम्य दुःखहानायेति” ।

तस्मादपेक्षितोपायता प्रवर्तना स्वात्मनि सिद्धा वृद्धस्यापि प्रवृत्तिहेतुरित्यवगच्छति व्युत्पिसुर्बालः । सा च लिङ्गादिश्रवणसमनन्तरमुपजायमाना लिङ्गाद्यर्थ इति निश्चिनोति । न चापेक्षितोपायतामात्रं प्रवृत्तिहेतुः भवति हि यजमाननिर्वर्तिता कारीरी कृषीवलानामपेक्षितोपायो न चैते ऽस्यां प्रवर्तन्ते तस्याः सिद्धत्वात् । तस्मात्कर्तुरपेक्षितोपायता प्रवृत्तिहेतुरित्यास्थेयम् । न च सिद्धे कर्तृता ऽस्ति । यथा ऽऽह भगवान् जैमिनिः ।

“शास्त्रफलं प्रयोक्तारि तल्लक्षणत्वा”दिति ।
लोके च क्रियैवापेक्षितोपायः शब्दार्थ इति तदनुसारेणाग्नि-

होत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादयो ऽपि वैदिका उपदेशाः क्रिया-
 मेवापेक्षितोपायमभिदधति । सा चेयमाशुतरविनाशिन्यप्यवान्तरा-
 पूर्वव्यापारा सती चिरभाविने ऽपि फलाय कल्पते । कृषिरिव
 निदाघसमयजन्मा हेमन्तसमयभाविने सस्यायेति । नापूर्वस्या-
 त्रापेक्षितोपायत्वं कल्पयितव्यम् । भवतु वा तदेवापेक्षितोपाय-
 प्रवृत्तिहेतुस्तथा ऽपि कर्तुरपेक्षितोपायतालक्षणसमानोपाधिर्वि-
 धिशब्दस्तदेकोपाधिसम्बन्धात्कचित्क्रियायां क । चिदपूर्वं प्रव-
 र्तत इति न का चिद्दर्शनक्षतिः । तदेवमुपदेशे नियोज्यप्रयोजन-
 कर्मणि व्युत्पन्नस्तानेव शब्दान् नियोक्तुं प्रयोजनकर्मण्याज्ञादौ
 प्रयुज्यमानानुपलभ्याध्येषणानुज्ञावाचकत्वमप्यवगच्छति । अग्नि-
 होत्रादिवाक्यानां तु नियोज्यप्रयोजनकर्मवाचिनामुपदेशत्वमेव ।
 तस्माद्यद्यप्याज्ञाध्येषणामन्त्रणोपदेशाः सर्वे विधयस्तथा ऽपीहो-
 पदेशो विधिरभिमतः तस्मात्सुष्ठुक्तं यद्वाक्यं विधायकमिति ।
 कर्त्रपेक्षितोपायताज्ञापकमित्यर्थः ।

विधिस्तु नियोगो ऽनुज्ञा वेति भाष्यमनुभाष्य व्या-
 चष्टे । विधिस्त्विति । (२६९।११) यदेतदग्निहोत्रं जुहु-
 यात्स्वर्गकाम इति वाक्यमप्रवृत्तप्रवर्त्तकलक्षणम् कर्त्रपेक्षितोपाय-
 तां ज्ञापयद्विधिः तदेव तत्साधनद्रव्याद्यवाप्तिप्रवृत्तिमनुजानाति ।
 एतदुक्तं भवति ये हि द्रव्यार्जननियमाविधयो ब्राह्मणस्य प्रतिग्र-
 हादिनेत्येवमादयः ते च रागतो धनार्जने प्रवृत्तानां ब्राह्मणानां
 लौकिकानेकोपायप्रयुक्तौ सत्यां नियमपराः पुरुषार्था न क्रत्व-
 र्थाः क्रतुविधयस्तु धनसाधनास्ते ऽनूदिताः पर्यवस्यन्तो ऽपि न
 धनार्जनं तन्नियमं वा प्रयुज्यते पुरुषार्थत्वेनैव तस्य प्रयुक्तत्वात्
 केवलमनुजानन्ति, तस्मात्तदेवाग्निहोत्रादिवाक्यमप्राप्ते ऽग्निहो-
 त्रादौ विधिरन्यतः प्राप्ते साधने ऽनुज्ञेति सिद्धम् । समुच्चये

वाशब्दः ॥ ६३ ॥

स्तुतेरुपयोगद्वयं प्रवृत्त्या धर्मे कर्त्तव्ये विधिना प्रवृत्तौ कर्त्तव्यायां च सहकारिता, प्रशस्तमिति ज्ञात्वा प्रवर्त्तमानाः पुमांसः प्रवर्तन्तेतरां सा च प्रवृत्तिः श्राद्धस्य धर्मं प्रसूते नाश्राद्धस्य । तथा च श्रूयते—

“यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवतीति” ।

तत्र प्रवृत्तेः कार्ये सहकारितामाह । स्तूयमानमिति । विधेः कार्ये सहकारितामाह । प्रवर्त्तिका चेति । कथं परकृतिपुराकल्पावर्थवादाविति । चरकाध्वर्युपुरुषसम्बन्धश्रवणाद्वपाहोमपृषदाज्याभिघारणयोः क्रमभेदस्याप्राप्तस्य पुरुषविशेषधर्मतया विधायकं परकृतिवाक्यम् । तथा बहिष्पवमानसामस्तोममन्त्रसम्बन्धस्य पूर्वकालपुरुषसम्बन्धितया श्रवणादिदार्ढ्यतनपुरुषधर्मतया विधायकं पुराकल्पवाक्यं कस्मान्न भवतीति भावः । उत्तरम् । स्तुतिनिन्दावाक्येन कस्य चिद्विधेः शेषभूतेन सम्बन्धादिति । न तावदेतेषु वाक्येषु सिद्धाभिधायिषु विधिश्रुतिरस्ति । तत्र किमश्रूयमाणो विधिः कल्प्यतामाहो प्रतीतेन विधिनैकवाक्यतेति । तत्र कल्पनालाघवात्प्रतीतेन विधिनैकवाक्यतैव ज्यायसी—पूर्वपक्षे विधिकल्पना तदेकवाक्यताकल्पनमिति द्वयं कल्पनीयम्, उत्तरस्मिस्तु एकवाक्यतामात्रमिति भावः । स्फुटतरस्तुतिनिन्दाप्रतीत्यभावाच्च परकृतिपुराकल्पयोः स्तुतिनिन्दाभ्यां भेदेनोपन्यास इति ॥ ६४ ॥

विधि-वादः (सू. ६५) ॥ विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते निन्दावेति । यथा ऽश्वमेधेन यजेतेति विधेरर्थवादो यो ऽश्वमेधेन यजेतेति । किमर्थं ? स्तोतुं, तरति मृत्युं

तरति पाप्मानमिति स्तुतिः उदिते होतव्यमित्यस्य विधेरर्थ-
 वादो यदुदिते जुहोतीति । किमर्थम् ? निन्दितुं, श्यावो वा अस्या-
 हुतिमभ्यवहरतीति निन्दा । प्रयोजनान्तरमाह । विधिशेषो वा
 ऽभिधीयत इति । यथा “यदाग्नेयो ऽष्टाकपालो भवती”त्या-
 दिभिरुत्पत्तिवाक्यैः षडाग्नेयादयो यागाः पौर्णमास्यमावास्या-
 कालसम्बन्धा विहिस्तास्ते च विधयः ऽष्टाभ्युपायतारूपाः स्ववा-
 क्ये चैष्टमनासादयन्तः सापेक्षाः । एवमाधाराद्युत्पत्तिविधयो ऽपि
 कालविशेषासम्बन्धा ऽष्टापेक्षा एव, तत्र ‘य एवं विद्वान्पौर्ण-
 मासी यजेते य एव विद्वानमावास्यां यजेत’ इति कालविशेषसं-
 बन्धेनोत्पन्नानामाग्नेयादीनामनुवादः । किमर्थम् ? यदाग्नेयो ऽष्टा-
 कपाल इत्याद्युत्पत्तिविध्यपेक्षितेष्टसम्बन्धनियमार्थं, दर्शपौर्णमा-
 साभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति षण्णामेवाग्नेयादीनां कालविशेषस-
 म्बन्धोत्पन्नानूदितानां फलसम्बन्धो यथा स्याद् मा भूदाधारा-
 दीनां कालासम्बन्धेनोत्पन्नानामित्येवमर्थम् । अत आधारादयः
 ‘फलवत्सन्निधावफलं तदङ्ग’मिति दर्शपौर्णमासाङ्गतयाऽवातिष्ठन्त-
 इति सिद्धं भवति । सो ऽयं फलसम्बन्धनियमो विधिशेषः तद-
 र्थमनुवाद इत्यर्थः । एवमग्निहोत्रं जुहोतीति विहितो होमोऽ-
 नूयते । किमर्थम् ? दध्यादिगुणविशेषविधानार्थम् ।
 दध्ना जुहोति पयसा जुहोतीत्यादिषु । सो ऽयं गुण-
 विधिविधिशेषः इति प्रयोजनान्तरमनुवादस्याह । विहिता-
 नन्तरार्थ इति । यथा सोमो विहितो ‘दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा
 सोमेन यजेतेति’ । एवमध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं
 दीक्षयतीति । विभागेना ऽर्थग्रहणात्प्रामाण्यं भवितु-
 मर्हतीति । प्रामाण्यं भवतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नानु-त्तेः (सू. ६६) ॥ भाष्योक्तमनुवादस्य प्रयोज-

नमविदुषः पूर्वः पक्षः ॥ ६६ ॥ शीघ्रः (सू. ६७) वार्त्तिकं यथेति । (२७०।५)
यथा शीघ्रं गम्यतामित्युक्ते शीघ्रतरं गम्यतामिति न
पुनरुक्तम् । तरपः क्रियातिशयप्रतीतेः एवं शीघ्रं शीघ्रं गम्य-
तामित्यभ्यासात्क्रियातिशयप्रतीतेः सकृदुच्चरिताच्चानवगतेः क्रि-
यातिशयस्य प्रयोजनवानभ्यासः । क्रियाविशेषणातिशयो ऽपि
क्रियातिशय एवेत्यर्थः । अवगतं तावच्छीघ्रं शीघ्रं गम्यतामित्य-
त्राभ्यासातिशयप्रतीतेरनुवादस्य विशेषः । पचति पचतीत्यादौ
को विशेष इत्याह । कः पुनरसौ विशेषो यः पचति पच-
तीत्यादौ भवतीति । न च प्रकृरन्यथा प्रत्ययः श्रोतुश्चान्यथा
येन विप्रतिपत्तैः श्रोतुः प्रत्ययो भ्रान्त इति कल्पयेत्साह ।
यथा च श्रोतुरिति । एवमन्यो ऽपीति । यथा ग्रामो ग्रामो
रमणीय इत्यादिरिति ॥ ६७ ॥ अनन्तरसूत्रावतारणपरं भाष्यं किं पुनः प्रतिपेधेति ।
तदनुभाष्य व्याचष्टे । किं पुनरिति । उत्तरं नेति । पृच्छति ।
किं कारणम् । उत्तरं न साधनमन्तरेणेति । पुनः पृच्छति,
कुतः तर्हीति । (२७१।१) उत्तरं प्रमाणतः । पृच्छति ।
तर्त्तिकं प्रमाणम् । तत्र तावदद्वेप्रामाण्यसंभावनायां प्रमाण-
माह । अर्थविभागवत्त्वम् । न त्वेतद्वेदप्रामाण्ये प्रमाणं बुद्धा-
बुद्धादिप्रणीतेनागमेनार्थविभागवता अनैकान्तिकत्वात् । वेदप्रामा-
ण्यप्रमाणं तु सूत्रोक्तम्—
मन्त्रात् (सू. ६८) ॥ चशब्दः पूर्वहेत्वनुकर्ष-
णार्थ इति । पूर्वस्य प्रामाण्यसंभावनाहेतोरर्थविभागवत्त्वस्यानु-
कर्षणार्थः । संभावितो हि पक्षो हेतुना साध्यते न त्वसंभावि-
तः । यथा ऽऽहुः ॥ (२७२।३)

“संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना ।

न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हन” इति ॥

सूत्रं व्याचष्टे यथा मन्त्रायुर्वेदवाक्यानीति । पुरुष-
स्य भगवतो वेदकारकस्य विशेषः प्रत्यक्षीकृतहेयोपादेयता
तेद्धतुभूता भूतदया पथार्थचिरयापयिषा च करणपाटवं चे-
ति । विशिष्यते ह्यनेनैव पुरुषः पुरुषान्तरेभ्यो ऽनाप्तेभ्य इति ।
त्रिविधेन विशेषणेनेत्युपलक्षणं करणापाटवमपि द्रष्टव्यम् ।

एतदत्राकृतम् । अनन्तान्तर्गणिकमुखदुःखभेदवन्तः प्राणभृ-
द्भेदा दृश्यन्ते । न चैषां वैचित्र्यं स्वाभाविकमिति तृतीये निवे-
दयिष्यते । न च दृष्टकारणमात्रनिवन्धनं तस्य दृष्टव्यभिचार-
त्वात् । तस्माद्दृष्टसहायमदृष्टमस्य वैचित्र्यस्य कारणं तच्चापूर्व-
मिति च धर्माधर्माविति चारुयायते । तच्च कस्य चित्प्रत्यक्षं म-
न्वादेरित्युपपादितम् । तनुभुवनादिलक्षणस्य कार्यस्य कर्ता त-
च्चिर्माणसमर्थः समस्तवस्तुतत्त्वज्ञः क्लेशकर्मविपाकाशयापरामृष्टः
परमकारुणिकस्तनुभुवनादेरेव कार्यादनुमीयते इति चतुर्थ उप-
पादयिष्यते । सो ऽयमात्मीयहिताहितप्राप्तिपरिहारोपायानवि-
दुषः प्राणिनः पश्यन् प्रत्युतानेकविधदुःखदहनदह्यमानानवल्लो-
कयन् कथं न तप्येत तप्यमानो वा हिताहितपरिहारोपायतत्त्वं
विद्वान् कथं नोपदिशेत् अन्यथोपदिशेद्वा । तस्मादनेन परम-
कारुणिकेन पृथिव्यादि सृष्ट्वा प्रजाश्चतुर्विधास्ताभ्यो हिताहित-
प्राप्तिपरिहारोपाय उपदेष्टव्यः । न ह्ययमुपदिश्य स्थातुमर्हति ।
प्रजानां पितृकल्पस्य चास्योपदेशो देवर्षिमुष्णगोचरश्चातुर्वर्ण्येन
चातुराश्रम्येण चाऽऽदराद्ग्राह्यः । धार्यश्च हिताहितप्राप्तिपरिहा-
रोपायानुष्ठानाय । तस्माद्यो वर्णाश्रमाचारव्यवस्थापक आगमो
महाजनपरिगृहीतः स तत्प्रणीत आप्तोक्तत्वात्प्रमाणं मन्त्रायुर्वे-
दवाक्यवदिति संप्रसाध्यते । कतमो ऽसावागम आप्तोक्तः किं

शाक्यभिक्षुकदिगम्बरसंसारमोचकादीनामागमाः किं वा वेदा इति । तत्र शाक्याद्यागमानां बुद्धर्षभादयः प्रणेतार इति स्फुटतरमस्ति स्मरणं न तूक्तलक्षण ईश्वरस्तेषां कर्त्तेति । न चैते शौद्धोदनिप्रभृतयः तनुभुवनादीनां कर्तारो येन सर्वज्ञा इति निश्चीयेरन् तदुपायानुष्ठानेन तु संभाव्येतैषां सर्वज्ञता न च सम्भावनामात्रेण तत्प्रणीतेष्वामेष्वशवासः प्रेक्षावतां भवितुमर्हति । न चैतेषामागमा वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाहेतवः नो खलु निषेकाद्याः क्रियाः श्मशानान्ताः प्रजानामेते विदधति । न हि प्रमाणीकृतबौद्धाद्यागमा अपि लोकयात्रायां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणनिरपेक्षगममात्रेण प्रवर्तन्ते । अपि तु तेऽपि सांवृतमेतदिति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादीनेवानुसरन्ति । तस्माद्भवतु वेदेषु जगन्निर्मातृकर्तृकत्वस्मृतिः मा वा भूद् तएव त्वोश्वरप्रणीता इति पश्यामः । न ह्येते चैत्यवन्दनादिवाक्यवदन्यकर्तृकाः स्मर्यन्ते । न चान्य आगमो लोकयात्रामुद्बन् महाजनपरिगृहीत ईश्वरप्रणीततया स्मर्यमाणो दृश्यते । न चेश्वरोऽनुपदिशन्नवस्थातुमर्हतीत्युक्तं, तत् पारिशेष्याद्वेदा एव सकललोकयात्रामुद्बन्तो हिताहितप्राप्तिपरिहारोपायमुपदिशन्त ईश्वरप्रणीता इत्यवगच्छामः । तथा ह्यतएव त्रैवर्णिकैरद्ययावत्प्रयत्नेन गृह्यन्ते धार्यन्ते च । तदर्थपालनायां च महर्षिपरंपराभिरङ्गोपाङ्गेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणि प्रणीतानि । बुद्धादिवाक्यानि तु न लोकयात्रामुद्बन्ति । न च तत्र लौकिकानामविगानं, न च विगायतां सांवृत्तमित्युक्त्वाऽपि तदर्थानुष्ठानम् । तस्माद्विगानात्कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिर्मनुष्यापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाच्चैतेषामाप्नोक्तत्वसंभवः । न चैतेषां मन्वादिवाक्यवद्वेदमूलकतया प्रामाण्यमिति सांप्रतम् । अध्येत्रध्यापयित्रनुष्ठानकर्तृसा-

मान्यस्य वेदमूलकत्वानुमानलिङ्गस्य स्मृतिवेदयोरिव बुद्धादि-
वक्ष्येष्वभावात् । तत्सर्वज्ञत्वसंदेहेन चानुभवमूलकत्वाऽनिश्च-
यात् । मन्त्रायुर्वेदेषु प्रवृत्तिसामर्थ्यानुमितप्रामाण्येषु वैदिकशा-
न्तिकपौष्टिकादिकर्माभ्यनुज्ञानात् रसायनादिक्रियारम्भे च
वेदविहितचान्द्रायणादिप्रायश्चित्तापदेशादायुर्वेदेनाप्याप्तप्रणीतेन
वेदानां प्रामाण्यमभ्युपेयते । तत्सिद्धमाप्तप्रणीता वेदाः प्रमाण-
मिति । अभ्युच्चयमात्रं तु कारीर्यादिषु संवाद इति ।

एतदेवाऽभिप्रेत्य वार्त्तिककारः प्रयोगमाह । अस्थ प्रयोगः
प्रमाणं वेदवाक्यानीति । प्रयोगान्तरमाह । एककर्तृकत्वे-
नेति । मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि सर्वज्ञकर्तृकाणि महाजनपरिग्रहे सति
अलौकिकार्थप्रतिपादकत्वात् । यानि तु न सर्वज्ञपूर्वकाणि तानि
नैवंरूपाणि यथा वातपुत्रीयवाक्यानीति व्यतिरेकी हेतुः । यथा
च बुद्धादिवाक्यान्यलौकिकान्यपि न महाजनपरिग्रहीतानि त-
थोक्तमनन्तरमेव । मन्त्रायुर्वेदवाक्यानां च सत्यपि प्रवृत्तिसाम-
र्थ्ये तासां तासामौषधीनां तत्संयोगभेदानां च तत्तदक्षरावापो-
द्धारभेदस्य च नासर्वज्ञः सहस्रेणापि पुरुषायुषैः शक्तः कर्तुं
प्रथममन्वयव्यतिरेकौ ! न चानिदं प्रथमता तत्परिहारः सर्गादौ
तदसंभवात् । सृष्टिमहाप्रलयौ चानुमानागमाभ्यामुपपादयिष्येते
इति सर्वं रमणीयम् । तदेवं सर्वज्ञपूर्वकत्वे सति सिद्धमाप्तोक्तत्वेन
मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यमोदनार्थी पचेदिति लौकिकवाक्यवदिति ।
यदि न नित्यानि कथं प्रमाणम् । अनित्यत्वे हि पुरुषाणां वि-
चित्राभिसंधित्वेन भ्रमशङ्का न च शक्याऽपाकर्तुं, तस्मादपौरु-
षेयत्वमेव पुरुषाश्रयान्दोषानपाकुर्वद्देदप्रामाण्यव्यवस्थापकमिति
भावः । उत्तरं प्रतिपादकत्वादिति । आप्तोक्तत्वेनानित्यस्या-
पि निश्चायकत्वादित्यर्थः ।

के चिन्तिवति । (२७२ । ५) प्रमालक्षणापर्यक्रियां
कुर्वन्प्रमाणं, न च नित्यस्यार्थक्रियाऽस्ति तस्मान्न प्रमाणमि-
त्यर्थः । निराकरोति । तत्तु न सम्पत्तिरिति पश्याम
इति । यथा च नित्यस्याप्यर्थक्रियासम्भवस्तथा तृतीये वक्ष्याम
इति भावः । आत्मा चेति प्रमाहेतुतामात्रविवक्षया न तु कर-
णत्वाभिप्रायम् । प्रमाणशब्दस्येति । अत्रापि न करणत्ववि-
वक्षया किं तु प्रमाहेतुतामात्रविवक्षयेति द्रष्टव्यम् । इतरवस्तुसा-
धकत्वेनेति । इतरस्य परमाणुगतस्यैव मूर्तत्वादेः साधकत्वे-
नेत्यर्थः ।

तदेवमेकदेशमतमपाकृत्य स्वमतमाह । तस्मादिति ।
स च संसारानादित्वादिति । (२७३ । १७) यद्यपि वर्ण-
पदवाक्यानि प्रत्युच्चारणमन्यानि तथा ऽपि गत्वादिसामान्याव-
च्छिन्नानां गकारादीनां तत्समूहानां च वाक्यानां शक्यो गो-
त्वादिसामान्यावच्छिन्नाभिः शाबलेयादिव्यक्तिभिरेव संकेतो ग्र-
हीतुमिति भावः । मन्वन्तरेति । महाप्रलये त्वीश्वरेण वेदान्
प्रणीय सृष्ट्यादौ सम्प्रदायः प्रवर्त्यत एवेति भावः । शेषं भाष्यं
वार्त्तिकं चातिरोहितार्थमिति ॥ ६८ ॥

इति मिश्रश्रीवाचस्पतिविरचितायां न्यायवार्तिक-
तात्पर्यटीकायां द्वितीयाध्यायस्याद्यमाहिकम् ।

अथार्थ इति भाष्यम् । प्रमाणानां विभागोद्देशो यः सोऽयर्थः । तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे प्रत्यक्षेति । (२७४ । ३) एवं विभ्रान्तस्याक्षेप इति भाष्यमतेन सूत्रं व्याख्याय प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे । संशयव्युदासार्थं वा प्रकरणम् । सूत्रं तु संशयार्थम् । न चतुष्टयं निश्चेतुं शक्यं, कस्मात् । ऐतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्राप्ताप्यतात् । परैरभ्युपगतादस्माकं संशयादिति सूत्रार्थः । तात्पर्यान्तरमाह । विधीति । विभागोद्देशोऽधिकनिषेधपर इति । पूर्वपक्षेऽप्यर्थः प्रमाणोद्देश इति । पूर्वं व्याख्यातं, सम्प्रति तु प्रत्यक्षादिनिधिपरोऽसावारम्भः प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति । अधिकनिषेधस्त्वर्थलभ्य इति पक्षमभिप्रेत्योक्तमित्यपौनरुक्त्यम् । तात्पर्यान्तरमाह दोषवतामिति । तात्पर्यान्तरमाह प्रत्यक्षादिष्विति । अन्तर्भावपरात्प्रकरणादर्थद्विभागोद्देशस्य यथार्थता सिध्यतीत्यर्थः । देशयति । सिद्धत्वादिति । न हि यावत्सूच्यते सूत्रकारेण तावदवश्यमुपपादनीयं । भाष्यकारादिभिरपि तदुपपादनासिद्धेरिति भावः । परिहरति नावधारणप्रयोजनस्य प्रमाणान्तरनिरासस्येति । यत्सूचनमात्रादनुक्तमपि लभ्यते । तत्सूत्रकारेण नोच्यते यच्च सूचितमपि तिरोहितमिव । तत्सूत्रकारेणोद्धादनीयमेव, न हि तत्रास्ति निश्चयोऽस्मदभिमतमेव विदन्ति भाष्यकारादयो नान्यदिति भावः । किमत्रार्थादापद्यत इति प्रश्नः । उत्तरं सत्सु भवतीति । (२७५ । १) प्रत्यक्षीकस्य ग्रहणादिति । अपां पातप्रत्यक्षस्योपात्तस्य ग्रहणात्तद्विरोधिनः पातविरोधिनो वायवभ्रसंयोगस्य ग्रहणं तदिदं किलाभावाख्यं प्रमाणं प्रमीयते मेघोदयेऽपि यत्तोयपाताभावेन वायवभ्रसंयोग इति ।

सिद्धान्तमाह तान्येतानीति । ननु भविष्यत्यसौ विषय
 उक्तलक्षणानामगोचरः प्रमाणानाम् प्रवर्त्यन्ति च तत्रैतिह्यादी-
 नि प्रमाणान्तराणीत्यत आह । विषयाभावाच्चेति । चोद-
 यति अथ प्रयोजनभेदादिति । तदेतदतिप्रसङ्गापादनेन दूष-
 यति । एवं तर्ह्यष्टत्वमिति । न तावत्सन्ति तादृशः प्रयोजन-
 सामान्यविशेषाः यैः प्रयोजनवन्ति प्रमाणानि परस्परतो व्या-
 वर्तयेयुः अपि तु भेदमात्राद्व्यावर्तयन्तीति वक्तव्यम् । तथा चाति-
 प्रसङ्गनाष्टत्वसंख्याव्यावृत्तिरित्यर्थः । अथ विषयसामान्येति ।
 रूपत्वादिकं विषयसामान्यं तस्य स्वस्वव्यक्तिष्वव्यतिरेक एक-
 त्वं तस्मादित्यर्थः । निराकरोति । न युक्तस्तर्हीति । निरुपाधान-
 स्वरूपमेकं व्यापकत्वान्वितत्वसांज्ञित्वोपधानास्त्रय इति चत्वारो
 विषयसामान्यविशेषा इति चतुष्ट्वप्रतिषेधो न युक्तमित्यर्थः ॥१॥
 यद्येतानीति । यद्यैतिह्यादीनि प्रमाणानि क प्रत्यक्षादौ
 किमैतिह्याद्यन्तर्भवतीति वक्तव्यम् । अप्रमाणस्य प्रमाणान्तर्भावो
 न भवतीति प्रमाणानीत्युक्तम् । यत्खल्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवा-
 दपारम्पर्यमैतिह्यं तस्य चेदाप्तः कर्त्ता नावधारितः ततस्तत्प्रमा-
 णमेव न भवतीति यदीत्युक्तम् । अथाक्षरपरम्परेत्यवगतं तत्रा-
 सौपदेश इति शब्दलक्षणान्नातिवर्त्तते तदिदमुक्तम् । समानल-
 क्षणत्वादिति । पृच्छति कथमर्थापत्तिरिति । (२७६ । १)
 असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवति सत्सु भवतीति सेयमर्थापत्तिः कथ-
 मनुमानेन संगृह्यते । उत्तरं ह्ययोरिति । अत्रोदाहरणमाह ।
 यत्र यत्रेति । (२७७ । १) तत्रोदाहरणमाह । (२७८ । १)
 उदाहरणस्य साध्यविकलत्वमुदाहरति । एके त्विति ।
 यदि दिवैव न भुङ्क्तेति कालविशेषप्रतिषेधो निश्चियते ततो रा-
 त्रौ भुङ्क्तेति कालान्तरविधानं गम्यते न तु कालविशेषनिश्चयो

ऽपि तु दिवा भुङ्क्ते एव नेति । भोजनादिक्रियायाः या ऽन्या
 ऽऽसनादिक्रिया तन्निषेधनिषेधेन रात्रिभोजनाक्षेपादिति । दिवैव
 न भुङ्क्ते इत्यस्यैकस्य प्राप्तौ भवेद्वात्रौ भुङ्क्ते इति क्रियान्तरनिषेधाः
 निषेधस्य च प्राप्तौ न वक्तव्यं रात्रौ भुङ्क्ते इत्यर्थः ।

तदेतद्दूषयति । एतत्तु न सम्प्रगितिः । प्राप्तिपूर्विका
 हि प्रतिषेधा भवन्ति । न चेह भुञ्जानस्याभुञ्जानस्य वा
 क्रियान्तराभावः प्रसक्तो येनासौ प्रतिषिध्यते भुङ्क्ते एव नेति ।
 न हि कश्चिद्भुङ्क्ते एव न भुञ्जानो न वीक्षते । अन्ततो-
 ऽस्त्यादेरपि क्रियायाः भावात् । व्यापृतः कदा चित् न व्यापा-
 रान्तरं कुर्यादपि किं पुनरव्यापृतः स हि व्यापारान्तराण्य-
 व्यासक्तः करोत्येवेत्यर्थः । उपसंहरति तस्मादिति । कालप्र-
 तिषेधो दिवैव भुङ्क्ते इत्यस्य प्रतिषेध इत्यर्थः । क्रियान्तरप्र-
 तिषेधनिवृत्तेरसम्भवेन निराकृतत्वादप्राप्तत्वाच्च प्रतिषेध इति
 भावः । क्रियान्तरप्रतिषेध इति । अन्तरशब्दो विशेषवचनः
 तेन भोजनक्रियाया यदन्तरं विशेषः क्रियान्तररहितत्वं भुङ्क्ते एव
 तस्य प्रतिषेध इत्यर्थः । सामान्यतोदृष्टमिति । यत्र न का-
 र्यकारणयोर्गम्यगमकभावः तत्सामान्यतोदृष्टमिति ॥ २ ॥

सत्यमेतानीति भाष्यम् । तस्यार्थः । सत्यमेतान्यैति-
 ह्यादीनि प्रमाणानि न तु प्रमाणान्तरं नैव प्रमाणान्तरमनुमाना-
 दिभ्य इत्युक्तम् । न तु प्रमाणत्वमेवामीषां न मृष्यामह इति
 भावः । वार्तिकम् अर्थापत्तिमात्रस्येति । (२७७ । २) दिवा
 न भुङ्क्ते इत्यादेरर्थापत्तेरैकान्तिकत्वादिति ॥ ३ ॥

स्वमतेन दूषयित्वा सौत्रं दूषणमाह । यामपि भवानि-
 ति । न संस्तु मेघेषु वृष्टिर्भवत्येवेत्यर्थो येन व्यभिचारो देश्येतापि
 तु असत्सु न भवतीति । तथा च न व्यभिचार इत्यर्थः ॥ ४ ॥

यदि तु यत्र विषये ऽर्थापत्तिरैकान्तिकी ततो विषयान्तरं कल्पयित्वा ऽनैकान्तिकं देशयेत् ततो यः प्रतिषेधविषयः प्रामाण्यमर्थापत्तेः ततो विषयान्तरमर्थापत्तेः सत्त्वं प्रतिषेधविषयं कल्पयित्वा प्रतिषेधस्याप्रामाण्यं शक्यमुक्तं वक्तुं तथा च प्रतिषेधाप्रामाण्यान्नार्थापत्तेरप्रामाण्यामित्याह ।

प्रति-त् (सू. ५) ॥ एवं द्वैकान्तिकः प्रतिषेधः स्याद् यद्यर्थापत्तेः प्रामाण्यं सत्तां च प्रतिषेधति । न तु सत्त्वं प्रतिषेद्धुमर्हत्यनैकान्तिकत्वात् । न हि यदनैकान्तिकं तत् सर्वं नास्ति प्रमेयत्वादीनां नित्यत्वसाधने अनैकान्तिकानां सत्त्वात् । यस्मादर्थपत्तेर्विशेष इति । (२७८।१) अर्थापत्तेर्विशेषः प्रामाण्यं न ह्यर्थापत्तिमात्रं सत्तेति ॥ ५ ॥

न चानैकान्तिकत्वं प्रमाणत्वप्रतिषेधे ऽस्तीति यदि मन्यते पूर्वपक्षी, एवं तर्हि—

तत्प्रामाण्यम् (सू. ६) ॥ विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वा निग्रहस्थानमिति प्रदत्त इत्यर्थः ।

या ऽपि मीमांसाभाष्यकृता ऽर्थापत्तिरुदाहृता जीवतश्चैत्रस्य गेहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पनेति । तदप्यनुमानमेव यदा खलु सन्नैकत्र नास्ति तदा ऽन्यत्रास्ति यदा वा ऽव्यापक एकत्रास्ति तदा ऽन्यत्र नास्ति सो ऽयं स्वशरीर एव व्याप्तिग्रहः सुकरः । तथा च सतो गेहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानम् । न च तस्य सत्त्वेन गेहाभावः शक्यो ऽपह्नोतुं येनासिद्धो गेहाभावो न हेतुः स्यात् । गेहाभावेन वा सत्त्वमपन्हूयेत् येन सत्त्वमेवानुपपद्यमानं न स्वात्मानं बहिरवस्थापयेत् । तथा हि सत्त्वमात्रं वा विरुध्यते चैत्रस्य गेहाभावेन गेहसत्त्वं वा चैत्रस्य । न तावद्यत्र क चन सत्त्वस्यास्ति विरोधो

गेहे असत्तया समानविषयत्वाभावात् । देशसामान्येन (गृहविशे-
षाक्षेपो ऽपि पाक्षिक इति समानविषयतया विरोध इति चेत् ।
न प्रमाणविनिश्चितस्य सांशयिकेन प्रतियोग्याभावात् । नापि प्र-
माणविनिश्चितो ऽभाव एव पाक्षिकं तस्य गृहसत्त्वं प्रतियोग्यस-
त्त्वमपि प्रतियोग्यं सांशयिकत्वं वा ऽपनेतुमर्हतीति युक्तम् । गृहा-
वच्छिन्नाभावेन गृहसत्त्वं विरुद्धत्वात्प्रतिषिध्यते न तु सत्त्वमात्रं
तत्र तस्योदासीन्यात् । तस्माद्गृहाभावेन सिद्धेन सतो बहि-
र्भावो ऽनुमीयत इति युक्तम् । एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोरविरो-
धापादनं विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषयः परास्तः । अवच्छि-
न्नानवच्छिन्नयोरविरोधात् । तस्माद् नानुमानात् प्रमाणात्प्रमा-
णान्तरमर्थापत्तिरिति स्थितम् ॥ ६ ॥

नाभाव-द्वेः (सू. ६) ॥ नाभावज्ञानं प्रमाणं, कस्मात्
प्रमेयस्याभावस्यासिद्धेः । नो खलु सर्वोपाख्यारहितं प्रमाण-
ज्ञानविषयभावमनुभवति । केवलं काल्पनिको ऽयमभावव्यवहा-
रो लौकिकानामिति पूर्वपक्षः ॥ ७ ॥

सिद्धान्तमाह । अभावस्य सूयसीति । सर्वजनीनाभा-
वप्रत्ययव्यवहारौ न काल्पनिकौ भवितुमर्हतः । न च कल्पना
ऽपि सर्वोपाख्यारहितं गोचरयितुमर्हतीत्युक्तं विपरीतरूप्याति-
साधनावसरे । क्षणभङ्गभङ्गावसरे च तस्योपाख्येयत्वमुपपाद-
यिष्यते । तस्मादस्य प्रामाण्याद्युक्तः प्रमाणान्तर्भावः । तदेतत्सर्व-
वार्तिककारो व्याचष्टे । नाभावः प्रमाणमिति । यथोक्तं दूष-
यति । कश्चैवमाहेति । अभावो हि प्रमेयमुच्यते न तत्स्वरूपे-
ण प्रमाणमपि तु तद्विषया प्रतिपत्तिः । सा च प्रत्यक्षफलमुपा-
दानादिबुद्धौ प्रमाणं यथा ऽग्रे तथा वक्ष्यते । वर्षाभावप्रत्ययस्तु
वाय्वभ्रसंयोगे ऽनुमानमुक्तम् । प्रतिपद्य चानयतीति ।

(२७१।४) लक्षणाभावेन विशेषणेनावच्छिन्नान्यानेतव्यत्वेन प्रति-
पद्यानयति । एतदुक्तं भवति लक्षणाभावज्ञानं विशिष्टे वाससि
प्रसयं जनयत्साधकतमत्वात्प्रमाणं भवति ॥ ८ ॥

असत्तेः (सू. ९) ॥ भावाधीननिरूपणत्वात्प्राप्तिपूर्वक-
त्वाच्च प्रध्वंस एवाभावः । तस्य भावपूर्वकत्वात् । नान्यो ऽस्त्य-
भाव इति मन्वानस्य पूर्वपक्षः । नापरिज्ञानादिति । प्रत्यक्षं
हि प्रमाणं प्रमेयाभावं व्यवस्थापयति । तच्च प्रध्वंसवत्प्रागभा-
वे ऽपि तुल्यम् । प्रतियन्ति हि लौकिका दधि क्षीराभावमिव
क्षीरे दध्यभावम् । ननु सूत्रमन्येषु वासस्सु लक्षणाभावरूपा-
णामुपपत्तिं सद्भावमाह । न त्वभावोपलब्धिं ब्रूषे तत्कुतो न वि-
रोध इत्यत आह । अत उक्तार्थं सूत्रमिति । व्यतिरेकमुखे-
न सूत्रस्योक्तो ऽर्थः । अत एवाह भाष्यकारः । नैवमलक्षिते-
ष्विति । लक्षणादर्शनेन हि लक्षणाभावदर्शनमुपलक्षितम् ॥ ९ ॥

यानि तानि लक्षितेष्विति । न कस्य चिल्लक्षितस्य न
सन्ति यानि च सन्ति तेषामभावो व्याहतः । एतदुक्तं भवति
यत्र लक्षणानि सन्ति तत्र तेषामभावो व्याहतः यत्र च न सन्ति
तत्राप्यभावो ऽनुपपन्नः । तस्य भावाधीननिरूपणस्य तदभावे
ऽशक्यनिरूपणत्वादिति । परिहरति नाऽपरिज्ञानादिति ।
भावज्ञानाधीननिरूपणो भवत्यभावो न तु भावाधीननिरूपणः
प्रागभावो ऽपि च शक्यो भविष्यद्भावज्ञानेनान्यत्रावस्थितभाव-
ज्ञानेन वा निरूपयितुमिति न प्रागभावाभाव इत्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥

अभावद्वैतामिति । प्रकृतापेक्षं प्रकृतं प्रध्वंसमात्रवादिनं
प्रति प्रागभावप्रतिपादनं परमार्थतस्तु प्रथमभावेद्वैतं तादात्म्या-
भावः संसर्गाभावश्चेति संसर्गाभावो ऽपि प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभा-
वभेदेन त्रिविध इति चतस्रो विधा अभावस्येति । असत्यर्थे-

नाभावः । तत्सिद्धेरलक्षिनेष्वहेतुरिति चोभे अप्येते
छलसूत्रे इति । (२८० । ३) यो यो ऽभावः स सर्वः सत्यर्थे भ-
वति यथा प्रध्वंसः न च तथा लक्षणाभाव इति सामान्यच्छलम् ॥ १० ॥

तत्सिद्धेरिति तु वाक्छलं यानि लक्षणानि भवन्ति कथं
तान्येव न भवन्तीति हि तस्यार्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥

तदेवं शब्दपरीक्षां प्रस्तुत्य तस्य प्रामाण्यं परीक्ष्य विभा-
गोद्देशः परीक्षितः संप्रति शब्दपरीक्षाशेषं वर्तयन्नाह । आप्तो-
पदेशः शब्द इति । संशयकारणं विप्रतिपत्तिं दर्शयन् जरन्मी-
मांकानां मतमाह । आकाशगुणः शब्द इति । अभिघातमे-
रितेन हि वायुना यावद्गममभिप्रतिष्ठमानेन कर्णशङ्कुल्यवाञ्छित-
नभोभागसमवेतः नित्यः शब्दो व्यज्यत इति ।

तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे । एके तावदिति । अविनश्यदा-
धारमपि संयोगाद्यनित्यमित्यत आह । एकद्रव्यमिति । तथा ऽपि
पार्थिवाणुगतै रूपादिभिरनैकान्तिकमत आह । आकाशगुणश्चे-
ति । एकद्रव्यत्वे सत्याकाशगुणत्वादित्येतावता ऽभिमतसिद्धे-
रविनश्यदाधारत्वं तत्प्रपञ्चार्थं वेदितव्यम् । संयोगविभागनादा-
इति । भेरीदण्डसंयोगमेरितो वायुः कर्णशङ्कुलीमन्तमाकाशं
प्राप्तः शब्दस्य व्यञ्जकः एवं वंशदलविभागमेरितो वायुः शब्दस्य
व्यञ्जक इति द्रष्टव्यम् । संयोगविभागौ पारम्पर्येण, नादस्तु
साक्षादिति ।

सांख्यीयमतमाह । गन्धादिसहवृत्तिरिति । पञ्चत-
न्मात्रोत्पन्नभूतमृक्षमसमुदायारब्धपृथिव्यादिविकारो गोघटादि-
वृत्तिः शब्दो योग्यदेशस्थ आहंकारिकतया व्यापकं विषयदेशस्थं
श्रोत्रेन्द्रियं विकुर्वन्नवस्थित एव गृह्यते । तदेतदाह । अपरे पुनरि-
ति । भूतविशेषाभिघाता इति । भेरीदण्डाभिघाता इत्यर्थः ।

वैशेषिकमतमाह । आकाशगुण इति ।
 बौद्धरादान्तमाह । महाभूतसंक्षोभज इति (२८१ । २)
 नासम्बन्धादिति । यदा भावो ऽस्ति तदा प्राक्प्रध्वंसाभा-
 वान्नानित्यत्वम् । अनुत्पन्नविनष्टयोश्च प्रसङ्गादिति । न तावत्प्र-
 क्प्रध्वंसाभावयोः सहभावो ऽस्ति तस्मात्प्रत्येकमेव तावदनित्यत्वं
 तथा चानुत्पन्ने वस्तुनि नष्टे वा ऽनित्यत्वप्रसङ्गः । न चेदं दृष्टमिष्टं
 वा भावधर्मत्वेनानित्यत्वस्य प्रतीतेरनित्यो घट इति । न केव-
 लमनित्यत्वस्य भाव इति परमस्मिन्पक्षे न युज्यते षष्ठ्यर्थश्च ना-
 स्ति । कस्माद् भावस्याभावो धर्मो न भवतीत्यत आह ।
 न च धर्मकाल इति । नो हेत्वर्थे । शङ्कते । अथेति । भ-
 वन्नेव हि यस्मान्प्राग् न भवति पश्चाच्च तस्मात्तस्याभाव इति
 षष्ठ्युपपत्तिरित्यर्थः । उत्तरम् एवमपीति । सत्यं भवन्नेव न भ-
 वतीति, न त्वेतावता ऽस्याभावसंबन्धो भिन्नकालत्वात् । तस्मा-
 न्नास्मदुक्तं किं चित्प्रतिषिद्धमित्यर्थः । लोकविरोधमुद्गात्रयति
 घटस्य प्रागभाव इति । असंबन्धे षष्ठीप्रयोगो ऽयं भाक्तः
 भावाधीननिरूपणत्वं च भक्तिरित्यर्थः । अपि च वर्तमानवस्तु
 नित्यमित्युच्यते तस्य भावो नित्यता । भवतु किमेतावता ऽपी-
 त्यत आह । वर्त्तमाने चेति । (२८२ । १) विनाशो ऽस्या-
 वश्यतया भविष्यतीति अवश्यंभाविनो विनाशस्य सन्निधानेन
 सम्बन्धमुपचर्य मतुपः प्रयोग इत्यर्थः । उपलब्धिलक्षणप्रा-
 सस्येति । (२८३ । ७) न हि सतो विनाशो ऽस्ति येनासं-
 बन्धो भावस्य देश्येत किं तु यथा सत आविर्भावो जन्म एवं
 सत एवात्यन्ततिरोभावो विनाश इति अनित्यतेति चारुयायते
 तिरोभावस्य च सता सह समानकालतया सम्बन्ध उपपद्यत
 इति भावः । तिरोभावश्च घटादिना ऽपि संभवतीत्युपलब्धिल-

क्षणप्राप्तयेत्युक्तम् । तदेतत्सांख्यीयं मतं दूषयति । एतत्तु शून्यमभिधान-
मिति । प्रधानविकारत्वाद्विश्वस्य विकारस्य च प्रकृतेरनन्यत्वा-
त्प्रामाणिकस्य कस्य(?)चिदुपलम्भाच्चास्त्येव तद्वस्तु यदत्यन्तं नोप-
लभ्यत इति सांख्यसिद्धान्तस्तं बाधत इत्यर्थः । अपि च यथा
सतो न विनाशः एवमसतो ऽपि जन्म नास्ति तथा चानुपजा-
तविशेषस्य विस्तुनस्तिरोभावो न युक्तः विशेषोपजनेन च कथं
सत उत्पत्तिर्विशेषस्यैव प्रागसत्त्वात् सत्त्वे वा प्रागप्यनुपल-
ब्धिप्रसङ्ग इति ।

ये पुनरिति । अनित्य एवानित्यता स्वार्थिकस्तत्प्रत्यय
इत्यर्थः । दूषयति । एतत्तु न युक्तम् । पाणिनेरपि स्मृतिः
प्रमाणाविरोधिनी तत्त्वव्यवस्थाहेतुर्न तद्विरोधिन्यपि, अस्ति च
उगादीनां स्वार्थिकत्वे प्रमाणविरोधः । तथा हि प्रकृतिप्रत्यययोः
समभिव्याहारो न स्याद न खल्वेकार्थयोः समभिव्याहारो दृष्टः न
हि भाति वृक्षः शिशो इति वृक्षस्तत्परिरिति प्रयोगः । कथं तर्ह्येको
द्वौ बहव इति चेत् । न । लिङ्गविशेषव्यत्यर्थत्वाद्विभक्तिप्रयोगस्य
एवं यावकादिष्वपि विरुद्धजात्यन्तरव्यवच्छेदः प्रत्ययार्थो वेदि-
तव्यः । यथा च व्याचक्षते शब्दाः याव एव यावक इति ।
तदिदमुक्तम् । अनुपलभ्यमानभेदानामप्यनुमानतो भेद
इति । किमनुमानं ! पृष्ट्या भेदविषयत्वमिति त्वतल-
मिप्रायं नित्यत्वानित्यत्वयोः प्रकृतत्वात् । तस्य भावस्त्वतला-
विति त्वतलोः पृष्टीसमर्थादुत्पत्तेः सर्वविषयं त्वनुमानमुक्तमिति ।
अवध्यपेक्षानपेक्षेति । (२८४ । ३) सत्त्वोभयान्तावध्य-
पेक्षा भवत्यनित्यता सैव च तदनपेक्षा नित्यता अवधिश्चोपलक्षणं
न विशेषणम् तच्च भिन्नकालमपि भवत्येव यथा मृतायां मातरि

देवदत्तायां देवदत्तापुत्रो यज्ञदत्त इति भूतपूर्वगत्या देवदत्ता
स्वपुत्रमुपलक्षयति यदा च कार्यत्वं समवायस्तदोभयान्तावच्छि-
न्ना सत्ता नित्यता । यदा तु पूर्वान्तावच्छिन्ना सत्तैवोत्पत्तिस्तदा
ऽपरान्तावच्छिन्ना सत्ता अनित्यतेति न हेतुलक्षणव्याख्यानावस-
रोक्तेन विरोध इति । कार्यात्मलाभहेतुः समवाय इति ।
कार्यस्यात्मलाभः स्वकारणसम्बन्धित्वं तस्य हेतुः समवायः ।
समवायो हि समवेतत्वं भवति समवायः कारणविशिष्टकार्यत्व-
मिति । निमित्तकारणभेदानुविधानमुत्पत्तिधर्मकत्वं गम्यगमकयो-
रभेदविवक्षया ॥ १३ ॥

निमित्तकारणानि भेरीदण्डसंयोगादयः । तज्जेदात्खलु श-
ब्दो भिन्नो भवति । शङ्कते संयोगविभागेति । (२८५।२)
यथा हि कारणभेदेन भेदो दृश्यते एवं व्यञ्जकभेदेनापि म-
णिकृपाणदर्पणादिव्यज्यमानस्य मुखस्य भेदो दृष्टः तस्मात् सं-
शय इति । श्रोत्रं तावन्न शब्ददेशं गच्छत्यमूर्त्तत्वादिति ।
कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नं हि नभः श्रोत्रं, न च कर्णशङ्कुली
मूर्त्ता ऽपि सती वक्तृवक्त्रमुपसर्पति प्रत्यक्षं हि कर्णशङ्कुली श्रो-
त्रस्था गृह्यते तस्माद्गच्छदपि कर्णशङ्कुल्युपधानविरहान्न नभोमा-
त्रं श्रोत्रं तस्मान्मा कर्णशङ्कुली यासीत् तदुपकृतं तु नभो ग-
च्छतीति यो मन्यते तं प्रत्येतदुक्तमिति द्रष्टव्यम् । क्रियाकारण-
गुणसमवायादिति । नोदनाभिधातसमवायादित्यर्थः । नायं
निरपेक्षार्थ इति । यद्यपि समवायिकारणं पतने कर्त्तव्ये गुरु-
त्वमपेक्षते तथा ऽपि चरमभाविनिमित्तान्तरं नापेक्षतइति निरपे-
क्षशब्दस्यार्थः । यद्यपि प्रतिबन्धकापगमो भवति चरमभावी
तथा ऽपि न निमित्तान्तरं प्रतिबन्धे हि सति गुरुत्वं न करोति
कार्यमौत्सर्गिकं न पुनः प्रतिबन्धकापगमस्यापि तत्र निमित्तभा-

वकल्पना युक्ता तदन्वयव्यतिरेकस्यान्यथासिद्धेरिति भावरूपं
 वा चरमभाविनिमित्तान्तरं नापेक्षत इत्यनपेक्षार्थः । विषयाभा-
 वाच्चेति । (२८६।३) क्रियोत्पादं प्रति योग्यता क्रियाविषयस्ता-
 माश्रित्य क्रिया भवति सा मूर्तिः न चासावसर्वगतद्रव्यपरिमा-
 णलक्षणात्मा ऽऽकाशादौ सर्वगते समस्ति तस्मान्नैते क्रियावन्त
 इत्यर्थः । ततो ऽन्त्यस्यातिमान्धादिति । नान्यः शब्दा-
 न्तरमारभते न केवलमसौ स्वकारणं शब्दं नाशयति, किंतु सो
 ऽपि स्वकारणेन शब्देन नाशयते तदिदमनयोः कार्यकारणविरो-
 धित्वम् । आद्यस्तु कार्येणैव नाशयते मध्यानां त्वनियम इति ।
 जरन्मीमांसकमतमुत्थापयति एक एवेति चेदिति । एक
 एव तेषां शब्दो नभोगुणो नभो वितत्यावस्थितः परिमाणवदि-
 त्यर्थः । शब्दसंस्कारपक्षं कक्षीकृत्य दूषणमाह । न सर्वैरुपल-
 विधप्रसङ्गादिति । न किम इति (२८७।२) प्रश्नस्येत्यर्थः ।
 शब्दस्याकाशवृत्तित्वादिति । आकाशस्य सर्वगतत्वेन तत्र
 व्यक्तः सर्वत्रैव व्यक्त इति सर्वत्रैवोपलम्भस्तदवस्थ एवेत्यर्थः ।
 अभ्युपेत्यैकदेशमाह । एकदेशाभिव्यक्तौ चार्थप्रत्ययो न
 स्यात् । वर्णसाध्यस्य कार्यस्यैकदेशेनाकरणात् । यथा नाना-
 वर्णे पदे एकवर्णाभिव्यक्तौ नार्थप्रत्यय इति । स्यादेतद् एकदेश
 एव वर्णः तथा च वर्णसाध्यं कार्यमेकदेशः शक्तः कर्तुमित्यत
 आह । सर्वएव व्यापका भवन्तीति । एतस्मिन्पक्षे वर्णैक-
 देशव्यक्तिरभ्युपगम्यते तस्माद्व्यापकाद्वर्णाद्व्यापक एकदेशो ऽन्य
 इत्यर्थः । नन्वस्त्वेकदेशत एवार्थप्रत्यय इत्यत आह । एतस्मिन्
 पक्षे वर्णैकदेशव्यक्तिरभ्युपगम्यते न च वर्णैकदेशः श-
 क्यो निरूपयितुम् । अल्पीयसा हि प्रयत्नेन वर्णमुच्चरितं म-
 तिर्न गृह्णाति गृह्णाती वा वर्णमेव गृह्णाति न तु तदेकदेशं कदा

चिदपीत्यर्थः । निरूपणमभ्युपेत्याह । न च निरूपितादिति ।
 बहवस्तर्हि वर्णा व्यज्यन्तां तन्निरूपणाच्चार्यो गम्यत इत्यत आ-
 ह । एतेनेति । यस्तु मन्यते न वस्तुतो ऽस्त्येकदेशः शब्दस्य
 किं तु संस्कारस्याव्याप्यवृत्तित्वमेवैकदेशः । भवतः पक्षे शब्द-
 स्याव्याप्यवृत्तित्वमेव न भवत एकदेश इति तं प्रति दोषान्तरमाह
 कोलाहलश्च स्यादिति । यद्युच्यते कश्चिदेव ध्वनिः कश्चिदे-
 व शब्दं व्यनक्ति ततश्च न कोलाहल इति तत्राह । नियमश्च
 न स्यादिति । (२८८।५) समानदेशानामपि रूपरसादीनां व्य-
 ज्ञकनियम इत्यत उक्तं समानेन्द्रियग्राह्याणामिति । तथा
 पि भिन्नदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणामपि तत्तत्सहस्रा सर्वेषां
 व्यक्तिरित्यत उक्तं समानदेशानामिति । शङ्कते यच्चस्य
 व्यञ्जकमिति । न हि व्यञ्जकानां व्यञ्जकत्वं व्यक्तेरन्यतः प्र-
 तीयते सा च नियतेति व्यञ्जकानामपि नियमसिद्धिरित्यर्थः ।
 परिहरति तन्नादृष्टत्वात् । अन्येषामेव भूतानां व्यञ्जकानां
 व्यङ्ग्यानां चानियमो दृष्ट इहापि नियमं विधट्यति । कायोणां
 तु समानदेशानामपि समानेन्द्रियग्राह्याणामपि रूपादीनां संख्या-
 दीनां च दृष्टः कारणनियम इति शब्दानामपि नियतकारणतयो-
 त्पत्तिनियम उपपद्यत इति भावः । समस्तवस्त्वव्यवधानेन सा-
 मान्यानां सर्वसामान्यसंगतं समस्तं वस्त्विति मन्वानः शङ्कते ।
 सामान्यवादिति । सर्वार्थाव्यवधाने ऽपि किं चिदेव वस्तु केन
 चिदेव सामान्येन संबद्धं न सर्वं सर्वेणेत्याशयवान्निराकरोति ।
 नानभ्युपगमादिति । यद्यप्येकदेशस्थानां समानेन्द्रियग्राह्या-
 णां सत्त्वनरत्वब्राह्मणत्वानां स्वरूपभेदसंस्थानयोनिव्यङ्ग्यानां
 प्रतिनिधतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वं तथा ऽपि समानदेशत्वाभावात् व्य-
 भिचारः । सत्त्वस्य पदार्थत्रयसमवायादधिकदेशतया नरत्वस्य

ब्राह्मणवत् क्षत्रियादिषु सद्भावात् ब्राह्मणत्वस्य क्षत्रियादिपरि-
 हारात् कठ दिष्वेव भावाद् न्यूनाधिकदेशतया न समानदेशत्व-
 मिति । एतेन श्रोत्रसंस्कारे ऽप्यनिमो बोद्धव्यः यथोन्मीलनसं-
 स्कृतमिन्द्रियं समानदेशान्स्वग्राह्यान्सकृदेव दर्शयति न तु किं
 चिदेवेति सर्वमवदातम् । अपि च सर्वशब्दस्य तात्त्रादिसंयोग-
 व्यङ्ग्यत्वे तदुपरमे त्रिदूर शब्देनोपलब्धव्यं न चोपलभ्यते । वा-
 युसंतानव्यङ्ग्यत्वे तु प्रागुक्तनियमाभावात् एव दोष इति शङ्कोत्तरा-
 भ्यां दर्शयति । यदि चेति । अपि चायं नित्यः शब्दः प्रादे-
 शिको वा स्याद्वापको वा उभयथा ऽपि दोष इति शङ्कोत्तराभ्यां
 दर्शयति । निमित्तसन्निधाने चेति । (२८९।१०) स्यादेतत् ।
 मा भूद्रायुसंतानो व्यञ्जकः सन्ति खलु वायुगुणा-
 नादास्ते ऽस्य शब्दस्य व्यङ्ग्य इत्यत आह । नादोपलब्धौ चेति ।
 न तावन्नादो नाम वायुगुणः कश्चिदुपलभ्यते, अभ्युपेत्यापि ब्रूमः ।
 नादोपलब्धत्वावपि यत्र वायुस्तत्र तद्गुणो ऽङ्गीकर्तव्यः न च विप्र-
 कृष्टेन पुरुषेण शब्दोपलब्धौ तत्र वायुरस्ति तद्गुणो वा नादः
 वायुसन्तानगमनं चात्मिन् पक्षे नेष्यते यस्माद्विप्रकृष्टेन पुरुषेण
 शब्दोपलब्धेर्न व्यञ्जको नाद इति । स्यादेतत् । मा भूद्रायुसंतानो मा च भूतद्गुणो नादः शब्दस्य
 व्यञ्जको वायवीयास्तु संयोगविभागा व्यञ्जका भवन्तीत्यत आह ।
 एतन्नेति । यस्तु मन्यते प्रत्यभिज्ञैव भगवती शब्दस्थेमसाधिनी
 तदानुगुण्याय व्यापिनः शब्दस्य गुणस्य द्रव्यस्य वा प्रयत्नप्रेरितः
 वायवो यावद्देगं प्रतिष्ठमानाः श्रोत्रं श्रोत्रावच्छिन्नशब्दाविशेषं वा
 संस्कुर्वन्तो व्यञ्जका इति कल्प्यते । न च समानदेशानां समाने-
 न्द्रियग्राह्याणां नियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वं न दृष्टमितीमं प्रसङ्गं प्रत्य-
 भिज्ञा मृषति सो ऽयमनया बाधितविषयो विलीयत इति तं प्रत्या-

ह । कृतकवदुपचारात् । (२९० । १)

अत्र चोपचारेण प्रयोगेण तत्कारणं शब्दभेदप्रत्ययमुपलस-
यति । अस्ति हि शुकसारिकामनुष्यवक्त्रप्रभवेषु गकारादिषु स्फु-
टतरा रूपभेदप्रत्ययाः पुंसाम् । एवं स्त्रीपुंसप्रभवेषु स्त्रीपुंसभेदप्र-
भवेषु च । न चेयमौपाधिकी न तु स्वरूपत इति वाच्यम् । तथा
ह्यौपाधिकत्वमानुभाविकं वास्याद् यथा कुङ्कुमारुणा तरुणीति ।
उपपत्तिगोचरो वा यथा कृपाणधारायां जले च प्रतिबिम्बहेतौ
रोचिष्णुतायां दीर्घश्यामतायां मुखस्य न तावदानुभाविकं, विदि-
तोपाधेः खलु तद्भवति यथा विदितकुङ्कुमस्य कुङ्कुमारुणेति । शुका-
दिभेदमविदुषो ऽपि च काण्डपटाद्यावृते शुकादौ शब्दभेदप्रत्ययो
भवति यत एतदुन्नयति शुकोदीरिता मञ्जुतमा गाथेति । नाप्यौपा-
धिकत्वमुपपत्तिगोचरः न हि शब्दस्वरूपसमवायिनो भेदस्यौपा-
धिकत्वे किञ्चिदास्ति प्रमाणं मुखस्यैव मणिदर्पणकृपाणगतस्य । न
खलु विरुद्धपरिमाणेषु दर्पणादिषु विरुद्धपरिमाणानां प्रतिबिम्बा-
नामुत्पादः संभवति । शब्दानां तु संयोगविभागयोनीनां युक्तस्त-
द्भेदेन रूपभेदः ।

स्यादेतत् । तीव्रमन्दत्वादयो धर्माः परं भिद्यन्ते न तु
तदाश्रयः शब्दः न ह्यन्यस्य भेदेनान्यो भेत्तुमर्हति अतिप्रस-
ङ्गात् । न हि रूपरसादीनां युगपद्भाविनां वा क्रमभाविनां
वा संयोगादीनां भेदे द्रव्यं भिद्यते । कथमेकस्यैव शब्दस्याप-
र्यायेण तीव्रमन्दत्वादिविरुद्धधर्मसंसर्ग इति चेत् । अत एवौपा-
धिको ऽस्तु मुखस्यैवाभेदिनो ऽपर्यायेण कृपाणादिषु दीर्घपरि-
मण्डलत्वादिः । अत्रोच्यते, न वयं धर्मभेदमात्रेण धर्मिणो भेद-
माचक्ष्महे किं तु धर्मभेदमात्रप्रथा उत धर्मिभेदो ऽपि प्रथतइति
निरूप्यताम्, अस्ति हि गौर्गौरिति प्रथानुगमे ऽपि शुककपिलक-

पोतिकासु गोषु धर्मिभेदावगाहिनी प्रथा । अस्ति च धर्ममात्र-
 भेदावगाहिनी प्रथा धर्मिणमभिन्नमाकलयन्ती यथा शालप्रांशुः
 पृथुलविशालवक्षाः प्रलम्बभुजो नीलोत्पलदलश्यामः सिंहास्यो
 नवाभ्योदध्वनिर्गम्भीरमधुरघोषश्चकौरेक्षणः क्षत्रिययुवेति । सेयं
 शुक्रशारिकामनुष्येषु युगपद्गकारानुच्चारयत्सु तीव्रमन्दानुनासि-
 कादिगकारावगाहिनी प्रथा किमेकमेव क्षत्रिययुवानमिव गका-
 रमनेकधर्मवन्तमालम्बते एको गकारो नानाधर्मेति किं वा यथे-
 यं शुक्ला गौरियं कपिला गौरिति तथा तीव्रो ऽयं गकारो म-
 न्दो ऽयं गकारो ऽनुनासिको ऽयमिति भवन्त एव विदां कुर्व-
 न्तु । सेयं गोश्वमिव कपिलादियु गोविशेषेषु गत्वं तीव्रमन्दा-
 दिशब्दभेदेष्वालम्बमाना प्रत्यभिज्ञा च भेदप्रथा चोपपत्स्य-
 ते । अपि च युगपत्तीव्रमन्दत्वादिलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गादपि ग-
 काराणां परस्परतस्तपनखद्योतवद्भेदमनुमिमीमहे । न चायं
 विरुद्धधर्मसंसर्गो न गकारादिनिवेशी किं त्वौपाधिकः उपाध-
 यश्च भिद्यन्तएव न गकार इति सांप्रतम् । गकारसमवायिनः
 प्रतीयमानस्यासति बाधके औपाधिकत्वकल्पनाऽयोगात् । प्र-
 त्यभिज्ञानस्य च गत्वसामान्यालम्बनत्वेनोपपत्तेः । अपि चौ-
 पाधिकत्वपक्षे ताल्वादिसंयोगधर्मो वा तदभिघातप्रेरितध्वनिध-
 र्मो वा तीव्रानुनासिकत्वादिः शब्दे समारोप्यत इत्यास्थेयम् । न
 चारोप्यमजानतामारोपः संभवति । न च ध्वनीनां ताल्वादि-
 संयोगविभागानां वा धर्मः श्रोत्रेण शक्यो ग्रहीतुं तदन्यधर्म-
 वत् । न चैते तदानीं प्रमाणान्तरेणोपनीयन्ते स्मृता वा येना-
 रोप्येरन् । न च ध्वनिभेदसंस्कारवशाच्छ्रोत्रस्यैतादृशः सामर्थ्य-
 भेद अविर्भवति । येन आरोप्याग्रहे ऽपि भ्रमो भवति । न
 च मण्डूकवसाक्ताक्षाणामिवानवगतास्मृतोरगाणामपि प्रथमा-

क्षमन्निपाताद्देशेष्टुरगारोप इति सांप्रतम् । सर्वासामेव भ्रान्तीनां
 प्रमाणगृहीतारोप्यारोपविषयग्रहणपुरःसरत्वनियमात् । तदनु-
 सारेण मण्डूकवसाक्ताक्षाणामपि वंशेष्टुरगभ्रमो व्याख्येयः ।
 वंशानां तावदास्ति भ्रूयः सारूप्यमुरगेण तेन चैते तन्मात्रेण रूपेण
 शक्नुवन्ति गृहीताः स्मारयितुमुरगम् । एवमपि यदन्येषां भ्रमो
 न भवति तत्र सर्पाकारव्यावृत्तवंशग्रहो हेतुः मण्डूकवसाज्जतं च
 वंशाकारपिधानमात्रेहेतुः । न च प्रयमाक्षसन्निपातादेव भ्रम इ-
 ति प्रामाणिकं क्षणभेदस्य दुर्ज्ञानत्वात् । न चागृहीतसर्पस्य भ्र-
 वतीति युक्तं शक्यं वक्तुम् । तस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा स-
 र्पग्रहसम्भवात् । ध्वनिधर्मस्त्वनुनासिकत्वादिरस्मिन्नेव जन्मनि
 जन्मान्तरे ऽप्यशक्यग्रह एव । तस्माद्दर्शसमवेतो ऽनुनासिक-
 त्वादिः प्रतीयमानो वर्णधर्म एव नौपाधिकः तथा च युगपद्वि-
 रुद्धधर्मयोगात्परस्परमन्यत्वं गकारादीनामिति युक्तम् । तदने-
 नाभिसंधिनोक्तं कृतकवदुपचारादिति । तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे । तीव्रं मन्दमिति कृतकमु-
 पचर्यत इति । शब्दविषयत्वेन विरुद्धधर्ममुपलक्षयति । अपरान-
 पि शब्दानियतत्वेहेतूनाह । कृतकवदुपचारादित्यनेनेति ।
 सामान्यवत् इत्येतावतैव जातिनिराकरणे सिद्धे विशेषग्रहणं सा-
 धर्म्यं सामान्यमिति भ्रमनिराकरणार्थम् । तद्धि प्रमेयत्वसत्त्वादिकं
 गुण इव जात्यादावप्यस्तीति । विशेषपदेन तु जातिग्रहणान्निवर्त्तितं
 भवति । उपलभ्यस्येति तूपरिष्ठात्स्फुटीभविष्यतीति । शङ्कते ती-
 व्रशब्दस्येति । तीव्रत्वधर्मान्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रवृत्तिस्तीव्र-
 शब्दो न शब्दं धर्मिणमभिधातुमर्हतीति यथोक्तमात्रस्याक्षेप इत्यर्थः ।
 निराकरोति । न शब्दशब्देन समानाधिकरणस्येति । एतच्च
 व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थ इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते । शङ्कते

व्यञ्जकस्येति । स्वकारणात्खलु व्यञ्जकाच्छब्दज्ञानमुत्पन्नं तीव्रं
मन्दं चेति । तेन तीव्रज्ञानज्ञेयः शब्दोऽपि तीव्र इव मन्दज्ञान-
ज्ञेयः शब्दो मन्द इव भासते न त्वाजानतोऽस्य तीव्रत्वं म-
न्दत्वं वा येन भिद्यत इत्यर्थः । निराकरोति नाभिभवेति ।
अन्यत्खल्वन्येन समानजातीयेनाभिभूयते न तु तदेव तेन, न
हि मध्यन्दिनोल्काप्रकाशसंबन्धी पटः पटुना सावित्रेण प्रकाशे-
न प्रकाशमानमात्मानमात्मनाऽभिभवति । एवं गकारोऽपि
तीव्रध्वनिप्रकाश्यं गकारमात्मानमभिभवेत् । यदि त्वयं मन्द-
ध्वनिप्रकाश्यो गकारस्तीव्रध्वनिप्रकाश्याङ्गकारादन्यो भवति ।
ततो मध्यदिनोल्काप्रकाशः सवितृप्रकाशेन चाल्पत्वादभिभूयते
इति युज्यते तदिदं शेषं भाष्यउक्तमिति । सत्यमन्यदन्येना-
भिभूयते तथाऽपि न गकारस्य नानात्वमपि तु तद्ग्रहणानां ते-
षां चाभिभाव्याभिभावकभावो न गकारस्येत्यनेनाभिप्रायेण श-
ङ्कते । ग्रहणमिति । निराकरोति । न ग्रहणभेदस्येति ।
अर्थभेदाधीननिरूपणो ग्रहणभेदो नार्थभेदमन्तरेण शक्यो नि-
रूपयितुं, न च भेदेनानिरूपितः शक्योऽभिभाव्याभिभावक-
भावेन प्रत्येतुमित्यर्थः । नित्यं ग्रहणभेदः स्यादिति । ग्रह-
णभेददर्शनाभ्युपगमे नियतमर्थभेदोऽभ्युपगन्तव्यः । तथा च
सर्वमेव भिद्यत इति नाभिन्नं किं चिज्जवेत् । भेदोऽपि न स्या-
दभेदाश्रयत्वाद्भेदस्येत्यर्थः । अभिभवानुपपत्तिश्चेति । (२९१।
१) यस्मिन्नैव क्षणे पूर्वं ज्ञानमुत्तरेणोत्पद्याभिभवनीयं तदैव तेन
विनाश्यते न चासतोऽभिभव इत्यर्थः । सांख्यमतेऽपि नाभि-
भव इत्याह । अभिभवेति । पराजितं सांख्यं दृष्ट्वा नास्मा-
कप्रथमस्त्यनुयोग इति मन्वानो मीमांसकः पुनः शङ्कते ।
सर्वत्रेति । निराकरोति नेति । सांख्यश्चोदयति । यदि सं-

तानवृत्तिरिति । परिहरति । शब्दसंतानस्य निमित्तभे-
दाभिमुख्येनादौ प्राप्तेरिति । (२९२ । ८) निमित्तभेदो
भेरीशङ्खतालवादिश्च तदाभिमुख्येन यः कर्णशङ्कुल्यवरुद्धस्य
नभसः श्रोत्रस्य भागः स्थितस्तस्मिन्नादौ य उत्पन्नः शब्दस्त-
स्य प्राप्तेः पूर्वादिदिग्वास्थितशङ्खादिजन्मा ऽयं शब्द इत्यनुमी-
यते । एतदुक्तं भवति विशिष्टदिग्देशावस्थितशङ्खादिप्रभवशब्द-
संतानजन्यस्य तस्य शब्दस्य को ऽपि धर्मभेदः श्रोत्रगोचरो
यस्मात्तस्य विशिष्टदिग्देशावस्थितशङ्खादिप्रभवत्वमनुमीयते न
चासौ सामान्यविशेषो ऽव्यपदेश्यत्वान्नास्ति । न हीक्षुक्षीर-
मुडादीनां मधुरत्वावान्तरसामान्यभेदाः प्रत्यक्षवेदनीयाः श-
क्या अव्यपदेश्यतया प्रत्याख्यातुम् । अनुभवश्च समानः । त-
स्मादानुमानिकः शब्दे दिग्देशप्रत्यय इति । यः शब्दसंतान
इति । संतनोतीति संतानः आद्यः शब्दो यो जायते स संत-
नोतीति सम्बन्धः यस्मात्तन्निमित्तादभिमुखे नेति योजना ।
आद्यशब्देति । तदाभिमुखभागयुक्तः शब्द इति ।

तदेवं स्वमतमुक्त्वा परमतमाह । एके त्विति । परोक्षे व-
क्तरीति शेषः । यद्यपि जात्यन्धानामपि कथं चिदाभिमुखपृष्ठ-
पार्श्वतः शब्दविवेकः संभवति तथाऽपि पूर्वापरदिग्विभागो ना-
स्तीत्यत उक्तं जात्यन्धानामिति ॥ १३ ॥ १४ ॥

एतच्चाभावे नास्तीति । (२९३ । ३) न सत्तासं-
न्धो नोभयान्तावच्छिन्नत्वमित्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥

ननु यद्यन्यव्यापकत्वं नास्ति कथं तर्हि भवाद्विःकेषां चि-
द्व्यापकत्वमव्यापकत्वं च केषां चिदिष्यतइत्यत आह । वयं तु
व्याप्तिमङ्गुलिरूपस्येति (२९६ । ६) । यत्र यत्राश्रयोपलब्धिस्तत्र
तत्र यद्वस्तुपलब्धिर्योग्यं सदुपलभ्यते तद्व्यापकं तेन बलाकाव्या-

एकमपि शैक्यं मन्दमन्दालोके बलाकायामुपलभ्यमानायामपि
 नोपलभ्यते योग्यताभावात् । ईदृशं संयोगादीनां व्यापकत्वमशक्यं
 गुणत्वेन साधयितुमनुपलब्धिविरोधादित्याह । न पुनः शब्दा-
 दय इति । उपलब्धियोग्या इति शेषः । सर्ववस्तुविषयं च स्वा-
 भिमितं व्यापकत्वाव्यापकत्वं संक्षिप्याह । समुदितस्थानाना-
 मिति । समुदितस्थाना हि सत्तादयो गोत्वादयश्च व्यापका एक-
 समुदाय्युपलब्धेऽप्युपलब्धेः संयोगादयस्तु समुदितस्थाना अ-
 व्यापकाः न ह्येते समुदायिन्येकस्मिन्निरूप्यन्ते, अपि तु समुदि-
 तेष्वेव एकाश्रयाणां रूपादीनां व्यापकानामव्यापकानां च श-
 ब्दबुद्ध्यादीनामाश्रयोपलब्धावुपलब्ध्यनुपलब्धी व्याप्यव्याप्ती
 इति योजना । एकसमुदायीत्यत्रैकग्रहणमशेषसमुदायिनिवृत्त्य-
 र्थम् । न त्वेको विवक्षितस्तद्ग्रहणं वा तेन कतिपयावयवोपल-
 ब्धौ तदनुपलब्धौ चोपलभ्यमानोऽवयवी व्यापकत्वेनोक्तो भ-
 वति । मूर्तिमत्त्वादिभ्य इत्यादिग्रहणेन स्पर्शवत्त्वाव्यापित्वादी-
 नि गृह्यन्ते । कार्याकाशसंयोगो विप्रतिपत्तिविषय इति ।
 यदि कार्याकाशसंयोगमात्रं पक्षीक्रियते ततो विनश्यदाधारद्र-
 व्यवर्तिनः संयोगस्येत्यस्त्यत एव यावद्द्रव्यभावित्वमित्यपसि-
 द्धान्तः स्यादित्यत उक्तं विप्रतिपत्तिविषय इति । तेनैवा-
 नैकान्तिकं स्यादत उक्तमविनश्यदाधारत्वइति । तथाऽपि
 पटस्य नीलीद्रव्यसंयोगेन यावद्द्रव्यभाविनाऽनैकान्तिकं स्या-
 दित्यत उक्तं क्रियावद्द्रव्यवृत्तित्वे इति । विवक्षितपरस्पर-
 विभागहेतुक्रियावत्त्वमिह ग्राह्यम् । क चित्पश्यते विप्रतिपत्ति-
 विषया विभागिन आकाशादयः क्रियावद्द्रव्यसंयो-
 गित्वात्परमाणुवादिति, अत्र यथाकाशादयो विभागिन इति
 साध्येत तत आत्मादिभिरपि विभागिनः स्युरित्यपसिद्धान्तः

स्यादत उक्तं विप्रतिप्रसिद्धिष्वपि इति । ततो मूर्तेन विभागो
न इत्यभिमतं लभ्यते । संयोगस्य चाव्याप्यवृत्तित्वमिति । प्रदे-
शवतोः खल्वामलकयोः संयोगो व्याप्यवृत्तिता । संयोगस्या-
काशादावपि प्रदेशवद्द्रव्यसामान्यं तेनाकाशादौ प्रदेशोपचार
इत्युक्तं । संप्रति सामान्यान्तरउपचारजीमहा एकस्य चेति ।
(२९७४) यथा घट एको ऽनेकमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगी प्रदेशवानेव-
माकाशमित्यर्थः । कतमस्मिन्नर्थे इति प्रश्नः । तस्यार्थः । “तत्त्व-
भाक्तयोर्नानात्वस्य विभागादव्यभिचारः” “संतानानु-
मानविशेषणात्” “कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधाना-
ना” इति सूत्रैरेवानैकान्तिकत्वपरिहारादस्मिन्नर्थे सूत्रं न श्रूयते इ-
त्युक्तमिति । उत्तरं निष्प्रदेशमाकाशमिति । न हि कारण-
द्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानादिति सूत्रमाकाशादीनां निष्प्रदेशत्वं
साक्षाद् ब्रूत इत्यर्थः । एवं स्थिते भाष्यकारीयप्रश्ने वार्तिकका-
रः स्वमुत्तरमाह । अर्थतो ऽधिगतेरिति । विषयान्तरं प्रश्नो-
त्तरयोराह शब्दसंतानेति । भाष्यकारीयमुत्तरमाह द्वौ प-
क्षौ न व्यवस्थापयतीति भाष्यस्यार्थः निष्प्रदेशत्वमात्मादीनां
शब्दसंतानं च साक्षादाचक्षणः सूत्रकारः पक्षं व्यवस्थापयेन्न
तु तेनैदमभिहितमिति अनुमानतरोश्च पञ्चानां रूपाणां चतुर्णां
वा संपदः शास्त्रा बहव इत्यर्थः ॥ १७ ॥

सतो ऽनुपलब्धिकारणाभाव इति । (२९८१२) माक्-
मध्वंसाभावाभ्यां व्यभिचारो मा मृदिति सत इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

अत्र जातिवादिनः सूत्रद्वयं “तदनुपलब्धेरनुपल-
म्भादावरणोपपत्तिः” आवरणानुपलब्धेस्तावदुपलब्धिर्न सं-
भवति । अनुपलब्धिस्वरूपविरोधात् । तस्मादावरणानुपलब्धि-
वृत्तत्वा तथा चावरणानुपलब्धेरभावे सत्यावरणोपलब्धिस्तथा

त्वावरणसद्भावः । ज्ञानस्य निरालम्बनत्वायोगात् । द्वितीयं सू-
त्रम् “अनुपलम्भादनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्ति-
रनुपलम्भात्” । यदि पूर्वोक्तदोषभयादनुपलभ्यमाना ऽप्या-
वरणानुपलब्धिरस्ति तथा सत्यनुपलब्धेरनैकान्तिकत्वान्नावर-
णाभावो ऽनुपलम्भादिति । तदिह द्वाभ्यां सूत्राभ्यामनैकान्ति-
कत्वं देशितम् ।

अस्यावतारभाष्यम् एवं च साति तत्त्वमिति । तदेत-
द्वार्तिककारो व्याचष्टे एवं चेति । सूत्रयोस्तात्पर्यं प्रश्नपूर्व-
कमेकत्र दर्शयति को ऽस्य त्वाक्यस्येति । अत्र सिद्धान्ती
किं मन्त्रं ज्ञेयं प्रत्यात्मवेदनयित्वादिति । सिद्धान्त्याह
एवंसतीति । यद्यावरणानुपलब्धिरुपलभ्यते मानसेन प्रत्यक्षेण
तदा नानैकान्तिकत्वं न चारणसद्भावः । उत्तरवाक्यमि-
ति । जात्युत्तरवाक्यमित्यर्थः । नास्योत्थानमस्तीति । न
सूत्रद्वयस्याप्युत्थानमस्तीत्यर्थः । ननु पूर्वैव सूत्रेणावरणोपपत्तौ
दर्शितायां कृतमनुपलम्भादित्यनेन सूत्रेणेत्यत अह । अभ्य-
नुज्ञावादेनेति । पूर्वसूत्रेणानुपलब्धेरनुपलम्भादभाव उक्तः
इह त्वनुपलम्भादपि यद्यनुपलब्धेरनाभावादिति तदनेनाभ्यनुज्ञा-
या अनैकान्तिकत्वमुच्यते इति नापार्थक्यमेतत्सूत्रमित्यर्थः । सूत्र-
गतो ऽपिरभ्युपगमांशमत्र द्योतयति । एतदेवाह भाष्यकारः ।
यद्यप्यनुजानाति भवानिति । तदनेन सूत्रद्वयेनानैकान्तिक-
त्वमुक्तमिति स्थितम् ॥ १९ ॥ २० ॥

अस्योत्तरसूत्रम्—

अनु-तुः (सू. २१) ॥ जातिवाद्यनुपलब्धेरनुपलब्धि-
र्नास्ति विरोधादिति मन्यते तत्र विधिविषयप्रमाणगोचरता ऽनु-
पलब्धौ विरुध्यते । ननु निषेधगोचरप्रमाणविषयता ऽपि, तत-

श्रोपलब्धिं निषेधता प्रमाणेन मनसा ऽनुपलब्धिग्रहणं न विरो-
धमावहति तदयं सूत्रार्थः । अनुपलब्धेरावरणानुपलब्धेरनुपल-
म्भात्मकत्वादावरणोपलब्धिनिषेधात्मकत्वात् तदनुपलब्धेर-
नुपलम्भादिसयमावरणोपपत्तौ न हेतुः । असिद्धत्वाद् निषेधविष-
येणानुपलब्धेरनुपलम्भादिति । तदेतद्भाष्यकारो व्याचष्टे । यदु-
पलभ्यतइति । यदुपलभ्यते विधिविषयेण प्रमाणेन तदस्ति
यन्नोपलभ्यते यन्निषेधविषयेण प्रमाणेनोपलभ्यते तन्नास्तीति ।
तस्मादनुपलम्भात्मकं निषेधविषयप्रमाणमगम्यमसदिति स्थि-
तम् । उपलब्ध्यभावश्चानुपलब्धिः सेयमभावत्वान्नोपलभ्यते वि-
धिविषयेण प्रमाणेन । शेषं सुगमम् ।

अस्य वार्तिककारः परमतात्पर्यमाह । अतथाजातीये-
नेति । अनुत्तरं जात्युत्तरमित्यर्थः । यथाजातीयक इति ।
उपलब्धस्य हि शब्दस्यासत्यनुपलब्धिकारणे प्रागूर्ध्वं चोच्चार-
णादनुपलभ्यमानस्यानित्यस्य सधर्मा नान्य आत्मादिर्दृष्टो ऽनि-
त्य इति । ननु प्रागूर्ध्वं चोच्चारणान्मा भृच्छब्द इति एतावता ऽपि
नित्यानतरवैधर्म्येण कस्मान्न नित्यः शब्दः न ह्यात्माकाशादयो
नित्याः सर्वथा सर्वेषां सधर्माणः मा भूदेषामभेद इत्यत आह ।
उक्तं चेति । अनित्यत्वसाधनमाह । अनित्य इति । प्रसक्तत्वा-
दित्युच्यमाने गोत्वादिभिर्व्यभिचारः स्यादत उक्तं व्यापकद्रव्ये
समवाये सतीति । तथा ऽप्यात्मसमवायिनैकत्वेन व्यभिचारः
स्यादत उक्तम् । अव्यापकस्यासमवाये सतीति । तथा ऽप्या-
त्मसमवायित्वस्येति अमूर्तत्वादित्युच्यमाने घटादिभिः प्रदेशवद्भिः
प्रथमे क्षणे व्यभिचारो ऽत उक्तं सर्वदेति । तथा ऽपि क्रिया-
गुणादिभिर्व्यभिचारस्तेषामपि हि समवायिकारणं प्रदेश इत्यत
उक्तम् । द्रव्यस्य सत इति ॥ २१ ॥

तदेवं स्वपक्षसाधनमुक्त्वा विप्रतिपात्तिनिमित्तं परपक्षसाधन-
मुपन्यस्य निराकरोति । अथ शब्दस्येति । (२९९ । १९)
अस्पर्शेन कर्मणैवोभयतो व्यभिचारे लब्धे नित्येनाणुना व्य-
भिचारोद्भावनं कृतकत्वानित्यत्ववत्समव्याप्तिकत्वनिराकरणार्थं
द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

अयं तर्हि हेतुः सम्प्रदानादिति । संप्रदीयमानत्वादित्य-
र्थः । दातृप्रतिग्रहीत्रोरन्तराले शब्दो ऽस्ति अध्यापनाद् गुरुणा
शिष्याय दीयमानत्वाद् धनुर्वेदविदा ऽऽचार्येण शिष्याय दीय-
मानेष्वदादिवदिति ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

यद्यन्यन्नाम जगति भवेत् ततो न्यत्वे ऽप्यभ्यासस्योप-
चारादिद्यनेनानैकान्तिकत्वमुद्भाव्येत तदेव नास्तीति वाच्छलन
प्रत्यवतिष्ठते । अन्य-वः (सू. ३१) ॥

तस्य परिहारसूत्रम् ।

तद-द्धेः (सू. ३२) ॥ तथोरन्यानन्ययोर्मध्ये ऽनन्य-
स्यान्यापेक्षसिद्धेरित्यर्थः । न चान्यस्वरूपात्तदनन्यदिति पर-
स्मादप्यनन्यद्भवितुमर्हति । न हि नीलमात्मनो ऽनन्यदिति पी-
तादप्यनन्यदिति । अन्यदेव हि पीतानीलमिति परमार्थः ।
अयं तावत्प्रत्ययः पुरुषान्तरे निवर्त्तमानो दृष्ट इति ।

(३०२ । ९) यदा खल्वेकस्य पुरुषस्य तत्प्रत्ययो भवति तदा
ऽवश्यं न पुरुषान्तरस्य, तस्मात्प्रत्ययाव्यावृत्तिरसिद्धेवेति । एव-
मेतदिति । सत्यं विशेषदर्शनं तत्प्रत्ययनिवृत्तिहेतुः तदभावे तु
विशेषादर्शनस्य न शक्यं संशयहेतुत्वं निवारयितुमित्यर्थः ।

यत्पुनरेतद्गोशब्द इति । गोशब्दो गोशब्द इत्येकाकारः प्र-
त्ययो नैकमन्तरेण भवितुमर्हति । अथ भ्रान्तः कस्मान्न भवती-
त्यत आह । न च गोशब्दस्येति । भ्रान्तत्वे हि ततो गोश-

विनाशकारणोपलब्धौ तदनुपलब्धिरसिद्धेति । अश्वविषाण
संबन्धस्याभावादिति । अश्वत्वविषाणत्वयोर्यतः को ऽपि सं-
बन्धो ऽश्वेषु सिद्धो नास्ति तस्माद्विरोधादनुमानमेतदशांभन-
मित्यर्थः । तस्माद्यथा विरुद्धाद्धेतोरनुमानमसदेवमसिद्धादपीत्य-
र्थः । शङ्कते कर्मत्ववादिति चेत् । निराकरोति । तच्च न
आश्रयस्यानित्यत्वात् । कर्मत्वाश्रयः कर्म तस्यानित्यत्वा-
दित्यर्थः । शब्दस्य नित्यस्याश्रवणमनुपपन्नम् अश्रवणकारणा-
नुपपत्तेरिति ब्रूमः । तन्नाश्रयानित्यत्वादिति ग्रहणकवाक्यं
विभजते । कर्मत्वस्य पुनरिति ।

प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्तत्त्वन्त्यस्य शब्दस्य निरोध-
क इति भाष्यम् । तस्यार्थः । प्रतिघातिद्रव्यं कुड्यादि तत्संयो-
गो नभसः । एतदुक्तं भवति घनतरद्रव्यसंयुक्तं नभो न शब्द-
समवायिकारणतां प्रतिपद्यते ततश्च सन्नप्यसमवायिकारणं श-
ब्दो न शब्दान्तरमारभते तस्य च स्वकारणं तत्कारणस्य त-
स्माद्विनाशो भवतीति द्रष्टव्यम् । एवमन्यत्रापीदृश एव शब्दवि-
नाशहेतुरुहनीय इति । इतश्च शब्दोऽनित्य इत्याह । घण्टाया-
मभिहन्यमानाग्रामिति । यदि घण्टास्थेन व्यञ्जकेनान्यवृत्ति-
ना वा ऽवस्थितेन सन्तानवृत्तिना वा नित्यः शब्दो व्यज्येत
ततस्तारतारतरतारतममन्दमन्दतरादिश्रुतिभेदो न स्यात् । नि-
त्यस्य च शब्दस्य न स्वाभाविको भेदो नाप्यौषाधिक इत्युप-
पादितमधस्तात् । यदि तु तारतमादयस्तावन्त एव शब्दा नि-
त्यास्ततस्तावन्त एव युगपदेव गम्येरन् विशेषाभावाद् एको-
ह्येषां व्यञ्जकः स्थिर इति । अथ सन्तानवृत्तिस्तथा ऽपि सर्व-
एव तत्सन्ततिपतिताः समर्था इत्याद्येनैव सर्वे व्यज्येरन् न तु
समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां व्यञ्जकनियमो युक्त इत्युप-

पादितमधस्तात् । कारणत्वे तु घण्टास्थस्य संतानवृत्तेर्युक्तं यत्ता-
 रतमादिभेदेन कारणभेदात्कार्यभेद इति तात्पर्यार्थः । युगपद-
 नेकशब्दोपलब्धिप्रसङ्ग इति । (३०४।५) अनेकस्य तार-
 तमादेः शब्दस्योपलब्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः । घण्टास्थं चाभिव्य-
 क्तिकारणं कथमन्यत्र वर्त्तमानमिति । श्रोत्रे वर्त्तमानमि-
 त्यर्थः । द्वितीयं कल्पमाशङ्क्य दूषयति । अथान्यगतमिति ।
 घण्टासबन्धेषु शब्द इति हि तावल्लौकिकप्रत्ययः सोऽयमन्य-
 गते शब्दव्यञ्जके यथैकस्यां घण्टायां भवति तथा घण्टान्तरेष्व-
 पि तत्प्रत्यासन्नेषु भवेदविशेषात् । तस्मादेकघण्टास्थत्वे निय-
 महेतुर्वक्तव्य इति । असति शब्दभेदे श्रुतीनामिति । श-
 ब्दज्ञानानामित्यर्थः । नाद इति वायुधर्मोऽभिधीयतइति शङ्कते
 व्यामोहप्रत्यय इति । यथा हि वस्तुतः स्वच्छधवले स्फटि-
 कमणौ लाक्षारसावसेकतिरस्कृतधवलस्नि लोहितः स्फटिक
 इति प्रत्ययः एवमभिव्यञ्जकवृत्तिस्तारत्वादिभ्रान्त्या शब्दे प्र-
 तीयते इत्यर्थः । निराकरोति । न विशेषहेत्वभावादिति । न
 हि समीचीनतत्प्रत्ययात्तारोऽयं शब्द इति प्रत्ययस्य कश्चिद्वि-
 शेषहेतुरस्ति बाधकप्रत्ययो येनैष मिथ्याप्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।
 न च निर्बीजा भ्रान्तिरपि संभवितुमर्हति दीर्घत्वादिभ्रमाणां तु
 शब्देऽस्ति बीजमित्याह । यदि चायमिति । यानि खलु दी-
 र्घाणि वंशप्रभृतीनि एषामवयवौ वाऽपचयः समानजातीयोपच-
 य इहाप्यविरतभृतौ शब्दसंताने विवृतकारणनिष्पन्ने समस्ति स-
 मानजातीयोपचय इति तत्साधर्म्याद् दीर्घत्वभ्रम एव शब्दसं-
 तान एव तारो महानित्युच्यते तत्राप्यस्ति समानजातीयोपचयो
 ऽस्ति च स्फुटतरत्वं महानपि स्फुटतरोऽयमपि तथेति महानि-
 त्युच्यते । शङ्कते तुल्यमिति चेत् । यथा ह्यनिसवादे घण्टा-

स्थमवस्थितं संतानवृत्ति न युगपत्तारमन्दानुत्पादयति किं तु क्रमणैव एवं नित्यानपि शब्दान् क्रमेण व्यङ्ग्यतीत्यर्थः । निराकरोति । न तन्निमित्तस्य कदा चिद्भावात् । न तावन्नित्यवादिभिस्तारत्वादिधर्मभेदेन शब्दभेदो ऽभ्युपेयते तथा चैकनावस्थितेन घण्टास्थेन संतानवृत्तिना व्यज्यमान एकस्मिन् शब्दे नित्यं श्रुतिभेदः कादाचित्को नोपपद्यते । शब्दे त्वनित्ये ऽन्यस्मिन्नन्यस्मिन् क्रियमाणे संतानवृत्तिना कारणेन तज्जेदात्कार्यत्वात्कादाचित्कत्वाच्च श्रुतिभेदोपपात्तिरिति वैषम्यमित्यर्थः । तच्च कारणमिति । (३०५।८) निमित्तकारणमित्यर्थः । पाणिसंश्लेषमपेक्षमाणार्थादिति । स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगाद् घण्टायां कर्म कर्मवद्घण्टाकाशसंयोगात्तादृशाच्छब्दश्चेत्येकः कालः तत्कर्म पाण्यभिधातमपेक्षमाणं विभागसमकालं संस्कारं वेगाख्यं करोति । सा घण्टा चलन्त्याध्यात्मिकं वायुमुपगृह्णाति घण्टातदवयवसंयुक्ता वायुपरमाणव एवाध्यात्मिको वायुः तदुपग्रहो घण्टायाः स्ववेगमपेक्षमाणाया वायुसंयोगाद्वायौ क्रियोत्पादकत्वं ततश्चानिलकर्मणो घण्टानिलसंयोगो वायुगतवेगापेक्षो घण्टायां कर्मरभते । तदिदमाह सा च वायुना ऽभिहता पुनः कर्म करोति । तदेवं वायुघण्टासंयोगो घण्टावेगापेक्षो घण्टाकाशसंयोगश्च शब्दमारभतइति द्रष्टव्यम् । ततश्च कर्मणा संस्कारः संस्कारेण पुनः कर्म शब्दश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । सुगममन्यत् ॥ ३५ ॥

देशयति अथ घण्टास्य इति । न खलु कारणविनाशे कार्योच्छेदो, मा भूत्कुलालादिनिवृत्तावपि घटादिनिवृत्तिरित्यर्थः । परिहरति न ब्रूम इति । यद्यपि निमित्तनिवृत्तावपि कार्यं निवर्त्तते यथा ऽपेक्षाबुद्धिनाशाद् द्वित्वादि तथा ऽपि निमित्तनिवृ-

त्तावपि तदनिवृत्तिमभ्युपगम्यैव परिहार इति मन्तव्यम् ॥ ३६ ॥
 सिंहावलोकितन्यायेन पूर्वोक्तं हेतुं दूषयति । विनाशेति ।
 (३०६।३) प्रत्यक्षेण शब्दविनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने श-
 ब्दस्य शब्दोपलब्धेरपि नित्यत्वप्रसङ्गः । न हि तस्या अपि वि-
 नाशकारणं प्रत्यक्षेणोपलब्धत इति तदनेन विनाशकारणानुपल-
 ब्धिरित्यस्यानैकान्तिकत्वमुद्भावितम् ॥ ३७ ॥

संप्रति सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते । कम्पसमानाश्रयस्येति ।
 अनुवृत्तो नादः शब्दोऽनुनाद इति । वैयधिकरण्ये हीति ।
 द्रव्यप्रश्लेषासमानाधिकरणस्यैव संस्कारस्योच्छेदः स्याद् न व्य-
 धिकरणस्य शब्दस्य, व्यधिकरणस्य तृच्छेदाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गः
 स्यात् तस्मात् कम्पसंतानसंस्कारसमानाश्रयः शब्दोऽभ्युपगन्त-
 व्यः । तदनेनाकाशाश्रयत्वं शब्दस्य प्रतिषिद्धं तदेतद्वार्तिकका-
 रो व्याचष्टे । व्यधिकरणत्वादयुक्तमिति ॥

अस्योत्तरसूत्रम् ।

अस्प-धः (सू. ३८) ॥ प्राप्यकारित्वमिन्द्रियाणां व्यव-
 स्थितं प्राक् । घण्टायाश्रयः शब्दो न श्रोत्रं प्राप्नोति । एवं हि
 प्राप्नुयाद् यदि घण्टा कर्णशङ्कुलीमागच्छेत् कर्णशङ्कुली
 वा घण्टां, न चैतदुभयमस्ति । न चाहंकारिकमिन्द्रियं व्यापी-
 त्युक्तम् । तस्माच्छब्दाधारो निःस्पर्शो व्यापी वाकाशस्तदा-
 धारः शब्दः श्रोत्रमायाति संतानवृत्त्येति युक्तं तथा च
 श्रवणमस्योपपन्नं नान्यथेति । तदेतद्वार्तिककृद्विभजते, अस्पर्शो-
 ति । येन केन चिदिति । मन्दतरेण वा मन्दतमेनवा
 कारणशब्देनेत्यर्थः । अनेकः संस्कार इति तत्त्वं शब्दभे-
 दादिति । एकस्य हि संस्कारस्य धर्मभेदकल्पनायां कल्पनागौर-
 वप्रसङ्गः संस्कारस्तावदेको धर्मो धर्मभेदाश्चेति । तदिह धर्मभेद-

स्थाने ऽस्तु संस्कारभेदः कृतमत्रैकेन धर्मिणा । न च संस्कार-
भेदेषु धर्मभेदाः कल्पनीयाः संस्कारभेदमात्रादेव कारणात्कार्य-
भेदोपपत्तौ तद्वतधर्मभेदकल्पनावैयर्थ्यादिति भावः । यस्य च
वैशेषिकस्यैकः संस्कारस्तस्येषोः पातः प्राप्नोति संस्कारस्य
हीनोर्मूर्तद्रव्यसंयोगो विनाशको ऽविनाशको वा, विनाशकश्चेद्
आद्येनैव मूर्तद्रव्यसंयोगेन तस्य विनाशादगत्वैव यावद्वन्तव्य-
मिषोः पातप्रसङ्गः । द्वितीये तु कल्पे कृतकस्यापि संस्कारस्य वि-
नाशकारणाभावेनाविनाशान्न कदा चिदपि पातः स्यात् प्रयोग-
श्च इष्वादिवेगः क्षणिकः वेगत्वात् घटादिगतवेगवादिति ॥ ३८ ॥

विभ-से (सू. ३९) ॥ सांख्यानां रूपरसगन्धस्पर्शश-
ब्दसमुदायो वीणावेणुशङ्खादिद्रव्यं तत्र समासे समुदाये स्थित-
एव व्यज्यतइति दर्शनं तस्मिन्समुदाये सांख्याभिमते विभक्त्य-
न्तरोपपत्तेश्च न व्यज्येत शब्दः यदि समुदाये व्यज्येत शब्दः
विभक्तिश्च षड्जधैवतगान्धारादिभेदेन विभागान्तरं च षड्जजा-
तीयस्यैव तारमन्द्रादिरूपं नोपपद्यते न हि तद्वतानां गन्धादीना-
मेकस्मिन्नेव द्रव्ये वीणादौ नानाजातीयानां च प्रतिक्षणं भेदो
दृश्यते तस्माद्विभक्त्यन्तरोत्पत्तेर्न समासे व्यज्यते शब्दः अपि
त्वाकाशगुणः क्रियतइति सांप्रतम् । सूत्रव्याख्ययैव भाष्यवार्त्ति-
के व्याख्याते ॥ ३९ ॥

तदेवं रूपादिसन्निविष्टः शब्दो व्यज्यतइति सांख्यमते दूषि-
ते स एव सांख्यो वर्णेषु प्रकृतिविकारभावश्रुतेर्मृत्सुवर्णादिवत्प-
रिणामिनित्या वर्णा इति यदि प्रत्यवतिष्ठते तत्र परीक्षामारभते
द्विविधश्चायं शब्द इति । विकारोपदेशो ऽपि न ध्वनि-
मात्रे शब्दे ऽस्तीति न तस्य परिणामिनित्यतामापादयितुमर्हति
केवलं वर्णात्मन्यापादयेद् यद्यसंदेहः स्याद्, अस्ति तु तत्रापि

संदेहः । तथा हि इको यणचि इत्यादिकं विकारोपदेशमाचक्षत-
 एके । अन्ये त्वादशोपदेशं, तत्र व्याख्यातृविप्रतिपत्तेः संशयः ।
 तन्नापरीक्ष्य शक्यमवधारयितुमित्यर्थः । तत्र परीक्षायामादेशोप-
 देशस्तत्त्वमित्यवधारयते । आदेशोपदेश इति । सुवर्णजातीयाः
 खल्ववयवा अन्यतमव्यूहपरित्यागेनान्यतमं व्यूहमापद्यमाना रुच-
 क इति वा वर्द्धमान इति वा परिणमन्ते, अस्ति हि तेषु सर्वेषु
 सुवर्णजातीयानामवयवानामनुगमः न तु यकारे इकारस्य वा
 तदारम्भकस्य वा अवयवस्यानुगममीक्षामहे । तस्माद्विकाराभा-
 वादादेशत्वमस्य निश्चिनुम इति । उपपत्त्यन्तरं चाविकारे दर्शय-
 ति । भिन्नकारणयोश्चेति । यदि हीकारविकारो यकारः स्या-
 द् यकारप्रयोगायेकारमुपाददानास्तत्कारणं विवृतकरणं पूर्वमु-
 पाददीरन् । तन्निरपेक्षास्तु यकारं प्रयोक्ष्यमाणा ईषत्स्पृष्टकरण-
 मुपाददते तस्मान्नेकारविकारो यकार इत्युत्पश्यामः । उपपत्त्य-
 न्तरमाह । अविकारे चेति । कारकज्ञापकयोर्हेत्वोरविशेषमाह ।
 उभयत्रेति । उपपत्त्यन्तरमाह । प्रयुज्यमानेति । यथा हि
 क्षीरं कालविपाकापेक्षं दधि भवदृश्यते न तथेकारो यकारो
 भवन्नित्यर्थः । यदि न विकारः कथं तर्हि शब्दान्वाख्यानमिको
 यणचित्यत आह । अविकारे चेति । इकः प्रयोगप्रसङ्गे संहि-
 तायां यणः प्रयोगमाह तत्सूत्रे न पुनरिग्विकारं यणमित्यर्थः ।
 ननु मा भृद्विकारः परिणामो ऽर्थान्तरं तु भविष्यति ततो नित्या
 वर्णा भविष्यन्तीत्यत आह । एतावच्चैतदिति । परिणामो वे-
 त्यापाततः कार्यकारणभावो वेति परमार्थः । न जातु क्षीरं त-
 दवयवा वा दधिरूपेण परिणमन्ते न ह्यवयवा अवयवस्वभावाः
 तस्मात्कार्यकारणभाव एव तात्त्विक इति । स च वर्णेषु नास्ति
 इगनपेक्षस्य यणो निष्पत्तेः । तस्मादिक्प्रयोगप्रसङ्गे संहितायां

यणः प्रयोग इत्यन्वाख्यानार्थ इति । इतश्चायमादेशोपदेश इत्या-
ह । वर्णसमुदायेति । वर्णस्यैकस्य वास्तवत्वात् कदाचिद्विका-
र उपपद्यते बुद्धिः समाहारमात्रस्य तु तत्समुदायस्य न विका-
रसम्भवः । तस्मात्तत्राकामेनाप्यादेशोपदेशो वक्तव्यः । स वरं
वत्प्राप्त्वादेकस्मिन्नप्यस्तु वर्णइति इत्यर्थः ॥४०॥

इतश्च न प्रकृतिविकारभावः । प्रकृतिविवृद्धाविति । म-
हद्भिः खलु तूलपिण्डैरारब्धः स्थूलः पिण्डोऽल्पैश्चारब्धो महा-
नल्प इति दृष्टं तद्वदिहापि दीर्घकारविकारस्य यकारस्येकारवि-
काराद्भवितव्यं विशेषेण, न चास्ति विशेषः तस्मान्न प्रकृतिवि-
कारभाव इत्यर्थः ॥४१॥

अस्याक्षेपसूत्रम्— न्यून-तुः (सू. ४१) ॥ अल्पेन हि न्यग्रोधबीजेनार-
ब्धो न्यग्रोधतरुर्ग्रहान् ततोऽतिमहता वा नारिकेलबीजेनारब्धो
नारिकेलतरुरल्पः नारिकेलबीजेरेव परस्परापेक्षमाणसमैरारब्धः
सम इति । अस्य प्रत्याख्यानसूत्रम् । द्विविधस्यापि हेतो-
रिति । यदि च न्यूनसमाधिकोपलब्धेरिति साधनं तदा
द्विविधस्य हेतोरभावाद् दृष्टान्तमात्रस्य चासाधकत्वात् प्र-
तिदृष्टान्तस्य च संभवादित्येतद् दूषणम् ॥४२॥

यदि च न्यूनसमाधिकोपलब्धेरित्यनेनानैकान्तिकोद्भावनं
प्रकृत्यनुविधानस्य क्रियते तदा दूषणपक्षे नातुल्यप्रकृती-
नां विकाराविकल्पादिति दूषणम् । अनैकान्तिकदोषस्या-
सम्बन्धत्वं नाम न्यूनसमाधिकत्वे तु प्रकृत्यनुविधानं विकारा-
णामप्रच्युतम् । तथा ह्यतुल्यायाः प्रकृतेर्विकारा विकल्प्यन्ते
प्रकृतिभेदमनुविधीयन्ते, न जातु न्यग्रोधबीजाद् नारिकेलपादपो
भवति भवति च न्यग्रोधबीजान्न्यग्रोधपादप इति । एतदुक्तं भ-

वति प्रकृतिभेदानुविधानं विकारभेदानां ब्रूमी न पुनस्तद्विवृद्धि-
 द्वासाभ्यां तद्विवृद्धिद्वासां येनानैकान्तिकत्वमुद्भाव्येत तस्मादनैका-
 न्तिकोद्भावनमसंबद्धमित्यर्थः । न त्विवर्णमनुविधीयते यकार-
 इति भाष्यम् । तस्यार्थो न त्विवर्णभेदमनुविधीयते इति । तस्मा-
 दनुदाहरणं न्यूनसमाधिकभावे द्रव्यविकार इति ॥४३॥

अस्याक्षेपसूत्रम्—

द्रव्यविकार इति । (३०८।१) न प्रकृतिभेदमवश्यमनु-
 विधीयन्ते विकाराः द्रव्यत्वेन तुल्यत्वे ऽपि प्रकृतीनां विकार-
 वैषम्यं तथा च दीर्घह्रस्वाभ्यां वैषम्ये विकारवैषम्यं भविष्य-
 ति प्रकृतिसाम्येव विकारवैषम्यम् इति भावः ॥४४॥

तत्र प्रत्याख्यानसूत्रम् । न विकारधर्मेति । यद्यपि प्र-
 कृतेर्द्रव्यत्वमभेदस्तथा ऽपि विकारभेदे प्रकृतिभेद एवोपयुज्यते
 न पुनः प्रकृतेरभेदः तद्विकाराणां तु यदभिन्नं रूपं द्रव्यत्वं तत्र
 तस्योपयोग इति स्थिते परिहारो ऽन्वयः (स्याक्षेपसूत्रं द्रव्य-
 विकार इति ।) ग्रहणं परिहार उक्तः ॥४५॥

इतश्च न सन्ति वर्णविकारा इत्याह । विकारेति । नो
 खलु क्षीरविकारो दधि पुनः क्षीरं दृष्टमित्यर्थः । अननुमा-
 नादिति प्रमाणाभावमुपलक्षयति ॥ ४६ ॥

अस्याक्षेपः सुवर्णादीनामिति सूत्रम् । साधनपक्षे दू-
 षणं व्यभिचासादिति ॥ ४७ ॥

दूषणपक्षे दोषमाह । सुवर्णोदाहरणोपपत्तिश्चेति ।
 तथा हि । ये सुवर्णजातीया अवयवा रुचकत्वमापन्नास्तएव
 पूर्वव्यूहपरित्यागेन वर्धमानतामापन्नाः पुना रुचकत्वमापद्यन्ते
 तदवयवानां तत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । न त्विहेकारो यका-
 रानुगत इकारयकारानुगतो वा ऽन्यः कश्चिद्धर्मी दृश्यते य इ-

त्वं परित्यज्य यच्चमापद्यते वर्णत्वं त्वनुगतमपि न धर्मि, किं तु धर्म एव । न च निवर्तमान ईकारो यकारस्य धर्मो भवितुमर्हति धर्मधर्मिणोः समानकालत्वादित्यर्थः ॥४८॥

ननु दध्यत्रेति प्रयोगे कदेकारस्योत्पद्य निरोधः । तथा दधि अत्रेति प्रयोगे कदा यकारस्योत्पद्य निरोध इत्यत आह । तदेनद्वगृह्य संधीनइति । अवग्रहो ऽसंहिता दधि अत्रेत्युच्चार्य दध्यत्रेत्युच्चार्यते दध्यत्रेति वा संधाय दधि अत्रेत्यवगृह्यतइत्यर्थः ॥ ४९ ॥

जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते । नित्यपक्षे तावदिति ॥ यथा हि सत्यपि नित्यत्वे के चिदतीन्द्रियाः यथा परमाण्वाकाशादयः के चिदैन्द्रियकाः यथा गोत्वादयः एवं सत्यपि नित्यत्वे परमाण्वाकाशादयो न प्रकृतिविकारभूताः वर्णास्तु प्रकृतिविकारभावमापत्स्यन्ते नित्या अपतित्यर्थः । सेयं विकल्पसमा जातिरित्याह । विरोधादिति । न खल्वैन्द्रियकत्वानैन्द्रियकत्वाभ्यामस्ति काश्चिन्नित्यत्वस्य विरोधः । प्रकृतिविकारभावेन त्वास्ति, न हि संभवति कार्यं च नित्यं चेत्यर्थः ॥५०॥

अनित्यपक्षे जातिवाद्याह । अनवस्थायित्वे चेति । यथा सत्यप्यनवस्थायित्वे वर्णा इन्द्रियेण सम्बध्य स्वविषयं ज्ञानं जनयन्ति एवं विकारमपि करिष्यन्तीत्यर्थः । सेयं साधर्म्यसमा जातिरित्याह । असंबन्धादिति । कतिपयक्षणावस्थानेन वर्णानां क्षणिकानामपि स्वविषयज्ञानहेतुभावो युज्यते अवगृह्य चिरं स्थित्वा यदा संधीयते संधाय वा चिरं स्थित्वा यदा विगृह्यते तदा वर्णानामनित्यानां न तावन्तं कालमवस्थानमस्तीति नोपलब्धिहेतुत्वेन विकारकर्तृत्वं वर्णानां तुल्यम् । तस्मादसंबन्धादसमर्था वर्णोपलब्धिर्वर्णविकारप्रतिपादन इत्य-

र्थः । माभूद्र्णोपलब्धिर्वर्णविकारेण साक्षात्संबद्धा आदेशविरो-
धितया तु तन्निवृत्त्या पारिशेष्याद्विकारं साधयिष्यतीत्यत आह ।
न च वर्णोपलब्धिरिति ॥ ५१ ॥

तदेवं जात्युत्तरमुत्थितमेव मारितं कृत्वा भाष्यकारो ऽत्रै-
वार्थे सूत्रं पठति । विकारधर्मित्वइति । वार्तिकम् उपलभ्य-
मानस्य चेकारस्य यत्वानुपपत्तरिति । (३०९ । १७)
अवगृह्य चिरं स्थित्वा संधाय यदा यत्वं तदोपलभ्यमानतेकारस्य
नास्तीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः । प्रकृत्यनियमादिति । क्षीर-
जातीयस्य दधिजातीयो विकारो न पुनः कदाचिदपि दधिजा-
तीयस्य क्षीरजातीया विकारा उपलभ्यन्ते । इह तु यथेकारजा-
तीयस्य यकारजातीयो विकारो दध्यत्रेति दृश्यते एवं यकार-
जातीयस्यापि विकार इकारजातीयो दृश्यते यथा व्यथेः सति
प्रसारणे यकारस्येकार इति । तस्मादनियमाना प्रकृतिविकार-
भाव इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

अत्र छलवादी प्रत्यवतिष्ठते । अनियमे नियमा-
दिति ॥ ५४ ॥

तदेतस्य वाक्छलत्वमापादयति । नियमानियमविरोधा-
दिति । नियमानियमसामानाधिकरण्यं विरुध्यते न त्वाधारा-
धेयभाव इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

तदेवं प्रकृतिविकारभावं निराकृत्य विकारवचनव्यक्ति-
शब्दानामादेशपक्षे समर्थयति । न चेयं वर्णविकारोपपत्ति-
रिति । एकस्याप्रयोगे अन्यस्य प्रयोगो विकार इति सामान्य-
लक्षणम् । तस्य विशेषानाह । स भिद्यतइति । उपमर्हो ना-
मेति । यथा ऽस्तेभूरिति । लेशः स्त इत्यत्रास्तेरकारलोपे स-

कारमात्रस्य लेशस्यैकदेशस्य व्यवस्थापनम् । श्लेष आगमः प्र-
कृतेः प्रत्ययस्य वा । अत्रापि केवलस्याप्रयोगे विशिष्टस्य प्रयोग
इत्येतावता विकारसामान्यलक्षणं लक्षणीयम् । एतेन वार्तिक-
मपि व्याख्यातमेवेति ॥ ५६ ॥

तदेवमुक्तेन क्रमेण वर्णानामनित्यतां प्रतिपाद्य शब्दप्रामा-
ण्योपयोगि पदं निरूपयति ।

ते वि-दम् (सू. ५७) ॥ एवं किल केचित्पश्यन्ति
न वर्णाः प्रतिपादयन्त्यर्थान् ते हि प्रत्येकं वा अन्वयधियमाद-
धीरन् नागदन्ता इव शिख्यालम्बनं मिलिता वा ग्रावाण इव
पिठरधारणम् । तत्र न तावत्पूर्वः कल्पः । प्रत्येकमर्थप्रत्ययानु-
त्पादात् । वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्याच्च । नापि संहताः एकव-
क्तृप्रयोगे क्रमनियमेन संघातानुपपत्तेः । अनेककर्तृकप्रयोगेऽपि
सस्यपि यौगपद्ये अर्थप्रत्ययानुत्पादनात् । नापि क्रमवत्पूर्ववर्णा-
नुभवभावितसंस्कारसहितोऽन्त्यवर्णप्रत्ययोऽर्थप्रत्ययहेतुरिति सां-
मतम् । भावनापरनाम्नः संस्कारस्य स्वोत्पादकानुभवविषयस्मृ-
तिजननादन्यत्र सामर्थ्यादर्शनात् । न हि गवानुभवजनितः सं-
स्कारः करोति स्मृतिं तुरङ्गमे । अपि चेयमन्त्यवर्णश्रुतिः स्वार्थ-
संकेतस्मृत्यपेक्षा वार्थप्रत्ययमादधीत अनपेक्षा वा, तदपेक्षत्वे त-
त्काले अन्त्यवर्णश्रुतिरुपरता क्षणिकत्वेनेति कया सङ्केतस्मृति-
रपेक्ष्यते अन्त्यवर्णश्रुतिसमये च संकेतस्मृतिरनागतेति किम-
न्त्यवर्णप्रत्ययोऽपेक्षेत । संकेतस्मृत्यनपेक्षत्वे अगृहीतसंकेतस्या-
पि प्रथमश्रावणोऽर्थप्रत्ययप्रसङ्गः । न हि चिरध्वस्तस्यानपेक्षि-
तस्मृतेः संकेतग्रहस्यास्ति कश्चिदुपयोग इति । न च भावनाख्य-
संस्कारसहितोऽन्त्यवर्णः प्रत्यायकोऽर्थस्य । नाप्यन्य एव क-
श्चित्पूर्ववर्णानुभवजनितः संस्कारः प्रोक्षणादिभिरिव व्रीह्यादेर-

न्त्यवर्णप्रत्ययसहकारीति युक्तम् । अनेकादृष्टकल्पनाप्रसङ्गात् ।
 स एव तावददृष्टचरः कल्पनीयस्तस्य चानेकत्वमिति सोऽयं
 वर्णेभ्योऽर्थप्रत्ययो भवन्ननुपपद्यमानस्तदतिरिक्तं स्फोटानुभव-
 मायतते । अस्ति हि भिन्नष्वेपि वर्णेषु वाक्यमिदमेकं पदमिति
 वा सर्वजनीनोऽनुभवः । न चासौ भिन्नवर्णलिम्बतो भवितुमर्हति
 एकस्य नानात्वविरोधात् । तस्माद्वर्णातिरिक्तं पदं वाक्यं वाऽऽल-
 म्बते । तच्च प्रत्येकमेव ध्वनयोऽभिध्वज्जयन्ति केवलं पूर्वं ध्व-
 नयः स्वरूपमाभासयन्ते चरमस्तु व्यक्तम् । न चैयमर्थे विधा संभ-
 विनी प्रत्यक्षज्ञाननियतत्वात् व्यक्ताव्यक्तावभासितायाः पदे
 प्रत्यक्षे उपपत्तिः अर्थस्य तु पदगम्यस्याप्रत्यक्षस्य मानान्तरेण
 ग्रहणमस्तीति अग्रहणं वा न तु स्फुटास्फुटत्वाभ्यां योगः । अपि
 च यस्मिन्ननुवर्तमानं यद्व्यावर्तते तत्तस्माद्विद्यते यथा सुवर्णावय-
 वेष्वनुवर्तमानेषु कटकमुकुटादयः । अनुवर्तमानेषु तु वर्णेषु व्या-
 वर्तन्ते पदभेदास्तस्मात्तेऽपि वर्णेभ्यो भिन्ना इति तान्प्रत्याह ।
 ते विशिक्त्यन्ताः पदम् । तएव वर्णा एव पदं न तु त-
 दतिरिक्तं स्फोटाख्यमित्यर्थः । इदमत्राकृतम् । न तावद्वर्णातिरिक्तः पदात्मा कश्चिदुपलभ्यते
 प्रत्यक्षेण, पदमिति तु व्यपदेशस्तानिव वर्णान् बहून्पेकस्मृतिसमा-
 रोहितया वा एकार्थधीहेतुतया वा अभिन्नकारकावस्थावत्तया वा
 ऽऽलम्बते भाक्तः । न चैवमन्योन्यसंश्रयः नर्त्ते पदावधारणाद-
 र्थाधिगमो न चार्थाधिगमन्तरेण पदावधारणमिति । एकस्मृतिबु-
 द्धिसमारोहिणां वर्णानामसत्यर्थवत्तया स्वबोधे सुज्ञानत्वात् त-
 न्मात्रस्य च स्वार्थेन संकेतग्रहस्यापि सुकरत्वात् तदुत्तरकाल-
 त्वाच्च पदमिति कारकशब्दप्रवृत्तेः । इतरथा सर्वेषु कारकशब्दे-
 शु दुर्वारमितरेतराश्रयत्वं कार्योपहितमर्यादत्वात्कारकाणां तदनु-

पातित्वाच्च तच्छब्दानां, तस्माद्व्यपदेशमात्रानुरोधेन नैकैकवर्णमात्राभासिनीषु श्रोत्रजासु बुद्धिषु तदाहितवासनालब्धजन्मायां चानुभूतवर्णसंकलनात्मिकायां स्मृतिबुद्धावप्रथमानो वर्णविभागोपमर्देन न शक्यः पदात्मा प्रत्यक्ष इति वक्तुं, नापि निर्भागस्य स्फुटास्फुटत्वे वा भागविपर्यासो वा युज्यते, नो खलु सर्वथा ऽदृश्यमानो नाम स्फुटः नापि समारोपविषयः । न हि सामान्यात्मना ऽप्यगृहीता शुक्ती रजतत्वसमारोपविषयः । न च निर्भागे पदात्मनि गृहीते किं चिदस्यागृहीतमवशिष्यते यदग्रहणादव्यक्तत्वं वा समारोपो वा भवेत् । न च तदेव तदैव तेन गृहीतमगृहीतं च संभवति । तस्मान्न प्रत्यक्षस्य तदाभासस्य वा गोचरः पदात्मा । नाप्यनुमानस्यार्थप्रत्ययलिङ्गजन्मनः परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । न तावत्सत्तामात्रेण पदात्मा ऽर्थप्रत्ययमाधत्ते मा धान्नित्यत्वेन नित्यमेनम् । तस्मात्स्वज्ञानेन । तच्च स्वज्ञानमर्थप्रत्ययात् तथा च सत्यर्थप्रत्यये पदप्रत्ययः पदप्रत्यये च सत्यर्थप्रत्यय इति व्यक्तमन्योन्याश्रयत्वम् । न चेयमर्थधीर्वर्णेभ्यो नोदेतुमर्हति ते हि पूर्वमनुभूताः प्रत्येकम् अनुभूतताक्रमोपसृष्टा एकबुद्धिसमारोहिणः शक्नुवन्त्यर्थधियमाधातुम् । न चाक्रमानुक्रमविपरीतक्रमाणामविशेषो वर्णानाम् । पूर्वानुभवसन्निवेशानुसारित्वात्स्मृतेः तत्सन्निवेशस्य च विशेषाद्विशेषोपपत्तिः । अमेदे ऽपि च वर्णानां न हि हिनेत्यादौ पदभेद उपपत्स्यते विना ऽपि स्फोटकल्पनाम् । क्रमभेदानुविधायित्वात्पदभेदस्य, अर्थप्रत्ययकारकत्वं च न वर्णमात्राणामपि तु क्रमन्यूनान्तिरिक्तत्वाद्युपहितानाम् । तत्तदुपधानं च तुल्यत्वे ऽपि वर्णानामभ्यदन्यदिति पदभेदसिद्धिः । तस्माद् दृष्टेभ्य एव वर्णेभ्यो दृष्टप्रकारानुपातिभ्यो ऽर्थप्रत्ययोत्पत्तिरुपपद्यमाना नादृष्टं स्फोटात्मानं दृश्यमानवर्णभेदापह्नवेन

कल्पयितुमर्हतीति सिद्धम् ।
 भाष्ये विभक्त्यन्ताः पदमिति । यथादर्शनं विकृता इति
 भाष्यम् । गुणान्तरापत्त्यादिभिरादर्शरूपेण विकृताः यथादर्शनं य-
 थाप्रमाणं न तु प्रकृतिविकारभावेन तस्य प्रमाणबाधितत्वादित्य-
 र्थः । वार्तिकम् अर्थप्रत्ययस्तर्हि न प्राप्नोतीति । स्फोटवा-
 दिन उक्तो ऽभिप्रायः । उत्तरम् । अन्त्यवर्णप्रत्ययादिति ।
 वर्णेषु प्रत्ययो वर्णप्रत्ययः । अन्त्यश्चासौ वर्णप्रत्ययश्चेति अन्त्य-
 वर्णप्रत्ययः सकलवर्णावगाहिनी स्मृतिः । सा च प्राचः प्रत्येक-
 वर्णानुसमानपेक्ष्यान्त्या भवति । यद्येवमगृहीतसंकेतानामप्यसा-
 वस्तीति तेषामर्थप्रत्ययप्रसङ्गः स्यादित्यत आह । पूर्ववर्णप्रति-
 सन्धानप्रत्ययापेक्षादिति । संकेतग्रहणसमयः पूर्वः तद्भाविनो
 वर्णाः पूर्वं तेषां प्रतिसंधानं यावतां यज्जातीयानां गृहीतः संकेत-
 स्तादृशास्तावन्तस्तज्जातीया एवैतदित्येवमाकारं तदेव प्रत्ययस्त-
 दपेक्षात् । न चासावगृहीतसंकेतानामस्तीति सन्नप्यन्त्यवर्णप्रत्य-
 यो नार्थस्य प्रत्यायक इत्यर्थः । अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगमद्वि-
 शिष्यमाणरूपः शब्दो नाम, अन्तरशब्दो विशेषवचनः क्रिया-
 विशेषयोगाद्धेतोरित्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति । यस्याभिधेयं क्रियाविशेषसंबन्धेन विना-
 न पर्यवस्यति तन्नाम आख्यातार्थस्तु यद्यपि क चित् क्रियया
 ऽपि सम्बध्यते यथा ऽभिक्रामं जुहोति भुक्त्वा व्रजतीत्यादिषु
 तथा ऽपि जुहोति व्रजतीत्यादयो न क्रियासम्बन्धमन्तरेण न प-
 र्यवस्यन्ति अपि तु तत्समभिव्याहृता अपि संबध्यन्ते । नामार्थ-
 स्तु न पूर्वापरीभूतप्रधानक्रियापदार्थमन्तरेण पर्यवस्यति । अत-
 एवाहुः—यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रस्तिर्भवन्तीपरः प्रयो-
 क्तव्यः तथा च ब्राह्मणे ऽभिक्रामं भोक्तुं भुक्त्यादयश्च समुचया-

व्यपेक्षाः क्रियाविशेषमन्तरेणापर्यवस्यन्तो नामत्वेन संगृहीता
 भवन्ति । अस्योदाहरणमाह । यथा ब्राह्मण इति । अस्यार्थमाह
 क्रियाकारकसमुदायः कारकसंख्याविशिष्टः । अत्र हि
 क्रियाशब्देन ब्राह्मणस्य भावो ब्राह्मणत्वमभिधीयते भावशब्द-
 स्य क्रियार्थत्वात् । भविता च ब्राह्मणः कारकम् । तयोर्ब्राह्म-
 णत्वब्राह्मणयोः समुदायः स च कारकस्य भवितुर्ब्राह्मणस्यै-
 कत्वसंख्यया विशिष्टो ब्राह्मण इत्येतस्मान्नामपदादस्यत इत्यर्थः ।
 आख्यातलक्षणमाह । क्रियाकालयोगाभिधायि क्रियाप्र-
 धानमाख्यातं क्रियायाः कालयोगः पूर्वापरीभावः । काल-
 योगाद्वि संभवति तदभिधायि । तदनेन पाक इत्यादेर्नामपदा-
 द् व्यवच्छिन्नति । एवमपि भुक्ता भोक्तुमित्यादावपि नाम्नि
 प्रसङ्गः । अस्ति हि तत्रापि कालावधिपूर्वापरीभूतकर्मक्षणप्रच-
 यप्रत्ययोऽन्यथा ओदनमिति कर्मसम्बन्धो न स्याद् अत उत्तं
 क्रियाप्रधानमिति । स्वनिष्ठा आख्यातात् क्रिया प्रतीयते ना-
 न्यतन्त्रा । भोक्तुमित्यादौ तु क्रियान्तरमन्तरेण न पर्यवस्य-
 न्तीति क्रिया गम्यते । व्रजतीत्यादौ तु न तथा तदिदं क्रिया-
 प्राधान्यम् । तदनेन पचति पचेत पच्यते स्थायितइत्यादि सर्व-
 माख्यातं संगृहीतं भवति । न क्वचिदपि नाम्नि प्रसङ्गः यद्-
 प्यस्त्यादि नामाख्यातप्रतिरूपकं तत्रापि सन्नित्यस्यार्थे सिद्धरूपे
 तद्वर्त्तते न पुनः पूर्वापरीभूतक्रियार्थत्वमिति द्रष्टव्यम् । यस्मा-
 न्नाम्ना सर्वं पदं व्याप्यत इति । (३११।६) बाहुल्यं व्या-
 प्यर्थः । प्रायेण हि वाक्ये बहूनि नामपदानि आख्यातं पुनरेक-
 मेवैकस्मिन् वाक्ये आख्यातभेदे वाक्यभेदादिति । अधिकरण-
 माक्षिपति न पदादर्थान्निगतिरिति । पदेन हि विशेषो वा

ऽभिधीयते सामान्यं वा तत्र विशेषाभिधानं तावद् दूषयति । विशेष इति । अनवस्थानमनवधारणमिति । सामान्याभिधानमास्थायाह न पदस्येति । दूषयति न सामान्यस्येति । व्यवहाराय हि वाक्यमुच्चारयन्ति वृद्धाः न तु व्यसनितया । न चास्ति सामान्यसाध्यः कश्चिद्व्यवहारः किं तु सर्वो व्यवहारो विशेषसाध्यः । न चास्य पदं वाचकं तद्वाक्यमेव वाक्यार्थस्य वाचकमिति न पदार्थचिन्तावसर इत्याक्षेपार्थः । समाधत्ते न सामान्यविषयत्वे सतीति । न तावत्पदातिरिक्तमस्ति वाक्यं नामेत्युक्तमधस्तात् । न च वर्णमात्रैव पदार्थप्रतिपादनावान्तरव्यापारानपेक्षा वाक्यार्थबोधिनीति युक्तम् । अनपेक्षितसंकेतग्रहायास्तदवबोधने प्रथमश्राविणो ऽविदितसंकेतस्य वाक्यार्थबोधप्रसङ्गः । यतः संकेतग्रहापेक्षत्वे वाक्यार्थेन सहानन्त्यव्यभिचाराभ्यां वाक्यसंकेतग्रहासंभव इत्यकामेनापि पदानां स्वार्थे संकेतो ऽभ्युपगन्तव्यः । तस्मात्पदानां सामान्यमर्थस्तत्प्रतिपादनावान्तरव्यापाराणां च यथा वाक्यार्थप्रतिपादकत्वं तथा ऽस्माभिस्तत्स्वविन्दौ निपुणतरमुपपादितम् । सेयं पदात्सामान्यप्रतीतिर्गौरिति वा अश्व इति वा सर्वगत्रीषु सर्वाश्वेषु बोधसर्पन्ती शुक्ल इति कृष्ण इति वा विशेषश्रुत्या नियम्यते इत्यर्थः । पृच्छति कथं पुनरिद्यमिति । तिष्ठति गच्छतीत्यादयो ऽपि न पदत्वेन विशेषे वर्तितुमर्हन्ति सम्बन्धग्रहणासम्भवात् । तस्मादेते ऽपि सामान्यवचना इति भावः । उत्तरं नैवेद्यमिति । (२७५६) । तत्र तद्व्यवहारः तत्र तद्व्यवहारः

तदेवं पदस्य सामान्यवाचकत्वनिश्चयादाकृतिव्यक्तयोश्च पदात्प्रतीतिर्वादिनां विप्रतिपत्तेर्भवति संशयः । किं त्रितयमर्थ आहो अन्यतम इति एतं तावत्सामान्यावगमाद्वाचक-

त्वं निश्चिन्नं चिन्तान्तरावतारो दर्शितः । संप्रति द्वितीयावगम-
त्पदस्य वाचकत्वशङ्कैव नास्ति तस्माद्युक्तश्चिन्तान्तरावतार इ-
त्याह भवतु चेति । प्रतीतिसिद्धमनुजानाति क्रिया च त-
त्साधनं चति । भविता गौरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

किमन्यतमः पदार्थ उतैतत्सर्वमिति भाष्यम् । तत्रान्य-
तमार्थमाह वार्त्तिककारः । किं व्यक्तिरिति । (३१२।९) ॥ ५८ ॥

अत्र याशब्दादिप्रयोगसामर्थ्याद्व्यक्तिरेव पदार्थ इत्येके म-
न्यन्ते । स्यादेतत् । व्यक्तिवदाकृतिरपि भिद्यतइत्याकृतेरप्य-
भिधायकं कस्मान्न भवतीत्यत आह । आकृतेरपीति । गोत्वं
च जातिरूपाधिर्भविष्यति तेन नातिप्रसङ्गः । न चोपाधेरभिधा-
नम् । अनभिहितस्यापि तच्छब्देनोपहितावच्छेदकत्वदर्शनात् ।
यथा गार्गिकया श्लाघतइत्यत्र श्लाघोपाधिविहितो वुञ् न श्ला-
घामाहेति भावः ।

तमिमं व्यक्त्यभिधाननियमत्रादिनमपाकरोति ॥ ना-
नेनेति । नाप्रतीतः उपाधिरूपहितावच्छेदाय प्रभवति । न च
गार्गिकयेत्यत्रोपाधिर्वुजाभिहितो ऽपि न प्रतीयते श्लाघत-
इति पदान्तरेण तस्याभिधानात् । यत्र तु श्लाघतइति न प्रयु-
ज्यते न तत्र वुजोभावाभिधायिनः साधुत्वमस्ति । सेयं व्य-
धिकरणे ऽनुपाधौ गतिः । समानाधिकरणे तु पश्वादावुपाधौ
प्रत्ययान्तशब्दवाच्यत्वमेव । यथा दृतिहरिः श्वेति । अत्र हि
दृतिहरिरित्येतावतैव पशौ लब्धे तद्विशेषनियमार्थः श्वेति प्रयु-
ज्यते । न च प्रयोगादेवोपाधेरगम्यमानत्वादनभिधानं सांप्रतम् ।
तदुपाध्यनभिधायिनस्तत्र प्रयोगनियमस्य पर्यनुयोज्यत्वात् । अ-
ननुयोज्यत्वे अनादेर्लोकप्रयोगस्य सर्वेषामेव शब्दानामनभिधा-
यकत्वप्रसङ्गः । प्रयोगनियमादेव हि तेभ्यो ऽप्यर्थो ऽवगम्य-

ते । अथाप्रतिपादकस्य प्रयोगनियमो नोपपद्यतइति यत्र प्र-
योगस्तत्प्रतिपादकत्वमित्यभ्युपेयते तदुपाधावापि समानम् । तथा
च स्मरति भगवान्कात्यायनः तदन्तवाच्यः समानशब्दो ऽय-
मिति । समानशब्दः समानाधिकरणशब्दो य उपाधिरसौ प्र-
त्ययान्तशब्दवाच्य इत्यर्थः । तस्माद्व्यक्तिनियमे अपतीता जाति-
रशक्ता । न च गोशब्दादन्यदस्याः प्रत्यायकमस्तीति सा ऽपि
तेन प्रत्यायनीयेति सिद्धं न व्यक्तिमात्रं पदार्थ इति ॥ ६० ॥

कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेष्विति भाष्यम् । कटं
करोतीति निर्वर्त्यस्य कटस्य कर्मत्वमनुपपन्नं कारकाऽधिकारी-
यत्वात् कर्मसंज्ञायाः, क्रियानिमित्तस्य च कारकत्वात् । असि-
द्धस्य च क्रियायाः पूर्वं निमित्तभावायोगात् । तस्मात्तादर्थ्यनिमि-
त्तादेव कटशब्दः कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेषु वर्तते । वीरणानां
च वा रच्यमानानामस्ति कटकियापूर्वभावित्वेन निमित्तभाव
इति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

यदि न जात्या विना व्यक्तिनियम इति जातिरभिधेया
हन्त भोः सा ऽप्याकृत्या नियन्तव्येत्याकृतिरेवाभिधीयतामि-
त्याह । यदि तर्हीति । (३१४।९) एतदपि दूषयति । अत्रा-
पि तदेवोपस्थितं न तदनवस्थानादिति । संस्थानेनापि
व्यज्यमाना जातिरेकार्थसमवायाद्व्यज्यते च व्यवस्थाप्यते च ।
सा तु व्यक्तिसंस्थानाभ्यां व्यावर्तमानाभ्यामनुवर्तमाना ऽभि-
न्नबुद्ध्या ऽवसीयते । तादृशी च व्यक्तिसंस्थानाभिधानानपेक्षे-
णापि पदेन शक्या बोधयितुं, संस्थानं तु व्यक्तिवद्विन्नमान-
न्त्यव्यभिचाराभ्यामशक्यसंकेतग्रहणं जात्यभिधानमपेक्ष्य न श-
क्यं पदेन बोधयितुमिति न संस्थानापरनामा ऽऽकृतिः पदार्थ
इत्यर्थः । नापि जातिद्वारेण व्यक्तिवदाकृतिः पदार्थो जात्या

सहासम्बन्धादित्याह । यस्य च जात्या योग इति ॥६४॥
 अस्तु तर्हि जातिरेव पदार्थः तत्र हि सुकरः संकेतग्रहः
 व्यभिचाराभावादिति । व्यक्त्याकृत्योस्तु व्यभिचारः जात्याभि-
 धायिनो व्यक्तावाकृतौ चौपचारिकः प्रयोगो भविष्यतीत्यभि-
 प्रायेणाह । अस्तु तर्हीति । शेषमस्यातिरोहितार्थम् ।
 एकमनेकत्र वर्ततइति प्रतिजानानो नानुयोक्तव्यः ।
 उभयेन व्याघातादिति । (३१८।१३) यद्येकमनेकत्र वर्तमानं
 प्रतिव्यक्तिं सर्वात्मना वर्ततइति किं त्वनेकमनेकत्र वर्ततइति
 प्राप्तम् । एवं चानुयोगाधिकरणव्याघातः । अथैकमनेकत्र वर्त-
 मानं प्रतिव्यक्त्येकदेशेन वर्तते तथा ऽपि नैकमनेकत्र वर्तते किं
 त्वनेकमनेकत्रेति एकदेशानामनेकत्वादिति । सो ऽयमुभयेन
 व्याघातः उक्तो ऽवयविवादे ॥६४॥
 तदेवमन्यतमाभिधाननियमं निराकृत्यानियमाभिधानं सि-
 द्धान्तिमाह ।
 व्यक्त्या-र्थः (सू. ६५) ॥ इदमत्राकृतम् । गोशब्दो-
 च्चारणानन्तरं विदितसंगतेरेकपदे व्यक्त्याकृतिजातिनिर्भासः प्रत्य-
 य उदयमासादयति न पुनर्यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यत्र
 गौर्वाहीक इत्यत्र वा गङ्गात्वगोत्वावगमोत्तरकालं वाक्यार्थे त-
 त्सम्बन्धानुपपत्तेस्तदविनाभावेन वा लक्ष्यमाणगुणयोगेन वा
 तीरं वाहीको वा ऽवगम्यते तथेहावगतिः । प्रयोगप्राचुर्यादस-
 न्ताभ्यासेनातिशीघ्रतया सन्नपि प्रत्ययक्रमो न लक्ष्यते ।
 शीघ्रतरवाणहेतुकशतपत्रशतव्यतिभेदवदिति चेत् । न असति
 बाधके बलवति प्रत्ययाभेदप्रथायामन्यथाकरणायोगात् । तथा
 च सति न क्वचिदप्यभेदो ऽवतिष्ठेत तथा च भेदो ऽपि न
 स्याद् अभेदाश्रयत्वाद्भेदस्य । अपि च न रूपिशून्या रूपावगतिः

रूपं च द्रव्यस्य जातिः तेन रूप्यमाणत्वाद् रूपि द्रव्यम् । न च येन यद्रूप्यते तदनवगमे तदवगमः । यथा नार्थमन्तरेण बुद्धेरुपलम्भनं, तस्माज्जात्युपलम्भो द्रव्योपलम्भैकदेशो न द्रव्योपलम्भमन्तरेण केवलः सम्भवति । तस्मादेकोपलम्भगोचरत्वान्न जातिजातिमतोर्लक्ष्यलक्षणभावः स चोपलम्भः शब्दज्ञानानन्तरं जायमानः शब्दः । न च वाच्यमेकोपलम्भगोचरत्वे ऽपि जातिव्यक्त्योर्जातिरेव वाच्या न व्यक्तिः एकवाच्यत्वे ऽप्युभयोपलम्भोपपत्ताबुभयवाच्यत्वकल्पनानुपपत्तेरिति । कार्यव्यङ्ग्यं हि-कारणानां सामर्थ्यं कार्यैव नाकार्ये । कार्यं चानुभवः स चैक एवेति न सामर्थ्यभेदकल्पना । तद्वारेण तु कर्मण्यप्युच्यते पदमर्थे समर्थमिति कार्यं च द्वारमेकमिति विषयभेदे ऽपि सामर्थ्यमेकमेवेति । अपि च पुरुषसङ्केतापेक्षवृत्तीनां पदानां न किं चित्सामर्थ्यं नाम प्रमाणगोचरः यदेकमनेकं वा स्यात् । एतेन निरुद्धलक्षणायां शब्दस्य जात्यभिधानोपक्षीणस्य न व्यक्तिसामर्थ्यं कल्पनीयम् । अन्यत्राव्यापृतस्य तत्रार्थस्यैव सामर्थ्यमिति यदाहुस्तदपि निरस्तम् । स खल्वर्थः प्रतीतो वा व्यक्तिं गमयेद् अप्रतीतो वा । अप्रतीतस्य गमकत्वे सर्वदैव व्यक्त्यवगतिप्रसङ्गः कारणस्य नित्यत्वात् । प्रतीतस्य गमकत्वे दुरुत्तरमात्माश्रयत्वं न हि जातिप्रत्ययादन्यो व्यक्तिप्रत्यय इत्युक्तम् । तस्मात्साधु पारमर्षमुत्रं व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ इति ।

संप्रत्यन्यापोहपदार्थवादिनमुत्थापयति न व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ इति के चिदिति । (३२० । ३) अथ द्रव्यादिवृत्तित्वादिति । गवाश्वस्य तु नाश्रयाश्रयिभाव इति भावः । जातिमन्मात्राभिधायको ऽपि सच्छब्दो न भवति । कस्मात् अस्वतन्त्रत्वादिति । जातिमन्तो घटप-

टादयः, न चैते घटादिशब्दादिव निरपेक्षात्सच्छब्दात्प्रतीयन्ते
किं तु सच्छब्दाद् घटादिषु बुद्धिः परिप्लवते घटादिशब्दापेक्षस्तु
सच्छब्दो घटादिनिश्चयहेतुः । तस्मान्न घटादिशब्दपरतन्त्रत्वान्न
तद्वतो वाचक इत्यर्थः । अथ चेति । यद्यत्र परतन्त्रं वर्तते तत्तस्य
न वाचकं यथा गङ्गागवादिशब्दास्तीरवाहीकादेः । तथा च
जातिशब्दा जातिमति । तस्मान्न जातिमद्वाचकाः ते हि जाति-
मपेक्ष्य जातिमति वर्तन्तइति तादृशं पारतन्त्र्यमित्यर्थः । अथ
जात्यनपेक्षं कस्मान्न तद्वति वर्ततइत्यत आह । उक्तं चात्रेति ।
(३२१ । ३) अस्तु तर्ह्यौपचारिक एव तद्वति प्रत्यय इत्यत
आह तद्वति चेति । यथा ऽऽधिपत्यलक्षणो गुणः स्वामिनो
जितकाशिनि भृत्ये ऽप्यस्तीति तत्र स्वामिशब्दः प्रवर्तते न तथा
जातिगुणयोगो व्यक्तेरित्यर्थः । अपि च अन्यशब्दो ऽन्यत्र
वर्तमानः प्रथमं तावदन्यधियमुत्पादयति अथान्यत्र वर्तते यथा
गोशब्दो गवि बुद्धिमुत्पाद्य वाहीके वर्तते । न चेह जातिशब्दो
जातौ तद्वतिक्रमेण प्रवृत्तः न चौपचारिकस्य वृत्तियौगपद्यमि-
त्याह । क्रमवृत्त्यभावात् युगपदसंभवाच्च । गुणोपरागं
दूषयति । अयथार्थज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गाच्च । गुणोपरागाद्यथा
नीलः स्फटिक इति ज्ञानमेवं सर्वमेव शाब्दं ज्ञानं विना बाधक-
मयथार्थमेव स्यादित्यर्थः । एकस्वलक्षणाभिधानं दूषयति ।
असाधारणेति । अशक्यसमयत्वाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् ।

तदेवमन्यापोहवादिनमुत्थाप्य दूषयति । अत्रास्माभिरि-
ति । व्यक्त्याकृतिजातयस्तिस्त्रो ऽस्माकं पदार्थः । गुणप्रधानभा-
वस्तु क चिदं कस्य चित् जातिमद्व्यक्त्याभिधाने द्विविधमप्यस्वा-
तन्त्र्यं न संभवति शब्दानाम् । न तावद्व्यक्तिज्ञाने जनयितव्ये
तदर्थं जातिज्ञानं पूर्वमपेक्षन्ते शब्दा इति संभवति । द्वयोरप्येक-

ज्ञानवेद्यत्वनियमेन पौर्वापर्यायोगात् । नापि विशेषवाचकं पदं
 विना जातिशब्दानां बुद्धिपरिप्लवात्तद्विनिश्चयाय विशेषशब्दापे-
 क्षया स्वातन्त्र्यम् । स्वविषये जातिशब्दाद्बुद्धेरपरिप्लवात् ।
 जातिमध्यक्तिमात्रमस्य हि विषयो न चात्र बुद्धिपरिप्लवः । व्य-
 क्तिनियमस्तु विषय इति न तत्र बुद्धिपरिप्लवो दुष्यति । दूराद्धि
 आरोहपरिणाहवद्व्यमात्रं गोचरः प्रत्यक्षस्य न तु स्थाणुः पुरुषो
 वा । न चात्र बुद्धिपरिप्लुतिः प्रत्यक्षक्षतिं कां चनावहति । न
 चास्मिन् पक्षे जातिशब्दो व्यक्त्याकृत्योः परशब्दो येनौपचारिकः
 स्यात् । न च सामानाधिकरण्यं न कल्पते जातिव्यक्तिपदयोरे-
 कार्थाभिधायिनोर्वैयधिकरण्यायोगात् । तस्मात्सर्वमवदातम् ।

एवमनेकान्तवादे परोक्तदोषापसङ्गमभिधाय दूषणवाक्यं
 परोक्तं दूषयन् दोषाभावमाह । न वेतै दोषा इति । सत्ताशब्द
 इति सत्तायाः शब्द इति वा विग्रहः सत्तारूपः शब्द इति वा
 तत्र पूर्वस्मिन्कल्पे सत्ताया न वाचकः सत्ताशब्द इति व्याघातः ।
 उत्तरस्मिन्कल्पे न वाचकः सत्ताया इत्यनेन व्याघातः सत्ताया
 इत्यनेन शब्देन सत्तामभिधत्से अथ च तस्य वाचको न सत्ता-
 शब्द इति ब्रूये ततो व्याघातः सत्ताशब्द इति चोपलक्षणार्थं
 सत्ताया न वाचक इति द्रष्टव्यम् । शङ्कते भवदभिप्रायेणेति ।
 निराकरोति । नेति । यद्यस्मदभिप्रायार्थं प्रतिपद्यसे अर्थप्रती-
 त्यधीनो ऽभ्युपगम इति अभ्युपगमं ब्रूये तत्तथा च न निषेद्धुम-
 र्हसीति भावः । अथ निषेद्धुं प्रत्येमि न पुनरभ्युपैमीत्याशङ्काह
 यच्चेदमिति । (३२२ । ४) दूषयति तदपि नेति । अत-
 थाभूतस्यापुरुषभूतस्य स्थाणोस्तथाभाविभिः पुरुषैः सामान्यं
 सत्यध्यारोपितः पुरुषत्वादिर्धर्मो यस्य स तथेत्युक्तः तस्य प्र-
 धानमर्थः पुरुषः तदकारा प्रतीतिरित्यर्थः । सत्तायाः प्रधान-

साधनवाचिनेति । प्रधानं साधनं व्यञ्जकतया भवितुद्रव्यं
तद्वाची खलु सच्छब्दः सत्ताशब्दस्तु द्रव्योपसर्जनभाववाची न
तस्य द्रव्यवाचिना सामानाधिकरण्यमित्यर्थः । सामानाधि-
करण्यासिद्धिः सदद्रव्यशब्दयोरिति । सिद्धिः प्रतीतिः
सा भवन्मते न स्यादिति यदुक्तं कैश्चित्तदप्यनेन सामानाधि-
करण्यव्यवस्थापनेन प्रत्युक्तम् । व्याख्यातो निराकार्यत्वेन ।
स्वयं प्रकल्पतां याचोयुक्तिमिति । (३२३।३) जाति-
शब्द इति सदादिशब्देषु स्वयं प्रकल्पता या वचनव्यक्तिस्तां
प्रतिषेधति तत्र चास्माकं सिद्धसाधनमित्यर्थः । सच्छब्दो जा-
तिशब्दस्तस्य भेदवाचकत्वं नास्य संमतमिति मन्वानो देशयति ।
यदि तर्हीति । सुगमः परिहारः । तथा ऽपि नान्वयी न
व्यतिरेकी चेति । ये ये अनन्ता न ते जातिशब्दवाच्या इति
न दृष्टान्तः । सर्वभेदपक्षीकरणात् । नापि यो जातिशब्दवाच्यो
न तत्रानन्त्यं यथा गोत्वादिकमिति शक्यं वक्तुं जातेरेव भवन्म-
ते व्यापारविन्दायमानत्वादिति भावः । शङ्कते अथापीति ।
तथा सत्यन्वयी दृष्टान्तो लक्ष्यत इति भावः । निराकरोति ।
अथमपि नेति । विशेषणोपादानविरोधात् । न हि भेदमन्तरेण
किं चिदस्ति वस्तुसदं यतो विशेषणं व्यावर्तयेदिति भावः ।
हेतुभावानभ्युपगमादिति । (३२४।५) न शब्दोऽर्थप्रसा-
यने लिङ्गं येन व्यभिचारेण दुष्यति । न च प्रत्यायकमात्रं व्य-
भिचारेण दुष्यति चक्षुरादीनामपि नीलादिव्यभिचारेण पीतादौ
वर्तमानतया व्यभिचारिणामप्रत्यायकत्वप्रसङ्गात् । सङ्केतग्रहस्तु
सत्यपि भेदानां व्यभिचारे चैकैकजातिक्रोडीकृतानां सुकर एवे-
ति भावः । भेदवाचकत्वप्रतिषेधादिति । भेदवाचकत्वे
निषिद्धे द्रव्यवाचकत्वं निषिद्धं भवति द्रव्यस्य भेदत्वात् ।

ततश्च द्रव्यशब्द इति व्याघात इत्यर्थः । उक्तोत्तरमेतत् स-
 च्छब्दद्रव्यशब्दयोरेकविषयत्वादिति । विशेषमात्रं विषयः
 सदादिशब्दस्य न पुनर्नियतो ऽयमेव नान्य इति भावः * ।
 सत्ताशब्देन द्रव्यगुणकर्माणि नाक्षिप्यन्त इति । सामा-
 नाधिकरण्ययोग्यतयेत्यर्थः । तदन्तरेण तदनुपपत्तेः । आक्षेप-
 मात्रं तु शक्यं वक्तुमित्याह । शक्यं वक्तुमिति । पृष्ठा
 सच्छब्दस्य गुणप्रधानभावेन त्रयो ऽर्था इति सूत्रकारन्यायेना-
 वधारयति । सादिति चायमिति । अर्थकृत इति । अर्थः
 कार्यं तत्कृतः । एतदुक्तं भवति यस्य कार्येण सम्बन्धस्तत्प्रधानं
 यस्य कार्यसम्बन्धावच्छेदकत्वं तदङ्गमिति । एतेनेति । (३२५।९)
 अर्थत्रयाभिधानेन । न हि स्वामिप्रत्ययो भवति भृत्ये । अपि
 तु तदर्थक्रियाकारितया स्वामिव्यपदेशमात्रमित्यर्थः । नात्र
 क्रमो न युगपत्प्रत्यय इति । (३२६।३) भेदाधिष्ठाने क्रम-
 यौगपद्ये नैकस्मिन् विशिष्टद्रव्यप्रत्यये सम्भवत इति । एतेने-
 ति । शब्दस्य सत्ताविशिष्टद्रव्यवाचित्वाभिधानेनायथार्थज्ञानोत्प-
 त्तिप्रसङ्गादिति प्रत्युक्तम् । परमार्थस्वच्छवले हि स्फटिके नी-
 लीद्रव्योपधानानीलप्रत्ययो भवतु भ्रान्तः तस्य परमार्थतो
 नीलगुणासमवायात् । सत्तासमवायस्तु द्रव्यादीनां पारमार्थिक
 इति न द्रव्यादिषु सदिति प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमित्यर्थः । न हि
 कश्चिच्छब्द इति । स्वलक्षणानामशक्यसमयतया न कश्चिदपि
 शब्दो भवता तद्वाचकत्वेनाभ्युपेयतइत्यर्थः । न च जातिशब्द-
 स्येति । जातेरभावादिति भावः । न जातिशब्दो भेदानां वाच-
 कः कस्य तर्हीति पूर्वं भेदान्प्रधानीकृत्योक्तं सम्प्रति तु जा-

* विशेषशब्देन चासौ सामानाधिकरण्येन नियम्यते नतु प्रा-
 प्यते इति पु० पा० ।

तिशब्दानित्येतावता अपौरुषत्यम् । नास्ति विवाद इति ।
 (३२७।२०) अन्यापोहजात्योर्लक्षणाभेदे नास्ति विवाद इत्य-
 र्थः । द्रव्यसच्छब्दयोस्तु सामानाधिकरण्यं न च भेद-
 वाचकाः शब्दा इति व्याहतमिति । (३२८।४) द्रव्य-
 मिति हि विधिरूपमेवं सदित्यपि विधिरूपं तच्छब्दौ तयोर्वाचकौ
 तयोरन्यापोहार्थत्वं व्याहतं विधिशब्दौ चान्यापोहार्थाविति न
 सम्भवति । न च भेदानभिधायिनोः सामानाधिकरण्यमपि
 युज्यते । भिन्नाभ्यां हि निमित्ताभ्यामेकस्मिन्नर्थे भेदरूपे वर्त-
 मानौ सामानाधिकरणौ भवेतां भेदं चेन्नाभिधत्तो नैकत्र वर्त-
 याताम् । अवर्तमानौ च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तपर्यवसितौ गौरश्च
 इतिवन्न सामानाधिकरणौ भवितुमर्हतः । सोऽयमपरो व्याघातः ।
 भेदानभिधानं च सामानाधिकरण्यं चेति । तदनेन व्याघातद्वय-
 मुक्तं तदेतद्व्याघातद्वयं निराचिकीर्षुराशङ्कते । उपचारतो न
 व्याघात इति चेत् । तदेतद्विभजते द्रव्यसच्छब्दाविति ।
 तदनेन प्रथमो व्याघातः परिहृतः । द्वितीयं व्याघातं शङ्किता
 परिहरति । तावेताविति । ब्रूतः प्रतिपादयतोऽध्यवस्यत इति
 यावत् ।

एतदत्राकृतम् । विकल्पयोनयो हि शब्दास्तदेवाभिनि-
 विशन्ते यद्विकल्पानां गोचरः । कार्यकारणयोः सामानाधिक-
 रण्येन प्रतिपत्तेः । चतुष्टयी चैवं विकल्पानां सदसद्गमिसद्गमा-
 वगाहिनां जातिः । गौरीश्वरो नीलं नित्यमित्येवमादीनां न
 च विकल्पानां गोचरो यो विकल्पते देशकालावस्थाभेदेनैकत्वे-
 नानुसंधीयते तदेवेदमिति । एव च स शब्दगोचरः तत्र शब्दानां
 शक्यसङ्केतत्वात् । न च स्वलक्षणानि त्रैलोक्यविलक्षणान्येव-
 मिति न विकल्पविषयः । न च सामान्यं नाम किं चिदस्ति

यद्विषयः स्यात् । अत एव न तद्वन्ति स्वलक्षणान्यपि तेषां
 सामान्यानामभावे तद्वत्तायाः स्वलक्षणेष्वाभावात् । अपि चास्तु
 सामान्यं वस्तुसत् तथा ऽपि नित्यत्वादनुपकार्यतया स्वलक्षणा-
 धारत्वानुपपत्तिः आधारत्वमपि हि करणत्वमेव । पतनधर्माणो
 हि वदरादयः कुण्डादिभिरपतनधर्माणः क्रियन्ते । न च नित्यं
 क्रियतइति नाधेयम् । तथा वृक्षत्वशिशपात्वे स्वतन्त्रे एव सा-
 मान्ये स्वशब्दाभ्यामवगमिते न गौरिश्व इतिवत्सामानाधिकरण्यं
 भजेताम् । अपि च भवतु नित्यस्याप्युपकार्यत्वेनाधेयत्वं तथा
 ऽप्येतद्विकल्पनीयम् । किं येनैव स्वभावेन तत्स्वलक्षणं वृक्षत्व-
 मुपकरोति तेनैव शिशपात्वमपि अथ स्वभावान्तरेण । अथ हि
 स्वभावान्तरेण स्वभावभेदादन्यत्स्वलक्षणं शिशपात्वाधारोऽन्यच्च
 वृक्षत्वाधार इति पुनरपि गौरिश्व इतिवत्सामानाधिकरण्याभाव
 एव । अथैकेन स्वभावेन स्वलक्षणं सर्वसामान्योपकारि तथाऽपि
 स्वभावाभेदे तदुपकाराधीनस्वभावानां सामान्यानां च मध्ये
 एकसामान्यवतः स्वलक्षणस्य एकेन शब्देन विकल्पेन वा ग्रहणे
 सर्वेषां तदेकोपकारनिबद्धस्वभावानां सामान्यानां ग्रहणात्सद्
 द्रव्यपार्थिववृक्षशिशपाविकल्पानां शब्दानां च पर्यायत्वप्रसङ्गः ।
 यथा ऽऽह ॥

“एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे ।
 दृष्टे तस्मिन्नदृष्टा ये तद्ग्रहे सकलग्रह” इति ।
 तस्मान्न सामान्यवद्भेदगोचरा विकल्पाः । स्वलक्षण-
 भेदगोचरत्वनिषेधेन ज्ञानग्राह्याकारगोचरत्वमप्यपास्तम् । स्वा-
 कारमबाह्यं बाह्यमध्यवस्यन् विकल्पः स्वाकारबाह्यविषय इति
 चेत् । यथा ऽऽह “स्वप्रातिभासेऽनर्थे ऽर्थाध्यवसायेन प्रवृ-
 त्ति”रिति । अथ कोऽयमध्यवसायः । किं ग्रहणमाहो वि-

त्करणम् उत योजना अथ समारोपः । तत्र स्वप्रतिभास-
मनर्थमर्थं कथं गृहीयात् कुर्याद्वा विकल्पः न हि पीतं
नीलं शक्यं ग्रहीतुं कर्तुं वा शिलिपशतेनापि । नाप्यगृहीतेन
स्वलक्षणेन स्वाकारं योजयितुमर्हति विकल्पः । न च स्वलक्षणं
विकल्पगोचर इति चोपपादितम् । न च स्वाकारमनर्थमर्थ आ-
रोपयति । न तावदगृहीतः स्वाकारः शक्य आरोपयितुमिति
तद्ग्रहणमेषितव्यम् । तर्हि गृहीत्वा आरोपयति अथ यदैव
गृह्णाति तदैवारोपयति । न तावत् पूर्वः पक्षः न हि विकल्पज्ञानं
क्षणिकं क्रमवन्तौ ग्रहणसमारोपौ कर्तुमर्हति । उत्तरस्मिन्स्तु पक्षे
विकल्पस्वसम्भेदनप्रसङ्गा द्विकल्पाकारादहङ्कारास्पदादनहङ्कारा-
स्पदं समारोप्यमाणो विकल्पो नास्वगोचरो न शक्योऽभिन्नः
प्रतिपत्तुं नापि बाह्यस्वलक्षणैकत्वेन शक्यः प्रतिपत्तुं विकल्पज्ञा-
नेन स्वलक्षणस्य बाह्यस्याप्रतिभासनात् । तस्मादेष विकल्प-
विषयो न ज्ञानं न ज्ञानाकारो नापि बाह्य इत्यलीक एवा-
स्थेयः । यथा ऽऽह भदन्तधर्मोत्तरः ।

“बुद्ध्या कल्पिकया विविक्तमपरै-
र्यद्रूपमुल्लिख्यते बुद्धिर्नो न बहिरिति” ।

तथा ऽपि विकल्पज्ञानाद्बाह्याभिमुखी प्रवृत्तिस्तदर्थिनां न स्यात् ।
तस्मादलीकबाह्यमेषां विषयः बाह्यभेदाग्रहस्यास्य बाह्यत्वं न पुन-
र्बाह्याभेदग्रहः । विकल्पगोचरे बाह्ये तदभेदग्रहस्याशकत्वात् । त-
स्मान्निर्विकल्पकपृष्ठभाविनो विकल्पाः तदुपनीतबाह्यस्वलक्षणभेदं
स्वग्राह्यालीकस्यागृह्यन्तः तदभिमुखं प्रवर्तयन्ति व्यवहर्तृनर्थिनः
पारंपर्येण तत्सम्बन्धात् प्राप्तेर्न विसम्बादयन्ति लोकम् । तेषां
च विकल्पविषयाणां न तैरेव विकल्पैः परस्परतो भेदो गृह्यते
नापि विकल्पान्तरैरिति भेदाग्रहादभेदमभिमन्यते पुरुषः तदभे-

दाच्चात्रमर्षाणाम् अभेदः तदभेदाच्च तद्धेतूनामविकल्पाधियाम-
भेदः तदभेदाच्च स्वलक्षणानामविकल्पधीविषयाणामप्यभेदः ।
यथाऽऽह ।

“एकप्रत्ययमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी ।

एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नतेति” ॥

तत् सिद्धमलीकं बाह्यं विषयोविकल्पानां शब्दानां
चेति । तच्चेदमन्यव्यावृत्तिरूपं भावाभावसाधारण्याच्चात्य-
न्तविलक्षणानां सालक्षण्यपादनाच्च ताद्रूप्यानुभवाच्च । तथा
हि यद्भावाभावसाधारणं तदन्यव्यावृत्तिरूपमेव । यथा
ऽमूर्त्तत्वं तत् खलु विज्ञाने च शशविषाणे च साधारणम् ।
तथा च विवादाध्यासिता विकल्पविषयाः घटपटादय इति स्व-
भावहेतुः । गौरस्ति गौर्नास्तीति हि भावाभावसाधारणो गवादि-
विकल्पविषयो विधिरूपस्वलक्षणवद्भावासाधारण्ये नास्तीत्यनेन
न संबध्यते विरोधात् । अस्तीत्यनेनापि न संबध्यते पौनरु-
क्त्वात् । भावाभावसाधारणग्रहणं च नानिमित्तं नाप्यन्यनिमित्तं
न हि विधिरूपविषयस्य तत्स्वरूपविषयस्य वा विधिधर्मापाति-
नस्तत्र निमित्तभावः संभवति । तस्मान्निमित्तवत्तया साधारण-
ग्रहणं व्याप्तं विपक्षान्निमित्तवत्त्वस्य व्यापकस्यानुपलब्ध्या निव-
र्त्तमानमन्यव्यावृत्तिविषयत्वेन व्याप्यतइति प्रतिबन्धसिद्धिः ।
अपि चात्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्यम् अन्यव्यावृत्तिकृतमेव ।
यथा गवाश्वमहिषमातङ्गानामत्यन्तविलक्षणानामपि सिंहव्यावृत्त्या
सालक्षण्यम् । तथा च बाह्यस्य स्वलक्षणस्य विधिरूपस्य परमा-
र्थसतो ऽपरमार्थसताऽत्यन्तविलक्षणेन सालक्षण्यमिति स्वभाव-
हेतुः । बाह्यं हि विधिरूपमप्यगोव्यावृत्तम् । विकल्पविषयोऽपि
चेदगोव्यावृत्तस्ततः सालक्षण्यं नान्यथा तथा च सालक्षण्यमपि

निमित्तवत्तया व्याप्तं तदनुपलब्ध्या विपक्षाद्यावर्त्तमानं स्वसाध्येन व्याप्यतइति प्रतिबन्धसिद्धिः । अपि चानुभूयतएव विकल्पविषयो व्यावृत्तिरूपः । तथा हि । तदप्रतिभासने गां बधानेति देशितो ऽश्वं बध्नीयाद् गोरश्वाद् भेदेनाप्रतिभासनात् । प्रतिभासे वा कथं नागोव्यावृत्तिप्रतिभासः । तस्मादन्यापोहगोचरौ शब्दविकल्पाविति । तदेतदुक्तम् वार्तिककृता । तावेतावसद्द्रव्यव्युदासरूपेण प्रवर्त्तमानावेकमर्थमधिकुरुत इति । (३९८।८) एकं स्वलक्षणमध्यवस्थतः अध्यवसायश्च स्वविषयस्य स्वलक्षणाद्भेदेनाग्रह इत्युक्तम् ।

अत्रोच्यते । जातिस्तावदुपपादितसद्भावा तत एव तद्वती व्यक्तिरपि परमार्थसती । स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्यक्तेर्जात्या सह नोपकारमपेक्षते । अपि चानित्यस्याप्युपकार्यता क्षणभङ्गभङ्गउपपादयिष्यते । यथा चैकोपाधिग्रहे ऽपि नोपाध्यन्तरविशिष्टग्रहस्तथोपपादितं प्रत्यक्षलक्षणावसरे । न चांत्यन्तासतः केन चिदसदूपस्य प्रथोपपद्यत- इति सारूप्यनिमित्तां भ्रान्तिमुपपादयता वार्तिककृतोक्तम् । उपपादितं चास्माभिः । तस्माज्जातिमत्यो व्यक्तयो विकल्पानां शब्दानां च गोचरः तासां तद्वृत्तीनां रूपमतज्जातियव्यावृत्तमित्यर्थः अतस्तदवगतेर्न गां बधानेति चोदितो ऽश्वादीन् बध्नाति । न च शब्दार्थस्य जातेर्भावाभावसाधारण्यं नोपपद्यते । सा हि स्वरूपतो नित्या ऽपि देशकालविकीर्णानन्तव्यक्त्याश्रयतया भावाभावसाधारणी भवत्यस्तिनास्तिसम्बन्धयोग्या । वर्त्तमानव्यक्तिसम्बन्धिता हि जातेरस्तिता अतीतानागतव्यक्तिसम्बन्धिता च नास्तितेति । संदिग्धव्यतिरेकित्वादनैकान्तिकं भावाभावसाधारण्यमन्यथासिद्धं चेति । जातिमती व्यक्तिर्विकल्पगो-

चरो नालीकमिति कस्य वस्तुना सह सादृश्यायान्यव्यावृत्ति-
 रूपता ऽऽस्थीयते । अपि चालीकस्य समस्तसामर्थ्यविरहिणो
 ऽत्यन्तविसदृशस्य समर्थेन स्वलक्षणेन विधिरूपेण किं सादृश्य-
 म् । अन्यव्यावृत्तिरिति चेत् । नन्वन्यव्यावृत्तिर्भाविकी स्वलक्ष-
 णस्य स्वभावो वा अन्यो वा न तत्स्वभावो विधिरूपेण विरो-
 धात् । अविरोधे वा विधिनिषेधयोरेकत्वाद्विधिरूपतानिषेधना-
 लीकस्य स्वलक्षणसारूप्यायाऽन्यव्यावृत्तिरूपतोपपादनमनर्थ-
 कम् । विधिरूपेणातुच्छेन तुच्छस्य सारूप्यमनुपपन्नमि-
 ति चेत् । हन्त भोः स्वलक्षणस्यास्ति किं तुच्छमपि रूपं येना-
 लीकस्य तुच्छस्य सारूप्यं स्यात् । तथा सत्ययमेकस्य स्वलक्ष-
 णस्य तुच्छातुच्छविरुद्धस्वभावद्वयसमावेशमभ्युपगच्छन् श्लाघनी-
 यप्रज्ञो देवानांप्रियः । न च स्वलक्षणादन्यव्यावृत्तिरलीकमन्य-
 व्यावृत्तं स्वलक्षणेन सरूपयति तथा सति हस्तिमशकावपि रास-
 भः सरूपयेत्* धर्मो न च स्वलक्षणधर्मो व्यावृत्तिर्भवद्भिरभ्युपेयते ।
 स्यादेतत् । अध्यवसीयमानमपि स्वलक्षणं न परमार्थ-
 सत्, अपि तु तदपि कल्पितं, तस्मात्तस्य विधिनिषेधरूप-
 ता न विरुध्येत, वस्तुनि हि विरुद्धधर्माध्यासो विरुध्यते । नाव-
 स्तुनि तेनास्य विधिरूपपरित्यागेन निषेधरूपतामुपादायाऽलीक-
 स्य सारूप्यमुपपद्यते । यथाऽऽह—
 “यच्च गृह्यते यच्चाध्यवसीयते ते द्वे अप्यन्यव्यावृत्ती न
 वस्तुन” इति । अथालीकस्य स्वलक्षणस्यालीकसादृश्ये किं सिध्यति । न
 तावत् तत्र प्रवृत्तिः असतः प्रवृत्तिविषयत्वायोगात् । सतस्तु
 प्रवृत्तिविकल्पस्य न सादृश्यमसता सादृश्ये वा वृथा अली-

कस्वलक्षणाभ्युपगमः । अथ न वयमलीकं स्वलक्षणान्तरमा-
 तिष्ठामहे किं त्वलीकस्यैव दाहपाकादिकसामर्थ्यारोपम् । न
 तत्स्वलक्षणं तस्य सर्वतो व्यावृत्त्या अभिलापसंसर्गायोग्यत्वेन
 विकल्पज्ञानप्रतिभासाभावात् । अभिलापसंसर्गायोग्यस्य चा-
 न्वयिनो ऽस्वलक्षणत्वात् । तस्मात्स्वान्वयिनो ऽन्यव्यावृत्ति-
 रूपस्यासमर्थस्यापि सामर्थ्यं समारोप्य तत्तदर्थिनो व्यवह-
 र्त्तुं प्रवर्तन्ते लोकविकल्पाः पारम्पर्येण सम्बन्धात्समर्थं व-
 स्तु प्रापयन्तो न विसंवादयन्ति लोकमिति युक्तमुत्पश्यामः ।
 अथास्य अतदर्थक्रियासामर्थ्यारोपः किं दृष्टार्थक्रियास्वल-
 क्षणसालक्षणेनाहो सिद्धान्तादिवासनावशात् । तत्र स्वलक्ष-
 णेन सर्वतो व्यावृत्तेन समर्थेन समस्तसामर्थ्यविरहिणोऽन्वयिनो
 न किञ्चिदस्ति सारूप्यम् । अन्यवृत्त्या तु सारूप्ये विधिरूपेणापि
 प्रसङ्गः । तस्यास्ततो भेदाभावादित्युक्तम् । अनादिवापनावशा-
 त्तु तदारोपे प्रथमदर्शने ऽपि नालिकेरद्वीपागतस्य बहौ दाह-
 पाकादिसामर्थ्यज्ञानप्रसङ्गः । बह्विस्वलक्षणादाहपाकादिकारि-
 णो भेदाग्रहादलीकस्य तद्रूपसमारोप इति चेत् । किं स्वलक्षणे
 गृह्यमाणे अथागृह्यमाणे । न तावद्गृह्यमाणे तस्य विकल्पज्ञानगो-
 चरत्वाभावादित्युक्तम् । तत्समयभावि त्वविकल्पकं तत्त्वं गृह्य-
 दपि न विकल्पे स्वविषयं निवेशयति । तस्य ततो ऽन्यत्वेन
 तद्वार्त्तानभिज्ञत्वात् । एवं विकल्पज्ञानमपि समनन्तरोत्पन्ननिर्वि-
 कल्पकव्यापारपारम्पर्ये ऽपि न स्वलक्षणं गोचरयितुमर्हति । त-
 स्याभिलापसंसर्गायोग्यप्रतिभासविषयत्वादित्युक्तम् । समनन्तर-
 प्रत्ययादविकल्पादुत्पत्तेस्तद्व्यापारपारम्पर्यादितद्गोचरो ऽपि तद्गो-
 चर इवाभासत इति चेत् । अनुभववासनाभावेषु भवेदपीयं ग-
 तिर्न तु परोक्षभावावगाहिष्वविद्यावासनाप्रभवेषु संभवति । अ-

या व्यावर्त्तमाना ऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वमपि व्यावर्त्तयतीति
प्रतिबन्धसिद्धिः । अपि चेदमलीकमगोव्यावृत्तिरूपं वा तद्धर्मो
वा । अगोव्यावृत्तिरूपं चेत् । न तदसिद्धं गवि शक्यं ग्रहीतुम् ।
अगौश्च गोनिषेधात्मेति गोसिद्धिमपेक्षत इति दुरुत्तरमितरेतरा-
श्रयत्वं तद्धर्मत्वे वा गोत्वमेवास्तु भाविकं तद्धर्मो विधिरूपः कृ-
तमलीकेनाविधिरूपेण । तद्धर्माणां तद्भाविकत्वसाधनं च नि-
राकृतं तस्य च भावाभावसाधारण्यमुपपादितं तद्विस्तराद्विभ्यतो
ऽपि बहुतरविस्तरे पतिताः स्म इत्यास्तामेतच्चास्तिकमानोपमर्द-
नमिति ।

उपचारतो न व्याघात इति चेदिति शङ्कायाः परिहारवार्त्ति-
कम् । मुख्यासंभवादिति । (३२८।११) सर्वत्र मुख्यपूर्वक
उपचारो वा समारोपो वा दृष्टः तत्र तु राद्धान्ते न विधिविषयः
कश्चिदस्ति मुख्यः शब्दो वा विकल्पो वा सर्वस्य निवृत्तिगो-
चरत्वात् । न चाध्यवसेयो विधिः संभवतीत्युपपादितप्रधस्ता-
दिति भावः । न चान्यापोहपक्ष उपचारो युक्तः उभयोः प्रधा-
नशब्दत्वादिति । न हि सिंहत्वं नाम किं चिदस्ति सिंहव्यक्ति-
षु यन्माणवके न स्यात् । अपि तु प्रसङ्गकारित्वादिव्युदासो
माणवके नास्तीति सिंहव्यक्तिष्विव माणवके ऽपि सिंहशब्दो
मुख्य एव स्यादित्यर्थः । किं गौरगौरिति । (३२९।५) अ-
श्वादिरित्यर्थः । प्रैष्यप्रत्ययपूर्विका प्रैषस्य प्रैषविषये प्रवृत्तिः सं-
प्रातिपात्तिः अङ्गव्यतिरिक्तस्य चाङ्गिनः सेनावनबहुत्वसंख्यादी-
नां भवद्विरभ्युपगमादित्यर्थः । क्रियारूपत्वाच्चापोहस्य वि-
षयो वक्तव्य इति । कर्म विषयः क्रियायास्तद्वक्तव्यमित्यर्थः ।
कथमन्यविषयादिति । कथमन्यविषयादपोहादगोविषयाद्
गवि प्रतिपत्तिरिति । अथागौरिति । (३३०।२) अस्ति हि

का चित् क्रिया या ऽन्यस्यान्यविषया । यथा विज्ञानमात्मनो
 ऽर्थः विषयं वैत्यर्थः । निराकरोति । केन गोरिति । क्रिया
 हि चेतनानां प्रयत्नपूर्वा भवति । अपोहलक्षणा च क्रिया निषे-
 धरूपा निषेधश्च प्राप्त्यपूर्वकः न हि गोरगोत्वं केन चित्प्रसञ्जि-
 तं यत्प्रेक्षावता व्यपोहेतेत्यर्थः । कथं चागवीति । अगवी-
 ति पदेन यो ऽयं प्रतिषेधो नासौ गोप्रतिपत्तिमन्तरेण भवती-
 त्यर्थः । अध्यासानुपपत्तेरर्थप्रत्ययो न युक्त इति । अपोहरूपो
 ऽर्थप्रत्ययो न युक्त इत्यर्थः । किमपोहो वाच्यो ऽथावा-
 च्य इति । अपोहादिशब्देनेत्यर्थः । यदि वाच्य इति । स्व-
 रूपेणैवापोहो वाच्यो न चापोहापोहेनेत्यर्थः । स्यादेतत् । यद्य-
 न्यापोहेन शब्दो न वर्तते कथं तर्हि व्यादिविशेषणनेकशब्द ए-
 कापोहेन वर्तते । न ह्यत्रानेकत्वं नाम गोत्वमिव किं चिदस्ति
 सामान्यमित्यत आह । अनेकमिति चास्य पदस्य द्वयादि-
 विषयत्वात् । (३३१।२) सामान्याधिगतावेकत्ववर्जितसंख्या-
 त्वसामान्याधिगतौ विशेष आश्रयितव्यः संख्यात्वसामान्यमेवै-
 कत्ववर्जितं तत्र व्यादिविशेषाधिगतिहेतुर्न पुनरन्यापोहमात्रमि-
 त्यर्थः । न ह्यसति सामान्यशब्दादेकत्ववर्जितसंख्यासामान्यवा-
 चकादनेकशब्दाद् विशेषाश्रयणे अन्यापोहमात्राद्विशेषाधिगति-
 रिति योजनीयम् । अब्राह्मणादिशब्दानामपीयमेव गतिः । त-
 त्रापि पुंस्त्वसामान्यमेव ब्राह्मणशब्दार्थ इति । नीलोत्पलश-
 ब्दयोश्च प्रधानत्वादिति । अनीलानुत्पलव्युदासौ हि प्र-
 धानौ नीलोत्पलशब्दावाहतुः न ह्येतयोरस्ति विशेषणविशेष्य-
 भावः परस्परासंबन्धादिति भावः । एतेन नीलोत्पलशब्दयोर-
 स्मिन्निद्धान्ते प्रधानार्थत्वेन व्युत्पादनेन राजपुरुषशब्दौ व्या-
 ख्यातौ प्रधानत्वेन अत्राप्यराजापुरुषव्यवच्छेदयोर्नावच्छेद्या-

वच्छेदकभावः नापि स्वस्वामिभाव इत्यर्थः । समानाधिकर-
णयोश्चेति । शब्दविकल्पयोः परमार्थतद्वस्तुसंस्पर्शासम्भवादि-
त्यर्थः ॥ ६५ ॥

व्यक्ति-र्तिः (सू. ६६) ॥ यत्र हि व्यक्त्याकृतिजातीनां
समावेशस्तत्र व्यक्तिनिर्धारणायैदं लक्षणम् । तेनाकाशाद्यनव-
रोधे ऽपि न दोषस्तत्राकृतेरभावादिति भाष्यमतम् । यथा ऽऽह
भाष्यकारः न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिरिति । यद्यपि गुरुत्वादयः
सामान्यगुणास्तथा ऽपि गुणान्तरेभ्योव्यावर्तमाना गुणविशेषा
इत्युच्यन्ते । अव्यापिन इति । सर्वगतस्य द्रव्यस्य परिमाणं
व्यवाच्छिनत्ति । मूर्च्छिताः परस्परं संयुक्ता अवयवा यस्य तन्मु-
र्च्छितावयवम् । कथं पुनरित्यादिभाष्यमाक्षिपति वार्त्तिकका-
रः । अधिगतत्वादिति । स्वरूपागवमपूर्वकत्वाद्वाक्यप्रतिपाद-
नस्य स्वरूपावगमो ऽपि तन्नान्तरीयकत्वात्सिद्ध इत्याक्षेपाभि-
प्रायः । निराकरोति । न निमित्तत्रैविध्ये सति तद्विशे-
षविषयज्ञापनार्थत्वात् । प्रश्नस्य शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां त्रै-
विध्ये सति तद्विशेष एव विषयः तज्ज्ञापनमर्थः प्रयोजनं यस्य
स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति सिद्धं कृत्वा भेदमभिधेयत्वं त्रया-
णां प्रतिपादितम् । संप्रति स एव भेदः प्रतिपाद्यतइति । सूत्र-
मिति । बहूनामर्थानां सूचनादिति भावः । अत्र भाष्यव्याख्यान-
मुपन्यस्यति । व्यज्यतइति । (३३२।२) दूषयति एतत्तुनेति ।
व्यक्तिः पदार्थ इत्येतत् प्रकृतं तत्र यथा ऽवयविनो व्यक्तेः पदा-
र्थत्वमेवम् आकाशादीनां चोत्क्षेपणादीनां च तत्तथा लक्षणं व्या-
ख्येयं यथा सर्वं संगृह्यते अन्यथा सूत्रकारो ऽकुशलः स्यात् तद-
र्थमाह । वयं तु ब्रूम इति । अत्रेदं व्याख्यानम् । व्यक्तिरिति
लक्ष्यनिर्देशः शेषं लक्षणम् । गुणविशेषा इति द्वेधा समासः

गुणश्च विशेषश्चेति प्रथमो विग्रहः तेनाकृतिर्निराकृता संगृही-
ताश्च रूपादयो भवन्ति । तथा ऽप्युत्क्षेपणादिव्यक्तेरसंग्रह इति
द्वितीयो विग्रहः । गुणेभ्यो विशेषा गुणविशेषाः गुणेभ्यो व्या-
वृत्ता उत्क्षेपणादय इति यावत् । तथा ऽपि न द्रव्यं संगृह्यतइ-
त्यत आह । आश्रय इति । तच्छब्दाध्याहाराद् गुणविशेषाश्र-
यो द्रव्यमित्यर्थः । प्रतिपदमिति । गुण इति च विशेष इति
चाऽऽश्रय इति चेति पदानि । अथ वा गुणविशेषाणामाश्रय
इति चेति पदानि । अथ वा गुणविशेषाणामाश्रय इति गुणा
रूपादयः विशेषाः कर्माणि गुणेभ्य इत्यर्थात् । तेषामाश्रयश्चेति
द्वन्द्व एव तेषामित्यर्थाद्गम्यते । तत्र मूर्च्छित इतिमूर्च्छनं संबन्ध इह
चासौ समवाय इति ॥ ६६ ॥

आकृ-रूपा (सू. ६७) ॥ जातिश्च जातिलिङ्गानि च
जातिलिङ्गानि तान्याख्यायन्ते यथा सा आकृतिः । शिरःपा-
ण्यादिव्यूह आकृतिर्जातिमनुष्यत्वादिकमाचष्टे । शिरोनासिका-
ललादीनां व्यूहो मनुष्यत्वजातिलिङ्गं शिर आचष्टे । शिरसा
पादेन गामनुमिन्वन्तीति भाष्यम् । यद्यपि गोत्वं प्रत्यक्ष-
मेव नाकृतिव्यङ्ग्यं तथा ऽपि विप्रतिपद्यमानं प्रत्युच्यते अनुमि-
न्वन्तीति न पुनः सर्वा जातिराकृत्या लिङ्ग्यतइति । मृत्सुवर्णर-
जतादिका हि रूपविशेषव्यङ्ग्या जातिर्नाकृतिव्यङ्ग्या ब्राह्मणत्वा-
दिजातिस्तु योनिव्यङ्ग्या आज्यतैलादीनां जातिस्तु गन्धेन वा
रसेन वा व्यज्यते । अत एव न सार्षपादीनां तैलत्वमस्ति तद्व्य-
क्षकयोर्गन्धरसयोरभावात् । भाक्तस्तु तैलशब्दप्रयोगः क्षीरजा-
तिरपि रसव्यङ्ग्यैव अत एवामिक्षायाः क्षीरत्वं न तु वाजिनस्य
तद्व्यञ्जकस्य रसभेदस्य वाजिने ऽभावाद् आमिक्षायां च भावा-
दिति ॥ ६७ ॥

समा-तिः (सू. ६८) ॥ प्रसूत इति प्रसवः समानबुद्धे-
भिर्ज्ञेषु प्रसोत्री या जातिः सा उच्यते समानप्रत्ययं प्रसूते न पुन-
र्या समानप्रत्ययं प्रसूते सा जातिः । पाचकादिषु व्यभिचारा-
दिति । व्यक्त्याकृतिभ्यां भेदकत्वमात्रेण चैतल्लक्षणं न तु सर्व-
था वेदितव्यम् । यस्तु वैयाख्यात्प्रत्यये ऽपि विप्रतिपद्यते तं प्र-
त्ययनुमानान्याह । गवादिष्वनुवृत्तप्रत्यय इति । (३३३।१८)
व्यपदेश इति सम्बन्धिना सम्बन्धान्तरस्य विशेषणं पुरुषो व्य-
पदिश्यते राज्ञ इत्यनेनेति । गोर्गोत्वानुवृत्तिप्रत्यया इति ।
पूर्वमनुवृत्तप्रत्ययमात्रं पक्षीकृतम् इह तु गोर्गोत्वानुवृत्तिप्रत्यय-
इत्यपौनस्त्यम् । कीर्तित इति । यथा लिङ्गं विवक्षितमन्त-
रत्वात् । अन्यत्र यथालिङ्गं प्रत्यय इति । नपुंसकमनपुंसकेनेति
नपुंसकत्वं नाशङ्कनीयमिति ॥

इति मिश्रश्रीषाचस्पतिविरचितायां न्याय-

वार्तिकतात्पर्यटीकायां द्वितीयाध्याय-

स्य द्वितीयमाह्निकम् ।

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

२ अ० १ आ० ६९ सूत्राणि । २ आ० ३० सूत्राणि
मिलित्वा १३७ सूत्राणि । १ आ० ९ प्रकरणानि २ आ० ४
प्रकरणानि मिलित्वा १३ प्रकरणानि ।



अत्र भाष्यं परीक्षितानि प्रमाणानि प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यतइति । वृत्तानुकीर्तनं प्रमेयपरीक्षां वर्तिष्यमाणां प्रति वृत्तायाः प्रमाणपरीक्षायाहेतुभावं दर्शयितुम् । प्रमाणेन हि प्रमेयं परीक्ष्यते नान्येन । न च तदपरीक्षितं प्रमेयपरीक्षायै प्रभवति । तस्मात्प्रमाणपरीक्षा हेतुः हेतुमती प्रमेयपरीक्षेति । द्वादशविधं प्रमेयं तत्कस्मात्प्रथमतः आत्मैव परीक्ष्यते न प्रमेयान्तरमित्यत आह । तच्चात्मादीत्यात्मा विचार्यतइति । (३३५।५) आत्मैव हि प्रमेयेषु प्रथममुद्दिष्टो लक्षितश्चेति तदनुरोधादात्मैव प्रथमं परीक्ष्यते न प्रमेयान्तराणीति । अत्र च यद्यपि स्वरूपेणात्मन्येव परीक्षां प्रतिजानीते तथाऽपि लक्षणपरीक्षाद्वारेण लक्ष्यपरीक्षणाल् लक्षणपरीक्षैव द्रष्टव्या । यथा चेयमात्मलक्षणपरीक्षा तथोपरिष्ठादर्शयिष्यते । तदेतद्वार्तिककारो व्याचष्टे । आनन्तर्यादिति । किं पुनः प्रयोजनं प्रमेयपरीक्षायाः न हि निष्प्रयोजनं परीक्षन्ते प्रेक्षावन्त इत्यत आह । यद्विषयोऽहंकार इति । अहंकार इत्यात्मादिविषयं मिथ्याज्ञानं निदिशति । शरीराद्यभेदेनात्मदर्शनं खलु संसारं प्रवर्तयतीत्युक्तं द्वितीयसूत्रे । अनेन प्रमेयपरीक्षायाः प्रयोजनवत्त्वं दर्शितम् । अत्र भाष्यकारेण विचारपूर्वरूपः संशयो दर्शितः । किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातमात्रमात्मेति । संशयकारणं चोक्तं व्यपदेशस्येति । यद्यपि वृक्षप्रासादयोरवयविसमुदाययोरन्ययोरेवावयवेन समुदायिना च व्यपदेशस्तथाऽप्यवयव्यभावं समुदायं च समुदाय्यनतिरिक्तं मन्वानस्य परस्योदाहरणं द्रष्टव्यम् । तदेतद्वार्तिककार आक्षेप्तुं पृच्छति । किं पुनरस्येति । उत्तरं किं शरीरेति । आक्षिपति नेति । समानधर्मणो धर्मिणो दर्शनात्संशयो न पुनरदर्शनादित्यर्थः ।

समाधत्ते । नेच्छादिस्मृतेति । इच्छादयो हि कार्यत्वाल्लि-
ङ्गमात्मन इति दर्शितम् । तान्येव तु लिङ्गानि दर्शयत्येषितारं
परीक्षन्ते । किं देहेन्द्रियव्यातिरिक्त एषितैभ्यः सिध्यति आहो
स्विदभिन्न इति युक्तो विचारः । अपि चायमात्मशब्दाभिधेयो
धर्मी सर्वतन्त्रासिद्धः केवलमस्य शरीरेण सह भेदाभेदे वादिनां
विवाद इत्याह । अविप्रतिपत्तेश्चेति । (३३६।१) ननु चा-
त्मासत्त्वे परैः प्रमाणान्यजातत्वादीन्युपन्यस्तानि तत्र कथं न
तत्सत्त्वे विप्रतिपत्तिरत आह । असत्त्वप्रतिपादकप्रमाणा-
भावाच्चेति । बाद्येवासौ न भवति यो धर्मिणि विप्रतिपद्यते
न हि धर्मिणि विप्रतिपद्यमानस्यास्ति किं चित्प्रमाणं सर्वस्य त-
स्याश्रयासिद्धेरप्रमाणत्वात् । अभावस्य च भावाधीननिरूपण-
स्यासन्तासद्भावानिरूपणात् । तस्माद्धर्म्यभाववादी न लौकिको
न परीक्षक इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीयः । धर्म्यसिद्धिवादिनां प्रमाण-
मुपन्यस्यति । न नास्तीति । निराकरोति । तत्र नास्त्यात्मे-
ति । यत्पुनरपरे समादधुः

अनादेवासनोद्भूतविकल्परिनिष्ठितः ।

शब्दार्थस्त्रिभिर्धो धर्मी भावाभावोभयाश्रयः ॥

भावाश्रयो यथा नीलमिति अभावाश्रयो यथा शशविषा-
णमिति उभयाश्रयो यथा ऽमूर्तमिति । अमूर्तं हि भवति वि-
ज्ञानं भवति च शशविषाणम् ।

तस्मिन्बाह्यानुपादाने साध्ये ऽस्यानुपलम्भनम् ।

तथा हेतुर्न तस्यैवाभावः शब्दप्रयोगत इति ।

सो ऽयमात्मविकल्पो बाह्योपादानो न भवतीति । यथा नील-
विकल्पो बाह्यनीलोपादानः नैवमात्मविकल्पो बाह्योपादानं इत्यर्थः ।

तत्रैवं भवान्प्रष्टव्यो जायते । किमात्मविकल्पस्य बाह्योपा-

दानत्वमात्रं प्रतिषिध्यते किं बाह्यात्मोपादानत्वम् । पूर्वस्मिन् सिद्धसाधनं मा भूदात्मविकल्पो बाह्यनीलाद्युपादानः किं नः छिन्नम् । उत्तरस्मिन्स्तु कल्पे कायं बाह्यात्मा सिद्धः यदुपादानत्वं विकल्पस्य प्रतिषिध्यते । सिद्धश्चेत् कापि नास्यात्यन्ताय प्रतिषेधः । असिद्धश्चेत् कथमप्रतीतस्य निषेधः । प्रतीतो विकल्पे बाह्ये निषिध्यते चेन्न इव गेहे चत्वरतले निषिध्यतइति चेत् । एवमपि यत्र प्रतीतस्तत्र न निषिध्यते यथा भवद्भिरेवोक्तं न तस्यैवाभावः शब्दप्रयोगत इति । बाह्यश्चात्मा विकल्पेन नोपदर्शित इति प्रसक्त्यभावान्न शक्यो निषेद्धुम् । अप्रदर्शितोप्यध्यवसित इति प्रसक्त एवेति चेत् । ननु विकल्पस्य को ऽयमध्यवसायो नाम । ग्रहणादतिरिक्तः ग्राह्यस्य स्वाकारस्य वा ऽऽलीकस्य वा बाह्याध्यारोप इति चेत् । न बाह्याऽविषया विकल्पा बाह्यमारोपयन्तीति चित्रम् । न हि आरांषविषयारोप्ये अजानन् आरोपयितुर्महतीत्यसकृदावेदितम् । अपि च अलीकं प्रतीयमानं यथा न निषेद्धुं शक्यं प्रतीयमानत्वादवमस्य बाह्यत्वमपि । मिथ्यात्वात्प्रतिषिध्यतइति चेत् । तत्किमलीकमपि सखं यत्तदुल्लङ्घ्य बाह्यत्वं प्रतिषेद्धुमध्यवसितो ऽसि बाह्यभेदग्रहस्तदध्यवसायो न प्रसजक इति न निषेधगोचरः । न च ज्ञानाकार आत्मा परमार्थसन् बाह्यत्वेनारोप्यमाणः प्रतिषिध्यत इति सांप्रतम् । विज्ञानमये हि सर्वथा बाह्यस्याग्रह तत्समारोपसंभवात् । अत्यन्तासतश्च बाह्यस्य विज्ञानात्मनो ग्रहे तथाविधेनासता विज्ञानानात्मना विज्ञानग्रहणेन किमपराद्धं येन तद्बाह्यो न स्यादिति विज्ञाननयो दत्तजलाञ्जलिः प्रसज्येत । न चायमात्मा पूर्वापरकालावस्थायी क्षणिकविकल्पाकारो भवितुमर्हति येन तदाकारो बाह्यत्वेन प्रतिषिध्यते । तस्मादन्यत्र दृष्टमन्यत्र समारोप्य प्रतिषि-

ध्यतइति युक्तम् । स च समारोपः क चित्स्वकारणप्रभवः क चि-
त्प्रतिषिध्यते यथेन्द्रियादिदोषादुत्पन्नरजतज्ञानस्य शुक्तिकार्या नेदं
रजतमिति । क्वचित्पुनराहार्यो यथा नेह चैत्रइति । तस्मादात्मनो
देशकालान्तरे वस्तुनि विकल्पनं विज्ञाने चासंभवादत्यन्तासतो
समारोपः तदभावादात्मन्येव नास्ति अस्ति चेत्कथमत्यन्ताय
निषेधः । तस्मादात्मा नास्तीति पदयोर्व्याघातः । यद्यप्यात्मा
नास्तीति पदानि तथा ऽपि नास्तीत्यैकपक्षं विवक्षित्वा पदे इति
द्विवचनोपपत्तिः । पद्यते गम्यते ऽनेनार्थ इति विवक्षित्वा पद-
समुदायो ऽपि पदमुच्यते । यद्यपि घटादीनां देशान्तरादौ नि-
षेधस्तथा ऽपि आत्मनोऽत्यन्ताय भविष्यति न हि प्रतिषेधा-
न्तरधर्ममवश्यं प्रतिषेधान्तरमनुवध्नातीत्यत आह । सर्वश्चाय-
मिति । उपपादितमेतदधस्ताद् यथा चाननुभूतमशक्यमारोप-
यितुमिति न क चिदात्मन्यन्याधारत्वमुक्तं स्वातन्त्र्यादात्मनः,
सत्त्वान्यादयस्तु पिण्डादिपरतन्त्रनिरूपणाः पिण्डाद्याधारा इति ।

पृच्छति । किमयमिति । (३३७२) यन्न क चिदस्ति तदत्यन्त-
मसद् तथा चायं तस्मादत्यन्तमसन्निति भावः । उत्तरं न ना-
स्तीति । न तावन्न क चिदस्तीति वाक्यमात्मानं स्वरूपेण नि-
षेधति देशरूपविशेषप्रतिषेधात् । शङ्किता आह । केयं वाच्यो-
युक्तिरिति । उत्तरवाद्याह । एषा वाच्योयुक्तिरिति । एषा
वक्ष्यमाणार्था । तदर्थमाह । यद्यथाभूममिति । न हि पदार्था-
नां सत्ता देशबलेन व्याप्ता येन देशवत्त्वं निवर्त्तमानं तां निवर्त्त-
येदिति भावः । न च कालविशेषप्रतिषेधो ऽपीति । का-
लान्तरप्रतियोगी एकैकः कालः कालविशेषः तत्प्रतिषेधो ऽप्या-
त्मन्ययुक्तः न हि यथा घटादिष्ववच्छेदार्थः कालः तथा नित्य-
आत्मनि । प्रध्वंसाभाववान् घटः स्वल्वासन्न तथा ऽऽत्मा

प्रागभाववान् घटो भविष्यति न तथा आत्मा । अतीतप्रागभा-
 वो ऽनागतप्रध्वंसः घटो वर्तमानो न च तथा आत्मा तस्मा-
 न्नास्यावच्छेदार्थेन त्रैकाल्यमुपावर्तते । अतीतानागतव्यपवृक्तव-
 र्तमानक्रियाव्यङ्ग्यः कालो ऽस्ति सदा नित्यानां यतो ऽस्त्या-
 त्मा विद्यते व्योमेति तस्मादवच्छेदकत्रैकाल्यप्राप्तेः न त्रैकाल्य-
 प्रतिषेधः । अतीतानागतव्यपवृक्तक्रियाव्यङ्ग्यस्य च वर्तमानस्या-
 शक्यनिषेधत्वाद् नात्मनि कालप्रतिषेध इति स्थितम् । आत्मप्र-
 तिषेधं चेति । आत्मेति हि पदं लोकसिद्धं पद्यते ह्यनेन कश्चि-
 दर्थः येन न कश्चिदर्थः पद्यते तदपार्थक्यं भवितुमर्हति । किमस-
 तः सत्ता साधर्म्यमिति । तर्हि भवतां सिद्धान्ते सर्वोपाख्यार-
 हितमसत्प्रमेयमपीति भावः । अथ शरीरादेरात्मत्वं कल्पितं निषि-
 द्यते शरीरादयो नात्मान इति तत्राह । आत्मसामान्यं चेति ।
 अथ शरीरादीति । अहंकारस्तावत्परमार्थतः शरीरादिविषयः
 स्थूलो ऽहं गौरो ऽहमिति प्रत्ययात् । तमिममात्मेति कल्पयित्वा
 विपर्यस्यति तदनु रूपं व्यपदिशति व्यवहरति च । सो ऽयं वि-
 पर्ययः प्रतिषिध्यते नास्त्यात्मेति । निराकरोति । एवं शरी-
 रादीति । (३३८ । १) न ह्यहंकारसमारोपविषयसत्त्वम-
 नभ्युपगच्छतः समारोप उपपद्यते तस्मात्तत्प्रतिषेधतो व्याघात
 इत्यर्थः । चतुर्णामुपादानरूपत्वान् तमस इति । रूपरसग-
 न्धस्पर्शाश्रित्वारो घटादिरूपेण परिणतास्तेषामुपादानरूपं न भ इति
 उपादीयतइत्युपादानम् । उपादेयरूपत्वादिति क चित्पाठः सतु
 सुगमः । सोऽयं वात्सीपुत्राणां वैभाषिकाणां सिद्धान्तः तेन विरोध
 इत्यर्थः । सुगममन्यत् । अथायं भावप्रतिषेध इति । (३३९ । १६)
 न जन्ममात्रप्रतिषेधो ऽपि तु आत्मनो भावः सत्ता प्रतिषिध्यत
 इत्यर्थः । स्वतन्त्रस्य धर्मस्य समवायादन्यस्यादर्शनादिति । नि-

कायो देवमनुष्यतिर्यगादीनामनौत्तराधर्मेणावस्थितः संघातः त-
द्विशिष्टाभिरित्यर्थः । कार्यं कारणं वेति । (३४० । १५)
यदि विषाणमवयवस्तदा कारणं यदि तु केशनखादितुल्यत्वेना-
नारम्भकत्वान्नावयवस्तदा कार्यं तस्मात्तत्प्रभवतीति । उक्तमप्य-
र्थं पुनर्विकल्पयन् पर्यनुयोगार्थमाह । इदं शशविषाणं ना-
स्तीति ब्रुवाण इति । सामान्यप्रतिषेधो विषाणसम्बन्धमात्रप्र-
तिषेध इति । विशेषप्रतिषेधः कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धप्रति-
षेध इति । विषयस्वभावभेदानुविधायीति । अहमिति
विज्ञानं मानसं विषयस्यात्मनो यः स्वभावभेदः कर्तृत्वभोक्तृ-
लक्षणो जाने ऽहं भुञ्जइत्यादिस्तदनुविधायि । एतदुक्तं भवति
न केवलमात्मस्वरूपमात्मज्ञानस्य विषयस्तथा सति परसमवेतकि-
याफलशालित्वाभावेनात्मनः कर्मत्वाभावेनाकर्मतया तद्व्याप्यज्ञा-
नस्यापि निवृत्तिप्रसङ्गात् । यदा तु धर्मवदात्मविषयं ज्ञानं भव-
ति तदा धर्माणां परसमवेतकियाफलशालितया तद्व्याप्तस्य ज्ञा-
नस्यापि निवृत्तिरिति । जानातिश्चात्मधर्मकर्मा आत्मानमपि
गोचरयतीति सूक्तं विषयस्वभावभेदानुविधायीति । अहंकारा-
लम्बनेति । (३४१ । १६) आलम्ब्यते अनेनेत्यालम्बनं ज्ञा-
नमहंकारेण च विषयिणा विषयमुपलयति । देशयति । ननु भष-
त्यहं गौर इति । परिहरति न भवतीति ब्रूम इति । न व्य-
पदेशमात्रं देहाद्यव्यतिरिक्तात्मसद्भावसाधनमस्माभिरुक्तं येना-
नैकान्तिकं भवेत् । अपि त्वनुभवः । स च न शरीरादिष्विव दमो
विषयेष्वस्ति । अपि त्वसंभिन्नेदंविषयो ऽहंप्रत्ययः शरीरा-
दयस्तु मतुल्लोपादभेदोपचाराद्वा ऽहमा विषयीक्रियन्ते । ममा-
त्मेति तु व्यपदेशमात्रं न पुनः शरीरादिष्विव मकारस्तत्र सु-
खयो भेदनाप्रतिभासनात् । राहोः शिर इतिवचु ममकार आत्म-

नि द्रष्टव्यः । अत एवाह । ममप्रत्ययेति । (३४२।२) न पुन-
 र्ममकारमात्रं तस्मात्सर्वं रमणीयम् । विरुद्धा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्ति-
 र्बाधितेति यावत् । कः साधनार्थ इति । कः साधनशब्दस्यार्थः ।
 अथानुपलब्धिरपि नास्तीति । भावरूपो धर्मो ऽसति विरु-
 द्ध्यते नासद्रूप उभयोः समानशीलत्वादित्यर्थः । निराकरोति । कः
 साधनार्थो ऽनुपलब्धेरिति । असत्तास्तुच्छाया अनुपलब्धेः
 कः साधनत्वरूपो ऽर्थ इत्यर्थः । शङ्कते । अथ कल्पितस्येति ।
 (३४३ । नापलब्धिस्तुच्छा किं तु तत्त्वान्तरं सत् सा तु क-
 ल्पिताश्रयतया नाश्रयासिद्धेत्यर्थः । एतद्विकल्प्य निराकरोति ।
 कथं काल्पितस्येति । न हि तात्त्विक्यनुपलब्धिः परमार्थसदा-
 श्रया कल्पितसत्त्वस्य धर्मिणो धर्मो भवितुमर्हतीत्यर्थः । द्वितीयं
 कल्पमाशङ्कते । अथासत्त्वेनेति । निराकरोति । सिध्यत्य-
 नुपलब्धिरिति । असत्त्वेन कल्पितस्य पारमार्थिकं सत्त्वमनु-
 मन्तव्यम् । असत्त्वसत्त्वकल्पनाया अयोगात् तथा च भावाश्र-
 यानुपलब्धिस्तात्त्विकी सिध्यत्येव । यदर्थं त्वसौ तदेव पार-
 मार्थिकमसत्त्वमात्मनो न सिध्यति असत्त्वस्य कल्पनिकत्वाभ्यु-
 पगमाद्भवद्भिरित्यर्थः । अपि चायमसत्त्वेन सन्तमात्मानं कल्पयि-
 त्वा ऽत्यन्तासत्त्वमनुपलब्धेरस्य साधयितुमध्यवसितः । तच्चास्य
 सधर्मेणानुपलब्ध्या न सिध्यति । न जातु स्थाणुधर्मेण कल्पितेन
 पुरुषे स्थाणुत्वं पारमार्थिकं शक्यं साधयितुमिवाह । किमर्थं
 चायमात्मैति । रूपादिशब्देभ्योऽन्यत्वे सतीति । यदि
 हि पदत्वादित्युच्यते रूपादिशब्दैरनैकान्तिकं स्यादत उक्तम् ।
 रूपादिशब्देभ्यो ऽन्यत्वे सतीति । यत्रेकपदत्वादित्युच्येत रूपादि-
 शब्दैरनैकान्तिकं स्यादत उक्तं रूपादिशब्देभ्यो ऽन्यत्वेसतीति । त-
 था ऽपि रूपाविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारा इत्ययं शब्दो रूपादिषा-

चको यः शब्दो रूपं वेदना संज्ञा विज्ञानमित्यादिस्ततो ऽन्यो
 ऽसमस्तादन्यः समस्त इति तेनानैकान्तिकत्वमत उक्तमेकेति ।
 तेन रूपादिवाचकपदव्यतिरिक्तं यदेकपदं तद्रूपादिव्यतिरिक्त-
 स्य वाचकं यथा घटादिपदं तथा चात्मपदं तस्मात्तदपि तथेति ।
 एतेनेति । आत्मशब्दसाध्यत्वेनैवासंभिन्नैदंप्रत्ययो ऽहंप्रत्ययो
 व्याख्यातः । शङ्कते असिद्धइति । घट इति रूपादय एवैको-
 दकाहरणावच्छिन्ना उच्यन्ते । न तु रूपाद्यतिरिक्तो घटो नाम
 कश्चिदस्तीत्यर्थः । निराकरोति । अत्रोक्तमिति । उपादेय-
 रूपत्वात्तमस इति । यथा दायइति देयमुच्यते एवमुपादा-
 येत्यनेनोपादेयमिति । सविषयत्वं सद्विषयत्वं सिद्धान्तिनोक्तमि-
 ति मन्वानश्चोदयति तमः शब्दस्य सविषयत्व इति । यद्य-
 प्यभावविषयत्वे ऽपि न निर्विषयत्वं तथा ऽपि देशकाभिमानम-
 नुविदधानः परिहरति न सूत्रार्थं पुनर्दृष्टान्तां नास्तीति ।
 (३४४।१०) पूर्वमात्मानुपकारकत्वे साध्ये दृष्टान्ताभाव उक्तः
 पुनरिहोच्यइत्यर्थः । देशयति । अथात्मशब्द इति । यो यो-
 वर्णात्मकः ससर्वो ऽनित्यविषयो यथा घटादिशब्दः तथा चानि-
 त्यत्वे सति तद्विज्ञानमेव स्थानात्मेति फलत आत्मप्रतिषेध इत्य-
 र्थः । एतदपि दूषयति । तथाऽपीति । निसशब्दस्तावन्नित्यमा-
 चष्टे अन्यथा न तत्प्रतिषेध इत्यर्थः । शङ्कते अथेति । सिद्ध-
 साधननिवृत्त्यर्थं शरीरादिव्यतिरिक्ताविषय इति । निराकरोति
 तथाऽपीति । रूपादिस्कन्धपञ्चकातिरिक्तं नास्तीति भवतां
 राद्धान्तस्तदतिरिक्ताभ्युपगमेन विरुध्यतइत्यर्थः । यदि विव-
 क्षितार्थव्यतिरेकेणेति । (३४५।८) वादिनो हि शरीरेन्द्रि-
 यबुद्धिवेदनासंघातस्य पाराध्यं विवक्षितं परार्थाश्चक्षुरादय इति
 ब्रुवतो न संघातपरार्थत्वं तच्चेह पक्षधर्मताबलात्सिध्यदस्याभि-

प्रायेण व्याप्यते न तु साक्षाद्विवाक्षितं तद्वदिहाभिप्रायव्याप्तं वि-
 वक्षितमारोप्य यद्यन्वयविरोधौ देश्येते ततः सर्वानुमानोच्छेदः
 एतच्चेत्स्वरसिद्धौ निपुणतरमुपपादयिष्यते । अथानुमानेन बा-
 ध्यत-इति । संघातत्वानुमानमेवाभिप्रेतविपरीतसंघातपरार्थत्व-
 पक्षो व्यवस्थालक्षणानिष्टप्रसङ्गरूपतर्कसहायमस्य बाधकं प्राणा-
 दिसत्त्वानुमानं वेति । एकदेशेन च एकदेशान्तराणामि-
 ति ब्रुवतो वार्तिककारस्य गृहप्रसादादयो नावयविनो विजा-
 तीयानापनारम्भकत्वादित्यभिमतम् । अकार्यकारणभूतानां
 चेति । (३४७।१९) यथा हि कालाक्षीं गामीक्षितवतः स्वस्ति-
 मत्प्यां गवि भवति प्रतिसंधानं न चैतयोरस्ति कार्यकारणभाव
 इत्यर्थः । स्वं चैतन्यं त्वात्मनः स्वातन्त्र्ये सत्यव्यवस्थानाच्च
 चक्षुरादिवदिति हेतुः प्रमाणसंशयविपर्ययस्मृतिषु यो ऽनुस्यूत
 एक उपलभ्यते स चेतनः स्वातन्त्र्ये सत्यव्यवस्थानात् । य-
 स्त्वचेतनो नासौ स्वातन्त्र्ये सत्यवस्थितो यथा चक्षुरादिरिति व्य-
 तिरको हेतुः । यद्यव्यवस्थानादित्येतावन्मात्रमुच्येत ततो मन-
 सा ऽऽनैकान्तिकं स्यादन उक्तं स्वातन्त्र्ये सतीति । अथ वा
 कृतमव्यवस्थानेन स्वातन्त्र्यमेव केवलमस्तु चैतन्यसाधनमित्या-
 ह । नाचेतन आत्मेति । प्रमाणसंशयविपर्ययस्मृतिष्वनुस्यूत-
 मनुभूतम् उपलक्षयति । निराकृतमप्यर्थं प्रकारान्तरेण पुनरुप-
 न्यस्य निराकरोति । पृथिव्यादिनित्यत्वसाधनइति । भा-
 ष्यं भिन्ननिमित्ताविति । भिन्नमिन्द्रियं निमित्तं ययोः, अन-
 न्यकर्तृकौ-आत्मैककर्तृकौ, समानविषयौ-द्रव्यमेकं विषय इ-
 त्यर्थः ॥ १ ॥

पूर्वपक्षसूत्रम् --

न वि-त् (सू. २) ॥ यद्वावाभावानुविधायिनौ ज्ञान-

भावाभावौ तच्चेतनम् । इन्द्रियभावाभावाभिविधायिनौ तावि-
ति तदेव चेतनमिति भावः । सिद्धान्तभाष्यं संदिग्धत्वादहेतुः
अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणत्वमात्रे प्रमाणं न तु कर्ता
न चेतनश्चेतनं करणमित्यत्रेत्यर्थः ॥ २ ॥

विषयव्यवस्थानं च विरुद्धमिन्द्रियादीनामचैतन्यस्य सा-
धनादित्याह । यच्चोक्तमिति ।

तद्व्य-धः (सू. ३) ॥ सर्वज्ञ इत्यस्य विवरणं सर्वविष-
यग्राही सर्वेषामिन्द्रियाणां च ये विषयास्तद्ग्राही इन्द्रियान्तराणि
प्रमाणान्तराणि च पुनर्व्यवस्थितविषयाणि तेनार्वागपि सर्वज्ञ
इति सिद्धम् । तत्रेदमभिज्ञानमिति । असाधारणं चिन्हम-
भिज्ञानमुच्यते तच्चाप्रत्याख्येयमनुभवासिद्धत्वात् । चेतनवृत्तम-
भिज्ञानमप्रत्याख्येयमुदाह्रियत इति योजना । अनियतपर्याय-
मनियतक्रममित्यर्थः । अनेकविषयमर्थजातमिति । अनेकप-
दार्थो विषयो यस्यार्थजातस्य तत्तथोक्तम् । क्वचित्पाठो ऽने-
कविषयमर्थजातमिति स सुगम एव । आकृतिमात्रं त्विति ।
सामान्यमात्रमित्यर्थः । तदेतच्चेतनवृत्तं देहादिभ्यो व्यावर्तमानं
तदतिरिक्तं चेतनं साधयतीति स्थितं नेच्छाद्याधारत्वं देहादी-
नामिति ॥ ३ ॥

सूत्रान्तरमवतारयति भाष्यकारः इतश्च देहादिव्यति-
रिक्त आत्मा न देहादिसंघातमात्रमिति ।

शरीर-वात् (सू. ४) ॥ प्राणातिपाते पातकाभावप्र-
सङ्गादिति । अयं यद्यपि भूतचैतनिकानां नानिष्टप्रसङ्गस्तथा ऽपि
शाक्यान्प्रति द्रष्टव्यः ते हि प्राणातिपातकृतं पातकमिच्छन्ति ।
एवं च न बुद्धिरात्मेति वक्तव्ये देहादिग्रहणं विचित्राभिसंधि-
त्वात्पुंसां, यदि कश्चिद्भूतचैतनिकः प्राणातिपातकृतं पातकं ने-

छेतं प्रति दूषणं भवत्वेवमर्थमिति मन्तव्यम् ।

वार्तिकम् । अकृतकृताभ्यागमनाशदोष इति । (३५०।
१७) येनाकृतं कर्म प्राणातिपातः तस्य पातकाभ्यागमो येन च
कृतं तस्य नाश इत्यर्थः । शास्त्रचोदितं फलमनुष्ठातरीत्ययमुत्सर्गो
यत्र पुनः शात्रमन्यस्य फलमाह यथा श्राद्धे वैश्वानरीयेष्ट्यादौ तत्र
भवतु पुत्रकृतस्य श्राद्धस्य पितृगामि फलं पितृकृताया वा जातेष्टेः
पुत्रगामि फलमिति । भावना स्मृतिहेतुः संस्कारः । यत्काये-
ति । (३५१।२) येन कायेनोपलक्षितः कश्चिच्चित्सन्तानः स काया-
न्तरवर्त्यपि फलं भुङ्क्यर्थः । एकनिमित्तानां प्रत्ययानां
प्रतिसंधानादिति । उक्तमेतद् यथा नर्तकीभूलताभङ्गे एक-
स्मिन् बहूनां प्रतिसंधानमिति । सर्वावस्थोपलब्धेरिति ।
(३५२।७) सर्वावस्थासु बीजावयवानामुपलब्धेः परमाण्ववस्थत्वे
त्वनुपलम्भः स्यात् । तस्मान्न बीजावयवाः पच्यमाना अङ्कु-
रोत्पत्तौ परमाण्ववस्था भवन्ति । अपि त्ववयविन एव पच्य-
न्तइत्यर्थः । परमाण्ववस्था बीजावयवा न बीजत्वादिजातिविशे-
षवन्तमारब्धुमर्हन्तीत्युक्तं सिद्धान्तिनेति मत्वा दर्शयति । यदि
तर्हीति । परिहरति नानेनैवोक्तोत्तरत्वादिति । प्रतिसंधा-
नाय बीजत्वजातयानवयवान् लक्षितुमस्माभिर्बीजावयवानां पर-
माण्वन्तो विभागो निषिद्धः कल्पादौ त्वारम्भे परमाणूनां न
प्रतिसंधानमस्ति न हि पूर्वसर्गे ये बीजमारेभिरे सांप्रतमपि
तएवारभन्ते नान्यइति प्रतिसंधाननियमः अपि त्वन्येभ्यो
ऽपि भवन्तीति भावः । पैलुकण्ठः शङ्कते । आमध्यात्पाका-
नुपपत्तिरिति चेत् । परिहरति नाप्रतिबन्धादिति । सा-
न्तराण्येवावयविद्रव्याणित्यर्थः । अथायमवयवानुप्रवेशो द्रव्यस्य
विनाशकः कस्मान्न भवतीत्यत आह । यदि चायमवयवानु-

प्रवेश इति । (३५३ । ६) भाजनगतानामपां भाजनविनाशे
 ऽवस्थानमेव न स्यात् । सान्तरत्वे तु तावत्य एवापो भाजने
 स्पन्दन्ते यावतीभिर्बहिः शीतस्पर्शोपलब्धिर्भवति मात्रया च
 तत्र कालपरिपाकवशादनत्रस्थानमपि विनाशे तु सहसानव-
 स्थानमपां भाजनगतानां भवेदित्यर्थः । व्यवहिते द्रव्ये स्फटि-
 कभाजने न तुल्योपलब्धिरिति शङ्कते । सुखी स्यामिति
 तत्क्रियेति चेत् । यद्यपि विशरारवः स्कन्धास्तथा ऽप्यना-
 द्यविद्यावासनावशो ऽयमेकमहंकारास्पदं सत्त्वं मित्यभिप्रेत्य-
 मानः सुखी भवेयं दुःखी मा भूवमिति तृष्णक् प्रवर्ततइत्यर्थः ।
 निराकरोति तन्नाननुभूतत्वादिति । यथा च क्षणिकानां
 विज्ञानानां परस्परवार्त्तानभिज्ञतया न प्रतिसंधानक्षमत्वं तथो-
 पपादितमस्माभिरात्मलक्षणवसरइति । नानागतानामनुत्प-
 त्तेः सत्त्वादिति (३५४ । १७) न च ब्रह्मचर्यादिपरिपाक-
 सहितेन ज्ञानक्षणेनासमर्थो ज्ञानक्षणो जन्यते स च न ज्ञानान्तरं
 प्रसूतइत्यनागतानुत्पत्तिरसमर्थस्य च क्षणस्य स्वभावतो विनाश-
 इति युक्तम् । असमर्थक्षणोत्पादस्यैव सहकारिसापेक्षत्वानपेक्ष-
 त्वानुपपत्तेः । यथा चैतत्तथा क्षणभङ्गमङ्गावसरे उपपादयि-
 ष्यते ॥ ४ ॥

तद त् (सू ५) ॥ वैनाशिको नैयायिकपक्षवत्सारूप्यपक्षे
 ऽपि हिंसातत्फलानुपपत्तिमापादयितुं हिंसां तत्फलसंभवं पूर्वप-
 क्षयति । इयं तु हिंसेति (३५५७) व्यक्तरिति । सदेव
 कार्यं कारणेन व्यज्यते न त्वसत् क्रियतइत्यर्थः । परिहरति
 नेति । त्रिविधोऽप्ययं धर्मलक्षणाविस्थापरिणामो निष्ठात् धर्मिणो
 न भिद्यते इति परिणामानित्यत्वं धर्मिनिस्तत्वेन विरुध्यते ।
 अविरोधाय वा धर्मिणोऽनित्यत्वाभ्युपगमे वैनाशिकपक्षोक्तदोष-

प्रसङ्ग इत्यर्थः । गुण इति । ऋजुत्ववक्रत्वे खलु गुणौ प्रचपसं-
योगविभागाविशेषौ सत्येव द्रव्यारम्भकसंयोगे उदयव्ययवन्ता-
वनुभूयेते इति । तदेतद् नैयायिकपक्षदूषणं सांख्यपक्षे ऽप्यापा-
द्य नैयायिकं पृच्छति अथात्मनो नित्यस्येति । (३५६ । १०)
नैयायिक आह । सुख दुःखे इति । नित्यादात्मनो व्यतिरि-
क्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मधर्माभ्यामनित्याभ्यामात्मधर्मावेव सु-
खदुःखे जन्येते इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । नित्यस्यानित्यधर्मा-
धानमेवोपकारो न तु नित्यस्वरूपकरणं येन तदनित्यं स्यात् ।
धर्मश्च धर्मिणो भिन्नो न तु धर्मिस्वभावः । यथा च भेदाविशेषे
सत्यपि बह्विधमयोरेव कार्यकारणभावो न बह्विक्रमेलकयोर्वस्तु-
स्वभावनियमात् । एवं भेदाविशेषे ऽपि आत्मनः पुण्यपापयोरेव
धर्मधर्मिभावो नात्माकाशयोः पुण्याकाशयोर्वेति लेशमात्रमत्रोक्तं
विस्तरस्तु क्षणभङ्गभङ्गे भविष्यतीति । नानेकान्तादिति ।
वाद्यभिमतपरमाणुनित्यत्वग्राहिप्रमाणदाढ्येनानैकान्तिकत्वमुक्तं
न तु बौद्धराद्धान्ते नित्यः परमाणुरिति । अत एवापरितोषेणा-
न्यथासिद्धिमाह । चर्मणश्चानित्यत्वमिति । तद्वतां चोप-
लादीनामवस्थानादिति । नासति विनाशप्रत्यये विनाशे
ऽस्ति किं चित्प्रमाणम् । उपलादिषु चावयवविभागविनाशाभ्यां
मागू न विनाशो ऽनुभूयते क्षणभङ्गभङ्गश्च निषेत्स्यतइति भावः ।
आरब्धकार्याणां द्रव्यान्तरानारम्भिका इति । (३५७ ।
१५) अवयव्यारम्भकात्संयोगाद्भेद उक्तः । विक्रियायां च
दृष्टान्ताभाव इति । प्रमोत्पादमन्तरेणाविनश्यतो धर्मोत्पादम-
न्तरेणाविनश्यतो धर्मिस्वरूपस्य विक्रियायामित्यर्थः । शङ्कते यद्ये-
वमिति । यद्येवंभूतो विकारः यादृशो घटादीनां श्यामतानि-
वृत्तौ लोहितोत्पादे विकारस्तादृशो नात्मन इति यदि शङ्कत-

इत्यर्थः । निराकरोति । आत्मन्यपीति । न बाह्येन्द्रियग्राह्य
एव विकारोऽपि तु धर्मान्तरोत्पादमात्रं तच्चात्मन्यप्यस्तीति ॥ ५ ॥

न का-त् (सू. ६) ॥ वैकल्यं वा प्रमापणं चेति ।
(३५८ । ८) यथा शरीरमुपघ्नन् हिनस्त्येवं चक्षुराद्युत्पाद्यन्
हिनस्त्येवेति । पृच्छति कुत एतदिति । स्वरूपतो हिंसासम्भवे
भाक्ती हिंसा न युक्तति वैनाशिकस्याभिसन्धिः । उत्तरं हिं-
साफलोपभोगस्येति । वैनाशिकस्यापि विशरारूपां भावा-
नां न स्वरूपहिंसा कारणजन्येति विलक्षणोत्पादो हिंसेति
वक्तव्यं तत्र कारणव्यापारसम्भवात् तथा च तत्रापि हिंसा
भाक्तीति भाक्तत्वस्योभयत्राप्यविशेषाद् यस्मिन्पक्षे कृतहानम-
कृताभ्यागमदोषो नास्ति स पक्षोऽभ्युपेतव्यः । स च नित्य-
स्वपक्षः तस्मात्पारिशेष्यात्तत्सिद्धिरिति । ज्ञानचिकीर्षाप्रय-
त्नानां समवायः कर्तृत्वमिति । (३५९ । ३) उपाय-
तज्ज्ञापाराणामनभिज्ञो हि चिकीर्षन्नपि न कर्ता एवमभिज्ञोऽप्य-
चिकीर्षन् तथा चिकीर्षन्नप्यलसतया अप्रयतमानो न कर्तेति ।
सुखः दुःखसंखित्समवाय इति । स्वमुखः दुःखेति द्रष्टव्यम् ।
अस्ति हि परकीयसुखदुःखसाक्षात्कारो योगिनां न चैते भो-
गिनः ॥ ६ ॥

इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा कुतः । तत्र मानसमनुव्यवसायलक्षणं
प्रत्यभिज्ञानं भाष्यकारो दर्शयति । तमेवैतर्हीति । व्यवसायं
बाह्येन्द्रियजं प्रत्यभिज्ञानमाह । स एवायमर्थ इति । अस्यैव
चानुव्यवसायः पूर्वः ॥ ७ ॥

तदेतच्चक्षुरैक्येनाक्षिपति । नैक-त् (सू. ८) ॥

समाधत्ते ।

एक-त्वम् (सू. ९) ॥ विनाशाविनाशलक्षणविरुद्ध-
माध्यासान्नानात्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

आक्षेप्ता ऽऽह ।

अव तुः (सू. १०) ॥

समाधाता आह ।

दृष्टा-धः (सू. ११) ॥

तृतीयं व्याख्यानमाह ।

अथ वा एकविनाशस्यानियमादिति । एकत्वे च-
क्षुषो विनाशनियमो न स्यात् । सव्यस्यैव चक्षुषो न दक्षिण-
स्येति । एकत्वात्सव्यविनाशे दक्षिणस्यापि नाशप्रसङ्गात् । दृ-
श्यते चायं नियमः । तस्माद् द्वावर्थौ पृथगावरणौ पृथगुपधातौ
चेति । अपि च यदि चक्षुरेकं सव्येन नासावंशेनावपीडितं त-
तोऽङ्गुल्या ऽवपीडितं यथैकं भिन्नाभिवावभासयति । अवपी-
डनेनिवर्तमाने भिन्नावभासौ तावर्थौ संदधातीति । तथा नासावं-
शावपीडितं भिन्नमिव दर्शयेत् तन्निवृत्तौ सन्दध्यादिवेत्याह ।
अवपीडनाच्चैकस्य चक्षुष इति । रश्मिभेदाद्विषयसन्निक-
र्षस्य भेद इत्यर्थः । अङ्गुल्यवपीडितेन चक्षुषा दृष्टान्तेन विरोधा-
दित्यर्थः । एकविनाशेनेतरविनाशो वा दृष्टान्तः । तेन विरो-
धादिति । स खलु दृश्यमानश्चैकान्तावधारणादतश्चेति दृष्टा-
न्त इति सूत्रार्थः ।

तदेतत्प्रकरणं वार्तिककारो दूषयति । सिद्धत्वादनार-
म्भ इति युक्तोऽन्यः समुच्चयः शास्त्रे । अयमभिसन्धिः । का-
णस्तथा न पश्यति पिहितैकलोचनो वा यथा ऽविकलेन्द्रियः । तत्र
यदि सव्यदक्षिणाधिष्ठानभेदभिन्नं चक्षुर्न चैतद् द्वयमणुना मनसा

युगपदधिष्ठातुं शक्यमित्यन्यतरदधिष्ठेयम् । तथा च सर्व एवैकै-
 केन पक्षुषा पश्यतीति पिहितैकलोचनेनातुल्योपलम्भः अविक-
 लाक्षस्य स्यात् । न चैवमस्ति एकत्वे तु तदुभाभ्यामधिष्ठाना-
 भ्यां विनिर्यत्क चिदपि मनसा ऽधिष्ठितमेवेत्यविकलाक्षस्य न
 विकलाक्षवदुपलम्भप्रसङ्गः । तस्मादेकमनेकाधिष्ठानं चक्षुरिति ।
 प्रकरणविरोधश्चेन्द्रियपञ्चत्वादिति (३६०) । न चैतदेक-
 स्मिन् शरीरे जात्यभिप्रायं प्राणादीनां व्यक्तीनां चतसृणां व्य-
 त्त्यन्तरेण समभिव्याहारोपपत्तेर्न तु जात्या न हि भवति ब्राह्म-
 ण्युधिष्ठिरावागताविति किं तु ब्राह्मणराजन्याविति वा वशि-
 ष्ठ्युधिष्ठिराविति वा । विनष्टे ऽप्येकस्मिन्नाधिष्ठाने योऽविनष्टो
 ऽवशिष्यते तेन प्रत्ययमात्रं कारणस्येव भवति । न च नासाव-
 शावपीडितेन सर्वेषां सर्वदा सर्वत्र द्विचन्द्रवद्विभ्रमप्रसङ्गः । आ-
 गन्तुकमवपीडनं भ्रमहेतुर्नोत्पत्तिकमिति कार्यदर्शनात्कल्प्यते ॥ ११ ॥

तदेवं प्रतिसन्धानद्वारेणात्मनि प्रत्यक्षं प्रमाणयित्वा अनु-
 मानमिदानीं प्रमाणयति । अनुमीयते चायमिति । (३६१ ।
 १५) विप्रतिपन्नं हि प्रति यतिसन्धानमुक्तं परमार्थतस्तु अनुभवा-
 नुसारमार्गो ऽयमिति मन्तव्यम् ॥

इन्द्रि-त् (सू. १२) ॥ कस्य चिदम्लचिरवित्वादेर-
 नुभूतस्य तेन सहचरितं रूपं वा गन्धं वा ऽनुभवति । अथ
 तत्सहचरितं रसमनुस्मरति स्मृत्वा चेच्छति इच्छातो रसनेन्द्रि-
 यविकारो दन्तोदकसंप्लवक्षणः प्रवर्तते तद्दर्शनाच्चास्येच्छानु-
 मीयते इच्छया च स्मृतिः सेयं स्मृतिरसत्यात्मनि सर्वेन्द्रियवि-
 षयवेदिनि न भवितुमर्हतीति ॥ १२ ॥

अस्याक्षेपसूत्रम् ।

न स्मृ-त् (सू. १३) ॥ स्मृतिरात्मानं कारणत्वेनावग-

मयेत् विषयत्वेन वा । न तावत्कारणत्वेन तस्याः संस्कारकार-
णत्वात् । न विषयत्वेन स्मर्तव्यविषयत्वात् । स्मृताच्च तस्मा-
दिन्द्रियान्तरविकारोत्पत्तिरित्यर्थः ॥ १३ ॥

समाधत्ते ।

तिदा-धः (सू. १४) ॥ असत्यात्मनि स्मृत्यनुत्पत्ति-
दर्शयित्वा स्मर्तव्यार्थविषयैव स्मृतिर्नात्मविषयेति पूर्वपक्षिणो
ऽवधारणं खण्डयति ।

अपरिस्मृत्यानाञ्च स्मृतिविषयस्येति (सू. १५) ॥ मा-
नसानुव्यवसायजनितसंस्कारकारणानु चतसृष्वपि स्मृतिषु नार्थ-
मात्रं विषयो ऽपि तु ज्ञानज्ञातृज्ञेयानि सर्वे एव विषयाः चतुर्षु वाक्येषु
एकत्र ज्ञानं क्रिया कारका निष्कृष्टा यथा अमुष्मिन् मम ज्ञानम-
भूदिति अगृह्यमाणो ऽप्यर्थः स्मृतिसन्निधापनादमुष्मिन्नित्युच्यते
कारकादनिष्कृष्टाप्येकत्र पूर्वापरीभूतभावनाप्रधाना ज्ञानक्रिया
गम्यते अज्ञासिषमहममुमर्थमिति । अन्यत्र तु ज्ञानभावेन कार-
कादनिष्कृष्टे कर्तृप्रधाने यथा ज्ञातवानहममुमर्थमिति । अन्यत्र
ज्ञानभावेन कारकादनिष्कृष्टे कर्मप्रधाने यथा ऽसावर्थो मया ज्ञा-
त इति । समानार्थमिति । ज्ञानज्ञेयज्ञातृप्रकाशनं समानमित्यर्थः ।
एवं तावदगृह्यमाणे ऽर्थे स्मृतिः प्रदर्शिता । अथ प्रत्यक्षे ऽर्थे स्मृ-
तिः प्रदर्श्यते । अथ प्रत्यक्षे ऽर्थ इति । स्मृतिरिति प्रत्यभि-
ज्ञानमाह स्मृतिच्छायावाहितत्वात् । अद्राक्षामिति । पूर्वार्थमर्थ-
दर्शनं परामृषति तेनार्थदर्शनानुभवः कल्प्यतामनुभवकल्प-
ना तु कुतस्त्येत्यत आह । न खल्वसंविदिते स्वे दर्श-
ने इति । अपि त्वर्थदर्शनं तद्वर्शनं च संविदिते एवेत्यर्थः ।
कुत एतदित्यत आह । एतदद्राक्षामिति । यस्मादनुभवपुर-
स्सरं यदत्राद्राक्षामिति भवति नूनं तत्रानुभवप्रथा ऽप्यभूदिति

१२-१८सू० ३-४ प्र०] मनोव्यातिरेकप्रकरणम् । ५१३

कल्पनीयमित्यर्थः । इतो ऽपि न शरीरगुणः स्मृतिः बाले अनुभूतस्य वार्धके स्मरणात् । अन्यद्धि बालशरीरमन्यच्च वृद्धशरीरमिति । आस्तां तावत्प्रत्यभिज्ञानं, सादृश्यमपि दुर्विज्ञानम् । न च परमाणूनां चैतन्यं, ते हि प्रत्येकं वा चेतयेरन् मिलिता वा । पूर्वस्मिन् कल्पे अनेकचैतन्ये एकस्मिन् शरीरे नैकमित्यनियमो भवेत् । न हि नानाचेतनानामैकप्रत्यनियमो दृष्टः मिलितानां तु चैतन्ये परमाणूनामावापोद्वापभेदेन मेलकस्य नानात्वात्स एवान्योपलब्धस्यान्येन स्मृत्यभावप्रसङ्गः । तस्मान्न शरीराधारा चेतनेति ।

परेषां कारिकां दूषयति वार्तिककारः । एतेन न तच्चक्षुषि नोरूपद्वयं प्रत्युक्तम् । (२६३ । ६) आत्मनः पारिशेष्यात्सिद्धेः स्मृत्याधारत्वव्युत्पादनेनेत्यर्थः । यत्राधिकरणे तज्ज्ञानं निष्ठितं भवेन्न तदाधिकरणमस्ति न च नास्तीति व्याहृतम् । स्यादेतद् नायं विशेषप्रतिषेधो न चक्षुषि विज्ञानं न रूपद्वयं, किं तु ये चक्षुराद्याश्रयं विज्ञानं मन्यन्ते तन्मतं प्रतिषिध्यते । आधारवत्त्वं तु न प्रतिषिद्धमप्रसक्तत्वादित्यत आह । कस्य चेति । अपि चैषा कारिका आत्माभावविवक्षया प्रयुक्ता आत्मसत्त्वमेव प्रतिपादयन्ती विवक्षितविरुद्धेत्याह । अयं च विज्ञानस्येति ।

तदेवं भाष्यमतेनेन्द्रियान्तरविकारादिति सूत्रं व्याख्याय वार्तिककारः स्वमतेन व्याचष्टे । अथ वैकस्येति । उक्तमेव प्रतिसंधानं पुनरिन्द्रियान्तरविकारद्वारेण दर्शयति सूत्रं यथा च प्रतिसंधानं देहेन्द्रियादिव्यातिरिक्तमात्मानं प्रतिपादयति तथा ऽथ स्तादेव विवृतमिसाह । उक्तन्यायमिति ॥ १२ ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥ १५ ॥

मतिः स्मृत्यनुमानादिज्ञानम् । यद्यपि चेदं प्रातिस्विकसं-
स्कारादिकारणकं तथाप्यवश्यमेतेनेन्द्रियजेन भवितव्यं ज्ञानत्वा-
द्रूपादिज्ञानवदिति, तच्चेन्द्रियमसति चक्षुरादौ भावान्मतेश्चक्षुरा-
द्यतिरिक्तं मन इत्युच्यते । ननु भवतु करणान्तरं मनः तत्तु क-
थमिन्द्रियान्तरसहकारि कथं चाणुपरिमाणमित्यत आह । तच्च
ज्ञानायौगपद्यलिङ्गमिति ॥ १६ ॥ १७ ॥

वार्तिकं यदि सर्वं विज्ञानं ससाधनमुच्यते मनस्य-
पीति । (३६४ । १७) न च तत्र मन एव करणमात्मनि वृ-
त्तिविरोधादिति तदन्यस्य करणत्वे तज्ज्ञानायापीन्द्रियान्तरमु-
पासनीयमित्यनवस्था, अनिन्द्रियजत्वे तु मतावपि संस्काराद्येव
कारणमस्तीति कृतं मनसेति भावः । परिहरति । ओमिति ।
यथा कारणसत्तया कार्यं जनितं कारणं ज्ञायते एवं मनःसत्त-
या मनोलिङ्गज्ञानं जनितं मनो ज्ञापयति । तच्च लिङ्गजं मनोज्ञानं
मनःसत्ताहेतुकम् । न च स्वात्मनि वृत्तिविरोधः न हि मनःसत्तायां
मनःकरणं मनोज्ञाने वा मनोज्ञानं करणं येन स्वात्मनि वृत्तिवि-
रोधः स्यात् । केवलं वा मनः स्वज्ञाने करणं येनैकत्र कर्मकर-
णत्वे स्याताम् । अपि तु मनोज्ञाने लिङ्गज्ञानसहितं मनः करणं
तत्स्वरूपं तु लिङ्गज्ञानसाहिस्यादिति न स्वात्मनि वृत्तिविरोधः ।
नाप्येकस्यैव केवलस्य कर्मकरणभाव इति भावः । स्यादेतद्
लिङ्गज्ञानसहितस्य मनसः करणत्वे मा भूदेकस्यैव कर्मकरणभावः
स्वरूपेण कर्मत्वाद् लिङ्गज्ञानसाहित्येन च करणत्वात् । यदा
तु योगिना प्रत्यक्षेण मनो गृह्यते तदा कथमेकस्य कर्मकरणभाव
इत्यत आह । यस्य तु मनः प्रत्यक्षमिति ॥ १८ ॥

शास्त्रार्थभूताभ्युदयनिःश्रेयसोपयोगिनं परलोकं परिचि-
क्षिषुः परीक्षाहेतुभूतं संशयमाह । किं पुनरयमिति । (३६५ ।

८) अत्र वार्त्तिककारः संशयं दूषयन् प्रकरणान्तरारम्भमाक्षिपति । एतास्मिन्नर्थ इति । देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभ्यो व्यतिरिक्तत्वमात्मनो दर्शयता बाल्यकौमारयौवनवार्द्धकभेदे ऽपि चैकात्मप्रतिसंधानमर्थादुपपादयता शरीरनाशादूर्ध्वमात्मसद्भावो दर्शितः । तावता च नः प्रयोजनं तत्किमवशिष्यते यत्र संशयो-यत्कृते च प्रकरणोत्थानमित्यर्थः । समाधत्ते । नानारभ्यमिति । सिद्धेऽपि देहादिव्यतिरेके बाल्यादिषु चानुगमे किमयमात्मा आ शरीरोत्पत्तेरा च प्रायणाद्यावदेहसंतानभावी आहो स्विदुपरते ऽपि देहादिसंताने ऽनुवर्तत एवेत्येष विमर्षो ऽद्यापि न निराकृत इति तन्निरासायेदं प्रकरणमारभ्यत इत्यर्थः ।

भाष्यं देहभेदादिति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । बाल्यकौमारयौवनवार्द्धकदेहभेदमभिसमीक्ष्य प्रतिसंधानादस्यावस्थानं सिद्धमित्यर्थः । वार्त्तिकम् । अभिप्रेताविषयप्रार्थनाप्राप्ताविति । अभिप्रेतविषयप्राप्ताविति वक्तव्ये प्रार्थनाग्रहणम् इष्ट्यमाणतमत्वं सूचयति । नेष्यमाणप्राप्तौ हर्षोऽपि त्विष्ट्यमाणतमप्राप्तौ तेनाभिप्रेतविषयस्य प्रार्थनायां सत्यां प्राप्तावित्यर्थः । हानाशक्यतेति । (३६६।१)विषयेण विषयिणीं बुद्धिमुपलक्षयति । अनिष्टो विषयो मरणादिस्तस्य साधनमहिव्याघ्रादिस्तस्योपनिपातः सन्निधानं तस्मिन्सति व्याघ्रादिजिहासोरशक्यहानमेतदिति बुद्धिर्भयं सा हिं कस्यापि जनयति । इष्टविषयवियोगे सति तत्प्राप्त्यशक्यप्रार्थना शोकः । तस्यैव पुरुषस्य यः प्राप्त्यशक्यः तत्र प्रार्थना शोकः य इष्टो विषयः प्राप्तुमशक्यस्तत्र प्रार्थना इदं मे उपपद्यतां भवत्विति इत्थंभूता चेयं प्रार्थना न स्वरूपेण शोक इत्यत आह । इष्टविषयवियोगे सतीति । अनर्हणेनेति यावत् । तदयमर्थः । इष्टवियोगे तत्प्राप्त्यशक्यताज्ञानं शोक इति ।

अनर्हणेन प्राप्त्यशक्यताज्ञानं शोचतः सूचयति । प्रत्यक्षबुद्धिनिरोध इति । प्रत्यक्षग्रहणेन ग्रहणमात्रमुपलक्षयति । तदनुगृहीतः स्मृत्यनुगृहीतः । तदनुसंधानविषय इति । अनुसंधीयतइत्यनुसंधानं स्मृते यदनुसंधेयं तद्विषय इत्यर्थः । तथाऽपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोरविशेष इत्यत आह । वर्तमानस्य विषयस्य दृश्यस्य तद्भावाविषय इति । दृष्टो हि निरालम्बनो बालः स्खलन्मातुरङ्गात्पतनस्यानिष्टसाधनत्वमनुस्मृत्येदं च पतनमिति परामृष्य तस्यानिष्टसाधनत्वमनुमाय रुदन्मातुर्मङ्गल्यमुरःसूत्रं विक्षिप्य हस्तौ वेपमान उपोददानः तस्यानया चेष्टया भयशोकावनुमीयेते इत्यर्थः ॥ १९ ॥

दृष्टेन विशेषितत्वादिति । (३६७/१४) दृष्टशब्देन विशेषितो व्यवस्थापितः कार्यकारणभावो न शक्यो व्युदसितुमित्यर्थः । अथात्मन उत्पत्तिनिरोधानुमानमिति । यद्विकारि तदुत्पत्तिनिरोधधर्मकं दृष्टं यथा पद्मं तथा चात्मा तस्मादनित्य इत्यर्थः । यदि धर्मोपजननमात्रं विकारः स आकाशादिष्वपीत्यनेकान्तः धर्मधर्मिणोश्च भेदान्न धर्मोपजननापायौ धर्मिण्युज्येते इति नानित्यत्वानुमानं विकारात् । अस्माकं त्वात्मनित्यत्वेऽनुमानमस्तीत्याशयेन नित्यत्वानुमान माह । तन्न युक्तमिति । सर्वदाऽस्मूर्तत्वादिति । घटादयोऽप्येकस्मिन् क्षणे भवन्त्यमूर्ताः परिमाणविशेषो हि मूर्तिः न च द्रव्यसमानकालोत्पत्तिर्गुणानामिति तन्निवृत्त्यर्थं सर्वदेत्युक्तम् ॥ २० ॥

पञ्चात्मकानां पञ्चादीनां विकाराः पञ्चात्मकविकारा इति २१ ॥

सामान्यतोऽधिगतस्य विशेषज्ञापनार्थमिति । हर्षादिना सामान्यत इच्छामात्रमवगतं तद्विशेषस्तु स्तन्याभिलापो रागश्चात्रोक्त इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अय-णम् (सू२३) ॥ न पूर्वाभ्यस्तनुबन्ध एव प्रवृ-
त्तिकारणम् । अयसोऽयस्कान्तोपसर्पणे तदभावात् । यदि च
बालकस्य पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धो भवेज्जासन्धवधिरादयस्त-
ज्जन्मानुभूतान् गन्धस्पर्शान् जात्यन्तरानुभूतान् रूपस्पर्शादीनपि
व्याचक्षीरन्नित्यभिप्रायः । विकल्प्य दूषयति । किमिदमिति ।
(३६९ । २) यौवनाद्यवस्थायां चेतनस्य प्रवृत्तिः क्षीरादौ
पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धहेतुका प्रतीतेति बाल्यावस्थायामपि चेत-
नस्य तद्धेतुकैव भवितुमर्हति तेन हेतुना चेतनप्रवृत्तेः स्वाभावि-
कसम्बन्धावगमाद् बहिनेव धूमस्य । एवं व्यवस्थिते यत्र स्मृतेः
कार्यं दृश्यते तन्मात्रविषयैव बालस्य स्मृतिरनुमीयते नान्यत्र ।
न च य एकं स्मरति तेनापरमपि स्मर्तव्यमिति कश्चिन्नियमहेतु-
रस्ति येन जात्यन्धवधिरादयो रूपादिभेदान् व्याचक्षीरन् अदृ-
ष्टपरिपाकोद्बोधितस्य संस्कारस्य तन्नियमेन निश्चयोपपत्तेः ।
अद्यत्वेऽपि चानुभूतेषु कस्य चिदेव स्मरत्यात्मा न सर्वस्येति ॥२३॥

भाष्यं न च स्तन्याभिलाषलिङ्गमन्यदिति । स्तन्या-
भिलाषो लिङ्गमस्य निमित्तान्तरस्य तत्तथोक्तम् । अन्यत्र लो-
ष्टादौ लोष्टादेरिति यावत् । षष्ठीसप्तम्योरभेदार्थत्वात् । एतदुक्तं
भवति लोष्टादेरन्यस्यायस्कान्तप्रवृत्त्यभावाद् अयसश्च सनिमित्त-
मुपसर्पणमिति पूर्वं व्याख्यातम् । संप्रति त्वन्यथा व्याचष्टे
अयसः खल्वपीति । निपातसमुदायः कल्पान्तरं द्योतयति ॥२४॥

पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनमिति । एकविषयः स्मृति-
प्रवाहो विजातीयप्रत्ययासंभिन्नश्चिन्तनं, तच्चानुभवश्च पश्चाद्भवती-
त्यनुचिन्तनं, न च तत्स्मृतिमन्तरेण भवति, न हि तत्र प्रवाहः
प्रवाहिणं विनाऽस्ति तदेवानुचिन्तनं पूर्वानुभूतविषयप्रार्थनार्थः
सङ्कल्पः प्रार्थना सङ्कल्पः स च पूर्वानुभूतविषय इत्यर्थः । अथा-

स्मिन्नेवजन्मनि इन्द्रियजो विषयानुभवोऽन्वयव्यतिरेकावधारिते-
ष्टोपायतासहकारी कस्माद् रागहेतुर्न भवतीत्यत आह वार्तिक-
कारः । न विषयावगमासमर्थेष्विति । तदनेन पूर्वानु-
भवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनीति भाष्यं व्या-
ख्यातम् ॥ २५ ॥

अत्रायमुदितानुवाद इति भाष्यम् । तस्यार्थः उदित-
मिदं चोद्यम् अयस्कान्तदृष्टान्तेन चोद्येन, तथाऽपि तस्यानुवादो
निदर्शनार्थः । पूर्वमयस्कान्तो निदर्शनमिदानीं तु घटादीनामुत्प-
द्यमानानां रूपादयो निदर्शनमिति तदर्थमित्यर्थः । चोद्यस्यो-
दितानुवादत्वात्परिहारोऽप्युदितानुवाद एवेति । तन्मयत्वा-
द्राग इति । (३७० । ३) अभ्युपेत्यादृष्टकारणत्वं रागादीनां
परिहृतं परमार्थतस्तु तन्मयत्वाद्राग इत्यर्थः । स्यादेतद् यदि
पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाद्रागादीनामुत्पादो हन्त मनुष्यजन्मानन्तरं
प्राप्तकरभभावस्य मनुष्यजन्मोचितानां भावानामानन्तर्यात्तदनु-
रूपा एव रागादयो भवेयुर्न करभभावानुरूपाः करभजातेरस्य
विजातीयजन्मसहस्रव्यवहितत्वादत आह । जातिविशेषा-
च्चेति । कर्मणः संस्कारोद्बोधकत्वात्करभजात्यर्थेन कर्मणा जन्म-
सहस्रव्यवहिताऽपि करभभावनोद्बोध्यते नानन्तराऽपि मनुष्य-
भावना प्रायणाभिभूतेति भावः ॥ २५ ॥

ननु सगुणद्रव्योत्पत्तिवदिति साधनपक्षे मा भूदनैकान्ति-
कापादनपक्षे तु को दोष इत्यत आह वार्तिककारः । अनैका-
न्तिकपक्षे सूत्रं न कस्मात् नोक्तोत्तरत्वात् । उक्तोत्तरमे-
तद्यत इति ॥ २६ ॥

अपि च मनुष्यत्वेन तुल्यत्वेऽपि प्रज्ञामेधाप्रकर्षनिकर्षभे-
ददर्शनात् प्राग्भवीयाभ्यासकल्पना अद्यत्वेऽपि हि शास्त्राभ्या-

सस्तद्वोचरप्रज्ञामभिवर्धयन्नन्वयव्यतिरेकाभ्यामनुभूयते सोऽयमिह
जन्मन्यकृतशास्त्राभ्यासस्य तद्विषयः प्रज्ञामेधातिशयः प्राग्भवी-
याभ्यासातिशयं स्वकारणमवगमयति, जनस्य तिर्यगादिजाति-
शतव्यवधानपरिभ्लानप्राग्भवीयसंस्कारस्य प्रज्ञामेधानिकर्ष इति
कल्पनीयं तस्मान्नित्यस्यात्मनः कर्माविद्यानिबन्धनोऽनादिरेषोऽ-
नेकविधशरीरपरिग्रहपरित्यागप्रवाहोऽपवर्गान्त इति सिद्धम् ॥२७॥

आत्मानन्तरमुद्दिष्टं शरीरं परीक्षिष्यमाणोऽवान्तरसङ्गति-
माह भाष्यकारः अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग इत्युक्तम् ।
परीक्षोपयोगिनिर्वेदसाधनत्वमाह । स्वकृतकमेति । परीक्षापूर्व-
रूपं संशयमाह । किं घ्राणादिवदिति । एकद्वित्रिचतुःपञ्चप्रकृ-
तिकतामास्थिषत शरीरस्य वादिनः सोऽयं संख्याविकल्पः ।

अत्र वार्तिककारः स्वातन्त्र्येण शरीरपरीक्षायां सङ्गतिमाह ।
आत्मानन्तरमिति । भाष्यमतेन सङ्गतिमाह । अथ चेति ।
अवान्तरसङ्गतेस्तात्पर्यमाह तस्मिन् परीक्ष्यमाणइति । मा-
नुषं शरीरं पार्थिवं गन्धवत्त्वात् पार्थिवपरमाणुवदिति । न कारणं
कार्यस्यात्मा तत्कथमेकात्मकमित्यत आह । एकात्मकमित्येक-
स्वभावं स्वो भावो भवितृणां जातिः एकजातीयसमवायिकारण-
त्वे हि तत्तदेकजातीयं स्याद् नान्यथेत्यर्थः । परोक्तान् हेतूनन्य-
थासिद्ध्यिष्यन्प्रथमं तावत्सुहृद्भावेनाह नन्विदमवादिभिरि-
ति । (३७१ । ३) परोक्तसाधनमन्यथासिद्धमुक्त्वा बाधक-
मुक्तं भाष्यकृता तदनुभाष्य वार्तिककारो व्याचष्टे । तदिदम-
नेकप्रकृतीति । पृथिव्युदकाभ्यामारभ्यमाणमगन्धं कारणगन्ध-
स्यैकस्यानारम्भकत्वात् । अयमभिसन्धिः पृथिव्याप्यपरमाणू ता-
वन्नैकं त्र्यणुकमारब्धुमर्हतः तयो रूपरसस्पर्शवत्त्वेन तदारम्भसम्भ-
वेऽपि गन्धवत्त्वाभावप्रसङ्गात् । एवं पार्थिवाणुसमवेतस्य गन्ध-

स्यैकत्वेनानारम्भकत्वात् । नापि पार्थिवरमाणुद्रव्यमेकश्चाथसी-
यः परमाणुरित्यणूनामारम्भकत्वे गन्धवस्वोपपत्तिरिति साम्प्र-
तम् । परमाणूनां बहूनामनारम्भकत्वात् । तथा हि त्रयः परमा-
णवो न कार्यद्रव्यमारभन्ते परमाणुत्वे सति बहुत्वसंख्यायुक्त-
त्वाद् घटोपगृहीतपरमाणुप्रचयवत् । आरम्भकत्वे तेषां घटोप-
गृहीतानां कपालशर्कराचूर्णक्रमो घटनाशे नोपलभ्येत अणुके च
विजातीयानारम्भकत्वे सिद्धे तेनैव दृष्टान्तेनान्यत्रापि विजाती-
येनारम्भो निषेध्यः । एतेन पार्थिवावयवानां महतां पाथसी-
यैरवयवैः शरीरारम्भः प्रत्युक्तः विजातीयानामनारम्भक-
त्वस्य दृष्टान्तधर्मिणि विनिश्चयादिति । तदनेन वार्तिककृता
षड्विंशतिकल्पा निराकृता इति । यदि पुनरेकैकं कारणं स्यात्
ततः किं भवेदित्यत आह । एककारणत्वे त्विति । (३७२ ।
६) नित्यं निरपेक्षमेकं कारणमिति सततोत्पत्तिः कार्यस्य भ-
वेत् । कारणविनाशात्तद्विभागाद्वा द्रव्यं विनश्यति न चैकस्य
कारणस्य नित्यस्य विनाशोऽस्ति । न च विभागः तस्य सद्दि-
तीयवस्त्वाश्रयत्वात् । एकस्य च द्वितीयाभावात् । विनाशकार-
णाभावात्कृत्नकनित्यत्वप्रसङ्गरूपमसहायमेकमवयविनि न रूपमा-
रभतइति नीरूपोऽवयवी तथा च रूपसंस्काराभावेनावयवी नो-
पलभ्येतेत्यर्थः । स्पृतिरुत्पत्तिरित्यर्थः । न्यायसिद्धमर्थं श्रुति-
रूपोद्बलयति न पुनरस्य प्रापिका सांख्यराद्धान्ताबलम्बनेनाप्य-
स्याः कथं चिदुपपत्तेः ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

उद्देशक्रमानुरोधाच्छरीरानन्तरामिन्द्रियाणां परीक्षां प्रतिजा-
नीते भाष्यकारः । अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेणेति ।
तत्र परीक्षापूर्वरूपं संशयमाह । किमाव्यक्तिकानि आहो
स्विद्भौतिकानितीति । उपलक्षणं चैतत् । यदाऽपि भौतिकानि

तदापि किं कृष्णसारं यदेतदुपलभ्यते तदेवेन्द्रियम् आहो
तदाधिष्ठानं तैजसमित्यपि संशयो द्रष्टव्यः । विप्रतिपत्तेः
संशयः । तत्र पूर्वः सांख्यनैयायिकयोर्विप्रतिपत्तेः । उत्तरस्तु
सौगतनैयायिकयोरिति । आव्यक्तिकत्वमाहङ्कारिकत्वं द्रष्टव्यम् ।
अहङ्काराद्धि बुद्धिविकाराद्वैकारिकादेकादशेन्द्रियाणि जायन्त-
इति हि सांख्याः आव्यक्तिकत्वं त्वव्यक्तस्य मूलकारणत्वा-
दुक्तम् । विप्रतिपत्तिबीजं पृच्छति । कुनः संशय इति विप्र-
तिपत्तिमाह कारणे कार्योपचारात् । उत्तरं कृष्णसारे सत्ती-
ति । कृष्णसारे सत्युपलम्भात् कृष्णमारमेव चक्षुरिति
बौद्धाः । व्यतिरिक्त्य चोपलम्भात् तदतिरिक्तं तच्चाहङ्कारि-
कम् । अहङ्कारस्य विभुत्वेनाप्रतिधातात् । भौतिकत्वे काचा-
भ्रपटलादिभिर्भौतिकैः प्रतिघातप्रसङ्गादिति सांख्याः ॥ ३३ ॥

तत्र सांख्यमुत्थाप्य बौद्धपक्षं दूषयति । अभौतिकानी-
ति । कृष्णसाराधिकग्रहणे विवक्षिते ऽर्थग्रहणं संपातायातं न
तु तदत्र विवक्षितम् असाधकत्वादिति । घाना अङ्कुरः ॥ ३४ ॥

नैयायिकः सांख्यं दूषयति ॥

रश्म्यणम् (सू० ३५) ॥ आहंकारिकत्वे चक्षुर्न प्रति-
हन्यते यदि तत् काचाभ्रपटलान्तरितप्रकाशवत् कुड्यान्तरित-
पि प्रकाशयेत् । न चैवमास्ति, तस्मात्कृष्णसाराधिष्ठानं तेज
एव भौतिकं प्राप्य गृह्णाति कुड्यान्तरितं त्वर्थमप्राप्तं न गृह्णाति ।
काचाभ्रपटलान्तरिते तु वक्ष्यति ।

वार्तिकं किमाव्यक्तिकानि (३७३ । १) तस्य
व्याख्यानमाहंकारिकाणीति । न प्रदीपादिभिरने-
कान्तादिति । वार्तिदेशस्येन पिण्डितेन तेजसा प्रदीपेनानेका-
न्तात् । प्रभा हि विसारिणी तमर्थं प्राप्य प्रकाशयति न तु

प्रदीप इत्यर्थः । विषयीभावादिति चेदिति । उत्पादविशेष
एव स तादृक् चक्षुरर्थक्षणयोर्यतो ऽप्राप्तयोरपि विषयविषयिभा-
वाद्देद्यवेदकत्वं न चायं व्यवहितविप्रकृष्टयोरिति न तयोर्वेद्यवे-
दकभाव इत्यर्थः । निराकरोति नोक्तोत्तरत्वात् । स एवार्थो
विप्रकृष्टो न विषयः सन्निकृष्टश्च विषय इत्येकस्य विषयीभाव-
स्तदभावश्चायुक्तः क्षणभङ्गश्च निषेत्स्यत इति भावः ॥ ३४ ॥

अभौतिकत्वं तु व्यापकत्वादिति । (३७४।२) तद्यथा
विज्ञानाद्यभौतिकं महच्चाणु च गृह्णातीत्यर्थः । एकदेशिमतेन दूष-
णमाह । न भौतिकेषु प्रदीपादिष्विति । ननु बुद्धिर्यदि म-
हदण्योः प्रकाशनं तद् किमिदानीं सर्वस्यैवाप्रकाशनमित्यत आह ।
अवधारितस्यत्वर्थस्येति । न च हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यो
ऽण्व्यो महत्यो वेति भावः । पूर्वपक्ष्याह नेन्द्रिये ऽपि समानत्वा-
दिति । तदेवमेकदेशिनां ऽसाधारणत्वापादने पूर्वपक्षिणः दूषिते
सिद्धान्त्याह । अभूतात्मकं व्यापकं चेति । सांख्यः शङ्कते ।
वृत्तिरिति । इन्द्रियाणां वृत्तयो ज्ञानहेतवः प्रतिषिध्यन्तइत्यर्थः ।
गुणपदनेकग्रहणप्रसङ्गाच्चेति । यद्यपि सांख्यीयराद्धान्ते
दीर्घां शङ्कुलीं भक्षयतो गुणपदनेकज्ञानोत्पत्तिरभिमतता तथाऽ
पि कश्चित् क्रमोऽपि दृश्यते स न स्याद् वृत्तिमतो ऽवस्थाने तद-
भिन्ना वृत्तिरप्यवतिष्ठतइति तन्मात्राधीनोत्पत्तिनां विज्ञानानां
क्रमो न स्यादिति भावः । उभयं नेष्यतइति । (३७६।४)
वृत्तिभ्योऽनन्यत्वं वृत्तिमतो नेष्यते नापि वृत्तीनामनन्यत्वं वृ-
त्तिमत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भूयोऽवयवसन्निकर्षानुग्रह इति । इन्द्रियावयवानामर्था-
वयवैः इन्द्रियावयवानामर्थेन अर्थावयवानामिन्द्रियेण इन्द्रियस्या-
र्थेनेति ॥ ३५ ॥

तदनुपलब्धेरिति । नोपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलभ्यमानं
शक्यमनुमातुं नरविषाणादीनामप्यनुमानप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

परिहारः नानुमीयमानस्येति । सत्यमनुपलब्धिलक्षणप्राप्त-
मनुपलभ्यमानं न शक्यमनुमातुं न तु महत्त्वाद्येवोपलक्षणप्राप्तेरपि
तु रूपविशेषोऽपि । न चासौ विशेष उद्भवसमाख्यातः कृष्ण-
साराधिष्ठानस्य चक्षुषोऽस्तीत्यर्थः ।

आचार्यदेशीयानां मतमाह । अपरेतिविति । (३७६ । १६)
दूषयति । एवं तर्हीदमिति । यत्रोपलब्धिस्तत्रैतदिति सूत्रा-
र्थः । ततो महत्त्वादिषु मध्ये यत्किं चिदेकं वक्तव्यं सूत्रकारेण
यत्रोपलब्धिस्तत्रैतदित्येकस्मादेव सिद्धेरनेकोपादानवैयर्थ्यं तस्मा-
त्सम्भावनायोग्यताभिधानपदं सूत्रम् ॥ ३७ ॥

ननु यथाश्रुतं महत्त्वाद्युपलब्धिकारणमस्ति चाक्षुषस्य रश्मेरि-
ति कस्मादयं नोपलभ्यत इत्यत आह । द्रव्यगुणधर्मेति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अनेकरश्मिसन्निधाने स्पर्शस्योद्भूतौ सत्यां द्रव्यं
दृश्येत रूपोद्भूतौ सत्यां व्यवहितत्वादादौ निपतितेन
चक्षुरन्तरेण द्रव्यस्यानुपलब्ध्या भवितव्यम् । शङ्कते अ-
थानेकेति । (३७९ । ९) नानानयनावयवैरेकोऽसौ नयनाव-
यव्यारभ्यतइत्यर्थः । निराकरोति एवं सतीति । नानानयना-
वयवैरारब्ध एकोऽसौ नयनावयवी समग्रासमग्रचक्षुःपुरुषसा-
धारण इत्युपलब्धिस्तुल्या स्यादित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

न हि यद्यस्याभिभावकं तत्तस्य व्यञ्जकमिति ।
(३८० । १७) रात्रौ यद् लोष्टतेजसोऽभिभावकं दिवा कथं
तदेवास्य व्यञ्जकं येन तदभावाद्वात्रौ लोष्टतेजो नोपलभ्येत
इत्यर्थः । अपिशब्दादुपगम्यत इति । न रात्रावपीति सूत्रगता-
दित्यर्थः ॥ ४३ ॥

सोऽयं चक्षुषो रश्मिः किमभावान्नोपलभ्यते किं वा ऽनुद्-
भूतेरत्राह भाष्यकारः उपपन्नरूपा चेयमनभिध्यक्तितोऽ
नुपलब्धिरिति योजना । अनभिध्यक्तितोऽनुद्भूतेरित्यर्थः ।
अत्र हेतुर्बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेः विषयश्च स्वरू-
पमात्मनोऽन्यच्च । एतदुक्तं भवति यदुपलब्धौ बाह्यप्रकाशमनु-
ग्रहकमपेक्षते तस्यानुद्भूतेरेवानुपलब्धिर्न त्वभिभूतेः यथा हे-
मन्ते विषक्तावयवस्याप्यस्य द्रव्यस्य । आप्यं हि द्रव्यं विष-
क्तावयवं स्वाविषयोपलब्धौ बाह्यप्रकाशानुग्रहमपेक्षमाणं दृष्टं चक्षु-
रपि च विषयोपलब्धौ बाह्यप्रकाशमपेक्षते निगलोके तस्या-
प्रवृत्तेः । तस्माद्विषयोपलब्धौ बाह्यप्रकाशापेक्षत्वात्तदनुद्भूत्या
न प्रतीयते न पुनरभिभूत्येति सिद्धं प्रकृतम् । तदेतद्वार्तिककारो
व्याचष्टे । तस्य विद्यमानस्येति ॥ ४४ ॥

॥ १५ ॥ कस्मात्पुनर्नीयनस्येति । अत्रोत्तरम् ॥
अभि-त् (सू० ४५) ॥ अभिभवनीयस्य रूपमाह ।
यदुद्भूतरूपमिति । (३८१७) तद्वैधर्म्यमनुद्भूतरूपस्याह ।
अनुद्भूतरूपश्चेति । अनुद्भूतरूपस्याभिभवाभावे निदर्शन-
माह । यदनुद्भूतरूपमिति । बाह्यप्रकाशानुग्रहापेक्षस्य चाभि-
भवाभावे निदर्शनमाह । यच्च बाह्यप्रकाशानुग्रहापेक्षमिति ।
कृष्णसारं रश्मिमदित्युच्यमाने प्रसन्नान्धस्यापि कृष्णसारं
रश्मिमतसाध्येत तथा चापसिद्धान्त इत्यत आह । विप्रतिपत्ति-
विषय इति । तेन विप्रतिपत्तिविषयः कृष्णसारं रूपं च
रश्मिमदिति साध्यनिर्देशः । उपलब्धौ निमित्तत्वादित्युच्यमाने
गन्धादिभिरनैकान्तिकं स्यादत उक्तं रूपोपलब्धाविति ।
रूपसाक्षात्कार इत्यर्थः । तथाऽपि सन्निकर्षादिभिरनैकान्तिकमत
उक्तं द्रव्यत्वे सतीति । तथाऽपि मनसाऽनैकान्तिकमत उक्तं

नियतस्य साधनाङ्गस्येति । असाधारणस्य साधनाङ्गत्वे
सतीति । मनसस्तु साधारणस्य साधनाङ्गस्य रूपापलब्धौ नि-
मित्तत्वम् । साधनं समुदायस्तदङ्गमवयवः । अथ चेति । द्रव्यत्वे
सति नियतत्वे चार्थप्रकाशकत्वादित्युच्यमाने घ्राणादिभिरनैका-
न्तिकं स्यादत उक्तं स्फटिकादिब्यवाहितेति ॥ ४५ ॥

मानुषं चक्षुरश्चिममदिति । रूपाद्युपलब्धिनिमित्तत्वा-
दिति साधारणं रूपादीनामेवेति । तेन न मनसाऽनैकान्तः ।
तथाऽपि सन्निकर्षेणानैकान्त इत्यत उक्तमप्राप्तिस्वभावत्व इति ।
इतश्च भौतिकानीन्द्रियाणि चक्षुरसनत्वग्राणानीत्यर्थः । तथाऽपि
श्रोत्रस्य रूपं न ज्ञायते कीदृशं तदित्यत आह । भूतं श्रोत्रम् ।
(३८२।३) अर्थप्रकाशकत्वादित्युच्यमाने मनसाऽनैकान्तिक-
मत आह प्राप्तेति । न हि रूपादिभिः सहास्ति मनसः प्राप्ति-
स्तथाऽपि मनस्येवानैकान्तः आन्तरं हि दुःखादि मनः प्राप्य
प्रकाशयत्यत आह बाह्येति । तथाऽपि सन्निकर्षादृशादिभिरनै-
कान्तोऽत आह । द्रव्यत्वे सतीति । शङ्काभाष्यं : जातिभेद-
वदिन्द्रियभेद इति चेत् । निराकरोति धर्मभेदमात्रं चा-
नुपपन्नम् । वृषदंशनयनस्य रश्मिपत्वं मानुषनयनस्य तु न त-
त्त्वमिति योऽयं धर्मभेदः स एव मात्रं तच्चानुपपन्नम् । चाऽवधा-
रणे भिन्नक्रमः । अनुपपन्नमेवेति योजना । कुतोऽनुपपन्नमित्यत्र
हेतुमाह आवरणस्येति । यथा हि धूमवत्त्वं पर्वते रसवत्यां
चान्यत् तथाऽप्येष विशेषोऽस्याग्निमत्त्वानशित्वे प्रत्यप्रयोजकः ।
एवं विडालत्वमनुष्यत्वे अप्रयोजके इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

सोऽप्रतिहन्यमान इति । स रश्मिरप्रतिहन्यमानः
काचेन काचं व्यतिभिद्यर्थेन सम्बध्यते काचान्तर्गतेन ॥ ४९ ॥
वार्तिकम् । अद्यूह्यमानावयवद्रव्यानुपवेश इति ।

(३८३.१०) यस्य द्रव्यस्य भर्जनकपालादेरवयवा न व्यू-
ह्यन्ते पूर्वोत्पन्नद्रव्यारम्भकसंयोगनाशेन द्रव्यान्तरजनकमंयोगो-
त्पादनं व्यूहनं तत्र क्रियन्ते तस्य द्रव्यस्य भर्जनकपालादेरव्यू-
ह्यमानस्यावयवव्यूहनमवयविनोऽपीति अव्यूह्यमानस्येत्युक्तम् ।
तस्य भर्जनकपालादेरन्तरावयवैर्योऽभिसम्बन्धो बहेः सोऽप्र-
तिघातः । एतदुक्तं भवति सान्तरत्वादवयवविद्रव्याणां तदविना-
शेनाग्नेर्योऽनुप्रवेशः सोऽप्रतिघात इति । प्रवेशेऽप्रतिघातमुक्त्वा
निःसरणेऽप्यविघातमाह । अन्तर्व्यवस्थितस्य वा द्रव्यस्य
मधूदकादेर्बहिरवस्थितहस्तादिप्राप्तिः तस्य कीदृशस्य बहिरित्यत
आह । अव्यूह्यमानावयवस्य शलाकादेस्तस्य बहि-
रिति ॥ ५० ॥ ५१ ॥

द्रव्यान्तरासंपृक्तद्रव्यसमवायः स्वच्छतेत्यर्थः । प्र-
सङ्गात्प्रतिविम्बभ्रमोत्पादक्रममाह । आदर्शादिष्विति । (३८
४ । १०) यदभिमुखमग्रमिति । द्रष्टुः पुरुषस्याभिमुखं
नयनरश्मेः परावृत्तस्याग्रं तदभिमुखं मुखेति पश्यति । सारू-
प्यनिबन्धनत्वाद्विभ्रमाणां सारूप्यमिहाप्याह । यथाऽग्रतो
ऽवस्थितस्य पुरुषस्य मुखं लोचनरोचिरप्राशिसम्बन्धमभिमुख-
मेवमेतदिति । नन्वादृशप्रतिहतश्चेद् नयनरश्मिः परावृत्तः कथं
पश्चादभिमुखविभ्रमहेतुः हन्त भोः पातमात्रादादर्शज्ञानेन भवि-
तव्यं पश्चात्प्रतिविम्बविभ्रमेण, न चैवमस्ति यौगपद्यप्रतिभासादि-
त्यत आह । आदर्शेति । कुतस्तर्हि मणिकृपाणादेर्दृपणतलेषु
नानानिर्भासः प्रतिविम्बावभास इत्यत आह आदर्शरूपानु-
ग्रहादिति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

संप्रति तेषामेवेन्द्रियाणामेकानेकत्वे परीचिक्षिपुः संदिग्धे ।

५९-५६सू० ८ प्र०] इन्द्रियनानात्वपरीक्षाप्रकरणम् । १२७

अथापि खल्वेकमिति । प्रश्नपूर्वकं सूत्रमवतारयति । कुतः
संशयः ॥

स्थाना-यः (सू. ५४) ॥ तत्र केचिदिदं सूत्रं भाष्य-
मतानपेक्षं यथाश्रुति व्याचक्षते । तद्दूषणपुरःसरं भाष्यव्या-
ख्यानं ग्रहीतुं यथाश्रुति व्याख्यानं परेषां सूत्रपाठपूर्वकमुपन्य-
स्यति । एके त्विति । (३८५ । १३) अनुपपन्नरूपश्चा-
यमिति । अत्र हि यथाश्रुति स्थानान्यत्व इति नियतसप्तम्या
नानात्वस्य बीजं स्थानान्यत्वमुक्तं न त्वेकत्वस्येति । एकत्वस्य
तु बीजं नानास्थानत्वं यथाक्तम् । अवयविनानास्थान-
त्वादिति । अवयवीत्येकत्वमुपलक्षयति । स्थानान्यत्वं च
स्थानस्यान्यत्वमुच्यते । नानास्थानत्वं च नानास्थानानि यस्ये-
त्यन्यपदार्थः स्थानान्यत्वादयः न तु धर्मद्वयं साक्षात्संशयका-
रणमित्येकतरस्यैकानेकसाधारण्यं वाच्यम् । तत्र यदि तावदेवं
क्रियते संशयः स्थानान्यत्वे नानात्वैकत्वदर्शनादिति । यदा
सूत्रार्थालोचनेनैकत्वे स्थानान्यत्वस्यादर्शनात् समानधर्मः सूत्रं
खल्वेकत्वे नानास्थानत्वमाह न स्थानान्यत्वम् । अनेकत्वमात्रे
हि तदुक्तं सूत्रकारेण स्थानान्यत्वे नानात्वादिति । अथ नाना-
स्थानत्वे सखेकत्वानेकत्वदर्शनात्संशय इति एतद् दूषयति ।
तदा द्रव्यं नानास्थानमनेकं न किं चिद् दृष्टं सूत्रम् ।
अवयविनानास्थानत्वादिति सूत्रं नानास्थानत्वेनैकत्वमाह न तु
नानात्वमपि यत्पुनर्घटाद्यनेकं न तन्नानास्थानमुक्तं सूत्रकृता ।
अपि तु स्थानान्यत्वं सूत्रकृतोक्तं स्थानान्यत्वे नानात्वादित्यनेन
दूषणमुपसंहरति । सोऽयं संशय उभयथाऽनुपपन्न इन्द्रियेषु
यथाश्रुतसूत्रपरिग्रहेण उभयथा स्थानान्यत्वेन नानास्थानत्वेन
चेत्यर्थः । तदेवं परव्याख्यानं दूषयित्वा भाष्यकारीयस्य व्या-

रूपानस्य युक्तत्वमाह स्थानेषु तु युक्तः । स्थानेष्विति निमित्त-
 त्तसप्तमी नानास्थानत्वनिमित्त इन्द्रियेष्वेकत्वानेकत्वसंशयो यु-
 क्तः नानास्थानं खल्वेकमवयविद्रव्यं दृष्टमनेकं च भिन्नभाजन-
 गतं फलमिति । इन्द्रियविषयं नानास्थानत्वनिमित्तकं संशय-
 माह । किं नानास्थानानांन्द्रियाणि उत नानास्थानमेक-
 मिन्द्रियमिति । तदिदमुक्तं भाष्यकारेण बहूनि द्रव्याणि
 नानास्थानानि दृश्यन्ते नानास्थानश्च सन्नेकोऽवयवी
 च । तेनेन्द्रियेषु भिन्नस्थानेषु संशय इति । सूत्रेऽपि
 स्थानान्यत्वे इत्यनेन नानास्थानत्वमेवोपलक्षणीयमित्यविरोधः ।
 यथाश्रुतस्तु न सूत्रार्थ इत्याह । इन्द्रियेषु तु न स्थानना-
 नात्वात्सम्भवति । न च नानास्थानत्वादिति । (३८६।१)
 किं त्विन्द्रियविषयो नानास्थानत्वादेव संशयो भाष्यकारीयः
 साधीयानित्यर्थः । तदेवं परोक्तं संशयबीजं दूषयित्वा भाष्यका-
 रीयं संशयबीजं दर्शयित्वा वार्त्तिककारः स्वान्वयेण संशयबीज-
 माह । शरीरव्यतिरेकित्वात्सत्त्वाच्च संशय इति ॥५४॥
 पूर्वपक्षं गृह्णाति । नानास्थानत्वग-त् (सू० ५५) ॥ कः पुनरव्यतिरेक इति ।
 घटादिप्राप्तं चक्षुस्त्वचो व्यतिरिच्यतएवेति भावः । उत्तरम् ।
 सर्वाधिष्ठानसम्बन्ध इति । सौत्रस्याव्यतिरेकशब्दस्य व्या-
 रूपानान्तरमाह । सति भावो वेति । तदनेन यस्यां च
 सत्यामिति भाष्यं व्याख्यातम् । चो विकल्पार्थः । सिद्धा-
 न्तभाष्यं नेन्द्रियेति । लांकाविरोध इति । लोच्यते ज्ञायतेऽ-
 नेनेति लोकः प्रमाणं तद्विरोध इत्यर्थः । अनेकेन चानिन्द्रि-
 येणेति । शरीरं पृथिवं भूतान्तरसम्पृक्तं च तदिन्द्रियाधिष्ठा-
 नानि शरीरावयवभूतानि पृथिव्यादिना व्याप्तानीत्यनेकान्तः ।

५५-६३सू० ८ प्र०] इन्द्रियनानात्वपरीक्षाप्रकरणम् । ५२९

न व्याघातादिति । परदोषोद्भावनपरं न पुनस्त्वगवयवत्व-
मिन्द्रियान्तराणामभिमतमिति ॥ ५५ ॥

एवं भाष्यकारीयसिद्धान्तमुबत्वा सौत्रसिद्धान्तमाह ।
सूत्रेण चाभिसम्बन्धः सिद्धान्तस्य ॥ (३८७।८)

न यु-ब्धेः (सू० ५६) ॥ नैतदस्त्येकमिन्द्रियमिति । क-
स्माद् ? युगपदर्थानुपलब्धेरिति । तदेतत्सूत्रं भाष्यदृष्ट्या व्या-
चष्टं वार्तिककारः । यस्यैकमिन्द्रियमिति । तदेतद्व्याख्यानं
दूषयति । नैकेन्द्रियग्राह्याणामिति । भाष्यव्याख्यानं दूष-
यित्वा सूत्रमन्यथा व्याख्यातुं भूमिरचनां करोति । एवं ब्रुवाण
एकेन्द्रियवादीति ॥ (३८८।५) सामि-अर्धम् । एकमपीन्द्रि-
यमर्थं प्राप्य गृह्णाति अग्राप्तं चार्थमेकदेश इति यावत् । करणधर्म-
मतिक्रामन्तं प्रति युगपदुपलब्धिप्रसङ्गो दूषणमित्यर्थः ॥ ५६ ॥

एकत्वप्रतिषेधादेव पारिशेष्यान्नानात्वं सेत्स्यतीत्यत आह
नासाधना क्रियेति । (३८९ । ७) एकत्वं च कथामि-
ति । न शक्यः पक्षो दूषयितुमित्युक्तम् । पृच्छति । कथं तर्ही-
ति । उत्तरम् । प्रतिषेधाच्चानन्तरमिति । यद्यप्यनन्तर-
शब्दप्रयोगे पञ्चमी न स्मर्यते तथा ऽप्यन्यशब्दस्याध्याहारेण
पञ्चमी व्याख्येया । अनन्तरं प्रतिषेधादन्यः स्थापनाहेतुरिति
योजना । अथ वेति । व्यतिरेकी हेतुर्द्वयोर्विरुद्धयोरेकतरनिषे-
धेनैकत(नी)रं व्यवस्थापयति । यथा नैरात्म्यनिषेधेन जीवच्छरी-
रस्य सात्मकत्वमिति ॥ ५७ ॥

इन्द्रि- (सू. ५८) ॥ सूत्रमाक्षिपति । इदं तु सूत्रमिति ।
एष न्यायो मया वाचो भङ्ग्या सूत्रित इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

पूर्वपक्षिणः सूत्रम् ।

न त-त् (सू. ५९) ॥ पूर्वपक्षमाक्षिपति न विरोधादि-

ति । पूर्वपक्षिणः समाधानं नासाधनादिति ॥ ५९ ॥

सिद्धान्तः—

गन्ध-धः (सू. ६०) ॥ ६१ ॥

यस्याधिष्ठानं भिन्नमिति । (३९१।१०) भिन्नं निय-
तम् । एतदुक्तं भवति रूपव्यञ्जकस्य कृष्णसारमेवाधिष्ठानं न
कर्णशङ्कुल्यादि एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । यस्य पुनः सिद्धान्ति-
नो ऽधिष्ठानाभेदस्तथा च तदधिष्ठानस्येन्द्रियस्यापि भेदः त-
स्यैकाधिष्ठानविनाशेन तद्वत्स्येन्द्रियस्य विनाशेऽप्यधिष्ठानान्तरा-
श्रितस्येन्द्रियान्तरस्यावस्थानमिति नैकाधिष्ठाननाशे सर्वाधिष्ठान-
नाशात्सर्वेन्द्रियनाशलक्षणः तथैकाधिष्ठानावस्थाने सर्वेन्द्रियावस्था-
नलक्षणो दोष इति । इष्टानिष्टोपेक्षणीय इति । उपेक्षणीय-
स्यापि पुरुषार्थत्वं भवति केन चित्पकारेण, यदि हि तत्र पुरुषः
प्रवर्तते ततो निष्फले कर्मणि प्रवृत्तः पुरुषस्तप्येत । दुःखं कर्मेत्यनु-
भवो लोकस्य, उपेक्षणीयत्वे तु तन्न तस्य भवति ॥६०॥६१॥६२॥

तत्र पार्थिवं घ्राणं रूपरसगन्धस्पर्शेषु नियमेन गन्धस्य
व्यञ्जकत्वाद् बाह्यपार्थिववदिति । यथा हि मृगमदगन्धव्यञ्जकाः
कुक्कुटोच्चारादयः पार्थिवा इत्यर्थः । न चातपेनानेकान्तः ।
न ह्यातपो गन्धव्यञ्जको ऽपि तु जलाभिभूतो गन्धो द्रव्याणां
नोपलभ्यते केवलं जलमातपो ऽपनयति न तु गन्धं द्रव्यस्या-
भिव्यनक्ति तस्मान्नानेकान्तः । एवं रसनमिन्द्रियमाप्यं गन्धा-
दिषु मध्ये नियमेन रसस्य व्यञ्जकत्वाद् दन्तान्तरस्यन्दमानो-
दकविन्दुवत् । न खलु विशुष्यदास्यो मोदकादिरसमनुभवति ।
एवं तैजसं चक्षुः गन्धादिषु मध्ये नियमेन रूपस्य व्यञ्जकत्वा-
त् प्रदीपादिवत् । एवं वायवीयं त्वगिन्द्रियं गन्धादिषु मध्ये
स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वात् स्वेदोदविन्दुशीतस्पर्शव्यञ्जकव्यजनप-

वनवत् । नियमग्रहणं मनोनिवृत्त्यर्थम् । मध्यइति चावधारणसि-
द्ध्यर्थम् । अन्यथा घ्राणादीनां गन्धत्वादिव्यञ्जकत्वेनावधारणं
न स्यात् । तदेतदाह । एवं शेषेष्विति । (३९२ । १९)
एवं चेन्द्रियपञ्चत्वेन हस्तपायूपस्थवाचामिन्द्रियत्वनिर्णयो ऽपि
सूचित इन्द्रियलक्षणविरहात् । यच्छरीरसंयुक्तं संस्कार(क)दोष-
व्यतिरिक्तं साक्षात्प्रतीतिसाधनं तदिन्द्रियमिति हीन्द्रि-
यलक्षणं, न चैतदस्ति हस्तादिषु । तज् ज्ञानेन्द्रियाणां ल-
क्षणमिमानि कर्मेन्द्रियाणीति चेत् । हन्तैषामिन्द्रियत्वलक्षणान्तरं
वक्तव्यम् । शरीराश्रितमसाधारणकार्यकारीन्द्रियमिति लक्षणमि-
ति चेत् । वक्तव्यमेषामसाधारणं कार्यम् । उक्तं वचनादानवि-
हरणोत्सर्गानन्दाः पञ्चानामिति । नन्वादानविहरणोत्सर्गा-
स्तावद्रूपहस्तादिभिरपि शक्याः कर्तुम् । अपि चास्ति कण्ठहृ-
दयामाशयपक्वाशयादीनां गिरणादितत्तदसाधारणं कार्यमिति
तान्यपीन्द्रियाणि प्रसज्येरन्निति तस्माद्यत्किंचिदेतदपीति ॥६२॥

क्रमप्राप्तमर्थलक्षणं परीचिक्षिपमाणो ऽर्थलक्षणं स्मारयति ।
गन्धादयः पृथिव्यादिगुणा इत्युद्दिष्टमिति । लक्षितमिति
वक्तव्ये संमुग्धाभिधानं सामान्यादुद्दिष्टमित्युक्तम् । तत्र परीक्षा-
मुखं संशयमाह । उद्देशश्च नियोगेति । नियोगादीनां रूपमाह ।
तत्र नियोग इति । तदेवं विमृष्य नियोगसमुच्चयौ परित्यज्य
विकल्पमालम्बते सुत्राभ्यामतो विशेषणार्थमिति । (३९३ । २)

गन्ध—व्याः (सू. ६४) अप्त—रः (५९) ।
विशेषणार्थमिति । सूत्रयोस्तात्पर्यमुक्तं तदेवं स्फुटय-
ति । नियमार्थे इति । उत्तरेष्ववादिष्वेकैकशो ऽपकर्षो
गन्धादीनां स्पर्शपर्यन्तानाम् । तथा हि चतुर्षु गन्धाप-
कर्षोप्स्वपकृष्टस्य गन्धस्य पुनरुद्भवो नास्तीति अद्भ्य

उत्तरे तेजसि रसस्यापकर्षः । एवमपकृष्टयोश्च गन्धरसयोः पुन-
रुद्भवो नास्तीति तेजउत्तरे वायौ रूपापकर्ष इति । एवमपकृष्टानां
गन्धरसरूपाणां पुनरुद्भवो नास्तीति वायोरुत्तरस्मिन्नाकाशे स्पर्श-
स्यापकर्षः । तदिदमुक्त मेकैकश इति । अव्युत्पन्नो ऽयमुत्तरश-
ब्दो ऽनन्तरवचनः तेन बहूनां निर्द्धारणे ऽप्युपपन्नार्थ इति । भव-
तु वा तरन्निर्देशः तथा ऽपि न दोष इत्याह । भवत्विति । क
चित्पाठस्तन्त्रं वेति यथाभाष्यम् स्फुटार्थ एव ॥६४॥६५॥

पूर्वपक्षी नियोगपक्षमुत्थापयति ।

न स-ब्धेः (सू. ६६) ॥ पृथिव्यादिप्रकृतीनां घ्राणा-
दीनां गन्धादिप्रतिव्यक्तिनियम एवमुपपद्यते यदि गन्धमात्रगु-
णा पृथिवी रसमात्रगुणा आप इत्यादि न त्वन्यथा । अन्यथा
तु पार्थिवेन घ्राणेन गन्धवद्रूपस्पर्शा अपि व्यज्येरन् अविशेषा-
दित्यर्थः ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

विष्टं ण (सू० ६८) ॥ संसर्गस्य ह्याश्रयत्वे ऽपि न द्वये स-
मानत्वं यथा ऽग्निधूमयोः संबन्धो न्यथा ऽऽग्नेः स हि व्यापको धूमे
धूमध्वजस्य भाव एव नाभावः । धूमस्तु व्याप्यः तस्य वान्हावेव
भावो नान्यत्रेति । एवमपरं पृथिव्यादि परेणावादिना विष्टं
व्याप्तं नात्रादिमन्तरेणास्ति पृथिवी । तेन पृथिव्यामवादिगु-
णानां रसादीनां नियमेनोपलम्भो न त्ववादिषु पृथिवीगुणाना-
म्, एवमप्स्वनलादिगुणो व्याख्यातः । विष्टत्वं संयोगविशेषो
व्याप्तिरित्यर्थः । भाष्यं तच्चैतदुभूतसृष्टाविति । भूतसृष्टिप्रति-
पादकेषु पुराणेषु । नैतर्हीति । नेदानीमननुभवादित्यर्थः ॥६८॥

सिद्धान्ती विकल्पवाद्येतद् दूषयति ।

नपा-त् (सू. ६९) ॥ त्रिविधं हि द्रव्यं चाक्षुषमिष्यते
पार्थिवमाप्यं तैजसं च । तत्र रूपवत्त्वेन तैजसमेव चाक्षुषं स्याद्

नेतरद् रूपवत्त्वात् । न च रूपिद्रव्यसंसर्गाच्चाक्षुषत्वमरूपयोर-
पि पार्थिवाप्ययोरिति वाच्यम् । नभोनभस्वतोरपि चाक्षुषत्व-
प्रसङ्गात् । अस्ति हि रूपवता तेजसा तयोः संयोग इति । अथ
वा पार्थिवाप्यसंबन्धिनो रसभेदस्य रूपभेदस्य चैकानेकनिधत्वे-
न प्रत्यक्षत्वादित्याह भाष्यकारः । रसयोर्वेत्यादि नोपपद्य-
त इत्यन्तेन । पुनरस्यैव व्याख्यानान्तरमाह । स्पर्शयोरिति ।
पार्थिवाप्ययोरित्यस्योदाहरणमात्रार्थत्वात् पार्थिवतेजसयोरित्य-
पि व्याख्यानमुक्तम् । व्याख्यानान्तरमाह । अथ वेति । कार्यस्य
व्यवस्थितगुणस्य दर्शनात् कारणमपि व्यवस्थितगुणमनुमीय-
ते । न च सर्वत्र संसर्गो येनान्यस्य गुणो ऽन्यत्रोपलभ्यते वि-
वेकस्यासंसर्गस्य दर्शनात् । व्याख्यानान्तरमाह । दृष्टृश्चति ।
चो विकल्पार्थः । नियोगस्तु निरनुमान इत्याह । निरनुमानं
तु विष्टं ह्यपरंपरेणेत्येतदिति । नियमो गन्ध एव पृथिव्या-
मित्येवमादिः । तस्य कारणं प्रमाणं नास्ति तद्वाधकस्यैव प्रमा-
णस्योक्तत्वात् । तस्माद्भूतसृष्टिः कथं चिदुपचारतो व्याख्येये-
ति । विष्टत्वं संयोगः स च द्वयोः समान इति । अन्य-
गुणो यदन्यत्रोपलभ्यते तत्किं संयोगादाहो स्विद्याप्तेः, यदि
व्याप्तेः नायोगोलके वह्निसंपृक्ते वह्निगुणा गृह्येन् । तयोर्व्याप्य-
व्यापकभावाभावात् । धूमे च गगनतलावलम्बिनि भूमिष्ठेन व-
ह्निना व्याप्तेरग्रेर्गुणागृह्येन् तयोर्व्याप्यव्यापकभावात् । तस्मा-
दन्यसंयोगो हेतुः स चोभयोरविशिष्ट इति तेजसा संयुक्तस्य वा-
योरपि रूपवत्त्वेन चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इति ॥ ६९ ॥

पूर्व-नम् (सू. ७०) ॥ प्रधानतापदार्थं व्याचष्टे भाष्यकारः
विषयग्राहकत्वं गन्धादिविषयः । तदेव विषयग्राहकत्वं कुतस्त-
त्राह । गुणोत्कर्षात्तदभिव्यक्तिसामर्थ्यात् । विषयग्राहकत्वं

चेत्प्राधान्यं तत्सर्वेषामेवेन्द्रियाणां विषयग्राहकत्वादित्याशयवान्
 वार्तिककरो भाष्यकारीयं व्याख्यानममुष्यमाणः पृच्छति ।
 का प्रधानता (३९५ । ८) । स्वमतेनोत्तरमाह । चतुर्गुण-
 त्वादिरिति । एतदुक्तं भवति यस्माच्चतुर्गुणत्वेन पार्थिवं घ्राणं
 रसनादिभ्य आद्यादिभ्यः प्रधानं तस्मादस्यागन्धवत्त्वं नास्ति
 येन गन्धं न गृह्णीयात् । न न्वेवं रसवत्त्वादिकमप्यस्ति
 घ्राणस्येति रसादिकमपि गृह्णीयादत उक्तं गुणोत्कर्षादिति ।
 सर्वेषां समवायाविशेषे ऽपि गन्धस्यैव घ्राणोत्कर्ष इति गन्धमेव
 गृह्णाति तेनागन्धवत्त्वनिषेधपरं प्रधान्याभिधानं न पुनर्गन्धग्रहणे
 गन्धवत्त्वं प्रयोजकमपि तु गन्धस्योत्कर्ष इति सिद्धम् । तत्रो-
 त्कर्षपदार्थं पृच्छति वार्तिकारः को गुणोत्कर्षः । उत्तरं स्व-
 गुणाभिव्यक्तिसामर्थ्यं स्वो गुणो घ्राणस्य गन्धः तज्जाती-
 यश्चन्दनादिसमवेतो ऽपि गन्धः स्व इत्युच्यते । न पुनः
 स्वगुणमेवाभिव्यनक्ति घ्राणं घ्राणसमवेतस्य हि गन्धस्यादृष्टव-
 शात्तादृशो निर्माणभेदो येन सजातीयं चन्दनादिसमवेतं गन्धमभि-
 व्यनक्ति यथा मृगमदादिगन्धं पार्थिवद्रव्यान्तरसमवेतो गन्ध इति ।
 अत एवाह येन गुणेन यद् द्रव्यमुत्कृष्यते स तज्जाती-
 याभिव्यञ्जकत्वादुत्कृष्टो भवति । तस्मिन् द्रव्यइति शेषः ।
 यः पुनर्गन्धगुणत्वादिति । गन्धमात्रगुणत्वादेव घ्राणं गन्धस्य
 व्यञ्जकं न तु गन्धस्योत्कर्षादित्यर्थः । तस्य वादिनःसर्वेषामेव पा-
 र्थिवानां गुणानामुपलब्धिप्रसङ्गः घ्राणग्राह्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥७०॥

ननु भवतो ऽपि कुतो व्यवस्थितिरिति सूत्रमवतारयितुं पृ-
 च्छति । कस्मात्पुनरिति ।

तद्व-त् (सू. ७१) ॥ अर्थनिर्वृत्तीति । अर्थः पुरुषा-
 र्थः । प्रविभक्तस्येति । इतरेभ्यो विशिष्टस्य । संस्कारका-

रित इति । अदृष्टकारित इति । ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

शङ्कते । यदि पुनरिन्द्रियस्य गन्ध इति (३९६ । ६)
निराकरोति । तेनैव तस्येति । तदेतद्ग्रहणकवाक्यं सोप-
स्कारं व्याचष्टे । यदीन्द्रियं स्वगन्धं गृहीयात्ते तत्र दर्शने
नासाविन्द्रियगन्धः, अथेन्द्रियगन्धस्ततो नेन्द्रियग्रा-
ह्यः स्यात् । कस्मान्नेन्द्रियग्राह्य इन्द्रियगन्ध इत्यत आह । ग-
न्धं च गृह्णदिति । चो हेत्वर्थे । न चात्मसाधनं करणमस्ती-
ति मनस्तु लिङ्गवदात्मनि करणं न केवलमित्युक्तम् । तुल्यत्व-
मापादयितुं सिद्धान्ती पूर्वपक्षिणमनुयुक्ते कस्मात्पुनरिदं न
चोच्यत इति । पूर्वपक्ष्याह न चोच्यत इति । सिद्धान्तवाद्याह
तुल्यं घ्राणेन स्वस्य गन्धस्याग्रहणमिति । तुल्यतामे-
वापादयति एतदप्यदेशनीयमिति ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

तद्गुणत्वमेव (३९७ । ११) शब्दगुणत्वमेव दिक्काल-
योरिति चेद् नास्मिन् विवादः दिक्कालयोर्हि शब्दगुणत्वे सख-
साधारणयोगित्वेन न परापरव्यतिकरकारणत्वं पृथिव्यादिव-
द्भाविमुमर्हतीति । तथा च शब्दगुणं परापरप्रत्ययकारणं चा-
काशमेवेति नास्मिन् विवादः । दिक्कालौ तु परापरव्यतिकरका-
रणे कल्पनीयौ तेन व्यतिरिक्तावित्यर्थः । अपि चाकाशमिच्छ-
त आकाशप्रत्यारूपानं च सामर्थ्यानुपलब्धेरिति ।
रूपादिसाक्षात्कारे हि इन्द्रियाणामिन्द्रियत्वमेव स्वरूपसाधर्थ्यं त-
च्चक्षुरादिद्रव्यस्य दृष्टं न गुणादीनामित्यर्थः ॥ ७५ ॥

इति मिश्रश्रीवाचस्यतिविरचितायां न्यायवा-

र्तिकातात्पर्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथम-

माहिकं समाप्तम् ॥



*परीक्षितानीन्द्रियाण्यर्थाश्च बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः । क्रमः स्थानं । वृत्तवर्त्तिष्यमाणानुकीर्त्तनं हेतुहेतुमद्भावाज्ञापनार्थम् । अर्थेन्द्रियपरीक्षा च बुद्धिपरीक्षणं (च) यथोपयुज्यते तथा बुद्धिपरीक्षायामेव स्फुटीभविष्यति । संशयमाक्षिपति । अनुपपन्नरूप इति । (३९८ । १२) यद्युपलभ्यमानज्ञानविषयः संशयः सोऽनुपपन्नः सांख्यानामपि तदन्वित्यत्वस्याभ्युपगमात् । अथ सांख्याभिमतमहत्तत्त्वविषयः तस्य सत्त्वैव विप्रतिपत्तिरिति कुतस्तद्वतधर्मविचारः सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते न सन्दिग्धसत्त्वाइति भावः । समाधत्ते दृष्टिप्रवादेति । सांख्यानां हि दर्शने प्रवादो महदन्तः करणं बुद्धिरिति तदुपालम्भार्थं दूषणार्थं प्रकरणमिति । अयमभिप्रायः नेह नित्यानित्यविचारोऽपि त्वनया द्वारा वृत्तेरतिरिक्ता सांख्याभिमता बुद्धिर्निराक्रियते सामान्यतो बुद्धिमात्रस्य नित्यानित्यत्वाविचारेण । यदि हि नित्या बुद्धिः स्यात्ततो वृत्तिभ्य उदयव्ययवतीभ्योऽतिरिक्तं महत्तत्त्वमन्तःकरणं स्यात् । अथ तु नित्यत्वसाधनानि प्रतिसन्धानादीनि न बुद्धिनित्यत्वस्येशते ततो वृत्त्य एव बुद्धयो न तु तदतिरिक्तं बुद्धितत्त्वं सिध्यतीति सिध्यति बुद्धिरूपलब्धिज्ञानमित्यनर्थान्तरमिति बुद्धेर्लक्षणं तथा चास्य लक्षणे सङ्गतिः इतरथा तु प्रधानतो नित्यानित्यत्वविचारो न लक्षणेन सङ्गच्छतइति ॥ १ ॥

साधनं च प्रचक्षते । विषयप्रत्यभिज्ञानादिति । (३९९ । ३) वृत्तिमान् किल विषयं प्रत्यभिजानन्नात्मानमपि प्रत्यभिजानाति । न च चेतनो वृत्तिमान् तस्य कूटस्थनित्यत्वात् । अन्यथा पूर्वापरावस्थाभेदवान् न कूटस्थनित्यः स्यात् । परिणामिनित्या तु बुद्धिरुदयव्ययवदनेकवृत्तिमती युज्यतइति भावः ॥ २ ॥

सिद्धान्त्याह साध्यममत्वादहेतुरिति । वृत्तयो हि वृ-
 त्तिमतो भिन्नास्तेन तासां नित्यत्वे ऽपि न वृत्तिमान् कौटस्थ्या-
 च् च्यवते । तथा च प्रत्यभिज्ञाता ऽऽत्मैव प्रत्यभिज्ञानाभिन्न्यः
 स्यान् त्वन्तःकरणं बुद्धिसंज्ञकं, न हि तत्प्रत्यभिज्ञाने प्रकाशत
 इत्यर्थः । क्रियानाधारत्वाच्च करणस्येति । प्रधानक्रियाऽ-
 नाधारः करणं प्रधानक्रिया चेयमुपलब्धिः स्वतो यदाधारा
 प्रतीयते स कर्त्ता न करणं, तथा च प्रत्यभिज्ञानाद्युपलब्ध्या
 तदाधारः कर्त्ता ऽऽत्मा सिध्यति नित्यो न तु करणमित्यर्थः । क्रि-
 यापात्राभिधानेन शङ्कने । स्वक्रियेति । प्रधानक्रियामालम्ब्य नि-
 राकरोति । सत्यं भवतीति । ननु यदि भेदविवक्षया कर्त्तादि-
 शब्दप्रवृत्तिरभेदविवक्षया च कारकशब्दप्रवृत्तिः कथं तर्हि कर्त्ता
 कारकं करणं कारकमित्यादिसामानाधिकरण्यं भेदाभेदविवक्ष-
 योर्विरुद्धार्थत्वादित्यत आह । कारकशब्देनापीति (४४०।४)
 नाभेदविवक्षा विशेषाणां किं तु सामान्यविवक्षा भिद्यतइति
 भेदो न भेदो ऽभेद इति सामान्यस्याभिधानात् । तथा च सा-
 मान्यविवक्षया प्रवृत्तः शब्दस्तद्भेदाभिधानाद्भेदवाचिना सामा-
 नाधिकरण्यं प्रतिपद्यमान इतरेतरव्यावृत्ते विशेषे ऽपादानादौ
 प्रवर्तते अन्यस्य कारकविशेषस्य कारकशब्देन सामानाधिक-
 रण्यासंभवात् । पूर्ववदिति । द्वितीयाध्यायोक्तं कारकविशे-
 षस्य लक्षणं स्मारयति । चोदयति यद्यन्यकारकेति । कार-
 काणामुपादानेन खलु प्रवर्तितः कर्त्ता कारकाण्युपादत्ते । तस्मा-
 दितराप्रयोज्यत्वमस्यासिद्धमित्यर्थः । परिहरति । न प्रयुज्यते
 फलस्य प्रयोजकत्वादिति । नाप्रयुज्यमानं कर्त्तारं ब्रूमो ऽपि
 तु कारकाप्रयोज्यं, न च फलं कारकमित्यर्थः ।

उपेत्य प्रत्यभिज्ञानमन्तः करणे तस्येति । प्रत्यक्षं

चेत्प्रत्यभिज्ञानं नैकत्वे किं त्वनुमानं ततो यद्यत्प्रत्यभिज्ञायते
तत्तदेकमिति न निदर्शनमस्ति, न हि तस्यैकत्वमन्यतो निश्चि-
तमतः प्रत्यभिज्ञानात् । नाप्यनेकत्वं दृष्टं तथा चासाधारणतया
हेत्वाभास इत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञानस्वरूपावधारणे च सति विरुद्धो
हेत्वाभासो बुद्ध्यनित्यत्वसाधनादिति । शेषं निगदेनैव व्याख्या-
तम् । चेतनाध्यवसायाभेदो बुद्धिलक्षणे ऽस्माभिर्विचारितः ॥३॥

वृत्तिमतो ऽवस्थानादवृत्त्यवस्थानप्रसङ्ग इति सूत्रार्थः ।
॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

आक्षेपुर्वचनं समाप्येवं कस्मान्नेति (४०३ । १५)
समाधातुर्वचनं न कारणभेदे दृष्टत्वादिति । कारणभेदे
हि सति एकस्य कर्तुर्युगपदनेकं कार्यं दृष्टम् । साङ्ख्यानं
चान्तःकरणं कर्तुं व्यापकं चेति सर्वव्यापकेनान्तःकरणेनाधिष्णि-
तानीन्द्रियाणि युगपदेव कार्याणि कुर्युः । अस्माकं त्वन्तःकर-
णस्य करणत्वादेकेन्द्रियग्राह्ये ऽपि न युगपत्कार्योत्पाद इति
विशेषः ।

गत्यभावाच्च प्रतिषिद्धं विभुनो ऽन्तःकरणस्यायु-
गपद्ग्रहणं न लिङ्गान्तरेणानुमीयतइति भाष्यस्य गत्य-
भावाच्च विभुनोऽन्तःकरणस्येति प्रतीकमनूय तस्यार्थमाह
प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावादिति । न चाऽयुगपत्प्रत्ययो-
त्पत्तौ प्रमाणमस्ति येन प्रमाणेन प्रतिषिद्धमपि प्रत्ययायैवपद्यं
प्रतिपद्येत । तस्माद्विभुन्यन्तःकरणे ऽवश्यंभावि प्रत्ययवैग-
पद्यं न चेत्तद्दृष्टं तस्मादन्तःकरणमणिक्यर्थः । ननु दीर्घां शङ्कुलीं
भक्षयतः पञ्चानामपि ज्ञानानां युगपदुत्पादो दृष्ट इति को ऽयं
प्रसङ्गः अन्तःकरणस्य विभुत्वे युगपदुत्पादः प्रसज्येतेत्यत
आह । न च युगपत्प्रत्ययोत्पत्ताविति । अतिशीघ्रतया

युगपदुत्पादाभिमानो न तु तत्र यौगपद्यं भाविकमित्यर्थः ।

पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति स्वमतसमाधानपरं भाष्यं व्याचष्टे यस्य पुनर्वृत्तिर्वृत्तिमतोरिति । (४०४।१२) यदापि सांख्या आचख्युर्विषयान्तरव्यासक्ते ऽन्तःकरणे चक्षुरादिसं-
बन्धस्याप्यज्ञानादन्तःकरणवृत्तिर्ज्ञानमिति तन्निराकरणपरं भा-
ष्यम्—एतेन विषयान्तरव्यासङ्ग इति । तदनुभाष्य वार्ति-
ककारो व्याचष्टे । एतेनेति । तच्चेति । नेत्यस्योपजीव्यमाह
पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति । हेतुना विषयान्तरव्या-
सङ्गो ऽन्तःकरणस्य प्रत्युक्तः । व्यासक्तो हि स भवति यो
जानीते । न चान्तःकरणं जानीते किं तु पुरुष इति तस्येद-
शव्यासङ्गो नान्तःकरणस्य, अन्यादृशस्त्वन्तःकरणस्य व्यासङ्गो
न निषिध्यतइत्यर्थः ॥ ८ ॥

चोद्यभाष्यम् एकमन्तःकरणं नानावृत्तय इति तद्व्या-
चष्टे । एकमन्तःकरणं नानावृत्तय इति । नैतदिति ।
सम्यगाचष्टे जानीते संचक्षणकः सांख्यः । सङ्ख्या हि समीचीना
बुद्धिस्तया वर्त्ततइति सांख्यः । एतदुक्तं भवति—यद्यपि वृत्तयो
नाना प्रतिभान्ति तथा ऽपि भ्रान्तिरियमन्तःकरणादेकस्माद्-
भिन्नानां नानात्वानुपपत्तेः । तस्मात्स्फटिकस्य यथैकस्यापि ता-
पिच्छजपाकर्णिकारादिकुसुमोपधानभेदाद्भेद औपाधिक एवम-
न्तःकरणमणेरपि स्वच्छस्येन्द्रियप्रणादिकया तत्तदर्थोपरक्तस्यौ-
पाधिकं नानात्वं वृत्तिरिति च प्रत्यय इति ज्ञानमिति चारूपायत-
इत्यर्थः ।

तदेतद् दूषयति । नानेकान्तादिति । (४०५।४)
यो ऽपि वृत्तीनामौपाधिकभेदमाह तेनाप्युपाधयो ऽर्था आज्ञा-
नतो भिन्ना वक्तव्याः । तथा च भेदस्य द्विधा दर्शनादनेकान्तो

दृष्टान्तो नैकार्थस्य साधकः । न हेत्वभावादिति भाष्यं व्याचष्टे
यथाश्रुतिसूत्रइति । न केवलं साधनाभावो बाधकं चात्रा-
स्तीत्याह विकल्पानुपपत्तेश्चेति । न परपक्षस्य प्रतिषेधमा-
त्रेण स्वपक्षसिद्धिरस्तीत्याशयवान् पृच्छति । अथ भवता-
मिति । उत्तरं ज्ञानानां क्रमेणेति । स्यादेतत् प्रत्ययनानात्वा-
भिमानो भविष्यति हेतुरेकत्वे वृत्तीनाम् , एकत्वं वृत्तीनां ना-
नात्वाभिमानविषयत्वात् स्फटिकवदिति तस्मान्न हेत्वभाव
इति अत आह । एकानेकविषयत्वाच्च प्रत्ययनानात्वाभि-
मानस्य एकानेकविषयाधिगतिः कथमिति । नानात्वाभि-
मानो ऽपि दृष्टान्तवदसाधकः नैकान्तिकत्वात् । तदेवमन्तरा
परकीयमाशङ्क्य निराकृत्य पुनरपि वृत्तिभेदं साधयति । य-
श्चायमभिन्न इति । यद्यर्थोपधानभेदात्प्रययेषु भेदो नाजानत
स्तत एकस्मिन्नर्थे न प्रत्ययभेदः प्रत्ययोपधानभेदाभावादित्यर्थः ।
कश्चिद्देशयति । स्फटिकइति । परिहरति नैरन्तर्यदर्शनादि-
ति । (४०६।१) नीलीद्रव्यलेपस्यापि सान्तरत्वं नीलः स्फटिक
इति साक्षात्कासानुमेयमिति भावः । इतो ऽपि प्रत्ययभेद इत्याह ।
यस्य च प्रत्ययाभेद इति । प्रमाणस्य भेदः प्रत्ययलक्षण-
कार्यभेदोन्नेयो नासति प्रत्ययभेदे भवितुर्महति । शङ्कते विषय
भेदादिति । एतदुक्तं भवति । प्रातिस्विको ऽपि भेदो विषया-
णां यदि प्रमाणभेदहेतुः हन्तैतस्यानन्त्येन प्रमाणानामनन्तो भेदः
स्याद् न तु त्रित्वं तस्मादवान्तरसामान्यं विषयाणामास्थेयं न
च तदपि स्वरूपमात्रनिष्ठं विषयाणां संभवति एकस्मिन्नपि प्र-
माणानां संप्लवात् । तस्मात्प्रत्ययभेदोपहितसामान्या विषया-
स्त्रित्वे व्यवतिष्ठमानाः प्रमाणमपि त्रित्वे व्यवस्थापयन्ति । साम-
ग्रीयान्व्यव्यतिरेकानुविधायिनश्च प्रत्ययास्त्रयो भवन्ति ।

तथा च त्रिविषयत्वात्प्रमाणानि त्रीणि, तदिदमुक्तं विषयभे-
दादिति । निराकरोति । तन्नेति । प्रमाणाभेदे सामग्रीत्रया-
भेदे तदनुविधायिनां प्रत्ययानामभेदात् । न हि प्रत्ययभेदमन्तरे-
ण सामग्रीभेदः शक्यो विज्ञातुं, तस्मात्प्रत्ययसामग्र्यभेदेऽपि वि-
षयभेदानधिगतेर्न विषयभेदस्त्रित्वाधिगमो वा प्रत्ययभेदमन्तरेणो-
ति । शङ्कते विषयतादात्म्यादिति चेत् । प्रत्ययप्रत्येतव्ययो-
रभेदादुपपन्नः प्रत्ययभेद इत्यर्थः । निराकरोति । तन्नेति । अपि
च प्रत्ययाभेदे प्रकारवत्त्वाभावाद् यथाऽध्यवस्यति बुद्धिस्तथा
चेतयते पुरुष इति व्याघातः । कुतोऽप्रकारवत्त्वाद् भिन्नो
हि प्रकारवान् भवति नाभिन्न इत्यर्थः । अन्तःकरणस्य बुद्धेः
प्रत्ययानामभेदे बुद्धिस्तं प्रत्ययमुपलभते इति विरोध इति ॥ ९ ॥

तदेवं स्वमतेन सांख्यपक्षं दूषयित्वा बौद्धैर्यत्सांख्यराद्धान्ते
दूषणमुक्तं तद् दूषयितुं बौद्धमतमुपन्यस्यति । स्फटिकान्यत्त्वा-
भिमानइतिदिममृष्यमाणः क्षणिकवाद्याहेति ।

स्फटि-तुः (सू० १०) ॥ यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा
शरीरं तथा च स्फटिक इति जरन्तो बौद्धाः । शरीरस्य च
च कालपरिपाकवशेन स्थौल्यस्य ह्रासस्य च दर्शनात् प्रतिक्षणं
सूक्ष्मः परिणतिभेदोऽनुमीयते स चान्तरा विनाश एवेति ।
यस्यापि स्फटिकादेस्तादृशं स्थौल्यं ह्रासो वा न दृश्यते तस्यापि
सत्त्वेन शरीरवदेव प्रतिक्षणं विनाशोत्पादावनुमीयेते इति ।
स्यादेतद् यदैवोपचयापचयौ शरीरस्य दृश्येते तदैवोत्पादवि-
नाशौ भविष्यतः पूर्वं तु तत्प्रबन्धकल्पनायां किं प्रमाणमित्यत
आह । यस्य खलु प्रनिक्षणमिति । (४०७।९) अस्य प्र-
योगः प्रतिक्षणमन्यच्चान्यच्चचेति । पटस्य कुङ्कुमादिद्रव्य-
संयोगे सत्यन्तेऽरुणिमलक्षणो विशेषो दृश्यते न चास्यारुणिमा

प्रतिक्षणभावीयत उक्तं बाह्यप्रत्ययाभेदेऽस्तीति । अभिन्नो हि शरीरोपचयहेतुः प्रतिदिनमुपयुज्यमानो ऽन्नपानप्रचयोयथा पाकजोत्पत्तावौष्ण्यापेक्षो वह्निसंयोगो बाह्यः प्रत्ययः कारणं, पटे तु रागोत्पत्तौ कुङ्कुमद्रव्यसंयोगः सांप्रतिको विशिष्ट इत्यर्थः ॥ १० ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।

निय-ज्ञा (सू० ११) ॥ तदेतद्व्याचष्टे । तदिदमुपचयापचयेति । न हि धूमदर्शनानुमितो वह्निः क्वचित्प्रवर्तत इत्यदृश्यमानेऽपि धूमे पर्वतत्वमात्रेण पर्वतान्तरेऽपि वह्निमनुमिन्वतेऽनुमातार इत्यर्थः । शङ्कते यन्नोपलब्धिरिति । क्षणिकत्वं पूर्वापरभागविकलकालकलामात्रावस्थायित्वम् । न च तादृशं क्षणिकत्वं नैयायिकानां क्वचिदपि समतमिति न सिद्धसाधनमित्यर्थः । निराकरोति । सत्यमिति । कस्मात्पुनरस्मदभिमतैव क्षणिकता न सिध्यत्युपचयापचयप्रबन्धदर्शनादित्यत आह । उपचयापचयप्रबन्धदर्शनं चान्यथा भवदिति । चो हेत्वर्थः । शङ्कते तुल्यमिति । (४०८।५) निराकरोति नासाधनादिति । एकान्तनिश्चयं विना न साधनं, दूषणं तु सन्देहापादनेनापीति, सोऽयं साधनदूषणयोर्विशेष इत्यर्थः ॥ ११ ॥

उत्तरसूत्रमवतारयति । अथावश्यं साधनं वक्तव्यमिति ।

नोत्प-ब्धेः (सू० १२) ॥ उत्पत्तिविनाशकारणं ज्ञापकमवयवोपचयापचयौ न क्षणिकपक्षे युज्येते । निरन्वयोत्पादविनाशयोरुपचयापचयप्रत्ययाभाववादिति । उपचयापचयात्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेरिति । उपचयापचयौ च तावत्पत्तिविनाशकारणे चेति कर्मधारयः । उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेरित्यस्य व्याख्यानान्तरमाह । अथवा कारणमिति । (४०९।१) समवायिकारणं हि कार्यात्पूर्वं च कार्यकाले चेति

लोकसिद्धं तच्चैतत्क्षणिकत्वेऽनुपपन्नमित्यर्थः । एककालानुभा-
विनी अनुभवः प्राप्तिः एककालप्राप्ते इत्यर्थः । भिन्नलोकम-
र्यादः शङ्कते आधाराधेयभावस्येति । निराकरोति । नानेका-
न्तात् । भवतामपि राद्धान्ते रूपं सप्रतिधं कार्यमाधारवच्च ।
यदि तु रूपमप्यनाधारं मनुषे ततस्ते स्वसिद्धान्तव्याकोप इत्या-
ह । स्पर्शस्तदाश्रय इति च व्याघात इति । सर्वं तदेक-
कालानुभावि सिद्धं भवतीति । शङ्कते सिद्धः कार्यकारण-
भावः क्षणिकेष्वपीति । कार्यस्यानाधारत्वप्रसङ्गेन, न हि
क्षणिकत्वे कार्यकारणभावो न सिध्यति । स तु सिद्धः क्षणि-
कत्वपक्षेऽपीति कारणविनाशसमकालत्वेन कार्योत्पादस्य कार्य-
कारणयोः समानकालत्वादित्यर्थः । निराकरोति । न हेत्व-
र्थापरिज्ञानादिति । एतावता प्रयासेन त्वया कार्यकारणभावः
क्षणिकानां समर्थ्यते न चायमक्षणिकत्वे हेतुरपि त्वाधाराधे-
यभावः स चाशक्यसाधनः को नु खल्वयं कारणविनाशः कार-
णभावो वा विनाशकारणसान्निध्यं वा । पूर्वस्मिन्पक्षे कार्य-
कारणयोः कुतः समानकालता । उत्तरस्मिन्नप्युत्पन्नस्य पश्चाद्वि-
नाशकारणसान्निध्येऽपि कुतः सतः क्षणिकता । न चोत्पद्यमान-
ताविनश्यत्तयोस्तुल्यकालत्वमनुभवविरोधात् । कार्यस्य च तदै-
वोत्पद्यमानत्वे कार्यकारणभावाभावः सव्यदक्षिणशृङ्गवदिति
भावः । अपि च दृष्टान्तोऽपि साध्यविकल इत्याह । तुला-
धारस्येति । (४१०।१) ये अवयवकर्मणी लासोल्लासौ न
तयोः कार्यकारणभावः । यत्त्वयवविकर्म न तत्र यौगपद्यं नापि
कार्यकारणभाव एकत्वादित्यर्थः । गुरुत्वप्रयत्नसंयोगा
उन्नतरिति । विधारकः प्रयत्नस्तुलाधारस्य तदपेक्षः संयोगः
सयुक्तसंयोगो गुरुत्वं च तत्संयुक्तावयवान्तरवर्तिकारणमुन्नते-

स्तुलावयवस्य अवनतेरपि द्रव्यं गुरुत्ववत्सुवर्णादि परिणीय-
माणं तत्संयोगानुगृहीतो रज्जुतुलासंयोगः कारणम् ॥१२॥१३॥
चोदयति न नास्ति शीतोष्णस्पर्शभेदस्येति । (४११।५)
परिहरति स तु निमित्तान्तरादिति । पुनश्चोदयति । असेजो-
वगवानुप्रवेशो न युक्त इति । स्वगता महाभूतविशेषास्त-
दवयवाः पृथिव्यादयः ते हि परस्परतो विशिष्यन्तइति विशेषाः ।
परिहरति । न युक्तमिति । यदि प्रतिक्षणमन्यत्वमात्रेण वि-
शेषस्ततः काष्ठक्षणानामपि भूम्यश्मलोहवद्विशेषोपलम्भः स्यात् ।
यथा हि काष्ठक्षणादकस्माल्लोहक्षणा भिद्यन्ते एवं काष्ठक्षणा-
न्तराण्यपीति । तस्मात्पार्थिवत्वेऽपि स्वता विशेषावास्थेयौ यतो
भूम्यश्मादिभ्यो व्यावर्त्तन्ते न व्यावर्त्तन्ते च काष्ठक्षणान्तरेभ्यः
काष्ठक्षणाः तस्मादेव विशेषादक्षणिकत्वेऽपि काष्ठभूम्यश्मलोह-
नामुपपन्नउत्तरोत्तरो विशेष इति वृथा क्षणिकत्वकल्पनेति ।
असाधनं भूतस्वभावः । क्षणिकत्वसिद्धावित्यर्थः । दूषणा-
न्तरमाह । विरुद्धश्चायं हेतुः । उत्तरोत्तरविशेषदर्शनादिति ।
भवतां किल भूतानामन्योन्यव्यावर्त्तकं लक्षणं खरस्नेहौष्ण्येरणा-
त्मकानि भूतानीति । खरा पृथिवी स्नेह उदकम् उष्णं तेजः
ईरणं समीरणो गतिमानिति यावत् । तथोत्पादे तु काष्ठभूम्यश्म-
लोहानामङ्गीक्रियमाणे एकमेव खरोष्णे खरोष्णेरणात्मकं स्यादि-
ति संकीर्णत्वाद्भूतलक्षणव्याघात इति । कठिनमिति खरां पृथि-
वीमुपलक्षयति । अस्मत्पक्षे तु न व्याघात इत्याह यस्य पुनरि-
ति । न केवलं पृथिव्यादिलक्षणेन विरुध्यते अपि तु शीतोष्ण-
स्पर्शभेदेन नानात्वस्य साधनेन पूर्वोक्तेनापीत्याह । विरुद्धश्चा-
यमिति । (४१३।१) पृच्छति कथम् । उत्तरम् । एकस्य
विशेषाभ्युपगमात् । येनैव विशेषेण पूर्वस्मान्नानात्वमभ्यु-

पगतं शीतोष्णादिना भेदेन, तेनैव सम्प्रत्येकत्वादित्यर्थः । सि-
द्धान्तमभ्युपेत्येति । पूर्वेण हेतुना योऽभ्युपगतोऽर्थः तद्विरो-
धितया विरुद्धइत्यर्थः । शङ्कते अथ मन्यसे न विशेषमात्र-
मिति । मा भूद्रूपं सप्रतिघमुपादानमिति रूपस्यैकस्य नानात्व-
मिति भावः । निराकरोति नाभिप्रायेति । यस्त्ववषवानुप्रवेशे
देशयेदुष्णजले वह्निस्पर्शवद्रूपग्रहो ऽपि स्यादयोमोलकइवेति तं
प्रत्येकदेशिमतेन परिहारमाह । जले ऽग्निरूपग्रहणप्रसङ्ग-
स्त्विति । तद्दूषयति । तन्नेति । युक्तं मध्यन्दिने सवितृप्रका-
शेनोलवणेन मन्द उल्काप्रकाशो ऽभिभूयते सजातीयत्वे सत्यु-
ल्वणत्वात् । तोयरूपं तु नोलवणं न च सजातीयमभास्वरत्वात् ।
तेजस्तु भास्वरं तस्मान्नाभिभव इत्यर्थः । परमार्थपरिहारमाह ।
अपि तु तेजसश्चातुर्विध्यात् । किंचिदुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो भ-
वति, यथा सवितृ प्रकाशः शरदि दिवा, किञ्चिदनुद्भूतरूपस्पर्शं
यथा चाक्षुषं तेजः किंचिदुद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं च यथा प्रदीपप्र-
भायां तेजः किंचिदनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा तोयगतं तेजः यथा
वा निशीथे निदाघसमये तेजो यतो मेदस्विनः स्विद्यन्तीति ।

प्रतिज्ञार्थं यथासम्भवं विकल्प्य दूषयति । या चेयं प्रति-
ज्ञेति । अथ वर्तमानं स्फटिकमभ्युपगम्य यदतीतं स्फटिकान्तरं
तत्पक्षीकृत्य वर्तमानात्तदन्यदिति साध्यते । निराकरोति । एवं
सतीति । (४१३ । ५) यदि लिङ्गं स्वसत्ताज्ञानाभ्यां गमकं
तदा सत्यपि ज्ञाने अतीतधर्मस्य सत्ता नास्तीति न गमकमिति
भावः । यदि पुनः स्वज्ञानमात्रेण गमकं लिङ्गमुच्येत तदा दूष-
णान्तरमाह । वर्तमानाच्चेति । तद्विरोध्याश्रयविनाशा-
नुविधानेन विनश्यतीति । विरोधीति गुणाभिप्रायम् । गु-
णो हि विरोधिना गुणान्तरेण नाश्यते । आश्रयनाशेचेति स-

वसाधारणम् । आश्रयग्रहणं चोपलक्षणं तेनासमवायिकारणनि-
मित्तकारणविनाशेनापि यथासम्भवमुन्नेतव्यमिति । शङ्कते वि-
नश्यदवस्थेति । मा भूत्प्रदीपो दृष्टान्तो विनश्यदवस्थे तु द्र-
व्ये कर्मोत्पन्नमुत्पत्त्यनन्तरमेवापवृज्यते अत ईदृशं कर्म दृष्टान्तो
भविष्यतीत्यर्थः । निराकरोति न कर्मण इति । कर्मापलाप-
निबन्धनो ह्ययं क्षणिकवादस्तदभ्युपगमे न भवितुमर्हति । स्थि-
राद् द्रव्यादागन्तुकर्मसहितादेव कार्योत्पादोपपत्तेरिति । नि-
राकरणान्तरमाह अनभ्युपगमाच्चेति । तादृशस्यापि कर्मणः
क्षणिकत्वस्यास्माभिः, तथा हि द्रव्यस्य विनश्यत्ता कर्मोत्पाद इ-
त्येकः कालः । अयं द्रव्यस्य विनाशः न च कारणोत्पादसमये
कार्योत्पाद इति द्रव्यविनाशानन्तरं कर्मनाश इति सिद्धं क्षण-
द्रव्यावस्थानं कर्मण इति ।

शङ्कते । विनाशहेत्वभावादिति चेत् । अयमभिसंधिः
स्वकारणादयं भावो विनश्वरो जायतेऽविनश्वरो वा ? विनश्वर-
श्चेद् विनाशं प्रति न हेतुमपेक्षेत न हि नीलं स्वकारणादुत्पन्नं
नीलत्वे हेतुमपेक्षते तस्यैव ताद्रूप्यत् । अविनश्वरश्चेत्तथा ऽपि
नास्य हेतुशतैरपि शक्यो विनाशः कर्तुम् । न हि नीलमुत्पन्नं
पीतं शिल्पशक्तेनापि शक्यं कर्तुम् । अपि चायं विनाशो भावस्य
कारणैराधीयमानो भावाद्भिन्नोऽभिन्नो वा जायते । अभिन्नत्वे
भाव एवासाविति विनष्टो भावः प्राग्वदुपलब्ध्यर्थक्रिये कुर्यात् ।
न च भावाभावयोः कारणभेदे सति सम्भवत्यभेदः ।
तन्तुसंयोगभेदेभ्यो हि पटो जायते तन्तुविभागाद्वा तन्तुवि-
नाशाद्वा पटभावा इति कारणभेदः । भावाद्भिन्नत्वे तु जाय-
तामभावो भावस्य किमायातं न हि क्रमेलकोत्पादने पी-
लवो निवर्तन्ते । अभावेन भावस्तिरोधीयतइतिचेत् । न

तिरोधानस्यापि भावादभेदे पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गः । भेदेऽपि तिरोधानस्यान्यस्योत्पादे अन्यस्य न किं चिदुत्पन्नं विनष्टं चेति भावतादवस्थ्यात्पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गः । अपि च यद्येषां ध्रुवभावि न तत्र तेषां हेत्वन्तरापेक्षा यथा कृपाणस्यायोमयत्वे । ध्रुवभावी च कृतकानां भावानां विनाश इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः । ध्रुवभाविता हि प्रतिषिद्धमानहेत्वन्तरापेक्षत्वविरुद्धतन्निरपेक्षत्वव्याप्तोपलब्धा सेह प्रतीयमाना निरपेक्षत्वमुपस्थापयन्ती हेत्वन्तरापेक्षतां प्रतिक्षिपति । ये हि हेत्वन्तरापेक्षा न ते ध्रुवभाविनो यथा वाससि रागादयः कुसुम्भादिसंयोगसापेक्षा नावश्यं भाविन इति । तस्मादभावस्य सर्वोपाख्यारहितस्य कल्पितस्य क्रियानुपपत्तेरिति अभावं करोतीति करोति क्रियाया अभावेन सम्बन्धानुपपत्तेर्न आसम्बन्धो भावं करोतीति । यथा ऽऽह “न तस्य किं चिद्भवति न भवत्येव केवल”मिति । तस्माद्विनाशकारणाभावादुत्पन्नमात्र एवभावो विनश्यतीति सिद्धः क्षणभङ्ग इति ।

तदेतन्निराकरोति । न विकल्पानुपपत्तेः । अयमभिसन्धिः यत्तावद्विकल्पितं स्वहेतुभ्यो भावा विनश्वरा अविनश्वरा वा जायन्तइति । तत्र ब्रूमः किं पुनरिदं विनश्वरत्वं भावानामभिमतमायुष्मतः किं विनाशस्वभावत्वम् आहो विनाशार्हत्वं नित्येभ्यो व्यावृत्तं रूपम् । न तावत्पूर्वः कल्पः परस्परपरिहारवतोर्भावतन्नाशयोस्तादात्म्यानुपपत्तेः । तादात्म्ये च विनाशवद्भावोऽपि द्वितीयादिक्षणेषु वर्तेतेति साधु क्षणिकत्वं समर्थितमत्र भवता भावानां नित्यत्वमुपपादयता । भावसमये वा विनाशोऽपि भावात्मा ऽस्तीत्यत्यन्ताभावो भावस्य भवेदिति सुषुटवदातं तत्त्वं भावानाम् । न च भाव एकक्षणस्थितिधर्मा नाशो द्वितीया-

दिक्षणेष्विति साम्प्रतम् । प्रथमद्वितीयक्षणावच्छेदलक्षणाविरुद्ध-
धर्मसंसर्गेण भेदात् । द्वितीयं तु कल्पमनुमन्यामहे । नन्वेवं विना-
शार्हाश्चेद्भावाः स्वकारणादुत्पन्नाः हन्तोदयानन्तरमेवापवृज्येरन्
नापवृज्यन्ते विनाशार्हा अपि पटादयस्तन्तुविनाशाद्वा तन्तुवि-
भागाद्वा स्वकारणाधीनजन्मनो विनङ्क्ष्यन्ति । न हि तण्डुलाः
पचेलिमा इति विनैव दहनसलिलसंयोगप्रचयभेदं विक्लिद्यन्ति ।
काष्ठानि वा भिदेलिमानीति कुठाराभिघातमन्तरेण दलन्ति ।
यो मन्यते तएव तण्डुलाः पचेलिमाः ये समर्थदहनोदकापिठरस
हभुषः तदनन्तरं हि पुलाकाः प्रादुर्भवन्ति, यदनन्तरं हि न प्रादु-
र्भवन्ति न ते पचेलिमा इति । तस्योत्तरमक्षणिकार्थक्रियामुपपा-
दयन्तो वक्ष्यामः । तस्माद्दिनश्वराणामुत्पत्तेः स्वकारणान्न वि-
नाशकारणापेक्षा भावानामिति युक्तम् । केवलं भावादन्यस्याका-
रणत्वं भ्रुवाणः पर्यनुयोज्यो भवान् । किमकारणत्वान्नाशस्य ना-
स्तित्वं रोचयते किं वा नित्यतां तत्रोक्तं साक्षाद्दूषणं वार्तिक-
कृता भवतां शाक्यानां पक्षे अकारणं द्विधा नित्यं व्योम
शशविषाणादि वा तुच्छम् । अस्माकं तु नित्यमेव भवदभिमत-
स्य तस्य तुच्छस्याभावस्यानङ्गीकारादस्मदभिमतस्य भवद्भिरन-
ङ्गीकृतत्वेन नास्तीत्यध्यारोप्य राशिरेक उक्तः । उत्पन्नस्य वि-
नाश इति सर्वजनीनं तद्विपरीतं भवत्पक्षे प्राप्नोति । नन्वस्तु भा-
वाभावयोः सहावस्थानं को दोष इत्यत आह । ततश्च भावा-
नामिति । (४१४।५) शङ्कते अथाविनाशित्वादिति । प्रयोजन-
क्षतिरियं यदकारणत्वे विनाशस्यैष दोष इति । न तु दोषभयेन
स्फुटतरप्रमाणवाधितं कारणत्वं विनाशस्य शक्यमङ्गीकर्तुमिति
भावः । गृहाभिसंधिः सिद्धान्ती पृच्छति विनाशो न विन-
श्यतीति कुत एतत् । चोदक आह विनष्टानामिति । सि-

द्धान्ती बौद्धमतमालम्ब्याह । न हि विनाशाभाव इति ।
 यस्य पटाभाव एव तुच्छस्तस्य तदभावे का कथा तस्य तुच्छा-
 दपि तुच्छतरत्वादिति भावः । स्वमतमास्थायाह । अपि च
 विनाशः कारणवांश्चेति । शेषं सुबोधम् । यदप्यकारणत्वे
 कारणमुक्तं भावाद्भिन्नश्वेदभावो जन्येत भावतादवस्थ्यमिति ।
 तत्रोच्यते । नाभावस्योत्पादे भावस्यापरा निवृत्तिः किं त्वभा-
 वोत्पाद एव तन्निवृत्तिः कथमन्यस्योत्पादे ऽन्यस्य निवृत्तिः अ-
 न्न स्वभावभेदैरुत्तरं वाच्यं ये परस्परपरिहारावस्थितयः ते स्वहेतु-
 भ्यो जायन्ते । न हि स्वतो ऽन्यस्याङ्कुरस्य बह्विर्न कारणमित्य-
 न्यत्वाविशेषाद्भस्मनो ऽपि न कारणमिति । स्वभावभेदेन तु का-
 र्यकारणभावनियमसमर्थनं परस्परपरिहारस्थितिनियमे ऽपि तु-
 ल्यम् । यथा चोत्पादस्य पुरस्तादखिलसामर्थ्यराहितस्याङ्कुरप्रा-
 गभावस्योपकारं किं चिदकुर्वन्तो ऽपि बीजादयो ऽङ्कुरमारभन्ते
 तदुत्पादस्यैव तत्प्रागभावनिवृत्तिरूपत्वात् । एवं तदभावहेतवो
 ऽपि भावरूपे अकिञ्चित्करा अपि तदभावमादधति न चेद्भावरूपे
 किं चित्कृतं तदभावहेतुभिरथ भावः प्रागिव स्वाभावसमये क-
 स्मान्न स्वरूपोपलम्भार्थक्रिये करोति । अथोत्पादात्प्रागिवोत्प-
 न्नोऽप्यङ्कुरः कस्मादुपलम्भार्थक्रिये करोति । उत्पत्तेः प्रागङ्कुरो
 नासीत्तेन नाकार्षीदुत्पन्नस्त्वस्ति तस्मात्करोतीति चेत् । हन्त
 भावो ऽपि यदा ऽऽसीत्तदा ऽकार्षीत्तदानीं तु विनष्ट इति ना-
 स्ति तेन न करोति । यथा च भावोत्पाद एव तत्प्रागभावस्य
 नास्तिता एवमभावोत्पाद एव भावस्य नास्तिता । उपजनापा-
 यधर्मतया भावाभेदो विनाशस्य ततो न सदसद्रूपतया द्वैराश्यं
 विश्वस्येति चेत् को ऽयमुपजनो यदि स्वकारणसमवायः स-
 चासमवायो वा सो ऽभावे नास्ति । अथ स्वरूपप्रतिलम्भः तथा

ऽपि तावन्मात्रस्य साम्ये ऽपि अवान्तरभेदेन द्वैराशयोपपत्तिः । तस्माद्यथा सत्त्वस्य साम्ये ऽपि द्रव्यगुणकर्माणि तेन तत्त्वेनान्योन्यं भिद्यन्ते एवं प्रमेयत्वाभिधेयत्वकारणवत्त्वेनाविशेषे ऽपि सद्भिः सहासतां सत्तातद्विरहरूपभेदाद्भेद इति सिद्धम् । या ऽपि ध्रुवभाविता विनाशस्य । तत्र ब्रूमः ध्रुवभावित्वेन विनाशस्य हेत्वन्तरानपेक्षत्वं ब्रुवाणो नाहेतुकत्वं वक्तुमर्हति । हेत्वन्तरनिराकरणे हेतुमात्रानिराकरणात् । विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाफलकत्वात् । अपि च ध्रुवभावित्वमसिद्धमनैकान्तिकं वा । इदं भवान् पृष्ठो व्याचष्टां किं घटसन्तानात्मभागात् कपालसंततिर्ध्रुवभाविनी न वा । न चेद् न विनाशो ऽपि घटस्य ध्रुवभावी न खलु विसभागक्षणोत्पादमन्तरेण घटविनाशमीक्षामहे मांसचक्षुषः तथा चासिद्धा ध्रुवभाविता विनाशस्य । अथ ध्रुवभाविनी तस्यामेव तर्हि विसभागसंततौ ध्रुवभाविन्यां मुद्रादिहेत्वपेक्षेनैकान्तिकं ध्रुवभावित्वं नानपेक्षत्वव्याप्तमिति न हेत्वन्तरापेक्षित्वं निषेद्धुमर्हतीति । तदेतद्यश्चाकारणविनाशोदोषः स चापरिहार्य इत्यनेन वार्तिकेन सूचितम् । एवं तावदन्यत्वे साध्ये दोष उक्त इति । (४१५।११) यद्यपि क्षणिकत्वमपि पूर्वमुक्तं दूषितं च तथा ऽपि क्षणिकाभिधानं तवान्यपरमन्यत्वमेव तु तत्र प्रधानम् । इदानीं तु क्षणिकत्वमेव प्रधानतया साध्यमिषेतावता प्रकरणभेद इति । विशेषणं सिद्धान्तविरोधीति । यद्यनाशुविनाशिनो ऽपि के चन भावा भवेयुः ततो विशेषणमाशुविनाशिन इति कल्पेत तथा च सिद्धान्तविरोध इत्यर्थः । मत्वर्थीय इति । (४१६।२) क्षणिक इति । अत इनिठनाविति मत्वर्थीयपृष्ठम् । अनन्तरेण विनाशेन विशिष्यमाण इत्युपलक्ष्यमाणः । सर्वान्तकालमिति । पूर्वापरभागविकलकालक-

लैका ज्योतिर्विद्यासिद्धा सर्वान्स्य कालमिति संज्ञामात्रं न तु वास्तवं
 वास्तवी च क्षणिकता ऽभिमतेति । पञ्चवचनं दूषयित्वा हेतुं
 दूषयति ये ऽपीति । अत्रादिग्रहणेन सत्त्वकृतकत्वादयः
 संगृहीता वेदितव्याः । तत्र यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः
 संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिरिति स्वभावहेतुः सत्तामा-
 त्रानुबन्धित्वात्क्षणिकत्वस्य । कथं पुनः सत्तामात्रानुबन्धसिद्धिः
 क्षणिकतायाः, । उच्यते सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वं भावानां ना-
 न्यत् । न ह्यस्ति सम्भवः संश्च भावो न चार्थक्रियां करोतीति ।
 तथा हि स सर्वज्ञस्य विज्ञानस्यालम्बनप्रत्ययो भवेन्न वा । न
 चेद् नास्ति सर्वज्ञो वा न सर्वज्ञः तस्यैवाज्ञानाद् । आलम्बनप्र-
 त्ययश्चेत् कथं नार्थक्रियां करोतीति । न च सत्तासामान्यं नामा-
 स्ति किं चन । नापि तत्समवायो यतः सन्नित्युच्यते । तत्सद्भावे
 वा न भवतां सामान्यविशेषसमवायाः सन्तो भवेयुः तेषां सा-
 मान्याधारत्वानभ्युपगमात् । प्रमाणग्राह्यता ऽपि प्रमाणविषयता
 प्रमाणं प्रत्यालम्बनप्रत्ययत्वमेव । तच्चार्यक्रियाकारित्वान्नान्यदि-
 ति सिद्धमर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वमिति । तच्च क्रमाक्रमाभ्यां
 व्याप्तं तृतीयप्रकारविरहात् । तथा हि भावानां तासु तास्वर्थक्रि-
 यासु क्रमाक्रमौ परस्परपरिहारवन्तौ चकास्तः तथा च क्रमाक्र-
 मात्मकं प्रकारान्तरमपि यदीदृशाभ्यामेवानुभूतावसिताभ्यां क्र-
 माक्रमाभ्यां करम्बितमङ्गीक्रियते ततो दृश्यमानयोरपि क्रमाक्र-
 मयोः परस्परसङ्करप्रसङ्गः । करम्बितावेव हि क्रमाक्रमाविमा-
 वपीति दृश्यमानः क्रमो ऽक्रमात्मकः अक्रमश्च क्रमात्मकः प्रति-
 भासते । न च तथा प्रतिभासते । एतेन प्रत्यक्षमेव परस्परपरि-
 हारवन्तौ क्रमाक्रमौ परिच्छिन्दत्सर्वत्रैवानयोः संकरं प्रतिक्षिप-
 ति । यदि क चिदप्यनयोस्तादात्म्यं भवेदिहापि तावेव क्रमाक्र-

माविति संकीर्णौ गृह्येयाताम् । तस्मादनयोरिह संकरानुपलम्भ
एव देशान्तरे कालान्तरे च संकरं निषेधति । तादात्म्यनिषेधे
च दृश्यत्वविशेषणादनुपलब्धेः दृश्यमानस्तम्भतादात्म्येन स्वय-
मदृश्यानां पिशाचादीनां दृश्यानां च पुत्रङ्गादीनामविशेषेण प्र-
तिषेधात् । यथा ऽऽह विशेषणं चावाच्यामिति । अनेवंभू-
तक्रमयौगपद्यव्यतिरेकवती प्रकारान्तरे क्रमयौगपद्ये एव न भ-
वतः न हि शब्दाभेदेन वस्तुनो ऽप्यभेदः । मा भूदोशब्दसामा-
नाधिकरण्येन वागादीनामपि विषाणित्वप्रसङ्गः ।

स्यादेतत् । मा भूतां क्रमयौगपद्ये अस्त्वन्य एव क्रमाक्रमा-
भिधानः क्रमयौगपद्याभ्यामन्यः प्रकारो यमास्थाय भावाः
स्थिरा अप्यर्थक्रियायायामुपयोक्ष्यन्ते । न त्वेषां प्रकारान्तरव-
दर्थक्रिया ऽपि पिशाचायमानैव । तथा चेत् किं नः छिन्नं दृश्य-
मानास्त्वनुभूतावसिताः परस्परव्यावृत्तक्रमयौगपद्यरूपप्रकार-
द्वयसमालिङ्गितरूपा अर्थक्रिया न प्रकारान्तराद्भवितुमीशते ।
न च प्रकारान्तरमपि । तथा हि यत्र यत्प्रकारप्रतिषेधेन
यदितरप्रकारव्यवस्थानियमस्तत्र न प्रकारान्तरसम्भवः यथा
नीलप्रकारप्रतिषेधेनानीलप्रकारव्यवस्थायां पीते अस्ति च
तयोरन्यतरप्रकारनिषेधे ऽन्यतरव्यवस्थानियमो निषिध्यमानप्र-
काराविषयीकृते सर्वत्र कार्यकारणे इति विरुद्धोपलब्धिः । निषि-
ध्यमानप्रकारान्तरसम्भवविरुद्धो हि द्वयोरन्यतरनिषेधेनान्यत-
रव्यवस्थानियम इति प्रकारान्तरासम्भवाद्भावानामर्थक्रिया क्रमा-
क्रमाभ्यां व्याप्ता तौ च स्थिरान्निवर्तमानावर्थक्रियामपि व्या-
वर्तयतः वृक्षतेव निवर्तमाना शिशपात्वमारादृश्यमानादेकशिला-
मयादूभूभृत्कटकादिति प्रतिबन्धासिद्धिः । तथा हि न ताव-
तावदक्षणिकः क्रमेणार्थक्रियां कर्तुमर्हति । स्वेन हि रूपेण भावा

अर्थाक्रियायामुपयुज्यमाना दृश्यन्ते । यद्वस्तु यत्कार्यन्वयव्यति-
रिकानुविहितभावाभावं तद्वस्तु तत्कार्यप्रसवसमर्थं रूपं च तस्य
कार्येणानुकृतान्वयव्यतिरेकमिति रूपमेव समर्थं, तच्च द्वितीयादि-
क्षणेऽपि प्रथमेऽपि क्षणे सदिति द्वितीयादिक्षणजन्यकार्यक-
लापं प्रथमएव क्षणे निष्पादयेत्, समर्थस्य क्षेपायोगादिति ना-
क्षणिकस्य क्रमवद्भाषारता प्रसज्यते ।

स्यादेतत् समर्थोऽपि क्रमवत्सहकारियोगात् क्रमेण करोती-
ति । तदयुक्तम् । विकल्पासहत्वात् । किमस्य सहकारिणः कं चि-
दुपकारमादधति न वा, आदधाना वा भावाद्भिन्नमभिन्नं वा । तत्र
भिन्नोपकाराधाने भावे सत्यनुत्पत्तेरुपकारे च सत्युत्पत्तेः एवं कार्य-
स्योपकार एव जनको न जनको भावः । न चोपकारसहकारी भाव
एव कार्यस्य जनको नोपकारमात्रमिति वाच्यम् । उपकारस्यो-
पकारान्तरजनने अनवस्थानात् । अजनने तु सहकारिभावाभावात् ।
आभिन्नोपकाराधाने च भाव एव जनयेत् स च प्रागप्यासीदिति
सहकारिवैयर्थ्यम् । अनुपकारकत्वे वा सहकारिणो न भावेनापेक्षे-
रन्नित्युत्पन्नमात्र एव भावः कार्यमुत्पादयेत् । समर्थस्य क्षेपायोगात्
क्षेपे वा न पश्चादपि कुर्यादविशेषात् । यदि मन्यते अनुपकारका
अपि भवन्ति सहकारिणो यतस्तैः सह भावः कार्यं करोति । न
च भावेन नापेक्ष्यन्ते तैर्विना कार्यस्यानुत्पत्तेरिति । ननु स्वरू-
पेण चेत्कार्यजनको भावः न कस्मान्नेमानन्तरेण जनयति ते-
भ्यः प्रागपि स्वरूपसद्भावात् । सहकारिरूपेण वा जनकत्वे
सहकारिण एव जनका न जनको भावः । न चोभयभावा-
भावानुविधानादर्थक्रियाभावाभावयोरेकस्माच्च व्यभिचारादुभ-
याधीनतेति सांप्रतम् । भावे सत्यनुत्पादात्कार्यस्य व्यभिचारण
चरमभाविनिमित्तसहकारिसमवधाने सति भावादेव सहकारिस-

मवधानस्यैव चरमभाविनो व्यभिचारेण कारणत्वावधारणात् ।

एतेनैतन्निरस्तं यदादुरेके “स्वहेतोर्विलम्बकारी भावो जात इति नोत्पन्नमात्रः करोतीति” ।

सा हि विलम्बकारिता अस्य स्वभावः सहकारिसम-
वधानकाले ऽप्यस्ति न वा, अस्ति चेत्तदाऽपि न कुर्यात् ।
नास्ति चेत् कथं स्वभावनाशे भावो न नष्टः । अथास्य वि-
लम्बकारिता न स्वभावः कथमुत्पन्नमात्रो न कार्यं कुर्यादिति ।
तस्मान्न क्रमेणार्थक्रिया भावानां, नापि यौगपद्येन, तस्माद्याव-
त्कार्यं तेनाक्षणिकेन प्रथमे क्षणे सम्पादितं तावत्सर्वं द्वितीया-
दिक्षणेषु सम्पादयेत् । तावत्कार्यसम्पादनस्वरूपस्य द्वितीयादि-
ष्वपि क्षणेषु भावात् । न च सम्पादितं शक्यसम्पादनमिति यद्
द्वितीयादिक्षणेषु सम्पादयति तत्प्रथमक्षणे सम्पादितादन्यदिति
क्रमा एवावर्त्तन्तइति तत्र चोक्तो दोषः । युगपत्कृतकस्य वा
द्वितीयादिषु कर्त्तव्याभावान्नार्थक्रियासामर्थ्यमस्तीत्यसत्त्वेन क्षणि-
कत्वापत्तिः । तस्मादक्षणिके सत्त्वव्यापकयोः क्रमाक्रमयोरनु-
पलम्भाद्व्यापकानुपलब्ध्या निवर्त्तमानं सत्त्वमक्षणिकात् क्षणिक-
त्वेन व्याप्यतइति प्रतिबन्धसिद्धिः । नीलमेव चानुभूतावासितं
समारोपिताक्षणिकभावमक्षणिकं तादृशनीलस्वरूपोपलम्भ एव
तत्राक्षणिके क्रमयौगपद्यानुपलम्भः यथा भूतलस्वरूपोपलम्भ एव
समारोपितदृश्यत्वस्य घटस्यानुपलम्भः भूतलं च तथोत्पन्नं घ-
टाभावां न त्वभावो नाम कश्चिद्विग्रहवानास्ति यः प्रतिपत्तिगो-
चरः स्यात् । अपि व्यवहर्त्तव्यः परम् ।

स्यादेतत् । क्षणिकोभावोऽर्थक्रियाजनकस्वभावो न वा,
न चेदसन्नेव, तज्जनकस्वभावश्चेत्किमस्य सहकारिभिः । उत्प-
न्नमात्रमेव बीजमङ्कुरं जनयेत् । ननुत्पन्नो बीजक्षणः समर्थो

जनयत्येवाङ्कुरं कुतः समर्थस्योत्पत्तिः पूर्वस्माद्वीजक्षणात् ।
तर्हि तत्सन्तानवर्तिनां सर्वेषां बीजत्वाविशेषादङ्कुरजननसाम-
र्थ्यमिति कुसुमानन्तरलब्धजन्ममात्रमेव बीजमङ्कुरं जनयेत् ।
मैवम् । पूर्वपूर्वक्षितिबीजपवनादिक्षणमवधानोत्पन्नातिशयव-
दुत्तरक्षणपरम्परालब्धजन्मा ऽन्त्योबीजक्षणः समर्थः स-
मर्थक्षित्यादिलक्षणसहभूरनपेक्ष एवाङ्कुरं जनयति । न चा-
स्य क्षित्यादिसहभुवस्तदनपेक्षस्यापि तैर्विना करणं तदेकसा-
मन्यधीनस्य तदभावे ऽभावात् । न वा सहकारिता क्षित्यादीनां
तैरेव सहाङ्कुरजननात् । तेषामपि कार्यात्पूर्वभावस्य नियमतो
ऽविशेषात् । तन्मात्रत्वादेव च कारणतायाः । न वानपेक्षाणा-
मपि प्रत्येकं कार्यान्तरारम्भणं तन्मात्रस्य तेभ्य उपलब्धेस्तत्रैव
सामर्थ्यनियमात् । न च कृतकरणतयेतरेषामक्रिया सहक्रियायां
कृतमित्यसम्भवात् । न च स्वकारणलब्धसन्निधयो भावाः प्रेक्षा-
वन्तः शक्यमिदमस्मास्वेकेनापि कर्तुं कृतं नः सर्वेषां सन्निधाने-
नेत्यालोच्य निवर्तितुमीशते । न च स्वकारणभेदमात्रं कार्यभेद-
हेतुः अपि तु सामग्रीभेदः तस्मिन्सति कार्यभेदोपलब्धेः अभिन्ना
भेदसामग्रीति न कार्यभेदप्रसङ्गः । परस्परसमवधानं चोपमर्पण-
प्रत्ययेभ्यः क्षित्यादीनामिति । न च क्षणिकस्यार्थक्रियाविरो-
धादसाधारणता हेतोः । न च साध्यधर्मिणि दृश्यमाने शब्दादौ
व्याप्तिसाधनादेव साध्यसिद्धेरसाधनाङ्गं हेतुवचनम् । न खलु
सर्वोपसंहारवती व्याप्तिर्दृश्यमात्रविषया भवितुमर्हति । शक्यं हि
शङ्कितुं परेणादृश्यमामनानां सत्त्वमक्षणिकाद् न व्यावर्तितं त्वयेति
सत्त्वमनैकान्तिकं क्षणिकत्वसाधनइति । तस्माद्यद्दृश्यमदृश्यं वा
तत्सर्वं क्षणिकमिति दर्शनीया व्याप्तिः । नन्वेवमपि शब्दादेर्वि-
वादास्पदीभूतस्य व्याप्तिदर्शनबलादेव सिद्धा क्षणिकतेति तदव-

स्थमेवासाधनाङ्गत्वं हेतुवचनस्य । मैवम् । असत्यपि शशविषाणादौ
यत्सदृश्यमदृश्यं वा तत्सर्वं क्षणिकमिति यथा सर्वोपसंहारवती
व्याप्तिः न च शशविषाणादयो ऽपि भवन्ति क्षणिकाः एवं
सत्यपि विवादास्पदीभूते शब्दादौ व्याप्तिसिद्धावपि न सिध्यति
क्षणिकता, तेनावश्यं दर्शयितव्यमेतेषां क्षणिकत्वसाधनाय सत्त्व-
मिति नासाधनाङ्गता हेतुवचनस्येति ।

अत्रोच्यते । न सत्त्वं क्षणभङ्गसिद्धावङ्गमसाधारणत्वा-
त् संदिग्धव्यतिरेकित्वाद्वा । तथा हि क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तं
सत्त्वं तदनुपलम्भेनाक्षणिकाद्व्यावर्ततएवं तदेव सापेक्षत्वा-
नपेक्षत्वाभ्यां व्याप्तं तदनुपलम्भेन क्षणिकादपि व्यावर्तते त-
स्माद्ग्रन्थवत्त्ववदसाधारणं सदसाधनाङ्गम् । तथा ह्यन्तःक्ष-
णप्राप्तानि क्षितिपवनपाथस्तेजोबीजानि समर्थानि प्राग्भा-
वनियतानि नियतचरमोत्पादानामवनिजलानलाङ्कुराणां कारणं
भवद्भिरभ्युपेयन्ते तान्यमूनि परस्परानपेक्षाणि वा जनयेयुः
सापेक्षाणि वा । ननु निरपेक्षाण्येवान्त्यक्षणप्राप्तानि क्षित्यादी-
न्युत्तरस्मिन्पुञ्जे जनयितव्यइत्युक्तम् । तत्किमनभ्युपगतविकल्पेन
सापेक्षाणि निरपेक्षाणि चेति । तत्किमिदानीं समर्थबीजक्षणज-
नको ऽपि बीजक्षणो ऽनपेक्ष एव । अमिति चेत् । नन्वेवं सर्व-
एव बीजक्षणा निरपेक्षाः स्वकार्योपजनइति कृतं सहकारिभिः ।
ननुक्तं नैते प्रेक्षावन्तः किं तु स्वप्रत्ययाधीननियतसंनिधयो न
व्यवधेरीशतइति । तत्किमयं कृषीवलो ऽपि न प्रेक्षावान्?, प्रेक्षावान्
यतः प्रयत्नेन कुसूलादवतार्य बीजमावपति भूमौ परिकर्षितायां,
क्षित्यादिसहभुव एव बीजक्षणस्यातिशयोत्पादपरम्पराया अङ्कुर-
प्रसवसामर्थ्यात् कुशूलस्थात्तु सहस्रेणापि वर्षैरङ्कुरानुत्पादे तत्रा-
वपतीति चेत् । अथ किमयं न स्वसंतानमात्रप्रभवः समर्थो

बीजक्षणः तथा चेत्कथं संतानान्तरं नापेक्षेत स्वकार्ये । नन्वपे-
 क्षतएव किं तु स्वोत्पादे न पुनः स्वकार्ये, तत्र तस्यानपेक्षत्वमु-
 पेयते न तु स्वोत्पादे । ननूत्पत्तावप्यस्य जागर्ति स्वसंतानवर्त्ती
 पूर्वं एव निरपेक्षः क्षण एवं तस्य पूर्वः पूर्वः क्षणः स्वसंततिपातित
 एवानपेक्षो जागर्त्युपजननइति कुशूलनिहितबीज एव स्यात् कृती
 कृषीवलः कृतमस्य कृषिकर्मणा दुःखबहुलेन । तस्मात्परस्परापे-
 क्षाणामेवान्त्यक्षणप्राप्तानां कार्यजनकत्वमकामेनाप्युपेयम् । अपि
 चान्त्यक्षणप्राप्तं बीजमनपेक्ष्य अङ्कुरावनिपवनपाथस्तेजांसि जन-
 येत्किं येनैव रूपेणाङ्कुरं जनयति तेनैव तदितराण्यपि किं वा
 रूपान्तरेण । न तावत्तेनैव क्षित्यादीनामङ्कुरस्वाभाव्यापत्तेः ।
 न खलु भवतां कारणाभेदे भेदवत्कार्यं भवितुमर्हति । कार्यभे-
 दस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । यथाक्तं भवद्भिरेव अयमेव हि भेदो
 भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति । नापि सामग्री-
 भेदः तस्या अप्यभेदात् । अन्यथा सहभावनियमाभावात् ।
 स्वकारणादासादितः कश्चिदेव स्वभावभेद एकस्तादृशो यस्मा-
 न्नानाकार्याणि जायन्ते तस्मान्नाकस्मिकत्वं कार्यनानात्वस्य
 नाप्यतिप्रसङ्गः तादृशस्य तस्यासार्वत्रिकत्वात् । न च कार्यका-
 रणयोरभेदो येन कारणभेदाभेदावनुपतेतां कार्यभेदाभेदौ ।
 तस्माद्यथा केभ्यः कश्चिदेव बहुभ्यः कार्यमेकं जायते तथैकस्मा-
 देव कुतश्चिद्बहूनि जनयिष्यन्ते कार्याणीति चेत् । मुधैव तर्हि
 नानादेशवृत्तिरेको ऽवयविसामान्यसंयोगादिरर्थस्तपस्वी भवता
 ऽऽयासितः न हि नानात्वे ऽपि देशानां तदाश्रितः सामान्या-
 दिरर्थो नाना भवितुमर्हति । तस्य तेभ्यो ऽभिन्नत्वात् । रूपा-
 न्तरेण बीजमङ्कुरादितरेषां क्षित्यादीनां जनकम् तथा हि बीज-
 मङ्कुरस्योपादानं तत्सारभागविक्रियया ऽङ्कुरस्योत्पत्तेः क्षित्या-

दिषु तु जनयितव्येषु सहकारि पूर्वे तु क्षित्यादयः क्षित्यादीनां
यथास्वमुपादानानि तद्विक्रियया तदुत्पत्तिरिति चेत् । अथ सहका-
रितोपादानते किमेकं तत्त्वं नाना वा । एकं चेत् कथं रूपान्तरेण
जनकं नानात्वे तयोर्वीजाद्भेदो ऽभेदो वा भेदे कथं बीजस्य
जनकत्वं ताभ्यामेवाङ्कुरादीनामुत्पत्तेः । अभेदे वा कथं न भेदो
बीजस्य भिन्नतादात्म्यात् । तयोर्वैकरूपत्वमेव तादात्म्यात् ।
तस्मादङ्कुराद्विन्ने क्षित्यादौ जनयितव्ये तदुपादानं पूर्वमेव क्षि-
त्पादिसमसमयभावि बीजेनापेक्ष्यते । एवं बीजमपि समसमय
भाव्येव सहकारिकारणं क्षित्यादिभिरपेक्ष्यते नान्यथा कार्यभे-
दासिद्धिरित्यनिच्छता ऽप्यभ्युपेयम् । न चानुपकारकमपेक्षागो-
चर इति भवद्भिरेवोपपादितम् । न च क्षणिकस्योपकारकत्वसं-
भवो ऽन्यत्र जननात् तस्याभेद्यत्वात् । न च समसमयभाविनो-
र्जन्यजनकत्वमस्ति सव्येतरविषाणयोरिव । तस्मात्स्वसंतानमा-
त्रादेव कार्योत्पादप्रसङ्गात्कार्यभेदानुपपत्तेश्चानुपकारिण्यपेक्षावि-
रहाच्च क्षणिकस्यापि सापेक्षस्यानपेक्षस्य वा नार्थक्रिया संभवि-
नीत्यसाधारणसत्त्वं न क्षणभङ्गसिद्धावङ्गम् । अथ मा भूदसा-
धारणता सत्त्वस्येत्यनुपकारकेष्वपि कार्यकरणायापेक्षा ऽभ्युपेय
ते तेषामपि कार्येणानुकृतान्वयव्यतिरेकत्वात् । न त्वनेन क्रमे-
णाक्षणिको ऽपि भावो ऽनुपकारकानपि सहकारिणः क्रमवतः
क्रमवतैव कार्येणानुकृतान्वयव्यतिरेकानपेक्षिष्यते । करिष्यते
क्रमवत्सहकारिवशः क्रमेण कार्याणि । समर्थस्याप्यपेक्षणीयास-
न्निधेः कार्यक्षेप उपपत्स्यते । न चैतावता सहकारिसमवधानादे-
वोत्पत्तिमतः कार्यसिद्धिः कृतमेषां रूपेणेति वाच्यम् । तत्सहि-
तादेव तत् उत्पत्तिदर्शनात् । रूपे सत्यप्यनुत्पादात् । समवधाने
(हेतु)सत्युत्पादादेव कार्यस्वसमवधानमेव हेतुर्न पुनरूपमपीति

चेत् तत्किमिदानीं रासभादितुल्यता बीजरूपस्य । अपिति
 चेत् । अथ कस्माद्दर्शभादीनन्तरणेव बीजरूपं विनाऽपि नाङ्कुरो
 जायते । तत्समवधानस्य तत्कारणत्वादिति चेत् । तत्समवधाने
 कारणे कथं तन्निवेशि रूपमपि न कारणम् । न चावर्जनीयतया
 तन्निवेशः । समवधानमात्रस्य बीजरूपमन्तरेणापि तत्र तत्र
 भावात् । विशेषस्तु समवधाने रूपमेव बीजादीनाम् । तस्माद्य
 थोभयाधीननिरूपणा व्याप्तिरयोगव्यवच्छेदेन व्यापके निरूप्यते
 व्याप्ये भाव एव व्यापकस्य नाभाव इति व्याप्ये पुनरन्ययोग-
 व्यवच्छेदेन व्यापक एव भावो व्याप्यस्य नान्यत्रेति एवं कार्य-
 कारणभावो ऽप्युभयाधीननिरूपणो ऽपि कारणे अयोगव्यवच्छे-
 देन निरूप्यते । कार्योत्पादस्य पुरस्ताद्भाव एव कारणस्य ना-
 भाव इति । कार्ये पुनरयोगव्यवच्छेदेन । कारणएव सति भावो
 नान्यस्मिन्निति अनुभवानुसारान्निश्चीयते । तथैव हि लौकिक-
 परीक्षकाणां संप्रतिपत्तेः । न च कारणैव सत्ता किं तु स्वरूपं
 नीलादेरनुभूतावसितं तद्धि तेनैव रूपेण स्वाभावव्यवच्छिन्नं
 तासु तास्वर्थक्रियामूपयुज्यते न पुनरर्थक्रियाकारितैव स्वरूपं मा
 भूदनेकार्थक्रियाकारिणो ऽपर्यायेण रूपभेदः । तस्माद्यद्यस्ति
 सर्वज्ञस्ततः स्वरूपेणैव सन्भावः तज्ज्ञानस्यालम्बनप्रत्ययो भवि-
 ष्यति । अथ तु नास्ति तथा ऽपि तद्रूपो जनित्वाऽऽपाततो
 ऽकिञ्चित्करो ऽपि पश्चात्कुतश्चिन्निमित्तादासाद्य सहकारिप्रत्य-
 यान् तासु तास्वर्थक्रियामूपयोक्ष्यते । तत्सिद्धमेतत् क्षणिकस्यापि
 क्रमाक्रमाभ्यां यथायोगमर्थक्रियोपपत्तेर्व्यापकानुपलब्धेरसिद्धेः
 संदिग्धव्यतिरेकमनैकान्तिकं सत्त्वं शाक्यानां क्षणिकत्वे साध्ये
 भावानाम् । अस्माकं त्वन्यथासिद्धमसिद्धप्रभेद एवेति । न च
 जनकत्वाजनकत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गो नानात्वे हेतुर्भावितुम-

हति । जनकत्वं नाम न वस्तुस्वभावो ऽपि तु तद्धर्मः । धर्मश्च
 धर्मिणो वस्तुतो भिद्यते । न चान्यस्य भेदो ऽन्यस्य भेदायाल-
 मतिप्रसङ्गात् । अन्यत्वाविशेषे कथं तस्यैव धर्म इति चेत् । अत्र
 वस्तुस्वभावैरेवोत्तरं वाच्यम् । यथा ऽन्यत्वाविशेषे ऽपि कार्यं
 धूमो हुतभुज एव न बीजस्येत्युक्तम् । न च कृतकत्वमपि क्ष-
 णिकत्वे हेतुरन्यथासिद्धेः । सहेतुके विनाशे तदुपपत्तेश्च । न चो-
 त्पत्तिविनाशयोस्तादात्म्यं भावस्यात्यन्ताभावप्रसङ्गादित्युक्तम् ।
 तदिदमुक्तं वार्तिककृतता तेऽप्यासिद्धा अन्यथासिद्धा विरुद्धा
 वा भवन्तीत्यहेतव इति । (४१६।१५) अन्त्यक्षणविशेषदर्शनं
 पूर्वक्षणधर्मत्वेनासिद्धत्वादसिद्धम् । सत्त्वकृतकत्वे अन्यथासिद्धे ।
 विरुद्धत्वं च सर्वस्यैव हेतोः क्षणिकत्वे साध्ये । तथा हि सत्त्वं
 कृतकत्वं वा त्रैलोक्यव्यावृत्ततया ऽननुगतं देशतः कालतो वा
 न साधनं तस्याशक्याविनाभावज्ञानतया लिङ्गभावाभावात् ।
 अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा ऽविनाभावग्रहस्यैकस्मिन् क्षणे
 ऽशक्यत्वात् । तस्मादेशकालानुगतं सत्त्वं कृतकत्वमन्यद्वाहेतूक-
 र्तव्यम् । तच्च विधिरूपं वा भवत्वन्यव्यावृत्तिरूपं वा नानाका-
 लमेकमक्षणिकं क्षणिकत्वेन साध्येन विरुध्यतइत्युक्तं विरुद्धा
 वेति । अन्ते विशेषदर्शनादित्यस्य तु विरुद्धत्वमनन्तरं वक्ष्यति ।
 उपेत्य विशेषवत्त्वे सिद्धत्वमनैकान्तिकत्वमाह उपेत्य वेति । हेतो-
 रसिद्धत्वविरुद्धत्वे दर्शयितुमाह । अन्ते विशेषेति । दर्शनादर्शन-
 लणस्य हेतोरन्यथासिद्धतेत्याह । यो ऽप्ययं हेतुरिति । भावा-
 भावयोस्तद्वत्त्वादिति (४१७।७) संयोगाभावाभावयोरिहबुद्धे-
 र्भाववत्त्वादित्यर्थः । प्रदीपस्य देशान्तरे उत्पाद इत्येतदपि
 न बुद्ध्यामह इति । क्षणिकस्य प्रदीपस्य यदि संतानमात्रप्रभ-
 वत्त्वं निबद्धं देशान्तरे कार्योत्पादकत्वं ततः सर्वएव प्रदीपक्षणा

देशान्तरे प्रदीपमुत्पादयेयुः । न के चन प्रघनोदरएवेति । अथो-
पसर्पणप्रत्ययवशात्प्रघनोदरादन्यत्रापि कार्यमुत्पादयन्ति । ननु-
पसर्पणप्रत्ययः प्रदीपे कं चिदुपकारमाधत्ते न वा, न तावदाधत्ते
क्षणस्याभेद्यत्वेनोपकृतानुपकृतत्वासम्भवात् । अनाधाने च स-
हकारिभावाभावात् । अनुपकारकस्य सहकारित्वे ऽतिप्रसङ्गादिति
भवतामेव गिरः । न च विशिष्टप्रदीपक्षणजननमेवोपकारः सह-
कारिणां तस्य पूर्वस्मादेवोपादानादुपपत्तेः सहकार्यनपेक्षणात् ।
न खलु तस्यैव तत्कारणस्याप्युपकारकाः सहकारिणो भवितुम-
र्हन्ति । एवं पूर्वेषामपि प्रदीपक्षणानां पूर्वपूर्वप्रदीपमात्रसामर्थ्य-
भुवा न सहकारिणा किञ्चिदाधीयतइति सर्वेष्वैकस्मिन् प्रधाने
कार्यं कुर्युः देशान्तरे वा । यदि पुनरनुपकारिणोऽपि कार्यानु-
विहितभावाभावतया क्षणिकेन प्रदीपेन कार्यक्रियां प्रत्यपेक्ष्यन्ते
तदक्षणिकपक्षे ऽपि तुल्यमिति संक्षेपः । विपश्चितं चैतदस्माभि-
र्ब्रह्मतत्त्वसमीक्षान्यायकणिकाभ्यामित्युपरम्यते ।

न किलाकाशे पततो लोष्टादेरिति । लोष्टश्येनादे-
स्तुल्यगुरुत्ववतां द्रव्याणामेकस्य गुरुत्वप्रयत्नक्षेपाः कारणम् ।
तथा हि सौधस्योपरिस्थेन पुरुषेण भूमौ चरन्तं पारावतमु-
द्दिश्य यदा ऽधः श्येनः क्षिप्यते तदा श्येनस्य पारावतजि-
घृक्षाजनितः प्रयत्नो गुरुत्वं च क्षेपश्चाथुत्तरपतनहेतवः । अक्षि-
प्तस्य तु गुरुत्वप्रयत्नावाथुपतनहेतु अप्रपतमानस्य गुरुत्वमात्रं
पतनहेतुरिति । औलूक्यमते ऽपि न दोष इत्यत आह । एकश्च
संस्कार इति । (४१८।७) अयुगपत्कालाः प्रत्यया
एकविषया इत्युच्यमाने घटपटादिप्रत्ययाः प्रदीपादिप्रत्ययाश्च
क्रमवन्त एकविषयाः प्रसज्येरन्नित्यत आह । विप्रतिपत्तिरिति ।
समानशब्दवाच्यत्वादित्यनेकान्तः भवन्ति हि समानशब्दवाच्याः

प्रत्ययाः अक्षोऽक्ष इति, न च समानविषयाः देवनादीनां तद्वि-
पयाणां भेदादत आह । तत्प्रत्ययसामानाधिकरण्ये सती-
ति । तथाऽपि प्रदीपप्रत्ययैरेवानेकान्त इत्यत आह । अव्युत्थायी-
ति । व्युत्थातुं भ्रामितुं शीलमस्येति व्युत्थायि भ्रान्तमिति यावत् । अ-
भ्रान्तत्वं चास्य क्षणिकत्वसाधननिराकरणेन द्रष्टव्यम् । अव्यु-
त्थायितत्प्रत्ययसामानाधिकरण्येनैव सिद्धे समानशब्दवाच्यत्वं
प्रपञ्चः ॥ १४ ॥

भाष्यं गुणान्तरप्रादुर्भाव इति । द्रव्यं तावत्सदेव गुणोऽपि
सन् केवलमनुद्भूत आसीत् । एकश्चोद्भूतो गुणः तत्र य उद्भूतस्ति-
रोभवति पूर्वगुणस्य निवृत्तौ तिरोभूतौ गुणान्तरमुत्पद्यते तद्भव-
तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अत्र तु प्रतिषेध इति । क्षीरावयवा एव हि क्षीरविनाशे
सत्युत्पन्नपाकजा विलक्षणं द्रव्यमुत्पादयन्ति । यदि तु सर्वं कार्यं
सदेव कारणव्यापारात्प्रागपि व्यर्थः कारणव्यापारः अभिव्य-
क्तेरपि कार्यायाः सत्त्वात् । असत्त्वे वा यथा सैव न सती क्रि-
यते एवं कार्यान्तराण्यपीति । विपश्चितं चैतदस्माभिर्न्यायकणि-
कायाम् ॥ १६ ॥

अभ्यनुज्ञाय च निष्कारणमिति । विनाशोत्पादवत्त्वा-
त्समानधर्मात्संशयः दधिक्षीरयोर्विनाशोत्पादावकारणौ दृष्टौ
कुम्भस्य चोत्पादविनाशौ सकारणौ, तदिह स्फटिके
विनाशोत्पादौ सकारणौ निष्कारणौ वेति संदेहः । त-
द्यदि सकारणावेवेति प्रमाणतो निश्चीयते ततो विनाश-
कारणानुपलब्धेः स्फटिकस्य कुम्भवद्विनाशो नास्तीति निश्ची-
यते । तदिदमुक्तं भाष्यकारेण । न पुनर्यथा विनाशकार-
णाभावादिति । निरधिष्ठानं चेति । धर्मिणमाश्रित्य तत्स-

मानधर्मा दृष्टान्तो भवति स्फटिकोत्पादविनाशौ च धर्मिणौ
तत्समानधर्मतया क्षीरदाधिविनाशोत्पादयोर्दृष्टान्तत्वेन भवितव्यम् ।
न पुनः स्फटिकोत्पादविनाशौ धर्मिणौ गृह्येते । तस्मान्न तत्स-
मानधर्मतया दृष्टान्तौ भवत इति । यदि तु द्रव्यसमवायादित्युच्येत
तत्स्तोयादिपरमाणुविसमवेतै रूपादिभिरनेकान्तः स्यादित्यत
आह । व्यापकेति । (४२०।१७) तथाऽप्यात्मत्वसामान्येनाऽने-
कान्तो ऽत आह । गुणत्वे सतीति । तथा ऽप्यात्मपरिमाणेनानेका-
न्तो ऽत आह । प्रत्यक्षतयेति । अस्मदादीनामिति शेषः । गुणत्वादि-
विशेषणयोगात्मागव्यापकग्रहणस्योपयोगः । अस्मदादिप्रत्यक्षत्वा-
दित्युच्यमाने सामान्यसमवायाभ्यामनेकान्तः स्यादत आह जा-
तिमत्त्वे सतीति । आश्रितत्वादिसत्रापि जातिमत्त्वे सति प्र-
त्यक्षत्वे चेन्ननुषजनीयम् । अनित्या बुद्धिः प्रत्यक्षत्वादित्युच्य-
माने मनसा व्यभिचारो ऽत आह । अयोगीति । तथा ऽप्या-
त्मना व्यभिचारोऽत उक्तं करणभावे सतीति । हानादि-
बुद्धिः करणं भवति । शब्दश्च प्रत्यये करणम् । अत्रा पि जाति-
मत्त्वे सतीत्यनुषजनीयं तेन न गन्धत्वादिभिरनेकान्तः ॥ १७ ॥

चिन्तान्तरमवतारयति । इदं तु चिन्त्यत इति । नन्वात्म-
परीक्षायामात्मगुणत्वं बुद्धेर्व्यवस्थापितं तत्कस्मात्पुनः परीक्ष्यत
इत्यत आह भाष्यकारः । प्रसिद्धो ऽपीति । यद्यप्ययमर्थः
परीक्षितस्तथा ऽप्यवान्तरविशेषपरिज्ञानार्थं पुनः परीक्ष्यत इत्यर्थः ।
चोदयति वार्त्तिककारः । न गुणेति । परिहरति । अनित्यत्वे
सतीति । विमृष्य सिद्धान्ती(य)पक्षं गृह्णाति सन्निकर्षोत्पत्ते-
रिति । चोदयति अद्राक्षामित्येतन्नेति । (४२१।३) परिहरति स्मृ-
तावपीति ॥ १८ ॥

देशयति अस्तु तर्हीति । परिहरति युगपदिति ।
 यत्करणत्वेनानुमितं तत्करणत्वमपोद्य न कर्तुं भवितुमर्हतीत्यर्थः ।
 युगपज् ज्ञेयानुपलब्ध्या यत्समधिगतमिति भाष्यमाक्षि-
 पति । विशेषणोपादानादिति । समाधत्ते न सर्वस्येति ।
 पुनराक्षिपति । एवमपीति । विशिष्टस्य करणस्य ज्ञानगुण-
 त्वनिषेधः करणान्तरस्य ज्ञानगुणत्वमापादयति न चात्मा कर-
 णमित्यर्थः । समाधत्ते अन्यस्योपपत्तेरिति । एतदेव विवृणो-
 ति । अनवस्थितत्वादिति । प्रमातैव कदा चित्प्रमाणं कदा
 चित्प्रमेयमित्यर्थः । पुरुषान्तरेण पुरुषान्तरं परिच्छिन-
 स्तीति । यादृशो ऽयं पुरुषस्तादृशो ऽयमपीति पुरुषान्तरेण प्रसि-
 द्धेन पुरुषान्तरपरिच्छेद इति । पृच्छति । यदि न करणस्य कस्य
 तर्हीति । उत्तरं ज्ञस्य वशिष्टत्वात् । कर्तुः स्वातन्त्र्यादित्य-
 र्थः । कर्तृकरणादिसमवधाने हि चैतन्यं कर्तर्येव दृष्टं न कर-
 णादौ । यथा मृदण्डचक्रसलिलमूत्रकुलालसमवधाने कर्तुरेव
 कुलालस्य न तु मृदादीनामिति । वक्षी ज्ञाता वक्ष्यं कर-
 णमिति भाष्यं तदनुपन्नं ज्ञातुरपि क चिद्वश्यत्वदर्शनात् । यथा
 देवदत्तं कटं कारयति यज्ञदत्त इत्यत आह । न चायं ज्ञातरीति ।
 यदि तु कश्चिज् ज्ञानगुणं मन इच्छेत्तं प्रति भाष्यं ज्ञानगुणत्वे
 चेति तद्व्याचष्टे । ज्ञानगुणत्वेवेति । (४२२।३) घ्राणादिसा-
 धनस्येति भाष्यं व्याचष्टे । यथा च ज्ञातुरिति । तथा च मन्तुर्मति-
 साधनं यत्तन्मनः करणम् । अथ तदपि कस्माच्चेतनं न भवती-
 त्यत आह । उभयोरिति । विभु चान्तःकरणं ज्ञानमन्तःऽकर-
 णान्तररहितमिति शेषः ॥ १९ ॥

अथ मनोऽन्तःकरणमपश्यंश्चोदयति । तदात्मगुणत्वे
 परिहरति न प्रसज्ज इति । विकरणधर्मेति भाष्यंऽपीति ।

विशिष्टं करणं धर्मो यस्य स विकरणधर्मा अस्मदादिक-
रणाविलक्षणकरणः येन व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मादिदर्शो भ-
वतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

यदि पुनरित्यादि भाष्यं पूरयित्वा व्याचष्टे । यदि पुन-
रिति । नोत्पत्तीति । नात्र प्रमाणमपादिश्यते । प्रत्युत बाधकं
प्रमाणमस्तीत्यर्थः । व्याख्यानान्तरमाह । अयुगपदुत्पत्तौ वे-
ति । व्याख्यानान्तरमाह । विदेहेति । शरीरवृत्तित्वे हि मन-
सः सर्वं ज्ञानं शरीरायतनस्यात्मनो भवेत् । यदा तु मन एव
नास्ति तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्यात्मनश्च शरीराद्बहिरपि भावा-
द्विदेहप्रत्ययोत्पादप्रसङ्ग इति । अन्तःकरणप्रत्याख्यानं चे-
ति । यद्यपि सर्वाण्यपि ज्ञानानि न युगपदुपजायन्ते तथाऽपि
स्मृतीनामवश्यं युगपदुत्पादप्रसङ्ग इति । पूर्वस्मादस्य विशेषः ।
व्याख्यानान्तरमाह । यदा चेन्द्रियमात्मा चार्थेन युगप-
त्संबन्धाविति । असतीन्द्रियमनःसन्निकर्षे व्यभिचारिणां का-
रणत्वकल्पनायां विनिगमनाहेतोरभावादिति भावः । ॥ २२ ॥
विना-ङ्गः-(सू. २३) ॥ अत्र पूर्वपक्षसूत्रे चकारः पूर्वपूर्वप-
क्षसूत्रापेक्षयेत्याह । तदात्मगुणत्वइति । अतः(४२३।६) परस्य
निगद एव व्याख्यानम् ॥ २३ ॥

यदनन्तरमपवृज्यते पुरुषः सा ऽन्त्या बुद्धिः । स्थिति-
हेत्वभावाद्दिनश्यतीति । स्थितिहेतू (४२४।६) धर्मा-
धर्मौ तयोरभावादिति । अथ तयोरभावः कस्मादित्यत आह ।
कालात् । अन्त्यसुखदुःखोपभोगकालं प्राप्तेत्यर्थः । अथ वा स्व-
जनितात्संस्कारादेवान्त्याया बुद्धेर्विनाश इत्याह । संस्कारा-
द्वा । संस्कारस्य तु स्थितिहेत्वदृष्टाभावाद्दिनाशो भवतीति भा-
वः । पृच्छति । कथं कालात् । उत्तरं यावन्त्यस्य जन्मन

इति । चरमस्य देहस्येत्यर्थः ॥ २४ ॥

देशयति यदि कारणस्येति । अत्र तावदेकः परिहार इति । एकः प्रधानः परिहारः परिहारान्तरं त्वेकदेशिमतेनाप्रधानमित्यर्थः । अपि च न स्मृतयो युगपदुत्पद्यन्ते परिच्छेदकत्वाद् गन्धरसरूपस्पर्शगन्धज्ञानवादिसाहचर्यपरिच्छेदकत्वाच्चेति । एकदेशिपरिहारमाह अपरे त्विति ॥ २५ ॥

दूषयति एतत्तु न सम्यगिति । न हि मनः क्वचिदाश्रितमिति (४२५१२) न क्वचित्समवेतं संयोगमात्रं त्वतिप्रसक्तमित्यर्थः । नापि वृत्तिः स्वकार्यसामर्थ्यामिति । शरीरएव मनः स्वकार्यं करोति नान्यत्रेति शरीराश्रितं मन इत्युच्यते । इत्येतदपि नास्ति । इन्द्रियार्थमन्निकर्षस्य मनःकार्यस्य शरीराद्विर्भावादित्यर्थः । तमिममाक्षेपं समाधत्ते । अत्र ब्रूम इति । येनात्मना यच्छरीरं कर्मोपाजितं तत्संयुक्तस्य मनसो वैशेषिकज्ञानादिलक्षणकारित्वं न तत्संयुक्तस्येति शरीराश्रितत्वं मनसो नान्यदित्यर्थः ॥ २६ ॥

चौद्यम् ।

साध्य-तुः (सू. २७) ॥

परिहारः ।

स्मर-धः (सू. २८) ॥

पुनश्चौद्यम् ।

न त-सः (सू. २९) ॥

परिहारः ।

न स्मर-त् (सू. ३०) ॥

भाष्यं चिन्ताप्रबन्धः स्मृतिप्रबन्धः । कस्य चिद्देवार्थस्य लिङ्गभूतस्य चिह्नभूतस्यासाधारणस्येति यावत् । चिन्तनं स्मरणम् । आराधितम् सिद्धं चिह्नवतः स्मृतिहेतुर्भवतीति । इतश्च शरीरसंयोगापेक्षमेव मनः

स्मृतिर्हेतुर्नेतरथेत्याह । शरीरसंयोगानपेक्ष इति ॥ ३० ॥

शरीरान्नैव बहिर्मन इत्यत्रैकदेशिमतमुपन्यस्यति ।

आत्म-षः (सू. ३१) ॥

दूषयति ।

व्यास-नम् (सू. ३२) ॥ प्रातिभवादिति स्मृत्युत्पाद-

स्य पुरस्तात्प्राणिधानादीनां स्मृतिकारणानामसंबन्धनादात्ममनः

संयोगात्संस्कारापेक्षात् स्मृतीनां युगपदुत्पादप्रसङ्गः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

प्रातिभवदित्याक्षेपः ॥ ३४ ॥

समाधानमाह । सतः स्मृतिहेतोरिति । (४२६।२१) अ-

दृश्यमानमपि करणं तत्क्रमश्च कार्योत्पादक्रमेणानुमीयते इति प्रा-

तिभमपि पुरुषकर्माविशेषापेक्षादात्ममनःमन्निकर्षादुपजायमानं

नाकारणं न चाक्रमवादिति प्रधानभूतामुपपात्तिमवतारयितुं पृच्छ

ति भाष्यकारः । प्रातिभसिदानीमिति । अत्रोत्तरमाविलं द-

त्वा शङ्कते । हेत्वभावादयुक्तमिति चेत् । उत्तरसारमाह ।

न करणस्येति । यद्यपि क चिद् ब्रश्चनस्य युगपदारुद्वयसंयोगे

युगपच्छिदाद्वयं भवति तथा ऽपि ब्रश्चनावयवभेदात्करणभेद उ-

न्नेयः । अथ वा करणान्तराणि युगपत्कार्याणि कुर्वन्तु प्रत्यय-

करणं तु क्रमेणैव प्रत्ययान्करोतीत्यत्र न व्यभिचारः तदुक्तं प्र-

त्ययपर्याय इति । तस्मात्करणमेकं न क चिदपि युगपत्कार्या-

यालमिति । कर्त्ता पुनरेको ऽपि करणभेदे युगपद्बहूनि कार्याणि

करोतीत्याह । न ज्ञातुर्धिकरणधर्मणो देहनानात्वे प्रत्य-

ययौगपद्यादिति । विविधं करणं धर्मो यस्य स तथोक्तः तज्ज्ञा-

चष्टे वार्त्तिककारः न चायं नियम इति । (४२७।५) योगी खलु

ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां सेन्द्रियाणि शरीराणि तेषु तेषु लोकेषु निर्माय

मुक्तात्मनामादाय मनांसि मोक्षाय त्वरमाणो युगपत्कर्माणार्जिगान्

सुखदुःखभेदान्न द्विषन्न रक्तो भुङ्क्ते तदस्यैकस्यापि करणभेदा-
द्युगपज् ज्ञानानि भवन्तीति । अयं च द्वितीयः प्रतिषेधः । ज्ञा-
नसंस्कृतात्मप्रदेशभेदस्यायुगपज्ज्ञानोत्पादकस्य । अवस्थितेति ।
यत्रात्मप्रदेशो ऽस्य ज्ञानानि नानाविषयाणि जातानि तत्संस्का-
राश्च तत्रैवावस्थितशरीरस्य । तदनेन शरीरान्तर्गतस्य मनसस्तत्र
प्रदेशे संयोग उपपादितः । तदिदमाह वार्तिककारः । यदि
च ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशेन सन्निकर्षादिति । अतश्चाव्या-
पकत्वादपरिहारः ।

(आचार्यदेशीयानां तु स्मृतिपौगपद्यप्रसङ्गमाह । अवास्थित-
संस्काराः समानदेशा इत्ययुक्तम् । कुतः आत्मप्रदेशा-
नामद्रव्यान्तरत्वात्सर्वसंस्काराणां समानदेशत्वे प्रत्यययौ-
गपद्यप्रसङ्गो ऽपरिहार्यः । न ह्यात्मनो घटस्येव प्रदेशास्ततो
ऽन्ये सम्भवन्ति किं नामात्मैव स त्रैक एवेति सर्वेवात्मवार्तिनः
समानदेशा इत्यर्थः । तदिदमुक्तं भाष्यकारेण आत्मप्रदेशा-
नामद्रव्यान्तरत्वादेकार्थसमवायस्याविशेषे सति स्मृ-
तियौगपद्यस्य प्रतिषेधानुपपत्तेरिति । शब्दसंताने त्वि-
ति शङ्कानिराकरणभाष्यं तुशब्दः शङ्कां निराकरोति । तदेत-
द्भाष्यं वार्तिककारो व्याचष्टे । संस्कारप्रत्यासत्त्येति । पृ-
च्छति । का प्रत्यासत्तिरिति । उत्तरं न ब्रूम इति । निष्प्र-
देशत्वे ऽप्यात्मनः संस्कारस्याप्यवृत्तित्वमुपपादितं तेन शब्दवत्स-
हकारिकारणस्य सन्निधानासन्निधाने कल्पेते एवेत्यर्थः ॥३४॥
संप्रति बुद्धिरेव किमिच्छादिसमानाधिकरणा न वेति वि-
चार्यते । तत्र सांख्यदर्शनवैनाशिकानां विप्रतिपत्तेः संशयः ।
तद्विप्रतिपत्तिमाह । पुरुषधर्मो ज्ञानमन्तःकरणस्थत्विति ।
पुरुषचैतन्यमेकमेव कूटस्थनित्यं सत्तत्तदर्थकारपरिणतबुद्धितत्त्व-

३५-३७ सू० ३प्र०] बुद्धेरात्मगुणत्वप्रकरणम् । ५६९

प्रतिबिम्बविभ्रमवशाद्भिन्नमिवोपजनापायधर्मकं विज्ञानमिति च
वृत्तिरिति चाख्यायते । इच्छाद्वेषादयस्तु वस्तुत उपजनापायध-
र्माणोऽन्तःकरणस्येति दर्शनं तत्प्रतिषिध्यते ।

ज्ञस्ये-त्योः (सू. ३५) ॥ प्रतिवृत्त्यश्चतीति स चात्मा चे-
ति प्रत्यगात्मा तस्मिन् । एतदुक्तं भवति । ज्ञानसामानाधिकरण्ये-
नोपलब्धेरन्यदीयानामिच्छादीनामन्यस्याप्रत्यक्षीकरणात्तत्कर-
णे वा मैत्रगतानामपि चैत्रेण ग्रहणप्रसङ्गाद् अन्तःकरणवृत्तीनां
च गुणान्तराणां नित्याप्रत्यक्षत्वादात्माश्रिता एवेच्छादयो नान्तः-
करणाश्रया इति ॥ ३५ ॥

अत्रान्तरे लब्धावकाशो भूतचैतनिकः प्रत्यवतिष्ठते ।

ताल्लि-धः (सू. ३६) ॥ (४२८।४) यदि यस्यारम्भनिवृत्ती
तस्येच्छाद्वेषौ यस्य चैतौ तस्य चैतन्यं हन्तायातमनेन क्रमेण भू-
तचैतन्यमस्मदभिमतं भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेषु आरम्भनि-
वृत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

परश्वादिष्वित्यस्य तात्पर्यमाह वार्तिककारः । परश्वा-
दिष्विति । (४२८।९) भूतचैतनिकस्तल्लिङ्गत्वादिति हेतुं स्व-
पक्षसिद्ध्यर्थमन्यथा व्याचष्टे । अयं तर्हीति । शरीरेष्ववयव-
व्यूहभेददर्शनाच्च लोष्टादिषु (अ) शरीरारम्भकानामणूनां प्रवृ-
त्तिभेदोऽनुमीयते ततश्चेच्छाद्वेषौ ताभ्यां चैतन्यमिति । असं ज-
ङ्गमं विशारदं अस्थिरं कृमिप्रभृतीनां शरीरं, स्थावरं स्थिरं श-
रीरं देवमनुष्यादीनां, तादृि चिरतरं वा त्रि(धि)यते । तदेतद् दूष-
यति । कुम्भादिमृदवयवानामिति । कुम्भाद्यारम्भिकाणां
मृदां व्यूहभेदादारम्भदर्शनाददर्शनाच्च सिकतानामारम्भनिवृ-
त्त्योरनैकान्तत्वम् ॥ ३६ ॥

तदेवं भूतचैतन्यसाधनं दूषयित्वा तेभ्योऽन्यस्य चैतन्ये साधनमाह ।

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ (सू. ३९) ॥ तयोश्चिच्छाद्वेषयोर्नियमानियमौ विशेषकौ । अयमेव चेच्छाद्वेषयोर्विशेषो यद्भूताश्रयत्वमनयोर्व्यावर्त्य तदितराश्रयत्वव्यवस्थितिः । तत्रानियमं तावदाह । ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती-स्पन्दास्पन्दौ, न स्वाश्रये-नेच्छाद्वेषयोराश्रये, किन्तर्हि प्रयोज्ये परश्वादावाश्रये, तत्र प्रयुज्यमानेष्वेव भूतेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां न सर्वेषु प्रयोजकेष्वपि शरीरादिष्विति । सेयमानियमोपपत्तिः । सार्वत्रिकत्वमनियम इति । एतदुक्तं भवति न शरीरमिच्छाज्ञानद्वेषाधारः इच्छादिजनितस्पन्दाधारत्वात् परश्वादिवदिति । तदेवमनियमं भेदकं व्याख्याय नियमं व्याचष्टे । यस्य तु चार्वाकस्य दर्शने ज्ञत्वादुभूतानामिच्छाद्वेषनिमित्ते आरम्भनिवृत्ती स्वाश्रये शरीरादौ, तस्य चार्वाकस्य । यथा भूतानां गुरुत्वादिगुणान्तरनिमित्ता प्रवृत्तिः पतनादिलक्षणा, तस्यैव गुरुत्वादेर्गुणान्तरस्य प्रतिबन्ध आधारद्रव्यसंयोगेन तस्मान्निवृत्तिरपतनादिका, सा भूतमात्रे भवन्ती नियमेन व्याप्ता, न तु शरीरोपगृहीतेष्वेव भूतेषु, एवं भूतमात्रे ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वाश्रये स्याताम् । एतदुक्तं भवति ये ये पृथिव्यादिधर्मास्ते ते यावत्पृथिव्यादिभाविनो ह्यः यथा गुरुत्वादयः ज्ञानेच्छादयोऽपि चेत्पृथिव्यादिधर्मास्तैरप्यवश्यं यावत्पृथिव्यादिभाविविभिर्भवितव्यं न तु घटादौ दृश्यन्ते तस्मान्न पृथिव्यादिधर्मा ज्ञानादय इति । अत्र च भाष्यकृता सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गविवक्षया नियमशब्दः प्रयुक्तः अ-

सार्वत्रिकत्वविवक्षया त्वनियमशब्दः । वार्त्तिककृता तु प्रयोज्य एवेत्यवधारणं विवक्षित्वा प्रादेशिके नियमशब्दः प्रयुक्तः । सार्वत्रिके तुक्तनियमरूपावधारणाभावादनियमशब्द इति विवक्षा-भेदाश्रयादविरोध इति ।

यस्तु नियमं मदशक्त्या व्यभिचारयेद् यथा किल किण्वादयः परिणामविशेषवन्तो मदिराभावमापन्ना मदयन्ति एवं कायाकारेण परिणतानि पृथिव्यादीनि चेतयन्ते नान्यथा तेन घटादिष्वप्रसङ्ग इति, तं प्रसाह एकशरीरे चेति । यथा मदिरावयवेषु प्रत्येकमेव मदशक्तिरस्ति न पुनः समुदाय-मात्रसमवायिनी एवं शरीरावयवेष्वपि प्रत्येकमेव चैतन्येन भवितव्यम् । न च वैयासात् कायसमुदायाश्रयमेव चैतन्यं नावयवाश्रयमिति शक्यमास्थातुं त्रिचतुरावयवच्छेदेऽपि चैत-न्योपलम्भात् । तस्मादवयवानां प्रत्येकं चैतन्ये शरीर एकस्मि-न्बहवश्चेतनाः स्युः । भवतु किं नो बाध्यत इति चेन्न । विरु-द्धाभिप्रायत्वेन स्वतन्त्राणां न किञ्चिदपि कार्यं जायेत । न च बहूनामेकाभिप्रायनियमो दृष्टः काकतालीयन्यायेन स्यादेकाभि-प्रायत्वं न पुनरस्य नियमो दृष्टचर इति प्रसिद्धत्वाद् दूषणमेत-दुपेक्ष्य प्रत्ययव्यवस्थाऽनुमानं न भवेदिति दूषणमुक्तम् । एकास्मिन् शरीरे प्रत्ययानां परस्परप्रतिसन्धानं पश्यामो न श-रीरान्तर इति व्यवस्था । सेवं यद्येकस्मिन् शरीरे एक एव चेतनो न चासौ शरीरान्तरे ततो भवेन्नान्यथेत्यर्थः । क्वचित्पाठः प्रत्ययव्य-वस्थानानुमानं स्यादिति स सुगम एव । नियमानियमाविति य-दुक्तं तत्रानुमानमेव सूचयति भाष्यकारः । दृष्टश्चान्यगुणनि-मित्तः प्रवृत्तिविशेष इति । हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुः परि-स्पन्दः प्रवृत्तिविशेषः । सो ऽयं प्रयोगः त्रसस्थावरशरीरेषु

प्रवृत्तिः स्वाश्रयव्यतिरिक्ताश्रयगुणनिमित्ता प्रवृत्तिविशेषत्वात् ,
 परश्वादिगतप्रवृत्तिविशेषवदिति । न केवलं शरीरस्य प्रवृत्तिवि-
 शेषो ऽन्यगुणनिमित्तः भूतानामपि तदारम्भकाणां प्रवृत्तिविशेषो
 ऽन्यगुणनिवन्धन एवेत्याह । तदवयवव्यूहालिङ्ग इति । नेन्द्रि-
 यार्थयोर्विनाशे ऽपि ज्ञानावस्थानादिति च समान इति ।
 यथा हीन्द्रियार्थयोर्विनाशे ऽपि ज्ञानावस्थानान्नेन्द्रियार्थयोगुणो ज्ञा-
 नमेवं बाल्यकौमारयौवनवार्द्धकावस्थासु शरीरविनाशे ऽपि ज्ञाना-
 वस्थानान्न शरीरगुणो ज्ञानमित्यर्थः । अपि च ज्ञस्येच्छाद्वेषनि-
 मित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योरित्यत्रारम्भनिवृत्तिशब्देन न प्रवृत्तिनि-
 वृत्तितमात्रमभिमतमस्माकमपि तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थः स्पन्द-
 विशेषः । तमिमं प्रवृत्तिविशेषमविज्ञाय त्वया प्रवृत्तिसामान्येन प्र-
 त्यवास्थितमित्यप्रतिपत्तिस्ते निग्रहस्थानमित्याह भाष्यकारः ।
 क्रियामात्रमिति । तद्वार्तिककारो व्याचष्टे । अन्यथा ऽभि-
 धानाच्चायुक्तमिति शेषः । स्यादेतत् । यथोक्तहेतुत्वादित्या-
 दयो वक्ष्यमाणसूत्रगता हेतवो भूतेन्द्रियचैतन्यप्रतिषेधे ऽपि समा-
 ना इति कस्मान्मनोमात्रे चैतन्यं प्रतिषिध्यते न भूतेन्द्रियमनसमि-
 त्यत आह । भूतेन्द्रियमनसामिति (४९९ । ३) ॥ ३८ ॥

यथो-सः (सू. ३९) ॥ यथोक्तहेतुत्वादिति व्याचष्टे ।
 इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमित्यत
 आत्मलक्षणात्प्रभृति तल्लक्षणपरीक्षार्थवसानं यावदुक्तं त-
 त्संगृह्यते । अत्र च हेतुशब्देनेच्छादिसूत्रं सुसंगृहीतं भावप्र-
 त्ययेन हेतुत्वविषया परीक्षोपलक्षिता । वार्तिकं यथोक्तहे-
 तुत्वादिति । दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादित्येवमादीनां हे-
 तुनामुक्तहेतुत्वं तस्मादिति योजना । तदनेन भाष्यगतप्रभृतिप-
 दार्थो विवृतः । नन्वेते यथोक्ता हेतवः परैः प्रतिषिद्धा इत्यत

आह । अप्रतिषेधात् । वाङ्मात्रेण प्रतिषिद्धा न वस्तुत इत्यर्थः ।
 धारणप्रेरणव्यूहनाक्रियासु यथायोगं शरीरेन्द्रियाणि परतन्त्राणि
 भौतिकत्वाद् घटादिवदिति, मनश्च परतन्त्रं करणत्वाद्वास्यादिव-
 दिति कस्यचित्प्रयत्नवशात्प्रवर्तन्ते चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युः ।
 तथा च पारतन्त्र्यप्रसाधकानुमानविरोध इत्यर्थः । यस्तु कश्चिदभ्यु-
 पेतवेदप्रामाण्यः पुरुषमचेतनं फलभागिनमभ्युपगम्य शरीरादीनां
 चैतन्यं रोचयते तं प्रति तेषामचेतन्ये हेतुमाह । अकृताभ्याग-
 माच्च । उपदेशफलं हि कर्तरि, कर्त्रपेक्षितोपायताभिधानलक्षण-
 त्वादुपदेशस्य । यथाऽऽह स्मात्र भगवान् जैमिनिः, शास्त्रफलं
 प्रयोक्तारि तल्लक्षणत्वादिति । उपपादितं चैतदस्माभिर्विधिर्विधा-
 यक इत्यत्रान्तरे । स्वर्गकामो यजेतेति च कर्त्रभिप्रायफलावगमाद्
 अत्रैवात्मनेपदस्मरणात् य एव कर्मणः कर्ता स एव तत्फलस्य
 भोक्तेति सर्वैरास्तिकपथानुसारिभिरभ्युपेयम् । शरीरादीनां चैत-
 न्ये चेतनस्य स्वातन्त्र्यात्त एव कर्मणः कर्तारः, न चैतेषां भस्म-
 साद्भूतानामासुष्मिकफलशालितासम्भव इत्यात्मनोऽचेतनस्य
 तद्भागिताऽभ्युपगन्तव्या, तथा च तैः शरीरादिभिः कर्म कृतं
 पुरुषेण भुज्यत इति शास्त्रप्रतिक्षिप्ताकृताभ्यागमकृतनाशदोषप्रस-
 ङ्गः । अचैतन्ये तु शरीरादीनां देहाद्यतिरिक्तस्य च पुरुषस्य चै-
 तन्ये पुरुषः स्वातन्त्र्यात्कर्ता तत्प्रयोज्यतया शरीरादीनि तत्सा-
 धनानीति तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोग इति न शास्त्रव्या-
 कोपः नापि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिविरोध इति भावः ॥ ३९ ॥

अथायं सिद्धोपसंग्रहः उपसंहार इत्यर्थः । उपपत्तिपदार्थ-
 व्याख्यानमप्रतिषेधादिति । भाष्यं कायस्यभेदाद्विनाशा-
 दिति । अप्रतिसंश्रितमिति । पूर्वैद्युर्दकृतानामपरेद्युः परिसमा-
 पना दृष्टा मया ऽऽरब्धं मयैव परिसमापनीयमिति प्रतिसन्धाय, अप्र-

तिसन्धाने तु न परिसमापयेयुः परिसमापने वा चैत्रारब्धमपि मैत्रः
परिसमापयेद् यतः स्वयमारब्धात् परारब्धमव्यावृत्तमविशिष्टं स्व-
स्यापि परत्वादपरिनिष्ठं च कर्मजातं स्यात् । तथा हि वैश्यस्तोमे
वैश्य एवाधिकारी न ब्राह्मणराजन्यौ एवं राजभूये राजैव न
ब्राह्मणवैश्यौ एवं सोमसाधनके यागे ब्राह्मण एवाधिकृतौ न राज-
न्यवैश्यौ शूद्रश्चानधिकृत एवेति परिनिष्ठा सा बुद्धिसंततिमात्रे न
स्यात्, कुतः सल्लक्षणानां सर्वेषामेव त्रैलोक्यवैलक्षणेन भेदात्
अन्याप्तेहसामान्यस्य च व्यावर्तितत्वदित्यर्थः । अपतिसंहितत्वे
हेतुमाह । स्मरणाभावादिति ॥ ४० ॥

त्रिकालव्यापिनी ज्ञानशक्तिरेव ब्रह्माभाष्यं तच्चाकाशादि-
भ्यो व्यावृत्तं त्रिकालव्यापि स्वरूपमेवात्मनः ॥ ४१ ॥

स्मृतिहेतूनामयौगपद्यादित्येतत्सिंहावलोकितन्यायेन पृच्छ
त्यनन्तरसूत्रमवतारयितुं स्मृतिहेतूनामिति । तात्पर्याभिधान-
पुरःसरं सूत्रमवतारयति । स्मृतिकारणानामिति (४३०।१) ।

प्राणि-भ्यः (सूत्र. ४२) ॥ भाष्यं सुस्मूर्षया मन-
सो धारणमिति । तेषु तेषु विषयेषु प्रसक्तस्य मनसस्ततो
निवारणमित्यर्थः । सुस्मूर्षितल्लिङ्गानुचिन्तनं वा साक्षाद्वा
धारणं तल्लिङ्गे वा प्रयत्न इत्यर्थः । निबन्धः खल्विति ।
यथा अत्रैव प्रमाणादयो ऽर्था एकग्रन्थोपात्ता अन्योन्यस्मृतिहे-
तवः । आनुपूर्व्या वा । यथा प्रमाणपदार्थं स्मृत्वा प्रमेयं स्मर-
ति । इतरथा वा । यथा निग्रहस्थानानां प्रमाणानां स्मृत्वा स्मरति ।
निबन्धस्य व्याख्यानान्तरमाह । धारणेति । धारणाशास्त्रं
जैगीषव्यादिप्रोक्तं तत्कृता ज्ञातेष्वेव वस्तुषु नाडीचक्रहृत्पुण्ड-
रीककण्ठकूपनासाग्रतःलुललाटब्रह्मरन्ध्रादिषु स्मर्तव्यानां बीज
(रूप)संस्थानास्त्राभरणभृतां च देवत नामुपनिक्षेपः समारोपः

तथा तत्र देवताः समारोपितास्तास्तत्तदवयवग्रहणात् स्म-
र्यन्त इत्यर्थः । अभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणो ऽत्रा-
भ्यासशब्देनोच्यते । तेन आदरप्रत्ययवपि संगृहीतौ
भवतः । तयोरप्यभ्यासवत्संस्काराधानद्वारेणैव स्मृतिहेतुत्वात् ।
अपि च स्मृतिकारणानां नासमावेशो विवक्षितः तेन संस्कारेण
स्मृतिहेतुनां सर्वेषामेव प्रणिधानादीनां समावेश एव । निबन्धा-
दिभिस्तु यथायोगं समावेशासमावेशावृहनीयाविति । अयमत्र
उपलब्धं लिङ्गं पुनरिति । संगोगिन उदाहरणं धूमो ऽग्ने-
रिति । समवायिन उदाहरणं कुड्यादिष्ववहिताया गोरव्यवहि-
तप्रसक्षं विषाणं गवा सहास्ति विषाणस्य समवाय इति समवा-
यि विषाणमुक्तम् । न तु तद्वि समवायि गोरेव स्वावयवे विषा-
णादौ समवायात् । एकार्थसमवायीत्यस्य एकार्थस्य समवाय ए-
कार्थसमवायः स यस्यास्ति स एकार्थसमवायीत्यर्थः । तदेतदुदा-
हरणं यथा पाणिः पादस्येति । एकस्य स्वत्वव्यावयविनः सम-
वायः पादे च पाणौ च तौ पाणिपादावेकार्थसमवायवन्तौ त्वै-
केनैकार्थसमवायवता प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्ष एकः स्मर्यत इति । यदा
त्वेकस्मिन्नर्थे समवाय इत्यर्थस्तदा रूपं स्पर्शस्येत्युदाहरणम् । स्वा-
भाविकाविनाभावयुक्तं लिङ्गं साङ्केतिकं तु चिह्नमिति विशेषः ।
ग्रामणीर्नायकः । यद्यपि सर्वत्र प्रणिधानादौ सम्बन्धः संप्रवृत्ते
तथा ऽपि प्रणिधानादिपश्चात्तया सम्बन्धान्तरे गोबलीवर्दन्या-
येन सम्बन्धशब्दो वर्तते । न च सम्बन्धशब्देन सर्वसंग्रहादनर्थ-
कमितरपदोपादानमिति वाच्यम् । उक्तमत्र भाष्यकृता ऽन्यत्र
वाक्यत्वाद्यव नान्द्रियते सूत्रकार इति । शिष्यधीप्रसाद-
श्चैवं भवति विशिष्याभिधानादिति । आनन्तर्यादिति ।
ब्राह्मे हि मुहूर्ते प्रबोधानन्तरमुत्थानं कृत्वा मूत्रं ततः शौचं ततो

मुखप्रक्षालनदन्तधावनादीनि इति । वियोगादिति शोकमुप-
लक्षयति । ततो ऽपि शोकविषयस्य स्मरति । एककार्यादिति ।
यथा सप्तदशविराणामृद्धिकामानामेकं सर्वं कार्यम् । तत्रैकं यज-
मानं दृष्ट्वा यजमानान्तरं स्मरति । आतिशयात् यथा ब्रह्मचारी
उपनयनविद्याविनयातिशयोत्पादकमाचार्यं स्मरति । प्राप्तेस्तु
यथा प्रार्थको(१) यतो ऽनेन मिष्टमन्नं प्राप्तं प्राप्तव्यं वा तम-
भीक्षणं स्मरति । इच्छा स्नेहः । स तु भ्रात्रादिषु । द्वेषः
प्रतिकूले दारादौ, ताभ्यामपि च तद्विषयं स्मरति । क्रियया कार्ये-
णेत्यर्थः । धर्माद् वेदाभ्यासजनितेन धर्मेण जातिं स्मरति पूर्वि-
काम् । एवं जातमात्रस्य सुखादिसाधनस्मरणं धर्माधर्माभ्यां द्रष्ट-
व्यम् । ननून्मादादयो ऽपि स्मृतिहेतवो लोकासिद्धास्तत्किं
तेऽपि नोक्ता इत्यत आह । निदर्शनमात्रं चेदं स्मृतिहेतूना-
मिति ॥ ४२ ॥

तदेवं सिंहावलोकितं समर्थं प्रकृतायामेव बुद्धौ विचारमार-
भते । अनित्यायां च बुद्धाविति (४३०।९) द्रव्याश्रितत्वा-
दित्युच्यमाने ऽपि चक्षुरीदिगतै रूपादिभिरव्यभिचारो ऽत आह ।
व्यापकद्रव्याश्रितत्वादिति । तथाऽप्यात्मत्वादिभिरनेकान्तो
ऽत आह जातिमत्त्वे सतीति । तथापि विभुत्वेन परिमाणेना
नेकान्तो ऽत आह । अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सतीति । कर्मा-
दिसन्तानविषया बुद्ध्य आशुतरविनाशिन्यः । अत्र यदि प्रका-
शकत्वादित्युच्येत तत आत्मना ऽनेकान्तोऽत आह । करणत्वे
सतीति । तथाऽपि मनः श्रोत्रादिभिरनेकान्तोऽत आह प्रत्यर्थे-
ति । एका बुद्धिरेकविषया न विषयान्तरविषया एवमन्या अपि
बुद्ध्यः स्वविषयमात्रे पर्ववसिताः न मनःश्रोत्रादि तथा नाना-

विषयत्वात्तस्येति । ननु प्रत्यर्थनियतत्वमव्यापकं युगपदनेकार्थ-
 सन्निकर्षं सति नानाविषया ऽप्येका बुद्धिरुपजायते ऽत आह ।
 प्रतिक्षणं कर्मणो ऽर्थस्यापूर्वस्योत्पत्तौ सत्यां तत्कार्याया बुद्धे-
 रयुगपदुत्पत्तौ कारणक्रमानुविधानात्कार्यक्रमस्य प्रत्यक्षबुद्धेर्विषय-
 कारणत्वात् । एकैकश्चासौ विषयः क्रमोत्पादवान्कारणमिति क्रम-
 वतीनां बुद्धीनां सर्वासामेव सिद्धं प्रत्यर्थैकनियतत्वम् । निय-
 मश्च तज्जातीयकर्मन्तरापेक्षया न तु द्रव्यापेक्षया, तेन क-
 र्मबुद्धेर्द्रव्यादिविषयत्वेऽपि प्रत्यर्थनियमाविरोधः । प्रत्यर्थनिय-
 तत्वविशेषणयोगाच्च प्रागात्मना ऽनैकान्तिकत्वाशङ्कायां करणत्वं
 विशेषणमिति । प्रयागान्तरमाह । अथ वेति । सुखत्वादिभिरनैका-
 न्तिकत्वं मा भूदत उक्तं गुणत्वे सतीति (४३।१।१) । रूपादिभिर्व्य-
 भिचारनिवृत्त्यर्थमुक्तमवाह्येति । अवास्थानग्रहणंऽपि प्रत्यक्ष-
 निवृत्तेर्ध्वसिनीति । यद्यपि शक्यं वक्तुं स्पर्शादिबुद्धिरेकैव
 तावन्तं कालमवास्थिता व्यवधानादिना ऽर्थमन्निकर्षविनाशाद्विन-
 क्ष्यति, निमित्तकारणविनाशोऽपि कार्यविनाशहेतुर्दृष्टो ऽपेक्षाबु-
 द्धिविनाशाद् द्वित्वविनाशवदिति तथा ऽपि क्षणिकत्वे हेत्वन्तरा-
 देव सिद्धे बुद्धीनामभ्युच्चयमात्रतयैतद् द्रष्टव्यम् । तथा हि क्षण-
 विध्वंसिवस्तुविषयबुद्धिक्षणिकत्वसमर्थनेनैव स्थायिवस्तुविषयबु-
 द्धिक्षणिकत्वसमर्थनमपि सूचितम् । स्थिरगोचरा बुद्ध्यः क्षणि-
 काः बुद्धित्वात्कर्मादिबुद्धिवादिति । बुद्धिरेव स्पर्त्री ग्रहीत्री चे-
 त्यात्मभावं बुद्धावारोप्य शङ्कते । स्मृतेरवतिष्ठत इति चेदिति ।
 निराकरोति । नात एवेति । न हि बुद्धिः स्पर्त्री येन तदभावे
 स्मृतिर्नोत्पद्येत, अपि त्वात्मा, स च नित्यः, बुद्धिसद्भावस्तु स्मृ-
 तिविराधीत्यर्थः । अथ यदि बुद्धिर्नास्ति कुतस्तर्हि स्मृतिरुत्पद्यते
 न ह्यकारणं कार्यं भवति । न चात्ममात्रं कारणं मा भूदात्मनो

नित्यत्वेन स्मृत्युत्पादो ऽपि नित्यः तस्मात्स्मृत्युत्पादो ऽपि लिङ्गं
बुद्ध्यवस्थान इत्यत आह । अन्यतश्च तद्भावादिति । स्या-
देतत् । बुद्धिजः संस्कारश्चेत्स्मृतिहेतुरथ यावत्संस्कारं स्मृतिः
स्यादत आह । ततः प्रणिधानादीति । न संस्कारोऽस्तीत्ये-
तावता स्मृतिरपि तु तत्प्रबोधात् । प्रबोधश्च कादाचित्कः कादा-
चित्कत्वात् प्रणिधानादेरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

बुद्धिस्थैर्यवाद्याह । यद्यनवस्थायिनीति ॥ ४४ ॥
दूषयति । न विरोधादिति । (४३ २।५) बुद्धिमात्रस्य स्था-
यित्वं प्रतिज्ञाय विद्युत्संपातजाताया घटादिबुद्धेरनवस्थायित्वा-
भिधानं विरुद्धमित्यर्थः । अव्यक्तग्रहणस्यान्यथासिद्धत्वं चाह ।
अव्यक्तग्रहणस्येति । धर्मिग्रहणहेतोर्भेदात् । अव्यक्तश्च यो
धर्मिग्रहणे हेतुः सामान्यमात्रवन्तं धर्मिणं गृह्णाति तद्वशादव्यक्त-
ग्रहणं यस्तु सामान्यविशेषवन्तं तद्वशाच्च ग्रहणमित्यर्थः ।
धर्मिणं त्वनाश्रित्य स्वे विषये ग्रहणानां तदसम्भवात् व्यक्तत्वा-
दित्यर्थः । धर्मिणमनाश्रित्येति विद्वान् शङ्कते । लोकविरोध-
इति चेदिति । धर्मिग्रहणमाश्रित्य निराकरोति । नान्यथेति ।
दोषान्तरमाह । अनैकान्तिकत्वाच्चेति । धार्त्तिकव्याख्याने-
नैव भाष्यव्याख्या ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

शरीरेति (४३ ३।९) । पूर्वं हि भूतेन्द्रियमनसां चैतन्यं सा-
क्षातिराकृतमुपक्षेपात् शरीरस्य, संप्रति तु शरीरस्यैव साक्षाच्चैतन्यं
निरस्यतइति तात्पर्यभेदादपुनरुक्तम् । वस्तुतस्तु पौनरुक्त्यपरि-
हारं भाष्यकारः प्रकारान्तरेण प्रकरणान्ते वक्ष्यति । तद्गुण-
त्वं तत्रोपलब्ध्या सिध्यति । अवाधितयेति शेषः ॥ ४७ ॥

न कारणानुच्छेदात्-चेतनायाः, शरीरमस्याः कारणं त-
च्चानुच्छिन्नं, संस्कारस्य तु कारणस्योच्छेद इति द्रष्टव्यम् ॥ ४८ ॥

तच्च न, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेरिति । नात्यन्तिकः
परमाणौ वा पिठरे वा रूपाभाव इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

तदेवमात्यन्तिकानात्यन्तिकत्वं वैधर्म्यमुक्त्वा सप्रतिद्वन्द्वि-
सप्रतिद्वन्द्वित्वं वैधर्म्यान्तरमाह इतश्च । प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः
पाकजानाम् (४३५।८) तद्व्यभिचारोद्भावनेन चैतन्यस्य यावच्छ-
रीरभावित्वाप्रतिषेधः ॥ ५० ॥

प्रत्ययव्यवस्थाप्रसङ्गात् । (४३६।३) यथा देवदत्तस्य ज्ञा-
नं न यज्ञदत्तः प्रतिसंघत्ते किं तु देवदत्त एवेति व्यवस्था एव-
मेकस्मिन् शरीरे अवयवान्तरज्ञानमवयविनो वा ज्ञानं न प्रति-
संघत्ते इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

दृष्टान्तसूत्रमिति । न करचरणादयश्चेतनाः शरीरावय-
वत्वात् केशनखादिवदिति दृष्टान्तार्थं सूत्रमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

त्वक्पर्यन्तत्वादिति । शरीरावयवत्वं केशनखादीनां हे-
तुरसिद्धः इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणं, तद्वन्न शरीरं समवेतं तेनेन्द्रि-
याश्रयेणावश्यं भवितव्यम् । त्वक्पर्यन्तश्चावयवसमूहस्तथा, न तु
केशनखादयस्तादृशा इति न शरीरावयवा इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

रूपादीनां त्वितरेतरवैधर्म्यमननुसंहितं च-शरीरगुणत्वेनान-
न्वितमित्यर्थः न हि येषां चाक्षुषत्वरासनत्वादिरूपवैधर्म्ययोग-
स्ते न शरीरगुणा इति दृष्टम् । अव्यावृत्तं च शरीरगुणानां तादृ-
शवैधर्म्यदर्शनात् । तस्मादशरीरगुणत्वान्वयव्यतिरेकाभावाद्वैध-
र्म्यमात्रमेतत् । बाह्यकरणप्रत्यक्षाप्रत्यक्षशरीरगुणवैधर्म्यं मानसप्रत्य-
क्षत्वमन्वयव्यतिरेकि तु चेतनायाः शरीरगुणत्वसाधनं
न भवति । अपि तु तदन्यगुणत्वसाधनमित्यर्थः । विशेषप्रति-
षेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाहेतुत्वादिति ये हेतव इति (४३७।२) व-
हुवचनं हेतुकेदेशविवक्षया । न शरीरगुणश्चेतना अपावद्द्रव्यभा-

वित्वादिः युच्यमाने संस्कारेणानेकान्त इत्यत उक्तं निमित्ता-
न्तराभाव इति । तथा ऽपि पाकजेन गुणेनानेकान्त इत्यत उक्तं
विरोधिगुणादर्शने चेति । शरीरव्यापित्वादिति न सा-
धनमिति । प्रसङ्गो हि न साधनं हेतोरभावात् । यथा ऽऽहुः स्ति
प्रसङ्गो न प्रसङ्गसाधनमिति । बाह्यकरणाप्रत्यक्षत्वादिति ।
न च गुरुत्वादिभिरनेकान्तः । तेषां खल्वप्रत्यक्षत्वमेव । न तु
बाह्यकरणप्रत्यक्षत्वमिति भावः ॥ ५६ ॥

मनःस्वरूपपरीक्षायां भाष्यवार्त्तिके निगदेनैव व्याख्याते ॥ ५७ ॥

संस्थापनं स्थानम् ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

मनसि विचार्यमाणे कः सम्बन्धः शरीरोत्पत्तिनिमि-
त्तविचारस्येत्यत आह । मनसः खल्विति । (४३८।१०) मन
एवाधिकरणविचारेणापि परीक्ष्यत इति नासम्बन्धः शरीरोत्प-
त्तिनिमित्तविचारस्य । परित ईक्षा परीक्षा सा च स्वरूपतश्च
सम्बन्धितश्च, शरीरं च मनःसम्बन्धि तदधिकरणत्वान्मनसः
तस्मान्मनस एव परीक्षा या शरीरस्येत्यर्थः । उत्पत्तिसमका-
लमिति । (४३९।१) सममिव समम् । उत्पत्त्यनन्तरमित्यर्थः । क
एवमाह न ददातीति । यदि समग्रं भवति तत उत्पत्त्यनन्तरं
दास्यत्येवंसर्थः । विपच्यमानः कर्माशय इति । स्वफलं
भोजयन्नित्यर्थः । यानि वा प्राण्यन्तराणि तस्य कर्मणः
समानोपभोगानीति । तद्यथा किंनरत्वनिर्वर्त्तनीयं कर्म स्त्री-
पुंसभोग्यं स्त्रीपुंसयोरन्यतरकर्मप्रतिबन्धे फलं न ददातीति ।
यानि प्राण्यन्तराणि स्नेहविषया भ्रात्रादयस्तस्य कर्मणो भागी-
नीति । कर्मफलानामन्नाद्याश्वग्रामादीनां भागित्वात्कर्मभागीनी-
त्युच्यन्ते तेषां प्राणिनां कर्मभिरभागादिशब्दवाच्यैः प्रतिबन्धा-
दिति । तस्य वा कर्मणः सहकारिधर्माधर्मलक्षणं निमि-

६१-६८सू० ७प्र०] शरीरस्यादृष्टानिष्पाद्यत्वप्रकरणम् ॥ ५८१

त्तं नास्तीति । अयमर्थः । दृष्टानां सेवादिकर्मणां व्यभिचारा-
द्भ्रामादिलाभेऽदृष्टं कारणं कल्पनीयम् । यथा ऽऽहुः ।

“तच्चैव तत्र कारणं शब्दश्चेति” दृष्टं सेवादिच कारणम् । श-
ब्दश्चेति विषयिणा तद्विषयमदृष्टमुपलक्षयति । ते च ग्रामादयस्त-
स्माददृष्टादुपजायमाना अन्तरा विघ्ननाशाय देवतानमस्कारादि-
जनितमपि धर्ममपेक्षन्ते, तस्मात् प्राग्भवीयेन धर्मेण स्वफलनि-
र्वर्त्तनाय धर्मान्तरं सहकार्यपेक्ष्यते, सहकारिणां च वैचित्र्या-
त्प्रतिबन्धापगमहेतोरपि सहकारित्वाविरोधः । तेन कर्मणः स-
हकारिनिमित्ताभावात्प्रतिबद्धमदृष्टं फलं न जनयतीत्यर्थः । त-
स्य वा कर्मणः सहकारिणः कारणस्य गरीयसा कर्मान्तरेण
प्रतिबन्धात्फलस्यानारम्भः । एवं स्वकर्मणां सहकारिनिमित्ता-
भावप्रतिबन्धावुत्त्वा समानोपभोगसत्त्वान्तरकर्मणामपि सहका-
रिनिमित्ताभावप्रतिबन्धौ दर्शयति । सत्त्वान्तरकर्मणां
चेति । रूपादिमत्त्वादित्युच्यमानेपरमाणुभिरनेकान्तः स्या-
दत आह । बाह्यकरणग्राह्यत्वे सतीति । । इन्द्रि-
यग्राह्यत्वे सतीत्येतावतैव सिद्धे इन्द्रियग्राह्यराशेर्बाह्यकरणग्रा-
ह्यं राश्यन्तरमिसेतावन्मात्रविवक्षया बाह्यकरणग्राह्यत्वे सती-
त्युक्तम् ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

सिकतादिदृष्टान्तस्य साध्यसमतयैव पुरुषार्थक्रियासामर्थ्या-
दिस्य हेतोरनैकान्तिकत्वोद्भावनमपि प्रत्युक्तम् ॥ ६३ ॥
सिकतादीनामपि कथं चित्पुरुषार्थहेतुत्वात्तत्सर्गः पुरुषगुणपूर्व-
क इत्युक्तम् । मा भूद्वा पुरुषगुणपूर्वकत्वं सिकतादिसर्गस्य, तथा
ऽपि शरीरस्योत्पत्त्यादि परिभावयन्तः सिकतादिभ्यो वैषम्यं
वीक्षमाणास्तद्विलक्षणकारकणत्वमेव प्रतिषद्यामहे तथा च सिध्यति
पुरुषगुणनिमित्ततेत्याह । विषमश्चायमुपन्यास इति । (४४०)

१६) ननु मातापितरौ न साक्षात् शरीरोत्पत्तौ करिणामित्यत
 आह मातापितृशब्देन लोहितरेतसी इति । अनुभव-
 नीये इति भव्यगेषादिपाठात्कर्तरि कृत्यः ॥ ६४ ॥
 इतो ऽपि वैषम्यमिच्छाह । तथा ऽऽहारस्य (सू. ६५) ॥ पूर्वसूत्रप्रतीकेन पुरयति ।
 उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति प्रकृतम् । कललरकण्डमांस-
 पेश्यादयो लोहितरेतसोः शरीरारम्भकयोः परिणामभेदाः ॥ ६५ ॥
 प्राप्सौ च (सू. ६६) ॥ दम्पत्योः संयोगः प्राप्तिः तस्यामनि-
 यमः शरीरोत्पादस्य, तस्माद् दृष्टस्य व्यभिचारादस्ति तददृष्टं
 यतः शरीरसर्ग इत्यर्थः ॥ ६७ ॥
 पार्श्वस्थः शङ्कते । सर्वात्मभिरिति । ननु यदीयेनाद-
 र्ष्टेन यच्छरीरमुपात्तं तत्तस्यैव भोगायतनं नानियम इत्यत-
 आह । न च पुरुषगत इति । आत्ममनःसन्निकर्षजौ हि ध-
 र्माधर्मौ, सन्निकर्षश्च मनसः सर्वात्मभिः साधारण इति स-
 र्वेषामेव धर्माधर्मौ, न पुनः कस्य चिदेवासाधारणावित्यर्थः ।
 अस्योत्तरं शरीरेति । उक्तेनैवाभिप्रायेण शङ्कते तत्स्थिता ए-
 कपुरुषस्थिता कुत इति चेत् । उत्तरम् । न स्वसंयोगेति । पुनः
 पृच्छति संयोगे कुतो नियम इति ॥ (४४२।१) यथैवैकेनात्मना
 मनःसंयुक्तमेवमात्मान्तरैरपि । एवं यथैकेन मनसा संयुक्तं एवं-
 मनोन्तरैरपि नात्ममनःसन्निकर्षे ऽस्ति विशेष इत्यर्थः । उत्तरं
 न मनोनियमहेतुत्वादिति । अदृष्ट (नियम) निबन्धनो हि
 मनोनियमः मनोनियमनिबन्धनश्चादृष्टनियमः । अनादित्वाच्च
 बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न क्षतिमावहतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥
 तदेवमात्मगुणनिबन्धने शरीरसर्गे व्यवस्था दर्शिता । ये तु
 मेनिरे न कर्मनिबन्धनः शरीरसर्गो ऽपि तु प्रकृत्यादिनिबन्धनः ।

प्रकृतयो हि स्वयमेव धर्माधर्मरूपानिमित्तानपेक्षाः सत्त्वरजस्तमस्तथा
प्रवृत्तिशीलाः स्वं स्वं विकारमारभन्ते, प्रतिबन्धापगममात्रे तु धर्मा-
धर्माविपेक्षन्ते तद्यथा कृषाविलः केदारादवां पूर्णात्केदारान्तरमपू-
र्णमापिष्ठावयिपुरषां सेतुमात्रं भिनत्ति । तास्तु निम्नाभिसर्पणस्व-
भावा अपहतसेतवः स्वयमेव केदारमाष्ठावयन्ति । एवमाष्ठावय-
न्ति प्रकृतयो ऽपि विकारानिति । यथा ऽऽहुः 'निमित्तमप्रयोजकं
प्रकृतीनामावरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकत्वादिनि । तान् प्रत्याह ।

एतेनानियमः प्रत्युक्तः (सू. ६८) । एतेन कर्म-
सापेक्षाणां भूतानां शरीरसर्गे अनियमाभिधानेन तन्निरपेक्षाणां
व्यतिरेकमुखेनानियमः प्रत्युक्तः । नियमो व्याप्तिः साधार-
णविग्रहवत्त्वं । सर्वात्मनाम् । अनियमस्त्वव्याप्तिः कस्य चि-
दात्मनः किं चिच्छरीरं कस्य चित्किं चिदिति । प्रकृतिनिब-
न्धने हि शरीरसर्गे तस्या एकत्वात् सर्वात्मसाधारण्याच्च । न श-
रीराणामस्त्यसाधारण्ये हेतुः । भूतग्रहणं तु प्रकृत्युपलक्षणार्थं
न केवलमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे साधारणविग्रहवत्त्वं दोषः अपि
तु मोक्षो ऽपि न स्यादिति दर्शयितुं स्वपक्षे मोक्षमुपपादयति ।
उपपन्नश्चेति । सांख्यपक्षे तु न मोक्षः स्यादिति दर्शयति ।
कर्मनिरपेक्षेष्टिविति ॥ ६८ ॥

शङ्कते । तददृष्टकारितमिति चेदिति उपभोग्यशब्दा-
द्यदर्शनं प्रकृतिपुरुषभेदादर्शनं वा ऽदृष्टमुच्यते । तत्कारितमि-
त्यर्थः । निराकरोति एतस्मिन्निति । (४४३१४) यथा प्राग-
दर्शनमेवं निरोधसमाधेः पश्चादप्यदर्शनमित्यपवृत्तो ऽपि पुनः
संसरेदित्यर्थः । शङ्कामुत्थाप्य दूषयति । चरितार्थनेति । ननु
न शब्दाद्युपभोगं पुरुषार्थं ब्रूमो येन चरितार्थता स्यात् । अपि
तु पुरुषभेददर्शनं तच्चाद्यापि न भवतीत्यारभते शरीरमिति देश-

यति । पुरुषार्थेन च हेतुनेति । चोऽवधारणे पुरुषार्थेनैवे-
त्यर्थः । परिहरति । तस्य-चाऽकरणादिति । चस्त्वर्थे ।
देश्यनिवृत्तौ । यदर्थं शरीराण्यारभते तन्न कृतमन्यत्तु कृतमिति-
किं केन संगतमित्यर्थः । शङ्कते दिदृक्षाविशेष इति । दर्शनं हि
नञा पर्युदस्तमतस्तन्मूलां दिदृक्षां ब्रूते सा चापवर्गे नास्ति तस्मा-
न्नापवृक्तः संसारतीत्यर्थः । निराकरोति न प्रागिति । एतदुक्तं
भवति । दिदृक्षा हि बुद्ध्याश्रया नासत्यां बुद्ध्यावस्ति प्रकृति-
पाणिनामश्च बुद्धिस्तथा च सत्यां दिदृक्षायां बुद्धिः बुद्धौ सत्यां
दिदृक्षेति परस्पराश्रयप्रसङ्गः । न चानादिता परिहारः, सृ-
ष्ट्यादौ द्वयोरभावात् । अस्माकं तु प्रलयसमये धर्माधर्मसंस्कृतो
ऽस्त्यात्मा मनश्चेति विशेषः । सत्कार्यमादाय शङ्कते । सर्वशक्ति-
मत्त्वादिति । निराकरोति । नापवर्गाभावप्रसङ्गादिति ।
(४४४।३) श्लिष्टं विभजते दिदृक्षावन्नानात्वदर्शनमप्यस्ती-
ति । न तदर्थं प्रकृतेः प्रवृत्तिः तथा च न संसारस्तत्प्रध्वंसश्चा-
पवर्गाभावान्नास्तीत्यपवर्गाभाव इत्यर्थः । एतदेव स्फुटयति ।
विद्यमाने च नानात्वदर्शने तदर्थं प्रधानस्य प्रयुक्तिरयुक्ता
ततः संसाराभावात्तत्प्रध्वंसोऽपवर्गो न स्यादिति भावः । तमे-
वापवर्गाभावं तद्विरोधिसंसारसत्त्वेन दर्शयति । यदा च ना-
नात्वदर्शनमिति ! निदानानुच्छेदे निदानिनो नोच्छेद इत्यर्थः ।
पुनर्विकल्पं दर्शयति । अज्ञानमदर्शनमिति चेति । विवेक-
ज्ञानाभावस्य तुल्यत्वादित्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थमिति । अ-
परे त्वार्हता अदृष्टं परमाणुगुणं वर्णयन्ति । पार्थिवानामपूनां
मनसश्च स्वगुणप्रयुक्तं तच्छरीरमाविशति । तच्च स्वकादेवादृष्टा-
त्पुद्गलस्य सुखदुःखोपभोगं साधयति । न तु पुद्गलस्य धर्मो
ऽदृष्टमिति । सांख्यवत्तेषामपि पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे । एतदुपपा-

दयति । परमाणुगुणस्येति ॥ ६९ ॥

अपि चास्मिन् दर्शने प्रायणं न स्यादिसाह । मनः कर्म-
निमित्तत्वादिति ॥ ७० ॥

अस्मद्दर्शने तूपपद्यते प्रायणमित्याह । वर्तमानशरीरारम्भ-
ककर्माशयक्षये तु भविष्यद्देहान्तरारम्भककर्माशयान्त-
रादपसर्पणं मनस इति युक्तं प्रायणम् । उभयहेतुरिति ।
उपसर्पणापसर्पणहेतुरित्यर्थः ॥ ७० ॥

ननु भवतु संयोगानुच्छेदः किं नोबाध्यतइत्यत आह । श-
रीरस्य नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः । संयोगाव्युच्चे-
दादित्यर्थः । ननु सदकारणं नित्यमिति कथं सकारणं शरीरं
नित्यं भवेदित्यत आह । नित्यत्वप्रसङ्ग इति प्रायणानुप-
पत्तिं ब्रूमः । विनाशानुपपत्तिरित्यर्थः । यादृच्छिके अकारण-
के । प्रायणभेदो न स्यात् । दृष्टश्च प्रायणभेदः कश्चित्कर्मस्य एव
मैति कश्चिज्जातमात्रः कश्चित्कुमारक इत्यादिरिति अकारणस्य
नित्यं सस्वमसत्त्वं वा स्यात् । गगनवत्तत्कुसुमवदित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अकारणत्वादित्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वेन प्रत्येवातष्ठते ।
अणुश्यामतावदिति ॥ ७२ ॥

निराकरोति । एतच्च नेति (४४६२) । प्रमाणै-
र्माविषयीकृतमकृतम् प्रत्युत प्रत्यक्षागमविरुद्धमिति यावत् ।
तस्याभ्यागमोऽभ्युपगमस्तत्प्रसङ्गादित्यर्थः । न च परमाणुश्यामता-
ऽप्यकारणा पार्थिवरूपत्वाद् लोहितादिरूपवदित्यनुमानेन तस्या-
पि पाकजत्वाभ्युपगमादिति भावः । यथा श्रुति वा सूत्रार्थः ।
अकृतस्य कर्मणः फलोपभोगप्रसङ्गादिति । यथा खलु परमाणुगुण
एव नित्यः शरीराद्यारम्भकस्तथा ऽसौ नित्यत्वान्न केन चित्
क्रियते । तस्याकृतस्यैव फलं पुरुषैरुपभुज्यते ततश्चायमास्तिकानां

५८६ न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका [३ अ० २ आ०]

विहितनिषिद्धप्रवृत्तिनिवृत्तिनिवयोऽनर्थकः शास्त्रप्रणयनं चाप्य-
नर्थकं भवेदिति भावः । एतच्चातिविस्तृतं भाष्ये । तस्यार्थो निग-
दव्याख्यातः ॥ ७३ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितायां न्यायवार्तिकता-
तात्पर्यटीकायां तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

अत्र तृतीयेऽध्याये प्रथमे आन्हिके ७५ सूत्राणि,
द्वितीये च ७३ सूत्राणि इति आदित आरभ्य मिलि-
त्वा १४८ सूत्राणि । ३ अ० १ आन्हिके ९ प्रकरणानि,
३ आन्हिके ९ प्रकरणानि । मिलित्वा १६ प्रकरणानि ।
आदितः ४२ प्रकरणानि ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ मनः परीक्षानन्तरमुद्देशलक्षणक्रमानुरोधेन प्रवृत्तिः परीक्षितुं युक्ता, सा कस्मान्न परीक्षयतइति शङ्कानिराकरणाय सूत्रमित्याह । मनसोऽनन्तरमिति । (४४६।३)

प्रवृत्तिर्यथोक्ता (सू० १.) ॥ अस्य शेषस्तथा परीक्षिता यथा लक्षिता तथा परीक्षितेत्यर्थः । पृच्छति । किं पुनरिति । प्रमेयमात्मादि मनोन्तं परीक्षितं, न पुनः प्रवृत्तेः स्वरूपं वा कार्यं वा परीक्षितमिति भावः । उत्तरम् । यावद्धर्माधर्माश्रयमिति । एकद्रव्येत्येकस्मिन्नेवात्मनि वर्ततइत्यर्थः । अवस्थिता न तु बुद्ध्यादिवदाद्युत्तरविनाशिनीत्यर्थः । आत्मसमवायादिति । कार्यत्वे सतीति द्रष्टव्यं विशेषणम् । तेन न सामान्यविशेषाभ्यां व्यभिचारः । प्रायणादीत्यादिशब्देन सुखादिस्योऽपवर्गश्च गृह्यते । संसारापवर्गहेतुभूतात्मसद्भावासद्भावाभ्यामिति शेषः । एवमाद्युक्तमिति । आदिग्रहणेनात्मसमवेता प्रवृत्तिर्न तु पृथिव्याद्याश्रयेति दर्शयति ॥ १ ॥

प्रवृत्तेरनन्तरास्तिर्हि दोषाः परीक्षयन्तामित्यत आह ।

तथा दोषाः (सू० २) ॥ उक्ता इति शेषः । प्रवृत्ति-तुल्यतया प्रवृत्तिपरीक्षयैव तावद्दोषाणां सत्त्वं परीक्षितमित्यर्थः । कार्यरूपप्रवृत्तितुल्यतामाह बुद्धिसमानाश्रयत्वादिति । अभीष्टविषयानुचिन्तनप्रभवाः खल्विमे दोषा नानुचिन्तनबुद्धिव्यधिकरणा भवितुमर्हन्ति, तथा सति चैत्रस्याभीष्टविषयानुचिन्तने मैत्रस्य रागः प्रवर्त्तत । तस्माद्बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः आत्मगुणत्वाच्च कार्यप्रवृत्तितुल्यतया प्रवृत्तिपरीक्षयैव ता-

वदोषाः परीक्षिता इत्यर्थः । इदं च प्रवृत्तितुल्यत्वमपरं दोषाणा-
मित्याह । संसारस्यानादित्वादिति । एतच्चोक्तं धी-
तरागजन्मादर्शनादित्यनेन । तथोद्देशपरीक्षापरेण द्वितीयसूत्रेण
यत्तेषां दोषाणां परीक्षितं वदाम । सम्यग्ज्ञानाच्चेति । स्या-
देतत् । गुणत्वे सत्यात्मगुणा इति सिद्ध्यति तदेव तु कुत इत्यत
आह । कार्यत्वे सतीति । (४४०।१) इन्द्रियान्तरं मन इति मान-
सप्रत्यक्षैश्चात्मत्वसुखत्वादिभिरनैकान्तित्वं मा भूदत उक्तं कार्य-
त्वे सतीति विशेषणम् । अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वादित्यत्रापि कार्यत्वे
सतीति विशेषणमनुषजनीयम् ॥ २ ॥

तदेवं बहु परीक्षितं दोषाणां, यत्तु किं चिदोषाणामपरीक्षि-
तमस्ति तत्परीक्षितमुपक्रमते । प्रवर्तनालक्षणा इत्युक्तं तथा च
मानादय इति । रागद्वेषमोहा एव दोषा न च मानादयस्तेष्व-
न्तर्भवन्ति बुद्धिव्यपदेशभेदात् । प्रवर्तनालक्षणत्वं तु तेषामप्यस्ति
तस्मादतिव्यापकत्वान्न लक्षणमेतद्युक्तं युक्तत्वे वा लक्षणसूत्रे
मावादयोऽपि दोषवत्पठनीया इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तवाद्याह नो-
पसंख्यायन्ते संगृहीतत्वादिति । रागद्वेषमोहानां सामान्यत्र-
याणां कामादयो विशेषास्तथा चोपपन्नो बुद्धिव्यपदेशभेदः सङ्ग्रह-
श्चेति भावः । अस्ववस्त्वादानेरुच्छा स्वाभिदानपूर्विका स्पृहा ।
पुनर्भवप्रार्थना तृष्णाहेतुभूता प्रवृत्तिद्वारेण पुनर्भवप्रतिसंधानस्ये-
ति । प्रमाणादिरुद्धेति । (४४९।१) अन्यायेनेत्यर्थः । परस्य ज्ञाते-
र्ममाप्येतादिति बुद्धिरभिनिवेशः तत्प्रतिषेधाभिप्रायो ज्ञानिपिशाच-
स्येष्ट्येत्युच्यते । अमर्षलक्षणो द्वेष इति । (४५०।१) ननु कृता-
पकारस्य वा असहिष्णुता सोऽमर्ष इति द्वेषस्यैव विशेष इत्युक्तं कथं
द्वेषसामान्यमुच्यत इत्यत आह । असहिष्णुता दुःखस्य दुःख
साधनानां चेति । मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोह इति ।

३-१३५० २५०] दोषत्रैराद्यप्रेत्यभावप्रकरणे । ५८९

संशयोपि हि यथावस्थिते पदार्थे अयथाभावप्रतिपत्ति भवति, व्यवस्थितं हि वस्तु अव्यवस्थिततया गृह्णाति संशयः एवं पण्डितमानिनो मीमांसकदुर्दृढस्याभिमान इति ॥ ३ ॥ ४ ॥

एकयोनयो हि रूपादयो न चैषामेकत्वं, यदि पुनस्तत्र रूपादीनां परस्परभेदसिद्धये कश्चित्कारणभेद आस्थीयते स रागादिष्वपि समान इति भावः । आर्यप्रज्ञेति भाष्यम् । आरात्तत्वाद्याना आर्या । आर्या चासौप्रज्ञा चेति आर्यप्रज्ञा । सम्यग्बोधः सम्बोधः ॥ ५ ॥

नासति निदानोच्छेदे निदानिनामुच्छेद इति-रागद्वेषयोर्निदानिनोरुच्छेदाय तन्निदानत्वं मोहस्य दर्शयति सति चार्थान्तरत्व इति ।

तेषां मोहः पापीयान् कुतः नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥
अमूढस्येतरोत्पात्तिर्न भवति यत इत्यत्रार्थे नामूढस्येतरोत्पत्तेरित्युक्तम् । मोहाद्विषयस्य सुखसाधनत्वानुस्मृतिः दुःखसाधनत्वानुस्मृतिश्च सङ्कल्पः । रञ्जनीयाः कोपनीया इति कर्तरि कृत्यो भव्यगेयादिपाठात् । वार्तिकं मूढोमुह्यतीति । (४५१।३) मूढ इति मोहवासनावान् । भवतु निदानोच्छेदादुच्छेदो निदानिनः निदानस्य कुत उच्छेद इत्यत आह । तत्त्वज्ञानाच्चेति । प्रतिपक्षाभ्यासान्निदानोच्छेद इत्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥

दोषनिमित्तित्वादिति हेतोरप्रयोजकत्वमाह । न दोषलक्षणाधरोधादिति । तथाभावस्तज्जीतायत्वमतथाभावोऽतज्जीतीयत्वम् ॥ ८ ॥

अनैकान्तिकत्वमाह । निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्चेति ॥ ९ ॥
उत्पादोच्छेदौ प्रेत्यभावो न चात्मनो नित्यस्य तौ स्तः तस्मादस्मिन् दर्शने न युक्तः प्रेत्यभावः । वैनाशिकानां तु

सत्त्वात्पादनिरोधाभ्यां युक्तः प्रेत्यभावः । प्रेत्येति ल्यब् मुखं
व्यादाय स्वपितीतिवद् द्रष्टव्यः । तथा च भूत्वा प्रायणमिति
भवनप्रायणयोः समानकर्तृकत्वमप्युपपन्नमिति पूर्वपक्षः । पूर्वा-
भ्यस्तसूत्रे आत्मनित्यत्वव्यवस्थापनात् सत्त्वात्पादोच्छेदे च
कृतहानाकृताभ्यागमदोषेणाभ्युदयनिःश्रेयसार्थमप्रवृत्तिः ऋष्यु-
पदेशानर्थक्यपसङ्गश्च स्वदेहेन्द्रियबुद्धिसंवेदनासम्बन्धोत्पादवि-
नाशौ नित्यस्यात्मनो जन्मप्रायणे तथा चोपपन्नः प्रेत्यभाव इति
सिद्धान्तः ॥ १० ॥

प्रेत्यभावविचारप्रस्तावेनेदमपरं विचारयति । येयं प्रेत्यो-
त्पत्तिर्नाम सा कथामिति चेत् । अत्र हि प्रावादुकानां
नां नानाविधा विप्रतिपत्तयः सन्ति । तत्राभिमतं तावत्पक्षं गृह्णा-
ति । व्यक्तादिति । अग्रे विप्रतिपत्तीर्निवारयिष्यति । शरी-
रेन्द्रियविषयोपकरणाधारमिति एकवद्भावेन नपुंसक-
त्वम् । प्रत्यक्षगृहीतसम्बन्धप्रभवमनुमानं प्रत्यक्षेऽप्युपदिशति प्रत्य-
क्षमूलकत्वादिति । ननु भवतु शरीरं पृथिव्यादि च व्यक्तं
महत्त्वानेकद्रव्यवस्वरूपविशेषेभ्यः तन्मूलकारणं परमाणवः कथं
व्यक्ता इत्यत आह । तत्सामान्यादिति । रूपादिमत्सामग्री-
पूर्वकं गवादि शरीरमित्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अतः परं प्रावादुकानां तैर्थिकानां च दर्शनान्युप-
न्यस्तानि कानि चित्प्रातिविध्यन्ते तत्र कानि चिदभ्य-
नुज्ञायन्तइति (४५४।३) तत्र तावदेके प्राहुरभावाद्भा-
वोत्पत्तिः कुतः नानुपमृद्य प्रादुर्भावो यतः तस्मादित्य-
र्थः । विश्वं हि शून्यताया एव जायते । एवं किल श्रूयते
असदेवेदमग्र आसीदिति । अत एवाद्याप्यसत एव जन्म दृश्यते
न सतः तत्कस्य हेतोः अभावस्तस्य कारणमिति । उपलक्षणं

१४-१५सू०४प्र०] शून्यतोपादाननिराकरणप्रकरणम् । ५११

चेदं नानुपमृद्य प्रादुर्भावादिति, असत् उत्पादादियपि द्रष्टव्यम् ।
तस्मादसदुपादानं विश्वमिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

तत्र सिद्धान्ती गूढाभिसन्धिराह उपमृद्यप्रादुर्भवतीति
व्याघात इति ॥ १५ ॥

तदाभिसन्धिमविद्वान् पूर्वपक्षी दूषयति । न अतीतानाग-
तयोः कारकशब्दप्रयोगादिति । उपमृद्य प्रादुर्भवतीति भाक्त
एष प्रयोगो न मुख्य इत्यर्थः । भिन्नस्य कुम्भस्य कपालानीति तु
यद्यपि न साक्षात्कारकशब्दस्तथाऽपि षष्ठ्या सम्बन्धाभिधानात्
तस्य क्रियागर्भत्वात्क्रियायाश्च कारकनान्तरीयकत्वात्पारम्पर्येण
कारकशब्दता द्रष्टव्या । पृच्छति कः पुनरङ्कुरेण बीजोपमर्दा-
र्थः । (४४५।२) का पुनर्भक्तिः यया योगादुपसंगृह्णाति बीजमङ्कुर
इति भवति प्रयोग इत्यर्थः । उत्तरम् । अनन्तरोत्पत्त्यर्थः
उपमर्द्योपमर्दकयोरप्यानन्तर्यमनयोरपीति एतत्सामान्यमित्यर्थः ।
पुनरपि गूढाभिसन्धिरेव सिद्धान्ती उक्तं स्मारयति । अत्रो-
क्तमिति । अभिप्रायमुद्घाटयति । यदपीदमुच्यतइति ।
नौपचारिकं प्रयोगं व्यासेधामः कारकशब्दानां, किन्तु यथा भ-
विष्यन्नङ्कुरः सम्प्रति असन्न बीजमुपमृद्वाति एवं बीजाभावोऽस-
न्नाङ्कुरं करोतीति ब्रूमः । तदिदमाह अपि त्वसत् कारणा-
दुत्पत्तिर्न युक्तेति । ननुक्तमुपमृद्य प्रादुर्भावादित्यनेनानन्तर्यं
बीजविनाशाङ्कुरोत्पादयोः सूचितं बीजविनाशानन्तर्याच्चाङ्कुरो-
त्पादस्य बीजविनाशकार्यत्वमित्यत आह । यत्पुनरेतदानन्त-
र्यसामर्थ्यादिति । अनन्यप्रयुक्तमानन्तर्यं कार्यकारणभावसा-
धनम् इदन्तु व्यूहानन्तर्यप्रयुक्तमिति नाभावस्य कारणत्वं ग-
मयितुमर्हतीत्यर्थः । यदि व्यूहान्तरकार्योऽङ्कुरोऽथ कस्मादवि-
नष्टे पूर्वव्यूहे न भवतीत्यत आह । न चाविनष्टे इति । ननु

यदि बीजावयवव्यूहान्तरमङ्कुरोत्पादहेतुर्न बीजं कस्मादङ्कुरा-
र्थिनः कृषीवला बीजमुपाददतइत्यत आह । एवं चेति । बीजा-
वयवोपादाने अवर्जनीयतया बीजमागच्छदशक्यप्रत्याख्यानमि-
त्यर्थः ॥ १६ ॥

तदेवमर्थं परिशोध्यान्नैवार्थं सूत्रं योजयति । अस्य
चार्थस्येति । न विनष्टेभ्यो बीजेभ्योऽङ्कुरस्यानिष्पत्तेः ।
बीजविनाशश्चेदङ्कुरोत्पादहेतुरथ विनष्टे बीजे तदवयवेषु परस्पर-
विच्छिन्नेष्वसति तेषां व्यूहान्तरे कस्मादङ्कुरो न भवति भवति
तु सति तेषां व्यूहे तस्माद्विनष्टेभ्योऽङ्कुरानुत्पत्तेरसति व्यूहे न
बीजनाशः कारणमिति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥

क्रमनिर्देशादित्यस्य हेतोरस्मत्पक्षेऽप्यप्रतिषेधः । तत्राप्यान-
न्तर्यस्य तुल्यत्वात् । तथाऽपि विनिगमनायां को हेतुरित्यत आह ।
अभावश्चेदङ्कुरोत्पादकारणं स्यात् । अनुपाख्येय इति शेषः ।
न ह्यनन्वयविनष्टयोः शालियवबीजयोः काश्चिद्विशेषोऽस्ति येनैक-
स्माच्छाल्यङ्कुरो नान्यस्मादिति । को नु खल्वभावानामस्याजानतो
भेद इति । अपि च कारणानां शक्तिभेदात्कार्याणि भिन्नशक्तियुक्ता-
नि । यदा तु कारणानामभेदस्तदा कुतस्तच्छक्तीनां भेदः तथा
च कार्याणि भिन्नशक्तीनि न स्युरित्याह । अनन्वितं च कार्यं
सर्वभि रिति । यदप्यसत उत्पादादभावस्योपादानत्वं तदपि
कार्याणां भिन्नत्वेन भिन्नशक्तिकत्वेन च प्रत्युक्तम् । तत्प्रागभा-
वानां स्वाभाविकभेदविरहात् । अपि च प्रागभावानामनादित्वेन
कार्योत्पादस्याप्यनादित्वप्रसङ्गः भावरूपकारणसहकारित्वं त्व-
भावस्य न निषिध्यते अस्मदभिमतस्योपाख्येयस्य । अत एव
पाकजादीनां रूपादीनां पूर्वरूपादिध्वंसनिमित्तत्वमप्युपेयते । श्रु-
तिस्तु पूर्वपक्षाभिप्राया, तथा च सिद्धान्तश्रुत्यन्तरं सदेव सोम्ये-

१८-२१-सू० ५ प्र०] ईश्वरोपादानतानिराकरणप्रकरणम् ॥ ५२३

दमग्रआसीदिति कथमसतः सज्जायेतेति । शून्यताविवर्तो विश्व-
प्रपञ्च इति तु दर्शनमसत्ख्यात्यनिर्वचनीयख्यातिनिराकरणे-
नापाकृतम् । अपि च शून्यत्वे ख्यातुरभावात्ख्यातरेभावः ।
तस्मान्न शून्यतोपादानस्तद्विवर्तो वा विश्वप्रपञ्च इति सिद्धम् ॥ १८ ॥

अथापर आह—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् (सू० १९)
मा मूदयं नामरूपप्रपञ्चः शून्यतोपादानोऽपि तु ब्रह्मोपादानो-
भविष्यति, ब्रह्मैव हि प्रपञ्चरूपेण परिणमते मृत्तिकेव घटशरा-
वोदञ्चनादिभावेन । न चैवं नित्यत्वव्याघातः । परिणामेऽपि
तत्त्वाविघातात् तल्लक्षणत्वाच्च निस्यतायाः । यदाह 'यस्मिँस्तत्त्वं
न विहन्यते तदपि नित्य'मित्येकं दर्शनम् । अपरं च ब्रह्मैवा-
निर्वचनीयानाद्यविद्योपधानान्नामरूपप्रपञ्चभेदेन विवर्त्तते मुख-
मिवैकमनेकमणिकृपाणादिभेदान्नैकविधप्रतिबिम्बभेदेनेति, तदेतद्-
र्शनद्वयमनेन सूचितम् । ईश्वरो ब्रह्म ईशनायोगात् । चेतनाशक्तिः
क्रियाशक्तिश्चेशना । सा चास्ति ब्रह्मणीति ब्रह्मेश्वरः कारणं
जगतः । श्रूयते हि तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेत्यादि । सा चेयं श्रु-
तिश्चेतनस्य जगत्कारणतामाह । न चाभावो वा प्रधानं वा पर-
माणवो वा चेतयन्ते । ननु जीवा एव चेतनास्तत्कर्मानिमित्तोना-
मरूपप्रपञ्चो भविष्यति, कृतमत्र भगवतेश्वरेणेत्यत उक्तं पुरुष-
कर्माफल्यदर्शनादिति । पुरुषश्चेत् चेतयेन्नैवं निष्फलं कर्मार-
भेत, निष्फलं विद्वान् प्रवर्त्तमानः कथं चेतनो नाम, तस्मात्पु-
रुषकर्माफल्यदर्शनादीश्वरः कारणमित्यर्थः ॥ १९ ॥

एतद्दर्शनद्वयमपाकरोति ।

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः (सू० २०) ॥
इदमत्राकृतम् न तावन्मृत्तिकेव नामरूपप्रपञ्चरूपेण ब्रह्म परि-

णमते । तद्धि सर्वात्मना वा परिणमते एकदेशेन वा, तत्र सर्वा-
त्मना परिणामे तत्त्वविघातादानित्यत्वम् । एकदेशेन परिणामे
सावयवत्वात्तदेवानित्यत्वम् । अथ तत्त्वेनानुगतस्य परिणामः
तच्च ब्रह्म ? न तर्हि ब्रह्मणः परिणामः । न च निर्भागस्यैकस्य
स्वसम्बेदनप्रत्यक्षस्य विपरीतज्ञानगोचरत्वसम्भवः । सामान्यतो ग्रहे
रूपविशेषाग्रहे च तदन्यरूपारोपेण विश्रम्भो दृष्टः शुक्तिकादौ,
न तु जातु शुक्तिरूपं विद्वान् रजतमिति विपर्यस्यति । न च नि-
रंशो स्वसंबेदनप्रत्यक्षे ब्रह्मणि तत्स्वरूपाग्रहः सामान्यग्रहो
वा भवति । तस्मादीश्वरो जगद्धेदेन विवर्ततइत्युक्तम् ।
निमित्तं तु स्यादीश्वरो जगतः, स चेदनपेक्ष एव जगत्कारणमित्यु-
च्यते तत्रेदमुपतिष्ठते । नपुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरिति ।
अस्य व्यतिरेकमाह वार्तिककारः । ईश्वरश्चेत्कारणं भवे-
दिति । (४५६ । ११) एकरूपं कार्यं स्यादित्याह ईश्वरस्ये-
ति । कर्मणाश्वरोऽनीश्वरः स्यात् । तथा च तत्कारणानि नेश्व-
रेण प्रयुज्यन्तइत्यनेकान्तो वक्ष्यमाणो हेतुरित्यर्थः ॥ २० ॥
तदेवमीश्वरोपादानत्वं च ब्रह्मविवर्तत्वं च निरपेक्षेश्वर-
निमित्तत्वं च निराकृत्याभिमतं पक्षं गृह्णाति ।

तत्कारितत्वादहेतुः (सू. २१) ॥ परमाणुपादानस्य
जगतः पुरुषकर्मापेक्ष ईश्वरो निमित्तकारणं यच्च तेनापेक्षणीयं
पुरुषकर्म तदपीश्वरनिमित्तकमेव । न च यदपेक्ष्यते तस्यानिमि-
तत्वमित्युपरिष्ठात्प्रवेदयिष्यामः । तस्मादीश्वरकारितत्वात्पुरुष-
कारस्य तत्सहाय ईश्वरो निमित्तकारणं जगत इत्यस्य पक्षस्य
निराकरणे पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरित्यहेतुः । निरपेक्षेश्वर-
निमित्तकत्वनिराकरणे हेतुरेवेत्यर्थः ।

भाष्यं गुणविशिष्टमात्मान्तरमिति । गुणानीश्वरस्य

२१सू०५प्र०] ईश्वरोपादानतानिराकरणप्रकरणम् । ५९५

ज्ञानादीनुपपादयिष्यति वार्त्तिककारः । आत्मकल्पादित्य-
त्रात्मप्रकारादात्मजातीयादिति यावत् । संसारवद्भ्य आत्म-
भ्यो विशेषमाह । अधर्मेति । नन्वस्य कर्मानुष्ठानाभावात्
कुतो धर्मः तथा चाणिमादिकमैश्वर्यं कार्यरूपं विनैव कर्म-
णेत्यकृताभ्यागमप्रसङ्ग इत्यत आह । संकल्पानुविधायी
चास्य धर्म इति । प्रवर्त्तयतु किमेतावतेत्यत आह । एवं
च स्वकृताभ्यागमस्थालोपेनेति । मा भूद्वाहानुष्ठानं सं-
कल्पलक्षणानुष्ठानजनितधर्मफलमस्यैश्वर्यं जगन्निर्माणफलमिति
नाकृताभ्यागमप्रसङ्ग इत्यर्थः । स्यादेतत् । प्रयोजनं विना
न प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः न च प्राप्तसकलप्राप्तव्यस्यास्ति प्रापणीयं किं
चिदीश्वरस्य, तस्मात् कृतमस्य जगन्निर्माणेनेत्यत आह । आ-
प्तकल्पश्चेति । माभूदस्य भगवतः स्वार्थः परानुग्रहार्थं जगन्निर्माणे
प्रवर्त्स्यतीत्यर्थः । अत्रैव दृष्टान्तमाह । अयं यथा पितुरपत्या-
नाम् । अयं पिता स्वापत्यानां यथा पितेत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके
योजयति तथा पितृभूत ईश्वर इति । नन्वात्मान्तराण्यनि-
त्यज्ञानयोगीनि दृष्टानि तद्वैलक्षण्यादीश्वरोनात्मजातीयो भवितु-
मर्हतीत्यत आह न चात्मकल्पादिति । यद्यप्यात्मान्तराण्य-
नित्यज्ञानयोगीनि अयं च नित्यज्ञानादियुक्तः तथाऽप्यात्मजा-
तीय एव बुद्ध्यादिगुणयोगित्वात् । अन्यथा तोयादिपरमाणूना-
मतोयत्वादिप्रसङ्गो नित्यरूपादियोगात् । करकादिगतानां रूपा-
दीनामनित्यत्वोपलब्धेरिति । यदि चायं बुद्ध्यादिगुणैर्नोपाख्या-
येत प्रमाणाभावादनुपपन्न एव स्यादित्याह बुद्ध्यादिभिश्चेति ।
स्यादेतत् यदि कारुण्यादीश्वरो जगन्निर्माणे प्रवर्त्तते हन्त
भोः सुखिनमेव सृजेन्न तु दुःखिनम् । न च क्षेत्रज्ञगतधर्माधर्म-
सहकारितया निर्माणवैचित्र्यं वार्ष्यं, धर्मस्य तदनधिष्ठितस्य

स्वकार्याकरणेन कारुणिकेन तदधिष्ठानायोगात्-तस्मात्सुखि-
दुःखादिभेदेन जगद्वैचित्र्यदर्शनान्नानुकम्पाप्रयुक्त ईश्वरः करो-
तीत्यत आह । स्वकृताभ्यागमालोपेन प्रवर्तमानस्ये-
ति । अयमाभिसन्धिः । कारुणिकोऽप्ययमात्मान्तरातिशयितम-
हिमाऽपि न वस्तूनां सामर्थ्यमन्यथा कर्तुं पारयति । तस्मादध-
र्मेणोत्पत्तिमता(पि) नेश्वरप्रभावादपि नित्येन भवितुं युक्तम् ।
न च स्वफलविरोधिना फलमप्रदाय विनष्टमुपि शक्यम् । अतः
क्षेत्रज्ञानां नियतिमलङ्घयता ईश्वरेण नाधर्मः शक्योऽनधिष्ठातुम्,
तस्मात्कारुणिकोऽप्ययं वस्तुस्वभावमनुविधीयमानो धर्माधर्मस-
हकारी जगद्वैचित्र्यं विधत्ते तदिदमुक्तं स्वकृताभ्यागमालो-
पेन प्रवर्त्तमानस्येति । पुरुषैर्यत्कर्म कृतं तत्फलाभ्यागमालो-
पेन प्रवर्त्तमानस्येत्यर्थः ।

वार्तिकईश्वरप्रक्रियेति । (४५७ । ९) प्रक्रिया प्रकरणं
ईश्वरनिमित्तत्वविचार इत्यर्थः । अथ विद्यमानः प्रतिब-
न्धान्न प्रवर्त्तयतीति । (४५८।१२) सुखाय पुरुषार्थेन प्रधाने
प्रवर्त्तयितव्ये अधर्मः पुरुषार्थस्य प्रतिबन्धकः-एवं दुःखाय
पुरुषार्थेन प्रधाने प्रवर्त्तयितव्ये अधर्मः पुरुषार्थस्य प्रतिबन्धकः
एवं दुःखाय पुरुषार्थेन प्रधाने प्रवर्त्तयितव्ये धर्म इत्यर्थः । न
चायं हेतुस्तस्मान्निवर्त्तत इति । (४५९।१४) अयमेवाचे-
तनत्वलक्षणो हेतुः क्षीरान्न निवर्त्तत इत्यर्थः । परिस्पन्दः क्रिया
सा मूर्त्यनुविधायिनी नामूर्ते सर्वगतईश्वरे संभविनी इति
मन्वानः शङ्कते । क्रियानावेशादकारणामिति चेदिति ।
(४६०।१६) अपरिस्पन्दा अपि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्ना आख्या-
तपदवाच्यतया भवन्ति क्रिया ईश्वरइत्यभिसंधिना परिहारः । न
विकल्पानुपपत्तेः । यदा च युगपदनेकानि द्रव्याणि संहन्यते

तदाऽसाधारणकार्यव्यावृत्तेभ्यः संयोगेभ्यः इति (४६१।८)
 असाधारणं कार्यम्-एकैकस्य तन्तुद्वयसंयोगस्य द्वितन्तुकं त-
 स्माद्व्यावृत्तेभ्यः संयोगेभ्यः सह साधारणस्यैव कार्यस्य पटल-
 क्षणस्योत्पादादित्यर्थः । न केवलमुत्पन्नक्रियेषु क्रियोपरतौ
 द्रव्योत्पादः क चिदनुत्पन्नक्रियेष्वपि द्रव्येष्ववस्थितसंयोगेभ्यः
 पूर्वद्रव्योपरतौ द्रव्यान्तरोत्पाद इत्याह । एकावयवविभागे
 त्विति । तुशब्देन पूर्वस्मादुत्पन्नोपरतक्रियाविशेषो दर्शितः ।
 किमक्रियावतामेवारम्भो नेत्याह कानि चित्पुनरिति । अन्यत-
 रकर्मजान्नादनात्संयोगान्नित्ये कर्मणि इतरास्मिन् द्रव्ये कर्मनिवृ-
 त्तिसमकालमेव द्रव्यं चोत्पद्यत इति तत्स्वाभाव्यात्मवर्त्ततइत्यदुष्ट-
 मिति । चेतनोऽप्ययं परानुग्रहस्वभावोऽपि वस्तुस्वभावमनुरुध्य-
 मानः कर्माशयानुरोधेन जगद्वैचित्र्यं विधत्ते । न चावश्यं दुष्कृते
 पुंसां प्रवृत्तिं विहन्तीत्यर्थः । अद्यत्वेऽपि चेतनानां विचित्रस्व-
 भावत्वं दृष्टं सदसन्मध्यमानां जनानाम् । अथ नित्यमैश्वर्यं
 धर्मवैयर्थ्यं न तद्धर्माद्भवतीति । (४६४।३) ततश्चेश्वरस्यै-
 श्वर्यं स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यमित्युक्तं भाष्यमिति भावः ।
 पारिहरति नित्यमिति ब्रूमः । तस्य हि ज्ञानक्रियाशक्ती नि-
 त्ये इति ऐश्वर्यं नित्यम् । अणिमादिकं त्वनित्यं तदभिप्रायं
 च भाष्यकारस्य धर्मफलत्वाभिधानम् । प्रत्यात्मवृत्तिधर्माधर्म-
 सान्निचयाधिष्ठानं धृत्यात्मवृत्तिसंकल्पानुविधायिन ईश्वरस्य ध-
 र्मस्य प्रयोजनमिति । अभ्युपेत्येश्वरधर्ममेतदुक्तं भाष्यकृता ।
 परमार्थतस्तु नेश्वरस्य धर्मसद्भावे प्रमाणमस्ति नित्याभ्यामेव
 ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां सकलकार्योत्पादसिद्धेरित्याशयवानाह ।
 न चेद्वरे धर्मोऽस्तीति ।

बुद्धिमत्त्वात्तर्ह्यात्मान्तरमिति । आत्मान्तरं शरीर्यन्त-

रमभिप्रेतमिति । स च शरीरसंबन्धो वर्त्तमानः केषां चिद्यथा
 संसारिणां केषां चिदतीतो यथा मुक्तानां शुक्रप्रहादादीनाम् ।
 तदनेनेश्वरेण बुद्धिमता सताऽवश्यं भाव्यं शरीरिणेति देश्या-
 र्थः । नात्मान्तरं शरीर्यन्तरमित्यर्थः । कुतो गुणभेदात् । नि-
 त्याश्चेदस्य बुद्ध्यादयः कृतं शरीरग्रहणेन तदुत्पादार्थेनेति भावः ।
 नन्विदमेव बुद्धिमत्कारणाधिष्ठिताः परमाणवः प्रव-
 र्त्तन्त इति । पक्षधर्मताबलात्तर्कसहायान्नित्यबुद्धिमत्त्वमस्य सि-
 द्ध्यतीत्यर्थः । प्रत्यर्थानियमासंभवादित्यादिना तर्कः प्रमाण-
 सहायो दर्शितः । एवं तावद्गुणभेदेनाशरीरित्वमीश्वरस्य दर्शितं
 न चैतस्य शरीरयोगो विकल्पमपि सहतइत्याह । अथ बुद्धिमत्ता-
 येति (४६५।४) अतीतानागतवर्त्तमानविषया प्रत्यक्षेति ।
 साक्षात्कारवतीत्यर्थः । न पुनरक्षमाश्रिता नित्यत्वात् । उपलक्षणं
 चैतत् । नानुमानिकी चेति । नैन्द्रियकी नौपमानिकीत्यपि द्रष्टव्यम् ।
 अक्लिष्टेति । (४६६।४) क्लेशो ऽविद्या तददूषितेत्यर्थः । मू-
 र्त्तिमद्द्रव्यसम्बन्धित्वादिति । संयोगित्वादित्यर्थः । तथा
 च न रूपादिभिर्व्याभिचारः । तथा च न रूपादिभिर्व्यभिचारः ।
 एतावदाभिप्रेतमाचार्यस्य त्रयो हि खलु भावा जगति
 भवन्ति प्रसिद्धचेतनकर्तृकाः यथा प्रासादादालगोपुरतोरणा-
 दयः । प्रसिद्धतद्विपर्ययाः । यथा परमाण्वाकाशादयः । स-
 न्दिग्धचेतनकर्तृका यथा तनुगिरिमहीधरादयः । तत्र प्रमेयत्वा-
 द्वादिविप्रतिपत्तेर्वा साधकबाधकप्रमाणाभावे चेतनकर्तृत्वे संशयः ।
 न च प्रत्यक्षानुपलब्धिमात्रमत्र बाधकं भवितुमर्हति । स्वभाववि-
 प्रकर्षिणां सतामपि प्रत्यक्षानुपलब्धेः परमाण्वादीनाम् । तथा
 च विवादाध्यासितास्तनुतरुमहीधरादय उपादानाभिज्ञकर्तृका
 उत्पत्तिमत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा यदुत्पत्तिमदचेतनोपादानकं

२१सू०५प्र०] ईश्वरोपादानतानिराकरणप्रकरणम् । ५९९

वा तत्सर्वमुपादानाभिज्ञपूर्वकं यथा प्रासादादि, तथा च विवा-
दाध्यासितास्तनुतरुमहीधरादयस्तस्मात्तथेति । न चैषामुत्पत्ति-
मन्त्रमसिद्धम् । सावयवत्वेन वा महत्त्वे सति क्रियावत्त्वेन वा
वस्त्रादिवत्तत्सिद्धेः । न चैतावता वैनानां कर्मणा चेतनेन
मीमांसकानां क्षेत्रज्ञेन चेतनेन चेतनकर्तृत्वसिद्धेः पृथिव्यादीनां
सिद्धसाधनं चैतन्येऽपि तेषामुपादानानभिज्ञत्वात् । तज्ज्ञत्वे
वा स एवास्माकमीश्वरः ईदृशमस्तु सिद्धसाधनं को हि क्लेश
विना न वाञ्छितसिद्धिमिच्छेत् । न च साध्यहीनो दृष्टान्तः ।
पटादीनामप्युपादानाभिज्ञकुविन्दादिकर्तृकत्वात् । अत एव न वि-
रुद्धता हेतोः, एवं हि सा भवेत्, यद्युपादानानभिज्ञकर्तृकाः पटा-
दयो भवेयुः न चैतत्परेषामपि सम्मतम् ।

स्यादेतद् अर्थाक्षिप्तस्य विशेषस्य शरीरादिमन्त्रादेः प्रमाण-
विरोधाद्विरुद्धता । यथा तृणादिविकारकारित्वादग्निमद्भिममि-
त्यत्र वह्निमत्वाक्षिप्ततृणादिविकारोपयुक्तवह्निगतोद्भूतोष्णस्पर्श-
विरुद्धशतस्पर्शस्य प्रत्यक्षेणोपलम्भाद्वाधितो विरुद्धो हेतुः ।
तथा ह्यस्य क्षियाद्युपादानादिविषयं ज्ञानमात्ममनःसन्निक-
र्षशरीरादिकारणकं नासति तस्मिन् भवतीति तदनेनाक्षिप्तं, तच्चात्र
प्रमाणबाधितं, तन्निवृत्तौ च ज्ञानमस्य निर्वर्तेत उष्णत्वोद्भूतिनि-
वृत्ताविव दाहको वह्निवश्यायइति । न । अव्यापकनिवृत्तावव्या-
प्यानिवृत्तेरयोगात् । कारणं चेदव्यापकं कार्यस्य हन्त हता तर्हि
व्याप्यव्यापकसंकथा । भवेदेतद्यदि क्षित्याद्युपादानज्ञानमप्यस्य
कार्यं स्यान्नित्यं तु तदभ्युपेयत इति न शरीरादिनिवृत्तावपि निव-
र्तितुमर्हति । अव्यापकनिवृत्तेरव्याप्यस्यानिवृत्तेरिति । अन्यथा
नाश्ववान् मैत्र इति गोमानपि न स्यात् । न च बुद्ध्यादीनामनित्या-
नां बहुलपुलब्धेर्निष्ठा बुद्धिरसम्भाविनीति सांप्रतम् । न हि प्र-

त्यक्षाः पाथसीया हिमकरकादयस्तद्गता रूपादयोऽनित्या इति त-
दारम्भकैः परमाणुभिस्तद्गतैर्वा रूपादिभिस्तथा भवितव्यम् ।
सदकारणतया तु नित्यतोभयत्रापि तुल्या । न च शरीरादिस-
हभावेन ज्ञानस्य तत्र तत्रोपलम्भाच्छरीरादीनां ज्ञानं व्याप्यमि-
ति युक्तम् । स्वाभाविकसम्बन्धशालिता हि व्याप्यता सा चो-
पाधिविरहे भवति, अस्ति च शरीरादिसहभावे ज्ञानस्योपा-
धिः कार्यत्वम् । कार्यं ज्ञानं स्वकारणं शरीरादिनाऽतिवर्त्तते
नित्यं तु तदातिवर्त्तमानमपि साहित्योपलम्भं न विरुणद्धि,
तस्माद्यथा अनित्यः शब्दः उत्पत्तिमत्त्वात् घटवादिति प्रयुक्ते
काश्चित्साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मवैचित्र्यात्प्रत्यवतिष्ठेत, यदि घटसाध-
र्म्यादुत्पत्तिमत्त्वादनित्यः शब्दः हन्त तस्मादेव रूपादिमता तेन
भाव्यम्, न चेदयं घटसाधर्म्येण रूपादिमान् एवमनित्योऽपि सा-
भूदित्येवं च प्रत्यवतिष्ठमान उत्कर्षसमजातिवादी पराजीयते-
एवमेवंवाद्युत्कर्षसमजातिवादितया पराजेतव्यः साधर्म्यमात्रेणा-
प्रयोजकेन प्रत्यवस्थानात् । तस्य च सर्वानुमानेषु सुलभतया
सर्वानुमानोच्छेदापादकत्वात् ।

स्यादेतत् । उत्पत्तिमत्त्वमुपादानाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वमात्रव्याप्तं
घटादिषु दृष्टं तावन्मात्रमेव पृथिव्यादीनां गमयेद् नित्यसर्ववि-
षयज्ञानवत्कर्तृत्वं तु कुतस्त्वम् । न हि तद्दृष्टान्तधर्मिणि दृष्टम् ।
अथ रूपाद्युपलब्धेः क्रियात्वेन चक्षुराद्यनुमानपि कथं, न हि
च्छिदादयः क्रिया इन्द्रियादिसाधनाः तासां कुठारादिसाधनत्वा-
त् । अथ दृष्टान्तधर्मिण्यदृष्टमपीन्द्रियसाधनत्वं पक्षधर्मताबला-
त्सिध्यति । रूपाद्युपलब्धिगतं हि क्रियात्वं तदेव करणं गमयेद् य-
दुपलब्धिनिर्वर्तनसमर्थं, न च कुठारादयः समर्था इति पक्षधर्मताब-
लात्कुठारादिविलक्षणमदृष्टचरमपि चक्षुराद्युपस्थापयतीति ? तदि-

२१सू०५प्र०] ईश्वरोपादानतानिराकरणप्रकरणम् । ६०१

तरत्रापि समानम् । न ह्यपरिमेयानियतदिग्देशैन्द्रियकानैन्द्रियक-
त्रयस्थावरादिलक्षणकार्योत्पादयौगपद्यमसति सर्वविषयज्ञाने त-
न्नित्यत्वे वा सन्दुग्धमर्हति, नो खल्वीदृशं परमेश्वरविज्ञानं कार्यश-
रीरादिकार्यं सम्भवति शरीराद्युत्पत्तेः प्रागस्याचैतन्येन तत्प्राक्का-
लकार्यान्तरोत्पादायेश्वरान्तरकल्पनाप्रसङ्गात् । एवं तत्प्राक्तत्वा-
गित्यनेकालौकिककल्पनया वरं बुद्धिनित्यत्वं कल्पितम् । एतेन
शरीरेन्द्रियनित्यत्वकल्पना ऽपि प्रत्युक्ता । एतेन यदेकं ब्रुवते-

“सन्निवेशादिमत्सर्वं बुद्धिमद्वेतु यद्यपि ।

प्रसिध्येत्सन्निवेशादेरेककारणता कुत” इति ।

तदपि परिहृतम् । तेषां प्रसिध्येत्सर्वज्ञानिराक्रियामनोरथो
यदि पिशितचक्षुषः परमाणून् क्षेत्रज्ञान् तत्समवेतान्वा कर्मा-
शयान् द्रष्टुमीक्षते, न चैतदस्ति । तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽ-
स्मदादिविलक्षणा बहवः कल्पनीयाः तद्वरमेक एव तादृशः
कल्पनालाघवायेति । न च कादाचित्कपरिपाकादृष्टवत्क्षेत्रज्ञ-
परमाणुसंयोगादेव तनुभुवनादिकार्योपपत्तेः कृतं चेतनकर्तृक-
त्वेनेति वाच्यम् । उत्पत्तिमस्वस्योपादानाद्यभिज्ञकर्तृकत्वेनो-
पाधिविरहिणः स्वाभाविकप्रतिबन्धसिद्धेः । न चाधिज्ञाता-
नामिन्द्रियमनसां ज्ञानोत्पादसाधनानामभिष्ठानस्य च वत्स-
वृद्धिनिमित्तस्याप्यचेतनस्य क्षीरस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तेः, वने
विटपादनिं च विना प्रयत्नमुत्पादस्य दर्शनाद्यभिचार इति
सांप्रतम् । सर्वेषामेव तेषां विवादास्पदीभूतत्वेन पक्षनिक्षेपात् ।
न च शशशृङ्गास्तितावदनुपलब्धिविरोधादपक्षधर्मता । धर्मिणो
दर्शनानर्हतया भगवतस्तद्विरोधानुपपत्तेः । अन्यथा सर्वानुमा-
नोच्छेदप्रसङ्गात् शृङ्गस्य तु शशशिरोवर्तिनो वत्सादिगतस्येव दर्-
शनार्हस्यानुपलब्धिनिराकृतस्य साधनानर्हत्वात् ।

स्यादेतत् । नोत्पत्तिमात्रं स्वभावप्रतिबद्धं बुद्धिमद्वेतुत्वेन,
किं तु तद्विशेषः, यद्दृष्टेरक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिरुत्पद्यते तस्य
च दृष्टेः सोपजायते । यद् बुद्धिमज्जावानुविधायिभावाभावं दृष्टं
घटादि च तथा न तुत्पत्तिमन्मात्रं तनुभुवनाद्यपि तस्य सज्जा-
वासज्जावानुविधानादर्शनात् । तदेतेन विशेषेणोपाधिना प्रयुक्तां
बुद्धिमद्वेतुकत्वव्याप्तिमुपजीवदुत्पत्तिसामान्यं न तेन स्वभावप्र-
तिबद्धमिति न तद्गमयितुमर्हतीति, अन्यथा धूमप्रयुक्तां धूमध्वज-
व्याप्तिमुपजीव्य पाण्डुतादेः कुमुदकपोतकादिगतादपि धूमकेतु-
नानुमानममङ्गादिति । अत्रोच्यते । इदमेव निपुणतरं भवन्तो
निरूपयन्तु किं बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुविधानं विशेष आहो
तदर्शनम् । यदि पूर्वपक्षः स बुद्धिमद्वेतुकत्वं तनुभुवनादीनामा-
तिष्ठमानैरभ्युपेयतएव । न हि कारणं कार्याननुविहितभावाभा-
वमन्यो वक्तुमर्हस्यस्वीकात् । अथ दर्शनं न तर्ह्यक्रियादर्शिनः
कृतबुद्धिसंभवः । य एव हि पटोऽनेन बुद्धिमद्वेतुत्वन्वयव्यतिरेका-
नुविधायी दृष्टः स एव तत्कार्यो न तु विपाणिवर्ती । तज्जाती-
यस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानदर्शनाददृष्टान्वयव्यतिरेकानुवि-
धानमपि तज्जातीयं तथेति चेत् । हन्तोत्पत्तिमद् घटादि बुद्धि-
मदन्वयव्यतिरेकानुविधायीत्यन्यदपि तज्जातीयं तनुभुवनादि
तथा भवदण्डेन न पराणुयते । घटजातीयमुत्पत्तिमद् बुद्धिम-
त्पूर्वमिति चेत् । ननु प्रासादादि न तद्वेतुकं भवेत् । अघटजा-
तीयत्वात् । अथ यज्जातीयं बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुविधायि
दृष्टं तज्जातीयमेवादृष्टान्वयव्यतिरेकमपि बुद्धिमद्वेतुकम् । तत्किं
मिदानीं कार्यजातीयं प्रासादादि बुद्धिमद्वेतुकं न दृष्टं येनोत्प-
त्तिमत्तनुभुवनादि तथा न स्यात् । न खलु तज्जातीयत्वे कश्चि-
द्विशेष इति । यत्तु मृदिकारत्वेन वल्मीकस्य घटादिवत्कुलाल-

२१सू०५प्र०] ईश्वरोपादानतानिराकरणप्रकरणम् । ६०३

कार्यत्वं न भवति तत्कुम्भकारस्य प्रत्यक्षानुपलम्भविरोधात् ।
अदृश्यचेतनपूर्वकत्वं तु तस्योपेतएव ।

स्यादेतत् । नोत्पत्तिमात्रमुपादानाभिज्ञकर्तृकत्वेन व्याप्तम् ।
अपि तु यदस्मदादिशक्यज्ञानोपादानादि, न च तथा तनुशुबना-
द्युत्पत्तिमदपि, तस्माद् व्याप्तिविरहाच्च तत्पूर्वकमिति । तदयुक्तम् ।
उत्पत्तिमत्त्वतदुपादानाद्यभिज्ञकर्तृकत्वयोः प्रथममन्वयव्यतिरेका-
भ्यां व्याप्तौ सिद्धायां तदुपादानादिशक्यज्ञानत्वकल्पनायाः का-
र्यज्ञानविषये व्यवस्थापनात् । व्याप्तिबलेन ज्ञानसामान्यसिद्धौ
पक्षधर्मताबलेन तन्निसत्वसिद्धिरित्युक्तम् । तेनोपाधेरनुस्रिय-
माणस्यानुपलब्धेः स्वभावप्रतिबद्धमुत्पत्तिमत्त्वं बुद्धिमद्वेतुकत्वेन ।
न च स्वभावप्रतिबद्धमुत्पत्तिमत्त्वं स्वसंबन्धिनमतीत्यापि वत्स्य-
तीति शक्यं शङ्कितुम् । तथा सति स्वभावहानिप्रसङ्गः ।

स्यादेतत् । न सर्वज्ञपूर्वकाः क्षित्यादयः प्रमेयत्वसत्त्वादि-
भ्यः घटादिवदित्यनुमानानि सन्ति प्रतिपक्षसाधनानीति सत्प्र-
तिपक्षतया प्रकृतमनुमानाभासम् । अत्रोच्यते । किमनेन सर्व-
ज्ञपूर्वकत्वं निषिध्यते उत ज्ञातृमात्रपूर्वकत्वं सर्वग्रहणमुपलक्षणा-
र्थम् । यदि पूर्वः पक्षः तदैकदेशदर्शिपूर्वकत्वं साधितं स्यात् ।
तथा चापमिद्धान्तः, न च शक्यमपि, न ह्यस्मदादिनाऽर्वाग्दर्शिना
शक्याः पृथिव्यादयः कर्तुं, ज्ञातृमात्रपूर्वकत्वे तु निषेधे घटा-
दिभिर्व्यभिचारः । यच्चेष्टरो नाधिष्ठाता परमाण्वादीनामशरी-
रित्वाद् मुक्तात्मवत् ऐश्वरं ज्ञानं न सर्वविषयम् अनित्यं च
ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवदित्यनुमानं तत्पक्षधर्मतासिद्ध्यर्थमी-
श्वरमिद्धि तद्बुद्धिमत्त्वं चापेक्षमाणं तत्साधकप्रमाणविरुद्धमा-
त्मानमेव तावन्नासादयितुमर्हति प्रागेव ताद्विरोद्धुम् । न ह्याग-
मानुमाने जगत्कर्तृत्वानित्यसर्वविषयबुद्धिमत्त्वव्यतिरेकेण केवल-

मीश्वरं साधयतः तथा च ताभ्यां विरुद्धं भवदनुमानं नोत्प-
 तुमर्हतीति सिद्धम् । बुद्धिबदिच्छाप्रयत्नावपि तस्य नित्यौ
 सकर्तृकत्वसाधनान्तर्गतौ वेदितव्यौ ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नसमवा-
 यलक्षणत्वात् कर्तृत्वस्य, तेषां च परस्पराविनाभावादन्तरासि-
 द्धावितरयोः सिद्धेः । तदेवमुत्पत्तिमत्त्वादेव पक्षधर्मतासहायादेव-
 म्भूतेश्वरसिद्धिरित्युक्तम् । भवतु वा तस्मादुपादानाद्यभिज्ञकर्तृक-
 स्वमात्रसिद्धिः परिशेषानुमानाच्च व्यतिरेकसिद्धेर्विशेषसिद्धिः । त-
 था हि तनुभुवनाद्यभिज्ञः कर्त्ता नानिस्मात्सर्वविषयबुद्धिमान् तत्कर्तु-
 स्तदुपादानाद्यनाभिज्ञत्वप्रसङ्गात् । न ह्येवंविधस्तदुपादानाद्यभिज्ञो
 दृष्टः यथाऽस्मदादिः तदुपादानाद्यभिज्ञश्चायं तस्मात्तथेति । नो
 खलु परमाणुभेदान् प्रतिक्षेत्रज्ञसमवायिनश्च कर्माशयानन्यः श-
 क्तो ज्ञातुमृते तादृशादीश्वरादिति प्रपञ्चितमधस्तात् । परपुरुष-
 समवेतावपि धर्माधर्मावधिष्ठातुं शक्नोति सम्बन्धाद् न हि सा-
 क्षात्संयोगसमवायिवैव सम्बन्धौ संयुक्तसंयोगिसमवायस्यापि
 तज्ज्ञावात् । संयुक्ताः खल्वीश्वरेण परमाण्वादयः तैश्च क्षेत्रज्ञाः
 तत्समवेतौ धर्माधर्माविति संयुक्तसमवायो वा क्षेत्रज्ञेनश्वरस्य
 संयोगात् अजसंयोगस्याप्युपपादितत्वात् । धर्माधर्मौ परमाणुन्वा
 स्वधर्मोपग्रहमन्तरेणापि चेश्वरः स्वकार्याभिमुखान् करिष्यति
 विषविद्याविदिव विषशकलं क्रियारम्भाभिमुखम् । एतेन चेत-
 नोपादानस्वमपि व्याख्यातम् । वार्तिककृता तूलक्षणतया चेत-
 नत्वं हेतुरुक्तः । उत्पत्तिमत्त्वादयोऽपि हेतव ऊहनीयाः इमं च
 न्यायमाम्नाय उपोद्बलयति ।

‘एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते
 तिष्ठतः’ ‘द्यावापृथिवी जमयन् देव एकः’ ‘तदैक्षत बहु स्यां
 प्रजायेये’त्यादिः । स्मृतिश्च भवति ।

‘अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा इवभ्रमेव वा' अकारणत्वेन चेश्वरज्ञाननित्यतां दर्शयति श्रुतिः
'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्न्यं पुरुषं पुराण'
मित्यादिका ।

एतयैवाशरीरित्वं दर्शितं भवति । परिशिष्टं तु वार्तिककृता
स्वयमेव प्रपञ्चितमित्युपरम्यते ॥ २१ ॥

कण्टकादीनां संस्थानविशेषवतां निमित्तादर्शनेनानिमित्ततां
मन्वानस्तेनैव दृष्टान्तेन शरीरादीनामपि संस्थानभेदवतामनिमि-
त्ततां मन्वानः पूर्वपक्षयति । ॥ २१ ॥

अनिमित्तत इति । अदृश्यमाननिमित्तानां शरीरकण्टका-
कादीनां पक्षनिर्क्षेपात् पक्षेण व्यभिचारानुद्भावनात् । उद्भावने
वा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् सर्वत्र तस्य सुलभत्वात् । उभयसि-
द्धेन निमित्तवत्पटादिदृष्टान्तेन संस्थानभेदवत्त्वात्कण्टकशरीरादी-
नामपि निमित्तवत्त्वमिति सिद्धान्तः ॥ २२ ॥

सिद्धान्त्येकदेशिमतमुद्भाव्य दूषयति । अपरे त्विति
(४६८।९) ॥ २३ ॥

स्वयं वार्तिककारः कण्टकादीनामनिमित्ततां विकल्प्य दू-
षयति । कण्टकादीनामनिमित्तं जन्मेति । प्रति-
पाद्यप्रतिपादकन्यायस्येति । (४६९।२) प्रतिपाद्यः पु-
रुषः कर्म, प्रतिपादकश्च पुरुषः कर्ता, कर्तृकर्मणी च कारके,
कारकं च क्रियाया निमित्तमिति प्रतिपाद्यप्रतिपादकविषयो
न्यायः स चायमनिमित्तं शरीरादीनां जन्मेति प्रतिजानाने-
नानेनाभ्युपेयते । अन्यथा ते मूकतैव स्यादिति । तदिदमुक्तं
सर्वं चानिमित्तं प्रतिपादयसि चेति व्याहृतम् । न के-

बलं प्रतिपाद्यप्रतिपादकन्यायाभ्युपगमादितो ऽपीत्याह । वा-
क्योपादानाच्चेति । प्रतिपादननिमित्तं वाक्यमुपादत्से अभिधत्से
चानिमित्तं सर्वमिति व्याघात इत्यर्थः । तथा ऽप्यन्यतरधर्मा-
सिद्ध इति । अन्यतरेण साध्यधर्मेणाऽनिमित्तत्वाख्येनासिद्धो-
ऽनिमित्तत्वस्यैवासिद्धः । ननु प्रतिवादिनो वाङ्मात्रेण न सिद्ध-
मसिद्धं भवत्यतिप्रसङ्गादित्यत आह । संस्थानविशेषवत्त्वस्य
भावात् । पटादिदृष्टान्तेन कण्टकादीनां सनिमित्तकत्वस्य प्रा-
माणिकत्वेन वाङ्मात्रादसिद्धेरिति । कस्मात्पुनः पूर्वं पक्षः स्वयं
सूत्रकारेण न निराकृत इत्यत आह भाष्यकारः स खल्वयं
वादां ऽकर्मनिमित्तित्त इति ॥ २४ ॥

अन्ये तु मन्यन्ते ।
सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वादिति । हेतोर्ग-
कत्वं दर्शयितुं पृच्छति । किमनित्यमिति । उत्तरं यस्य कदा
चिद्भावः । हेत्वर्थं विवृणोति उत्पत्तीति । यद् उत्पत्तिधर्म-
कर्मनुत्पन्नं नास्ति तद् उत्पन्नं चास्ति विनाशधर्मकं च विनष्टं
नास्ति अविनष्टं चास्ति तस्मात्पूर्वापरयोः कालयोरभावान्मध्ये
च भावात्सिद्धं कदाचिद्भावलक्षणमनित्यत्वमुत्पत्तिविनाशधर्मक-
त्वादित्यर्थः । साध्यधर्मिरूपं पृच्छति, किं पुनरिति । उत्तरं भौ-
तिकं चेति । अत्र तावत्स्वयं वार्तिककार उत्तरमाह । सर्वम-
नित्यामिति सूत्रस्य दृष्टान्तार्थत्वादिति । (४७०।१) अर्थश-
ब्दो निमित्तवचनः दृष्टान्तनिमित्तत्वात् सूत्रस्य प्रतिज्ञाहेतूपन्यास-
परस्य । न दृष्टान्तं विना हेतुः प्रतिज्ञातार्थस्य गमको यत इत्यर्थः ।
एतदेव विभजते सर्वमनित्यामिति । निराकरणान्तरमाह उ-
त्पत्तिविनाशधर्मकत्वादिति चायमिति ॥ २५ ॥

सिद्धान्त्येकदेशिमतमुपन्यस्य दूषयति ।

नानित्यत्वनित्यत्वादिति ॥ २६ ॥ २७ ॥

परमसिद्धान्तं सूत्रोक्तमाह । अयं खल्विति । अथोच्यते
न वयं सर्वमनित्यं साधयामो ऽपि तु यस्य यस्यानित्यता ना-
मास्ति धर्मस्तत्सर्वमनित्यमिति । ततश्चाकाशादीनां नित्यत्वे ऽपि
नास्मत्पक्षक्षतिरिति तदेतत्सिद्धसाधनेन दूषयति । अनित्य-
ताभावाच्च सर्वमनित्यमिति न दोष इति । (४७१।५)
यस्य सन् धर्मोऽयं तद्योगादनित्यः स्यात्स एव कदाचिन्ना-
स्तीत्यत आह । अनित्यत्वं नाम धर्मः सो ऽसति ध-
र्माणि न भवतीति । स्यादेतद् उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वावगता-
वनित्यतायोगाद् घटादि भवत्वनित्यं तेनैव दृष्टान्तेन सत्त्वादा-
काशादयो ऽपि भविष्यन्त्यनित्या इति देशयति । अथ पुनरि-
ति परिहरति । तस्याप्युत्तरपदसिद्धौ तत्पदार्थस्य नित्य-
त्वस्य सिद्धिरिति ॥ २८ ॥

अयमपर एकान्तः—

सर्वं नित्यं कस्मात्पञ्चभूतनित्यत्वात् । पञ्चभूतात्मकं
खल्वेतद् गोघटादिकार्यमुपलभ्यते व्यपदिशन्ति हि मृद् घटो मृ-
च्छरीरमिति । भूतानि च नित्यानि तेषामुच्छेदस्य नैयायिकैर-
नभ्युपगमात् । तेन भूतानां गोघटादीनां नित्यतेति पूर्वः पक्षः ॥ २९ ॥
भूतेभ्यो भौतिकानि भिन्नानि न हि परमसूक्ष्माः परमाणवो
गोघटादयः । परमाणुवत्तेषामतीन्द्रियत्वे सर्वाग्रहप्रसङ्गादित्युक्तं
द्वितीये ऽध्याये । तस्माद्ग्रहणाग्रहणविरुद्धधर्माध्यासयोगादन्ये
भौतिका भूतेभ्यः । तथा च तेषामुत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेर्न
नित्यत्वं भूतनित्यत्वे ऽपीति सिद्धान्तमाह ।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेरिति ॥ ३० ॥

भूतसारूप्येण तादात्म्यं मन्यमानः पुनरपि पूर्वपक्षवाद्याह ।

तल्लक्षणावरोधाद्गोघटादीनां भूतनित्यत्वेन नित्यत्वा-
प्रतिषेधः ॥ ३१ ॥

भूतसाम्यं गोघटादीनां भूतकार्यत्वे ऽप्युपपद्यमानं न भूता-
त्मकत्वमवगमयतीत्याशयवानाह ।

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेरिति । (३२) अपि च यद्युत्प-
त्तिविनाशौ न भावानां वस्तुसन्तौ कथं प्रेक्षावतामभिमतोत्पत्तिका-
रणे ऽनभिमतविनाशकारणे च तदर्थिनां प्रवृत्तिरित्याह । उत्प-
त्तिविनाशकारणेति । अपि चाव्यापको हेतुरित्याह । शब्द-
कर्मयुद्ध्यादीनां चाव्याप्तिः । अव्यापकश्चानैकान्त उक्तः ।
पक्षो हि सर्वं नित्यमिति । (४७१०) तस्मिन्सत्त्वासत्त्वाभ्या-
सनेकान्तः नैकः सत्त्वासत्त्वलक्षणो ऽन्तो ऽस्यैकान्तः इति ।
तदेतद्वार्तिककारो वक्ष्यत्यर्थदृष्ट्या पक्षस्यान्तद्वये ऽवस्थानादिति ।
हेतोरन्तद्वये सत्त्वासत्त्वरूपे पक्षस्यावस्थानादिति योजना ।

असति बाधके मिथ्यात्वकल्पनायामतिप्रसङ्ग इत्यमुमर्थं ता-
ङ्कानिराकरणाभ्यामाह स्वप्नविषयेत्यादि । भाष्योक्तमर्थमु-
क्त्वा स्वयं वार्तिककार आह । सर्वस्य चेति । यावद्येन
प्रतिपाद्यतइति । प्रतिपादनेन क्रियत इत्यर्थः । शेषमतिरो-
हितार्थम् ।

तदेवं सांख्यानां मतमपास्य स्वायम्भुवानां मतमपाकर्तुमु-
पन्यस्यति । अपरे सर्वं नित्यमित्यन्था वर्णयन्ति । त्रिविधः
खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः तद्यथासुवर्णं धर्मि
तस्य परिणामो वर्धमानरुचकादिः धर्मस्य तु लक्षणपरिणामो-
ऽनागतादि । यदा खल्वयं सुवर्णकारो वर्धमानकं भङ्क्त्वा रु-
चकं रचयति तदा वर्धमानको वर्त्तमानलक्षणं हिरवाऽतीत-
लक्षणमापद्यते रुचकं त्वनागतलक्षणं हित्वा वर्त्तमानतामापद्यते

३३-३६-सू०९प्र०] सर्वपृथक्कनिराकरणप्रकरणम् । ६०९

वर्त्तमानतापन्न एव तु रुचको नवपुराणभावमापद्यमानो ऽव-
स्थापरिणामवान् भवति । नवपुराणावस्थाश्च वर्त्तमानलक्ष-
णाश्रया लक्षणपरिणामाः सो ऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मि-
णः धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च । तथा च
ते धर्म्यभेदान्नित्याः भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वमित्युभयमुपप-
न्नम् । ननु यद्युपजनापायधर्मकत्वं धर्मिणां हन्तोत्पत्तेः प्राक्तेषा
मसत्त्वाद्विनाशाच्चोर्द्धमसत्त्वात्कथं सर्वनित्यत्वसिद्धिरित्यत आह
यच्छोपजायते तत्प्रागप्युपजनादस्ति । धर्मिरूपेणेति
शेषः । तान्निवृत्तामप्यस्तीति । अत्रापि धर्मिरूपेणेति शेषः ।
निराकरोति ।

न व्यवस्थानुपपत्तेः (सू. ३३) ॥ उपजनापाययोः
स्वरूपतः कालतो विशेषतः सम्बन्धितो ऽनागतत्वादिव्यवस्था-
नुपपत्तिरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति न तावज्ज्ञेदाभेदौ परस्परप-
रीहारव्यवस्थितधर्मावेकत्र समाविशतः । तस्मादुपजनापायव्य-
वस्थायै भेदं धर्मलक्षणावस्थानां धर्मिण इच्छता तेषामनिसत्व-
मभ्युपेतव्यं, सांख्यवत्सकार्याभ्युपगमेन तु निसत्वव्यवस्थापक्षे
वार्त्तिककार आह । यच्च निवर्त्तते तान्निवृत्तामप्यस्तीति
ब्रुवाण इति । सुगमम् ॥ ३३ ॥

अयमप्यन्य एकान्तो बौद्धानां सर्वपृथक् कस्माद् भावल-
क्षणपृथक्त्वात् । न रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम किं विदस्ति
नाप्यवयवातिरिक्तः कश्चिदस्त्यवयवीति सौत्रान्तिका वैभाषि-
काश्च प्रतिपेदिरे ॥ ३४ ॥

तान्निराकरोति ।

नानेकलक्षणैरेकभावनिरूपितेः (सू. ३५) ॥ अनेकविधै-

लक्षणैः सम्बद्धस्यैकस्य भावस्य घटादेरवयविनो निष्पत्ते-
रिति ॥ ३५ ॥

अथापीति । अपि चेत्यर्थः । अणुसमूहे चागृह्य-
माण इति । परमसूक्ष्मत्वेनातीन्द्रियत्वादित्यर्थः । अथाप्येतद-
नूक्तमिति । अपि च भावलक्षणपृथक्कादिति हेतुमुक्त्वा बौद्धेन
पश्चादेतदुक्तं, किं तदुक्तमित्यत आह । नास्त्येको भावो य-
स्मात्समुदाय इति । एतदनूक्तं दूषयति । एकानुपपत्तेर्ना-
स्त्येव समूहः । अनूक्तं विवृणोति । नास्त्येको भावो
यस्मात् समूहे भावशब्दप्रयोगः । अस्य दूषणं विवृणोति ।
एकस्यानुपपत्तेरिति । एतत्प्रपञ्चयति एकसमुच्चयो हीति ।
नास्त्येको भाव इति यस्य भावस्यैकत्वप्रतिषेधः प्रतिज्ञा-
यते समूहे भावशब्दप्रयोग इति ब्रुवता स एवाभ्यनुज्ञा-
यते । ननु समूहोऽभ्यनुज्ञायते न त्वेको भाव इत्यत आह ।
एकसमुच्चयो हि समूह इति । तदनेन प्रतिज्ञाया हेतो-
र्व्याघात उक्तः । संप्रति प्रतिज्ञाया हेतुना व्याघात इत्याह समूहे
भावशब्दप्रयोगादिति चेति ।

वार्तिकम् । अस्य प्रयोग इति । (४७५।९) कुम्भशब्दो
ऽनेकविषय इति पारमार्थिकानेकविषयः काल्पनिकं तु कुम्भ-
स्यैकत्वं न वार्यते तथा चैकपदमित्येकपदेन व्यभिचारः तस्या-
पि पारमार्थिकानेकविषयत्वादित्यर्थः । स्यादेतद् घटादिशब्देभ्यो
रूपादीनां बुद्धादीनां च बहूनामवगमात् कथमेकार्थतेत्यत आ-
ह । आधाराधेयभावेति । यदि नानार्थता ऽपि भवति घटा-
दिशब्दानां तथा ऽपि प्रत्येकमेकत्वं तदर्थानामशक्यापह्नवमिति
न पूर्वपक्षिणोऽभिमतसिद्धिरिति । उपेयं तूच्यते अनेकार्थत्व-
मप्यत्र न सम्भवतीति । समूहे भेदस्य चानवस्थादि-

३६ ३८ सू० १० प्र०] सर्वशून्यतानिराकरणप्रकरणम् ६११

ति । (४७६।१९) यदि समूहमात्रमेव न त्वेकं किं चिदस्ति तथा
सति घटलक्षणे समूहे भेद्यमाने नाल्पतरतमादिभेदः प्रतीयेत घटा-
दिकपालशर्कराचूर्णपरमाणूनां समूहत्वेनानन्तावयवत्वादयं महा-
नयमल्पोऽल्पतर इति विभागो न स्यात् । तस्मादनेन तारतम्यं
समर्थयमानेन क्वचित् समूहनिवृत्तिर्वाच्या न चासावसमूहमेक
मन्तरेणेत्येकोऽभ्युपेयतइत्यर्थः । उक्तपर्यमविद्वान् शङ्कते । अथ
मन्यसइति । (४७७।५) रूपादीनां समुदाय इति चत्वारि
वा द्रव्याणीति चावान्तरदर्शनभेदविवक्षया द्रष्टव्यम् । उक्तार्थद-
र्शनेनोत्तरम् । एतस्मिन् वै दर्शन इति । अथानन्तं समुदायं
प्रतिपद्यसइति निराकृतस्यापि पुनराशङ्का आगमविरोधमापा-
यितुम् । एकानुपपत्तौ नानेकोपपत्तिरिति । यत्तदनेकमुक्त-
मेतत् त्याज्यमिति । शेषं भाष्यव्याख्यया व्याख्यातम् ॥३६॥
सम्प्रति शून्यतावादिनमुत्थापयति । अथमपर एकान्तः । (४७८।१)
सर्वमभाव इति प्रतिज्ञा । अत्र हेतुर्भावेष्वितरेतरा-
भावसिद्धेरिति । सर्वमिदं प्रमाणप्रमेयप्रमितिरूपमभावस्तुच्छ-
म् । भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति । वार्त्तिककारो व्याचष्टे अ-
स्तत्प्रत्ययभावप्रतिषेधाभ्यां भावशब्दसामानाधिकर-
ण्यात् । प्रमाणादयः खल्वमी परस्परानात्मकतया असदिति
प्रत्ययस्य नवश्च गोचरा इत्यनुभूयन्ते अतस्तद्वाचिनां शब्दानां
तत्सामानाधिकरण्यं ततः प्रमाणादयोऽसन्तः अनुत्पन्नप्रध्वस्तपट-
वत् । अपि चामी भावा नित्या अनित्या वा नित्यत्वे सर्वसामर्थ्य-
रहितस्यासत्त्वम् । न हि नित्यं क्वचित्कार्यउपयुज्यते क्रमाक्र-
मानुपपत्तेरित्युक्तम् । अनित्यत्वे तु विनाशस्वभावाश्चेद् द्वितीया-
दिक्षणइव प्रथमक्षणेऽपि न स्युः । सत्त्वे वा नामी विनाशस्वभावाः
अतस्त्वभावत्वे वा क्षणान्तरेऽपि न विनश्येयुः । नो खलु नीलं

स्वकारणादुपजातं जातु कारणसहस्रैरपि शक्यं पीतं कर्तुमिति
 विनाशस्वभावकत्वमकामेनापि अनित्यानामेषितव्यम् । तस्मा-
 द्भावानां शून्यतैव पारमार्थिकी कल्पनया त्ववस्तुसत्ता सन्तइवा-
 वभासन्तइति युक्तमुत्पश्यामः । तथा च सर्वे भावा इति ।
 सर्वे भावशब्दा इत्यर्थः । प्रयोगश्च सर्वे भावशब्दा असद्विषयाः
 असत्प्रत्ययप्रतिषेधाभ्यां सामानाधिकरण्यात् । अनुत्पन्नप्रध्वस्तप-
 दशब्दवत् । अत्र तावदुत्सृजं भाष्योक्तं दूषणं वार्तिककार आह ।
 प्रतिज्ञापदयोः प्रतिज्ञाहेत्वोश्च दयाघात इति । अभि-
 न्नविभक्तिकत्वमभिन्नार्थकविभक्तिकत्वं न त्वभिन्नविभक्तिक-
 त्वमेव, भिन्नविभक्तिकानामपि सामानाधिकरण्यात् । यथा
 चैत्रः पठतीति । यथा च न त्वां तृणाय मन्यइति । नास्ति
 तत्प्रत्ययेन भवितुमिति । न ह्यसन्तासन्निरूपारूपं सर्वमिति
 वा भाव इति वा ऽभिधानस्य गोचरः उपपादितं हि द्वितीय-
 सूत्रएव यथा ऽसद्वा ऽनिर्वचनीयं वा न ख्यातिगोचरो ऽपि तु
 सदेव सदन्तरात्मना, तथा च कुतो ऽत्यन्तासतः कल्पनागो-
 चरत्वमपीति । शेषं भाष्यइति । प्रतिज्ञाहेतोर्व्याघातो भाष्ये
 प्रपञ्चित इति ॥ ३७ ॥

उत्सृजमुक्ता भाष्यकारः सौत्रं दूषणं वक्तुमाह । सूत्रेण
 चाभिसम्बन्धो दूषणस्य ।

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् (सू. ३८) ॥ सर्वमभाव-
 इति नास्ति । कस्मात्स्वभावसिद्धेर्भावानां स्वभावो-
 धर्मो द्रव्यादीनां सदादिः । अथ वा स्वभावः स्वरूपं भा-
 वानां येनामी भावाः स्वभावाव्यावर्तन्ते । णद्वा असन्निति
 प्रत्ययस्य गव्यइवात्मनेति विशेषणात् । अगौरित्यस्य गां परि-
 हृत्याश्वादिभिः संबन्धाद्गोभावसिद्धेरेवमश्वादिष्वपीति स्वभाव-

३८ ४० सू० १० प्र०] सर्वशून्यतानिराकरणप्रकरणम् । ६१३

सिद्धेर्भावानां नाभाव इत्यर्थः । न स्वभावसिद्धेरिति सूत्रमनूय
वार्त्तिकारः स्वरूपमात्रेण व्याख्याय प्रश्नपूर्वकं तात्पर्यमस्य
दर्शयति । पूर्वसूत्रस्येति । (४७९ । ५) कश्चस्वभाव-
इत्यादिना सिद्धो भाव इत्यन्तेन सूत्रस्य व्याख्यानत्रयं भा-
ष्यकारीयं वार्त्तिककारो दर्शयति । सामान्यो धर्मः समानो
नित्यत्वादिरित्यर्थः । प्रश्नपूर्वकमसत्प्रत्ययप्रतिषेधसामानाधिकर-
ण्यं भावस्योपपादयति । कथं तर्हीति । (४८० । २) असच्छब्दः स्व-
त्वभावविशेषणं सदेवाभिधत्ते एवमसत्प्रत्ययो ऽप्यभावविशेषणं
सदेवालम्बते यथा शुक्लशब्दः शुक्लगुणविशिष्टे पटे वर्तते तथा चा-
सत्प्रत्ययाभिधानयोरुपपन्नं भाववाचिना पदेन सामानाधिकरण्य-
मित्यर्थः । भावश्च कश्चिन्नित्यः कश्चिदनित्यः तत्र नित्यस्या-
र्थक्रियाकारित्वमुपपादितं क्षणभङ्गभङ्गएव । अनित्यो ऽपि न
विनाशस्वभावो भावः किं तु स्वकारणादयं सत्स्वभावो जातः
कारणान्तरात्तु विनश्यति । यतूक्तं नीलं शक्यं न पीतं कर्तुमि-
ति । तत्र ब्रूमः शक्य एव नीलः पटः पीतः कर्तुम् आमश्यामो
घटो वह्निसंयोगाद्रक्तः । अथ नीलत्वं न पीतत्वं शक्यं कर्तुं ननु
भावो ऽपि नाभावः कर्तुं शक्य इति । यथैव कुम्भाधिकरणे
श्यामरक्तत्वे पर्यायेण भवतः एवं कपालाधिकरणौ कुम्भभावा-
भावावित्यदोषः ॥ ३८ ॥

स्वभावसिद्धेरिति यदुक्तं तदाक्षिपति शून्यवादी ।

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ (सू. ३९) ॥

सर्व एव हि भावा भिन्नस्वभावा भिन्नत्वं च तेषामन्यापेक्षम् ।
तथा हि नीलं भिन्नं पीताद्यपेक्षया न तु स्वभावतः एवं ह्रस्व-
त्वदीर्घत्वपरत्वापरत्वपितापुत्रत्वादयः परस्परापेक्षा द्रष्टव्याः । यच्च

परापेक्षं तन्न स्वाभाविकं यथा जपाकुसुमापेक्षं स्फटिकस्य रक्त-
त्वमित्याक्षेपार्थः ॥ ३९ ॥

समाधत्ते ।

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ (सू. ४०) ॥ तच्चाचष्टे यदी-
ति । ननु यद्यनेन क्रमेणोभयाभावो भवति भवतु सिद्धमेव नः
समीहितमित्यत आह । अपेक्षायामनपेक्षायां चेति । परि-
माणभेदो हि दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं च स च भावानामौत्पत्तिकः केव-
लं तस्यातिशयानतिशयौ परस्परग्रहणाधीनौ । तथा हीक्षुयष्टेर्वे-
णुयष्टितो ह्रस्वत्वं पूर्वसंख्यायोगिहस्तपरिमितत्वमनतिशयः वेणु-
यष्टेर्दीर्घत्वमतिशयः परसंख्यायोगिहस्तपरिमितत्वं तच्चेदं प्रति-
योगिनिरूपणाधीननिरूपणम् , न तु प्रतियोग्यधीनोत्पत्तीति, न
वस्तुधर्मो ऽयं परापरापेक्षः । भिन्नत्वं च भेदः स च वस्तुविशे-
षणं नोत्पत्तौ वस्त्वन्तरमपेक्षते किं तु स्वनिरूपणे । एवं पितृत्व-
मपि व्यवस्थिता जनकशक्तिरेव सा जन्यनिरूपणाधीननिरूप-
णा न तु तदधीनोत्पत्तिः । विपश्चितं चैतदस्माभिर्ब्रह्मतत्त्वप-
रीक्षायाम् । परत्वापरत्वादयस्त्वपेक्षाबुद्धिनिमित्ततया परापेक्षो-
त्पत्तिका अपि लोकयात्रां वहन्तो न शक्याः प्रसारयातुम् । न
चैतावता तदधिकरणं भावो न निरपेक्ष इति सर्वमवदातम् ।
स्यादेतत् । अपेक्षामात्रमेव दीर्घत्वादयो भविष्यन्ति कृतमेषां व-
स्तुस्वभावेनेत्यत आह । स्वभावसिद्धौ चासत्यामिति ।
(४८१।१) अपेक्षा सामर्थ्यमपेक्षाप्रयोजनयोगः । स्वयं वार्तिक-
कारो दूषणान्याह सर्वथा चायं व्याहत इति । निगदव्या-
ख्यातम् ॥ ४० ॥

उत्तरसूत्रावतारपरं भाष्यम् । अथैते संख्यैकान्तवादाः
संख्या एकान्तो येषु वादेषु ते तथोक्ताः । अथ शून्यतावादानन्तरं

ते परीक्ष्यन्तइत्यर्थः । तत्र प्रथमं ब्रह्माद्वैतमुत्थापयति । सर्वमेकं
 कुतः सदविशेषात् । इदमस्याकृतम् । न तावदयं नामरूपप्रपञ्चः
 प्रकाशाद्भिन्नः सन् प्रकाशितुमर्हति । जडस्य स्वयंप्रकाशासंभ-
 वात् । न च प्रकाशयोगात्प्रकाशतइति युक्तम् । न खल्वान्त-
 रेण प्रकाशेनास्य कश्चिद्योगः संभवति । विषयविषयिभावः
 सम्बन्ध इति चेन्न । तत्राकिंचित्करस्य विषयित्वासम्भवात् । न
 चार्थे ज्ञानं फलं जनयतीति सांप्रतम् । अतीतानागतयोरर्थयो-
 स्तदसंभवात् । न च न तयोर्विषयभावः । तस्माज् ज्ञानाद्भिन्न-
 स्य नामरूपप्रपञ्चस्य न प्रकाशसम्भव इति ज्ञानस्यैवायं विवर्त्त-
 इति युक्तमुत्पश्यामः । न च प्रकाशात्मानो घटादय एवादय-
 व्ययधर्मिणः परस्परव्यावृत्ताः सन्तिवति सांप्रतम् । तद्व्यावृत्ति-
 ग्रहे प्रमाणाभावात् । सा हि यद्यतो व्यावर्त्तते तदुभयग्रहे गृह्यते
 न च विज्ञानानि विलक्षणानि स्वरूपमात्रावस्थितानि परस्पर-
 वार्त्तानभिज्ञानि ज्ञानान्तरमपि ग्रहीतुमुत्सहन्ते प्रागेव स्वस्मा-
 द्वावर्त्तयितुम् । न च निषेध्यनिषेधाधिकरणग्रहणकारणको व्या-
 वृत्तिग्रहः स्वकारणेन समसमयोत्पादो भवितुमर्हति । तादृशोः
 सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभावाभावात् । न चैकं विज्ञानं क्षणिकं
 निषेध्यनिषेधाधिकरणे गृहीत्वा पश्चान्निषेधं गृह्णातीति युक्तम् ।
 क्षणिकस्याक्रमस्य क्रमवद्व्यापारायोगात् । न चैकं विज्ञानं निषे-
 द्यनिषेधाधिकरणे गृह्णाति अथ ज्ञानान्तरं निषेधतीति युक्तम् ।
 चैन्नगृहीते ऽपि तस्मिन्मैत्रस्य निषेधज्ञानप्रसङ्गात् । न च ज्ञान-
 स्वरूपग्रह एवास्य निषेध ग्रह इति सांप्रतम् । एवं हि स भवे-
 द्यदि स्वरूपतदन्यव्यावृत्त्योरेकत्वं भवेत् । तत्र व्यावृत्तिस्वभावो
 वा भावो भावस्वभावा वा व्यावृत्तिः । तत्र पूर्वस्मिन्कल्पे व्या-
 वृत्तेस्तुच्छत्वात्तत्स्वभावा भवाभेदास्तुच्छाः स्युः । ततश्च वचो-

भङ्गान्तरेण शून्यवादप्रसङ्गः । उत्तरस्मिन्स्तु कल्पे विधिरूपो
भाव एव व्यावृत्तिरिति विधिरूपतया च ते व्यावर्तन्तइति न
व्यावृत्ता भावाः परस्परं परमार्थतः तदिदमुक्तं सदाविशेषा-
दिति । (४८२।१) अनाद्यनिर्वचनीयाविद्यानिबन्धनं तु भावानां
भेदं न व्यासेधामः । न च ज्ञातुरपि ज्ञानाज्ज्ञेयाहकमास्ति
प्रमाणमुक्तादेव विशेषात् । तस्मान्न ज्ञेयानां परस्परतश्च ज्ञाना-
च्च भेदः । नापि ज्ञातुर्ज्ञानादस्ति भेदः नापि ज्ञानानामन्योन्यस्य,
तस्मात्प्रकाश एव स्वयं प्रकाशः कूटस्थनित्य आनन्दघनो ऽना-
द्यविद्योपदर्शितविविधविचित्रनामरूपपञ्चो ब्रह्मेत्यद्वैतसिद्धिः ।
अत एव श्रुतयो भवन्ति । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति । किञ्च
न । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्येवमादिकाः ।
तदेवमैकान्तिकमेकत्वमुपन्यस्य द्वित्वमैकान्तिकमाह सर्व-
ज्ञेया कुतः नित्यानित्यभेदान् । न हि नित्यानित्याभ्याम-
न्यो राशिरस्ति यमाश्रित्य पदार्थास्त्रित्वादिके व्यवतिष्ठन्ति ।
मतान्तरमाह सर्वं ज्ञेया । तदेव दर्शयति । ज्ञाता ज्ञेयं
ज्ञानमिति । ज्ञप्तिरपि ज्ञायमानत्वाज्ज्ञेयान्नातिरिच्यतइति भावः ।
मतान्तरमाह । सर्वं चतुर्धा । दर्शयति । प्रमाता
प्रमाणं प्रमेयं प्रमिति रिति । यदि प्रमितिर्नाम तत्त्वं प्रमा-
णादिभ्यो भिन्नं नाश्रीयते प्रमायाः प्रधानक्रियाया अभा-
वात्कथं प्रमात्रादयः । कथं च प्रधानक्रियामन्तरेणैकवाक्यता
स्यात् कारकवैचिश्यं वा । प्रमायाः फलत्वावस्थाया उपरि प्र-
मेयव्यपदेशं न वारयामः । न चैतावता तत्त्वान्तरं न भवति ।
इति । एवं यथासन्भवमन्ये ऽपीति । प्रकृतिपुरुषाविति वा
पञ्चस्कन्धा इति वा पशुपाशातदुच्छेदेश्वरा इति वेत्यादयः । तत्र
परीक्षां संख्यैकान्ततानिराकरणरूपान्तां दर्शयति सूत्रेण ॥

संख्यैकान्तसिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्
(सू. ४१) ॥ अनवयवेन सर्वं चेदेकं द्वंधा त्रंधा चतुर्था चेति
प्रतिज्ञार्थः ? तदतिरिक्तं साधनं वाच्यम् । न हि साध्यमेव साधनं
भवति । तथा च साधनस्य तदतिरेकान्न संख्यैकान्तसिद्धिः, न
च किं चिदपि स्वसंवेदनमस्ति, ज्ञानप्रदीपादीनामपि परसंवेद्य-
त्वात् । यथा च ज्ञानातिरिक्तो ऽप्यर्थो विषयस्तथा विज्ञानवा-
दनिरासावसरे वक्ष्यते । न च विज्ञानादर्थस्य भेदो ऽशक्यग्रहः ।
तथा हि नीलमुपलभ इत्यनहङ्कारास्पदमज्ञेतादिरूपं नीलं प्रत्या-
त्ममनुभवगोचरः एवं नीलादीनामपि परस्परम् । अन्यथा घट-
मानयेति देशितो नयने निमील्य शयीत, शयीथा इति देशिते तो-
यमाहरेत् । कस्य चित् कुतश्चित्कथं चिद्विवेचकाभावात् । न चानि-
र्वचनीयानाद्यविद्यानिबन्धनोऽयं भेदव्यवहार इति सांप्रतम् । अ-
निर्वचनीयख्यातेः पूर्वमेव निराकृतत्वात् । तस्मात्सर्वजनसंवेद-
नासिद्धो ऽयं भेदप्रत्ययो न कारणमुखनिरीक्षणेन युक्तो निरा-
कर्तुम् । अपि तु स्पष्टदृष्टात्कार्याद्भेदप्रत्ययलक्षणात्तादृशं तत्कारणं
कल्पनीयं यादृशेन तत्कारणेन प्रपञ्चप्रत्ययो ऽप्रत्यूहमुत्पद्येत ।
तच्च प्रत्यक्षमेव । तथा हि तन्नीलं परिच्छिन्दत्पीतादिभ्यो ऽस्य
भेदं परिच्छिन्नत्विं संयुक्तविशेषणतालक्षणादिन्द्रियार्थसन्निक-
र्षात् । नीलं हि नीलमित्यनुभवन् पीतादिकं च पीतादिकमि-
त्यनुभवन्स्मरन्वा शक्नोति निषेधनिषेधाधिकरणतया समाकल-
यितुं रूपमात्रेणागृहीतपरस्परभेदमपि । न हि तन्न भेदेन प्रथत-
इत्यभेदेन प्रथेत । येनानयोर्नीलपीतयोर्गृहीतस्वरूपयोरवध्यव-
धिमज्जावो न स्यात् । तथा च तौ गृहीत्वा प्रत्यक्षेण शक्यो ऽन-
योर्भेदो ग्रहीतुमित्यसांप्रतमेतत् ।

‘अन्योन्यसंश्रयाद्भेदो न प्रमान्तरसाधनः ।

तस्मिन्निदं नायमयमिति भेदं विना नधीः' ।

एतेन प्रमातुरपि प्रमाया भेदो व्याख्यातः । प्रमातारश्चानेकविधसुखदुःखोपभोगव्यवस्थानाद्वधिरान्धकाणादिकोविदजालमसंसारिमुक्तविभागोपपत्तेश्च भेदवन्तो ऽनुमीयन्ते । एकस्मिन्नपर्यायेण विरुद्धधर्मसंसर्गासंभवात् । कल्पनया कथंचित्संभाव्यमानोऽप्ययं गोमयपायसीयन्यायमावहति । तदेवं प्रत्यक्षविरोधादनुपपन्नार्थाः श्रुतय 'एकमेवाद्वितीय'मित्याद्याः प्रथमां वृत्तिमुल्लङ्घ्य जघन्यामवलम्बन्ते 'यजमानः प्रस्तर' 'आदित्यो वै यूप' इत्यादिवदिति । यदाह भगवान् जैमिनिः—'गुणवादस्त्विति' 'तत्तिसिद्धिरिति' चेति, तस्मान्नाद्वैतमिति । साध्यात्साधनस्य भेदेन च संख्यान्तरैकान्ता अप्यपहृतार्था इत्युक्तम् ॥४१॥

अत्र पूर्वपक्षवाद्याह—

न कारणावयवभावात् (सू. ४२) ॥ तज्जाचष्टे कारणस्य साध्यावयवभावात् । एकस्य द्रव्यादीनां वा कश्चिदेकदेशः साधनं तथा च न संख्यान्तरं न च साधनभाव इत्यर्थः ॥४२॥

निराकरोति—

निरवयवत्वादहेतुः (सू. ४३) ॥ अवयवभावादिति यदि साध्यस्य कश्चिदवयवो भवेन्न संख्यैकान्तः स्यादिति सर्वमेकमित्येतस्मिन्प्रतिज्ञार्थे न किं चिदपवृज्यते व्यावर्त्तते यतस्तत्साधनं स्यादित्यर्थः । अथ कस्मान्न साध्यमेव हेतुरित्यत आह । आत्मनि चेति । (४०२ । २०) चो हेतौ । अपि चैते संख्यैकान्ताः प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधान्मिथ्यावादा इत्याह । ते खल्विमे संख्यैकान्ता इति । खलुशब्दः समुच्चये । वक्रकोटरपाण्यादिविशेषकारितो यो ऽर्थभेदः स्थाणुपुरुषादिः तत्प्रत्याख्यानेनेत्यर्थः । अथ विशेषकारितार्थभेदा-

अनुज्ञानेन वर्तन्ते तथा ऽप्येकान्तत्वं जहति एकत्वादि-
संख्याया अनैकान्तिकत्वमित्यर्थः । अथ सामान्यकारित इति
(४८३।५) संख्यामात्रमङ्गीक्रियते न पुनरस्या ऐकान्तिकत्व-
मित्यर्थः । तदस्माकमभिमतमेवेत्याह तथा ऽपि न किं चि-
द्वाध्यतइति ।

ये ऽप्याहुः सत्तासामान्यमेव तत्त्वं भेदास्तु काल्पनिका
इति तान् प्रत्याह । न च भेदमन्तरेणेति । यदाहुः ।

‘निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणव’दिति ।

स्यादेतत् प्रेत्यभावपरीक्षायां क एषामवसरो यदेते एका-
न्तवादाः परीक्ष्यन्त इत्यत आह । ते इति । अद्वैतादिष्वेकान्तेषु
प्रेत्यभावो न तात्त्विको भवेदपि तु काल्पनिकः न केवलं प्रेत्य-
भावोऽपि तु षोडशापि पदार्थाः । तस्मादेतेषां यत्तत्त्वज्ञानं तस्य
प्रविवेकार्थं ज्ञेयप्रविवेकेन ज्ञानप्रविवेक इति तदर्थमेते परीक्षिता
इति । तदनेन प्रबन्धेन प्रेत्यभावः परीक्षितः ॥ ४३ ॥

अथोद्देशक्रमानुरोधात्फलमिदानीं परीक्ष्यते । तत्राग्निहोत्रा-
दीनां फलमनन्तरभावि कालान्तरभावि वेति संशयः । एतदुक्तं
भवति । कर्मनन्तरं दुःखं च लोकपङ्क्त्यादि चोपलभ्यते प्रशं-
सन्ति हि लौकिका धार्मिको ऽयं साधुतम इति, तत्किमेतावदेवा-
स्य फलमस्तु अथामुष्मिकं स्वर्गादीति । किं प्राप्तं स्वर्गादिफ-
लत्वे कर्मणः स्वरूपेणाकारणत्वाच्चिरानिवृत्ते तस्मिन्स्तदुत्पत्तेः
अपूर्वकल्पनायां च प्रधानाङ्गापूर्वाणि भूयांसि कल्पनीयानि न
च तान्युत्पन्नमात्राणि जनयन्ति फलमिति तत्सहकार्यन्तराणि
कल्पनीयानीत्यदृष्टकल्पनागौरवात् तदनन्तरदृष्टफलाबाधनाच्च, ना-
स्याऽऽमुष्मिकं फलं स्वर्गादि, अपि त्वनन्तरदृश्यमानमेव । तत्रापि
दुःखफलत्वे उपदेशव्याघाताल् लोकपङ्क्तिलाभख्यात्यादिकमेव फ-

लं तच्च सुखहेतुतया कथं चित्स्वर्गादिपदेनोच्यते । दृष्टो हि सु-
खहेतौ स्वर्गपदप्रयोगो लोके यथा चन्दनं स्वर्गः सूक्ष्माणि वा-
सामि स्वर्ग इति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः । स्वर्ग पदस्य ताव-
दर्थवादतो —

‘यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद’मिति

सुखं प्रति वाचकत्वमवधारितम् । न च तद्वाचकत्वेनैव
चन्दनादौ तत्प्रयोगोपपत्तावनेकार्थत्वकल्पना युक्ता । यदाहुर-
न्यायश्चानेकार्थत्वमिति । तस्मान्मुख्यो ऽयं स्वर्गशब्द उक्तभेदे
सुखे । तथा च स्वर्गकाम इत्यत्र मुख्यार्थसंभवे नोपचरितार्थता
युक्ता । न चानेकादृष्टकल्पनाभयान्मुख्यार्थपरिस्रागो न्यायः
प्रमाणमिदं नियोगपर्यनुयोगानुपपत्तेः । यथा ऽहुः ।

‘श्रुतसिद्ध्यर्थमश्रुतोपलब्धौ यत्नवता भवितव्यं न तु श्रुत-
शैथिल्यमादरणीय’मिति । तथा —

‘प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि’ । न चा-
नन्तरदृश्यमानं लोकपङ्क्षादि होमाद्यनुष्ठानफलमपि तु तदुपल-
म्भफलम् । अदात्मिकानां प्रच्छन्नमनुतिष्ठतामपि लोकपङ्क्षादे-
रभावात् । तस्मात्सुष्टूक्तं न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वा-
दिति भाष्यम् ।

तथा प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यत
इति । नैष पुरुषसंस्कारः स्नानादिजन्य इव बोद्धव्यो ऽपि तु
पुरुषधर्मतामात्रेण संस्कार इत्युच्यते परमार्थतस्त्वयं धर्मः पुरुषा-
श्रयो ऽपि कर्मणा फले जनयितव्ये तस्यावान्तरव्यापार इति ।
वार्तिकं सद्यस्तापादिफलेति । (४८४।१) अतद्गुणसंविज्ञानो ऽयं
बहुव्रीहिस्तापादीति । तेन लोकपङ्क्षादिकमुच्यते ॥ ४५ ॥

स्वर्गः फलं श्रूयते इत्युक्तम्, स्वर्गकाय इति स्वर्गस्य पुरुषविशेषणत्वेन श्रवणादसाध्यत्वादत आह । देशितया च क्रियया नानर्थिकया भवितव्यम् । आप्तोपदेशः खल्वप्यमुपदेशस्य कर्मणो ऽभिमतोपायतामाह तत्र कर्मणो ऽभिमतापेक्षया पुरुषविशेषणस्याप्यपेक्षितत्वात्साध्यत्वमिति सिद्धम् । एवं हि लोकपङ्क्त्यादिरग्निहोत्राद्यनुष्ठानसाध्या भवेद् यदि तत्कामस्य स्वर्गकामस्येवाग्निहोत्राद्यनुष्ठानं देश्येत, न चैतदस्तीत्याह न च नापादिकाम इति । लोकपङ्क्त्यादिकाम इत्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते किमेतत्फलमुत्पत्तेः प्रागसद्वा सद्वा सदसद्वा ऽनुभयं वेति । अत्र समस्तपक्षाक्षेपेण फलाभावमाभिहितुः पूर्वपक्षयति । तदिदं फलं निष्पत्तेः प्राक् ।

नासन्न सन्न सदसत् । सदसत् कस्मान्न भवतीत्यत आह । सदसतो वैधर्म्यात् । परस्परविरुद्धधर्मत्वाद् धर्मः स्वभावः विरोधादित्यर्थः । अथानुभयं कस्मान्न भवतीत्यत आह । नाप्यनुभयविपरीतमिति ।

सिद्धान्त्याह ।

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्वा ॥ ४८ ॥

ननु नासदुत्पद्यते न सन्निरुद्ध्यतइत्याचक्षते सांख्याः तत्कथमेतदित्यत आह ।

उत्पादव्ययदर्शनात् (सू० ४९ ॥ यथा नित्यस्वरूपायाश्चितिशक्तेर्नोत्पादो न च व्यय एवं फलस्यापि नित्यस्य तौ न स्यातामित्यर्थः । न हि सत्पक्षइति । (४८६।१) सत्कार्यपक्षइत्यर्थः ।

न किं चिज्जायतइति । न प्रतिज्ञावाक्यात्किञ्चित्स्वज्ञानं सम्भवति । किं चिच्च संदेहादि न विनिश्चयीति । अज्ञाननिरोधभावः संशयविपर्ययतिरोभावः । कारणस्य हि प्रधानस्य लक्षणं

महान् लक्ष्यते हि महता प्रधानमिति । एवं तस्याप्यहङ्कारस्त-
स्य पुष्टिः स्थूलतेत्यर्थः । पश्चाद्भवतीति केवलकारणावस्था-
याः पश्चादिति ॥ ४९ ॥

यच्चोक्तमुपादाननियमादिति । तत्र यदि पुरुषस्योपादा-
ननियमः पदार्थी तन्तूनेवोपादत्ते न वीरणं, कटार्थी वीरणमिति,
ततस्तदुपादानानां तत्र तत्र कार्ये सामर्थ्यपरिज्ञानात् तच्च
सामर्थ्यमानुमानिकं तदिदमुच्यते ।

सू० बुद्धिसिद्धं तु तदसदिति ॥ ५० ॥

तदसद्भावि कार्यमनेनैव कारणेन जन्यते नान्येनेत्यनुमा-
नाद् बुद्धिसिद्धमेवेत्यर्थः । अथासत्कार्यपक्षे तन्तव एव पट-
स्योपादानं न वीरणादीत्ययं नियमो न स्यादिति ब्रूषे तदयु-
क्तम्, असत्त्वाविशेषे ऽपि स्वकारणादुत्पन्नं किं चिदेव किं चि-
त्कार्यं जनयितुं समर्थं नान्यदित्ययं स्वभावविशेषादुपपद्यतइति ।
अपि च सत्कार्यपक्षे प्रधानोपादानत्वाद्विश्वस्य तस्य चाभेदा-
त्कारणात्मकत्वाच्च कार्यजातस्य सर्वं सर्वात्मकमितीदमिहनेदमि-
दमिदानीं नेदमिदमेवंनेदमिति नियमो न स्यात् कस्य चित्कुत-
श्चिद्विवेकहेतोरभावात् । तस्मादस्ति रासभे ऽपि विषाणमिति
तत्र तस्यासत्त्वं ब्रूषाणः स्वसिद्धान्तं बाधतइत्याह । असत्त्वा-
च्च खरविषाणं नोत्पद्यतइति ब्रूषाण इति । सत्त्वे चास-
त्त्वे च समाने यस्य कारणमस्ति तदुत्पद्यत इति गुडजिह्विका ।
परमार्थतस्त्वमत्त्वे कारणसामर्थ्यनियमादुत्पत्तिनियमः कल्पते,
सर्वात्मना सर्वस्य सत्त्वे तु न नियमहेतुरस्तीत्युक्तप्रायम् । दे-
शयति अथासत्कार्ये किं प्रमाणं ? न ह्यनुमानमस्मिन्नर्थे प्रमाणं
भवितुमर्हति आश्रयासिद्धेः । नापि प्रत्यक्षं तेनाप्यसतः स्वात-
न्त्र्येणानिरूपणादिति भावः । विदिताभिप्राय उत्तरमाह नास-

त्वे न सत्त्वे ऽनुमानमस्ति । यथा ऽस्माकमाश्रयासिद्धिदो-
षादसत्त्वे कार्यस्य नानुमानम् । एवं भावे ऽपि कार्यस्य सत्त्वे
नानुमानमाश्रयासिद्धेरेव । क तर्ह्यनुमानमित्यत आह धर्मिण्य-
विप्रतिपत्तेरनुमानमस्तीति योजना । तथा सत्याश्रयो ऽस्य-
सिद्ध्यतीत्यर्थः । पुनः पृच्छति केति । यदि धर्मिण्यविप्रतिप-
त्तिः क तर्हि विवादः । उत्तरं यदुभयेति । धर्म्यधिकरणान्
सत्कार्यवादिनामेव वादान्विभजते तान्प्रतीति । तन्तुमात्रं
पट इति । तन्तुभ्यो ऽभिन्न इत्यर्थः । कार्यात्मनेति । कार्यं
कारणाद्धिन्नाभिन्नमित्यर्थः । असत्कार्यपक्षस्तु स्वाभिमतः स्फुट-
त्वादवान्तरप्रतिबन्धभावाच्च नोपन्यस्तः । उपपादित इति
द्वितीयाध्याये । प्रागुपलब्धिकालादिति । कारणव्यापा-
रात् प्रागित्यर्थः । संस्थानविशेषशून्यतामात्रविवक्षया तुर्यादि-
दृष्टान्तो न तु प्रागभावो विवक्षितः । शक्तिविशेषावस्थिता
इति कारणव्यापारात् प्रागिति शेषः । अत्र सिद्धसाधनं वय-
मपि ब्रूमहे स्वव्यापारात्पटोत्पत्तिनिमित्तात्प्राक् तन्तवः शक्ति-
विशेषावच्छिन्ना एवेति ।

परेषां सत्कार्यसाधनमुपन्यस्यति । विद्यमानाभिव्यक्त्य-
र्थास्तन्तवस्तदर्थिना नियमेनोपादानात् खनित्रादि-
वत् । (४८९।१) यथा हि खनित्रं विद्यमानमेवोदकं मृदपनय-
नेन व्यनक्तीति । तदेतद् दूषयति । विद्यमानस्याभिव्यक्ति-
रसतीति अभिव्यक्तिवत्कार्ये ऽपि प्रसङ्गः । यथा व्यक्ते-
रसत्या एवोत्पादस्तथा कार्यस्याप्यसत एवोत्पाद इत्यर्थः । ख-
नित्रादिवदिति दृष्टान्तः साध्यविकल इत्याह यदपीति । सा
ऽप्राप्तिः कुतो भवतीति वक्तव्यमिति । प्राप्तिः खलु सं-
योगः स च गुणः गुणश्च द्रव्याविनाशादिनश्येद् विरोधिगुणा-

न्तराद्वा । तत्र तावदावरणद्रव्यमात्रियमाणं बोदकं न विनष्टं येन
तयोः संयोगो विनश्येत् ततस्तद्विरोधिगुणान्तरोत्पादो वक्तव्यः
स एव च संयोगविरोधी गुणो विभाग इत्युच्यतइत्यर्थः । प्रा-
प्तेरभावो ऽप्राप्तिरिति पक्षं दूषयित्वा पर्युदासपक्षमाशङ्क्य दूषयति
अथ प्राप्तेरिति । पुनः शङ्कते अथ भिन्नदेशोत्पत्तिमिति ।
न च वयं संयोगं विभागं वा गुणमुपेयः । किं तु भिन्नदेशोत्प-
न्नएव द्रव्ये विभागो निरन्तरोत्पन्न एव संयोग इत्यर्थः । निरा-
करोति भिन्नदेश इति । विशेषणोपादानान्न भिन्नदेशोत्पत्ति-
विभागः कस्माद् उत्पन्ने उत्पन्नमिति भिन्नदेशतया भिन्नमि-
ति विशेषणं हि स्वानुरक्तं प्रत्ययं विशेष्ये जनयति, न त्वन्या-
नुरक्तम् । न खलु नीलं विशेषणमुत्पले रक्तप्रत्ययं जनयत्यभ्रा-
न्तम्येत्यर्थः । अपि च क्षणमङ्गं भावानां व्यासेधद्विरस्माभिभि-
न्नदेशोत्पत्तेः प्रतिषेधान्न भिन्नदेशोत्पत्तिर्विभागः । शङ्कते क्षाणि-
कत्वाद्विभागस्येति । उत्पद्य हीन्द्रियसन्निकर्षाद्विभागेन स्ववि-
षयं ज्ञानं जनयितव्यम् । न चैतावन्तं कालमसावस्ति क्षणिकत्वे-
नोत्पन्नापवर्गित्वादित्यर्थः । निराकरोति नसामान्याभिव्य-
क्तीति । (४९०।१) एतद्विभजते । पूर्वं तावदुत्पन्नो विभागः
सामान्यं व्यनक्तीति । स्वकारणसमवायः सत्तासमवायो वा
उत्पत्तिः । तद्विशिष्ट उत्पन्न इत्युच्यते । येषां सामान्यग्रहपुरः
सरं विशेषज्ञानं तन्मते न सामान्यं व्यनक्ति तदुत्तरकालं च
स्वप्रत्ययं जनयतीत्युक्तम् । एतदुक्तं भवति न वयं बौद्धा इव
पूर्वापरकालमात्रावस्थितिलक्षणां क्षणिकतां विभागादीनामाच-
क्ष्महे किं त्वाशुतरविनाशलक्षणां सा च द्वित्रादिक्षणस्थायिनां
चिरस्थायिभ्यो घटादिभ्यो व्यावृत्तात्मा शक्यावक्तुमिति ॥५०॥
देहाद्यतिरिक्तमात्मानं नित्यं परलोकिनमसन्तं मन्यमान आह ।

५१-५५-सू० १३ प्र०] दुःखपरीक्षाप्रकरणम् । ६२५

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः (सू० ५१) ॥ मूलसंकफलोत्पादयोरेकवृक्षाश्रयत्वम् । कर्मणस्तु होमादेराश्रयः शरीरम् । न चासृष्टिकस्य स्वर्गादेः शरीरमाश्रयः तस्मिन्नष्टे ऽस्य भावात् । तस्मादाश्रयव्यतिरेकात्स्वर्गादेर्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्ययं दृष्टान्तः स्वर्गफलत्वे होमस्याहेतुरित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अस्त्यात्मा स्वर्गोपभोगसमर्थः शरीरादिव्यतिरिक्तः कर्त्तैर्युपपादितमित्याशयवानाह ।

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः (सू० ५२) ॥

अस्तु स्वर्गाद्यात्माश्रयं तथा ऽप्यव्यापको हेतुः पुत्रादिफलेभ्यो निवृत्तेरिति देशयति ।

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् (सू० ५३) ॥

परिहरति ।

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तस्तेषु फलवदुपचारः (सू० ५४) ॥

स्वर्गो ऽपि तावत्स्वर्गतया न काम्यते किं तु भोग्यतया, एवं सति कैव कथा पुत्रादिषु । ते ऽपि भोग्यतयैव काम्यन्ते न तु स्वरूपं भोग्यमिति तत्साध्यं सुखं भोग्यम् । तस्मात्पुत्रादिसम्बन्धात्तदुत्पत्तेः सुखोत्पत्तेः तेषु यथा फलशब्दप्रयोगस्तथा तेषु पुत्रादिष्वित्यर्थः । सूत्रार्थकथनेनैव भाष्यवार्तिके व्याख्याते ॥ ५३ ॥

फलानन्तरं दुःखपरीक्षणं, तत्रेयं परीक्षा भवतु दुःखं बाधनालक्षणमनुभूयमानं, यत्पुनरिदं सुखं प्रत्यात्ममतुकूलवेदनीयं तत्कथं दुःखमनुभवविरोधात् । शरीरेन्द्रियबुद्धयश्च यदि दुःखहेतुतया दुःखं कस्मात्सुखहेतुतया सुखमेव न भवन्ति । सेयमतिभीरुता सकललोकयात्राविरोधिनी । यथा ऽऽहुः 'न हि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते । न हि भिक्षवः सन्तीति स्थालयो नाधिश्नी-

यन्त' इति । तस्मान्मांसार्थं कण्टकानुद्धृत्य मांसमश्नन्नानर्थं
 कण्टकजन्यमाप्नोतीत्येवं प्रेक्षावान् दुःखमुद्धृत्येन्द्रियादिसाधनं
 सुखं भोक्ष्यते, सन्ति च विविधदुःखपरिवर्जनहेतवो दृष्टाः परि-
 दृष्टसामर्थ्या अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यभिप्रायवान् पूर्वपक्षी गु-
 ङ्गजिविहकया संशयान् इव पृच्छति । तत्किमिदमिति ।
 सिद्धान्तिन उत्तरम् अन्य इत्याह सूत्रकार इति । तेनैवाभि-
 प्रायेण पूर्वपक्षी पृच्छति कथम् । उत्तरं न वै सर्वलोकसा-
 क्षिकमिति । अयं तु दुःखभावनोपदेशः किमर्थमित्यत आह
 भाष्यकारः दुःखहानार्थः । किंभूतस्य दुःखहानमित्यत आह ।
 जन्मभरणप्रबन्धस्यानुभवः प्राप्तिः तन्निमित्ताद् दुःखोपदे-
 शपरिशीलनेन निर्विण्णस्यालंप्रत्ययवतः अत एव दुःखं जिहा-
 सत इति योजनीयम् । स्वाभिप्रायेण पूर्वपक्षी पृच्छति । कथा
 युक्त्या । उत्तरम् । सर्वे खलु सत्त्वानिकाया इति । उत्प-
 त्तिः सुखदुःखहेतुभूता विषयसंपत्तिः तस्याः संस्थानानि भुव-
 नानि । आ सत्यलोकादा चावीचेरिति । एतदुक्तं भवति ।
 यदि दुःखवर्जनेन शक्यते सुखमुपादातुं ततस्तादृशं सुखमनकू-
 लवेदनीयं कः प्रज्ञावान् प्रजहात् । न च तादृशमस्ति सुखं क-
 चिदपि सर्वस्य दुःखाविनाभाविनः केवलस्योपादातुमशक्यत्वात् ।
 न हि मधुविषसंपृक्तमन्नं विषमपहत्य शक्यं । मधुमात्रमुपादातु-
 मिति । तस्मान्नेदं सुखस्य प्रत्याख्यानमपि तु सुखएव दुःखभा-
 वनमुपादिश्यते ॥ ५४ ॥

अत्र हेतुरुपादीयते ऋषिणा । विविधबाधनाद्योद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः (सू. ५५) ॥ जन्मन उत्पत्तिः सा दुःखमेव भावयितव्या वि-
 विधबाधनायोगादिति ॥ ५५ ॥

कस्मात्पुनर्दुःखमेव स्वरूपतो न भवत्येत्यत आह ।

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः (सू. ५५) ॥ न खल्वयं
दुःखोद्देशो दुःखकथनं सुखस्य प्रत्याख्यानम् ॥ ५६ ॥

इतश्च दुःखसंज्ञाभावनं न सुखस्य प्रत्याख्यानं दुःखोद्देशे-
नेत्याह ।

बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः (सू.
५७) ॥ यस्मादिदं मे सुखसाधनमिति वेदयन् प्रार्थयते सुखसा-
धनम् । तच्च उक्ताद्बहुप्रकाराद्बाधनाहेतुरिति दुःखभावनयोपदे-
शनमिति । कामं काम्यं कामयमानस्य यदा कामः
समृद्धयति संपन्नो भवति । अथानन्तरमेनं पुरुषमपरः काम
इच्छा क्षिप्रं बाधते स्वर्गादिप्राप्तावपि स्वराज्यादि कामयते ।
एवं तत्प्राप्तौ प्राजापत्यादीति अस्येच्छा तदुपायप्रार्थनादिना
दुःखेन प्रबाधतइत्यर्थः । समन्तादुदनेमि यथा भवति तथा भूमिं
लभतइति योजना ॥ ५७ ॥

नन्वयं यद्यप्यन्तराले सुखान्यनुभवति तथा ऽपि दुःख-
संभेदमाकलयन् अनुपदिष्टो ऽपि स्वयमेव निवर्त्स्यति कृतमस्य
दुःखभावनोपदेशेनेत्यत आह ॥

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च (सू. ५८) ॥ शास्त्र-
निष्ठानां विवेकिनां खलु विविधबाधनानुषङ्गाद् अनवयवेन सु-
खमात्रं दुःखमेवेति विनिश्चयो ऽक्षिपात्रकल्पा हि ते । तद्यथेपीका-
तूलसम्पर्कादप्यक्षिपात्रं दूयते न गात्रावयवान्तराणि तथा मृदुचि-
त्ततया विवेकिनो दूयन्ते अविवेकिनस्तु प्रणयकलहकुपितकुरङ्ग-
शाबलोचनाङ्गनाऽलक्तकरसार्द्रपादपल्लवपातमपि शिरसि रहसि
सुखमभिमन्यमाना घनपुलककञ्चुकाश्चिततनवः सान्द्रानन्दाश्रु-
प्लुतनयना निर्वृण्वन्तीति तान् प्रत्ययमुपदेशो ऽर्थवानित्यर्थः ।

जायस्व म्रियस्व चेति संधावतीति । पुनर्जायते पुनर्म्रियते
जनित्रा म्रियते मृत्वा जायते तदिदं संधावनव्यापारप्रचय इ-
त्यर्थः । चोदयति । कस्माद् दुःखं जन्मेति नोच्यतइति ।
यदि दुःखभावनोपदेशो जन्मानि एवं सत्येवकारः किमर्थ इत्य-
र्थः । परिहरति । जन्मविनिग्रहार्थीय इति । विनिग्रहो वि-
निवृत्तिः स एवार्थः प्रवर्तत इति जन्मविनिग्रहार्थीयः । यथा च
मत्वर्थीय इति । एतदुक्तं भवति । जन्म दुःखमेवेति भावयितव्यं
नात्रमनागपि सुखबुद्धिः कर्तव्या अनेकानर्थपरम्परायामपवर्गप्र-
त्यूहप्रसङ्गादिति ॥ ५८ ॥

दुःखोद्देशानन्तरमपवर्ग उद्दिष्टो लक्षितश्चेति शेषः ।
स प्रत्याख्यायते ।

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः (सू. ५९) ॥
तद्व्याचष्टे भाष्यकारः । ऋणानुबन्धादिति । अस्ति हि ।

“ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेद् ।

अनपाकृत्य मोहेन मोक्षमिच्छन् ब्रजत्यधः ।”

ऋणत्रयापाकरणेनैव वयःसमाप्तेर्मोक्षनिवेशक्षणो नास्ती-
त्यपवर्गाभाव इत्यर्थः । क्लेशानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः । नानु-
च्छिन्ननिदानः संसारः शक्य उच्छेत्तुमित्यर्थः । प्रवृत्त्यनुबन्धादि-
त्यस्यापीयमेव व्याख्या ॥ ५९ ॥

एवं पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तमुपक्रमते । अत्राभिधीयते ।
यत्तावदृणानुबन्धादिति । जायमान इत्यस्य प्रधानार्थतानुप-
पत्त्या गुणशब्दत्वं साधयितुं दृष्टान्तलाभाय ऋणशब्दस्य प्रथमं
गुणशब्दत्वमाह । प्रधानशब्दानुपपत्तेरिति । तद्व्याचष्टे । ऋ-
णैरिति । नायं प्रधानशब्द इति । (४९१ । १) ऋ-
णवानिवास्वतन्त्रस्तेषु तेषु कर्मसु नाधिकारीति निन्दा ।

तदभावे तु स्वतन्त्र इति प्रशंसा । एवं जायमान इति गुणशब्दो न मुख्य इति । कस्मात् पुनर्न मुख्य इत्यत आह मातृतो जातमात्रस्यैवानधिकारात् । कस्मादनधिकार इत्यत आह । अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात् । कस्मादर्थिन इत्यत आह । कर्मविधावधिहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादौ कामसंयोगश्रुतेः । न च बालकः सुखदुःखप्राप्तिपरिहारकामोऽपि विवेकेन स्वर्गपुत्रपञ्चनादि कामयतइति । शक्तस्य च प्रवृत्तीति । न ह्यशकनीयमर्थमशक्तं प्रति वेद आप्तोपदेशरूपो विधातुमर्हति । न च बालकः शक्तोऽविद्वत्त्वादिना । अत एव तिर्यग्देवर्षिपङ्क्तुशूद्रव्याप्येणामनधिकारः सामर्थ्याभावात् । न केवलं वैदिकोऽयमीदृशो व्यवहारोऽपि तु लौकिकोऽपि । न भिद्यते चायं लौकिकात् । तद्व्याचष्टे लौकिकस्तावदिति । उपपन्नानवद्यवादीति । उपपन्नं प्रमाणेन अनवद्यं पुनरुक्तदोषेण अनपेक्षितमुपदेष्टव्यं यन्न भवति तदित्यर्थः । न्यायप्राप्तमिममर्थं लिङ्गदर्शनमुपोद्बलयतीत्याह । गार्हस्थ्यलिङ्गं च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदतीति । गार्हस्थ्यस्य लिङ्गं पत्नी यस्मिन्कर्माणि तत्तथोक्तम् । 'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति' । 'पत्न्य उद्गायन्ति' । 'क्षौमे वसानावग्निमादधीयाता' मित्येवमादि । तदनेन गार्हस्थ्यपूर्वावस्था तावदणानुबद्धा न भवतीत्युक्तं संप्रत्युत्तरावस्थापि न ऋणानुबद्धेत्याह । यदा चार्थिनोऽधिकारस्तदाऽर्थित्वस्याविपरिणामे जरामर्थवादोपपत्तिः । तेन यदुक्तमृणापाकरणेन वयःपर्यवसानान्नास्ति मोक्षावसरस्तदपाकृतं भवति । अविपरिणामपदार्थव्याख्यानं न निवर्ततइति । तुरीयस्येत्यस्य व्याख्यानं चतुर्थस्येति । प्रायेण पञ्चमसप्ततिवर्षेष्वतिवाहितेषु अर्थतृणानां तनूभवति । अत्यन्तसंयोगे तु जरया

हवेत्यनर्थकम् । मृत्युना वेत्यनेनैव सिद्धेरिति शेषः । यद्युच्यते अ-
शक्तोपलक्षणमेतज्जरया हवा मृत्युना वेति, तेन कस्यानर्थक्यमि-
त्यत आह । अशक्तो विमुच्यत इत्येतदपि नोपपद्यत इति ।

स्यादेतत् । यद्यपि गृहस्थस्य यज्ञादिविधानान्तराणि स-
न्ति तथा ऽपि जायमानस्त्रिभिर्ऋणैरिति वाक्यं बालस्यापि य-
ज्ञादि विधास्यतीत्येतां शङ्कां विमर्शपूर्वमपाकरोति । अथापि
विहितं वा ऽनूयेत कामाद्वा ऽर्थः प्रकल्प्येतेति । न ता-
वज्जायमानो हवै इति वाक्ये विधिविभक्तिरस्ति तेन सिद्धानुवा-
दः स्वरसतः प्रतीयते यदि तु तस्यार्थस्य सिद्धिर्वाक्यान्तराद्वा
प्रमाणान्तराद्वा कथमपि न कल्पेत ततो 'वचनानि त्वपूर्वत्वा' दि-
ति न्यायाद्विधित्वमस्य कल्प्येत, सन्ति तु शतशस्तदर्थविधाय-
कानि वाक्यानि विभक्तिमन्तीति को जात्वस्य स्वेच्छामात्रेण
विधित्वं कल्पयेत् । तस्माद्विहितानुवचनमेव न्याय्यमिति जाय-
मानशब्दो जघन्यवृत्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः ।

स्यादेतत् । जायमानशब्दो ऽनुपचारितार्थः स्वभावतो मा-
तुरुदराद्विभागमाह । स कथं चिदनुवादानुरोधेन जघन्यवृत्तिः
कल्पनीयः । तद्वरं मुख्यार्थानुरोधेन विधानमेव कल्प्यताम् ।
एवं सति श्रुतिरनुरोधिता भवति । अस्ति च बालकस्यापि
फलोत्पादनयोग्यता तदात्मनः फलं प्रति समवायिकारणत्वात् ।
तेन यद्यपि जातमात्रस्य फलसाधनानुष्ठानयोग्यता नास्ति
तथा ऽपि फलोत्पादं प्रति योग्यता ऽस्ति, फलेन च प्रयोजनं न
तत्साधनेनेत्यत आह फलस्य साधनानि हि प्रयत्नविषयो
न फलमिति । अयमभिसन्धिः । विधिर्हि स्वव्यापारे कर्तृतया
पुरुषं नियुक्ते प्रयत्नश्चास्य व्यापारः सम्भवति विषये न शक्यो
निवर्त्तयितुमिति स्वविषयमपेक्षते । न चास्य साक्षात्फलं विषयो

भवितुमर्हति । उद्देश्यतामात्रेण तु भवेत् । नैतावता प्रयत्नो
 ऽस्य निर्वृणोति यावदयं साक्षादभिनिवर्तनीयं न प्राप्नो-
 ति । तदुपायस्य साक्षादभिनिवर्तनीय इति फलोद्देशप्रवृत्तस्य
 पुरुषप्रयत्नस्य निर्वृणोति पात्रदुपायो विषयः । न च बा-
 लकस्य तदुपायमविदुषस्तत्र सामर्थ्यमस्ति । असमर्थश्चाकर्ता क-
 थमात्मानं प्रयत्नेन व्याप्नुयात् । अव्याप्नुवंश्च कथमधिकारीति
 जायमानशब्दो जघन्यवृत्तिरेव न्याय्य इति सिद्धम् । विहितं
 च जायमानमिति ऋणवाक्यात्प्राग्निधीयते च ऋणवाक्याद्-
 धर्ममित्यर्थः । यदुक्तं तत्र हि प्रव्रज्या विधीयतइति तदमृष्यमाण
 आह प्रत्यक्षविधानाभावादिति चेत् । शङ्कां निराकरो-
 ति । न प्रतिषेधस्यापि विधानाभावात् । शङ्कां विभजते
 प्रत्यक्षत इति । परमाप्तो हि भगवानीश्वरो ऽनुकम्पया भूतो-
 पदेशाय प्रवृत्तो यद्गार्हस्थ्यमेवाश्रममुपादिशति ततो ऽवगच्छामो न
 सन्त्याश्रमान्तराणि भूतेभ्यो हितानीत्यर्थः । अत एवाहुः 'एका-
 श्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति' । निराकरणं वि-
 भजते न प्रतिषेधस्येति । स्मृतीतिहासपुराणानि तावदविवा-
 दं विदधति चातुराश्रम्यमुपलभ्यन्ते यदि प्रत्यक्षया श्रुत्या प्र-
 तिषिध्यन्ते ततस्ताद्विरोधेनौदुम्बरीसर्ववेष्टनवत् तत्रापमाणानि स्युः,
 न च तत्प्रतिषेधः श्रुतेः साक्षादवगम्यते । तस्मात्स्मृत्यादिवि-
 हितं चातुराश्रम्यमप्रतिषिद्धं श्रुत्या न शक्यं परित्यक्तुमित्यर्थः ।
 न चाविधानेन तत्प्रतिषेधानुमानमित्याह । अधिकाराच्चेति ।
 गार्हस्थ्योपदेशस्याधिकारात्तस्यैव विधानं नाश्रमान्तरस्य न त्वा-
 श्रमान्तराभावात् । न हि व्याकरणं शब्दं व्युत्पादयत्प्रमाणाद्य-
 भावमाक्षिपति । अपि च मा भूत्प्रत्यक्षविधानं श्रुतौ ससाधना-
 पवर्गाभिधानानि चातुराश्रम्याभिधानानि च प्रत्यक्षान्युपलभ्य-

न्ते वचनानि तान्पूर्वत्वाद्विधानानि अपवर्गस्य ससाधनस्य चा-
 तुराश्रमस्य च भविष्यन्तीत्याह । ऋग्ब्राह्मणं चापवर्गाभि-
 धाय्यभिधायतइति । मृत्युमिः परं कर्मभ्य इति । कर्मप-
 रित्यागमपवर्गसाधनं सूचयति । अमृतत्वमिति चापवर्गो दर्शि-
 तः । सूचितं कर्मसागमपवर्गसाधनं श्रुत्यन्तरेण विशदयति । न
 कर्मणा न प्रजयेति । परेण नाकमिति । नाकमिसविद्यामु-
 पलक्षयति । अविद्यातः परमित्यर्थः । निहितं गुहायामिति
 लौकिकप्रमाणागोचरत्वं दर्शयति । तमसः परस्तादिति ।
 अविद्या तमः तस्य परस्तात् । आदित्यवर्णमिति । नित्यप्र-
 काशमित्यर्थः । तदनेनेश्वरप्राणिधानस्यापवर्गोपायत्वमुक्तम् । ऋ-
 च उदाहृत्य ब्राह्मणमुदाहरति अथ ब्राह्मणानीति । यज्ञ इ-
 त्यादिना गृहस्थाश्रमो दर्शितः । तप एवेति वानप्रस्थाश्रमः ।
 ब्रह्मचारीति ब्रह्मचर्याश्रमः । एषामभ्युदयलक्षणं फलमाह । स-
 र्वएवैतइति । चतुर्थाश्रममाह । ब्रह्मसंस्थ इति । तथाक्र-
 तुरिति । क्रतुः संकल्पः । कामयमानो य आसीत् स एवाथा-
 कामयमानो भवति । अकामयमानः कामं परिहरन् तत्परिहार-
 सिद्धौ सो ऽकामयंस्तस्य व्याख्यानं निष्काम इति । आत्म-
 काम इति । कैवल्योपेतात्मकामः तत्प्राप्त्या आप्तकामो भवति ।
 न तस्य प्राणा इति शाश्वतो भवतीत्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति
 तत्र यदुक्तमिति । अपरामपि चातुराश्रम्याभिधायिनीं श्रुति-
 माह । ये चत्वार इति । इतश्च फलार्थिन एव जरामर्यवाद इ-
 त्याह । फलार्थिनश्चेति ॥ ६० ॥

पृष्ठा सूत्रं पठ ते कथम् ।

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः (सू. ६१) ॥ आत्म-
 न्यग्नीनां समारोपणादणानुबन्धनापवर्गस्याप्रतिषेधः । तदनेन

६१-६४सू० १३प्र०] अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम् । ६३३

च्छलेन प्रत्यक्षविधानं प्रव्रज्याया अपि दर्शितम् । एषणाव्युत्थितस्य विपर्यस्तबुद्धेः अलमाभिरेषणाभिरनर्थहेतुभिरिति कृतबुद्धेः अत एव निवृत्ते फलार्थित्वे समारोषणमात्मन्यग्नीनां विधीयते इति । एवं ब्राह्मणानीति यदैषणाभ्यो व्युत्थितस्य प्रव्रज्याविधानं तदा तदभिधायीनि ब्राह्मणान्युपपन्नानीत्यर्थः ॥६१॥

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः (सू. ६२) ॥

प्रमृते खलु यजमाने यज्ञपात्राणि यजमानस्य शरीरे यथावयवं निधायान्येष्टिः क्रियते । तत्र जरामर्गे कर्मण्याविशेषेण कल्प्यमाने सर्वस्य पात्रचयान्तानि कर्माणीति प्रसज्येत मरणपर्यन्तानि कर्माणीति प्रसज्येतेत्यर्थः । नन्विष्यतएव पात्रचयान्तत्वं कर्मणामित्यत आह । तत्रैषणाव्युत्थानमिति । तस्मान्नाविशेषेण कर्तुः प्रयोजकं फलं भवतीति । फलाभाव इत्यस्य सूत्रावयवस्याविशेषेण फलस्य कर्तृप्रयोजनकत्वाभाव इत्यर्थः । तदनेनैषणाव्युत्थानश्रुतिविरोधो दर्शितः । तदेवं चातुराश्रम्यस्य श्रुतिरुक्ता । संप्रति स्मृत्यादयो ऽपि चातुराश्रम्यस्योपदेशकाः सन्तीत्याह चातुराश्रम्यविधानाच्चेति । शङ्कते तदप्रमाणमिति चेत् । जगन्निर्मातुः परमकारुणिकस्य सर्वज्ञस्यात्रभवतः परमेश्वरस्यागमो भवतु प्रमाणमाप्तोक्तत्वात् । मनुव्यासादीनां त्वाप्तत्वानिश्चयात्कथं तत्प्रणीतानां प्रामाण्यनिश्चय इत्यर्थः । उत्तरं प्रमाणेनेति । स्यादेतत् । भवतु वेदेनाभ्यनुज्ञानादितिहासपुराणप्रामाण्यं धर्मशास्त्राणां तु मन्वादिप्रणीतानां कुतः प्रामाण्यनिश्चय इत्यत आह । अप्रामाण्ये चेति । सर्वजनपरिग्रहात्तेषामपि प्रामाण्यमित्यर्थः । बुद्धादिस्मृतयस्तु वेदनिन्दितैर्मल्लेच्छादिभिः परिगृहीता न त्वार्यैरिति न ताः प्रमाणं भवितुमर्हन्तीत्यर्थः । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः । य

एव वेदस्य द्रष्टारो ऽनुष्ठातारश्च तदर्थस्य तएवेतिहासादीनां प्र-
वक्तारः प्राचेतसकृष्णद्वैपायनमनुप्रभृतयः । अपि च वैदिका-
नि कर्माणि स्मार्तीमितिकर्तव्यतामपेक्षन्ते स्मार्तानि च वैदिका-
नि मन्त्रादीनीति सर्वमेतदप्रामाण्ये धर्मशास्त्राणां नोपपद्यते ।
यद्यपि च मन्वादयो ऽपि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यशालितया अनुभू-
याप्युपदिशन्तीति संभवति तथा ऽपि वेदमूलकत्वमेवेतिहासपु-
राणादीनां युक्तम् । तथा हि

‘वेदो ऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

यः कश्चित्कस्य चिद्धर्मोमनुना परिकीर्तितः ॥

स सर्वो ऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः”

इत्यादिभिः स्ववचनप्रपञ्चैरात्मा बद्धा वेदएवार्पितस्तैरिति ।

अथायमितिहासादिगोचरो ऽर्थः कस्मात्प्रत्यक्षप्रतीतेन वेदेन

नोच्यतइति तदनभिधानादवगच्छामो नूनमयमनभिमतो वेदानां

कर्तुरिति । निराकृतो ऽप्ययं पुननिराक्रियते दाढ्यार्थं विषय-

व्यवस्थानाच्चेत्यनेन ॥ ६२ ॥

यदप्युक्तं क्लेशानुबन्धस्याविच्छेदादिति तद्दूषयति ।

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः (सू. ६३)

तद्व्याचष्टे सुषुप्तस्य खल्विति । लोकसिद्धतया सुषुप्तावस्थो-

दाहता । महाप्रलयावस्थायामपि क्लेशमुक्ता एवात्मानः केवलम-

सौ न लोकसिद्धेति नोदाहता । एतावांस्तु मुक्तावस्थायां विशे-

षः यदस्यां क्लेशवासना ऽपि नास्ति । सुषुप्तावस्थायां प्रलयाव-

स्थायां च क्लेशविच्छेदे ऽपि तद्वासना ऽस्तीति ॥ ६३ ॥

यदपि प्रवृत्त्यनुबन्धादिति तत्राह—

न प्रवृत्तिः प्रतिसंधानाय हीनक्लेशस्य (सू. ६४) ॥

देहिनः । तद्व्याचष्टे क्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु सत्यपि न प्रवृत्तिः

६५-६८ सू० १३ प्र०] अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम् । ६३५

स्वप्रतिसंधानाय । उपपादितमिदमस्माभिर्यथा दोषतुषावन-
द्धाः कर्मतन्दुला जन्माङ्कुराय कल्पन्ते, न केवला इत्यर्थः । शङ्कते
कर्मवैफल्येति । वैफल्ये शास्त्रस्य कर्मणां फलसाधनताप्रतिपा-
दकस्याप्रामाण्यप्रसङ्ग इति भावः । निराकरोति न कर्मविपा-
केति । विपाक फलं तस्य प्रतिसंवेदनं भोगः ॥ ६४ ॥

पूर्वपक्षवाद्याह ।

न क्लेशसंततेः स्वाभाविकत्वात् (सू. ६५) ॥ ।
सिद्धान्त्येकदेशी ब्रूते ।

प्रागु-त्वम् (सू. ६६) ॥ दध्यादेरुत्पत्तेः प्राक् क्षीरान-
दिषु यो भावस्तस्यानित्यत्ववदिति योजना ॥ ६६ ॥

अपरस्वेकदेशी भावमेव दृष्टान्तयतीत्याह ।

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा (सू. ६७) ॥ यदेतच्छ्या-
मं रूपं तदन्नस्येत्यागमः पार्थिवानां परमाणूनां श्यामतामनादि-
माह अन्नपदेन मृदोऽभिधानादिति भावः ।

अत्र प्रथममेकदेशिनं दूषयति । सतः खल्विति । द्वितीयमेक-
देशिनं दूषयति । अनादिरणुश्यामतेति हेत्वभावाच्च युक्त-

म् । अणुश्यामता कार्या पृथिवीरूपत्वात् लोहितादिवदिति प्रत्यु-
तानित्यताहेतुरस्ति । पुरुषयत्नजलोहितादिरूपवैलक्षण्येन त्वस्या-

प्रयत्नपूर्वकत्वमात्रेणानादित्वाभिधानमिति नागमविरोधः ॥ ६७ ॥
तदेवमेकदेशिनौ दूषयित्वा परमसमाधिमाह । अयं तु समाधिः-

न संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् (सू. ६८) ॥
चकारमनुक्तसमुच्चयार्थं व्याचष्टे । कर्मनिमित्तत्वादितरेतर-

निमित्तत्वाच्च । समुच्चयोऽनुक्तस्येति शेषः । तत्र संकल्पनि-
मित्तत्वादिति विभजते । मिथ्यासंकल्पेभ्य इति । यद्यप्यनुभू-

तविषयप्रार्थना संकल्पः तथा ऽपि तस्य पूर्वभागो ऽनुभवो प्रा-

ह्यः । प्रार्थनाया रागत्वात् । तेन मिथ्यानुभवः संकल्प इत्यर्थः ।
 नन्वेकस्मान्मिथ्याज्ञानात्कुतः कार्यवैचित्र्यमित्यत आह । रञ्ज-
 नीयकोपनीयमोहनीयेभ्य इति । भव्यगेयादिषु पाठात्कर्त्तरि
 कृत्यः । मोहनीयः संकल्पो मिथ्याज्ञानसंस्कारः । कर्मनिमित्त-
 त्वं रागादीनां विभजते । कर्म चेति । निकायेन जातिरूपलक्ष्य-
 ते । इतरेतरनिमित्तत्वं रागादीनामाह । इतरेतरेति । स्यादेत-
 त् । भवन्त्वनित्याः क्लेशाः तथाऽपि यदेषां निर्वर्तकं मिथ्या-
 ज्ञानं तस्य निवृत्तिहेतोरभावात्स एव क्लेशानुबन्धादपवर्गाभाव
 इत्यत आह । सर्वमिथ्यासंकल्पानामिति । अपि चानादिः
 क्लेशसंततिरित्युक्तम् । कुतः सर्वइमे आध्यात्मिका भावा
 इति । आत्मानमधिकृत्य प्रवर्तमानाः शरीरेन्द्रियादयो भवन्त्या-
 ध्यात्मिका इति । अथ यद्यनादीनामपि निवृत्तिः हन्तानुत्पत्ति-
 धर्मकाणामपि निवृत्तिप्रसङ्ग इत्यत आह । न चैवं सत्यनुत्प-
 त्तिधर्मकं किं चिदिति । रागादीनामुत्पत्तिधर्मकाणामेव व्य-
 यधर्मकत्वाभ्युपगमादित्यर्थः । ननु मा भूवन्मिथ्याज्ञाननिमित्ता
 रागादयो मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ, ये पुनरपी कर्मनिमित्तास्तेषां कु-
 तो निवृत्तिः न च कर्मनिवृत्तौ रागादिनिवृत्तिः रागादिमतः
 कर्मनिवृत्तेरभावात्, तस्मान्न मोक्ष इत्यत आह । कर्म च
 निकायनिर्वर्तकं तत्त्वज्ञानकृतान्मिथ्याज्ञानरूपसंकल्पविघातान्न
 रागाद्युत्पत्तिनिमित्तं भवति । सर्वरागादीनां मिथ्याज्ञानमेव
 निमित्तम् । कर्माणि तु निकायनियमेन रागादीन् प्रवर्तय-
 न्तीति कर्मनिमित्तत्वमुक्तमिति भावः । ननु यथा रागादयः
 सत्यपि कर्मणि मिथ्याज्ञाननिवृत्त्या निवर्तन्ते एवं सत्यपि कर्म-
 णि मिथ्याज्ञाननिवृत्त्या फलमपि मा भूदित्यत आह । सुखदुः-
 खसांविच्छिः फलं तु भवतीति । वार्तिकम् । यावज्जीवसंयो-

गे हि जरया ह वेत्यनर्थकमिति । (४९५।९) मृत्युना वेत्यनेनैव
 गतार्थत्वादित्यनुक्ता भाष्याक्ता द्वितीया युक्तिरभिहिता वार्तिककृ-
 ता । यस्मात्स्वयमशक्तस्येत्यनेन । यज्ञसाधनत्वादिति । (४९६७)
 यज्ञकर्तृत्वादित्यर्थः । एतदेव स्फुटयति । यस्माद्यजमानो य-
 ज्ञाङ्गं भवति । यथा ऽऽह भगवान् जैमिनिः पुरुषश्च कर्मार्थत्वा-
 दिति । संकल्पाद्यपेक्षं कर्म रागादिकारणमिति । (४९८।२०)
 यज्जातीयस्य जन्मनो यत्कर्म कारणं तज्जन्मोचितामेव मिथ्या-
 ज्ञानवामनामभिव्यनक्तीति तद्द्वारेण रागादीनां कारणं भवति ।
 चोदयति । सुखादीनामिति । यथा मिथ्याज्ञानसहायं कर्म
 रागादिहेतुः एवं तत्सहायं फलहेतुरिति चरमदेहस्य तत्त्वज्ञानवतः
 सदपि कर्म फलकारणं न स्यादित्यर्थः । परिहरति । न निर-
 पेक्षत्वादिति । कर्माशयप्रपञ्चमुच्छेत्तुममूढो ऽप्यसक्तो ऽप्यद्विष्टो
 ऽपि मूढ इव सक्त इव द्विष्ट इव तत्फलं भुङ्क्षति रागाद्यनपेक्षं
 कर्म स्वफलं जनयति तेनासौ फलोपभोगो न बन्धहेतुः मूढादी-
 नां बन्धहेतुः मूढादीनां बन्धहेतुफलोपभोगः स चतादृशो रागा-
 दिसहायैः कर्मभिः क्रियते न रागादिनिरपेक्षैरित्यवदातम् ॥

इति मिश्रश्रीवाचस्पतिविरचितायां न्यायवार्तिक-
 तात्पर्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्याचमाहिकम् ॥

चतुर्थेऽध्यायेद्वितीयमाह्निकम् ।

तदेवं संशयप्रमाणप्रमेयाणि परीक्षितानि । प्रयोजनादयोऽपि यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्ग इत्यतिदेशेन परीक्षिता इति षोडशापि प्रमाणादयः परीक्षिताः । तेषां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमहेतुरित्युक्तम् । तत्रापि प्रमेयतत्त्वज्ञानं साक्षान्निःश्रेयसहेतुरितरेषां तु तत्त्वज्ञानाङ्गतयेत्युक्तम् । इदमिहैदानीं परीक्ष्यते किंप्रत्येकमात्मादीनां प्रमेयाणां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमहेतुरुताहो कस्य चिदेवामेकदेशस्येति । तामिमां परीक्षामवतारयति भाष्यकारः । किं नु खलु भोः यावन्तो विषयाः प्रमेयाणि तावत्सु प्रत्येकमिति । प्रतिप्राणभृद्भेदं यावन्त आत्मानः यावन्ति चेन्द्रियाणि चेत्यर्यः । पार्श्वस्थः पूर्वपक्षिणं पृच्छति कश्चात्र विशेषः । पूर्वपक्षिण उत्तरं न तावदेकैकत्रेति । समुदायैकदेशाभ्यामनुपपत्तेः । प्रमाणादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इत्युक्तमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तमाह । मिथ्याज्ञानं वै खलु मोह इति । वैशब्दः खलु पूर्वपक्षाक्षमायां खलुशब्दो हेत्वर्थे । अमुक्तः पूर्वपक्षो यस्मान्मिथ्याज्ञानं मोह इति । न तत्त्वज्ञानमज्ञाननिवृत्तिमात्रेण निःश्रेयसोपयोगि अपि तु संसारनिदानोच्छेदद्वारेण दृष्टेनैव, न च तत्त्वाज्ञानं संसारहेतुरपि तु मिथ्याज्ञानम् । तदुच्छिन्दद्विरोधितया तत्त्वज्ञानमपवर्गहेतुरिति । भवत्वेतत्तथाऽपि पूर्वपक्षस्य किमायातमित्यत आह । तच्च मिथ्याज्ञानं यत्र विषये प्रवर्तमानमिति । स्वसम्बन्धिनो ह्यात्मादयो विपर्ययेण परिच्छिन्नाः संसारहेतव इति तद्विषयमेव मिथ्याज्ञानमपनेयं नात्माद्यन्तरविषयं ज्ञानं तेन तत्र मिथ्याज्ञानं मा निवर्तिष्ट

निवर्ततां वा, स्वात्मादिदृष्टान्तेन, न तु तस्य संसारनिवृत्तिं प्रत्यु-
 पयोगः । यस्य तूपयोगस्तत्र तत्त्वज्ञानं दुष्करमिति । पृच्छति । किं
 पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम् ? सन्ति खलु वादिनां नानाविप्रतिपत्त-
 यः । के चिदाहुः । विधृताविविधनामरूपप्रपञ्चोपप्लवाविमुद्धवि-
 दानन्दघनाद्वैतब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्त्वज्ञानमिति । अन्ये तु सत्त्व-
 पुरुषान्यताख्यातिम् । धर्मपुद्गलनैरात्म्यज्ञानमित्यपरे । शरीरे-
 न्द्रियाद्यनित्यव्यतिरिक्तनिष्ठात्मदर्शनमिति वृद्धाः । तदेवं विप्र-
 तिपत्तेः प्रश्नः । उत्तरम् । अनात्मन्यात्मग्रहोऽहमस्मीति
 मोहोऽहङ्कारः । न तावदद्वैतानन्दघनात्मज्ञानं तत्त्वज्ञानम् ।
 भेदस्य प्रत्यक्षासिद्धस्यासति बाधकेऽपह्नोतुमशक्यत्वात् । न
 च प्रकाशानन्दावात्मधर्मातिरिक्तावात्मस्वभावा भवितुमर्हतः ।
 सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरानन्दचैतन्यशक्त्यभिप्राया
 भेद एव च तद्वचसा कथं चित् सामानाधिकरण्यमुपपद्यते । अ-
 भेदे त्वानन्दविज्ञानयोस्तत्पदयोः पर्यायतया सह प्रयोगानुपप-
 त्तिः । न च प्रकृष्टप्रकाशः सवितेत्यत्र प्रकृष्टप्रकाशयोरभेदोऽप्र-
 काशस्यापि प्रकर्षसम्भवात् । अप्रकृष्टस्यापि स्वद्योतादेः प्रका-
 शसम्भवात् । तस्माद्यत्किं चिदेतत् । सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिस्तु
 सत्त्वस्यैव प्रकृतेरसम्भवादयुक्ता सत्कार्यवादमूलत्वात्प्रधानसद्भा-
 वस्य तन्निराकरणेनैव निराकरणम् । धर्मपुद्गलनैरात्म्ये तु क्षणभङ्ग-
 भङ्गे नित्यात्मसद्भावकथनेन निराकृते । तस्मात्सुषूक्तमनात्मन्या-
 त्मग्रहोऽहमस्मीति मोहोऽहङ्कार इति । अतएव सर्वस्यैवमात्मा-
 शीः कुमेरपि मा न भूवं भूयासमिति । सोऽयमीदृशोऽभिनि-
 वेशः शरीरादीनामात्मत्वेनाध्यवस्यतो भवति नात्मतत्त्वविदुषः
 स खल्वहिनिर्ह्वयनीमिवाहिस्ततो व्यतिरिक्तं शरीरादि पश्यन्न
 तत्र स्तिव्यति स्नेहाविरहान्न तप्यते नाप्यनुशोचतीति । अतस्त्वज्ञा-

नवतः संसारं दर्शयित्वा तत्त्वज्ञानवतः संसारनिवृत्तिमाह ।
यस्तु दुःखमिति । तदेवमुक्तेन प्रकारेण मोहतत्त्वज्ञानयोः संसा-
रापवर्गहेतुभावो यस्मात्तस्मान्मोक्षमाणैः प्रेत्यभावफलदुःखानि च
ज्ञेयानि व्यवस्थापयतीत्यादिपूर्वोपसंहारः । आसेवमानस्याभ्य-
स्यतो भावयत इति पर्यायकथनं भावनादाढ्योपदर्शनार्थम् ।
अर्थगतिं परिशोध्यत्रार्थं सूत्रं पठति ।

दोषानिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः (सूः १) ॥
शास्त्रार्थसंग्रहोऽनूच्यते शास्त्रतात्पर्यसंग्रहो द्वितीयसूवे-
णानूच्यत इत्यर्थः । किं तु खलु भो इति भाष्यं तदनुपपन्नं यतो
न विषयमात्रज्ञानमपवर्गहेतुरपि तु प्रमेयतत्त्वज्ञानमित्यत आह
वार्तिककारः । तत्र विषयान्तराणामिति । (५००।८) यावन्तो
विषया इति न विषयमात्राभिप्रायमपि तु प्रमेयाभिप्रायमित्यर्थः ।
सुगममन्यद्वार्तिकम् ॥ १ ॥

शरीरादिष्वनात्मस्वात्मबुद्धिर्निवर्तनीयेत्युक्तं तत्र प्रथमं क-
स्मिन्नात्मबुद्धिर्निवर्तनीयेत्यपेक्षायामाह । प्रसंख्यानानुपू-
र्या तु खलु । प्रसंख्यानं समाधिजं तत्त्वज्ञानं तच्च वि-
षये सुकरमिति तत्रैव प्राथमिकस्य प्रथमं प्रयत्नो युक्तः । सूत्रम् ।
दोषानिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृ-
ताः (सूः २) ॥

मिथ्याज्ञानं संकल्पस्तेन विषयीकृता इत्यर्थः । कामाः
काम्याः ॥ २ ॥

अन्ये खलु अवयविसंज्ञां निवर्तयन्तोऽवयविनमेव प्रत्याचक्षते
तान् प्रत्याचक्षाण आह । अतः परं काचिदिति (५०२।२)
सूत्रम्--

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः (सूः ३) ॥ निमित्तं

१-दसू० १प्र०] तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम् । ६४१

दन्तत्वादि तद्विशिष्टा विषयाः संज्ञाः प्रियायाः काशुको दन्तो-
ष्ठनासिकादीनवयवाननुभावयन् तस्यां सक्तो भवति । व्यञ्ज-
नान्यत्रमविनोऽवयवास्तैः सहोपलम्भात्तेषामनुव्यञ्जनं तत्सा-
दृश्यं तेन तदारोपः । तथा च स्त्रैणानां व्यवहारः ।

द्रवत्कनकनिर्मलद्युतिरनङ्गललैकभू-
र्महेभकटाविभ्रमस्तनभरालसाङ्गी यदि ।

प्रिया न परिरम्यते तुलितसिद्धसंजीविनी
सहेमहि कुतोऽन्यथा विषमवाणवाणव्यथाम् ।

मदनसरितमेनां गाहमानो जनोऽयं
जघनपुलिननाभीमण्डलावर्तरम्याम् ।

मुखनलिनसनाथामुल्लसद्भ्रूलतोर्मिं
चिरविरहदुताशायासमुज्ज्ञां चकार ।

विवेकिनस्त्वथुभसंज्ञां भावयन्तः प्राहुः ।
मज्जामश्नामथ प्लीहां यकृतां शकृतामपि ।

पूर्णाः स्नायुशिरास्यूताः स्त्रियश्चर्मप्रसेविकाः ।
ऋषयोऽप्यूचुः ।

स्थानाद्धीजादुपप्लम्भान्निष्पन्दान्निधनादीप ।
कायमाधेयशौचत्वात्पाण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।

अथुभसंज्ञाभावेनाप्रयोजनमाह । तामस्यभावयत इति ।
तत्किमिदानीमवयवानुव्यञ्जनसंज्ञयोर्विषयो नास्वशुभसंज्ञाविषय

एव परमस्तीत्यत आह । सत्येव च द्विविधाविषय इति ।
द्विविध एवामौ कामिनीलक्षणा विषयस्तथाऽपि रागादिप्रहा-

णार्थमवयवादि संज्ञागोचरत्वं परित्यज्याथुभसंज्ञागोचरत्वमस्यो-
पादीयते वैराग्योत्पादनायेत्यर्थः । अत्रैव दृष्टान्तमाह । यथा

विषसंपृक्त इति । न हि विषमधुनी परमार्थतो न स्तः अपि
 तु वैराग्याय विषसंज्ञा तत्रोपादीयतइत्यर्थः ॥ ३ ॥
 तदेवं स्वभतेन प्रसंख्यानोपदेशमुक्त्वा पराभिमतप्रसं-
 ख्यानं निराकर्तुमुपन्यस्यति । अथेदानीमर्थं निराक-
 रिष्यता विज्ञानवादिना स्वयविनिराकरणमुपपाद्यते ।
 अर्थविशेषे खल्ववयवानुव्यञ्जनसंज्ञे । तत्रार्थमात्रस्याभा-
 वान्कुतो स्वयवानुव्यञ्जनसंज्ञे, तन्निराकरणाय प्रथममवयवी
 निराक्रियते पश्चात्परमाणुः, ततश्च ज्ञानमात्रमर्थरहितं सिद्धं
 भवतीत्यभिप्रायः । तत्र संशयपूर्वकत्वादुपपादनस्य विचारस्य
 संशयं प्रथममाह ।

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः (सू. ४) ॥ उपलब्धि-
 विद्या अनुपलब्धिश्चाविद्या । सच्चोपलभ्यते यथा तडागे तोयम् ।
 असच्चोपलभ्यते यथा मरुमरीचिकायामुदकम् । सच्च नोपलभ्य-
 ते यथा चिरनिखातं भूमौ निध्यादि । असच्च नोपलभ्यते
 यथा भूतले दृश्यमाने तत्तुल्योपलम्भनयोग्यतो घटादिः । तदेवं
 विद्याऽविद्याद्वैविध्यादवयविनि संशयः । यद्यवयव्युपलभ्यते त-
 थाऽपि संशयः अथ नोपलभ्यते तथा ऽपि संशय इत्यर्थः ।
 तत्र सिद्धान्ती वक्ष्यमाणमप्यवयविनिराकरणहेतुं निराकरिष्या-
 मीत्याशयवानाह ।

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् (सू. ५) ॥ अव-
 यविनिः । वार्तिककारस्तु स्वयं संशयं निराकरोति । न वि-
 द्याऽविद्याद्वैविध्यं संशयस्य कारणमिति (५०२।२१) ॥ ४ ॥
 पूर्वपक्षवाद्याह वृत्त्यनुपपत्तेरिति ॥ ६ ॥

वृक्षस्तिष्ठति शाखादिषु शाखादयो वा वृक्षइति लौ-
 किकीं प्रतिपत्तिमनुब्रूयमानो विकल्पयति वार्तिककारः । अ-

नयन्ना अवयविनीति । (५०३।१०) एकद्रव्यश्चावयवः
प्राप्नोति । कुतः एकावयविवृत्तित्वात् । भवतु कां दोष
इत्यत आह । न चैकद्रव्यं द्रव्यमविनश्यदाधारमस्ति ।
कृतकस्य नित्यत्वप्रसङ्गादिति शेषः । अवयव्येकदेशेनेति ।
अवयविनो यएकदेशास्तेनावयवो ऽवयविनि वर्त्ततइत्यर्थः ।
न ह्यस्यावयविनोऽन्ये अवयवेषु एकदेशा अवयवाः सन्तीति
एकेनावयवेनारभ्यतइति सततोत्पत्तिप्रसङ्गः । संयोगाय किल
चरमभाविनं अवयवव्यापारस्तन्निमित्तानि चापेक्षन्ते । एक-
द्रव्यस्योत्पत्तिं प्रति न संयोगापेक्षेति यावदवयवमवयवव्युत्पद्यते-
त्यवयव्यनवरुद्धो न कदाचिदवयवो दृश्येतेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

अवयव्यतिरेकेण वर्त्तमानो ऽवयव्युपलभ्येत न चास्याधा-
रान्तरमुपलभ्यते दृश्यमानश्चावयवो नाधिकरणमस्येति भवतैव
वादिना ऽभ्युपगतमित्यभिप्रायेणाह । नित्यश्च स्यात् ॥ ९ ॥

यस्तु मन्यते अवयवानां धर्ममात्रमवयवी न त्ववयवेभ्यो
ऽत्यन्तं भिन्नो ऽभिन्नो वा भिन्नत्वे गदाश्ववद्धर्मधर्मिभावानुप-
पत्तेः । अभेदेऽपि धर्मिरूपवत्तदनुपपत्तेश्च । तस्मात्कथं चिद्भिन्नो
ऽभिन्नश्च कथं चिद्धर्ममात्रमवयवानामपपत्तीति तं प्रत्याह ।

न चावयव्यवयवाः (सू. १०) ॥ न तावद्धेदाभेदौ
परस्पराभावात्मानावेकत्र समवेत इत्युक्तम् । नाप्यात्यन्तिकेऽभे-
दे धर्मधर्मिभावः तस्माद्यथा ऽऽत्यन्तिकभेदे ऽपि केषांचिदेव
कार्यकारणभावः तथा केषां चिदेव धर्मधर्मिभाव इत्येषितव्यम् ।
तथा च दूषणमित्यर्थः । अवयवी चैकदेशेनावयवे वर्त्त-
तइति अवयवसमूहमात्रमवयवी प्राप्नोतीति । अस्या-
यमर्थः । अवयवे हि वर्त्तमानो ऽवयवीत्युच्यते । अवयव्येकदे-
शाश्चेदवयवेषु वर्त्तन्ते एकदेश एव तर्ह्यवयविनः । ते च नानेत्य-

वयवसमूहमात्रमवयवी प्राप्नोति । एकस्मिन्नावयवे एकदेशे वर्त्तमानो ऽवयवीति न तावदवयवी कचिदवयवे वर्त्ततइति तदेकदेशानां तत्र तत्रावयवे वृत्तेः तावन्मात्रेण चावयविनो ग्रहणमिति यत्रैवास्यैकदेशो वर्त्तते तत्रैव ग्रहीतव्यः । तथा चैकस्मिन् तन्तौ पदैकदेशो वर्त्ततइति तन्तावेकस्मिन् पटो दृश्यतेत्यर्थः ॥१०॥

सिद्धान्तवाद्याह ।

एकस्मिन् भेदाभावाद्देदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः (सू. ११) ॥ अवयवान्तराभावे ऽप्यवृत्तेरहेतुः (सू. १२) एकदेशेन चावयवी न स्वावयवेषु वर्त्ततइत्यत्र प्रतिज्ञार्थे अवयवान्तराभावादिसहेतुः । कस्माद् यद्यप्यवयवान्तरमवयविनो भवति तथाप्यवयवान्तराण्यवयविनो ऽवयवान्तरेषु वर्त्तन्ते किमायातमवयविवृत्तेरिति । एकश्चानेकत्र वर्त्ततइति प्रतिजानानः किं कात्स्न्येन किमेकदेशेनेति नानुयोक्तव्यः, कस्मात् उभयेन कात्स्न्येन एकदेशेन वा नानात्वैकार्थसमवायिना एकस्यावयविनो व्याघातात् । एतदुपजीव्याह यद्यवयवी नैकदेशेन वर्त्तते न कात्स्न्येन अथ कथं वर्त्ततइति । शङ्कते रूपान्तरानिर्देशादिति चेत् । (५०६।७) सोपहासं दृष्टान्तमाह । यथा आचित्रास्तन्तवः पटं चित्रमारभन्तइति । नैयायिकैः किलाचित्रैस्तन्तुभिश्चित्रः पट आरभ्यतइत्यभ्युपेयते । तच्चैतदयुक्तम् । न तावच्चित्रं रूपमेकं पटसमवेतं स्ववचनविरोधात् । नाना हि चित्रमुच्यते तत्कथमेकमिति । तेन यदुक्तं भवति नानैकमिति तदुक्तं भवति चित्रमेकमिति । यदाहुः “चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं मह” इति । न च नीलपीतादय एव बहवोऽव्याप्यवृत्तयाश्चित्रपदास्पदमिति सांप्रतम् । रूपादीनां व्याप्यवृत्तित्वात् । तेऽपी विवादाध्यासिता नीलपीतादयो व्यापनीया आश्रयवृ-

त्तयो रूपजातीयत्वात् शुक्लपटगतरूपवदिति-उपपन्न उपहासो
 यथा अचित्रास्तन्तवः पटं चित्रमारभन्तइति । निराकरोति ।
 नोपलभ्यमानरूपाधारत्वात् । अवयवनिनो रूपं निर्दि-
 श्यतामिति ब्रुवाणेनेति । अवयवोऽस्यास्तीत्यवयवी अव-
 यवश्च कारणं तद्वानवयवी कार्यमिति कार्यकारणभावाभ्युपगमः
 कुतो भवति । न च प्रसङ्गसाधनं नाम किं चिदस्ति प्रमाणम् ।
 तर्कस्तु भवेत् न चायं प्रमाणेनेतिकर्तव्यतां विना प्रमाणमर्थ
 साधयितुमर्हतीत्यर्थः । यदपि त्वयोपहासाभिप्रायेण पटरूपं
 चित्रं दृष्टान्तीकृतं तत्राभिप्रायस्तावत्तव यादृशस्तादृशोवा वच-
 नात्तावदयं दृष्टान्तः प्रतिभाति । दृष्टान्तश्च वादिप्रतिवादिनोर-
 विवादविषय इति तत्साधनं व्यर्थम् । तथा ऽप्युपेत्य चित्रवादं
 ब्रूमः त्वां प्रतिचित्रं रूपं पटसम्बन्धितया साधयामस्त्वदभिप्राय-
 व्याप्तोपहासनिराकरणायेत्यर्थः । पटस्य चित्रं रूपमिसनुभव
 एवात्रावाधितः प्रमाणमिति भावः ।

बौद्धः स्वाभिप्रायमुद्घाटयति अनेकत्वप्रसङ्ग इति
 चेदिति । निराकरोति । चित्रशब्दस्यैकानेकविषयत्वात् ।
 यदि नानैव चित्रमुच्येत ततः स्याद्विरोधः किं त्वेकस्मिन्न-
 पि चित्रपदं प्रयुज्यते । तस्मान्नैकत्वेनास्य विरोध इत्यर्थः ।
 देशक आह नैकस्मिन्नदृष्टत्वात् । एकस्मिश्चित्रग्राहिणो ऽनु-
 भवस्यादृष्टत्वात् । पुरुषविवक्षाधीनप्रवृत्तयस्तु शब्दाः क नाम
 दुर्लभा इति भावः । परिहरति नाभ्युपेतहानेरिति । (५०७ ।
 १) न तावदनेकपदपर्यायश्चित्रशब्दोऽनेकं चित्रमित्यनेक-
 प्रदेन सामानाधिकरण्यं प्रतिपत्तुमर्हति । पर्यायशब्दानां सहप्र-
 योगानुपपत्तेः दृश्यते तु प्रयोगो ऽनेकं चित्रमिति । तस्माद्यथा
 शुक्लानि नाना तथा चित्राणि नानेत्यभ्युपेतव्यम् । तथा चैकं

शुक्लमनभ्युपगच्छतो यथा शुक्लनानात्वाभ्युपगमो हीयते एवमे-
 वैकं चित्रमनभ्युपगच्छतश्चित्रनात्वाभ्युपगमो हीयत इत्यर्थः । श-
 ङ्कान्तरमाह । अथानेकमचित्रमिति । निराकरोति । एवम-
 पीति । शङ्कते । अथाचित्राणीति । परिहरति । एवं च न
 किं चिदिति । इष्यत एवास्माभिर्यथाऽवयवसमवेतैः सितहारित-
 लोहितादिभिरसमवायिकारणैरवयविनि चित्रं रूपमारभ्यत इति ।
 देशयति पुटान्तर इति । पुटान्तरं पार्श्वान्तरम् । परिहरति ।
 भवतैवेदमुक्तमिति । एकोऽपि गुण आरभ्यत इति मत्वा शङ्क-
 ते । चित्रप्रत्ययस्तत्रेति । समाधत्ते न प्रसक्त इति । ननु
 यच्चित्राचित्राभ्यामारब्धमवयविनो रूपं तदपि पीतादिवन्निर्दिश्य-
 तां न च शक्य निर्देष्टुं तस्मान्नास्तीत्यत आह । एतावदिति ।
 अनिर्वाच्यमप्यनुभूयमानमशक्यापह्नवम् । यथेक्षुक्षीरादीनां माधु-
 र्यस्यान्तरं महदित्यर्थः । न तावदवयवरूपादवयविनो ग्र-
 हणं युक्तमिति । न द्रव्यान्तररूपेण द्रव्यान्तरे चाक्षुषत्वं दृष्टं न
 खलु पृथिव्यादिरूपेण वायुश्चाक्षुष इत्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति ।
 तस्मादिति । अविकल्पिता अविचारिता इत्यर्थः (५०८ ।
 ५) ॥ १२ ॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेरिति अत्र प्रत्यवस्थितः पूर्वपक्षी
 अथेदमाहेति । केशसमूहे तैमिरिकोपलाब्धिवत्तदुप-
 लब्धेरित्यादिसूत्रभाष्यवार्तिकानि पूर्वपक्षसिद्धान्तयोरतिरोहि-
 तार्थानि ॥ १३ ॥ १४ ॥

अपि चायं वृत्तिविकल्प आश्रयव्याघातादयुक्त इत्याह ।
 अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमा प्रलयात् (सू. १५) ॥
 अत्र त्रयः पक्षाः संभवन्ति । योऽयमवयवेषु अवयविवृत्तिविक-
 ल्यानुपपत्त्या अवयविनोऽभावप्रसङ्ग आपाद्यते स आ प्रलयाद्वा

निवर्त्तत आ परमाणोर्वा न कश्चिदपि निवर्त्तते इति । तत्र प्रथम
द्वितीयविकल्पावाश्रित्येदं सूत्रम् । यथैव वृत्तिविकल्पः स्थूले घटा-
दावयवेषु तदवयवेष्विति तदभावात्प्रलये व्यवतिष्ठेत । न च
तदा प्रलयः सर्वोपाख्याविरहितो दर्शनविषयः संभवतीति दर्शन-
विषयाभावादेनाश्रयो विकल्प आत्मानमेव न लभते । उपलक्षणं
चैतदा प्रलयादिति । आ परमाणोरित्यपि द्रष्टव्यम् । परमाणू-
नामप्यतीन्द्रियत्वेन दर्शनविषयत्वाभावादेनाश्रयता विकल्पस्य
तदवस्थैव । तदिदमुक्तं निरवयवाद्वा परमाणुतो निवर्त्त-
तेति ॥ १६ ॥

अथापीति । अपि चेत्पर्यः । अपि च प्रलयमभ्युपेत्ये-
दमुक्तमा प्रलयादिति । वस्तुतस्तु ।

न प्रलयोऽणुसद्भावात् (सू. १६) ॥ निरवयवत्वे
प्रमाणमाह । निरवयवत्वं तु परमाणोरिति ॥ १६ ॥

अथानन्त एवायमवयवावयविविभागः कस्मान्न भवती-
त्यत आह ।

परं वा ब्रुतेः (सू. १७) ॥ ब्रुदिस्रसरेणुरित्यनर्थान्तरम् ।

जालसूर्यमरीचिस्थं वसरेणु रजः स्मृतम् । यदि ब्रुतेः परं द्वि-
विपदकेऽवयवविभागो न व्यवतिष्ठते ततोऽवयवविभागस्यानव-
स्थानाद् द्रव्याणामसंख्येयत्वात् ब्रुदिवनिवृत्तिः ब्रुदिरपि सुमेरुणा
तुल्यपरिमाणः स्यात् । न खल्वनन्तावयवत्वे कश्चिद्विशेष इत्यर्थः ।
वार्तिकं यावद्वा प्रलयोऽनिवृत्तिर्वेति । प्रलयपरमाणुपक्षे
विकल्पनिवृत्तिर्नास्ति दर्शनविषयस्तु नास्तीत्यनाश्रयो विक-
ल्पः । अनन्तावयवत्वे सर्वस्य विकल्पाप्राप्तत्वे दर्शनविषयाभाव
इत्यनाश्रयो विकल्पइत्यर्थः । संख्योदाहरणम् । इयन्तश्च ते प-
रमाणवः संहताऽब्रुदिभावमापद्यन्त इति (५१०) । साव-

यवत्वे तु परमाणुशब्दस्यार्थो वक्तव्यः । किमुक्तं भवति परमाणु-
रिति परमत्वविशिष्टो ह्यणुः परमाणुः यतः क्षोदीयो नापरमस्तीति
यावत् । तस्मादपि चेत् क्षोदीयोऽन्यदस्ति नैष परमत्वविशिष्टो
ऽणुरित्यर्थः । अथ भिन्नपरिमाणाः परमाण्ववयवास्ततो न्यूनप-
रिमाणा इति यावत् । ततो न परमाणुः प्रतिषिध्यते परमाण्व-
वयवा एव परमाणवस्ते चानवयवत्वादकार्याः । त्वया च परमा-
ण्वारब्धं कार्यं परमाणुरिति कृत्वा आरोप्य वृत्तिविकल्पेन प्र-
तिषिध्यतइति ॥ १७ ॥

अथेदानीमानुपलम्भिकस्तस्य व्याख्यानं सर्वं नास्तीति
मन्वानं आह ।

आकाशव्यतिभेदात्तस्य परमाणोर्निरवयवस्यानुपप-
त्तिः । सावयवत्वे तु वृत्तिविकल्पात्तदभाव इति शून्यतैव तत्त्वं
भावानाम् । अनाश्रितोपि विकल्पो यथा लोकप्रतीतिकल्पनामात्र-
निर्मितस्तान्त्रिकीं शून्यतां गमयति । मिथ्याज्ञानानामपि तत्त्वावग-
महेतुत्वदर्शनात् । यथा दूराद्वनस्पतौ हस्तिप्रत्ययप्रवाहो वनस्पति-
तत्त्वप्रतिपत्तेर्हेतुः । यथा रेखागवयो वा गवयत्वप्रतिपत्तेरित्यादि
बहूत्प्रेक्षितव्यमिति भावः । तदेतद्वार्त्तिककारोदूषयति । आकाश-
व्यतिभेदादनित्यः परमाणुरित्याभिदधानो व्यतिभेदार्थं
प्रष्टव्य इति । (५११।४) अन्तर्बहिरिति वचनं कार्यस्य
कारणान्तरवचनमिति (५१२।३) कारणान्तरं कारणवि-
शेषः तस्य वचनमित्यर्थः । उपेत्य परमाणोरवयवान्न तद्विभाग-
स्याकाशं कारणमिति आकाशव्यतिभेदादित्याकाशहेतुकं व्य-
तिभेदं विभागमाह । न चाकाशं विभज्यमानयोर्द्रव्यान्तरयोर्वि-
भागस्य कारणमपि तु कर्मेत्यर्थः । सर्वतोऽव्यवहितस्य
यस्य मध्ये अवयवा न सन्तीति तत्सुपिरमिति । सर्वतो

ऽव्यवहितस्य निरन्तरस्यावयविनः स्वावयवद्वारेण । एतदुक्तं भ-
वति । यस्यावयवाः परितो निरन्तरमवस्थिता मध्ये च न स-
न्ति तत्सुषिरमिति । यन्मूर्तिमत्तेन सर्वेण सम्बध्यते । मूर्तिमता
सर्वेण सम्बद्धत्वं सर्वगतत्वं वदतो वार्तिककारस्याजसंयोगस्या-
भ्युपगमः प्रौढिवादतयेति लक्ष्यते ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

स्यादेतत् आकाशं चेत्सर्वगतं ततो मूर्तिमतां द्रव्याणां तेन
प्रतिबन्धाद्दतेरावरणं व्यूहान्तरापादनं च जलौघस्येव नावादिना
भवेन्न चास्ति, तस्मान्न सर्वगतमित्यत आह ।

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः (सू. २२) ॥
यत् एवाव्यूहाविष्टम्भावत् एवापत्यूहं विभुत्वमस्येत्यर्थः ॥ २२ ॥
पुनः शून्यतावादी प्रत्यवतिष्ठते ।

मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः (सू.
२३) ॥ चस्त्वर्थः सिद्धान्तं निवर्त्तयति । यद्यपि मूर्तिमतामिति
संबन्धित्वमात्रेणोपात्तं सूत्रं तथाऽपि हेतुपदतया वार्तिककारो व्या-
चष्टे । सावयवाः परमाणवो मूर्तिमत्त्वाद् घटादिवदिति ।
(५१३।१९) प्रयोगान्तरमाह संस्थानवत्त्वादिति ॥ २३ ॥

सूत्रान्तरमनुवृत्तिसहितं पठति ।
संयोगोपपत्तेश्च (सू० २४) ॥ इति । पौनस्त्यं देशयति ।
नन्विदमिति (५१४।४) परिहरति । न चरितार्थमिति । मूर्ति-
र्नामाव्यापिनो द्रव्यस्य षड्विधं परिमाणमिति । परम-
ह्रस्वत्वपरमाणुत्वे परमसूक्ष्म एव द्रव्ये व्यवतिष्ठते व्यापि तु गृहीत्वा
परममहत्त्वपरमदीर्घत्वाभ्यामष्टविधं परिमाणं भवति । परममह-
त्त्वपरमदीर्घत्वे च सर्वगतव्यापिनी इति न मूर्तिः । असर्वगतद्र-
व्यपरिमाणं मूर्तिरिति पारमर्षवचनात् । संस्थानं नाम प्रचया-
ख्यः संयोगो घटादिवृत्तिर्घटत्वादिजातिव्यक्तिहेतुरिति । संयोगः

संयोगमात्रं न त्वप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिरिति । तस्मादपौनरुक्त्यम् ।
 तदेतच्छून्यतामतमपाकरोति । यत्तावन्मूर्तिमत्त्वादिति ।
 शून्यतावादी प्रलयान्तत्वाभिमानेनाह । अथ तावदिति । सिद्धा-
 न्त्याह अन्तो निरवयव इति । प्रलयान्तत्वमधस्तान्निराकृत-
 मिति भावः । नन्वधस्तान्निराकरणात्मा भूत्प्रलयान्तो विभागो
 विभागान्तस्तु भविष्यति किं परमाण्वन्तताग्रहेणेत्याशङ्कते ।
 अथान्तो विभागः । निराकरोति । स न युक्त इति । ना-
 सति गुणिनि गुणो ऽस्तीत्यर्थः । एतावन्तश्च कल्पाः सम्भवि-
 नः । तत्र प्रथमकल्पे अनैकान्तिकत्वव्याघातौ द्वितीये विभा-
 गस्यानाधारत्वप्रसङ्गः तृतीये त्रुटेरमेयत्वप्रसङ्ग इत्याह । एता-
 वच्चैतत् (कल्पजातं) स्यादिति । परमाण्वन्ततां विभागस्य
 ब्रुवन्निरवयवं मूर्तिमन्तं परमाणुं प्रतिपद्यसति । अनन्तत्वे तु
 त्रुटेरमेयत्वप्रसङ्गो व्याघातः । प्रलयान्तत्वे च विभागस्यानाधा-
 रत्वप्रसङ्गो व्याघातः । सावयवशब्दस्यार्थः समानजातीयावयवं
 न केवलं तदारब्धमपि तु तदाश्रितम् । तन्त्वाद्यारब्धं पटादि
 द्रव्यं तन्त्वाद्याश्रितं च । नन्वेवमपि कुतः सावयवत्वमित्यत आ-
 ह । अवयवस्तदाधारस्तस्य समानजातीयारब्धस्य कार्यद्रव्य-
 स्याधारः तस्मात्सावयवत्वं कार्यविशेषः तस्मात्सावयवाः पर-
 माणव इत्यतिब्रुवता कार्यविशेषः परमाणुरित्युक्तं भव-
 ति । कार्यविशेषश्च परमाणुरिति व्याहृतम् । (५१५।२)
 आनन्त्ये तु त्रुटेरमेयत्वप्रसङ्गात् । सा खल्वनवयवस्य क-
 ल्पितस्य परममूक्षमतया परमाण्वाख्या तेन परमाणुरिति
 किमुक्तं भवति अनवयवो ऽकार्यश्चेति । सावयव इति
 किमुक्तं भवति सावयवः कार्यश्चेति प्रतिज्ञापदयोर्व्याघात-
 इत्यर्थः । अथ मा भूत्त्रुटेरमेयत्वमित्येकपरमाणुपूर्वकत्वं पर-

माणोः प्रतिपद्यसे । शेषमतिरोहितार्थम् । यदि द्वे द्रव्य
अधिकृत्याभिधीयत इति । मध्यस्य हि परमाणोरुपयर्थः-
पार्श्ववर्तिभिः परमाणुभिर्ये संयोगास्तत्र मध्यस्य पूर्वेण परमा-
णुना यः संयोगो नासौ मध्यपश्चिमपरमाण्वाश्रितः एवं मध्यम-
परमाणुसंयोगो नैव मध्यमपूर्वपरमाण्वाश्रय इति । एव मन्यत्रा-
पि द्रष्टव्यम् । षडपि भिन्नदेशा एवेति समानदेशत्वमसिद्धम् ।
अथ परमाणूनां सस्वन्धिनं परमाणुं मध्यमधिकृत्योच्यते तदा-
श्रिता हि संयोगाः षडपि भवन्तीति तत्राह । न किं चिद्वा-
ध्यत इति । (५१७।२)

स्यादेतत् । संयोगसमानदेशत्वेन परमाण्वोऽपि संयुक्ताः
समानदेशा इति पिण्डस्याणुमात्रत्वप्रसङ्ग इति परोक्तमनुवदति ।
यत्पुनरेतदिति । तद् दूषयति । तन्नोति । यत्र यत्स-
मवेतं स तस्य देशो यथा रूपादीनां द्रव्यं, न च परमाणवः
क चित्समवयन्ति किं तु तत्संयोगाः । तेन देशवतां संयोगाना-
मस्तु समानदेशता न तु परमाणूनामदेशत्वादित्यर्थः । देशयति ।
ननु कार्यकारणे इति । यथेह कुण्डे वदरमिति यथा वदरं कु-
ण्डदेश एवं तदवयवास्तदवयवाः । न च समवाय एव देशदेशि-
त्वनिबन्धनमपि तु संयोगोऽपि । न हीह कुण्डे वदरमिह पदे
शुक्लत्वमिति वा आधार्याधारप्रत्ययो विशिष्यते । तस्माद्ब्रह्मणां
द्रव्याणां समानदेशत्वदर्शनान्नासिद्धो दृष्टान्त इत्यर्थः । तद् दू-
षयति । एतदनभ्युपगमेन प्रत्युक्तम् । द्रव्याणामेकत्र स-
मवायेन समानदेशता व्यासेधामो न तु संयोगेन, समवायेन हि
समानदेशता स्थौल्यपरिपन्थिनी । यथा गन्धरसरूपस्पर्शाः स-
मानदेशा न स्थौल्यधारयन्ते तत्कस्य हेतोः एषाममूर्तानां स-
मानदेशसमवायात् । मूर्तास्तु स्पर्शवन्तः समवायेनासमानदेशाः

परस्परसंयोगिनो यदि स्थौल्यमारभन्ते किं बाध्यते तस्मात्संयो-
 गिनो यदि स्थौल्यमारभन्ते किं बाध्यते तस्मात्संयोगेन समान-
 देशता न प्रतिषिध्यते समवायेन तु प्रतिषिध्यते सा हि स्थौ-
 ल्यविरोधिनीति सिद्धम् । अभ्युपेत्यैवमुक्तं संयोगाः समानदेशा-
 इति । परमार्थतस्तु कुण्डबदरसंयोगस्य कुण्डबदरे आश्रयः त-
 दवयवकुण्डबदरसंयोगस्य कुण्डबदरावयवा इति सिद्धं संयोगा-
 नामपि भिन्नदेशत्वमित्याह । न च संयोगा अपीति । उप-
 संहरति । षण्णां समानदेशत्वादिति । वाक्यमिति । य-
 त्पुनरुक्तं दिग्देशभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युक्तमिति ।
 परमाणोः किल भवदभिमतस्यैकस्य दिग्भागाः षट्, न चैकस्य
 दिग्भागे भेदो ऽस्तीति षड्व परमाणवः । एतद् दूषयति क एव-
 माह दिग्देशभेदो (यस्या)स्तीति । स्वरूपेणैका दिक् सर्व-
 गता च नास्या भेदो ऽस्तीत्यर्थः । यद्येकैव दिक् क तर्हि परमा-
 णानामस्मादयं परमाणुः पूर्वो ऽयं पश्चिम इत्यादयो बुद्धिव्य-
 पदेशभेदा इत्यत आह । दिग्देशभेदाश्च दिशाः संयोगा
 एकत्वे ऽपि दिश आदित्योदयदेशप्रत्यासन्नदेशसंयुक्तो यः स-
 इतरस्माद्विप्रकृष्टदेशसंयोगात्परमाणोः पूर्वः एवमादित्यास्तमयदे-
 शप्रत्यासन्नदेशसंयुक्तो यः स इतरस्माद्विप्रकृष्टदेशसंयोगात्परमा-
 णोः पश्चिमः तौ च पूर्वपश्चिमौ परमाणू अपेक्ष्य यः सूर्योदया-
 स्तमयदेशविप्रकृष्टदेशसंयोगः स मध्यवर्ती । एवमेतयोर्यौ ति-
 र्यग्देशसम्बन्धिनौ मध्यस्य आर्जवेन व्यवस्थितौ पार्श्ववर्तिनौ
 तौ दक्षिणोत्तरौ परमाणू एवं मध्यंदिनवार्तिसूर्यसन्निकर्षविप्रक-
 षौ पूर्वसंख्यावच्छिन्नत्वं चाल्पत्वं परसंख्यावच्छिन्नत्वं च भूय-
 स्त्वम् । तस्मादेकस्यापि परमाणोः परमाण्वन्तरसंयोगा अव्या-
 प्यवृत्तय एव भागाः । एवं दिशो ऽप्येकस्या अपि संयोगा एव

२५-२९सू० ४प्र०] बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम् । ६५३

भागाः सोऽयं परमाणोः षट्केन युगपद्योगो मूर्त्तत्वमात्रप्रयुक्तो
न सावयवत्वप्रयुक्त इति न सावयवत्वं गमयितुमर्हतीति । तेन
यदुच्यते प्रसङ्गसाधनं परैः यन्निरयवं तन्न षट्केन संयुक्तं य-
था विज्ञानं तथा च परमाणुरिति व्यापकाविरुद्धोपलब्धिरिति
तन्निरस्तम् । मूर्त्तत्वप्रयुक्तत्वेन षट्कसंयोगस्य सावयवत्वेन व्या-
प्तेरसिद्धेः । छायातपयोगोऽपि परमाणोरेकसंयोगस्याव्या-
प्यवृत्तित्वेनोपपन्नः ।

नन्वनवस्था नोपपद्यत इत्युक्तं तत्कुत इत्यत आह भाष्य-
कारः । अनवस्थायां च प्रत्यधिकरणं द्रव्यावयवानामा-
नन्त्यात् । क्रियावत्त्वादीनहेतुत्वं सर्वथा विकल्प्य वार्तिकका-
रो दूषयति । ये तु क्रियावत्त्वादिति । एतेनासिद्धत्वेन ।
न हि घटादिकमवयविनमनभ्युपगच्छतो घटादिरस्तीत्यर्थः । म-
तुपश्चार्थान्तरे दृष्टत्वाद्विरुद्ध इति । क्रियां परमाणोरर्था-
न्तरमनिच्छतो मतुपयोगो विरुद्ध इत्यर्थः ॥२५॥

विज्ञानवाद्याह यदिदं भवान् बुद्धीरिति । यदि षट्स्त-
न्तुभ्योभिन्नो भवेत्तन्व्यतिरेकेण गौरिवाश्वतिरेकेणोपलभ्येत ।
न चोपलभ्यते तस्मात्षट् इति मिथ्याबुद्धिरियम् । तन्तु-
रित्यपि मिथ्याबुद्धिरंशुभ्यो भेदेनानुपलम्भाद् । एवमंशु-
रित्यपि । तदनेन क्रमेण परमाणुष्वपि बुद्ध्या विविच्य-
मानेषु याथात्म्यानुपलब्धेर्न बाह्यवस्तु स्थूलं वा क्षोदीयो वास्ती-
ति सर्वा एव बुद्धयः स्वाकारमवाह्यं बाह्यतया आलम्बमाना मि-
थ्याभूता इति । ननु षटादयः सावयवा भवन्त्वेवं परमाणूनां
त्वनवयवत्वाद् बुद्ध्या विवेचनाद्भावानां याथात्म्योपलब्धिरित्यत
आह । परमाणवोऽपि भागशो विभज्यमानास्तावद्याव-
त्प्रलय इति (५१९।१७) । भवन्तु परमाणवोऽनवयवाः संयोगेभ्यः

स्तु षड्भ्यो बुद्ध्या विविच्यमानस्य याथात्म्यमुपलभ्यत इति ॥२६॥

तदेतद् दूषयति ।

व्याहतत्वादहेतुरिति । यस्य विविच्यमानस्य याथा-
त्म्यानुपलब्धिस्तत्कुतश्चिद्विवेचनीयम् अवध्यभावे । तदनुपपत्तेः ।
तथा च तेनावधिना क चिदवस्थातव्यम् । अनवस्थायां त्रुटर-
मेयत्वप्रसङ्गादित्युक्तम् । तस्मात्परमाणुषु वा तत्संयोगेषु वा ते-
नावस्थातव्यम् । तथा च यतो विविच्यते भावः स एवास्याव-
धिर्याथात्म्येनोपलभ्यतइति बुद्ध्या विविच्यमानस्य सर्वभावानु-
पपत्त्या व्याघात इति सिद्धम् । दूषणान्तरमाह । सर्वभावानुपप-
त्तिरिति । (१५०।५)प्रमाणस्यापि भावात् तद्गतत्वेन तदनुपपत्तौ
सर्वभावानुपपत्तिरित्यर्थः ॥२७॥

तदाश्रयत्वादपृथग्रहणम् (सू. २८) ॥ अपृथग्रह-
णादिति ब्रुवाणः प्रष्टव्यो जायते । किं विलक्षणव्यवहाराभावः
उत भेदाभावः उत तन्तुव्यतिरेकेण देशान्तरे ऽनुपलम्भ इति ।
न तावदाद्यः तन्तवो हि भिन्नाभबुद्धिवेद्याः पटस्तु अभिन्नाभबु-
द्धिवेद्य इति । नापि द्वितीयः । तन्तूनामंशुदेशत्वात् पटस्य त-
न्तुदेशत्वात् । तस्मात्तन्तुभ्योऽन्यत्रादर्शनमपृथग्रहणं तच्च भेदे
ऽपि तदाश्रितत्वेनोपपद्यमानं नाभेदं गमयितुमर्हतीत्यर्थः । भा-
ष्यं बुद्ध्या विवेचनान्तु भावानां पृथग्रहणमतीन्द्रिये-
ष्वणुषु । यत्र खल्ववयवावयविनावैन्द्रियकौ तत्र पृथग्रहणम-
विवेचकानामस्फुटतरमतीन्द्रियेभ्यो ऽणुभ्य आनुमानिकेभ्यः प्र-
त्यक्षदृश्यानां तदाश्रितानामवयविनां पृथग्रहणमित्यतिस्फुटमि-
त्यर्थः ॥२९॥

संप्रत्ययैन्द्रियके ऽप्यवयवे ऽवयविनो विविच्यमानस्य
याथात्म्येन पृथग्रहणमाह । प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेरिति ।

३१-१४सू०४प्र०] बाह्यार्थभङ्गानिराकरणप्रकरणम् ६५५

यदास्ति-पटादिकमवयविद्रव्यं यथा च स्वावयवसमवेतत्वेन गु-
णाधारतया च, यन्नास्ति-शशविषाणादि, यथा च-कार्यकार-
णभावेन, तत्सर्वं प्रमाणत उपलब्ध्या सिध्यति । सुगमं
भाष्यम् ॥ ३० ॥

यदुक्तं प्रमाणोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां न सर्वभावानुपपत्तिरिति ।
तत्र प्रत्यवतिष्ठते विज्ञानवादी ।

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः (सू.
३१) ॥ न खलु वास्तवः प्रमाणप्रमेयभावः किं त्वनादिवासना-
निबन्धनकल्पनार्थिनः । यथा हि न स्वप्ने सन्ति विषया अथ
च प्रतिभान्ति कल्पनामात्रेण तथा च सांवृतेनापरमार्थसता प्रमा-
णप्रमेयभावेन बाह्यार्थशून्यता सिध्यति परमार्थसती प्रत्ययानां
दृष्टा मिथ्याप्रत्ययानामपि तत्त्वप्रतिपत्तिहेतुतेत्यावेदितं पुरस्ता-
दित्यर्थः । तद्व्याचष्टे वार्त्तिककारः । यथा न स्वप्ने विषयाः
सन्तीति ॥ ३१ ॥

(॥५२॥) ननु स्वप्नप्रत्ययानामस्त्वेवंधर्मकत्वं ये पुनरमी
जाग्रत्प्रत्ययाः स्तम्भ इति वा कुम्भ इति वा किमायातं तेषाम-
त्यन्तवैलक्षण्यादित्यत आह । मायागन्धर्वेति । जाग्रत्प्रत्यया
अप्येवंविधाः सहस्रशो दृश्यन्ते न चैते स्तम्भकुम्भादिप्रत्ययास्त-
तो विलक्षणा इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तदेतद्दूषयति ।

हेत्वभावादसिद्धिः (सू. ३३) ॥ तद्व्याचष्टे भाष्यका-
रः । स्वप्नान्ते विषयाभिमानवदिति । अन्तशब्दो स्वयव-
वचनो ऽप्याश्रितत्वमात्रेणावस्थायां प्रयुक्तः । तेन स्वप्नावस्थाया
मित्यर्थः । एतदुक्तं भवति । स्वप्नज्ञानस्यायाथार्थ्यमिच्छता बाध-
कमन्तरेण तदनुपपत्तेर्जाग्रत्प्रत्ययो ऽस्य बाधको वक्तव्यः न
चासावसमीचीनस्तद्वाधितुमुत्सहतइति समीचीनत्वं जाग्रत्प्रत्य-

यस्याभ्युपगन्तव्यम् । तथा च जागरितान्ते विषयोपलब्धिवदि-
त्यनुपपन्नम् ।

वार्तिकं ख्यातिरिति चेत् । प्रत्ययत्वमेव स्व-
प्नोदाहरणसहितं प्रमाणप्रमेयाभिमानमिध्यात्वे हेतुरित्यर्थः । वि-
पर्यये च सामर्थ्याभावादिति । पूर्वं प्रतिबुद्धेनेति विशेषणं
विवक्षित्वोक्तम् । अधुना त्वनुपलब्धेरिति विवक्षित्वोच्यत इत्यपौ-
नरुत्त्यम् । अत्र विज्ञानवादी स्वपक्षे प्रमाणमाह । न चित्तव्य-
तिरेकिणो विषयाः ग्राह्यत्वाद् वेदनावदिति । इदमत्रा-
कृतम् । विज्ञानस्य हि बाह्यो ऽर्थो ग्राह्यो भवन्निराकारस्य सत्ता-
मात्रेण वा भवेत् कारणत्वेन वा एकसामग्यधीनत्वेन वा ज्ञाना-
हितफलाधारत्वेन वा । न तावत्सत्तामात्रेणान्यस्यान्यो वि-
षयः सत्तामात्रस्य विषयान्तरेषु भावात्सर्वे ऽर्थाः सर्व-
विषया इति सर्वसर्वज्ञतापत्तिः । न च सत्तामात्रमपि विष-
यत्वव्यवस्थापकम् असतो ऽपि विषयत्वात् । अत एव न
कारणत्वेन विषयभावः । अपि च चक्षुरादयो ऽपि विज्ञानस्य
कारणमिति विषया रूपविज्ञानस्य प्रसज्येरन् , वर्त्तमानावभा-
सि च विज्ञानं न भवेत् । क्षणिकत्वेनोत्पादकस्यार्थक्षणस्योत्पा-
द्यविज्ञानसमये विनिपातात् । एकसामग्यधीनत्वेन तु विषय-
त्वे वर्त्तमानावभासितोपपद्यते । सा तु नोपपद्यते असतो रप्य-
तीतानागतयोर्ग्रहणे व्यापकत्वादतिव्यापकत्वाच्च इन्द्रियादिक्षण-
स्यैकसामग्यधीनस्यालम्बनत्वप्रसङ्गात् । विज्ञानाहितफलाधार
आलम्बनमिति चेत् किं पुनर्विज्ञानेनार्थे जन्यते प्राकट्यं न चै-
तदर्थधर्मो ऽपि शुक्लादिवत्सर्वपुरुषसाधारणम् । ज्ञानाहितस्यार्थध-
र्मस्यापि ज्ञानवन्तं प्रत्यसाधारणत्वदर्शनात् । यथा यस्यापेक्षा-
बुद्धिजनितं द्वित्वमर्थधर्मः सो ऽपेक्षाबुद्धिमन्तमेव पुरुषं प्रत्यसा-

धारण इति । तन्न अव्यापकत्वात् । सन्ति खल्वतीतानागत-
विषयाणि सहस्रशो विज्ञानानि शब्दानुमानजानि च, न चैता-
न्यर्थे फलमाधातुमुत्सहन्ते अर्थस्य तदानीमसम्भवात् । न ख-
ल्वस्ति सम्भवो ऽसन्ननुत्पन्नरूपो धर्मी धर्मो ऽस्याविन-
श्यन् प्रत्युत्पन्नरूप इति । स्वकारणादात्मानात्मप्रकाशनशक्ति-
युक्तमुत्पद्यते ज्ञानं तादृशं येन कश्चिदेवास्य विषयो न सर्वमिति
चेत् । इन्त भोः शक्तेः शक्यनिष्ठत्वात्किमस्य शक्यमिति वक्त-
व्यम् । अर्थ इति चेन्न । न तावदयमस्य निर्वर्त्यः अर्थस्यैव
ज्ञाननिर्वर्तकत्वात् । न चार्थाधारं फलमार्थत्तइत्युक्तम् । न चा-
सति शक्ये शक्तिसंभवः तस्मादनाकारं विज्ञानं बाह्यं गोचरय-
तीति मनोरथमात्रम् । अस्तु साकारमेव बाह्यगोचरम् । तथा हि
नीलाद्याकारं ज्ञानं नीलादिगोचरम् । नीलमस्य स्वरूपं यतः ।
अत्रैवं वक्तव्यम् । किं सर्वात्मना सारूप्यभावाद् विषयभाव
आहो कथं चित्सारूप्यभावात् । न तावदर्थस्य जडात्मनो ज्ञानेन
प्रकाशात्मना सर्वथा सारूप्यं सारूप्ये ज्ञानमपि जडं भवेदिति ज्ञान-
त्वहानिः । एकदेशेन च सारूप्ये तत् क नाम नास्तीति सर्वं ज्ञानं
सर्वं वेदयेत् । अपि च नीलज्ञानात्समनन्तरप्रत्ययादुत्पन्नं ज्ञानं
न तथा नीलार्थसारूपं यथा नीलज्ञानसारूप्यमिति समनन्तरप्रत्यय-
तत्सारूप्याभ्यां विषयः स्यान्न चैतदस्ति, तस्मान्न सारूप्यसमु-
त्पत्ती अपि विषयलक्षणम् । स्तामस्य सारूप्यसमुत्पत्ती मन-
स्कारेन्द्रियादिभिस्तथाऽपि यमध्यवस्यति सोऽस्य विषयोऽर्थ
चाध्यवस्यतीति अर्थ एवास्य विषयो न मनस्कारादीतिचेत् ।
अथ कोऽयमध्यवसायः । न तावदग्रहणं न खलु द्वावाकारौ
गृह्येते नीलमित्यनुभवो न तु नीले इति । स्वाकारस्य बाह्यस-
मारोपो ऽध्यवसाय इति चेत् । स किं गृह्यमाणे बाह्ये उतागृ-

ह्यमाणे । न हि नीलद्वयं प्रकाशतइत्युक्तम् । न चारोपविषयम-
गृहीत्वा ऽऽरोप्यमारोपयितुमर्हतीति । न ह्यननुभवन् पुरोवर्त्ति
शुक्लभास्वरं रजतमारोपयति तत्र । अपि चागृह्यमाणे बाह्ये प्रवृ-
त्तिनियमो न भवेत् । इतरेषामगृह्यमाणत्वेनाविशेषात्तेष्वपि प्रवृ-
त्तिप्रसङ्गात् । न च साकारज्ञाननये बाह्यसद्भावे प्रमाणमस्ति
अगृह्यमाणत्वात् ।

ननु नीलाद्याकारस्य कादाचित्कत्वमेव प्रमाणम् ।
तथाहि यद्यस्मिन्सत्यपि कदा चिद्भवेत्तत्तदितरापेक्षम् ।
यथा सत्यपि सोपाने विच्छिन्नगमनरचनप्रतिभासाः प्रत्ययाः
सन्तानान्तरापेक्षास्तथा च सत्यप्यालयसंताने षडपि प्रवृत्तिप्र-
त्यया इति स्वभावहेतुः । वासनापरिपाकप्रत्ययकादाचित्क-
त्वात् कदा चिदुत्पाद इति चेत् । नन्वेकसन्तानपतितानामाल-
यज्ञानानां तत्तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिर्वासना तस्याश्च कार्य-
जननं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः तस्य च प्रत्ययः स्वसन्तानवर्त्ती
पूर्वक्षणो हेतुः सन्तानान्तरापेक्षानभ्युपगमात् । तथा च सर्वे
आलयसन्तानपतिताः परिपाकहेतवो भवेयुः न वा कश्चिदपि
अविशेषात् । क्षणभेदाच्छक्तिभेदस्तस्य कादाचित्कत्वात्कार्यकादा-
चित्कत्वमिति चेत् । नन्वेकस्यैव नीलविज्ञानजननसामर्थ्यं शक्ति-
प्रबोधजननसामर्थ्यं च क्षणान्तरस्य तन्न स्यात् । सत्त्वे वा
कथं क्षणभेदात्सामर्थ्यभेद इत्यालयसन्तानवर्तिनः सर्वे समर्था
इति समर्थहेतुसद्भावे कार्यक्षेपानुपपत्तिः । स्वसन्तानमात्राधी-
नत्वे तु निषेध्यस्य कादाचित्कत्वस्य विरुद्धं सदातनत्वं तस्यो-
पलब्ध्या तु कादाचित्कत्वं निवर्त्तमानं हेत्वन्तरापेक्षत्वे व्यव-
तिष्ठतइति प्रतिबन्धसिद्धिः । न च संतानान्तरनिमित्तानि प्रवृ-
त्तिविज्ञानानि सन्तत्यन्तराणामपि नित्यसन्निधानाद्विज्ञाना-

३३सू० ४प्र०] बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम् । ६५९

नामदेशात्मकत्वेन दूरत्वानुपपत्तेर्व्यतिरिक्तस्यानभ्युपगमात् । ना-
पि कालतो विप्रकर्षसम्भवः अपूर्वसत्त्वप्रादुर्भावाभ्युपगमात् ।
तदिदमनुमानं सौत्रान्तिकानां बाह्याभ्युपगम इति ।

तदयुक्तम् । स्वसन्तानमात्रनिमित्तत्वेऽपि नीलादिविज्ञानानां
कादाचित्कत्वोपपत्तौ सन्दिग्धव्यतिरेकित्वेन हेतोरनैकान्तिक-
त्वात् । ननुक्तम् न क्षणभेदः कार्यभेदहेतुरिति कल्पितस्य
सन्तानस्य सर्वसामर्थ्यविरहिणो भेदः कार्यभेदहेतुरिति न
तु परमार्थसतः क्षणस्य कार्यभेदहेतुत्वमिति कोऽन्यो
भदन्ताद्वक्तुमर्हति । ननु यदि क्षणभेदः शक्तिभेदहेतुस्ततो
भिन्नानां क्षणानां नैका शक्तिः स्यात् तथा चैकेन केन चि-
न्नीलज्ञाने जनिते तन्नीलज्ञानं क्षणान्तरान्न स्यात् । यदि भि-
न्नानां नैकं सामर्थ्यम् । अथ बाह्यार्थवादिनोऽपि कथं भिन्नानां
नीलोत्पलसन्तानानामेकनीलोत्पलाकारज्ञानधारासामर्थ्यम् ।
यद्युच्यते अन्यदेव नीलविज्ञानं यन्नीलोत्पलसन्तानान्तरात् ।
वयमपि ब्रूमहे अन्यदेव नीलविज्ञानं यत् क्षणान्तरादिति ।
तस्मात्कश्चिदेव तादृशः स्वलक्षणभेदो जायते यः कं चिदेव
कार्यभेदं जनयति न कार्यान्तरमिति । तस्मात्साकारस्यापि
ज्ञानस्यार्थो न गोचरो । न चागोचरः शक्योऽनुमातुमिति ।
न च प्रत्यक्षवदनुमानमप्यर्थगोचरं तस्मात्साधुक्तं वार्तिककृता
न चित्तव्यतिरेकिणो विषयः ग्राह्यत्वाद्देदनावदिति । नीलादयो
हि विषया उभयवादिसिद्धास्तेषां चित्तभेदाभेदयोर्विप्रतिपत्तिः ।
तत्रैषां चित्तव्यतिरेकः परैरभ्युपगतः प्रतिषिध्यते यावांश्च
प्रतिषिध्यते सर्वोऽनुपलब्धेरिति ग्राह्यत्वादित्ययं हेतुर्विरुद्ध-
व्याप्तोपलब्धिः प्रतिषेध्यश्चित्तव्यतिरेकस्तद्विरुद्धस्तदव्यतिरेकस्तेन
व्याप्तं ग्राह्यत्वं तस्योपलब्धिरेव तन्निषेध्यस्यानुपलब्धिरिति ।

अत्र तावदेतद्वक्तव्यम् । ग्राह्यत्वस्याभेदेन व्याप्तौ सत्यां भेदं निवर्तयेद् न त्वभेदेनास्य व्याप्तिः । तथा हि यदेतन्नीलं स्थूलं विच्छिन्नमुपलभ्यते तस्यास्य विच्छेदः स्थौल्यं च न ज्ञानस्यात्मा, नानादिग्देशव्यापिता हि स्थौल्यम् । न चैकमदिग्देशात्मकमनवयवि ज्ञानं नानादिग्देशव्यापि सम्भवति । यथा ऽऽह ।

तस्मान्नार्थे न विज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।

एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद्वहुष्वपि न सम्भव इति । एवमर्थविच्छेदो ऽपि न ज्ञानात्मकः । तस्य तथात्वे परमार्थतो ऽर्थाद्विच्छिन्नं ज्ञानं स्यात् । तस्माद्यमपि न ज्ञानमित्यसन्नभ्युपगन्तव्यः । न च सदसतोरेकत्वमित्यनात्मा ऽपि विज्ञाने प्रकाशतइत्यनिच्छता ऽपि स्वीकर्तव्यम् । तथा च सदपि प्रकाशिष्यते । नन्वनात्मन्यर्थे ऽकिञ्चित्करं विज्ञानं कथमर्थप्रकाशकम् । अथाकिञ्चित्करं ज्ञानं स्थौल्ये कथमस्य प्रकाशकम् । स्वभावादिति चेत् अत्राप्यसौ न दण्डवारितः । यद्धि यस्य स्वभावः तस्य नान्यापेक्षा यथा लिङ्गस्य स्वसाध्यसम्बन्धे । स्वभावतश्चार्थस्य ज्ञानमिति न तदीयत्वे अन्यदपेक्षते । असम्बद्धत्वात्कथं ज्ञानमर्थस्येति चेद् अथ सम्बन्ध एव सम्बन्धिनोः कथम् । सम्बन्धान्तरकल्पनायामनवस्था । तस्माद्यथा सम्बन्ध एव सम्बन्धान्तरमन्तरेण सम्बन्धिनोः एवं ज्ञानमपि सम्बन्धान्तरमन्तरेणार्थस्येति समानम् । न चातिप्रसङ्गः । स्वकारणादुत्पन्नस्य कस्य चिद्विज्ञानस्य कश्चिदेव विषयो नान्यः । न स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति एवं भवतैवं मा भवत एवं कस्मान्न भवतेति । अकिञ्चित्करस्य रूपविज्ञानस्य कथं रूपविषयतेति चेत् । किं रूपविज्ञानं प्रमाणं विवक्षित्वेदमुच्यते आहो फलं विवक्षित्वा । यदि प्रमाणं ततो न तदकिञ्चित्करं तत्र

३३सू० ४प्र०] बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम् । ६६१

हानोपादानोपेक्षापसवहेतुत्वात् । अथ फलं तदयुक्तम् । क
नाम फलं किञ्चित्करं न हि गतिजन्या नगरप्राप्तिश्चैत्रस्य चैत्र-
नगरसंयोगसमवायाय किं चित्करोति । एवमर्थविषयत्वाय
स्वाभाविकाय न ज्ञानेन किं चिदपरं जनयितव्यम् । अर्थप्रति-
बद्धत्वं ज्ञानस्यार्थविषयत्वं न हि ज्ञानमनुव्यवसायज्ञानेन नि-
रूप्यमाणमर्थनिरूपणं विना शक्यं निरूपयितुमित्युक्तम् ।
कर्मण्यसमवेतं कथं कर्मण इति चेद् अथ फलसमवायः कर्मण्य-
समवेतः कथं कर्मणः । तत्पारतन्त्र्यादिति चेत् किमिदं पार-
तन्त्र्यम् । तन्निरूपणाधीननिरूपणत्वमिति चेत् तदिहापि समानम-
न्यत्राभिनिवेशात् । तस्मादभेदेन ग्राह्यस्याव्याप्यत्वाद्ग्राह्यत्वं
विरुद्धव्याप्तं न भेदं निवर्तयितुमर्हतीति दूषणे स्थवीयसि सखेव
दूषणान्तरमाह वार्तिककारः वेदना सुखदुःखे चित्तं विज्ञा-
नमिति । अभ्युपेसाह अथाभिन्नं विज्ञानं वेदनात् इति ।
(५२२।१) यथा ऽङ्गुल्यग्रं न तेनैवाङ्गुल्यग्रेण स्पृश्यते एवं ज्ञानं न ते-
नैव ज्ञानेन ग्रहीतुं शक्यते । ननु न गृहीतिर्ग्राह्या न ह्यस्याः कर्म-
भावो विद्यते क्रियाफलशालितया कर्म भवति न चास्यामस्ति
फलान्तरम् , अपि तु स्वयमाविर्भूतस्वभावा गृहीतिरपराधीन-
प्रकाशा ग्राह्येत्युच्यते । यदि वैषा स्वयं न प्रकाशेत नार्था अपि
प्रकाशेरन् तत्प्रकाशाधीनप्रकाशा हि ते । तथा हि यद्यत्प्रका-
शाधीनप्रकाशं तत्तस्मिन् प्रकाशमाने प्रकाशते यथा दण्डप्रका-
शाधीनप्रकाशो दण्डिप्रकाशः ज्ञानप्रकाशाधीनप्रकाशश्च विषय
इति स्वभावहेतुः न च ज्ञानादन्यत्स्वसंवेदनं न दृष्टमित्येतावता
स्वसंवेदनं विज्ञानं न भवेदिति दर्शनादर्शनाभ्यां न हेतुर्गमको
ऽपि तु स्वसाध्याविनाभावात् स च विपर्यये बाधकप्रमाण-
प्रवृत्त्या सिध्यतीति कृतं दृष्टान्तेनेत्यत आह । न कर्म

क्रिया चैकं भवतीति ।

इदमत्राकृतम् । किं पुनरिदमर्थानां संवित्प्रकाशाधीनत्व-
प्रकाशत्वं नाम न हि संवित्प्रकाशेनार्थे प्रकाशान्तरं जन्यते ।
अपि च लिङ्गप्रकाशाधीनप्रकाशो हि लिङ्गप्रकाशः न च लिङ्गे
प्रकाशमाने प्रकाशते किं तु लिङ्गप्रकाशे विनष्टे । यद्युच्येत न
ज्ञानादतिरिक्तो ऽर्थप्रकाशो ज्ञानप्रकाशश्च किं तु ज्ञानमेव
स्वसंवेदनमर्थस्य स्वात्मनश्चेति । एवं तर्हि किमायातं न
ह्यात्मैवात्मायत्तः । न च ज्ञानमेवात्मनः परस्य च प्रकाश
इति सिद्धम् । अन्यो हि ज्ञानप्रकाशो मानस एन्द्रिय-
कश्चार्थप्रकाशः । न च प्रमाणज्ञानप्रकाशाधीनो ऽर्थप्रकाशः किं
तु प्रमाणज्ञानतत्ताधीनः फलाधीनं तु न किं चिदिसावेदितम् ।
तत्सिद्धमेतद्विवादाध्यासितं विज्ञानं स्वप्रकाशाद्भिन्नं प्रकाशमान-
त्वात् । सत्त्वान्तरप्रकाशस्य सत्त्वान्तरप्रकाशवत् । तदनेनाभि-
संधिनोक्तं न च कर्म च क्रिया चैकं भवतीति । एतेन सहोपल-
म्भनियमादभेदो नीलतद्धियोरिति परास्तं वेदितव्यम् । अर्थ-
ज्ञानोपलम्भयोरेकोपलम्भतैव नास्ति कुतः पुनरस्य नियम इति ।
अथ यथाश्रुतः सहोपलम्भो हेतुरित्युच्यते ततो विरुद्धः अभेदे
सहार्थासंभवात् । कृतप्रपञ्चश्चायमर्थो न्यायकणिकायामिह तु
विस्तरभयान्न प्रपञ्चित इत्युपरम्यते ।

सोऽपि दृष्टं विज्ञानभेदमनुव्योक्तव्य इति । न
संतानमात्रनिबन्धनो विज्ञानभेदो भवितुमर्हति नीलपीता-
दिरूपः नापि संतानान्तराधिपत्यसन्निधाननिबन्धनो विज्ञाना-
नामदेशात्मकानां स्वरूपेण देशविप्रकर्षयोगात् । नापि काल-
विप्रकर्षो ऽपूर्वसत्त्वप्रादुर्भावाभावादिति भावः । शङ्कते स्व-
मवशिष्टज्ञानभेदमिति । बाह्याभावे ऽप्याध्यात्मिको वि-

ज्ञानभेदेहेतुरस्तीति भावः । निराकरोति सोऽपी-
ति । स्वप्नज्ञानमपि पारंपर्येण बाह्यनिबन्धनमित्यर्थः । अबाह्यनि-
मित्तकत्वं स्वप्नप्रत्ययस्याभ्युपेयाह । अथ स्वप्नपक्षेऽपीति ।
वर्गः पक्षः । न चैकं विज्ञानं चिन्तनीयमपरं चिन्तकमिति वा-
च्यम् । व्यतिरिक्तालम्बनत्वानभ्युपगमादिति भावः । अभ्युपे-
त्य त्वबाह्यनिमित्तत्वं स्वप्नप्रत्ययानामेतदुक्तम् । बाह्यनिमित्तत्व-
मेव तु पारमार्थिकं इत्याह । ये चैते स्वप्न प्रत्यया इति । समामी-
ति । अपिशब्दः संभावनायां मम पक्षे संभाव्यतएतत् यत्सर्वेष्व-
प्रत्यया मिथ्या भवन्तीत्यर्थः । सुगममितरत् । मिथ्या निद्रा ।
विषयमन्तरेण विज्ञानस्फुटता चावक्तव्येति । सामान्यविशेषतद्वतां
ग्रहणं स्फुटता सामान्यमात्रग्रहणमस्फुटता तच्चैतदसतिविषये दुष्करं
तदाकारोत्पत्तेरशक्यत्वादित्यर्थः । शङ्कते असत्यर्थे विज्ञानभेदो
दृष्ट इति चेत् । (५२३।१२) स्वप्नमायागन्धर्वनगरमृगतृष्णा-
दिविज्ञानेष्वनुवर्तमानेषु विषयेन्द्रियमनोदोषनिमित्तत्वमस्तु, ये पु-
नरमी प्रतीनां सर्वेषामनुवृत्तिमन्तः पूयपूर्णनदीप्रत्यया न ते बा-
ह्यविषया दोषवत्त्वाद्भवितुमर्हन्ति । दोषनिमित्तत्वाद्बहुनामनुवृत्ते-
रभावात् । अदुष्टेन्द्रियार्थसन्निकर्षकत्वे तु जलरुधिराकारविरो-
धात् । तस्मादनादिवासनावैचित्र्यलब्धजन्मतयाऽर्थनिरपेक्षा
एव विचित्राकारा बुद्ध्य उदयन्ते व्ययन्ते चेति सांप्रतमिति
शङ्कार्थः । न तत्र नद्यस्तीति स्वमतदाह्वेनोक्तम् । न व्याघा-
तादिति । अयमभिसंधिः । जलरुधिरयो रसवीर्यविपाकादिभे-
दात्तोपरसवीर्यपरिपाकादिदर्शनान्नद्यास्तोयपूर्णत्वे निश्चिते पूय-
पूर्णत्वनिश्चयः प्रेतानां मिथ्येति निश्चये तदनुवृत्तेर्दोषानुवृत्तिः
कल्पनीया दोषश्च प्रेतशरीरनिर्वर्तकं कर्मैव । यथोक्तं तुल्यक-
र्मविपाकोत्पन्नाः प्रेता इति । कर्मणो वासनाऽन्यत्र फल-

मन्यत्र कल्पत इति । (५२४।६) फलं पुत्रपश्वादि तद्यदि विज्ञानं तदा यत्र ज्ञानसन्ताने कर्मवासना तत्रैव पुत्राद्याकारं विज्ञानं फलमिति सामानाधिकरण्यमुपपद्यते । पुत्रपश्वन्नादौ त्वर्थरूपे फले वैयधिकरण्यं स्यात् तथा चातिप्रसङ्ग इति भावः । निराकरोति तज्ज्ञानभ्युपगमादिति । न पुत्रादि स्वरूपेण फलमपि तु तन्निमित्ता प्रीतिः । तस्या एव चेतनेन काम्यमानत्वात् तल्लक्षणत्वाच्च फलस्येति भावः । मुक्तकेनार्थं साधयित्वा प्रयोगानाह । मदीयाच्चित्तादिति । यदि चित्तमात्रं पक्षीक्रियते तदा दृष्टान्तो नास्तीत्यत उक्तं मदीयाच्चित्तादिति । मदीयाहंकारानास्पदत्वे सतीति विशेषणान्न स्वचित्तेन व्यभिचारः । आरोपनिराकरणार्थत्वाच्च हेतूनां नासमर्थविशेष्यतेति । अपि च मिथ्योपलब्धीनां बाह्यानालम्बनत्वमास्थाय तत्स्वबुद्धीनां बाह्यानालम्बनत्वं साधनीयम् । तासां बाह्यानालम्बनत्वं बाधकाधीनं बाधकं चात्र समारोपितरजताद्यभिमानं निवर्त्तयति न तु पुरो ऽवस्थितमर्थसामान्यं शुक्लभास्वरम् । तस्मान्न बाधकानुरोधादपि मिथ्याज्ञानं बाह्यानालम्बनमिति स्वप्नवदिति दृष्टान्तः साध्यविकल इत्याह । एवं सति मिथ्याज्ञानस्य प्रधानाश्रयत्वे मिथ्योपलब्धेर्विनाशस्तत्त्वज्ञानाद्बाधकात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् प्रतिषेधो न सामान्यस्यापीति शेषः । शेषं भाष्ये । भाष्यं सुबोधम् ॥३५॥

यस्तु माध्यमिको मिथ्याबुद्धिं दृष्टान्तेन बाह्यापह्नवं कृत्वा तेनैव दृष्टान्तेन विज्ञानाभावं कृत्वा विचारासहत्वं तत्स्वभावाणां व्यवस्थापयावभूव तं प्रसाह ।

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् (सू. ३६) ॥ अर्थे हि निषिद्धे भवेदप्येतत् । तद्व्यवस्थापने तद्वदेवाप्रत्यूहं बुद्धि-

सद्भावो ऽपि सिध्यति । न चैवं वादिनः प्रमाणमस्त्यसता च प्रमाणेन विचारासहत्वं भावानां व्यवस्थापयन् श्लाघनीयप्रज्ञो देवानांप्रिय इति । न च कल्पनामात्रनिर्मित उपायस्तत्त्वज्ञानाय पर्याप्तः । न च वनस्पत्यादितत्त्वज्ञानस्य मिथ्याहस्तिज्ञानं निबन्धनमपि तु प्रणिहितमनस इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशेषः । न चासौ मिथ्याज्ञानसमये आसीत् । न च मोहाभ्यासः सर्वाचीनाय ज्ञानाय कल्पते स हि मोहमेव द्रढयतीति सर्वमवदातम् । सो ऽयं माध्यमिको ऽनुभूयमानां मिथ्याबुद्धिं नापह्नोतुमर्हति । तथा च मिथ्याबुद्धिं प्रतिपद्यमानेन तस्या निमित्तं वक्तव्यमित्युक्तम् ॥ ३६ ॥

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः (सू. ३७) ॥ मिथ्याबुद्ध्या स्वनिमित्तं लक्ष्यते तेन मिथ्याज्ञाननिमित्तस्य द्वैविध्यमित्यर्थः । यत्र स्थाणौ पुरुष इति ज्ञानं भवति तत्र तत्त्वं स्थाणुरिति प्रधानं पुरुष इति यः पूर्वं पुरुषोऽभूदित्यर्थः । एवं तावद्रूपबुद्धीः प्रतिपाद्य गन्धादिबुद्धीरपि प्रतिपादयति भाष्यकारः । गन्धादौ च प्रमेयइति । उपसंहरति । तस्मादयुक्तमेतदिति ॥ ३७ ॥

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिरित्युक्तम् । अथ तत्त्वज्ञानं कथमुत्पद्यतइति । (५२५।९) न तावदागमत उपपत्तितो वा तत्त्वज्ञानमहङ्कारनिवृत्तिं कर्तुं युत्सहते । दोषनिमित्तेषूपन्नज्ञानानामपि पूर्ववदहङ्कारदोषानुवृत्तेः साक्षात्कारस्तूपायाभावादयुक्त इति । अस्योत्तरं सूत्रम् ।

समाधितत्त्वाभ्यासात् (सू. ३८) ॥ समाधिपदं व्याचष्टे भाष्यकारः । स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनस इति । अनेन विक्षेपं निवर्त्तयति । इन्द्रियेभ्यः प्रतीपमाहृतस्य मनसः

क चित् हः पुण्डरीकप्रदेशे आत्मनो निजौकसि धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोगो ऽयम् । स खलु सुप्तावस्थायामस्तीत्यत उक्तं तत्त्वबुभुत्साविशिष्ट इति । तदभ्यासश्च तद्विषयप्रयत्नोत्पादणैः पुन्यं तस्मादादरनैरन्तर्यदीर्घकालविशिष्टात्त्वबुद्धिरुत्पद्यते ॥ ३८ ॥

एतदाक्षेपसूत्रमवतारयति यदुक्तं सति हि तस्मिन्निति । इन्द्रियविषयैरपहृतमनसो न धारणा । तथा च तदभ्यासाभावान्न तत्त्वसाक्षात्कार इति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

समाधानसूत्रमवतारयति । अस्त्वेतत्समाधिब्युत्थाननिमित्तमिति ।

सूत्रम् ।

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः (सू. ४१) ॥ पूर्वकृतः समाधिः तस्य फलं संस्कारः तस्यानुबन्धः स्थेमा तस्मादिति सूत्रार्थः । तद्व्याचष्टे भाष्यकारः । पूर्वकृत इति । प्रविविच्यते ऽनेनेति प्रविवेकः प्रकृष्टः संस्कारः स त्वात्मधर्म इति । कस्मात्पुनरदृश्यमानः संस्कारः कल्प्यतइत्यत आह । निष्फले हीति । प्रयत्नविशेषा हि विशरारवो बहवो ऽपि परस्परमसहभवन्तो न तत्त्वसाक्षात्काराय पर्याप्ता इति तज्जनिताः संस्काराः कल्प्यन्ते तेषां स्थेम्ना सम्भवति सम्भूयकारितेत्यर्थः ।

प्रचयकाष्ठा प्रचयावधिः यतः परमपरः प्रचयो नास्ति । तत्सहकारिशालितया प्रकृष्टायां समाधिभावनायां समाधिप्रयत्नः समाधिभावना तस्यामित्यर्थः ॥ ४२ ॥

पूर्वपक्षवाद्याह । यद्यर्थविशेषप्राबल्यादिति । स खल्वयमीदृशो बाह्यार्थस्य महिमा यत इन्द्रियाद्यनपेक्षादेवात्मनो बुद्धिं

४३-५१सू०४-५प्र०] तत्त्वज्ञानविवृद्धिपालनप्रकरणम् ६६७

जनयिव्यतीत्यभिमानः पूर्वपक्षिणः ॥ ४३ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।

न निष्पन्नावश्यं भावित्वात् (सू. ४४) व्याख्यातम् ।
न खलु तण्डुला अत्यन्तं फलीकृता अपि पिठरोदकदहनसंयो-
गप्रचयमन्तरेण पुलाका भवन्तीति भावः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

किं समाधिविशेष एव तत्त्वज्ञानसाधनम् । मैवम् । किं तु ।
तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगच्चाध्यात्मवि-
ध्युपायैः (सू. ४६) समानमाश्रमिणां धर्मसाधनम् । अहिंसा
सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमपरिग्रह इति यमः । नियम इति । यस्याश्र-
मिणो ऽसाधारणो धर्मोपायः । योग इति विषयेण योगशास्त्रं पा-
तञ्जलं लक्षयति । योगाचारः एकाकिता आहारविशेषः एकत्रा-
नवस्थानमित्यादि यतिधर्मोक्तम् । एतेऽपि तत्त्वज्ञानक्रमोत्पाद-
क्रमेणापमर्गसाधनमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

ननु यद्येते तत्त्वज्ञानोत्पादक्रमेणापवर्गोपायः कृतं तर्ह्य-
न्वीक्षिक्येत्यत आह ।

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः (सू. ४७) ॥
तद्व्याचष्टे तदर्थमिति प्रकृतम् । आत्मविद्याऽऽन्वीक्षिकी ।
अभ्यासः सततक्रिया तत्र प्रयत्न इत्यर्थः । प्रयोजनमाह प्र-
ज्ञापारिपाकार्थम् । परिपाकस्तु संशयच्छेदनम् । किं देहा-
द्यातिरिक्त आत्मा उत नेति संशयः । तस्य च्छेदनं लोकस्य
तत्त्वज्ञानमात्मनि तदवरोधः अध्यवसितं प्रमाणेन । तस्या-
भ्यनुज्ञानं तर्केण ॥ ४७ ॥

सब्रह्मचारी सहाध्यायी । गुरुशिष्यसहाध्यायिभ्यो-
ऽन्यः शास्त्रेणानुशिष्टः शिष्टश्रेयोर्यिनः श्रेयासि मोक्ष-
लक्षणे श्राद्धाः । तेषामपवर्गे श्रद्धादर्शनादस्ति तदुपायाभ्यासः

प्राग्भवीय इत्यनुमीयते । तेन तेषामपि प्राग्भवीयसंस्कारवशा-
त्प्रतिभोपासनीयेति । अभ्युपेयादभिमुखमुपेत्य जानीयात् गु-
र्वादिभिः सहेत्यर्थः । नीतार्थम् गतार्थम् ॥ ४८ ॥

तदनेन गुर्वादिभिर्वादं कृत्वा तत्त्वनिर्णय उक्तः । यदि
च मन्येत पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः परस्य गुर्वा-
देस्तस्मान्न वादोऽप्युचित इति । तत्रेदं सूत्रमुपतिष्ठते ।

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे (सू. ४९) ॥
व्याचष्टे तमभ्युपेयादिति वर्त्तते । परतो गुर्वादेः प्रज्ञासुपा-
दित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेनात्मनः शरीरादिभ्यो भेदं
बुभुत्सइत्यभिधानः स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं गुर्वा-
दिकृताद्विचारात्पूर्वपक्षोच्छेदेन सिद्धान्तव्यवस्थापनलक्षणात् स्व-
दर्शनं परिशोधयेत् । अन्योन्यप्रत्यनीकानि च प्रावादु-
कानां दर्शनान्ययुक्तपरित्यागेन युक्तपरिग्रहेण च परिशोध-
येदिति संबध्यते ॥ ४९ ॥

ननु यत्र वादस्यैव दशेयमीदृशी तत्त्वनिर्णये दत्तजलाञ्जली
तर्हि जल्पवितण्डे इत्यत आह । स्वपक्षरागेण चैकै न्या-
यमतिवर्त्तन्ते । तत्र ।

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्र-
रोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् (सू. ५०) इति
सूत्रम् । तद् व्याचष्टे अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामिति ॥ ५० ॥

न केवलं तदर्थं घटमानानां जल्पवितण्डे अपि तु
विद्यानिर्वेदादिभिश्च परेणावज्ञायमानस्य ।

ताभ्यां बिगृह्य कथनम् (सू. ५१) इति सूत्रम् ।
यस्तु स्वदर्शनविलसितमिथ्याज्ञानाश्लेषदुर्विदग्धतया सद्विद्या-

वैराग्याद्वा लाभपूजाख्यात्यर्थितया कुहेतुभिरीश्वराणां जना-
धाराणां पुरतो वेदब्राह्मणपरलोकादिदूषणप्रवृत्तस्तं प्रति वादी
समीचीनदूषणमप्रतिभयाऽपश्यन् जल्पवितण्डे अवतार्य विगृह्य
जल्पवितण्डाम्यां तत्त्वकथनं करोति विद्यापरिपालनाय । मा
भूदश्वराणां मतिविभ्रमेण तच्चरितमनुवर्तिनीनां प्रजानां ध-
र्मविप्लव इति । इदमपि प्रयोजनं जल्पवितण्डयोः । न तु ला-
भख्यात्यादि दृष्टम् । न हि परहितप्रवृत्तः परमकारुणिको मु-
निर्दृष्टार्थं परपांसुलोपायमुपदिशतीति ।

शङ्कावार्तिकम् । व्यापकत्वाद्दन्तः करणस्येति ।
(५२५ । १३) अस्य वक्ष्यमाणोऽभिसन्धिः । निराकरो-
ति । नोक्तोत्तरत्वाद् । सांख्यं दूषयद्भिरित्यर्थः ।
शङ्किता स्वाभिप्रायमुद्घाटयति । स्वाङ्गगतीक्षणेति । याव-
द्धस्तावच्छिन्ने आत्मप्रदेशे प्रयत्नो न जायते न तावत्तत्र कर्म
न च तत्रात्ममनः सन्निकर्षं विना प्रयत्नः । न च मनस इन्द्रि-
यसंयोगं विनेक्षणम् । न चाणुना मनसा इन्द्रियेण हस्तेन चा-
पर्यायेण सम्भवः । तस्माद्व्यापकं मन इति शङ्कार्थः । निराकरोति
न शरीरात्ममनःसंयोगयौगपद्यात् प्रयत्नदर्शनयोर्युग-
दुत्पत्तेः । तत्रात्मनःशरीरसम्बन्धात्स्वाङ्गगतिरिति । पाणि-
चालनेच्छापेक्षणात्ममनःसंयोगेन पाणिं चालयामीत्येवमाकारः
प्रयत्नो जायते तत्र प्रयत्नवदात्ममनःसंयोगात्पाणौ क्रिया
जायते । यद्यप्यात्मनः सर्वाङ्गे संयोगो न विशिष्यते तथाऽपी-
च्छाविशेषादुत्पन्नः प्रयत्नविशेषः पाणावेव कर्म करोति । ना-
न्यत्र प्रयत्नवदात्मसंयोगाच्चक्षुषः प्रेरणम् । यद्यपि चानयोः
प्रयत्नयोर्न युगपदुत्पादः तथाऽपि तदत्यन्तसौक्ष्म्यात्कालभेदो
न लक्ष्यते । नन्वेकस्मिन्नात्मप्रदेशे वर्तमानसंयोगो वा प्रयत्नो

वा कथं देशान्तरे असंयोगिन्यप्रयत्नवति कार्यमारभत इत्यत
आह । न चात्मनः प्रदेशाः सन्तीति । परिशिष्टवार्तिकं
भाष्यव्याख्यया व्याख्यातम् ॥ ५१ ॥

इति मिश्रश्रीवाचस्पतिविरचितायां न्यायवार्तिक-
तात्पर्यटीकायां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

४ अध्याये १ आह्निके ६७ सूत्राणि १४ प्रकरणा-
नि । २ आह्निके ५१ सूत्राणि ६ प्रकरणानि । आदित
आरभ्यमिलित्वा ४६० सूत्राणि ६० प्रकरणानि ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताश्च तत्किमपर-
मवशिष्यते यदर्थं पञ्चमोऽध्याय आरभ्यतइत्यत आह । साध-
र्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वमि-
ति भाष्यम् । तस्यार्थमाह वार्त्तिककारः । जातेः संक्षेपेणोक्ता-
या इत्यादि । (५२९ । १) यद्यपि जातिनिग्रहस्थानभेदा जा-
तिनिग्रहस्थानसामान्यलक्षणानन्तरं प्रथमेऽध्याये युक्ता लक्षयि-
तुं तथाऽप्येषां बहुत्वात्प्रमेयपरीक्षायां विलम्बोमाभूदपेक्षिता
चासौ शिष्यैः । संशयादिपरीक्षां तु विना प्रमेयपरीक्षा न श-
क्यते । तस्मान्मुनिः शिष्यानुरोधेन परीक्षां तावद्वर्त्तयां बभूव ।
तदनन्तरमवशिष्टं जातिनिग्रहस्थानविशेषलक्षणं वर्त्तयति । ज-
ल्पवितण्डापरीक्षा चानन्तरं प्रवृत्ता तदङ्गं च जातिनिग्रहस्थाने
इत्यवान्तरसंज्ञतिरस्तीति सर्वमदातम् । विशेषोपयोगि सामान्य-
लक्षणमाह । तत्र जातिर्नामेति । प्रतिषेधबुद्ध्या प्रयुक्त इति
शेषः । आह्निकारम्भमाक्षिपति । जातेः प्रयोगप्रतिषेधादि-
ति । परिवर्जनं तु सामान्यज्ञानादपि भवन्न विशेषज्ञानमपेक्षत-
इति भावः । समाधत्ते नारम्भप्रयोजनस्योक्तत्वात् । एत-
देव स्मारयति स्वयं च सुकरः प्रयोग इति । प्राश्निकैः क-
तमा जातिरित्युक्ते स्वयं च सुकरः प्रयोग इति । अथ वा स-
द्विद्यानिद्विषा अधिक्षिप्ते तत्त्वे अद्वाय तन्निरासहेतावस्फुरति सा-
क्षिणां पुरत एकान्तपराजयाद्वरं संदेहोऽप्यस्तु कथं चित्परपराज-
योवेति बुद्ध्या पांशुभिरिवावकिरन् जातिं प्रयुङ्के । तेन हि लोके

तत्त्वमवस्थापितं भवति । अन्यथा ऽसन्मार्गप्रवृत्तो लोकः स्यात् ।
 न च नखचपेटादिभिर्दिद्याविद्वेषिणो निराकरणे तदुत्थापितकु-
 हेतुनिराकरणधीरस्ति लौकिकानाम् । तस्मान्न नखचपेटादय
 उपदेष्टव्याः शास्त्रकृतेत्यभिप्रायवानाह । साधुसाधननिराक-
 रणार्थं चेति । अतत्त्वविषयत्वेन परमार्थतो ऽस्माध्वपि साधन-
 मन्नाय दूषणस्याप्रतिभासनात्साध्वित्युक्तम् । लाभपूजाख्या-
 तिकामश्चेत्यन्वाचये चकारः । प्रसिद्धं तावत्तत्त्वपरिपालनं प्रयो-
 जनं तस्मिन्सत्येतदप्यन्वाचीयतइत्यर्थः । मतान्तरं निराकर्तुमुप-
 न्यस्यति । असाधुसाधनेति (५०३।२) तत्त्वाविषयमपि साधन-
 मसाध्विति विदितवान् वादकाले चाप्रतिभयाऽसाधुत्वोपपादनं न
 स्फुरति । असाध्वेतदिति स्मरन्नेवासौ जातिं प्रयुङ्क्ते तदिदमुक्त-
 मनभिज्ञतया साधनदोषस्येति । अथ वा जानन्नपि जातिं
 प्रयुङ्क्ते तस्य साधनस्य दोषप्रदर्शनार्थं प्रसङ्गव्याजेन मदीयं
 तावद्दूषणाभासम् एवं त्वदीयमपि साधनाभासं यदि त्वत्सा-
 धनं सम्यक् तदा मदीयमपि सम्यक् स्यादिति प्रसङ्गः तज्ज्ञा-
 जेन साधनं दूषयतित्यर्थः । तदेतत्परमतं दूषयति । एतत्त्व-
 ति । जात्यभिधाने हि पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोग-
 श्चेति द्वयं निग्रहस्थानं तस्माद्बुद्ध्वेत्युक्तम् । अथ न बुध्यते
 तत्किमिति जातिं प्रयुञ्जीतेति । यो हि सभादर्शनमात्रात्पू-
 र्वाभ्यस्तमपि विस्मरति तस्य कैव कथा अननुसंहितपूर्वजात्यु-
 ज्जाघनस्येति भावः । एतेन बुद्ध्वाऽबुद्ध्वा वेति विकल्पासम्भवेना-
 नैकान्तिके साधने प्रयुक्ते पञ्चानां साधर्म्यसमवैधर्म्यसमविक-
 ल्पसमसाध्यसमसंशयसमानां जातीनां प्रयोगः प्रत्युक्तः । पूर्वा
 परभाव इति । पूर्वस्य युक्तस्य साधनस्य युक्तमुत्तरम् । अप-
 रस्यायुक्तस्य साधनस्यायुक्तमुत्तरमिति । ननु साधर्म्यसमादी-

२-३सू० १प्र०] सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम् । ६७३

त्युच्यते । न च वस्तुतः साधर्म्यसमादीनां साम्यमस्ति स्थाप-
नया तथा सत्यजातित्वप्रसङ्गादित्यत आह । समीकरणार्थं प्र-
योग इति । आभिमानिकं साम्यं न वास्तवमित्यर्थः । साधर्म्यमेव
समं यस्मिन् प्रयोगइति शेषः । तदिदमुक्तं समार्थः साधर्म्य-
समार्थः समीकरणार्थः प्रयोगो द्रष्टव्य इति । एवं वैधर्म्य-
मेव सममित्यत्र विग्रहे स्वरूपेण साम्यमुक्त्वा विशेषहत्वभावेन
साम्यमाह विशेषहेत्वभावो वेति । ये त्वाहुः सर्वेष्वेवापदेशे-
षु सर्वासामेव जातीनां प्रयोग इति तान् प्रत्याह । सर्वोपदेश-
व्याप्तिः सर्वजातिप्रयोगस्य (५३१।२) । अपदेशो हेतुवचनम् ।
ये पुनः साधर्म्यसम इत्यादौ समशब्दस्तस्य साधनवादिजातिवा-
दिनोस्तुल्यार्थत्वाद् यादृशो वादी तादृशः प्रतिवाद्यपि साधर्म्येण
द्वौ समाविति मन्यन्ते तान्प्रत्याह न च वादिप्रतिवादिनो-
स्तुल्यता समार्थः प्रतिवादी जातिवादी विवक्षितः ॥ २ ॥

प्रतिषेधाविति सूत्रपूरणेन पुल्लिङ्गं समर्थयते । अन्यथा
जातेः प्रकृतत्वात्समानाधिकरण्येन साधर्म्यवैधर्म्यसमे इति स्यात् ।
तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः कृते साध्यविपर्ययोपपत्त्यर्थमित्यर्थः ।
भाष्ये निदर्शनं क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुण-
योगादिति । अस्ति खल्व्वात्मनः क्रियाहेतुगुणः प्रयत्नोऽदृष्टं
वा लोष्टस्यापि क्रियाहेतुगुणः स्पर्शवद्देगवद्द्रव्यसंयोग इति ।
एवमुपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवातिष्ठते निष्क्रिय
आत्मा विभुत्वादाकाशवदिति । अत्र च साधनमाभासमुत्तरं
च न जातिः विभुत्वस्याक्रियत्वेन स्वभावतः प्रतिबन्धात् । तेनै-
तदुपेक्ष्य वार्तिककार उदाहरणान्तरमाह । यथा ऽनित्यः शब्द
उत्पत्तिधर्मकत्वाद् । इदं तु सम्यक्साधनमुत्तरं त्वाभासमिति ।
साधर्म्योक्ते साधर्म्यसमः वैधर्म्योक्ते वैधर्म्यसमः । एवं साध-

म्योक्ते वैधर्म्यसमः वैधर्म्योक्ते साधर्म्यसम इति ॥ २ ॥

कथं पुनरियं जातिः, अथ प्रकरणसमोद्भावनं सम्यगुत्तरमेव कस्मान्न भवतित्यत आह । अनयोश्च साधर्म्यवैधर्म्यसमयोरुत्तरम् ।

गोत्वाद्गोसिद्धिचत्तिसिद्धिः (सू. ३) ॥ भवेदेवं यद्य-
न्वयव्यतिरेकमात्राद्धेतोर्गमकत्वं स्यात् ततो विशेषग्रहणाभावा-
त्प्रकरणसमत्वं भवेत् । न त्वेवं भवति स्वाभाविकसम्बन्ध-
भाजो गमकत्वात् । स्वभावसंबद्धं च कृतकत्वमनित्यत्वेन, न
त्वमूर्त्तत्वस्य नित्यत्वेन स्वाभाविकः सम्बन्धः बुद्धिकर्मादौ
व्यभिचारात् । तस्माद्गृह्यमाणविशेषत्वान्न प्रकरणसमः । यथा
गोत्वाद्गोः सिध्यति स्वाभाविकप्रतिबन्धात् । नतु सास्ना-
दिसंबन्धादिति भाष्यं सास्नादीत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः ।
तेन व्यभिचारिणः शृङ्गादयो गृह्यन्ते । वार्तिकम् एकस्यानन्व-
यादेकस्याव्यावृत्तेः । (५३२।११) एकस्य सत्त्वस्य गवा
ऽनन्वयाद् अश्वादौ व्यभिचारादनन्वयः । एकस्यैकशफत्वादे-
वैधर्म्यस्य गोष्वेवाऽव्यावृत्तेः महिषादावपि व्यावृत्तेरित्यर्थः ॥३॥

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्-
षापकर्षवर्ण्यवर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः (सू. ४) ॥ उ-
भयसाध्यत्वात्साध्यसमः । पञ्चानां जातीनां साध्यदृष्टान्तयोर्ध-
र्मविकल्पादित्यनेन पञ्चैव लक्षणानि सूचितानि । तानि च जा-
तिसमाख्याभिर्मिथो विशिष्यन्ते । अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्
घटवदित्युक्ते यदैवं प्रतिवादी प्रसङ्गेन प्रत्यवतिष्ठते यदि घटसा-
धर्म्यात्कृतकत्वादित्यतः शब्दः तस्मादेव घटसाधर्म्याद्रूपादिमता
ऽपि शब्देन भवितव्यम् । न चेरूपादिमात्मा भूतथा ऽनित्यो
ऽपि । न चास्ति विशेषहेतुः कृतकत्वादनित्येन भवितव्यं न पुना
रूपादिमतेति । सो ऽयं साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पाद्वैचित्र्याद्य-

त्रोत्कर्षं प्रसज्जयति स उत्कर्षसमः । एवं तदेव साध्यदृष्टान्तयो-
 र्धर्मवैचित्र्यमपकर्षेण विशिष्यमाणमपकर्षसमस्य लक्षणम् । सा-
 द्यदृष्टान्तयोर्धर्मवैचित्र्यात्स्वरूपेण साध्यासाधनत्वप्रसङ्गजनने
 वर्ण्यवर्ण्यसमौ । साध्यदृष्टान्तधर्मविकल्पहेतुकवर्ण्यत्वनिबन्धनं
 तु हेत्वाद्यवयवोगित्वप्रसङ्गनं साध्यसमः । अत एवोभयसाध्य-
 त्वादिति साध्यत्वं हेतुमाहसाध्य समस्य सूत्रकारः । भाष्यकारो
 ऽपि हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगीति ब्रुवाणस्तत्प्रसङ्गनं साध्यसमं
 मन्यते । तदेतद्वार्तिककृदाह । घटो वा ऽनित्य इत्यत्र को
 हेतुरिति । (५३३।९) न च यदि समाख्याभेदेन विशिष्यमाणं
 लक्षणपदं भिन्नार्थं तर्हि समाख्यापदान्येव लक्षणानि सन्तु कृतं
 लक्षणपदेनेति वाच्यम् । लक्षणपदसहितानामेव तेषां लक्ष्यभेद-
 प्रतिपादकत्वादिति ॥ ४ ॥

आसां षण्णां जातीनां प्रत्याख्यानम् ।

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धवैधर्म्यादप्रतिषेधः
 (सू. ५) ॥ यस्य धर्मिणः साध्यधर्मेण स्वाभाविकसंबन्धः सा-
 धको धर्म उपपद्यतउपपन्नो भवति स धर्मस्तस्य साध्यधर्मस्य
 साधनं साध्यधर्मिण्युपसंह्रियते । तथा च शब्देनेति । उपन-
 यपदेनेत्यर्थः । यत्पुनरेतद्विभागजाविभागजाविकल्पवन्नि-
 त्यानित्यविकल्प इति तत्राह । यथोत्पत्तिधर्मकत्वमन्वय-
 व्यतिरेकि नैवं विभागजत्वम् । अयमर्थः विकल्पसममुत्तरं
 वदता हि यथा सत्युत्पत्तिमस्वे घटो न विभागजः इति व्यवस्थितो
 विकल्पः एवं सत्युत्पत्तिमस्वे सत्यपि विभागजवच्छब्दो ऽपि नित्यो
 भविष्यति घटस्त्वनित्य इत्युक्तम् । तत्र तावदुत्पत्तिधर्मकत्वं यथा
 सत्यनित्यत्वे घटादौ दृष्टम् आकाशादिषु चासत्यनित्यत्वे न
 दृष्टं तेनानित्यत्वेन स्वभावप्रतिबद्धमवधारितं नैवमुत्पत्तिधर्मक-

त्वस्य विभागजत्वेनाविभागजत्वेन वा स्वाभाविकसंबन्धो गृहीतो
येनोत्पत्तिमत्किं चाद्विभागजं किं चिद्विभागजं न भवेत् । तस्मा
द्विकल्पसमं जात्युत्तरं वदता ऽतिनिर्वन्धेन विभागजत्वेन शब्दस्य
नित्यत्वं वक्तव्यं तद्वदमुपतिष्ठते यथोत्पत्तिधर्मकत्वमन्वयव्य-
तिरेक्यनित्यत्वं प्रति नैवं विभागजत्वं शब्दनित्यत्वं प्रत्यन्व-
यव्यतिरेकीति । तद्व्यसाधारणमित्यर्थः । असाधारण्यमाह । न
हि किं चिच्छब्दादन्यद्विभागाज्जायमानं नित्यमनित्यं
वा दृष्टम् । (५३४।१) ननु विभागजो विभागो ऽनित्यो दृष्ट
इत्यत आह । योक्तविशेषणमिति । कारणमात्रविभागपूर्वकः
शब्दो विभागजस्तु विभागः कारणाकारणविभागपूर्वकः इति
सिद्धं कारणमात्रविभागपूर्वकत्वमसाधारणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

षण्णां जातीनां प्रत्याख्यानमुक्त्वा वर्ण्यावर्ण्यसाध्यसमानामपरं
प्रत्याख्यानमाह ।

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः (सू. ६) इति ।
तद्याचष्टे दृष्टान्तः साध्य इति ब्रुवतेति । चतुर्दशविधजाति-
वादिनामिह दूषणमुपन्यस्यति । यच्चत्रोक्तं जातिनां पौन-
रुक्त्यमिति । लक्षणभेदाभ्यां किल लक्ष्यभेदाभेदौ लक्षणं चेद-
मेकमिति न षड्जातयः तस्माद्विकल्पसमायामेवोत्कर्षसमादीना-
मन्तर्भाव इत्यर्थः । दूषयति । न पौनरुक्त्यम् । तत्तल्लक्ष्यपदसहि-
तानि पञ्च लक्षणानि उभयसाध्यत्वाच्चेत्यनेन सह लक्षणानि ष-
डिति न केवलं लक्ष्यभेदात्प्रयोगभेददर्शनाच्च । शङ्कते । यदि ल-
क्ष्यभेदाज्जातिभेदस्तत्र आनन्त्यमिति चेत् । निराकरोति ।
नानवधारणादिति । न लक्ष्याणामवधारणमस्त्येषामानन्त्यात् ।
लक्षणोपग्रहेण चतुर्विंशतिर्जातय इत्यर्थः । लक्ष्याणां लक्षणाभेदे
ऽपि भेदे निदर्शनमाह । तथा हि प्रकरणसमैकेति । सुगम-

मितरत् ॥ ७ ॥

प्राप्त्यप्राप्तिसमाविति लक्ष्यपदम् । शेषं लक्षणम् । अस-
त्साध्यते न तु सत् । प्राप्तं च सत् । असतः प्राप्त्यसंभवात् । तस्मान्न
साध्यम् । अपि च येन यस्य प्राप्त्यस्तेन गङ्गा सागरं प्राप्ता सागरे-
णसङ्गता सागरेणाभिन्ना तद्देवाभिन्ने, चेत्साध्यसाधने नास्ति सा-
ध्यसाधनभावः तस्य भेदाधिष्ठानत्वादित्यपि द्रष्टव्यम् । अप्राप्ति-
समस्तु स्फुट एवेति । ननु प्राप्त्यप्राप्तिसमयोर्मिलितयोः साधन-
प्रतिषेधस्यैकत्वात् कथं प्राप्त्यप्राप्तिसमौ भिन्नावित्यत आह । अन-
योर्भेदोपदेशो विवक्षात इति (५३५।९) । साधनप्रतिषेधस्यै-
कत्वे ऽपि प्राप्य वा ऽप्राप्य वेति विकल्पभेदाच्चेदविवक्षेत्यर्थः ।
अभेदविवक्षायां त्वेकमेवोत्तरम् । यथा वृक्षाणां बहुत्वं विवक्षित्वा
बहुवचनप्रयोगो वृक्षा इति तद्वहुत्वसंख्याया एकत्वं विवक्षित्वै-
कवचनम् एकं वनमिति ।

उदाहरणेन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमिति जाति-
सामान्यलक्षणं मन्वानो देशयति । जातिलक्षणाभावादिति
परिहरति । न सूत्रार्थापरिज्ञानादिति । सूत्रे नोदाहरणसा-
धर्म्यं विवक्षितमपि तु येन केन चिद्विद्यमानेनासाध्येन साधर्म्यम् ।
अप्राप्तेन वा हेतुना साधर्म्यमिति न सामान्यलक्षणायोग इति ॥८॥

प्रत्याख्यानम्—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनादिति सूत्रं, तच्चाचष्टे मृत्पिण्ड-
प्राप्तानां दण्डादीनां न गङ्गासागरवदविशेषः । मृदवय-
वाः पूर्वव्यूहपरित्यागेनेति । (५३६।२) साध्यं कर्म तच्च
मृदवयवास्ते च सिद्धा एवेत्यव्यभिचारः । घटस्तु फलं न साध्य
इति भावः । कोऽप्राप्त्यर्थ इति । अप्राप्तस्य साधकत्वे ऽतिप्रसङ्ग
इति भावः । उत्तरं परस्परोपश्लेषमन्तरेण साधकत्वमिति ।

अन्यथा तूद्देशेनायं प्राप्त एव । यदुद्देशेनाभिचारः श्येना-
दिना क्रियते तस्यैव प्रसवायो भवति नान्यस्येति नियमः । अत्रा-
पि हेतुत्वं क्रियां प्रति दृष्टम् । यथा पङ्क्याख्यायां भुवि । सुग-
ममन्यत् ॥ ९ ॥

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात्प्रत्यवस्थानाच्च प्रति-
दृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ (सू. ९) ॥ दृष्टान्तस्य
कारणं प्रमाणं तस्यानपदेशात्प्रसङ्गसमः साध्यसमो हि
दृष्टान्ते साध्यवद्धेत्वाद्यवयवं प्रसज्यति । पञ्चावयवप्रयोगसा-
ध्यतां दृष्टान्तस्य गतस्यानित्यत्वस्य प्रसज्यतीत्यर्थः । प्रसङ्गस-
मस्तु दृष्टान्तगतस्यानित्यत्वस्य प्रमाणमात्रसाध्यतामित्यपौनरु-
क्त्यम् । भाष्यं साधनस्यापि । दृष्टान्तगतस्यानित्यत्वस्य सा-
धनं प्रमाणं वाच्यमिति । वार्त्तिकं घट एव तावदनित्य इ-
त्यत्र को हेतुरिति । अत्र किं प्रमाणमित्यर्थः । भाष्यं प्रति-
दृष्टान्त उदाह्रियते । क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशमक्रियं दृष्टं त-
स्मादनेन प्रतिदृष्टान्तेन कस्मात् क्रियाहेतुगुणयोगो निष्क्रियत्व-
मेव न साध्यतयात्मन इति शेषः । यदि पुनरियमनैकान्तिकदे-
शना स्यात् क्रियाहेतुगुणयुक्तस्याप्यक्रियत्वं दृष्टं यथा ऽऽकाश-
स्येति तद् एतत्सदुत्तरं स्यात् । न त्वेवमेतदिति जातिः । शङ्क-
ते । वाय्वाकाशसंयोगस्येति । निराकरोति । न तत्समान-
धर्मोपपत्तेः । तत्समानधर्मणो धर्मिणः क्रियावत्त्वोपपत्तेः । यदि
तथाभूतएवाकाशे कस्मान्न करोतीत्यत आह यस्त्वसाविति ।
(५३७.१) यस्तु मन्यते कार्योत्पादैक्यव्यङ्ग्यमेव कारणं न दृष्टकार्य-
कारणसाधर्म्यव्यङ्ग्यमपीति, तस्य दूषणान्याह यदि चेति । यदि
प्रज्ञापनार्थमुत्तरं नाप्रज्ञातो दृष्टान्तः । तत्र लौकिकपरीक्षकाणां
बुद्धिसाम्यादिति शेषः । स च कथमहेतुन स्यादिति (५३८।१)

९-१३सू०५प्र०] अनुत्पत्तिसंशयसमप्रकरणम् । ६७९

कथं हेतुः स्यादिति । अभ्युपगमादिति । मदीयस्य च दृष्टान्त-
स्याभ्युपगमान्न त्वदीयो दृष्टान्त इत्यर्थः । अथैवं प्रयुङ्गे यथा
मदीयो न दृष्टान्तस्तथा त्वदीय इति तथापि व्याघा-
तान्न दृष्टान्तो मदीयस्यादृष्टान्तत्वे साध्ये प्रतिदृष्टान्तेन हि तेन
मदीयस्या दृष्टान्तता साध्या, स चेन्न दृष्टान्तः मदीयस्यादृष्टा-
न्तता साध्येति व्याहतमित्यर्थः ॥९॥१०॥११॥

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः (सू. १२) ॥
उदाहरणपुरःसरं भाष्यकारो व्याचष्टे अनित्यः शब्दः प्रय-
त्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्त इति । तदभावात्कार-
णाभावादनित्यत्वस्य कार्यस्याभाव नित्यत्वं प्राप्तम् । नित्य-
त्वानित्यत्वाभ्यां राश्यन्तराभावादिति ॥ १२ ॥

तस्य प्रत्याख्यानम् ।

तथा भावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रति-
षेधः । (सू. १३) ॥ नित्यत्वेन हि शब्दस्य धर्मेणानुत्पत्त्या
प्रत्यवस्थेयम् । न चानुत्पन्नः शब्द इति नित्य इति चानुत्पत्ति-
धर्मक इति च सम्भवति । उत्पन्नस्तृप्तिधर्मा च शब्दश्चानि-
त्यश्चेति नानुत्पत्त्या शक्यं प्रत्यवस्थातुमित्यर्थः । कारणोपपत्ते-
रिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य प्रतिषेध इत्यर्थः । यदुक्तं कारणा-
भावादनित्यत्वस्य कार्यस्याभावे नित्यत्वं प्राप्तमिति तत्राह वा-
र्तिककारः । ज्ञापकश्चागं हेतुर्न कारक इति । कारको हि
हेतुर्निवर्तमानः स्वकार्यं निवर्तयति न तु ज्ञापकस्तदभावेऽपि
भूमौ चिरनिखातानां निध्यादीनामनिवृत्तरिति । ततश्च विशे-
षण मनर्थकं प्रागुत्पत्तेरिति । (५३९।४) प्रागसतो हि
सत्तासम्बन्ध उत्पत्तिः प्रागपि चेदसावभ्युपगतः प्रागिति विशे-
षणमनर्थकम् । उत्पत्तेरभावे सदैवानुत्पत्तिधर्मकत्वादित्यर्थः ।

अपरे तु प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादित्युक्ते अर्थापत्ति-
समैवेयं जातिरिति मत्वा ऽस्या उत्तरमाहुः यदैवमुच्येत
प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द इति तदर्थादप्रयत्नानन्तरी-
यकत्वे नित्यत्वमुक्तं भवतीत्यर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिस-
मैवेयं जातिरित्यभिमानः । एवं कृते तएवास्यां जातावुत्तरं
ब्रुवते नायं भिद्यम इति । तदेतत्परेषां मतं दूषयति । एत-
त्त्विति । शङ्कते । जातिलक्षणाभावाच्चेयं जातिरिति
चेत् । साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः न चानुत्पत्ति-
समायाः साधर्म्यं वैधर्म्यं वा ऽस्ति केन चिदित्यर्थः । निरा-
करोति । नानुत्पन्नैरहेतुभिः सारूप्यादिति । यथा ऽनुत्प-
न्नास्तन्तवो न पटस्य कारणं तथा शब्दोत्पत्तेः प्रागनुत्पन्नं
प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नानिसत्त्वस्य कारणमिति साधर्म्येण प्र-
त्यवस्थानमित्यस्ति सामान्यलक्षणमित्यर्थः । एतावता चार्थाप-
त्तिसमाया अनुत्पत्तिसमातो भेदो दर्शितः इहानुत्पन्नैरहेतुभिः
साम्येन कार्यप्रतिषेधात् अर्थापत्तिसमायां वाक्यार्थविपरीतारोपे-
ण प्रतिषेधादिति ॥ १३ ॥

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानि-
त्यसाधर्म्यात्संशयसमः (सू. १४) ॥ दृष्टान्तः प्रयत्नान-
न्तरीयकत्वस्य हेतोर्घट इति । यथा हि विशेषदर्शनं निश्चयस्य
कारणमस्तीति निश्चयोत्पत्तिरेवं साधर्म्यदर्शनमात्रमस्ति संशय-
स्य कारणमिति संशयेनापि भवितव्यमित्यर्थः । सूत्रार्थप्रयोजन-
माक्षेपसमाधानाभ्यां स्फुटीकरोति । संशयसमा साधर्म्य-
समाया इति ॥ १४ ॥

अस्य प्रत्याख्यानसूत्रम् ।

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा

संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः (सू. १५) ।

न सामान्यदर्शनमात्रं संशयस्य कारणमपि तु विशेषदर्शनसहितं विशेषदर्शने तु तद्रहितं न कारणमिति सूत्रार्थः । उभयथावेति । साधर्म्यविशेषदर्शनाभ्यामित्यर्थः । नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्येति । निसं संशयकारणत्वानभ्युपगमात्साधर्म्यस्येत्यर्थः ॥ १५ ॥

उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः । (सू. १६) ॥ उपलक्षणं चैतद् उभयसाधर्म्यादिति । उभयवैधर्म्यादित्यपि द्रष्टव्यम् । एतद्व्याचष्टे भाष्यकारः उभयेन नित्येन चानित्येन चेति । द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्प्रतिपक्षं प्रवर्तयति निसः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति । अथ द्वितीयसाधनप्रवृत्तौ प्रथमस्य साधनस्य किं भवतीत्यत आह । एवं च सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुरनित्यसाधर्म्येणोच्यमानो न प्रकरणमनिवर्तते । माऽतिवर्तिष्ठ प्रकरणं को दोष इत्यत आह । प्रकरणानतिवृत्तेर्निर्णयानतिवर्त्तनम् । निर्णयानिष्पत्तिरित्यर्थः । एवमानित्यसाधनवादिनं प्रत्युत्तरं दर्शयित्वा नित्यसाधनवादिनं प्रत्याह । समानं चैतन्नित्यसाधर्म्येणोच्यमान इति । तदेवं साधर्म्येण प्रकरणसमद्वयमुक्तं तथा वैधर्म्येण प्रकरणसमद्वयं नित्यानित्यसाधनवादिनावेव प्रत्याह । समानं चैतदिति । उभयवैधर्म्यादिति । नित्याकाशवैधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यघटवैधर्म्याच्चास्पर्शवत्त्वादिति । तदेवं प्रकरणसमचतुष्टयम् ।

पूर्वपक्षवार्तिकं संशयसमसाधर्म्यसमाभ्यामिति (५४० । १३) परिहरति । नोभयपक्षसाधर्म्यात्तदूभेदोपपत्तिरिति ।

प्रकरणसमे हि स्वपक्षनिश्चयेन मया वादिपक्षसाधनं दूषणीय-
मिति बुद्ध्या प्रवर्तते । साधर्म्यसमसंशयसमयोस्तु वादिसाधनेन
साम्यमात्रापादनेन तद्दूषणं, न तु प्रतिपक्षनिश्चयेनेति विशेषः ।
इह तु साम्यमात्रापादनं न साधनेन, किं तु दूषणैरित्येतावता
समर्थः प्रयोगः सम इति बोद्धव्यम् ॥ १६ ॥

अस्य प्रत्याख्यानम् ।

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिप-
क्षोपपत्तेः । (सू. १७) ॥

द्वयोः साधनयोस्तदानीमगृह्यमाणविशेषयोः कोऽयमभिमानः
प्रतिवादिनो यन्मया स्वपक्षसाधनेनैव वादिनः साधनं दूषणीयमि-
ति । समानबलयोश्चेदयमात्मीयात्साधनात्स्वपक्षसिद्धिमिच्छति
अतोऽनिच्छन्नपि वादिनापि साधनात्सिद्धिमभ्युपगमयितव्यः ।
अन्यथा स्वसाधनात्साध्यसिद्धिमुपजीव्य प्रतिपक्षसाधनं दूषयति
न तु तस्मात्प्रतिपक्षसिद्धिमभ्युपगच्छतीति व्यक्तमियं राजकुल-
स्थितिरिति । एवं व्यवस्थिते सूत्रभाष्ये योजयितव्ये । प्रतिप-
क्षात्प्रतिपक्षसाधनात्प्रकरणस्य प्रक्रियमाणस्य साध्यस्येति या-
वत् । सिद्धेः समानात् स्वसाधनात् प्रतिषेधस्य प्रतिवादिसाधन-
स्य स्वसाध्यसिद्धिद्वारेण परकीयसाधनप्रतिषेधस्यानुपपत्तिः ।
कस्मात्प्रतिषेधानुपपत्तिरित्यत उक्तं प्रतिपक्षोपपत्तेः । फलतः
परकीयसाधनस्य समानात्स्वसाधनात्प्रक्रियासिद्धिं स्वसाध्य-
सिद्धिं ब्रुवता प्रतिपक्षात्प्रक्रियासिद्धिरुक्ता भवति प्रतिवादिना ।
नन्वेवं प्रकरणसमावहयो हेत्वाभासो नोद्भावनीयः प्रतिवादिना
जात्युत्तरप्रसङ्गादित्यत आह । तत्त्वाऽनवधारणाच्च प्रक्रि-
यासिद्धिः । स्वसाध्यनिर्णयेन परसाध्यविघटनबुद्ध्या प्रति-
वादिना साधनं प्रयुज्यमानं प्रकरणसमजात्युत्तरं भवति ।

१८-२४सू०८-९प्र०] अहेत्वार्थापत्तिसमप्रकरणम् । ६८३

सत्प्रतिपक्षतया वादिनः साधनमनिश्चायकं करोमीति बुद्ध्या
प्रतिपक्षसाधनं प्रयुञ्जानो न जातिवादी सदुत्तरवादित्वात् ।
सत्प्रतिपक्षतया हेतुदोषस्यानैकान्तिकादिवदुपपादितत्वात् ।
तत्त्वानवधारणादिसनेन प्रकरणसमोदाहरणं दर्शितम् । वार्तिकं
विरुद्धाव्यभिचार्येष उक्तोत्तर इति । तुल्यबलयोरेकतर-
स्मात्स्वसाध्यसिद्धिमभ्युपगच्छतोर्द्वयोरपि फलतो व्यभिचारः
सिध्यति । न च विरुद्धाव्यभिचारी सम्भवति । अव्यभिचारो
ह्यविनाभावः स च पञ्चरूपसम्पत्तिश्चतुरूपसम्पत्तिर्वा न वि-
रुद्धाव्यभिचारिणि साऽस्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः (सू. १८) ॥ सूत्रभा-
ष्यवार्तिकानि प्रमाणसामान्यपरीक्षाव्याख्यानेन व्याख्यातानि
॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

अर्थापत्तिः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः (सू. २१) ॥
उदाहरणपुरःसरं सूत्रं योजयति । अनित्यः शब्द इति ।
अनित्यसाधर्म्यादनिसं शब्दं ब्रुवाणो भवाननक्षरं निससाध-
र्म्यान्नित्यत्वं शब्दस्य ब्रूतइत्यर्थः । न साधर्म्यसमादौ वाद्यभि-
प्रायवर्णनमित्यतो भेदः ॥ २१ ॥

अस्य प्रत्यादेशसूत्रम् ।

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनै-
कान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः (सू. २२) ॥

तद्याचष्टे अनुपपाद्य सामर्थ्यामिति । तदेव खल्वनुक्तं वच-
नाल्लभ्यते यत्कल्पनमन्तरेण वचनार्थो न घटते यथा पीनो देवदत्तो
दिवा न भुङ्कइत्युक्ते रात्रौ भुङ्कइति । यथा वा यागेन स्वर्गं भाव-
येदित्युक्ते ऽन्तराऽपूर्वं कृत्वेति वाक्यार्थोपपादने तस्य सामर्थ्यात् ।
न त्वव्यभिचारिणः साधर्म्यात्साध्ये साध्यमाने ऽर्थादुक्तं भवति

व्यभिचारिणा ऽपि साधर्म्येण साधयितव्यमिति । तस्य वा-
क्यार्थोपपादने ऽसामर्थ्यात् । तदन्तरेण वाक्यार्थोपपत्तेः ।
यदि पुनरनुपलब्धसामर्थ्यमनुक्तमपि गम्येत ततस्त्वया निस-
त्वापादने शब्दस्योच्यमाने ऽनुच्यमानमनित्यत्वं प्रत्येतव्यम् ।
तथा च भवदभिमतस्य नित्यत्वस्य व्यावृत्तिः । तदिदमाह
अनित्यपक्षस्यानुक्तस्य सिद्धावर्थादापन्नं नित्यपक्षस्य
हानिरिति । त्रिपर्ययेणापि प्रत्यवस्थानसम्भवात् । अनैकान्ति-
कत्वमाह उभयपक्षसमा चेयमिति । व्यभिचाराच्चानैका-
न्तिकत्वमाह । न चेयं विपर्ययमात्रादिति । न हि भोज-
ननिषेधादेवाभोजनविपरीतं सर्वत्र कल्पते । घनत्वं हि ग्राव्णः
पतनानुकूलगुरुत्वातिशयसूचनार्थं न त्वितरेषां पतनं वारयति ।
वार्त्तिकं सुबोधम् ॥ २२ ॥

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भा-
वोपपत्तेरविशेषसमः (सू. २३) ॥

यदि घटसाधर्म्यात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटेनाविशेषो ऽनि-
त्यत्वाख्यः शब्दस्य सत्त्वात्साधर्म्यात्सर्वेषां सर्वाविशेषप्रसङ्गः । न
त्वेवं यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वादपि साधर्म्यान् शब्दघटयोरनिस-
त्वमविशेष इति प्रतिषेधो ऽविशेषसमः । अविशेष इत्यस्य विवर-
णमुभयोरनित्यत्ववृत्तिः । देश्यं वार्त्तिकं साधर्म्यसमाप्तौ न
भिद्यते इति (५४२।६) । परिहारवार्त्तिकं नैकसमस्तोति ॥ २३ ॥

अस्य प्रत्यादेशसूत्रम् ।

क्व चित्सिद्धमानुपपत्तेः क्व चिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधा-
भावः (सू. २४) ॥

क्व चित्साधर्म्ये प्रयत्नानन्तरीयकत्वादौ सति शब्दा-
देर्घटादिना सह तद्धर्मस्य घटधर्मस्यानित्यत्वस्योपपत्तेः क्व
चित्साधर्म्ये शब्दस्य भावमात्रेण सह सत्त्वादौ भावमात्रधर्मस्या-

नुपपत्तेः प्रतिषेधाभाव इति योजना । एतदुक्तं भवति अविना-
 भावसम्पन्नं साधर्म्यं गमकं न तु साधर्म्यमात्रमिति । सद्भावो
 पपत्तिनिमित्तमिति सद्भावव्यापकमित्यर्थः । अत्रान्तरे वैना-
 शिकः सत्ताव्यापकमनित्यत्वं मन्वानो देशयति । अथ मतम-
 नित्यत्वमेव धर्मान्तरमिति । निराकरोति । एवं खलु
 वै कल्प्यमान इति । पूर्वपक्षोत्तरपक्षनिर्वाहस्तृतीये प्रपञ्चितः ।
 अपि च सन्तः के चन प्रमाणावधृतनित्यत्वाः यथा ऽऽकाशदि-
 गात्मपरमाणवः, के चित्प्रमाणविनिश्चितानि सभावा यथा घटाद-
 यः तस्मात्सत्त्वमनैकान्तिकत्वादसाधकमित्याह सतश्च नित्या-
 नित्यभावादिति । अपि च यत्प्रतिषेधाय प्रसङ्गापादनं तदेव
 प्रतिषेध्यं साधयति, न तु निषेधतीत्याह सर्वभावानां स-
 द्भावोपपत्तेरिति । वार्तिकं क्वचित्साधर्म्यमुपलभ्य-
 त इति । व्याप्यतयेति शेषः । अथ शब्दवर्जमुच्यत इति
 तत्राह व्यर्थं वा सर्वभावग्रहणम् । उक्तश्च विशेषो
 ऽन्वयव्यतिरेकसंपन्नो हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न
 तूत्तरः सद्भावोपपत्तेरित्यन्वयव्यतिरेकसम्पन्न इति ॥ २४ ॥
 उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः (सू. २५) ॥ य-
 द्यनित्यत्वकारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुपपद्यते तदस्ति शब्द-
 स्येत्यानित्यः शब्द इति । प्रकरणसमायां जातौ पक्षप्रतिपक्षसाधन-
 योः समानबलत्वे ऽपि प्रतिवादी स्वसाधनात्स्वपक्षसिद्ध्या वा-
 दिसाधनदूषणे प्रवर्तते, उपपत्तिसमायां तु स्वसाधनेनैवेति वि-
 शेषः ॥ २५ ॥

अस्य प्रत्यादेशसूत्रम् ।

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः (सू. २६) ॥

वाद्याभिमतस्य साधनस्योपपत्तौ यत्कारणं तस्य प्रतिवादिना

ऽभ्यनुज्ञानादिति भावः । प्रकरणसमप्रत्याख्यानवदस्यापि प्र-
त्याख्यानं द्रष्टव्यम् । सुगमे भाष्यवार्तिके ॥ २६ ॥

निर्दिष्टकारणाभावे ऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः (सू.
२७) ॥ अनित्यत्वकारणस्येति । ज्ञापकस्येत्यर्थः । ननु य-
द्वृत्तयोगप्राथम्ययोः साधनधर्मो विषयो न तु साध्यधर्मः स हि
तद्वृत्तयोगस्य विषयः एवं प्रयुज्यते यो यः प्रयत्नानन्तरीयकः
स सर्वो ऽनित्यः अनेन हि प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यादन्यतो
व्यावर्तितम् । अनित्यत्वं त्वनियतं स यद्यप्रयत्नानन्तरीयके शब्दे
ऽन्यत्र वा भवेत् कः प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वनियमविरोधः
एवं हि स भवेद् यदि नित्यो ऽपि प्रयत्नानन्तरीयको दृश्येत न त्वे-
वमस्ति, तस्मादुपलब्धिसमाया उत्थानमेव नास्ति बीजाभावादित्यत
आह वार्तिककारः सर्वसाध्याध्यारोपेणाव्यापकत्वं साधन-
स्येत्युपलब्धिसमार्थः ॥ (५४३।७) यद्यपि वर्णात्मकः शब्दो ऽनि-
त्यत्वेन साध्यतया विवक्षितः प्रकरणादनित्यः शब्दः प्रयत्नान-
न्तरीयकत्वाद् घटवादिति तथा ऽपि शब्दमात्रमनेन पक्षीकृतमि-
त्यारोप्य भागासिद्धत्वारोपणं साधनस्येत्युपलब्धिसमार्थः । समा-
रोपमेवोदाहरणान्तरेण दर्शयति । सर्वमनित्यमिति शब्दो नित्य
इति प्रतिज्ञायामपि सर्वमनित्यमित्यारोप्येति योजना । भाष्यका-
रोदाहरणापरितोषश्चोदाहरणान्तरप्रदर्शनबीजम् । यस्त्वनित्यः
शब्द इति प्रतिज्ञायां सर्वानित्यत्वारोपो निर्वीज इति न तुष्यति
तं प्रत्याह । श्रूयमाणेति । यद्यप्यनित्यः शब्द इति श्रूयते त-
था ऽपि सामर्थ्यादाद्य इति विवक्षितः । शब्दान्तरोत्पादकत्वं
सजातीयोत्पादकत्वमिति । एवं च सायोगव्यवच्छेदेन शब्दानि-
त्यत्वं हेतुरव्यापकत्वात् । नाप्यन्ययोगव्यवच्छेदेन हेत्वन्तरस्य
विद्यमानत्वादिति जातिवादिनो ऽभिसंधिरिति ॥ २७ ॥

अस्य प्रसाख्यानसूत्रम् ।

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः (सू. २८) तद्व्याचष्टे । प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति ब्रुवतेति । कारणतः प्रयत्नाच्छब्दस्योत्पत्तिनियमो विधीयते वर्णानामनित्यत्वं साधयितुम् । न तु कार्यस्य कारणनियमः, प्रयत्नादेव सर्वः शब्दो जायते न तु वायुसंयोगाद्बुधभङ्गादिति नियम उच्यते येनाव्यापकत्वं हेतोः स्यादिति । सूत्रार्थस्तु कारणान्तरादपि ज्ञापकान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेः साध्यधर्मोपपत्तेरप्रतिषेध इति । एतदेव वार्तिककारो व्याचष्टे अनित्यः शब्द इति ब्रुवता प्रयत्नानन्तरीयकत्वेनेति शेषः । साध्यान्तराणां शाखाभङ्गजशब्दानां कारणमनित्यत्वज्ञापकं न प्रतिषिध्यते । यद्यपक्षीकृतानामपि कारणान्तरादनित्यत्वं भवति कामं भवत्वित्यर्थः । नापि शब्दस्य साध्यस्यानित्यत्वे कारणान्तरं प्रत्ययभेदभेदित्वादि प्रतिषिध्यते । एकदेशिमतमाह । अपरे तु परिहारं ब्रुवते यदेव प्रयत्नानन्तरीयकमिति । तदेतद् दूषयति एतत्तु नाविवादादिति । अयमपिमंथिः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वं हि कोष्ठ्यस्य वायोः क्रियायाः सा हि प्रयत्नवदात्मसंयोगाज्जायते । वायोः पुनरुरःस्थानादिषु संयोगविभागादयो न प्रयत्नानन्तरीयकाः प्रागेव तु शब्दः यदा चायं शब्दस्येयं गतिस्तदा कैव कथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वे ऽन्त्यस्य श्रवणविवरसमवायिनः श्रूयमाणस्य शब्दस्य । तस्माद्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दस्य विना प्रमाणेन प्रतिपद्यते न तं प्रति किं चित्साध्यते प्रमाणेन । प्रमाणानधीनस्य प्रतिभासमात्रेण प्रमेयसिद्धेः सर्वत्र सुलभत्वादिति । तदनेनापरितोषबीजमुक्तम् । अभ्युपेत्य शब्दस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वमाह । यदा

तु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमिति । देशयति । जातीति ।
परिहरति नेति ॥ २८ ॥

अनुपलब्धिसमप्रतिषेधस्य लक्षणं दर्शयितुं तत्प्रतिषे-
ध्यं तावदाह भाष्यकारः । न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्या-
नुपलब्धिरिति । तस्मादुदकादिवदावरणादिरस्यानुपलम्भ-
कारणं भवतीत्यत आह । गृह्येत चैतदस्याग्रहणकारण-
मिति । प्रतिषेध्यमुक्त्वा प्रतिषेधस्य जातेर्लक्षणमाह ।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतो-
पपत्तेरनुपलब्धिसमः (सू. २९) ॥

व्याचष्टे तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपपद्यते ।
उपलभ्यमानत्वे उपलब्धिरूपतया अनुपलब्धित्वानुपपत्तेः । तथा
चानुपलब्धेरनुपलम्भादनुपलब्धिर्नास्तीत्यावरणाद्युपलब्धिसिद्धि-
रिति । आवरण इवावरणानुपलब्धिरप्यनुपलब्धिसमेत्यर्थः ॥ २९ ॥

अस्य प्रत्यदेशसूत्रम् ।

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः (सू. ३०) ॥
आवरणाद्यनुपलब्धिरावरणादीनामभावं गमयति । न त्वात्मनो
ऽभावमावरणाद्युपलब्धिरूपं न ह्यसावनुपलब्धिरप्यात्मनो येना-
त्माभावं गमयेत् । उपलब्धिरप्युपलभ्यविषया नात्मविषया किं
पुनरनुपलब्धिः । तस्मादनुपलब्धिरूपलभ्याभावहेतुः न हेतुरा-
त्माभावस्य तथा सति सैव न स्यादिति न स्यादुपलभ्याभावो
ऽपीत्यावरणं तदुपलब्धिश्च स्यादिति । तदिदमाह भाष्यकारः ।
अनुपलम्भादित्ययमहेतुरिति । कस्मात् । अनुपलम्भा-
त्मकत्वादनुपलब्धेः । एतद्व्याचष्टे उपलम्भाभावमात्रत्वा-
दिति । मात्रग्रहणेन जातिवाद्यभिमततात्माभावरूपतां व्यवच्छिन्त-
ति । नन्वियमनुपलब्धिर्भवदुपलम्भाभावो मा च भूदुपलभ्यस्य

किमायातमावरणाद्यभावस्येत्यत आह । यदस्ति तदुपलब्धेर्वि-
षय उपलब्ध्या तदस्तीति विज्ञायते । न पुनरनुपलब्धेरनुप-
लम्भात्मतया तत्प्रतिज्ञेयमिति भावः । अनुपलब्धेः प्रज्ञेयमाह ।
यन्नास्ति सोऽनुपलब्धेरिति । ननु ज्ञायतां किमेतावता
ऽपीत्यत आह । सोऽयमावरणाद्यनुपलब्धेरनुपलम्भ
इति । त्वया हि जातिवादिना आवरणाद्यनुपलब्धेरनुपलम्भे-
नावरणोपलम्भमावरणं च प्रसज्यताऽनुपलम्भस्य स्वविषय-
लोपेन प्रत्यवस्थेयम् । एवं चेद्वरमस्यावरणतदुपलम्भौ विषयौ
एवमनेन भावाभावबुद्धिव्यपदेशव्यवहाराः सकललोकयात्रावा-
हिनोऽनुकूलिता भवन्ति, तदिदमुक्तं सोऽयमावरणाद्यनुप-
लब्धेरनुपलम्भ आवरणोपलम्भनिषेधविषयं प्रमाणमुपलब्ध्य-
भावेऽनुपलब्धौ स्वविषये प्रवर्त्तमानो न स्वविषय
मनुपलब्धिं प्रतिषेधति अपि तूपलब्धिमेव, जातिवादिनस्तु
निषेध्येत तथा च सर्वलोकव्यवहारः समुच्छिद्येतेति भावः ।
अप्रतिषिद्धा चावरणाद्यनुपलब्धिरावणादीनामभावं प्रति
हेतुत्वाय कल्पते । ननु च नानुपलम्भमात्रमभावग्रहहेतुः मा
भूच्चन्द्रमसः परभागे हरिणसदसद्भावसंशय इत्यत आह । आ-
वरणादीनि त्विति । उपलब्धं वोपलब्धिर्वा नानुपलम्भमात्रा-
न्नास्तीति सिध्यति, अपि तु दर्शनयोग्यं सदिति नातिप्रसङ्ग
इत्यर्थः । ननुपलब्धेः स्वविषयस्य प्रतिपादिकाया अभावादाव-
रणादयो मा नामोपलब्ध्यन्ताम् अभावस्तु तेषां कुतस्त्य इत्यत
आह अनुपलम्भात्प्रतिषेधकात्प्रमाणादनुपलब्धेर्यो विषयः
उपलब्ध्याभावः स गम्यते । न सन्त्यावरणादीनि शब्द-
स्याग्रहकारणानीति । तत्किमिदानीं साक्षादेवोपलम्भनिषेधकं
प्रमाणमुपलब्ध्याभावं गमयति नेत्याह । अनुपलम्भात् उपलब्धि-

निषेधकात्प्रमाणानुपलब्धिरावरणस्य सिध्यति । कस्मादित्यत आह । विषयः स तस्योपलब्धिनिषेधकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धिः ततश्चावरणाद्यभाव इति द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

न केवलं निषेधविषयप्रमाणगम्यताऽनुपलब्धेरुपपत्तिगम्या, अपि तु सर्वजनप्रत्यात्मवेदनीयेत्याह सूत्रकारः ।

ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेनादध्यात्मम् (सू० ३१) ॥ व्याचष्टे अहेतुरिति वर्तते । शरीरइति । प्रागुच्चारणाच् शब्दस्यानुपलब्धेरसत्त्वे साध्यमाने ऽनैकान्तिकत्वं स्याद् यदि तु पश्चाद्विशिष्येत आवरणाद्यसंभवे सतीति ततो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं स्यादित्याशङ्क्य वार्तिककार आह । आवरणाद्यसंभवे सत्त्वाभ्युपगमे च सत्यनुपलब्धेरिति प्रयोगः ॥ (५४४।८) सत्त्वाभ्युपगमे चेत्यस्योपादानप्रयोजनमाह । आवरणाद्यसंभवे सत्त्वाभ्युपगमे विपर्ययस्याव्यभिचारान्नार्थापत्तिसमः । अयमर्थः । यद्यावरणाद्यसंभवे सत्यनुपलब्धेरित्युच्यमाने कश्चिदार्थापत्तिसमया जात्या प्रत्यवतिष्ठते आवरणाद्यसंभवे सत्यनुपलब्धेरित्युच्यमाने अर्थादापातितमावरणादिसंभवे सत्युपलब्धेरिति । यदा तु सत्त्वाद्यभ्युपगम इति विषयविपर्ययस्मूच्यते तदावरणाद्यसंभवे सत्यनुपलब्धेरसत्त्वमित्यस्य विपर्यय एवं प्रयोक्तव्यः । सत्त्वोपगमे चावरणाद्यसंभवे सत्युपलब्धेतेति अस्य विपर्ययस्याव्यभिचाराद् नार्थापत्तिसम इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

साधर्म्यात्तुल्यधर्नोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः (सू० ३२) ॥ अस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां सत्त्वं साधर्म्यमिति ॥ ३२ ॥

अस्य प्रत्याख्यानसूत्रम् ।

साधर्म्यादासिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसा-

३३-३७सू० १४-१५प्र०] अनित्यनित्यसमप्रकरणम् । ६९१

धर्म्याच्च (सू० ३३)

तदिदं जातिवादिना साम्यमापाद्य परमार्थप्रतिषेधमाह ।

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः (सू० ३४) ॥ साधर्म्यमात्रं चाश्रित्यसाध्या विनाभावरहितमिति । देश्यवार्तिक-मविशेषसमात इति । परिहरति भिद्यतइति । यच्चाविशेषसमउत्तरमिति । (५४५१७) सर्वानिसत्त्वं हि प्रसञ्जयता न शब्दानित्यत्वं निषिद्धं भवतीति तत्रोक्तमित्यर्थः । अत्र शङ्कते नासाधनादिति । परिहरति । न विशेषहेतूपपत्तेरिति । सुगममन्यत् ॥३४॥

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यस-
मः (सू० ३५)

धर्मस्य सर्वदा भावाद्धर्मिणो ऽपि सर्वदा भावः न ह्यस्ति संभवः सामान्यसमवायातिरिक्तधर्मा नित्या धर्मी चानित्य इति ॥३५॥

अस्य प्रत्यादेशसमुत्रम् ।

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोप-
पत्तेः प्रतिषेधाभावः (सू० ३६)

नित्यमनित्यभावादिति हेतोरभ्युपगमे ऽनभ्युपगमे च दोष इत्यर्थः । उत्पन्नस्य निरोधादभावः शब्दस्यानिसत्त्वम् । तत्र च परिप्रश्नानुपपत्तिः । यदि हि निरोधकादभावो ऽनित्यत्वं तथाऽपि प्रश्नानुपपत्तिः । अथाप्यस्मन्मते समवा-यस्तथा ऽपि तदनुपपत्तिः अनित्यत्वं हि शब्दस्यापरान्तावच्छिन्नसत्तासमवायः । न चासौ शब्दाधेयस्तस्य स्वतन्त्रत्वादेवेत्यर्थः । वार्तिकम् । पृथग्धर्मत्वेनानित्यत्वस्यानभ्युपग-

मादिति । (५४६/८) अनात्यन्तिकसत्तासमवायो ह्यनित्यता
न चासौ समवायात्पृष्ठधर्मो न च समवायो ऽपि धर्मो ऽनाश्रि-
तत्वात्पारतन्त्र्येण तु निरूपणात्कथं चिद्धर्मीत्युच्यतइति । अ-
पि चानात्यन्तिकसत्तायोगो ऽनित्यतेत्युक्ते न युक्तः
प्रश्न इति । न हि घटमानयेति प्रेषितः परिवृत्य पृच्छति किं
घट आनेतव्य उत पट इति तादृशमेतदित्यर्थः । अपि चानि-
त्यता नित्या ऽनित्या वेति विकल्पो नावतरति विरोधादित्यत
आह । आत्यन्तिकानात्यन्तिकभावयोगश्चैकस्थेति । शङ्कते
प्रतिषेधेति । एवमभ्युपगच्छतो ऽयं दोष इत्येतत्परमेतद् न तु
स्वपक्षोपवर्णनपरमेतदिति शङ्कार्थः । निराकरोति न विकल्पा-
नुपपत्तेरिति । विरोधस्य चोक्तोत्तरत्वादिति । परिप्रश्ना-
नुपपत्तेरित्युत्तरं विरोधस्योक्तमित्यर्थः ॥३६॥

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः (सू. ३७)

उदाहरणपूर्वकमस्यार्थं व्याचष्टे प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद-
नित्यः शब्द इति । कार्यत्वानित्यत्वे च परस्परासंकीर्णे
प्रथमएवाध्यायेदर्शिते । उदाहृत्य जातिमवतारयति । एवमवस्थिते
प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यत इति । प्रयत्नानन्त-
रीयकत्वं प्रयत्नानन्तरोत्पादो वा स्यात् प्रयत्नानन्तरोपलम्भो वा ।
न तावत्पूर्वः कल्पो ऽसिद्धत्वात् । तस्मात्प्रयत्नानन्तरोपलम्भआ-
स्थेयः तत्र कार्यसमं प्रतिषेधमाह प्रयत्नानन्तरमुपलभ्यमानानां
प्रयत्नानन्तरमात्मलाभश्च दृष्टो यथा घटादीनां व्यवधा-
नापोहाद्याभिव्यक्तिर्व्यवाहितानां मूलककीलकादीनां, त-
त्किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्याहो स्विदाभि-
व्यक्तिरिति विशेषो नास्ति । तदेवं कार्याविशेषेण प्र-
त्यवस्थानं कार्यसमः । येन तु कार्यसमा जातिरन्यथैवोक्ता

तद्यथा ऽनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते अन्यद् मृत्पिण्डा-
दिकार्यत्वं घटस्य अन्यच्च विवक्षाप्रयत्नवायुप्रेरणाभिधातकार्यत्वं
शब्दस्य तस्माच्छब्दकृतकत्वस्य घटादिकृतकत्वाद्भेदान्न साधनं
कृतकत्वमनित्यत्वस्येति । सेयं कार्यान्यत्वेन प्रत्यवस्थानात्का-
र्यसमेति । तदाह कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनं त-
त्कार्यसममिति भदन्तेनोक्तम् । कीर्तिरप्याह ।

‘साध्येनानुगमात्कार्यसामान्येनापि साधने ।

सम्बन्धिभेदाद्भेदोक्तिर्दोषः कार्यसमो मत’ इति ॥

तदनेन यदीश्वरसाधननिरालरणायोक्तम्—तनुगिरि-
सागरादीनामन्यत्कार्यत्वम् अन्यच्च प्रासादाष्टालगोपुरादीना-
मिति तदपि जात्युत्तरमेवेत्युक्तं भवति । न च प्रसङ्गदृश्यमानं
बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुविधानं सौधादीनामिव तनुभुवना-
दीनां नास्तीत्येतावता भेदेन कार्यभेदे शब्दमात्राभेद इति
सांप्रतम् । अभूत्वा भावलक्षणस्य कृतकत्वस्य संस्थानवत्त्वस्य
वा वस्तुन एवाभेदात् । तस्मादेतदप्युक्तम् ।

‘वस्तुभेदे प्रवृत्तेऽपि शब्दसाम्यादभेदिनः ।

न युक्ता ऽनुमितिः पाण्डुरद्रव्यादिव हुताशने’ ।

न चेयं जातिरुत्कर्षापकर्षसमाभ्यां भिद्यते साध्यदृष्टान्त-
योर्धर्मविकल्पेन प्रवर्तमानत्वाच्चस्मात्सूत्रकारोक्त एव कार्यसमो-
संकीर्ण इति युक्तमुत्पश्यामः ॥३७॥

अस्य प्रत्यादेशसूत्रम् ।

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः

(सू० ३८) ॥

कार्यस्यात्पत्तिर्न लक्षणस्यान्यत्वे ऽभिव्यक्तिलक्षणात्कार्या-
त्प्रयत्नस्याभिव्यक्तिं प्रसहेतुत्वं न भवतीत्यत आह । अनुपलब्धि-
कारणस्यावरणादेरुपपत्तेरभिव्यक्तिहेतुत्वं स्याद् एवं तु नास्तीति

व्यतिरेकपरं द्रष्टव्यम् । सति कार्यान्यत्वइति भाष्यं सूत्रवद्यो-
जनीयम् । यत्र प्रयत्नानन्तरमित्यत्र यत्रतत्रयोर्व्यत्यासः तत्र
प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिर्यत्रानुपलब्धिकारणं व्यवधा-
नमुपपद्यतइति । कस्मादनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नाभिव्य-
ञ्जयत्वमित्यत आह । व्यवधानायोगाच्चेति । (५०५१) चो हेत्व-
र्थे । प्रयत्नानन्तरभाविन इति । विषयेण विषयिणमुपलक्षयति
प्रयत्नानन्तरभाविन इत्यर्थः । अनुपलब्धिकारणोपपत्तेरित्यस्य
व्यतिरेकप्रधानतामाह । न तु शब्दस्यानुपलब्धीति । देश-
वार्तिकं संशयसमाप्त इति । (५४७१७) परिहरति उभयसा-
धर्म्यादिति ।

विशेषानुपलब्धौ सत्यामुभयसाधर्म्यात्संशयस-
मः । इदं तु विशेषोपलब्धिमविवक्षित्वेति विशेषः । तदिदमुक्त-
मयं तु न तथेति । देशयति साधर्म्यसमाप्त इति । निराकरो-
ति न हेत्वध्यारोपणादिति । प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्ययं प्र-
यत्नानन्तरमुपलब्धेरित्यध्यारोप्य प्रतिषिध्यते । साधर्म्यसमे तु
नारोपणमित्यर्थः । तदेवं जात्युत्तरवादिनं प्रति साधनवादिना
सर्वत्रैव सम्यक् समाधानं स्वसाधनस्य वक्तव्यम् । एवं सति
तत्त्वनिर्णये कथापर्यवसानं भवति ॥ ३८ ॥

यदि पुनर्वाद्यपि जातिवादिनं प्रति साधनाभासेन प्रत्य-
क्षतिष्ठते ततः षट्पक्ष्यां सत्यां न तत्त्वनिर्णयावसाना कथा
भवेदिति शिष्यहितः सूत्रकारः समाधानाभासवादिनं प्रति षट्-
पक्षीमवतारयति ।

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः (सू. ३९) ॥

तदेतत्सूत्रावतारपरं भाष्यं हेतोश्चेदनैकान्तिकत्वमुपपा-
द्यते प्रतिवादिने ऽनैकान्तिकत्वादसाधकः स्यादिति । यदि

चानैकान्तिकत्वादसाधकं वादिनो वचनं प्रतिषेधे ऽपि समानो
दोषः । यो ऽयं प्रयत्नकार्यनैकत्वादिति प्रतिषेधो जातिवादिनः
सो ऽप्यनैकान्तिकः । एवं ह्यैकान्तिकः स्याद्यदि सर्वमेव प्रतिषेधेद्
यतस्तु किं चित्प्रतिषेधति किं चिच्च न, तस्मादयमनैकान्तिकः
अतो ऽसाधक इत्यर्थः । व्याख्यानन्तरमाह । अथ वा शब्दस्ये-
ति । निरूपक्षो ऽभिव्यक्तिर्नोत्पाद एवमनित्यपक्षे । उत्पादो ना-
भिव्यक्तिरित्ययं विशेषो न सिध्यत्ययं प्रतिषेधे ऽपि समानो
दोष इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

न केवलमस्यां जातावयं समाधानाभासो वादिनो ऽपि तु
सर्वत्रैव जाताविति शिष्यान् शिक्षयति सूत्रकारः ।

सर्वत्रैवम् (सू. ४०) ॥

अस्मिन्समाधाने प्रयुक्ते वादिना पुनर्जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते ।
प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः (सू. ४१) ॥
प्रतिषेधो जातिवादिनस्तस्य विप्रतिषेधो मूलसाधनवादिनस्त-
स्मिन्स्तुल्यो दोष इति जातिवादिनः प्रत्यवस्थानमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

अथ पञ्चमं पक्षं साधनवादिनश्चतुर्थपक्षवादिनं प्रति
मतानुज्ञापाषादनमाह ।

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समा-
नो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा (सू. ४२) ॥

सयं मतानुज्ञा तृतीये पक्षे पञ्चमपक्षवादिनो ऽपि साधन-
वादिन इति जातिवादी षष्ठपक्षस्थित आह ।

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारहेतुनिर्देशे परप-
क्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोषः (सू. ४३) ॥ स्वपक्षणे
लक्ष्यते तदुत्थानत्वाज्जातिः स्वपक्षलक्षणा अनैकान्तिकत्वो-
द्भावनलक्षणा तामभ्युपेत्य अनुद्धृत्य प्रतिषेधे ऽपि जातिलक्षणे

विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पाद्वैचित्र्यान्निग्रहस्थानब-
हुत्वमिति सङ्क्षेपेणोक्तं तदिदानीं विभजनीयम् । तत्र य
एवमाहुः सर्वोऽयं साधनदूषणप्रकारो बुद्ध्यारूढो न वास्तव इति ।
तान् प्रत्याह पराजयवस्तूनीति । पराजयो वस्त्येष्विति पराज-
यस्थानानीत्यर्थः । कल्पनिकत्वे कल्पनायाः सर्वत्र सुलभत्वात्सा-
धनदूषणव्यवस्था न स्यादिति भावः । निग्रहस्थानानि पर्यायान्त-
रेण स्पष्टयति । अपराधेति । यआहुरसाधनाङ्गं वचनमदोषोद्भावनं
द्वयोर्निग्रहस्थानत्वमन्यत्तु न युक्तमिति तान् प्रत्याह । सामान्यतो
द्वे निग्रहस्थाने । सामान्यविवक्षायां प्रतिज्ञाहान्यादयो द्वाविंश-
तिरपि न भिद्यन्ते तत्त्वसाधनाङ्गं वचनमदोषोद्भावनमिति भषद्भिः
संगृहीतमृषिणा च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिभ्यामिति न कश्चिद्विशेषः ।
अत्र विचारयति कर्तृकर्मकरणानामिति । तत्रैके वर्णय-
न्ति पक्षस्येति । (५४९।१३) यथा पक्षोद्देशेन साधनं प्रव-
र्तमानं पक्षस्य एवं तदुद्देशेन दूषणानि प्रवर्तमानानि पक्षस्यै-
वेति । एवं चाहुर्दूषणानीति । न्यूनतादयो हि सर्वे पक्षो-
द्देशेन प्रवर्तमानाः पक्षस्यैवेत्यर्थः । दूषयति एतत्तु न सम्य-
गिति । पक्षोद्देशेन प्रवृत्तेः पक्षविषयतां नापजानीमः साक्षात्तु
तद्विषयतां निराकुर्मः । तस्य वस्तुसतस्तादवस्थ्यात् । एवं सा-
धनमपि यत्रासमर्थं तत्र प्रयुज्यमानं न स्वतो दुष्यति यत्र तु
समर्थं तत्साधयत्येव तस्मात्कर्तुरेव दोष इत्याह । तस्मादस-
समर्थयोरिति । (५५०।१) न केवलं स्वातन्त्र्यात्कर्तुर्निग्रहो
ऽपि तु तदाधारत्वाद्विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योरित्याह । विप्रतिपत्त्य-
प्रातिपत्त्योश्चेति । ननु वाक्ये न्यूनतादयो दोषा न पुरु-
षाश्रया इत्यत आह । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती चेति । न स्व-
रूपेण वाक्यं दुष्टं तस्य तादवस्थ्यादित्युक्तं किं तु पुरुषस्य वि-

प्रतिपक्ष्यप्रतिपक्षिभ्यां तथा प्रतिभाति तेन वाक्यगतन्यूनतादि-
दर्शनात्पुरुषे विप्रतिपक्ष्यप्रतिपत्ती प्रतीयेते तेन द्वारेण पुरुषो नि-
गृह्यते न तु वाक्यमेतावता च प्रतिज्ञादोष इत्युच्यते । नचायमपि
नियमो यद्वाक्यद्वारेण पुरुषो निगृह्यते अज्ञानादिषु तदभावादि-
त्याह । कानि चिन्निग्रहस्थानीति ।

शङ्कते द्वैविध्यानुपपत्तिरिति । सामान्यं विवक्ष्यते विशेषो
वा सामान्यविवक्षायां निग्रहस्थानमित्येवास्तु तस्य सर्वत्राविशेषा-
कुतो द्वैविध्यं विशेषविवक्षायां प्रतिज्ञाहान्यादीनि बहूनीत्ययुक्तं
द्वैविध्याभिधानमुभयथा ऽपीत्यर्थः । निराकरोति न सामा-
न्यभेदाविस्तरस्य विवक्षान्तः प्रवृत्तेरिति । सामान्यविवक्षा-
यामपि निग्रहस्थानमिति नोक्तम् उद्देशादविशेषप्रसङ्गात् । तस्मा-
त् लक्षणं प्रणयता ऽन्यथा तदसम्भवादवान्तरसामान्यद्वैविध्यविव-
क्षया सामान्यं लक्षितम् । भेदानां तु विस्तरविवक्षया प्रतिज्ञाहान्या
दयो ऽपि प्रपञ्चिता इत्यर्थः । आन्तर्गणिकानां तु भेदानामानन्त्य-
मित्याह । उदाहरणमात्रत्वाच्चेति । द्वाविंशतिसंख्यावच्छि-
न्नो भेद उदाहरणमात्रम् । आन्तर्गणिकभेदविवक्षायां त्वान-
न्त्यमित्यर्थः ।

भाष्यमनुभाष्याक्षिपति प्रायेण प्रतिज्ञेति । समाधत्ते
क्रियावचनदोषद्वारेणेति । (५५१।१) वचनदोषद्वारेणेत्येताव-
न्मात्रे वक्तव्ये क्रियादोषामिधानं दृष्टान्तार्थम् । नन्वाश्रयार्थो
ऽप्ययुक्तः पुरुषाश्रयत्वादित्यत आह । न चाधाराधेयभाव
इति । अपरमपि भाष्यमनुभाष्याक्षिपति तच्चवादिनमतच्च-
वादिनं चेति । समाधत्ते । न परापदिष्टेति । सम्यक् सा-
धने जात्युत्तरे दत्ते तस्य जातित्वमनुद्भावस्तच्चवाद्यपि निगृ-
ह्यतइत्यर्थः ॥१॥

लक्षणं तु ।

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः
(सू. २) ॥ तदेतत्सूत्रं भाष्यमतेन तावद् व्याचष्टे प्रतिदृष्टान्तस्य
योधर्मस्तं यदा स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानातीति । तदेतद्भाष्य-
व्याख्यानमुपन्यस्य वार्त्तिककारो दूषयति । एतत्तु न बुध्यामहे
कधमत्र प्रतिज्ञा हीयत इति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वा-
द् घटवदिति साधने प्रयुक्ते प्रतिवादिना चानैकान्तिकत्वे सामा-
न्येनोद्भाविते तृतीयस्थानपतितो वाद्याह । अस्तु तर्हि सामान्यवद्
घटादिर्नित्य इति । तथा सत्यैन्द्रियकत्वमनैकान्तिकं न भवति
नित्यमात्रगामित्वाद् घटादीनामपि नित्यताभ्युपगमादित्याशयेन
यद्यपि तथा ऽपि साक्षादनैकान्तिकदोषोद्धारमक्षरारूढमनुका-
स्वदृष्टान्ते नित्यतां प्रतिपद्यते, नित्यताप्रतिपत्तेश्चासिद्धता दृष्टान्ते
दोषो भवति साध्यविकलतेत्यर्थः । सो ऽयं दृष्टान्तदोषेण हेतुदो-
षेण वा विरुद्धत्वेन घटादीनामपि नित्यत्वाभ्युपगमेनैन्द्रियकत्व-
स्य हेतोः साध्यानित्यत्वविरुद्धेन नित्यत्वेन व्याप्तत्वाद् निग्रहो
वादिनो न प्रतिज्ञाहानिः । न खल्वनेनास्तु शब्दो नित्य इति-
प्रतिज्ञा परित्यक्ता किं त्वस्तु घटो ऽपि नित्य इत्युक्तम् । यदि दृ-
ष्टान्तपरित्यागेन प्रतिज्ञातार्थस्याऽसिद्धेः प्रतिज्ञाहानिरित्युच्यते
ततः सर्व एव दोषः प्रतिज्ञाहानिः सर्वस्मादेव दोषात्प्र-
तिज्ञाहानेरुपपत्तेः । तस्मात्कथं चिद् दृष्टान्तपरित्यागेन प्रतिज्ञा-
हानिरुपचरितव्या न चासौ प्रधानं प्रतिज्ञाहानिं विना भवितु-
मर्हतीत्याह । दृष्टान्तं चजहदिति । (५५२।३)

तदेवं भाष्यकारीयं व्याख्यानं दूषयित्वा स्वमते-
न व्याचिख्यासुः पृच्छति । कथं तर्हीति । दृष्टश्चा-
सावन्ते निगमने व्यवस्थित इति दृष्टान्तः । दृष्टा-

न्तप्रतिदृष्टान्तौ पक्षप्रतिपक्षावुच्येते । एतदुक्तं भवति । प्रतिदृष्टा-
न्तस्य प्रतिपक्षस्य सामान्यस्य यो धर्मो नित्यत्वं तं स्वपक्षे
शब्देऽभ्यनुजानाति । उदाहरणमाह । यथाऽनित्यः श-
ब्द ऐन्द्रियकत्वादिति । द्वितीयपक्षवादिनि सामान्येन
प्रत्यवस्थितइदमाह तृतीयपक्षे स्थितो वादी यदि सामा-
न्यमैन्द्रियकं नित्यं शब्दोऽप्येवं भवत्विति । प्रति-
ज्ञाहानिः । अत्र चानैकान्तिकत्वेन प्रत्यवस्थितइत्युपलक्षणं
येन केन चित्प्रकारेण स्वप्रतिज्ञातार्थानिर्वाहं पश्यन् प्रतिज्ञार्थ-
जहत्प्रतिज्ञाहानिमाप्नोतीति परमार्थः । यदप्युच्यते स्वयमेव घ-
टमनित्यमैन्द्रियकमुदाहृत्य घटस्यैन्द्रियकत्वं पश्यन् कथमनुम-
नः सन् सामान्यस्य नित्यस्यैन्द्रियकत्वदर्शनमात्राच्छब्दे निस-
रमभ्युपगच्छेत्किन्तु भयत्रदर्शनात्संशयित्तः स्यात् तत्र सर्वं
नित्यं मिति सांख्यीयराद्धान्तावष्टम्भेनापि स्वपक्षनिर्वाहं पश्य-
तोऽनैकान्तिकत्वोद्धाराय प्रेक्षावतोऽपि प्रवृत्तिसम्भवात् ।
न चात्यन्तिकं प्रेक्षावत्त्वमिह ग्राह्यम् । तादृशस्य निग्रहाधिकर-
णत्वानुपपत्तेः । तस्माद्यथा जडं प्रति विचारो नास्त्येवं प्रामा-
णिकमपि प्रति निग्रहावतातारो नास्तीति मध्यमो जनो निग्रा-
ह्यः । तस्य च सम्भवन्त्येवं प्रमादा इति । शङ्कते । प्रसङ्गवि-
धानादिति चेत् । निराकरोति तच्च न अत एव तत्प्राप्तेः ।
हेतुदोषमुद्दिधीर्षुः प्रसङ्गयन्नभ्युपगच्छत्येव न हि सांख्यीयं
राद्धान्तमनभ्युपगच्छन्नैकान्तिकत्वमुद्धर्तुमर्हतीति भावः ।

तदनेन परमतं निराकृतप्रायमपि साक्षान्निराकर्तुमुपन्यस्यति ।
हेतुदोषेणानैकान्तिकत्वलक्षणेन चरितार्थत्वान्न प्रतिज्ञाहानि
निग्रहस्थानमित्यन्ये । (५५३।१) यदाह कीर्तिः । 'तस्मादैन्द्रियक-
त्वस्य नित्या नित्यपक्षवृत्तेर्व्यभिचारादसाधनाङ्गस्योपादानान्निग्रहो

न प्रतिपक्षधर्मस्याभ्यनुज्ञानादिति । निराकरोति । नानैकान्ति-
कदोषपरिहारेण विप्रतिपत्तेस्तदुपपत्तेः । यदा हि सां-
ख्यपक्षावलम्बनेन शब्दनित्यत्वमभ्युपैति तदा प्रतिज्ञाहानिः न
विरुद्धो हेतुर्नाप्यनैकान्तिको विपक्षाभावात् केवलं प्रतिज्ञातार्थ-
हानमेवास्य पराजयस्थानं, विप्रतिपत्तेः स्वसाध्यविरुद्धप्रतिप-
त्तेरिति सर्वमवदातम् ॥ २ ॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्र-
तिज्ञान्तरम् (सू. ३) ॥

एतद्व्याचष्टे प्रतिज्ञातो मीमांसकं प्रति वैशेषिकेणानित्यः
शब्दः इति तस्य साधनमैन्द्रियकत्वाद्वद्वदिति एवमुक्तस्य प्रति-
षेधो मीमांसकेन क्रियते प्रतिदृष्टान्तेन हेतुव्यभिचारः तमाह
सामान्यमैन्द्रियकं नित्यमिति । तस्मिन्प्रतिषेधे मीमांसकेन
कृते धर्मविकल्पात्तथा निर्देश इति यावन्नोच्यते तावदर्धोक्त एव धर्म-
विकल्पादित्यनूद्य व्याचष्टे । दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोर्घटसामा-
न्ययोः साधर्म्यमैन्द्रियकत्वं तद्योगे तद्धर्मभेदात् सामान्यमै-
न्द्रियकं सर्वगतमैन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति धर्मविक-
ल्पात्तदर्थं प्रतिज्ञातार्थसिद्ध्यर्थं शब्दस्यासर्वगतत्वं मीमांसकानां
प्रतिपादयितुं निर्देशः तस्य हि शब्दस्यासर्वगतत्वमसिद्धम् । प्रश्न-
पूर्वकं निर्देशस्वरूपमाह कथम् । यथा घटो ऽसर्वगतो ऽनित्य
इति एवं शब्दो ऽप्यसर्वगतोऽनित्य इति । इदं हि प्रति-
ज्ञावाक्यम् अनित्यः शब्द इतिवदसर्वगतः शब्द इति मीमांसकं
विप्रतिपन्नं प्रति निर्देशान्न तु कृतकत्वादिति बहुदाहरणसाधर्म्या-
दस्य हेतुलक्षणमास्ति साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति तु प्रतिज्ञालक्षणयोगा-
त्प्रतिज्ञान्तरमेव यद्यप्यस्य मनसि विपरिवर्तते असर्वगतत्वं साधयित्वा
मया असर्वगतत्वे सतीति ऐन्द्रियकत्वं हेतुर्विशेषणीय इति तथा-

प्येतदनेन न कृतं किं त्वसर्वगतः शब्दो घटवदित्युक्तवैव विरतः
परार्थानुमाने च वचनगता गुणदोषा विचार्यन्ते न तु वचनान-
पेक्षं वस्तु, तदिदमाह असर्वगतः शब्द इति द्वितीया प्रतिज्ञा
हेतुरहिता । अस्य प्रश्नपूर्वकं निग्रहस्थानत्वमाह तत्कथामिति ।
अनर्थकं निष्प्रयोजनमिष्टार्थसिद्धेरभावादिति ।

वार्तिकं तत्रानित्यः शब्द इति प्रतिज्ञा प्रथमा ।
अस्यां सामान्येनैन्द्रियकेण हेतोरनैकान्तिकत्वात्प्रतिहतो वादी
प्रतिवादिना असर्वगतः शब्दो ऽनित्य इति प्रतिज्ञान्तरं पूर्वप्र-
तिज्ञासिद्ध्यर्थं करोतीत्यनुषज्यते । पृच्छति कथामिति । उत्तरम् ।
साधनसामर्थ्यापरिज्ञानात् । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद्
घटवदित्येतावदुक्त्वा निराकाङ्क्षो वादी न त्वसर्वगतत्वे सती-
ति साधनं विशेषितवान् न चाविशिष्टं साधनमत्रार्थेऽसमर्थं विशिष्टं
तु समर्थं तस्य सामर्थ्यमपरिज्ञायाविशिष्टे तदारोप्याविशिष्टसा-
धनं प्रयुक्तवान् । तत्र निराकाङ्क्षो वादी सव्याभिचारहेतुप्रयोगादेव
पराजीयते न तु प्रतिज्ञान्तरप्रयोगात् । यदि तु वादिन्यपर्यवसित-
वादएव मध्ये प्रतिवादिना हेतोरनैकान्तिकत्वे उद्भाविता तमेव-
हेतुमसर्वगतत्वे सतीति विशेषणं मीमांसकं प्रति शब्दस्यासर्वगत-
त्वं प्रतिजानीते । असर्वगतः शब्द इति प्रतिज्ञाय च न हेतुं ब्र-
वीति तदानैकान्तिकत्वोद्धाराय प्रतिज्ञान्तरकरणान्नानैकान्तिक-
त्वेन पराजीयते अपि तु प्रतिज्ञान्तरादेव, न हि प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा-
न्तरं साधयितुमर्हतीति । सो ऽयं प्रतिज्ञामात्रस्यासाधकत्वाप्रति-
पत्त्या ऽसाधकस्यैव वा साधकत्वप्रतिपत्त्या पराजीयते । तदेतदाह
न च प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरं साधयति । तेन प्रतिज्ञा यत्रार्थे
समर्था तदपरिज्ञानात्पञ्चावयवसाध्ये च सामर्थ्यारोपणादपरि-
ज्ञानादिति श्लिष्टनिर्देशः प्रसज्यप्रतिषेधपर्युदासौ विवाक्षि-

तौ तेनाज्ञानाद्विपरीतज्ञानाच्च प्रतिज्ञान्तरं निग्रहस्थानमिति ।

यत्पुनरुच्यते परैः अत्यन्तासम्बद्धमेतद् यत्प्रतिज्ञा प्रतिज्ञासाधनायेति यो हि प्राक् प्रतिज्ञामुक्ता हेतुदाहरणादिकं वक्तुं जानाति स कथं चिदनुक्रमं साधनस्य जानात्येव जानन् कथमपि कलान्तःकरणः प्रतिज्ञामेव प्रतिज्ञासाधनायोपाददीतेति । तत्र ब्रूमः नायं प्रतिज्ञया प्रतिज्ञा साधनीयेति बुद्ध्या प्रवृत्तः किं त्वसर्वगतत्वं शब्दस्य भीमांसकं प्रति साधयित्वा तेनैन्द्रियकत्वं विशिष्यानैकान्तिकत्वमुद्धरणीयमिति मनोरथेन प्रवृत्तः प्रतिज्ञां कृतवान् असर्वगतः शब्द इति । अथास्य प्रतिवाद्यवष्टम्भात्परिदर्शनाद्वा स्तम्भितत्वे साधनाप्रतिभया तूष्णीं भवतः प्रेक्षावतो ऽपि प्रतिज्ञान्तरं भवति निग्रहस्थानम् । अयं च विकलान्तःकरणस्य निग्रहो भवद्भिरप्युक्त एव तदभ्युपगम्याप्रतिभया तूष्णींभावादिति वदद्भिः सो ऽयमीदृशो ऽस्तप्रलापो भवद्भिः शास्त्रे निबन्धनीयोन त्वस्माभिरिति व्यक्तमियं राजकुलस्थितिरिति सर्वं चतुरसम् । ॥३॥

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः (सू. ४) ॥

अत्र प्रतिज्ञाहेत्वोरिति प्रतियोगिद्वयमात्रोपलक्षणपरम् । तेन दृष्टान्तादयो ऽपि प्रतियोगिन उन्नेयाः । एतदुक्तं भवति येषां वाक्यगतानां पदार्थानां मिथो व्याघातः प्रतीयते प्रमाणान्तरं च विरोधकं स विरोधो नाम निग्रहस्थानम् । लक्ष्यस्थितस्य प्रतिज्ञाग्रहणस्याप्युपलक्षणार्थत्वात् । नचैवं भाण्डालेरुपन्यायः एकदेशेनाव्यापकेन समुदायसंग्रहे स हि भवति, न तु व्यापकेन संग्रहे व्यापकं चानवयवेन इदंप्रतियोगिमिश्रणयोर्विरोधः अतो यथाश्रुति तावत्सूत्रं व्याचष्टे वार्तिककारः यत्र प्रतिज्ञा हेतुना विरुध्यत इति । द्वयोर्विरोधे यस्य प्रमाणान्तरानुग्रहस्तेन तद्वाध्यतइति तेन तद्विरुध्यतइत्युच्यते । यत्र प्रतिज्ञया हेतुर्विरुध्य-

ते तदुदाहरति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं भेदेनाग्रहणा-
दिति । अत्र हि भेदेनाग्रहणादियनेन ग्रहणप्रतिषेधेन ग्राह्याभा-
व उपलक्ष्यते । तेनैवं हेत्वर्थो भवति गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमव्य-
तिरेकादिति । सो ऽयं प्रतिज्ञाहेतुपदयोर्व्याप्तिस्मरणानपेक्ष एव
परस्परव्याघातो ऽस्तिनास्तिपदयोरेव । न चैवंविधः शब्दे नि-
त्यत्वकृतकत्वयोर्येन कृतकत्ववद्विरुद्धो ऽयं हेत्वाभासः स्यात् ।
तत्र हि कृतकत्वस्य नित्यत्वेन व्याप्तिस्मरणापेक्ष एव विरोधः
प्रतीयते न त्वयं तथा अस्तिनास्तिवत्स्वभावविरोधात् । यद्यप्य-
यमनिद्धो ऽपि हेतुस्तथा ऽप्यस्यासिद्धिर्वाधकं प्रमाणान्तरमनुसृ-
त्य प्रतिपत्तव्या प्रतिज्ञाविरोधस्तूच्चारणमात्रादेव प्रथमत एव ग-
म्यतइति । तेनैव दूषितेनासिद्धिः पश्चात्तनी न दूषणत्वाय क-
ल्पते भस्मीकृते दहनवत् । प्रतिज्ञाहेतुविरोधमात्रेण च निग्रह-
सिद्धेः सुहृद्भावमात्रेण प्रतिज्ञाया बलवत्तास्मरणम् । प्रतिज्ञाया-
श्चात्र बलवत्त्वं प्रमाणान्तरानुग्रहात् । तथा हि दर्शनस्पर्शना-
भ्यामेकार्थप्रतिसंधानादूपादिव्यतिरिक्तं द्रव्यं सिध्यतीति तदनु-
गृहीता प्रतिज्ञैव हेत्वर्थं बाधतइति । एतेनैवेति । लक्षणेन । श्र-
मणा गर्भिणीति श्रमणा ब्रह्मचारिणी नान्तर्वन्नी भषितुमर्हति
जितेन्द्रियस्योपस्थसंयमो हि ब्रह्मचर्यं, न-चाऽसाधनाङ्गस्य प्रति-
ज्ञाया वचनादेव निगृहीत इति कृतं विरोधोद्भावेन निष्पादि-
तक्रिये कर्मणि अविशेषाभिधायिनो दूषणस्य दूषणन्यायातिपा-
तादिति सांप्रतम् । प्रतिज्ञायाः साधनाङ्गत्वस्य प्रथमएवाध्याये
दर्शितत्वात् । हेतुविरोधो ऽपि यत्र हेतुना प्रमाणान्तरेणानुगृही-
तेन प्रतिज्ञा बाध्यते । यथा सर्वं पृथगिति प्रतिज्ञा न किं चिदे-
कमित्यर्थः । हेतुः समूहे भावशब्दप्रयोगादिति । एकसमुच्चये
घटादिप्रयोगादित्यर्थः । नास्त्येकमेकसमुच्चयश्चेति वचनं मिथो वि-

तदास्थानैकान्तिकत्वोद्भावनं स्वकीयशब्दत्वनिराकरणविरुद्ध-
मिति । परपक्षसिद्धं गोत्वाद्यपीदृशएव विषये विरुद्धे द्रष्टव्यम् ।
सिद्धान्तविरुद्धं च साधनं विरुद्धमित्याह । स्वपक्षानपेक्षं च ।
ननु यद्यनैकान्तिकोद्भावनमपि विरुद्धं कस्तर्ह्यनैकान्तिकत्वापाद-
नस्य विषय इत्यत आह । उभयपक्षसम्प्रतिपन्नास्त्विति । दे-
शयति । दृष्टान्ताभासा इति । अवयवान्तरं हि प्रतिज्ञाहेत्वा-
दिभ्य उदाहरणं तेन हेत्वाभासोक्त्या तस्य सङ्ग्रहः । पारम्पर्येण
तदाहरणाभासस्य हेतुदूषकत्वेन सर्वमेव हेतुदूषकमिति भावः ।
परिहरति हेत्वाभासपूर्वकत्वादिति । हेत्वाभासा इत्यत्र हेतु-
शब्दः स्वार्थमपरित्यज्य दृष्टान्तमुपलक्षयति । उपलक्षणे हेतुरुक्तः
हेत्वाभासपूर्वकत्वाद्धेतवाभासप्रधानकत्वाद् दृष्टान्ताभासेनापि हे-
तुरेव दूष्यते यतः । न चैतावता प्रतिज्ञादिदोषोपलक्षणमसङ्गः ।
न हि यत्र यत्र निमित्तमस्ति तत्सर्वमुपलक्षणीयं, किं तु यदुप-
लक्ष्यते तत्रावश्यं निमित्तं वक्तव्यम् । न च सूत्रकारस्य सर्वत्र
लाघवादरो दृढ इत्युक्तम् । तस्मात्सर्वं रमणीयम् ॥ ४ ॥

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ।
(सू. ५) ॥ ऐन्द्रियकत्वस्य हेतोरनैकान्तिकत्वोद्भावेन शब्दा-
नित्यत्वपक्षे प्रतिक्षिप्ते वादी प्रतिवादिनं ब्रूयादनैकान्तिकत्वमुद्दि-
धीर्षुः कः पुनराहानिसः शब्द इति । यद्यहमनिसः शब्द इति
प्रतिज्ञातमपहोतुं शक्नोमि तदा न सामान्येन नित्येन मे हेतुरनै-
कान्तिको भवतीति बुद्ध्या ऽह्नुपते सो ऽयमेवंवादी न शक्यो
ऽनैकान्तिकत्वेन जेतुम् । अपहवस्यापहवत्वावेदने ऽनैकान्तिक-
त्वोद्धारात्तस्मादनैकान्तिकस्यानैकान्तिकत्वस्थापनायापहवस्याप-
हवत्वमुद्भावनीयम् । तत्र किमपहवत्वमुद्भाव्यानैकान्तिकत्वं व्य-
वस्थाप्य निगृह्यतामुतापहवादेवेति संशयेऽपहवत्वोद्भावेनैव

पूर्वापरपराहते निर्गृह्यते नानैकान्तिकत्वेन तत्पूर्वकत्वादनेकान्तिकत्वस्थापनस्य । तस्माद्यदुक्तं कीर्तिना किमिदानीं हेत्वाभासादुत्तरप्रतिज्ञासंन्यासापेक्षया तस्य प्रतिवादिनो हेत्वाभास एवाद्यं निग्रहस्थानमिति तदप्यपास्तम् । प्रतिज्ञासंन्यासस्यैव पूर्वभावि-त्वात् । यदपि तेनोक्तं पक्षप्रतिषेधे तूष्णींभवतस्तूष्णींभावो नाम निग्रहस्थानं प्रलपतश्च प्रलपितं नामेत्याद्यपि वाच्यं स्यादिति । तदप्यसांप्रतम् । न हि तूष्णींभावेन प्रलपितादिभिर्वा शक्यमनैकान्तिकत्वमुद्धर्तुं यथा प्रतिज्ञार्थापह्वनेन, न चैते हेत्वाभासो-द्भावनस्य पुरस्तात्तनाः तस्मादेतदप्यनिरूपिताभिधानाद्यत्किञ्चिदिति ॥ ५ ॥

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हे-त्वन्तरम् (सू. ६) ॥

व्याख्यातुं निदर्शनमाह निदर्शनमेकप्रकृतीदं व्यक्तं भूतभौतिकेन्द्रियमेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् । तद्यथा एकमृत्पूर्वा घटशरावादञ्चनादयः परिमिता दृष्टाः यावान् प्रकृतेर्व्यूहः संस्थानं तावान्विकार इति । न चैतदुदाहरणं साधनविकलमित्याह दृष्टं चेति । उपनयमाह अस्ति चेदमिति । निगमनमाह तदेकप्रकृतीनामिति । अस्य परिमितत्वस्य हेतोर्व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानं प्रतिवादिनः । नानाप्रकृतीनां घटरुचकादीनामेकप्रकृतीनां च घटशरावादीनां दृष्टं परिमाणमिति । एवं प्रत्यस्थिते प्रतिवादिनि वादी पश्चात्परिमितत्वं हेतुं विशिनष्टि एकप्रकृतिसमन्वये सति शरा-वादिविकाराणां परिमाणदर्शनादिति । प्रकृतिः स्वभावः, एकस्वभावसमन्वये सतीत्यर्थः । एकप्रकृतिसमन्वयं स्फुटयति । सुखदुःखमोहसमन्वितं हीदं सर्वं व्यक्तं परिमितं गृह्यते ।

तथा हि । मैत्रदारेषु नर्मदायां मैत्रस्य सुखबुद्धिर्भवति तत्सपत्नीनां च दुःखबुद्धिः चैत्रस्य तामविन्दतो रणरणकवतो मोहो विषादः । नर्मदया भावान्तराणि व्याख्यातानि । तदेवं यत्रैकस्वभावसमन्वये सति परिमाणं तत्रैकप्रकृतित्वमेव तद्यथैकमृत्पिण्डस्वभावेषु घटशरावोदञ्चनादिषु । घटरुचकादयस्तु नैकस्वभावाः मार्दसौवर्णादीनां स्वभावानां भेदात् । निर्दिश्यात्र सूत्रं योजयति तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धइति । अस्य निग्रहस्थानत्वमाह । सति च हेत्वन्तरभावइति । अपि च यदि हेत्वन्तरवचने विश्वमेकप्रकृति साध्यते तदा निदर्शनं नास्ति सर्वस्य पक्षे निक्षेपात् । अथ निदर्शनसिद्ध्यर्थं किं चित्पक्षाच्चतिरिच्यते ततस्तेनैवानैकान्तिकत्वम् । अन्वितानां परिमितानां भिन्नप्रकृतिकत्वादित्याह । हेत्वन्तरवचने सति यदि हेत्वर्थनिदर्शन इति । हेतुः साधनम् अर्थः साध्यः तौ हेत्वर्थौ निदर्शयति व्याप्यव्यापकभावेनेति । निदर्शनः निदर्शनः हेत्वर्थयोर्निदर्शनो हेत्वर्थनिदर्शनो दृष्टान्तः स यद्युपादीयते ततो नेदं व्यक्तमेकप्रकृति भवति दृष्टान्तस्य प्रकृत्यन्तरोपादानात् ।

वार्तिकं साधनान्तरोपादाने पूर्वस्येति । दत्तोत्तरावसरएव वादिनि यदि प्रतिवादी हेत्वर्थं व्यभिचारयति वादी च तृतीयपदके स्थितो हेतुं विशेषयति तदा साधनान्तरोपादानान्निगृह्यतामुतानैकान्तिकसाधनोपादानात् । न तावदनैकान्तिकसाधनादस्य निग्रहो हेतुविशेषणेन समाहितत्वादिति । तस्माद्धेत्वन्तरवचनादेव निगृह्यते पूर्वस्य वस्तुतो ऽसमर्थस्यासामर्थ्यरूपापनात् । सामर्थ्ये वा हेत्वन्तरानर्थक्यमिति सूक्तम् ॥६॥

प्रकृतादर्थ्यादप्रतिसम्बन्धार्थमर्थान्तरम् (सू. ७) ॥

व्याचष्टे यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे सति वादे
जल्पे वितण्डायामित्यर्थः । हेतुतः साध्यासिद्धौ प्रकृतायां
वादी साधनं ब्रूयाद् नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति । अ-
त्रान्तरे सुखादिभिर्व्यभिचारेण हेतोरसामर्थ्यं पश्यन् तत्प्रच्छा-
दनार्थं प्रसक्तानुप्रसक्त्या तं तमर्थमुपन्यस्यन्नर्थान्तरेण निगृह्यते ।
अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगात् क्रियाविशेषस्य योगाद्वि-
शिष्यमाणरूपो भिद्यमानरूपः शब्दो नामेति यथा वृक्षस्ति-
ष्ठति वृक्षं छिनत्ति वृक्षेण चन्द्रमसं पश्यति वृक्षायोदकमासिञ्च-
तीत्यादि । तदेवमभिधेयस्य क्रियाविशेषयोगाद्विशिष्यमाणरूपः
शब्दो नामेति । आख्यातस्वरूपमाह । क्रियाकारकसमुदाय
इति । विषयेण विषयिणमुपलक्षयति । पचति पच्यतइत्येवमा-
दयः शब्दाः क्रियां कारकं कर्तारं कर्म चाभिवदन्ति तदेतल्ल-
क्षणमसिद्धमतिव्यापकं च, न हि कर्ता कर्म वा आख्यातेनाभि-
धीयते । क्रियाक्षेपेणैव तयोः प्रतिलम्भात् । अनन्यलभ्यस्य च
शब्दार्थत्वात् । कर्तृकर्मणोश्च कारकान्तरेभ्यो भावनायामभ्यर्हि-
ततमत्वेन तत्सङ्ख्याभिधाननियमादसिद्धं कारकाभिधानम् । अ-
तिव्यापकं च पाचकः पाक्य इत्यादेर्नाम्नोऽपि क्रियाकारकस-
मुदायाभिधायित्वात् । तदस्मिन् लक्षणेऽपरितुष्यन् लक्षणान्त-
रद्वयेनाख्यातपदान्युपसंगृह्णाति । कारकसंख्याविशिष्टक्रि-
याकालयोगाभिधाय्याख्यातम् । पचति पच्यतइत्यादौ क-
र्तुः कर्मणो वा संख्यया कालेन वर्तमानादिना विशिष्टा क्रिया
प्रतीयते । कालश्च क्वचिदस्तीत्येतावतोक्तो, न तु विवक्षितो ल-
क्षणे पचत यजेतइत्यादीनामाख्यातानामसङ्ग्रहः कारकतत्संख्ययोरप्रती-
तेः तत्संग्रहाय द्वितीयं लक्षणमाह । धात्वर्थमात्रं च काला-

भिधानविशिष्टमभिधीयतइत्यभिधानम् । प्रयोगोऽविति ।
 नाम्नो वा ऽऽख्यातस्य वा तदर्थादभिद्यमानरूपा निपा-
 ताः । यथा समुच्चयविकल्पादिनामपदैः समुच्चयादयः समुच्चेत-
 व्यान्नामार्थादाख्यातार्थाद्वा भेदेनोच्यन्ते तत्र षष्ठीप्रयोगात् । ते-
 षां समुच्चयो विकल्पो वेति नैवं चादयः स्वार्थान्नामार्थादाख्या-
 तार्थाद्वा भेदेनाभिदधति । रूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते रूपाणि अर्था-
 न्नामार्थादाख्यातार्थाद्वा भिद्यमानं रूपं प्रतिपाद्यमानं येषां नि-
 पातानां ते तथोक्ताः । उपसृज्यमानाः समीपे प्राक् प्रयुज्य-
 मानाः क्रियावद्योतका उपसर्गाः अवद्योतनं चोपलक्षणम् ।
 अधिकार्था विपरीतार्थाश्चोपसर्गा गृह्यन्ते । यथा ऽभ्यागच्छति प्र-
 तिष्ठतइत्यादिषु तदस्य निग्रहस्थानत्वं वार्तिककार उपपादयति ।
 अभ्युपगतेति । यथा च साधनवादिनो ऽर्थान्तरं निग्रहस्थान-
 मेवमुत्तरवादिनो ऽपि द्रष्टव्यम् ॥७॥

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् । (सू. ८) ॥

वर्णक्रमनिर्देशवदिति वतिः । अत्र यदा द्राविडः स्वभाषया
 तज्ज्ञापानभिज्ञमार्थं प्रति शब्दानित्यत्वं प्रतिपादयति तदा त-
 न्निरर्थकं निग्रहस्थानं स खल्वार्यभाषां जानन्नसामर्थ्यप्रच्छादनाय
 तज्ज्ञापानभिज्ञतया वा स्वभाषया साधनं प्रयुक्तवान् सो ऽयं पूर्व-
 स्मिन्कल्पे विप्रतिपत्त्या निगृह्यते उत्तरस्मिन्स्त्वप्रतिपत्त्या । वस्तुतः
 साधनसामर्थ्ये ऽपि मूकवदार्थप्रतिपादकशब्दाप्रतीतेस्तत्प्रतिपा-
 दनारम्भवैयर्थ्यात् । अत्रैव दृष्टान्तमात्रतया वतिना अत्र वर्ण-
 क्रमो दर्शितो न पुनरेतदुदाहरणं निग्रहस्थानस्य येन कपोलवा-
 दित्रादावपि प्रसङ्गः । यथा हि द्राविडस्यार्थभेदविवक्षोत्थापितं
 वचनं नैवं वर्णक्रमनिर्देशः कपोलवादित्रं वा अप्रतिपादकत्वसा-
 मान्याद्वर्णक्रमनिर्देशवदिति दृष्टान्तः । अत एवाह भाष्यकारः ।

९-१०सू०२प्र०] अविज्ञातार्थापार्थनिरूपणम् । ७११

एवंप्रकारमिति । न पुनरिदमेवेत्यर्थः । वार्तिकमुदाहरणं भाष्यइति । (५५५।३) एवंप्रकारोदाहरणमित्यर्थः । साधनानुपादानादिति । परप्रतिपादकं पञ्चावयवं वाक्यं साधनं तच्चेन नोपात्तं तस्य स्वसमयेन प्रतिपादकत्वे ऽप्यार्यान् प्रत्यप्रतिपादकत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् (सू. ९) ॥

यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च न विज्ञायते समानसंकेतेन वादिना त्रिरभिहितं यावद्भिर्वारैः परिषत्प्रतिवादिनोरर्थप्रत्ययो भवति स च प्रायेण त्रिभिरिति त्रिरभिहितमित्युक्तम् । ननु समानसंकेतेन वादिना त्रिरभिहितमविज्ञातार्थं चेति न संभवति । सम्भवे वा परिषत्प्रतिवादिनै जडौ न च जडानवबोधे प्रतिपादकस्य कश्चिदपराधः । न हि बधिरो गीतं न शृणोतीति गायनस्य कश्चिदपराध इत्यत आह । श्लिष्टशब्दमसति प्रकरणादौ नियामके यथा श्वेतो धावतीति । अप्रतितिप्रयोगं जर्भरीतुर्फरीतु इति । अतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातार्थम् । अस्य निग्रहस्थानत्वमाह । असामर्थ्येति । वार्तिकं भाष्यव्याख्यया गतार्थम् ॥९॥

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थक्यम् (सू. १०)
यत्रानेकस्य पदस्याश्लिष्टस्य प्रतीतयोगस्याद्रुतोच्चारितस्य वाक्यस्य चानेकस्य पौर्वापर्येणायोगः सम्बन्धो नास्तीति तस्मादसम्बद्धार्थता गृह्यते तदपार्थक्यं निग्रहस्थानं निष्प्रयोजनं, कस्मात् ? समुदायार्थस्य वाक्यार्थस्य वा ऽप्याद्यावाक्यमहावाक्यार्थप्रत्यायनप्रयोजनो हि पदानां वाक्यानां वा प्रयोगो ऽसति तस्मिन्नपार्थक्यमित्यर्थः । वाक्यस्य पौर्वापर्यासम्बन्धउदा-

हरणमाह । यथा दश दाडिमानि षड्रूपा इति । पदानां
 पौर्वापर्यासम्बन्धे उदाहरणमाह । कुण्डमजाजिनम् इति ।
 रौकं रुरुसम्बन्धि । पार्थ पाययितव्यम् । अप्रतिशीनो वृद्धः ।
 वार्तिककारः शङ्कते । निरर्थकापार्थक्योरिति । परप्र-
 त्यायनप्रयोजनं हि वचनोच्चारणं तत्र निरर्थकेनवापार्थकेनापि
 न परः प्रतिपाद्यतइति उभयोरभेदः । न च वर्णक्रममात्रमेकत्रा-
 न्यत्र च पदानीत्येतावता भेदेनोपादनं युक्तम् । एकत्र वाक्यो-
 पादानमन्यत्र पदोपादानमित्यपार्थक्योरप्यवान्तरभेदेन भेदोपा-
 दानप्रसङ्गादिति शङ्कार्थः । निराकरोति । भिद्यतइति । पृच्छ-
 ति । कथम् । उत्तरम् । तत्रानर्थके वर्णमात्रम् अभिधेय-
 शून्यम् इह त्वपार्थके पदानि पद्यते गम्यते ऽभिधेयमेभिरिति
 पदानि वाक्यानि चाभिधेयवन्ति असम्बद्धानि निरभिधेयनि-
 ष्प्रयोजनयोर्निरर्थकापार्थक्योर्महान्विशेषः । न त्वीदृशो वाक्य-
 पदयोर्निष्प्रयोजनयोर्विशेषो येनावान्तरभेदमाद्रियामहे । परप्र-
 त्यायनप्रयोजनाभावमात्रविवक्षया त्वविशेषे सर्वनिग्रहस्थानावि-
 शेषः सर्वत्र परप्रत्यायनाभावात् । भावे वा निग्रहस्थाना-
 नुपपत्तेः ॥ १० ॥

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् (सू. ११) ॥

व्याचष्टे प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थव-
 शात् क्रमः लक्षणानतिक्रमेण क्रमः उक्तमेतदस्माभिः प्रथमा-
 ध्याये । यदपेक्षिताभिधायिनो वचनात्परे प्रतिपद्यन्ते नान्यस्य ।
 तत्र प्रथमं साधननिर्देशो ऽपेक्षितः परैर्न तु साधननिर्देशः तत्र यद्ययं
 प्रथमं साधनमेव प्रयुज्जीत कथमपेक्षितं ब्रूयाद्, अनपेक्षिताभि-
 धायी च कथं प्रतिपादको नाम । तदेवं सर्वाण्येव हेतुवचनादीनि
 अपि क्रमवन्ति नाक्रमाणि प्रतिपादयितुमर्हन्तीति विपरीतक्रमे-

भ्यो ऽप्यर्थक्रमानुसरणादेवार्थप्रतिपत्तेः । सो ऽयं प्रतिज्ञादीनामर्थ एतादृशो य एषां क्रममन्तरेण न शक्यो ज्ञातुमिति । अवयवविपर्यासे त्वाकाङ्क्षाभावात् तत्पूर्वकत्वाच्च पदार्थसम्बन्धस्यासम्बन्धं निग्रहस्थानमित्यर्थः ।

वार्तिकं नैवमपि सिद्धेरित्येके । यथा ऽऽहुरत्रापि न कश्चित् क्रमनियम इष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात् । यद्युच्येत अर्थशब्दवदयमस्माकं समयो यदनेन क्रमविशेषणार्थः प्रत्येतव्यो नान्येनेति अतस्तथैव प्रतीयते न क्रमान्तरेणेत्यत आह । समयानभ्युपगमाच्च । पदेष्वेव समयपूर्वकः प्रत्ययो न वाक्येषु अभिनवकविरचिततत्समयानपेक्षादेव वाक्यार्थप्रतीतेः । स्यादेतद् वाक्येष्वपि क्रमनियमो दृष्टः यथा पाचयां बभूवेति न पुनर्बभूवपाचयामिति अत आह प्रयोगाच्चेति । तत्र लौकिकः प्रयोगो नियत इह त्ववयवव्यत्ययस्यापि दृष्टः प्रयोग इत्यर्थः । तदेतद्दूषयति । यत्तावन्नैवमपि सिद्धेरिति । तत्रोत्तरं प्रयोगोपेतशब्दवदेतत् । एतदेव विवृणोति । यथा गौरित्यस्यैव पदस्यार्थं गावीति प्रयुज्यमानं पदं ककुदादिमन्तमर्थं प्रत्याययति । (५५६ । १) यद्यपि शब्दानामर्थप्रत्यायनं न स्वाभाविकं तथा ऽपि परमेश्वरसङ्केतपूर्वकमद्य यावदनुवर्तते ऽत एव साधवो ऽर्थभेदे शब्दभेदा येषां पारमेश्वरसङ्केतः तदसङ्केतात्तु प्रवर्तमाना अप्यर्थे ऽसाधवः शब्दा अपभ्रंशा भवन्ति । तदपेक्षाश्च साधुभिर्भाषितव्यमित्यादयो विधयो धर्मेषु निन्दार्थवादाश्च मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णत इत्यादयः वेदानां च प्रामाण्यं प्रतिपादितं द्वितीये ऽध्याये । न चायमर्थो ये ये साधवस्ते सर्वे धर्महेतव इति, किं तु धर्मानुष्ठाने तदनुरूपभाषणे प्राप्ते साधुभिरेवेति नियम्यते । तदेवं

व्यवस्थिते अविशेषेण गोगाव्यादिशब्दा आर्येण प्रयुज्यमाना
दृश्यन्ते तत्रैते किमविशेषेणैव साधव उत कश्चिदेकः साधुः त-
त्पूर्विके तरेभ्यः प्रतीतिः तत्रैकशब्दस्य साधुत्वकल्पनायामित-
रस्मात् तन्मूलतयाऽर्थप्रतिपत्त्युपपत्तौ न सर्वत्र साधुत्वकल्पना-
युक्ता । यथा ऽऽह स्मात्रभवान् जैमिनिरन्यायश्चानेकशब्दत्व-
मिति । तत्रापि कतमस्यासाधुत्वमेकस्यैतोष्विति जिज्ञासायां तत्र
तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यादिति यो ऽभियुक्ततमैरिन्द्रपाणिनिप्र-
भृतिभिः साधुत्वेनाविगानतः स्मर्यते स साधुरितरो ऽसाधुरिति
निश्चीयते । तेन यद्यपि लौकिका गाव्यादिशब्देभ्य एव गवाद्य-
र्थमधिगच्छन्तीति दृष्टार्थमात्रव्यवहारिणः प्रतिपत्तिस्तथा ऽपि प-
रीक्षकाणां विचारयतामेवं विचारक्रमो यद्वृद्धतमेन गोशब्दे प्र-
योक्तव्ये प्रमादाद्गावीशब्दः प्रयुक्तः ततश्च वृद्धतरेण गोशब्द-
मुन्नीय गोत्वं प्रतीतम् । यथा ऽऽहुः ।

‘अम्बाम्बेति यदा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते ।

अव्यक्तं ताद्विदां तेन व्यक्ते भवति निर्णयः ॥

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये यो ऽपभ्रंशः प्रयुज्यते ।

(१) तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थो ऽभिधीयते ।’

पार्श्वस्थाश्चातो ऽनेन मूलशब्दमुन्नीयार्थः प्रतीत इत्यगृहीत्वैव
गावीशब्दादेवायममुमर्थं प्रतीतवानिति तमेव गोत्वस्य वाचकमव-
गम्यान्वेषां वृद्धो बभूव । ततः प्रभृत्यननुमृतमूलशब्दानामयं वाच-
कत्वभ्रमो ऽपभ्रंशे वर्तते न वृद्धतरस्योभयवेदिनो मूलशब्दानुसा-
रिणी पदार्थप्रतिपत्तिरिदानींतनानां त्वपभ्रंशादेव अत एवान्वा-
ख्यानमपि प्रयोजनवत् । असत्यास्मिन् वाचकापभ्रंशविभागे ज्ञाना-
भावात्साधुभिर्भाषितव्यमिति नियमविधेर्न म्लेच्छितवै नापभाषितवै
इति निषेधस्य च विषयसंशयेन दुरधिगमत्वेन धर्मानुष्ठानस्या-

११-१२सू० ३प्र०] अप्राप्तकालन्यूननिरूपणम् । ७१५

शक्यत्वप्रसङ्गात् । यत्रार्थे यस्य शब्दस्य भगवतेश्वरेण सङ्केतः
कृतः स तत्र साधुरसाधुरन्यत्र यथा य एवास्वशब्दो दरिद्रे सा-
धुः स एवासाधुर्वाजिनि प्रयुज्यमानः यथा नकुलदंष्ट्राग्रस्पृष्टा
या का चिदोषधिरसौ सर्पविषं हन्ति एवमीश्वरेण कृतसङ्केतः
शब्दः साधुधर्मउपयुज्यते नान्य इति । यववराहादिशब्दानामा-
र्यम्लेच्छयोरर्थविवादे वैदिकाद्वाक्यशेषादार्यसंमतो ऽर्थो ग्रहीत-
व्यो न म्लेच्छसंमतः तत्र वैदिकवाक्यशेषविरोधात् । येषां तु
शब्दानामार्येषु न दृष्टचरः प्रयोगः केवलैर्म्लेच्छैरेवार्थभे-
दे प्रयुज्यन्ते यथा पिकनेमतामरसादयः वेदे तु प्रयुक्तास्तेषां
म्लेच्छव्यवहारादेवार्थो ऽवधारणीयः तत्र तेषामभियोगादिति
आर्यव्यवहारापरिपन्थित्वाच्चेति । तदेवं व्यवस्थिते न्यायमी-
मांसापरिशीलनविकलानां बाह्यतराः प्रलापा उपेक्षणीयाः तस्मा-
त्सुष्ठूक्तं प्रयोगापेतशब्दवदिति । न च शब्दान्वाख्यानं
व्यर्थमिति चेति । प्रतिज्ञादीनां क्रमनियमकारणं प्रश्नपूर्वकं
दर्शयति । तदेतत्कथं पूर्वं तावदिति । द्वितीयं देश्यमनुभाष्य
परिहति । यत्पुनरेतत्समयानभ्युपगमादिति । सो ऽयम-
र्थस्यानुर्वीं प्रतीतिबलप्रवृत्तामन्वाचक्षणो नाभ्याख्येय इति-
नोपालभ्यः । शास्त्रे वाक्यान्यर्थसंग्रहार्थमुपादीयन्तइति । न हि
शास्त्रे कृत्स्नासदिवादरभूतदिवेत्यर्थसङ्ग्रहो यथा कथं चित् क्रि-
यत इति वादेऽपि तथा क्रियतामिति युक्तं वादादिषु पक्षप्रतिपक्ष-
वद्वक्त्रोरपि परीक्ष्यमाणत्वात् परीक्षितस्य च शास्त्रितत्वात् ॥११॥

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् (सू. १२) ॥

प्रतिज्ञादीनां पञ्चावयवानां मिलितानां साधनत्वमुपपा-
दितम् । न्यूनत्वे साधनत्वं नास्ति तदभावे न साध्यसिद्धिः न हि
सामग्रीनिष्पाद्यं कार्यं सामग्येकदेशाद्भवतीत्यर्थः । परेषां मतमुप-

न्यस्यति एके त्विति । एके तु प्रतिज्ञान्यूनं नामनिग्र-
स्थानं नास्तीति ब्रुवते । दूषयति एतत्तु न युक्तमिति ।
किं प्रतिज्ञान्यूनं निग्रहस्थानान्तरं न भवति अथ निग्रहस्थानमेव
न भवति । एतदेवाह किमसौ निग्रह्यते न वेति ।
प्रथमकल्पे दोषमाह यदीति । द्वितीयकल्पे दोषमाह अथ
न निग्रह इति । प्रतिज्ञायाः साधनाद्भत्वमुक्तमित्यर्थः ।
यच्च ब्रवीषि दिङ्नागसिद्धान्तपरिग्रहएवेति । एतत्तु
दूषयति । एतदपीति । (५५७।१)सिद्धसाध्यार्थयोः सिद्धान्तप्र-
तिज्ञयोर्महान् भेद इत्यर्थः ॥ १२ ॥

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् (सू० १३) ॥

तदेतन्नियमाभ्युपगम इति भाष्यम् । यत्र कथमेतत्साध्यं
सिध्यतीति जिज्ञासा तत्रैकेनैव साधनेन साध्यसिद्धेः साधनान्तरा-
भिधानमनर्थकमिति निष्पादितक्रिये कर्मणि अविशेषाभिधायिनः
साधनस्य साधनन्यायातिपातात् । यत्र तु प्रतिवादिनः परिषदो
वा जिज्ञासा भवति कति साधनानि संभवन्त्यस्मिन्साध्य इति
तत्र यावन्ति साधनानि तावन्ति सर्वाण्येव वाच्यानि अन्यतरा-
भिधाने निग्रहप्रसङ्गादिति, नाधिकं निग्रहस्थानमिति यआहु-
स्तन्मतमुपन्यस्यति । तच्च न दाढ्यादिति । दूषयति न दाढ्या-
र्थेति । यदि निश्चयो दाढ्यं तदेकस्मादेव प्रमाणाद्भवति अनि-
श्चायकस्याप्रमाणत्वात् । अथ स्फुटत्वं तदपि चेन्निश्चयः स द-
त्तोत्तरः । अथ सामान्यविशेषतद्वतां ग्रहणं न तदनुमानसहस्रैरपि
तेषां सामान्यवद्द्रव्यमात्रविषयत्वात् । शङ्कते अथ ब्रवीषि
द्वे अपि ज्ञापके इति । नास्माकमनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणत्वं
येनैकेनाधिगते प्रमाणान्तरमप्रमाणं स्यात् । अपि तु गन्तृमात्रं
प्रमाणं तच्च द्वितीयस्याप्याविशिष्टमिति शङ्कार्थः । निराकरोति

१३-१६सू४प्र.]प्रयोगाभासनिग्रहस्थानत्रिकनिरूपणम् ७१७

सत्यं द्वे अपि ज्ञापके इति । पुरुषोऽत्रापराध्यते यो ज्ञातमर्थ-
मजिज्ञासितं ज्ञापयति न तु प्रमाणं तद्धि सामर्थ्येन मेये प्रवर्तत-
एव । यदि जिज्ञासायां सत्तां प्रवर्तते प्रतिपादयति ज्ञेयं नास्य काश्चि-
दपराध इति । न हि धान्येष्वलूनेषु दात्रमवश्यं भवति तस्मादनपे-
क्षितकारणादनवस्थाप्रसङ्गाच्च पुरुषस्य निग्रह इति स्थितम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् (सू. १४) ।

अर्थादापन्नस्य स्यशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम् (सू. १५) ॥

तदनेन सूत्रद्वयेन पुनरुक्तमेकमेव निग्रहस्थानं कथं चि-
दवान्तरभेदविवक्षयात्रिविधमुक्तं प्रपञ्चार्थम् । तदेव पुनरु-
क्तं क चिच्छब्दाभ्यासात् क चित्पर्यायान्तरात् क चिदर्थ-
दिति । आक्षिपति नाबाधनादिति । समाधत्ते सत्यमिति ।
जल्पवितण्डयोर्वक्तुर्नैपुण्यं चिन्त्यते । पुनरुक्तप्रयोगे त्वानिपुणः
स्याद् अनपेक्षिताभिधानात्साधनस्य विषयः साध्योऽर्थो न
सिद्धः तस्यापरिज्ञानान्निगृह्यते । वैयर्थ्यं चानर्थक्यं विरुद्धप्रयो-
जनत्वं वाभिमतम् । तथा हि पुनरुक्तप्रयोगे तत्प्रयोजनानुसर-
णसमाकुलचित्तः प्रथमाभिधानादापाततः प्रतीतमप्यर्थमप्रतीत-
मिव मन्यमानो न निश्चेतुमर्हतीति ततश्च प्रतिपादनाय प्रवृत्तो
न प्रतिपादयितेति विरुद्धप्रयोजनवस्ववैयर्थ्यं स्यादित्युपपन्नं नि-
ग्रहस्थानमिति ॥ १५ ॥

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितव्याप्यप्रत्युच्चार-
णमननुभाषणम् (सू. १६) ॥

व्याचष्टे विज्ञातस्य वाक्यार्थस्येति । निग्रहस्थानत्वेऽ-
स्योपपात्तिमाह । अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं प्रतिषेधं
ब्रूयादिति ।

वार्तिकं नेदं निग्रहस्थानमिति केचित् । (५५५१९)

उत्तरेण उत्तरगुणदोषनिरूपणेन प्रतिवादिनो मूढत्वामूढत्वा-
वस्थापनात् । एतद्विभजते उत्तरेण गुणदोषत्रयेतीति ।
तस्मात्किं पुनरुच्चारितेनोच्चारणेनास्ति प्रयोजनमिति शेषः ।
अस्ति हि काश्चिदिति क्व चित्पाठः । तत्रास्ति हीति निपात-
द्वयं वाक्यावतारे द्रष्टव्यम् । पुंसां विचित्रस्वभावत्वात् काश्चिदु-
त्तरे समर्थो न प्रत्युच्चारणे नासौ सदुत्तरमभिधा-
नः तावताऽननुभाषणमात्रेण निग्रहमर्हति । ननु यद्यन-
नुभाषणं न निग्रहस्थानं तदा ऽनुभाषितमुपक्रम्य सर्वमननुभा-
षमाणो न निगृह्येत्यत आह । यस्त्वारभ्य न निर्वाहयेत्
सदुत्तरं तु ब्रूयात् तस्य स्यात् खलीकारमात्रमसामर्थ्यकृतं
न तु तत्त्ववादित्वविहितिरित्यर्थः । तमेतं भदन्ताक्षेपं समाधत्ते
नोत्तरविषयापरिज्ञानादिति । दूष्यविषयं हि दूषणम् अस-
ति दूष्याभिधाने न शक्यं वक्तुम् । न खलु प्रतिज्ञाहेतुदाहरणो-
पनयनिगमनदोषास्तत्स्वरूपमनभिधाय शक्या दोषत्वेनावस्थाप-
यितुमित्यनुच्चारयन्न दोषमभिधातुमर्हतीति । तदिदमुक्तं तदिदं
व्याहतमुच्यते नोच्चारयति उत्तरं च ब्रवीतीति । स्या-
देतद् न प्रतिवादिना सर्वं दूषणीयम् अन्यतमावयवदूषणेनैव
साधनस्य दूषितत्वेन दोषान्तराभिधानवैयर्थ्यात् । न खलु मृतो
मृत्युना रक्षितो मारयितुं शक्यः एवं दूषितमपि दूषयितुं, तस्मात्
सत्यपि दूष्यबाहुल्ये ऽन्यतमं दूष्यं तथा च सर्वानुभाषणे सर्व-
स्यादूष्यत्वाद् यद्दूषणीयं तत्पुनरनुवाद्यमिति सर्वानुवादे द्विर-
नुवादो ऽदूष्यानुवादश्चेति दूषकनिग्रहस्थानद्वयं तस्मादनुभाषण-
मेव निग्रहस्थानमिति विपरीतमापतितमित्यत आह अप्रतिज्ञा-
नाच्चेति । एतद्विभजते न चेदं प्रतिज्ञायते । पूर्वमेकग्रन्थेन
सर्वमुच्चारयितव्यं पश्चादुत्तरं यद्दूष्यं तदनुवादेनाभिधेयं येन

दूष्यानुवादो द्विरनुवादश्च दोषौ स्याताम् अपि तु यथाकथं
चिदुत्तरं वक्तव्यम् । उत्तरवादपरस्योत्तरमाश्रयाभावे न युक्त-
मिति तदाश्रयमात्रमनुवादितव्यं तदन्तरेणाशक्याभिधानत्वादुत्तर-
स्येति । तस्माद्युक्तं तन्मात्रस्याप्रत्युच्चारणमननुभाषणं न सर्व-
स्याप्रत्युच्चारणमननुभाषणमित्यर्थः । नन्वप्रतिभाया निग्रहस्था-
नत्वविधानेनाननुभाषणस्यापि विदितं तस्य तद्विशेषत्वात् । न
खलु नानुभाषतइत्येतावतैव निगृह्यते अपि त्वननुभाषमाणो दूष्यं
न बुध्यते अबुध्यमानश्च तत्रोत्तरं न प्रतिपद्यते ततो ऽप्रतिभया
निगृह्यते । तदेवमननुभाषणमप्रतिभाविशेष इति अप्रतिभाया
विहितं निग्रहस्थानत्वं तद्विशेषे ऽपि विहितं भवति । यथा गवि
सास्नादिमत्त्वं विहितं शाबलेये ऽपि विहितं भवति न पुनस्तत्र
सास्नादिमत्वविधानाय पृथग् यन्नान्तरमारभन्ते ।

अत्र ब्रूमः, न तावदुत्तराप्रतिपत्तिसामान्यविशेषो ऽननुभाषणं
पुंसां सामर्थ्यवैचित्र्यात् । कश्चिद्दूष्यं दूषणं च विदन्नपि नानुभाषि-
तुं पारयति बहुवचनकुण्ठत्वात् । तस्मादसत्यामप्रतिभायामननुभा-
षणसम्भवान्नाप्रतिभाया विशेषो ऽननुभाषणमिति । कश्चिद्दूषण-
विषयं वेदानुभाषते च उत्तरप्रतिपत्तिविकलस्तु स्यात्सो ऽयमप्र-
तिभया निगृह्यते नाननुभाषणेन तत्र सामर्थ्यात् । कश्चित्पुनर्दू-
ष्यमेव न जानाति सो ऽज्ञानेन निगृह्यते न चाज्ञाने ऽननुभाष-
णमवश्यंभावि धारणावतो ऽर्यानिरूपणे वाद्युदीरिताक्षरस्वरूप-
मात्रपाठसम्भवेनानुभाषणोपपत्तेः । अप्रतिभा त्ववश्यं भवेद् न
ह्यस्ति सम्भवो दूष्यं न वेदास्य दूषणं तु वेदेति । तथाऽपि स्व-
रूपतस्तावद्भेदः न हि यदेव दूषणविषयमज्ञानमप्रतिभा तदेव
दूष्यविषयमज्ञानं तस्मात्सत्यप्यननुभाषणाप्रतिभाज्ञानानानामुत्त-
रानभिधानफलत्वे तुल्ये अवान्तरभेदविवक्षया भेदेनोपन्यासः ।

त्रिरभिहितस्येति । त्रिरभिधानमेवमप्यप्रतिपन्नमानस्यातिज-
डतया न वादे ऽधिकार इत्यभिसंधिमत इति ॥ १६ ॥

अविज्ञातं चाज्ञानम् (सू० १७) ॥

तद्याचष्टे विज्ञातार्थस्य परिषदेति । निग्रहस्थान-
सामान्यलक्षणमत्र योजयति वार्त्तिककारः । अप्रतिपत्तितो
निग्रहस्थानमिति ॥ १७ ॥

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥

तद्याचष्टे । परपक्षेति । वार्त्तिकं श्लोकपाठादिभिरवज्ञां
दर्शयन्निति । अर्थान्तरे हि निग्रहस्थाने प्रसक्तानुप्रसक्तं तत्सि-
द्ध्यर्थताव्याजेनावतारयता न प्रकृतावज्ञानं क्रियते इह त्ववज्ञान-
मेतावता भेदेनोपन्यास इति । इयं चाप्रतिभा सम्यक्साधनोपन्या-
से द्रष्टव्या साधनाभासोपन्यासे तु पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ १९ ॥

कार्यप्रसङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः (सू० १९) ॥

साधनस्य दूषणस्य चोपन्यासमभ्युपगम्य तदवस्थः प्रती-
यमान एव प्रतिवादिनो दार्ढ्यं सभ्यानां वा कठोरत्वमवगम्या-
कस्मात्कार्यं व्यासज्याभ्युपगतां कथां व्यवच्छिनत्ति तत्र
विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम् । तदनेनाप्रतिभया तूष्णींभावो-
ऽपि संगृहीतो वेदितव्यः । कार्यव्यासङ्गस्याभ्युपगतकथाविच्छे-
दमात्रोपलक्षणत्वात् । न चेदमर्थान्तरं तत्र प्रकृतमेव साध-
यामीति व्याजेन प्रसक्तानुप्रसक्तावतारेण कथाविच्छेदाभावाद्
इह तु कथाविच्छेदात् । न चास्य हेत्वाभासेष्वन्तर्भावः । न
हि विक्षेपस्यान्यतमलिङ्गधर्मानुविधानं नापि प्रकृतसाध्यसिद्धये
प्रयोगो येन हेत्वाभासः स्यात् । न च वादिनो विक्षेपो हेत्वाभा-
सः । अनन्तरं कथामभ्युपगत्यैव हेतुमनभिधायापसरणात् । यदि
चायं सम्यञ्च हेतुमाभिधाय तत्समर्थनासमर्थो ऽपसरेत् किमेतावता

१९-२१सू०६प०]मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणानिरूपणम् ७२१

न निगृह्येत हेत्वाभासेन वा निगृह्येत किं तु व्यासङ्गादेव । अनर्थ-
कापार्थक्यां तु भेदो ऽस्य स्फुट एव । न ह्यत्रासमानसंकेतः प्रति-
पादको येनानर्थकः स्यात् । नापीह पदानि वाक्यानि वा पौर्वा-
पर्येणासम्बन्धानि येनापार्थकः स्यात् । न चावज्ञानं येनाप्रति-
भा भवेत् । तस्माद्विक्षेपः पृथङ् निग्रहस्थानमिति सिद्धम् ॥१९॥

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मता-
नुज्ञा (सू. २०) ॥

व्याचष्टे यः परेण देशित दोषं स्वपक्षे ऽभ्युपगम्य ।
कथं ज्ञायते अभ्युपगम्यतइत्यत आह । अनुद्धृत्येति । अन-
भ्युपगमे ऽसाबुद्धरेदिति भावः । वार्तिकं किं तु परस्वेनानति-
सृष्टेनादत्तेनेत्यर्थः । (५५९।१३) प्रसङ्गविधानान्न निग्रह-
स्थानमित्यन्य इति । यदि पुरुषत्वाच्चोरो ऽहं ततो भवानपि
चोरः स्यात् । न च भवत एवमिष्टं तस्मात्त्वयैवानैकान्तिकत्वान्नायं
हेतुरिति प्रसङ्गविपर्ययः तस्मान्नात्मनश्चोरत्वमनेनाभ्युपगतमिति
मतानुज्ञा नासौ निग्रहस्थानमित्यर्थः । निराकरोति एतच्च न, कस्मा-
त् अत एव । कुतः ! यत एवासौ उत्तरे कर्तव्ये प्रसङ्गं क-
रोति अत एव निगृह्यते । यदि हि वादी प्रतिवादिनं ब्रूयात्स-
त्यमहं चोर एवेति तदा किमनैकान्तिकत्वं शक्नुयात्कर्तुम् । तस्मा-
त्पुरुषत्वं न चोरत्वहेतुः अपि तु परस्वेनादत्तेन सम्बन्ध इत्यु-
त्तरे कर्तव्ये यदुत्तराभासमाह तेन ज्ञापयति नूनमयं सम्यगुत्तरं
न जानाति सम्यगुत्तराज्ञानान्निगृह्यते, तच्चोत्तरापरिज्ञानं मतानु-
ज्ञाद्वारेणोद्भाव्यमानं मतानुज्ञेत्युच्यते ॥ २० ॥

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।

(सू. २१) ॥

व्याचष्टे पर्यनुयोज्यो नामेति । निग्रहस्योपपत्तिः प्रमा-

णतः सिद्धिस्तयेत्यर्थः । एतच्च न तावद्वादिनोद्भावनीयं न ह्यसौ स्वस्वसाधनावद्यमनुमत्त उद्भावयति, नापि प्रतिवादिना न ह्यनुमत्त आत्मानमात्मना निगृह्णाति । अपि तु पर्यनुयोज्यं जानानः कस्मादुपेक्षते तस्मात्सभापतिना वादिप्रतिवादिभ्यामनुयुक्तया वा परिषदा तन्निग्रहस्थानमुद्भावनीयम् । अत्र च तत्त्वनिर्णयावसाने वादे द्वयोरपि निग्रहात्परिषदेव विजयते जल्पवितण्डयोश्च तत्त्वानपेक्षं पुरुषसामर्थ्यपरीक्षणप्रवृत्तयोः प्रतिवादी निगृह्यते । साधनाभासवादिना ऽपि वादिना स्फुरता प्रतिवादी स्ताम्भितो यतः सम्यक्साधनोपन्यासो विहितः । प्रतिवादिन उत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा साधनाभासोपन्यासे च उत्तराप्रतिपत्तिः पर्यनुयोज्योपेक्षणमिति विशेषः ।

वार्तिकं नान्यवचनादित्येके । यत्र प्रतिवादी तूष्णींभवति तत्र तूष्णीम्भावेनैव वादिन उत्तरानर्हतां दर्शयन्नस्य साधनाभासवादितां सूचयति यत्रास्य दोषोद्भावनं सम्यग्दोषमनुक्त्वा करोति तत्राप्यसौ दुष्टमुत्तरं ददत्तत्साधनदोषमेव सूचयति । उपदिशन्ति हि वृद्धाः दुष्टे हि साधने दुष्टोत्तरं देयमिति । तस्मादवचने ऽन्यवचने वा न पर्यनुयोज्योपेक्षणं निग्रहस्थानमुभयथा ऽप्यनुपेक्षणादित्यर्थः । दूषयति तच्च नेति । (५६०।१) साधनस्य हि सम्यञ्चं दोषं जानन् तमेव ब्रूयात् । सो ऽयं प्राप्तावसरो ऽब्रुवन् विब्रुवन् वा नूनं न सम्यञ्चं दोषं जानाति । निश्चितप्रमाणभावस्य पुरुषस्येङ्गितादिभिरभिप्रायः सूच्यते न त्वनिश्चितप्रमाणभावस्य । यथाऽऽहुः । श्रुतिस्मृत्यतिरेकेण युक्तजल्पाकभाषितम् ।

तद्यथाश्रुतिं दुष्टं चेद् दुष्टमेवावधार्यताम् ॥

इति सुब्रूयं जानानो ऽप्ययं किमर्थमन्यद् ब्रवीतीति ॥२१॥

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुया-
ज्यानुयोगः (सू. २२)

न चायमप्रतिभातो न भिद्यते । सा ह्यनराप्रतिपत्तिरियं
त्वनुत्तरस्यैवोत्तरत्वेन (वि)प्रतिपत्तिरिति महान् विशेषः । अनेनैव
सर्वा जातयो निग्रहस्थानत्वेन संगृहीता भवन्ति । न च हेत्वा-
भासानामितो न भेदः ते हि वादिनो निग्रहस्थानमयं तु प्रतिवा-
दिन इति महान्विशेषः । अत एव भवतामपि गाथा ।

‘असाधनाङ्गं वचनमदोषोद्भावनं तयोः ।

निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते इति ॥

अप्रतिभाया एव प्रसज्यप्रतिषेधात्मिकाया अस्या निरनुया-
ज्यानुयोगस्य भेदं दर्शयति भाष्यकारः । निग्रहस्थानलक्षणस्य
मिथ्याध्यवसाया त्समारोपादित्यर्थः । सुगमं वार्तिकम् ॥२२॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गो ऽपासिद्धान्तः (सू. २३) ॥

अभ्युपेत्येत्यस्य व्याख्यानं कस्य चिदर्थस्य तथाभावं
प्रतिज्ञायेति । प्रतिज्ञातार्थविपर्ययादिति । अभ्युपेतार्थ-
विपर्ययात्सिद्धान्तविपर्ययादित्यर्थः । तदेतदनियमादित्यस्य
व्याख्यानम् । तत्र सांख्यीयं सिद्धान्तमाह । यथान सदिदि ।
तस्य पर्यायान्तरेण कथनं न सत इति । नासदात्मानमित्यस्य
पर्यायान्तरेण विवरणं नासदुत्पद्यतइति । सोऽयं सि-
द्धान्तः सांख्यानं तमभ्युपेत्य तद्विपर्ययात्कथाप्रसङ्गमाह स्वपक्षं
व्यवस्थापयति । पक्षावस्थानं दर्शयति । एका प्रकृतिर्व्यक्तस्योप-
लभ्यमानस्यार्थजातस्य युक्तेति प्रतिज्ञा । विकाराणामिति
व्यक्तस्यैवानुवादः । अन्वयदर्शनादिति हेतुः । मृदन्विता-
नामिति साधर्म्योदाहरणं तथा यं ऽव्यक्तभेदः सुखदुःख-

मोहसमन्वितो गृह्यते इत्युपनयः । निगमनमाह तस्मात्स-
मन्वयदर्शनाद्विश्वव्यक्तस्य कैरित्यपेक्षायामुत्तरं सुखादि-
भिरिति । एकप्रकृतिः सर्वो विकार इति सेयं कथा ।
सिद्धान्तमभ्युपेत्यैवमुक्तवान् सांख्यो नैयायिकेन पर्यनुयु-
ज्यते । दूषणाय पृच्छ्यते । अथ प्रकृतिर्विकार इति कथं
लक्षितव्यमिति । स एवं नैयायिकेन पृष्ठः सांख्य उत्तरमाह
यस्यावस्थितस्य मृदादेर्धर्मान्तरानिवृत्तौ शरावविनाशे
यद्धर्मान्तरं मणिकादि प्रवर्तते असदेव जायते सा प्रकृति-
र्मृदादि । यद्धर्मान्तरं निवर्तते प्रवर्तते वा स विकार
इति । एतस्मिन्नुदाहरणे ऽप्यसिद्धान्तं योजयति । सोऽयं प्रति-
ज्ञातार्थस्य सिद्धान्तार्थस्य वादी विपर्ययादनियमात्कथां
प्रसञ्जयति प्रतिज्ञातः सिद्धान्तः खल्वनेन नासदाविर्भ-
वतीति उत्पद्यते न सत्तिरो भवतीति न विनश्यतीति ।
तथा ऽपि कस्मादनेन सिद्धान्तो बाध्यते अथ सिद्धान्तेनैव
कस्मान्न बाध्यतइत्यत आह । सदसतोश्चेति । इदं हि लौकिकं
प्रमाणसिद्धं सिद्धान्तस्त्वभ्युपगममात्रसिद्धोऽप्रामाणिकः तस्मा-
दनेन सिद्धान्तो बलवता बाध्यते । तदेतन्मृद्धर्माणामपि
न स्यादिति । न केवलं प्रेक्षावतां कर्तृणामपि तु स-
द्धर्माणामप्युत्पादविनाशौ प्रवृत्त्युपरमौ दृश्यमानौ न स्यातामित्य-
र्थः । एवं प्रत्यवस्थितः सांख्यो नैयायिकेन पृष्ठो यद्यसत आ-
त्मलाभं सतश्चात्महानमभ्युपैति ततोऽस्यापसिद्धा-
न्तो भवति । अथ नाभ्युपैति पक्षो ऽस्य न सिद्ध्यति ।
विकारो ह्यनेन पक्षीकृत एकप्रकृतित्वेन तत्र विकाराणाम-
निरूपणात् तदभावे न प्रतिज्ञार्थो न च हेत्वर्थः आश्रयासिद्ध-
त्वात् । नन्वेवं प्रतिज्ञातार्थविरोधित्वात्सतो निरोधस्यासतश्चो-

त्पादस्य हेत्वाभास एव निग्रहस्थानं भवेत् । प्रतिज्ञाविरोधो
वेत्याशङ्क्य वार्तिककार आह । प्रतिज्ञातार्थव्यातिरेकेणेति ।
न ह्यत्रैकप्रकृतयो विकाराः एकप्रकृतिकत्वादित्ययं हेतुः साध्य-
विरुद्धेन व्याप्त उद्धावितो येन विरुद्धो भवेत् । नाप्येकप्रकृति-
कत्वं विकाराणां शब्दतो विरुद्धं समन्वयेन हेतुना येन प्रतिज्ञा-
विरोधो भवेत् । वैभवमात्रेण च प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध इत्यत्रोक्तं
वार्तिककृता स्वसिद्धान्तस्य गोत्वादेर्नित्यत्वविरोधाद्विरोध इति ।
अपि च तत्र बलवता सिद्धान्तेनानैकान्तिकदेशना बाध्यते इह
तु सिद्धान्त एव बाध्यते । दुर्बल इत्युदाहरणपौनरुक्त्यमपि
नास्ति । तस्माद्यत्र प्रतिज्ञार्थेन विरोधः तत्र विरुद्धो हेत्वाभासः
प्रतिज्ञाविरोधो वा इह तु प्रतिज्ञार्थव्यतिरेकेणाभ्युपगमान्तरेण
विरोध इति पुरुषस्य पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायिनो ऽसामर्थ्या-
न्निग्रहस्थानं जल्पवितण्डयोरिति सिद्धम् ॥ २३ ॥

हेत्वाभासाश्च यथोक्ता (सू. २४) ॥

व्याचष्टे हेत्वाभामाश्चेति । यद्यनुक्तमपि किं चिदवशि-
ष्यते निग्रहस्थानं तच्चकारेण समुच्चयम् । यथोक्ता इति सूत्रा-
वयवनिराकरणीयामाशङ्कामाह । किं पुनर्लक्षणान्तरयोगाद्धे-
त्वाभासा निग्रहस्थानतामापद्यन्ते यथा प्रमाणानि प्रमे-
यत्वं तेषामेव प्रत्यक्षादीनामुपलब्धिसाधनत्वेन लक्ष्यमाणानां
प्रमाणत्वं प्रमाव्याप्यतया प्रमेयत्वं लक्षणान्तरेण प्रमाणानि प्र-
मेयत्वमापद्यन्तइति शङ्कायाः सम्भवादत आह भगवान् सूत्र-
कारः यथोक्ता इति । सकलशास्त्रार्थमुपसंहरति । तद्विमे प्रमा-
णादय उद्दिष्टा लक्षिताः परीचिताश्चेति । इतिः शास्त्रप-
रिसमाप्तौ । वार्तिककारः संगृह्णाति जातीनां सप्रपञ्चानामि-
ति । निग्रहस्थानलक्षणमिति । समासेन जातीनामपि प्रति-

वादिनिग्रहस्थाने ऽस्ति निवेश इति सूचयति । शास्त्रस्य चोपसं
हार इति । तइमे प्रमाणादय उद्दिष्टा इत्यनेन कृत इत्यर्थः ॥

यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमशानाम् ।

उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥ १ ॥

संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ ।

तस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः ॥ २ ॥

तत्त्वज्ञानप्रसवसुरभिर्गूढबह्वर्थजाता

सेयं मोक्षामृतमयफला सूक्तिमञ्जुप्रवाला ।

प्रत्यक्षाप्तागममयमहान्यायमूला मनोज्ञा

टीकावीरुद्भवतु कृतिनां नन्दिनी षट्पदानाम् ॥ ३ ॥

क्रूराः कृतो ऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः

कायो मया प्रहरतात्र यथाभिलाषम् ।

अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै-

र्मा मा ऽऽविलीकुरुत कीर्तिनदीः परेषाम् ॥ ३ ॥

इति मिश्रश्रीवाचस्पतिविरचितायां न्यायवार्तिकता-
त्पर्यटीकायां पञ्चमो ध्यायः समाप्तः ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

शुभम्भूयात् ॥

५ अध्याये १ आन्हिके ४३ सूत्राणि १७ प्रकर-
णानि २ आन्हिके २४ सूत्राणि ७ प्रकरणानि मिलि-
त्वा ६७ सूत्राणि २४ प्रकरणानि ।

अस्मिन् न्यायशास्त्रेऽध्यायाः ५ आन्हिकानि १०
प्रकरणानि ८४ सूत्राणि ५२८ पदानि १९६ अक्षराणि
८३८५ न्यायसूचीनिबन्धानुसारेण निर्दिष्टानि ।

विज्ञापना ।

भारतवर्षीयाः सर्वेऽपि पण्डिताः प्रायशो जानन्त्येव श्रीमदापदेवविरचितं “मीमांसान्यायप्रकाशा”ख्यं पूर्वमीमांसाप्रकरणग्रन्थम् । स च समुचितव्याख्याभावादद्यथावत् महान्तं क्लेशमादधाति स्म पठने पाठने चेत्यपि न तिरोहितम् । सोऽयमिदानीमस्माभिः सरलया मूलमर्मप्रकाशिकया शास्त्रसम्प्रदायाद्यनुगतया श्रीकाशीहिन्दूविश्वविद्यालये पूर्वमीमांसाप्रधानाध्यापकैः पण्डितप्रवरैः श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिभीरचितया “सारविवेचिन्या”ख्यया व्याख्यया संयोज्य मुद्रापितः प्रकाशितश्च । अत्र चाध्येतॄणां सुखप्रतिपत्त्यर्थं सौमिक्या वेदेः प्रतिकृतिः दार्शिकवेदिस्वरूपं तदर्थानि पात्राणि च यथाशास्त्रमालिख्य मुद्रितानि । सुदृढं विश्वसिमो वयमस्य ग्रन्थस्य न कदाप्येतादृशमपूर्वमन्युत्तमं संस्करणमभूदिति । अतो मन्यामहे सर्वप्रकारेणापि महान्तमुपकारमादध्यादयमिदानीं छात्रेभ्य इति । अस्माभिरल्पान्येव पुस्तकानि मुद्रितानि । मूल्यमस्य सर्वोपकारार्थं रूप्यकद्वयमेव (रु. २.) निर्णीतम् । अतः प्रार्थयामहे जिघृक्षुभिस्त्वरितव्यमिति ।

न्यायसूत्रभाष्यमपि महर्षिवात्स्यायनप्रणीतं श्रीपण्डितवररघूत्तमविरचितेन भाष्यचन्द्रेण, महामहोपाध्यायपण्डितवरश्रीगङ्गानाथज्ञाशर्मरचितेन खद्योतेन च सहितमस्माभिर्मुद्रितं विक्रयाय सन्नद्धं वर्तते । मूल्यमस्य १०) रूप्यकाणि ।

पत्रादिप्रेषणस्थानम्:—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः—“चौखम्बा संस्कृत सीरीज” आफिस,
विद्याविलास प्रेस, गोपालमंदिर के उत्तरफाटक, बनारस सिटी ।

Just out !

Just out !!

THE MĪMĀMSĀ NYĀYAPRAKĀSA

OF

ĀPADĒVA

With an up-to-date, clear and lucid Commentary by Pandit A. Chinnaswami Sastryji of the Hindu University. This is the first book of its kind in the service of Mimāmsā students and Mimāmsā Scholars by one who has studied the subject according to the Gurukul system. This contains in addition illustration of the plans for Somayāga, and other yāgas, and the instruments used there-in. This is a decided improvement upon the existing commentaries on the subject.

Price Rs. 2½.

NYAYA-DARSHANA

The Sūtras of Gautama and Bhāṣya of Vātsyāyana with two commentaries
(1) The Khadyota-by M. M. P. Gangānāth Jha, M. A., D. litt. Vidyasagara
and (2) The Bhāṣyachandra-by Raghūttama up to Adhyāya III, Ahnika II
Sutra 17 only with notes by Pandit Ambadās Shastri. Edited by M. M. P.
Gangānāth Jha M. A., D. Litt. and Pandit Dhundhirāja Shastri Nyāyopādhyāya
fasciculus 1 to 10 price Rs. 10-0-0.

Can be had of—

JAI KRISHNA DAS GUPTA, Chaukhamba, Sanskrit Series Office,
Vidya Vilas Press, North of Gopalmandir,

Benares City.

सूचीपत्रम्

- १ न्यायदर्शनम् । श्रीगोतममुनिप्रणीतम् । श्रीवात्स्यायनमुनिप्रणीत-
भाष्यसहितम् । श्रीविश्वनाथन्यायपञ्चाननमहाचार्यविरचि-
तन्यायचक्रवर्त्यनुगतम् । टिप्पण्यादि सहितम् २० ३—०
- २ न्यायदर्शनम् । भाष्यचक्रवर्त्योक्तसहित वात्स्यायनभाष्य
समेतम् । २० ०—०
- ३ न्यायदर्शनम् । न्यायदर्शनवात्स्यायनभाष्यसहितम् । परमधि-
भारशास्त्रीयुक्तकरविरचितम् । महर्षि-गोतमविरचितसम्ब-
लितवृहत्सामिकासहितम् । २० ६—०
- ४ न्यायकुसुमम् । न्यायाचार्यपदाङ्कितश्रीमद्भुदयनाचार्यविरचि-
तः । महामहोपाध्यायसुचिदत्तकृतभकरन्दोद्भासितमहामहो-
पाध्यायचक्रवर्त्यमानोपाध्यायप्रणीतप्रकाशसहितः । २० ६—०
- ५ अनुमान-शास्त्राभिध्याख्यायाः शिरोमणी कृत दिधित्या जाग-
दीशी टीका सम्पूर्णम् २० ३०—०
- ६ गादाधरी-जी गादाधरमहाचार्य चक्रवर्त्तिकृता । श्रीगङ्गेशोपा-
ध्याय विरचित तत्त्वचिन्तामण्या श्रीरघुनाथ तार्किकशि-
रोमणि विरचित दिधित्या न गमिता खण्ड २० २० ३०—०
- ७ क्रोडपत्रसंग्रह-जी कालीशंकरसिन्हाण्णगीश विरचित अनुमान
जागदीशी नृत्यश्रानुमान गादाधरी खंड ८ २० १२—०
- ८ कारिकावली । मुक्तावली न्यायचन्द्रिकाटीकाद्वयसहिता सटि-
प्पणा । २० १—०
- ९ कारिकावली मुक्ता० दिन० राम० शब्दखण्डसहिता तथा “गुण
रूपणादितर्कराय” महामहोपाध्याय पं० गोविन्दरामशास्त्रि-
तव्याख्या सहिता । २० ८—०

इनके अनिर्दिष्ट सर्व प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता:—

पत्रादिप्रेषणस्थानम्

जयचरणदास—हरिदासगुप्तः,

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आनीस,
विद्याविलास प्रेस, गोपालमंदिर के उत्तर फाटक
बनारस सिटी ।